



महावीर का पुनर्जन्म

आचार्य महाप्रज्ञ

महावीर एक मानव, एक दृष्टिकोण, एक सत्य। मानव मरणधर्मा है। वह जन्म लेता है और एक अवधि के बाद दिवंगत हो जाता है। दृष्टिकोण दिशा-दर्शन देता है, जागरण का शंख फूंकता है, बिम्ब और प्रतिबिम्ब के मध्य भेद-रेखा खींचता है। सत्य त्रैकालिक होता है। वह कभी प्रकाशी होता है, कभी बादलों से ढक जाता है और कभी फिर प्रकाशी बन जाता है।

महावीर देह के बंधन को छोड़ मुक्त हो गए। अवतारवाद उन्हें मान्य नहीं था। मानव महावीर का पुनर्जन्म संभव नहीं रहा। महावीर के दर्शन और सत्य पर एक सघन आवरण आता हुआ सा दिखाई दिया। युगधारा बदली। वैज्ञानिक युग का प्रवर्तन हो गया। प्रतीत हुआ-महावीर का दर्शन प्रासंगिक हो रहा है। प्रासंगिकता इतनी बढ़ी है कि उसने महावीर के पुनर्जन्म को अनुभूति के स्तर पर रेखांकित कर दिया। वर्तमान अतीत बनता है, यह सामान्य अवधारणा है। वैज्ञानिक अवधारणा यह भी है-अतीत फिर वर्तमान बनता है।

महावीर का पुनर्जन्म

आचार्य महाप्रज्ञ

जैन विश्व भारती प्रकाशन

प्रज्ञापर्व प्रवचनमाला—६

संदर्भ : योगक्षेम वर्ष

सान्निध्य एवं प्रेरणा
आचार्य तुलसी

प्रवचनकार
आचार्य महाप्रज्ञ

आधार-सूत्र
उत्तराध्ययन

मुख्य संपादक
मुनि दुलहराज

संपादक
मुनि धनंजय कुमार

प्रकाशक :

जैन विश्व भारती, पो.-लाडनू-३४१३०६
जिला नागौर (राज.)

© जैन विश्व भारती
लाडनू - ३४१३०६ (राज.)

ISBN : 81-7195-055-8

जीवन के 82 वर्ष 247 वें दिन (16 फरवरी सन् 2003)
में प्रवेश कर आचार्य महाप्रज्ञ द्वारा इतिहास दुर्लभ पृष्ठ
सृजन के अवसर पर दीर्घ आयुष्य की मंगलकामनाओं सहित
बुद्धमल सुरेन्द्र कुमार दुग्गड़, रतनगढ़-कोलकाता
संस्करण : 2003

मूल्य : एक सौ पिचहत्तर रुपये

मुद्रक : कला भारती, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

MAHAVIR KA PUNARJANM
Acharya Mahaprajna

Rs : 175.00

आशीर्वचन

योगक्षेम वर्ष का अपूर्व अवसर। प्रज्ञा जागरण और व्यक्तित्व निर्माण का महान लक्ष्य। लक्ष्य की पूर्ति के बहुआयामी साधन—प्रवचन, प्रशिक्षण और प्रयोग। प्रवचन के प्रत्येक विषय का पूर्व निर्धारण। अध्यात्म और विज्ञान को एक साथ समझने और जीने की अभीप्सा। समस्या एक ही थी—प्रशिक्षु व्यक्तियों के विभिन्न स्तर। एक ओर अध्यात्म तथा विज्ञान का क, ख, ग, नहीं जानने वाले, दूसरी ओर अध्यात्म के गूढ़ रहस्यों के जिज्ञासु। दोनों प्रकार के श्रोताओं को उनकी क्षमता के अनुरूप लाभान्वित करना कठिन प्रतीत हो रहा था। चिन्तन यहीं आकर अटक रहा था कि उनको किस शैली में कैसी सामग्री परोसी जाए? नए तथ्यों को नई रोशनी में देखने की जितनी प्रासंगिकता होती है, परम्परित मूल्यों की नए परिवेश में प्रस्तुति उतनी ही आवश्यक होती है।

न्यायशास्त्र का अध्ययन करते समय देहली दीपक न्याय और डमरुक मणि न्याय के बारे में पढ़ा था। वहलीज पर रखा हुआ दीपक कक्ष के भीतर और बाहर को एक साथ आलोकित कर देता है। डमरु का एक ही मनका उसे दोनों ओर से बजा देता है। इसी प्रकार वक्तृत्व कला में कुशल वाग्मी अपनी प्रवचन धाराओं से जनसाधारण और विद्वान—दोनों को अभिस्नात कर सकते हैं, यदि उनमें पूरी ग्रहणशीलता हो।

योगक्षेम वर्ष की पहली उपलब्धि है—प्रवचन की ऐसी शैली का आविष्कार, जो न सरल था और न जटिल है, जिसमें उच्चस्तरीय ज्ञान की न्यूनता नहीं है और प्राथमिकता ज्ञान का अभाव नहीं है, जो निश्चय का स्पर्श करने वाली है तो व्यवहार के शिखर को छूने वाली भी है। इस शैली को आविष्कृत या स्वीकृत करने का श्रेय है 'युवाचार्य महाप्रज्ञ' को।

योगक्षेम वर्ष की प्रवचनमाला उक्त वैशिष्ट्य से अनुप्राणित है। जैन आगमों के आधार पर समायोजित यह प्रवचनमाला वैज्ञानिक व्याख्या के कारण सहज गम्य और आकर्षक बन गई है। इसमें शाश्वत और सामयिक सत्त्वों का अद्भुत समावेश है। इसकी उपयोगिता योगक्षेम वर्ष के बाद भी रहेगी, इस बात को ध्यान में रखकर प्रज्ञापर्व समारोह समिति तथा जैन विश्व भारती ने महाप्रज्ञ के प्रवचनों को जनार्पित करने का संकल्प संजोया। 'महावीर का पुनर्जन्म' उसका नौवां पुष्प है।

२१ अप्रैल, ६३
गोठी भवन
सरदारशहर

आचार्य तुलसी

प्रस्तुति

आत्मविद्या का मूल मंत्र है—अपना शासन और अपना अनुशासन। भगवान महावीर ने कहा—स्वयं सत्य खोजो और सबके साथ मैत्री करो। सत्य की खोज अपना शासन है और मैत्री अपना अनुशासन है। आरोपित अनुशासन में प्रवंचना हो सकती है, मैत्री के अनुशासन में कोई प्रवंचना नहीं होती। दिया हुआ सत्य साक्षात्कार से शून्य हो सकता है पर स्वयं खोजा हुआ सत्य साक्षात्कार से शून्य नहीं हो सकता। ‘स्वयं सत्य खोजो’—इस वाक्य ने अध्यात्म की दृष्टि को वैज्ञानिक बनाया है और ‘सबके साथ मैत्री करो’, इस मंत्र-वाक्य ने वैज्ञानिक की संहारक शक्ति पर अनुशासन स्थापित किया है।

सत्य की खोज से जो उपलब्ध हुआ, वह है अपरिग्रह, अहिंसा, व्युत्सर्ग, कायोत्सर्ग, भेदविज्ञान, आत्मज्ञान और पदार्थज्ञान। वर्तमान युग का वैज्ञानिक पदार्थ-विज्ञान से आत्मज्ञान की ओर मुड़ने का चिन्तन कर रहा है। समाजवादी अर्थव्यवस्था ममत्व के धागे को काट कर भेदविज्ञान के सूत्र को आगे बढ़ा रही है। सम्पत्ति समाज की है। उसे अपना मत मानो। चिकित्सा विज्ञान काया को धिरजीवी बनाने के लिए कायोत्सर्ग का प्रतिपादन कर रहा है। हिंसा और परिग्रह की समस्या ने वर्तमान मनुष्य को अहिंसा और अपरिग्रह के मूल्यांकन का अवसर दिया है। लोकतंत्र की चुनावी समस्या ने मनुष्य को व्युत्सर्ग की दिशा खोजने का संकेत दिया है।

‘जाति का कोई महत्त्व नहीं है, वह जन्मना नहीं, कर्मणा होती है—यह सूत्र जातीय समस्या की भविष्यवाणी है। ‘धर्म और सम्प्रदाय एक नहीं है’, यह प्रवचन साम्प्रदायिक अभिनिवेश की समस्या की ओर अंगुलि-निर्देश करता है। समस्या आज की और समाधान महावीर का प्रतीति करा रहा है—महावीर अतीत नहीं, वर्तमान हैं। वैचारिक जगत ने उनके पुनर्जन्म को स्वीकृति दी है।

महावीर हैं एक मानव, एक दृष्टिकोण, एक सत्य। मानव मरणधर्मा है। वह जन्म लेता है और एक अवधि के बाद दिवंगत हो जाता है। दृष्टिकोण दिशादर्शन देता है, जागरण का शंख फूंकता है, बिम्ब और प्रतिबिम्ब के मध्य भेदरेखा खींचता है। सत्य त्रैकालिक होता है। वह कभी प्रकाशी होता है, कभी बादलों से ढक जाता है और कभी फिर प्रकाशी बन जाता है।

महावीर देह के बंधन को छोड़ मुक्त हो गए। अवतारवाद उन्हें मान्य नहीं था। मानव महावीर का पुनर्जन्म संभव नहीं रहा। महावीर के दर्शन और सत्य पर एक सघन आवरण आता हुआ सा दिखाई दिया। युगधारा बदली। वैज्ञानिक युग का प्रवर्तन हो गया। प्रतीति हुआ—महावीर का दर्शन प्रासंगिक हो रहा है। प्रासंगिकता इतनी बढ़ी है कि उसने महावीर के पुनर्जन्म को अनुभूति के स्तर पर रेखांकित कर दिया। वर्तमान अतीत बनता है, यह सामान्य अवधारणा है। वैज्ञानिक अवधारणा यह भी है—अतीत फिर वर्तमान बनता है।

चांद आकाश के अंचल को छूता है, चांदनी भूमि के तल को छूने लग जाती है। तमस ऊपर भी है, नीचे भी है। बाहर भी है, भीतर भी। सबसे जटिल है भीतर का तमस। उसे मिटाने के लिए उस चन्द्रमा की आवश्यकता है, जिसका शब्दांकन आचार्य मानतुंन ने किया है—

नित्योदयं दलितमोहमहान्धकारं,
गम्यं न राहुवदनस्य न वारिदानाम् ।
विभ्राजते तव मुखाब्जमनल्पकान्तिः,
विद्योतयज्जगदपूर्वशशांकबिम्बम् ॥

जो सदा उदित रहे, मोह के महा अंधकार का विदलन करे, जिसे राहु ग्रस न सके, जिसे बादल आवृत न कर सके और जो विश्व को अपूर्व प्रकाश दे, ऐसा चन्द्रमा है अध्यात्म।

अध्यात्म की चांदनी भीतर की चांदनी है। वह न बाहर से आती है और न किसी के द्वारा प्रद्योतित की जाती है। उसका प्रस्फुटन भीतर में ही होता है और स्वयं के द्वारा ही होता है।

अनेकान्त का दर्शन केवल उपादान को ही सब कुछ नहीं मानता। उसमें निमित्त का भी अवकाश है। जिसका जितना मूल्य उसकी उतनी स्वीकृति। न किसी का अधिक मूल्य और न किसी की अधिक स्वीकृति। प्रस्तुत ग्रन्थ का स्वाध्याय एक उद्दीपन है। जिनके भीतर चांदनी प्रगटी, उसे देखकर अपने भीतर चांदनी को प्रगट करने की भावना जागती है।

हम चांदनी से परिचित हैं। आकाश में चांद को देखते हैं, उसकी चांदनी धरती पर चमकती है। मनुष्य शांति, शीतलता एवं प्रकाश—सबका एक साथ अनुभव करता है। अनजाना है चिदाकाश, अना जाना है चांद और अनजानी है चांदनी, इसलिए कि ये सब भीतर हैं। भीतर में जो है, उसे देखने के लिए खिड़कियां बंद हैं, दरवाजे भी बंद हैं। यदि हम इन्द्रियों की दिशा को बदलें, उनकी बहिर्मुखता को अन्तर्मुखता में बदल दें, मन की चंचलता पर कोई अंकुश लगा पाएं, खिड़कियां खुलती-सी नजर आएंगी।

हरिकेशबल की खिड़कियां खुल चुकी थी इसलिए उसे यह कहने का अधिकार मिला—‘तपस्या श्रेष्ठ है, जाति श्रेष्ठ नहीं है।’

भृगु पुरोहित के पुत्रों ने भीतर झांका, तभी उन्होंने कहा—‘पिता! आत्मा अमूर्त है, उसे इन्द्रियों द्वारा नहीं देखा जा सकता।’

भीतर की ज्योति विशद हुई और महारानी कमलावती बोल उठी—‘नरदेव! केवल धर्म ही त्राण है, अन्य कोई त्राण नहीं है।’

गर्दभालि अंतर के आलोक से आलोकित थे। उनकी एक आलोक-रश्मि प्रस्फुटित हुई और अन्तःस्वर गूंज उठा—‘राजन! मैं तुम्हें अभय देता हूँ। तुम भी सब जीवों को अभय दो।’

मृगापुत्र के अंतश्चक्षु उद्घाटित हो गए थे। कितना अमोल है उनका यह बोल—‘मैं इस अशाश्वत शरीर में आनन्द नहीं पा रहा हूँ, जो एक दिन विलग हो जाएगा। मुझे उस शाश्वत की खोज करनी है, जो सतत मेरे साथ रहे!’

अनाथी मुनि ने भीतर की ज्योत्सना में झाँक कर सम्राट श्रेणिक से कहा—‘मगध के अधिपति श्रेणिक! तुम स्वयं अनाथ होकर मेरे नाथ कैसे बनोगे?’

समुद्रपाल ने बंदी बने हुए चौर को देखा और भीतर की खिड़कियाँ एक साथ एक झटके में खुल गईं। संबोधि ने उनका वरण कर लिया।

अर्हत अरिष्टनेमि की अतीन्द्रिय चेतना जागृत थी। बाड़ों और पिंजरों में कैद किए हुए पशुओं और पक्षियों का स्वर उन कानों से सुना, जो दूसरों का अमंगल कर मंगल गीत सुनने को तैयार नहीं थे।

ये सारे स्वर साक्ष्य हैं भीतर की चांदनी के।

योगक्षेम वर्ष चिन्तन, मनन, प्रशिक्षण और प्रयोग का महान अनुष्ठान है। इसमें एक ओर आचार्यतुलसी की सन्निधि, दूसरी ओर सैंकड़ों-सैंकड़ों प्रबुद्ध साधु-साध्वियों की उपस्थिति, तीसरी ओर जनता। इन सबके बीच में जो विचार मंथन हुआ, वह द्वंद्व की स्थिति में भी निर्द्वन्द्व है। आचार्यश्री का आभामंडल इतना शक्तिशाली है कि उसके पास बैठकर कोई भी निर्द्वन्द्व हो सकता है। जैन धर्म के द्वन्द्व और निर्द्वन्द्व—इस उभयात्मक स्वरूप को समझने में इस पुस्तक का कुछ योग हो सकता है। इसमें प्रवेश का अधिकार है जैन धर्म के जिज्ञासु नए पाठक को और अधिकार है नए विद्वान को भी।

मुनि दुलहराजजी प्रारम्भ से ही साहित्य संपादन के कार्य में लगे हुए हैं। वे इस कार्य में दक्ष हैं। प्रस्तुत पुस्तक के संपादन में मुनि धनंजयकुमार ने निष्ठापूर्ण श्रम किया है।

२१ अप्रैल, ६३
गोटी भवन,
सरदारशहर

युवाचार्य महाप्रज्ञ

महावीर इस धरती पर आए
जन्म-मरण के बंधन तोड़
मुक्ति को उपलब्ध हो गए।
पुनर्जन्म उसका होता है, जो मुक्त नहीं है
जो मुक्त है, वह कभी जन्मता नहीं है।
क्या इस नियम के अपवाद हैं महावीर?
क्या संभव है महावीर का पुनर्जन्म/अवतरण?
दग्ध कर्म-बीज का अंकुरण?
आज कहां हैं महावीर?
कैसे संभव है उनका पुनर्जन्म?
स्वाभाविक है यह प्रश्न
विस्मित मन/स्तब्ध चिन्तन।

- महाप्रज्ञ कहते हैं—
‘महावीर एक मर्त्य हैं, दृष्टिकोण और सत्य हैं।
मानव मरता है, दृष्टिकोण और सत्य नहीं।
- महावीर अमर हैं
सतत प्रभास्वर हैं
विचार और चिन्तन के क्षितिज पर
जगमगाता प्रदीप दीप है
समस्या की गहन तमिस्रा में
लगता है—रवि समीप है।
प्रश्न शाश्वत है या सामयिक
वैज्ञानिक है या दार्शनिक
व्यक्ति का है या समष्टि का
पृथ्वी का है या अंतरिक्ष का
देता है प्रत्येक प्रश्न महावीर को नवजीवन
जब करते हैं महावीर उसका निदान/ समाधान।
जब तक रहेंगे प्रश्न
समस्या और उलझन
तब तक महावीर भी प्रासंगिक
और इसी प्रासंगिकता की कोख से
जन्म लेता है हर दिन हर पल
एक नया महावीर
जो हरता है पीर

- कितनी भी हो तपती दुपहरी
 शीतल और मनभावन बन कर शान्त समीर।
- › प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान है महावीर का बीज
 यदि मिले पर्याप्त खाद और सिंचन
 अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित
 बन सकता है विराट वट
 जिसकी छाया तले,
 जीवन अरमान फले।
- › महाप्रज्ञ एक मानव हैं
 पर अवस्थित हैं उस शिखर पर
 जहां संभव बना है महावीर का दर्शन
 सम्पर्क और सम्मिलन
 उसका एक साक्ष्य है श्रमण महावीर
 जिसमें अंकित हैं
 महाप्रज्ञ और महावीर के मिलन-क्षण।
 उसका दूसरा साक्ष्य है प्रस्तुत-ग्रंथ
 महावीर का पुनर्जन्म
 जिसमें जीवन्त स्पर्श है
 महावीर के विचार और दर्शन का
 चिन्तन और अनुशीलन का।
- महाप्रज्ञ की मनीषा
 युग का दर्पण
 बिम्बित हैं महावीर
 प्रतिबिम्बित है चिन्तन/दर्शन
- जो जीता है युग के साथ
 युग की समस्याओं के साथ
 देता है समाधान, बनता है युग-प्राण
 वही है महावीर।
- प्रस्तुत ग्रन्थ 'महावीर का पुनर्जन्म'
 इसी सचाई का बिम्ब है
 हम इस पढ़ें/देखें
 युगीन समस्याओं को पहचानें
 उनके समाधान ढूँढ़ें
 महावीर अंतश्चेतना को स्पंदित करते प्रतीत होंगे।

पुस्तक में

१. अनुशासन के सूत्र	१
२. संबंधों के आलोक में गुरु और शिष्य	८
३. तितिक्षा की कसौटियां	१६
४. दुर्लभ संयोग	२३
५. स्वतंत्रता की सीमा	२६
६. सबकी गति : मेरी गति	३६
७. दुःख का मूल : अज्ञान	४३
८. इन्द्रिय-संयम का प्रश्न	४६
९. नैतिकता का आधार : नानात्व का बोध	५६
१०. क्यों नहीं हो रहा है योगक्षेम की ओर प्रस्थान?	६३
११. रूपान्तरण का प्रतिनिधि ऋषि	७०
१२. दो मिल्यां दुःख होय	७८
१३. जो रास्ते में घर बनाता है	८४
१४. जहां निरपराध को दंड मिलता है	९०
१५. आत्मना युद्धस्व'	९८
१६. गृहस्थ जीवन का आकर्षण क्यों?	१०६
१७. इच्छा हु आगाससमा अणंतिया	११४
१८. समय का अंकन हो	१२१
१९. आज तीर्थंकर नहीं है	१२७
२०. तीर पर पहुंच कर क्यों रुके हो?	१३२
२१. जैन शिक्षा प्रणाली	१३८
२२. पूजा करें बहुश्रुत की	१४४
२३. जातिवाद तात्त्विक नहीं है	१५१
२४. कर्मणा जाति	१५६
२५. यज्ञ, तीर्थस्थान आदि का आध्यात्मिकीकरण	१६३
२६. दो भाइयों का मिलन	१७१
२७. जब सत्य को झुठलाया जाता है	१८१
२८. मुक्ति की प्रेरणा	१८६
२९. दो परम्पराओं के बीच सीधा संवाद	१९२
३०. समस्या का मूल : परिग्रह	१९६
३१. साधुत्व की कसौटी	२०५
३२. ब्रह्मचर्य के साधक-बाधक तत्त्व	२०६
३३. जहां साधुता सिसकती है	२१५
३४. अभओ पत्थिवा ! तुब्भं	२२१

३५. राजर्षियों की परम्परा	२२४
३६. याद पिछले जन्म की	२३१
३७. जहां एक क्षण भी आराम नहीं मिलता	२३८
३८. मोम के दांत और लोहे के चने	२४६
३९. पथ और पाथेय	२५४
४०. अचिकित्सा ही चिकित्सा	२५८
४१. संवाद : नाथ और अनाथ के बीच	२६५
४२. मैं थामे हूँ अपने भाग्य की डोर	२७१
४३. जब धर्म अफीम बन जाता है	२७५
४४. चीर्य से अचीर्य की प्रेरणा	२८१
४५. असहयोग का नया प्रयोग	२८८
४६. रूपान्तरण	२९४
४७. मिलन चांद और सूरज का	३०१
४८. शासन-भेद की समस्या	३०८
४९. दुष्ट घोड़े पर नियंत्रण कैसे?	३१३
५०. भटकाने वाले चौराहे	३१७
५१. शरीर एक नौका है	३२२
५२. प्रवचनमाता	३२८
५३. ब्राह्मण वह होता है	३३२
५४. भोगी भटकता है	३३६
५५. सामाचारी संतों की	३४१
५६. परम पौरुष एक आचार्य का	३४७
५७. मोक्षमार्ग	३५१
५८. अस्तित्ववाद	३५८
५९. उपयोगितावाद	३६४
६०. बिम्ब एक : प्रतिबिम्ब अनेक	३७०
६१. दर्शन नहीं तो कुछ भी नहीं	३७७
६२. संवेग से बढ़ती है धर्मश्रद्धा	३८४
६३. ढक्कन व्रत के छेदों का	३९१
६४. पढ़ें अपने आपको भी	३९८
६५. किसने कहा मन चंचल है?	४००
६६. खोए सो पाए	४०५
६७. धागे में पिराई हुई सूई	४११
६८. जीतो इन्द्रियों को	४१८
६९. बहिरंग योग	४२४
७०. अंतरंग योग	४२८
७१. वह अपने देश में चला जाता है	४३५

७२. यह रास्ता है दुःख के अलविदा का	४४१
७३. पहले कौन?	४४६
७४. क्या कुंजी पास में है?	४५०
७५. त्याग है दुःख से बचने के लिए	४५६
७६. यह प्यास पानी से नहीं बुझती	४६४
७७. कर्मवाद	४७०
७८. कर्म की प्रकृतियां	४७६
७९. कर्म : विपाक और स्थिति	४८२
८०. लेश्या : भावधारा	४८६
८१. लेश्या सिद्धान्त : ऐतिहासिक अवलोकन	४९४
८२. लेश्या और रंग	५०१
८३. लेश्या : पौद्गलिक है या चैतसिक?	५०७
८४. लेश्या : गंध, रस और स्पर्श	५१४
८५. जैन मुनि और व्यावसायिक वृत्ति	५२०
८६. जीव और अजीव का द्विवेणी संगम	५२३
८७. धर्म की सार्वभौमिकता	५२७
८८. पांच भावनाएं	५३२

अनुशासन के सूत्र

शिष्य गुरु के पास दीक्षित हुआ। पहला ही दिन था। शिष्य चलने लगा। आचार्य ने टोका—कैसे चल रहे हो? देखकर चलो। शिष्य सकपका कर बैठ गया। आचार्य ने फिर टोका—सीधे बैठो, स्थान का प्रमार्जन कर बैठो। झुककर मत बैठो, टेढ़े मत बैठो। सोने का समय हुआ। शिष्य लेटने लगा। आचार्य ने कहा—ठीक से सोओ। ऐसे नहीं सोना है। कायोत्सर्ग की मुद्रा में लेटो। वामपार्श्व कायोत्सर्ग करो, दक्षिण-पार्श्व कायोत्सर्ग करो, उत्तान कायोत्सर्ग करो या अवम कायोत्सर्ग करो। ऐसे टेढ़े-मेढ़े मत सोओ। दूसरा दिन हुआ। शिष्य किसी से बात करने लगा। आचार्य ने कहा—धीरे बोलो, जोर से मत बोलो, निरवद्य वचन बोलो। भोजन का समय हुआ। शिष्य खाना खाने लगा। आचार्य ने कहा—ऐसे मत खाओ। जल्दी-जल्दी खा रहे हो, ठीक से खाओ, चबा-चबा कर खाओ। प्रत्येक कार्य में आचार्य के हस्तक्षेप से शिष्य का चित्त अशान्त हो उठा। उसने सोचा—मैं मुनि बना हूँ मुक्ति के लिए, बन्धनों को तोड़ने के लिए, किन्तु साधुत्व में भी बन्धन है। यह सबसे बड़ा विस्मय है—

*मुक्तये साधवो जाता, बन्धनच्छिन्नये प्रभो।
बंधनान्यपि साधुत्वे, यदि स्युर्विस्मयो महान् ॥*

शिष्य का चिन्तन आगे बढ़ा। उसने सोचा—आदमी की अपनी भी कोई स्वतंत्रता होती है। मेरी स्वतंत्रता है—मैं कैसे चलूँ, कैसे बोलूँ, कैसे खाऊँ, कैसे सोऊँ, इसमें दूसरे को क्या लेना देना है? उससे रहा नहीं गया। वह गुरु के पास पहुँचा। वंदना कर बोला—गुरुदेव! मैंने दीक्षा मुक्ति के लिए ली है और आप मुझे प्रत्येक कार्य में बान्धते चले जा रहे हैं। आप चाहते हैं—मैं न सोऊँ, न बोलूँ और न खाऊँ, मात्र मूर्ति की तरह बन जाऊँ। इस प्रकार बनना मेरे लिए संभव नहीं है। क्या ये बंधन नहीं हैं? निषेध का प्रयोजन क्या है?

गुरु ने कहा—वत्स! मैं नहीं कहता—तुम मत चलो, तुम मत सोओ, मत खाओ, मत पीओ, बात मत करो। पर जो भी कार्य करो, वह विधिवत् करो, विधान के अनुसार करो। विधि-विधान को मानना बहुत जरूरी है।
आद्य शंकराचार्य ने लिखा—

*यावदस्मिन्नविद्योत्थं, जीवत्वं नापनीयते।
तावद् विधिनिषेधानां शंकरोप्यस्ति किंकरः ॥*

जब तक इस जीव में अविद्या से उत्पन्न होने वाला जीवत्व समाप्त नहीं होता तब तक विधि और निषेध का शंकर भी किंकर है, सेवक है।

समाज और विधि-विधान या अनुशासन दो नहीं हैं। जहां समाज है वहां अनुशासन है। जहां संघ है वहां अनुशासन है। संघ और अनुशासन को कभी पृथक् नहीं किया जा सकता। समाज और अनुशासन को कभी अलग नहीं देखा जा सकता। तात्पर्य की भाषा में दोनों को पर्यायवाची माना जा सकता है। समाज का अर्थ है अनुशासन और अनुशासन का अर्थ है समाज।

विधान के अनेक प्रकार

पश्चिमी दार्शनिक सन्त थामस एक्वायना ने कानून को अनेक भागों में बांटा है—१. प्राकृतिक कानून (Natural Law) २. मानवीय कानून (Human Law) ३. धार्मिक कानून (Divine Law)

कुछ विधान प्राकृतिक होते हैं, शाश्वत होते हैं। एक परमाणु आज एक गुना काला है किन्तु एक निश्चित समय के बाद उसे बदलना ही पड़ेगा। वह अमुक समय तक ही उस रूप में रह सकता है। उसके बाद उसे सौ गुना काला होना होगा, हजार गुना या अनन्त गुना काला होना होगा। यह प्राकृतिक या सार्वभौमिक नियम है। एक परमाणु आज अमुक आकार-प्रदेश में है। अमुक समय के बाद उसे वह स्थान छोड़ना ही पड़ेगा। प्राकृतिक नियम यह नहीं हो सकता—जो बन गया, सो बन गया। कुछ वर्ष पूर्व एक मुख्यमंत्री ने कहा था—हम मुख्यमंत्री बन गए, हमें हटाने वाला कोई नहीं है। किन्तु हमने देखा—उन्हें भी हटा दिया गया।

दंड और अनुशासन

प्रकृति के नियम शाश्वत हैं। वे सब पर लागू होते हैं। समाज के नियम मानवीय नियम हैं। वे बनाए जाते हैं और बदले जाते हैं। डिवाइन लॉ धार्मिक नियम हैं, आध्यात्मिक नियम हैं। एक सामाजिक प्राणी पर दंड का प्रयोग होगा, अनुशासन का प्रयोग होगा तो वह क्रोध में भी आएगा, प्रतिरोध भी करेगा, विरोध भी करेगा और प्रतिशोध की भावना भी प्रस्तुत करेगा, क्योंकि वह सामाजिक प्राणी है। एक मुनि, जो आध्यात्मिक जीवन जी रहा है, उसके लिए यह विधान होता है—वह अनुशासन होने पर भी क्रोध न करे। सामाजिक क्षेत्र में दंड का विधान है और आध्यात्मिक क्षेत्र में अनुशासन का मूल्य है। दंड के क्षेत्र में क्रोध करना, प्रतिरोध करना वर्जित नहीं माना जाता किन्तु अनुशासन में ये बातें नहीं चल सकतीं। दंड में छलना चल सकती है किन्तु अनुशासन में छलना नहीं होती।

धानेदार के पास एक सिपाही की शिकायत आई। शिकायत में कहा गया—सिपाही ने चोर को देखने पर भी पकड़ा नहीं। धानेदार ने सिपाही से पूछा—‘जब तुमने चोर को देख लिया तो पकड़ा क्यों नहीं?’

सिपाही बोला—‘सर! आप ठीक कहते हैं। किन्तु मैं क्या करूं? मेरी भी मुसीबत आप सुनिए।’

‘तुम्हारी क्या मुसीबत थी?’

‘मैंने चोर को देखा, यह बिल्कुल सही बात है। मैं उसे पकड़ने भी गया था। चोर घर में घुस गया। घर के बाहर लिखा था—अन्दर आना मना है। मैं कैसे भीतर जाता और कैसे चोर को पकड़ता ?’

दंड के क्षेत्र में छलना चल सकती है, बहाना चल सकता है। दुनिया में शायद बहाने से बड़ा कोई झूठ नहीं होता। झूठ को पालने का सबसे अच्छा साधन है बहाना। यह झूठ को संरक्षण देने का सबसे बढ़िया कवच है। एक बहाने के साथ झूठ को पनाह दी जा सकती है, संरक्षण दिया जा सकता है, उसे पाला जा सकता है, पर अनुशासन में ऐसा नहीं हो सकता। अनुशासन के क्षेत्र में जो सहता है, वह महान् बन जाता है।

अनुशासन का स्रोत

शिष्य ने पूछा—गुरुदेव! अनुशासन का स्रोत क्या है? अनुशासन का स्वरूप क्या है और उसका फल क्या है?

आचार्य ने कहा—दूसरों की स्वतंत्रता का संरक्षण करने वाली स्वतन्त्रता अनुशासन का स्रोत है। अनुशासन का स्वरूप है—इच्छा का निरोध। उसका फल है प्रसाद और समता। अनुशासन में रहने वाला व्यक्ति सुस्थिर बन जाता है।

*किं स्रोतः किं स्वरूपं च, किं फलं चानुशासनम् ।
स्वतंत्रता भवेत् स्रोतः, परस्वातंत्र्यरक्षिका ॥
इच्छारोधः स्वरूपं स्यात्, प्रसादः समता फलम् ।
सुस्थिरो जायते लोको, विद्यमानेऽनुशासने ॥*

दूसरों की स्वतंत्रता का संरक्षण करने वाली स्वतन्त्रता अनुशासन का मूल स्रोत है। मनमाने ढंग से काम करने वाला अनुशासन को कभी नहीं निभा सकता। प्रत्येक व्यक्ति चाहता है किन्तु व्यक्ति स्वतन्त्र तभी हो सकता है जब वह दूसरे की स्वतन्त्रता में बाधक नहीं बनें। प्रत्येक व्यक्ति सोचे—मैं रोटी खाने में स्वतन्त्र हूँ किन्तु मैं किसी दूसरे की रोटी में बाधक तो नहीं बन रहा हूँ? मैं इस मकान में रहने को स्वतन्त्र हूँ किन्तु किसी दूसरे के रहने में बाधा तो नहीं बन रहा हूँ? प्रत्येक बात में दूसरे की स्वतन्त्रता को संरक्षण देने वाली अपनी स्वतन्त्रता अनुशासन का आधार बनती है। इस परापेक्षी स्वतन्त्रता से अनुशासन का स्रोत फूटता है। अनुशासन परतन्त्र बनने के लिए नहीं, किन्तु दूसरों को स्वतन्त्रता का अधिकार देने के लिए है। दूसरे व्यक्ति की स्वतन्त्रता का सम्मान ही अनुशासन का उद्गम-स्थल है। परतन्त्रता में से कभी अनुशासन का स्रोत नहीं फूटता। परतन्त्रता में प्रतिक्रिया जन्म लेगी, प्रतिशोध, हिंसा, आतंक और भय जन्म लेगा। स्वतंत्रता का अर्थ है—प्रत्येक व्यक्ति की स्वतन्त्रता को मान्यता देना और यही अनुशासन का स्रोत है।

अनुशासन का स्वरूप

अनुशासन का स्वरूप है—इच्छा का निरोध करना। व्यक्ति के मन में अनेक इच्छाएं पैदा होती हैं। किसी की कार देखकर इच्छा हो जाती है—कार बहुत बढ़िया है, यह कार मैं ले लूँ। किसी की बढ़िया कोठी देखी, इच्छा हो जाती है उस मकान में रहने की। किसी का बढ़िया कपड़ा देखा, उसे पहनने की

इच्छा पैदा हो जाती है। एक दिन में न जाने कितनी इच्छाएं पैदा होती हैं। यदि मनुष्य इच्छा के साथ-साथ चले, जो मन में आए वही कर ले तो एक दिन में ही पूरे समाज की व्यवस्था गड़बड़ा जाए, चारों ओर लूट-खसोट, हिंसा और आतंक फैल जाए। समाज ने अनुशासन सीखा है, उसके स्वरूप को जाना है। प्रत्येक व्यक्ति जानता है—यह मेरा मकान है, इसी में मुझे रहना है। मैं दूसरे के मकान में नहीं रह सकूंगा। मेरा कपड़ा ही मुझे पहनना है। मेरी रोटी ही मुझे खानी है। जब इस अनुशासन को व्यक्ति जानता है तब समाज की व्यवस्था चलती है। इसका अर्थ है—कोई भी व्यक्ति मनमानी बात नहीं कर सकता। जो इच्छा मन में पैदा होती है, वह उसमें कांट-छांट करता है, इच्छा का निरोध करता है।

मस्तिष्क का एक हिस्सा है—रीजनिंग माइण्ड—विवेक मस्तिष्क। उसका काम है—इच्छा की कांट-छांट करते रहना। व्यक्ति के मानस में एक दिन में अनेक इच्छाएं पैदा हो जाती हैं पर रीजनिंग माइण्ड उन्हें बाहर नहीं आने देता। वह पहले ही उनकी कांट-छांट कर देता है। वह कहता है—तुम्हारे लिए यह सोचना ठीक नहीं है, यह इच्छा करना ठीक नहीं है। इस प्रकार कांट-छांट होती रहती है। यह इच्छा की कांट-छांट करना ही अनुशासन का स्वरूप है। जो अनुशासित व्यक्ति है, वह मनमानी नहीं करेगा, इच्छा की कांट-छांट करेगा। वह सोचेगा—यह काम मुझे नहीं करना चाहिए, यह मेरा कर्तव्य नहीं है। यह कार्य मेरे लिए अच्छा नहीं है। मैं यह काम करूंगा तो गुरु क्या समझेंगे? दूसरे लोग क्या समझेंगे? व्यक्ति के भीतर पहले यह अनुशासन चलता है और ऐसा करते-करते एक दिन आत्मानुशासन जाग जाता है, उसका चिंतन बदल जाता है। वह यह नहीं सोचता—दूसरे क्या समझेंगे? गुरु क्या कहेंगे? वह कहेगा—मेरे लिए यह उचित नहीं है। मैं इस कार्य को नहीं करूंगा। वह आरोपण की भूमिका से हटकर सहज अवस्था में स्वयं को प्रतिष्ठित कर लेता है।

सफलता का सूत्र : प्रसन्नता

अनुशासन के दो फल हैं—प्रसाद और समता। अनुशासित व्यक्ति पर आचार्य प्रसन्न हो जाते हैं। वे प्रसन्न होकर उसे प्रचुर ज्ञान देते हैं, उसके आध्यात्मिक पथ को निर्बाध बनाने में योगभूत बनते हैं। अनुशासनहीन व्यक्ति को यह सब उपलब्ध नहीं हो सकता। वह अनुशासित शिष्य पर गुरु की प्रसन्नता को देखकर क्षुब्ध हो जाता है, ईर्ष्या से भर जाता है। वह सोचता है—आचार्य उस पर प्रसन्न हैं उसे अधिक लाभ देते हैं, अधिक ज्ञान देते हैं, केवल उसके ही विकास पर ध्यान दे रहे हैं। मेरी ओर उनका ध्यान ही नहीं है। आचार्यश्री सब कुछ उसी को बता रहे हैं, मुझे कुछ भी नहीं बता रहे हैं। वे उसी को महत्व दे रहे हैं, उसी का मूल्यांकन कर रहे हैं। मेरा कोई अंकन नहीं करते, किन्तु वह यह नहीं सोचता—मैं कितना अनुशासित हूँ, कितना विनीत हूँ। गुरु का ही दोष सामने आता है। गुरु पक्षपात करते हैं, न्याय नहीं करते। वह आचार्य पर ऐसा दोषारोपण करता है किन्तु स्वयं अनुशासित या विनीत बनने का प्रयत्न नहीं करता, गुरु का प्रसाद पाने को आराधना नहीं करता।

गुरु की प्रसन्नता शिष्य के विकास में बहुत बड़ा निमित्त बनती है। प्रसन्नता जीवन की सार्थकता है। दुनिया में बहुत मूल्यवान् वस्तुएँ हैं किन्तु प्रसन्नता से बढ़कर कोई वस्तु मूल्यवान् नहीं है। हीरा, पन्ना, माणक आदि का मूल्य उतना नहीं है जितना मन और भाव की प्रसन्नता का है। जो व्यक्ति सदा प्रसन्न रहता है, उसके लिए ये सारी चीजें गौण हो जाती हैं, अकिंचित्कर बन जाती हैं। जीवन की सफलता का सबसे बड़ा सूत्र है प्रसन्नता। जिसने प्रसन्नता पा ली, प्रसन्न रहना सीख लिया, वह अपने जीवन में धन्य हो गया।

प्रसन्नता का निदर्शन

एक निग्रो बहुत प्रसन्न रहता था। अमेरिका के एक बड़े लेखक ने पूछा—चाचा ! तुम बहुत साधारण आदमी लगते हो। तुम्हारी अवस्था भी ढल चुकी है, तुम बूढ़े हो गए हो। तुम्हारे पास न पर्याप्त पैसा है और न सुविधाजनक स्थान है। तुम रोज कठिनाइयाँ झेलते हो फिर भी बहुत प्रसन्न रहते हो। मैं नहीं समझ सका—तुम्हारी प्रसन्नता का रहस्य क्या है? निग्रो बोला—भैया! मैंने होनहार के साथ समझौता करना सीख लिया है, इसलिए कभी अप्रसन्नता नहीं सताती। यही मेरी प्रसन्नता का रहस्य है।

जो व्यक्ति परिस्थिति के साथ, वातावरण के साथ, नियति के साथ समझौता करना सीख लेता है, उसे कोई अप्रसन्न नहीं बना सकता। सबसे बड़ा आत्मानुशासन है—जो स्थिति आए, उसके साथ समझौता करना। यदि व्यक्ति परिस्थिति को धिक्कारेगा, उसका तिरस्कार करेगा, उसको कोसेगा तो दुःख बढ़ता चला जाएगा। अगर पाँच प्रतिशत दुःख है तो वह पचास प्रतिशत हो जाएगा। अगर दस प्रतिशत है तो वह सौ प्रतिशत बन जाएगा। परिस्थिति के साथ समझौता करने वाले को कोई दुःखी नहीं बना सकता, उसकी प्रसन्नता को कोई बाँट नहीं सकता।

एक बड़े सूफी संत हुए हैं शेखसादी। उन्होंने एक भिखारी को देखा। भिखारी पंगु था किन्तु अत्यन्त प्रसन्न था। शेखसादी विस्मय में पड़ गए। वे अपने आपको नहीं रोक सके। भिखारी के पास गए। उन्होंने पूछा—‘अरे भाई! तुम भीख मांग रहे हो और पैर तुम्हारे टूटे हुए हैं फिर भी तुम्हारे चेहरे पर प्रसन्नता टपक रही है। तुम्हारी प्रसन्नता को देखकर मुझे भी ईर्ष्या होती है। इतना प्रसन्न मैं भी नहीं हूँ। क्या कारण है इसका?’ भिखारी बोला—‘महाशय! मैं भिखारी हूँ। मेरे पैर नहीं हैं। भीख मांगकर जीवन चलाता हूँ। फिर भी मैं खुदा का धन्यवाद करता हूँ। उसने मुझे आँखें दे रखी हैं, हाथ दे रखे हैं। मैं मजे से रोटी खाता हूँ, सबको देखता हूँ, भीख मांग लेता हूँ। एक पैर नहीं है तो क्या हुआ? जो है, उसको छोड़कर, जो नहीं है उसके लिए मैं क्यों रोऊँ। शेखसादी यह सुनकर दंग रह गया।

आनन्द है भाव-दर्शन में

जो अभाव को देखता है वह सदा दुःखी और अप्रसन्न रहता है। जो कुछ प्राप्त है उसकी ओर वह कभी नहीं देखता। उसका सारा ध्यान अभाव में ही अटक जाता है। उसका चिंतन होता है—मेरा यह नहीं हुआ, मुझे यह नहीं

मिला। जो व्यक्ति अभावों के बीच रहता हुआ भी भाव को देखता है, वह सदा प्रसन्न रहता है। आचार्य भिक्षु अभावों के बीच सदा प्रसन्न रहे। उन्हें कोई अप्रसन्न नहीं बना सका, दुःखी नहीं बना सका। वे अभाव में भी भाव को ढूँढते रहे। यदि व्यक्ति अभाव की दिशा में जाएगा तो उसे अप्रसन्नता मिलेगी। कोई भी जीवन ऐसा नहीं है, जिसमें भाव बिलकुल न हो या अभाव बिलकुल न हो, मात्रा भेद हो सकता है—किसी के जीवन में अभाव ज्यादा हो सकता है, किसी के जीवन में भाव ज्यादा हो सकता है। किसी के जीवन में असुविधा ज्यादा है, किसी के जीवन में सुविधा ज्यादा है पर असुविधा और सुविधा, अभाव और भाव प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में है। सुख एवं दुःख का स्रोत व्यक्ति की दृष्टि में निहित है। अगर वह अभाव को देखता चला जाए तो जीवन में दुःख ही दुःख उपलब्ध होगा और अगर वह भाव को देखता चला जाए तो जीवन में सुख ही सुख होगा, दुःख को अवकाश ही नहीं मिलेगा।

प्रश्न पूछा गया—यह जगत् सुखमय है या दुःखमय? उत्तर दिया गया—*अज्ञस्य दुःखीघमयं ज्ञस्यानन्दमयं जगत्*—जो अज्ञानी आदमी है, अभाव को देखने वाला है उसके लिए यह जगत् दुःखमय है। जो ज्ञानी है, जिसने अपने आपको जाना है, जो भाव को देखने वाला है, उसके लिए सारा जगत् आनन्दमय है। भाव को देखने वाला आनन्द में डूबा रहता है, उसे अभाव में भी दुःख का बोध नहीं होता।

पूज्य कालूगणी का चातुर्मास भिवानी में था। कुछ लोगों ने संकल्प किया—जब तक आर्चायवर भिवानी में रहेंगे, दुकानें नहीं खोलेंगे। चार महीने तक दुकान नहीं खोलना, बड़ा कठिन काम था। दूसरे लोगों ने उनसे कहा—आप क्या कर रहे हैं? चार महीने दुकान नहीं खोलेंगे? कैसे कमाई होगी? कितना नुकसान हो जाएगा, कितना घाटा हो जाएगा? उन्होंने कहा—कुछ भी हो जाए। जब तक आचार्यश्री यहां रहेंगे, हम दुकान नहीं खोलेंगे।

जैनों का मुख्य पर्व है संवत्सरी। संवत्सरी के दिन भी दुकान न खोले तो मुसीबत होती है। पर्युषण के आठ दिन भी लोग दुकान बन्द नहीं करते पर वे लोग चार महीने तक दुकान न खोलने का संकल्प कर चुके थे। बहुत सारे लोग दुकान चलाते रहे। उनके आया हुआ माल पड़ा रहा। चौमासा पूरा हुआ। कालूगणी का विहार हो गया। उन्होंने रास्ते की सेवा कर ली। लगभग पांच महीने बाद दुकानें खोली। उस समय एक साथ भाव बढ़े। रोज व्यापार करने वाले कहीं रह गए और न करने वाले छलांग लगा गए। एक साथ पैसा बरस पड़ा। उन्हें नहीं लगा—हमने खोया है।

मन की एक वृत्ति होती है कृपणता। जो व्यक्ति कृपण होता है, कंजूस होता है, ज्यादा हिसाब लगाता है उसके पास भी शायद धन आने से थोड़ा संकुचाता है। यह देखा गया है—जो दानशील होता है, वह आर्थिक दृष्टि से भी लाभ में रहता है। जो कंजूस होता है, वह मन में समझता है कि मैं बहुत बचाता हूँ पर वह बहुत लाभ में नहीं रहता। इसीलिए यह कहावत बन

गई—‘खर्च का भाग बड़ा।’ दान के साथ कुछ जुड़ा हुआ है। कृपणता से लक्ष्मी भी घबराती है।

उदारता बहुत बड़ा गुण है। जो भाव पक्ष को देखता है, वह उदार होता है। जो अभाव पक्ष को देखता है, वह कृपण होता है। जो भाव और अभाव—दोनों में प्रसन्न रहना सीख लेता है, सम रहना सीख लेता है वह अनुशासन में रहना सीख लेता है। जो अनुशासन में रहना सीख जाता है, वह समता और प्रसन्नता को पा लेता है।

अनुशासन की बाधा : अभाव का दर्शन

सामाजिक एवं संघीय जीवन में भाव पक्ष को देखने वाला कभी विचलित नहीं होता। जो अभाव को देखता है, वह अनुशासन में स्थिर नहीं हो सकता। साधु-साध्वियों का ही सन्दर्भ लें। एक मुनि को दस-बीस वर्ष तक दिल्ली, जयपुर, जोधपुर जैसे क्षेत्रों में वर्षावास का अवसर मिला किन्तु यदि उसे एक वर्ष छोटे गांव में भेज दिया जाए तो उसका परिणाम होगा—जो बीस वर्ष तक मिला, उसका कोई चिन्तन नहीं और जो एक वर्ष नहीं मिला, वह सब कुछ बन जाएगा। एक मुनि को पचास वर्ष तक अच्छे से अच्छे साधु का योग मिलता रहा और एक वर्ष कोई सामान्य साधु मिल जाए तो वह कहेगा—आचार्यश्री हमारा ध्यान ही नहीं रखते। मैंने संघ की इतनी सेवा की। आखिर उसका फल यह मिला है—इस साधु को मेरे साथ दे दिया। वह इन छोटी-छोटी बातों से अनास्थाशील बन जाता है, अनुशासनहीन बन जाता है। उसकी प्रसन्नता और समता विनष्ट हो जाती है। यह अभाव का दर्शन अनुशासन की बड़ी बाधा है। जो इस बाधा को पार कर देता है, वह अनुशासन में जीना सीख लेता है। भाव पक्ष को देखने वाले का मन विचलित नहीं होता, सन्तुलित बना रहता है और यह सन्तुलन ही उसके जीवन को स्थिरता प्रदान करता है, समता एवं प्रसन्नता से भर देता है।

संबंधों के आलोक में गुरु और शिष्य

एक व्यक्ति के मन में वैराग्य जागा। वह गुरु के पास गया और दीक्षित हो गया। पर जो होना चाहिए था वह नहीं हुआ। मास बीत गया, दो मास बीते, छह मास बीत गए। एक दिन वह उदास बैठा था। स्थविर ने पूछा—‘देवानुप्रिय! तुम उदास क्यों हो?’

उसने सोचा—कहूँ तो क्या कहूँ। न कहूँ तो क्या करूँ? बात ही कुछ ऐसी हो गई है। मैं गुरु के पास दीक्षित तो हो गया पर गुरु मेरी पकड़ में नहीं आ रहे हैं, गुरु के साथ मेरा सम्बन्ध स्थापित नहीं हो रहा है। जिसके सहारे आए, उसके साथ संबंध स्थापित न हो, यह शायद सबसे बड़ी बाधा है। जिसके आश्रय में जीना और उसके साथ संबंध न होना, सचमुच एक समस्या बन जाती है। उसने अपने मन की सारी बात स्थविर के सामने रख दी।

स्थविर का काम होता है स्थिरीकरण। स्थिर करना, समस्या का समाधान देना, कुंठा, निराशा को मिटाना, उदासी को समाप्त करना।

स्थविर ने कहा—‘देवानुप्रिय! वास्तव में तुम सम्बन्ध स्थापित करना जानते ही नहीं हो। गुरु के साथ कब सम्बन्ध स्थापित होता है और कैसे होता है? मैं तुम्हें इसके कुछ गुर बताता हूँ। तुम इनका उपयोग करो। तुम्हारी समस्या हल हो जाएगी।’

‘भते! कृपा कर आप बताएं, आपका बड़ा अनुग्रह होगा।’

स्थविर ने कुछ गुर बताते हुए कहा—

आज्ञानिर्देशकारित्वं, संबध्नाति गुरोर्मतिम्।

प्रीतिर्विनम्रता सेवा, कृतज्ञभावविश्रुतिः॥

गुरु के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के पांच गुर हैं—

- | | |
|-----------------------------|---------------------|
| १. आज्ञा का अतिक्रमण न करना | ४. सेवा करना |
| २. प्रीति करना | ५. कृतज्ञ बने रहना। |
| ३. विनम्रता रखना | |

पहला गुर है—गुरु की आज्ञा का अतिक्रमण मत करो, उसकी उपेक्षा और अवहेलना मत करो। अपने आप तुम्हारा संबंध स्थापित हो जाएगा, तुम गुरु से जुड़ जाओगे, गुरु कभी तुम्हारी उपेक्षा नहीं कर सकेंगे।

प्रीति का निदर्शन

दूसरा गुर है—गुरु के साथ प्रीति करो। उनके साथ भक्ति, प्रीति, आस्था या श्रद्धा करो। प्रीति का होना बहुत जरूरी है। यह बहुत महत्वपूर्ण सूत्र है। प्रश्न किया गया—श्रावक कैसा होता है? शिष्य कैसा होता है? उत्तर दिया

गया—वह गुरु के प्रति प्रेम और अनुराग से रक्त होता है। तुम गुरु के साथ प्रीति बनाओ। ज्यादा समस्याएं अप्रीति के कारण होती हैं। यदि प्रीति की स्थापना नहीं होती है तो छोटी बात बहुत बड़ी बन जाती है और प्रीति होती है तो बड़ी बात भी कभी-कभी बहुत छोटी बन जाती है। राई कभी पहाड़ और कभी पहाड़ राई बन जाता है।

शिष्य ने पूछा—भंते! प्रीति कैसे करूं?

स्थविर ने एक ऐतिहासिक उदाहरण सुनाया भिक्षु और भारीमाल का। यह इतिहास का एक विचित्र उदाहरण है। एक छोटा बालक समस्या से घिर गया। पिता कहता है—मैं तुम्हें ले जाऊंगा। बालक कहता है—मैं नहीं जाऊंगा, अपने गुरु के पास रहूंगा। पिता ले जाना चाहता है और बालक जाना नहीं चाहता। पिता उसे जबर्दस्ती ले जाता है। वह बाल साधु सब कुछ छोड़ देता है, खाने-पीने का परित्याग कर देता है गुरु को पाने के लिए। पिता पराजित हो जाता है और बाल मुनि को गुरु चरणों में ला सौंप देता है। ऐसी प्रीति और ऐसी गहरी भक्ति हो गुरु के प्रति।

स्थविर ने दूसरा उदाहरण दिया मुनि कनक का। वह भी दस वर्ष का छोटा बालक। भिक्षु-भारीमाल की घटना जैसे पुनरावृत्त हुई। पिता ले जाना चाहता है और बाल मुनि कनक गुरु के पास रहना चाहता है। पिता के साथ लंबे संघर्ष के पश्चात् विजय बाल मुनि की होती है। जब इस प्रकार की प्रीति स्थापित होती है, शिष्य गुरु से जुड़ जाता है।

बांधती है विनम्रता

तीसरा गुरु है—विनम्रता। विनम्रता सीखो। गुरु के सामने झुक जाओ। नम्रता में विचित्र शक्ति होती है। वह बांधती है व्यक्ति को।

जावद, मालवा में पूज्य कालूगणी विराज रहे थे। किसी बात के कारण मेरे विद्या गुरु तुलसी मुझसे (आचार्य महाप्रज्ञ) नाराज हो गए। बड़ी समस्या थी मुनि तुलसी को राजी करना। रात को प्रतिक्रमण कर मैंने मुनि तुलसी को वंदना की और उनके पैर पकड़ कर बैठ गया। मैं उस मुद्रा में तब तक बैठा रहा जब तक सोने का समय नहीं हो गया। लगभग तीन घंटे तक न मैं बोला और न मुनि तुलसी बोले। कोई नहीं बोला। यह भोलेपन की बात हो सकती है। इतना भोलापन शायद आज का व्यक्ति नहीं कर सकता। आज बहुत होशियारी बढ़ गई है पर विनम्रता व्यक्ति को जितना बांध सकती है, उद्वण्डता कभी नहीं बांध सकती! उद्वण्डता बंधे हुए व्यक्ति को तोड़ देती है। शरीर में भी कड़ापन आता है तो समस्याएं पैदा हो जाती हैं। कायोत्सर्ग की अवस्था में कोई व्यक्ति गिर जाता है तो भी हड्डी नहीं टूटती। अगर हड्डी में कड़ापन है तो थोड़ा सा गिरते ही वह टूट जाएगी। आजकल हड्डी बहुत जल्दी टूटती है। लगता है—हड्डी के साथ उद्वण्डता भी काम कर रही है। शरीर में कड़ापन ज्यादा आ गया। हड्डियों में भी वह स्नेह नहीं रहा, लचीलापन कम हो गया। जब लचीलापन कम होता है, कड़ापन आता है तो खुरदरापन आ जाता है। खुरदरी हड्डी खिरने लगती है या टूट जाती है।

विनम्रता : एक कथा

विनम्रता एक बहुत बड़ा गुण है। आगम साहित्य के व्याख्या ग्रंथों में कहानी के द्वारा इस तथ्य को समझाया गया है। एक चाण्डाल की पत्नी को गर्भकाल में आम का दोहद पैदा हुआ। जब तक गर्भवती स्त्री का दोहद पूरा नहीं होता, आकांक्षा पूरी नहीं होती, वह सूखने लग जाती है। पत्नी ने अपनी इच्छा पति के सामने रखी। पति ने कहा—‘एक तो आम का मौसम नहीं है और फिर हम ठहरे चाण्डाल। इस स्थिति में आम लाऊँ तो कहां से लाऊँ।’ बड़ी समस्या पैदा हो गई। दोहद की पूर्ति भी आवश्यक और आम का मौसम भी नहीं। उस समय आज का जमाना नहीं था कि आम कभी भी दुनिया के किसी भी कोने से मंगा ले। आखिर खोज करते-करते पता चला—राजा श्रेणिक का एक बगीचा है। वहां आम के कुछ ऐसे पेड़ हैं, जो बारह महीने फल देते हैं। वह चाण्डाल उस बाग के पास गया। इतने प्रहरी और दुर्लभ आम! बारह महीने राजा को वे आम मिलते थे। कड़ा पहरा था, भीतर जाने का कोई प्रश्न नहीं था किन्तु उसके पास एक ऐसी करामात थी, जिससे वह आम लेकर आ गया। पत्नी का दोहद पूरा हो गया। आम बहुत मीठा था। पत्नी को चस्का लग गया। उसने दूसरे दिन और आम खाने का आग्रह दोहराया।

पति ने कहा—‘यह क्या धन्धा है ? मेरे से रोज-रोज आम लाना संभव नहीं है।’

पत्नी बोली—‘नहीं, यह तो लाना ही होगा।’

चाण्डाल बेचारा क्या करता। वह दूसरे दिन भी आम लाया, तीसरे दिन भी लाया, चौथे दिन भी लाया। पहरेदार खड़े हैं और पेड़ खाली होते जा रहे हैं। यह देखकर बागवान चिन्तित हुए। राजा को सूचना दी गई। राजा ने इस समस्या को सुलझाने के लिए अभयकुमार से कहा। अभयकुमार बहुत बुद्धिमान् था। उसने सज्जता से सारी स्थिति का निरीक्षण किया। वह बाग में होने वाली हलचलों को निरन्तर पढ़ता रहा। ऐसा करते-करते उसने आम तोड़ने वाले व्यक्ति का पता लगा लिया और हरिकेश चाण्डाल को पकड़ लिया।

चाण्डाल को राजा के सामने प्रस्तुत किया गया। राजा ने पूछा—‘तुमने आम चुराए?’

उसने कहा—‘बिल्कुल नहीं चुराए।’

तर्क की भाषा में बचने का बहुत अवकाश होता है। अभयकुमार ने पूछा—‘क्या तुमने आम तोड़े?’

‘हां।’

‘क्या भीतर गये थे?’

‘नहीं भीतर गया ही नहीं था।’

‘भीतर नहीं घुसे तो आम तोड़े कैसे?’

‘मैंने बाहर खड़े-खड़े ही आम तोड़ लिए।’

राजा सुनकर स्तब्ध रह गया। राजा ने पूछा ‘यह कैसे संभव है।’

उसने मर्म प्रकट करते हुए कहा—‘राजन्! मेरे पास दो विद्याएं हैं—उन्नामिनी और अवनामिनी। जब मैं अवनामिनी विद्या का प्रयोग करता हूँ तब डालियां नीचे झुक जाती हैं और जब उन्नामिनी विद्या का प्रयोग करता हूँ तब वे शाखाएं फिर ऊपर चली जाती हैं। राजन्! मैंने बाहर खड़े-खड़े विद्याओं का प्रयोग किया, डालियां झुक गईं और मैंने आम तोड़ लिए।’

राजा ने विस्मय से कहा—‘अरे! तुम बड़े चमत्कारी व्यक्ति हो। ये विद्याएं मुझे सिखा दो। मैं तुम्हें माफ कर दूंगा। अन्यथा फांसी की सजा दी जाएगी।’

‘ठीक है, मैं आपको ये विद्याएं सिखा दूंगा।’

राजा अपने आसन पर बैठ गया और हरिकेश को नीचे बिठा दिया। हरिकेश ने विद्याएं सिखानी शुरू कीं। एक बार, दो बार, चार बार मंत्रविद्या का उच्चारण किया फिर भी राजा को विद्याएं पकड़ में नहीं आईं। राजा का मन व्याकुल हो उठा।

राजा ने व्यथा भरे स्वरों में कहा—‘अभयकुमार ! एक चांडाल को यह विद्या आ गई और मुझे यह विद्या नहीं आ रही है। इसका कारण क्या है?’

अभयकुमार बोला—‘महाराज! विद्या देने वाला नीचे बैठे और लेने वाला ऊपर बैठे तो विद्या आएगी कैसे? आपमें तो विनय ही नहीं है। महाराज! जब अहंकार दूर होगा तब ही कोई बात बनेगी। जहां अहंकार होता है वहां सारे दरवाजे और खिड़कियां बन्द हो जाती हैं। बाहर से न प्रकाश आता है, न हवा आती है और न सूर्य का ताप आता है।’

राजा के बात समझ में आ गईं। वह सिंहासन को छोड़कर नीचे बैठ गया। उसने चांडाल को ऊंचे आसन पर बिठाया। चांडाल ने पुनः विद्या दी। राजा को वह विद्या तत्काल सिद्ध हो गई।

प्रश्न यह नहीं है—विद्या देने वाला कौन है? विद्या देने वाला छोटा हो या साधारण आदमी, विद्या लेने वाला सम्राट् हो या बड़ा आदमी। यह एक सचाई है—विद्या देने वाला दान के समय ऊंचा होता है, विद्या लेने वाला ग्राहक और ग्रहणशील नीचा होता है।

सेवा से सम्मान

संबंध स्थापित करने का चोथा गुरु है—सेवा। दुनिया में सेवा के समान कोई वशीकरण मंत्र नहीं है। जितने वशीकरण मंत्र हैं, उनमें शक्तिशाली मंत्र है सेवा। हमने देखा एक महिला को। उसे कोई देखे तो शायद दूर भाग जाए। उसका सारा चेहरा सलवटों से भरा पड़ा था। कोई व्यक्तित्व जैसा लगता ही नहीं है पर एक सेवा के कारण उसने संसार भर के बड़े-बड़े सम्मान प्राप्त कर लिए। उसका नाम था मदर टेरेसा। विश्व भर के लोगों को जो बड़े-बड़े सम्मान मिलते हैं, वे उस अकेली ने प्राप्त कर लिये।

सेवा का बड़ा मूल्य है। तेरापंथ में एक मुनि हुए हैं खेतसीजी स्वामी। वे बहुत पढ़े लिखे नहीं थे, बहुत विद्वान् नहीं थे, लेखक या कवि नहीं थे, बहुत बड़े वक्ता भी नहीं थे। सेवा के कारण उन्हें सम्मान मिला। वे आचार्य के आसन

पर बैठ गए। यह एक विचित्र घटना है तेरापंथ के इतिहास की। तेरापंथ में नौ आचार्य हुए हैं, उनमें छह युवाचार्य हुए हैं। खेतसीजी स्वामी न तो आचार्य बने और न युवाचार्य बने, पर आचार्य के आसन पर आसीन हो गए। केवल सेवा और विनम्रता के कारण यह सब संभव बना।

कृतज्ञता : शिष्ट समाज का उदात्त सूत्र

संबंध स्थापित करने का पांचवां गुर है—कृतज्ञता। यह बहुत बड़ा तत्व है। बहुत लोग ऐसे होते हैं, जिनका कितना भी उपकार करो पर एक बार थोड़ा-सा कुछ हो जाता है तो बिल्कुल कृतघ्न बन जाते हैं, पीछे की सारी बातों को भूल जाते हैं। बीस-तीस वर्ष जिनको पढ़ाया, लिखाया, सिखाया, जिनके लिए सब कुछ किया किन्तु थोड़ी सी प्रतिकूलता आती है तो वे कृतज्ञता को बिल्कुल भूल जाते हैं, कृतघ्न हो जाते हैं, यानी कृत की हत्या कर डालते हैं। यह वृत्ति आदमी को नीचे ले जाने वाली वृत्ति है।

एक चांडालिनी रास्ते पर जल छिड़कती हुई चल रही थी। उसके हाथ में खप्पर था। सिर पर मरा हुआ कुत्ता था। हाथ रक्त से सने हुए थे, वह उन्हीं हाथों से मार्ग पर जल गिराती हुई चल रही थी। एक ऋषि यह दृश्य देखकर विचलित हो उठे। उन्होंने पूछा—

कर खप्पर सिर श्वान है, लहुज खरड़े हत्थ।

छिड़कत मग चांडालिनी, ऋषि पूछत है बत्त॥

चांडाल पत्नी ने बहुत मार्मिक उत्तर देते हुए कहा—

तुम तो ऋषि भोले भए, नहीं जानत हो भेब।

कृतघन की चरण रज, छिटकत हूं गुरुदेव॥

ऋषि! तुम भोले हो। तुम रहस्य नहीं जानते। कृतघ्न की चरणरज मुझे न लगे इसलिए मैं मार्ग को छिड़कते हुए चल रही हूँ।

कृतज्ञता शिष्ट समाज का एक उदात्त सूत्र है।

स्थविर ने कहा—तुम इन पांच गुरों का प्रयोग करो। तुम्हारा आचार्य के साथ संबंध स्थापित हो जाएगा।

शिष्य के बात समझ में आ गई। उसने कृतज्ञता भरे शब्दों में कहा—भतैं! आपने बहुत कृपा की। मैं इनका प्रयोग करूंगा।

समस्या गुरु की

योग ऐसा मिला। स्थविर वहां से उठकर गुरु के पास गए। उन्होंने देखा—गुरु भी चिन्तातुर बैठे हैं। स्थविर ने पूछ लिया—‘गुरुदेव! आपके मन में आज चिन्ता का भाव क्यों है?’

गुरु बोले—मुनिजी! बात यह है—मैंने शिष्यों को दीक्षित किया है पर अभी वे जन्म नहीं पा रहे हैं, स्थिर नहीं हो पा रहे हैं। उनका स्थिरीकरण नहीं हो पा रहा है। यह भी हो सकता है कि मैं उनको ठीक नहीं कर पाया हूँ। कोई न कोई कारण अवश्य है। यही बात मुझे चिन्तातुर बना रही है। ‘इस विषय में आपका परामर्श क्या है?’

गुरु का परामर्श सदा लिया जाता है किन्तु ऐसे शिष्य भी होते हैं जिनका मत और परामर्श भी लिया जाता है।

‘गुरुदेव! अगर आप चाहें तो मैं थोड़ी प्रार्थना करूं।’

‘बोलो! क्या कहना चाहते हो?’

गुरुदेव! शिष्य की चेतना को बांधने के पांच उपाय हैं—

- | | | | |
|----|-------------------------------|----|------|
| १. | शिष्य को निष्पत्ति तक ले जाना | ४. | ममता |
| २. | वात्सल्य | ५. | समता |
| ३. | सहिष्णुता | | |

निष्पत्तिकारकत्वं च, बध्नाति शिष्यचेतनाम्।

वात्सल्यं च सहिष्णुत्वं, ममता समता तथा।

निष्पत्तिकारकता

शिष्य की चेतना को बांधने का पहला उपाय है निष्पत्तिकारकत्व, शिष्य को निष्पत्ति तक ले जाना। स्थानांग सूत्र में चार प्रकार के मेघ बतलाए गए हैं। उनमें दो प्रकार ये हैं—एक मेघ धान्य को उत्पन्न करता है, निष्पन्न नहीं करता। एक मेघ धान्य को उत्पन्न भी करता है और निष्पन्न भी करता है।

मेह बरसा। फसल बो दी गई। फसल उपज गई, उत्पन्न हो गई। फसल खड़ी हो गई किन्तु बाद में मेह बरसा ही नहीं। खड़ी फसल नष्ट हो गई, अनाज निष्पन्न नहीं हुआ। उत्पन्न करना एक बात है और निष्पन्न करना बिल्कुल दूसरी बात है। निष्पत्ति तक पहुंचा देना, फसल को पूरा पका देना फसल उत्पन्न करने से अधिक मूल्यवान् है। आचार्य शिष्य को दीक्षित करता है। इसका अर्थ है—वह शिष्य को उत्पन्न करता है। आचार्य दीक्षित करने के बाद उसे रामभरोसे या भागभरोसे नहीं छोड़े। शिष्य जाने, उसका भाग्य जाने, ऐसा चिन्तन एक आचार्य नहीं कर सकता। उसका दायित्व है—शिष्य को संयम में रचा-पचा देना, उससे होने वाली निष्पत्ति से परिचित करा देना। निष्पत्तिकारक आचार्य शिष्यों के साथ शीघ्र संबन्ध स्थापित कर लेता है।

वात्सल्य और सहिष्णुता

दूसरा उपाय है—वात्सल्य। शिष्य की प्रीति और गुरु का वात्सल्य—दोनों का योग मिले तो संबंध स्थापित हो सकता है। इसका हार्द है—शिष्य की परिस्थितियों को देखना और उनके प्रति अपना हृदय उंडेल देना।

तीसरा उपाय है—सहिष्णु होना। यह बात अटपटी सी लगती है। सहिष्णु शिष्य बने या गुरु? सरदारशहर के एक प्रवचन में आचार्यश्री ने कहा था—एक आचार्य में तीन बातें होनी चाहिए—क्षमता, समता और ममता। जिस संघ का आचार्य सहिष्णु नहीं होता, वह संघ बिखर जाता है। आचार्यवर ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा—‘मुझे जितना सहना पड़ता है उतना एक छोटे साधु को भी नहीं सहना पड़ता।’ आचार्य को बहुत सहन करना होता है। बहुत बार ऐसी स्थिति बन जाती है कि छोटा साधु तो बोल जाता है, आचार्य को मौन रहना पड़ता है। कहां बोलना और कहां मौन रहना—इसका विवेक आचार्य को करना

होता है। सहन करना बहुत बड़ी बात है। जो सहन करना नहीं जानता वह नेतृत्व करना नहीं जानता।

ममता और समता—ये दो सूत्र भी शिष्य की चेतना को बांधने के मुख्य तत्व बनते हैं।

बात पूरी हो गई। आचार्य और शिष्य का सम्बन्ध स्पष्ट हो गया। शिष्य का आचार्य के प्रति कर्तव्य और आचार्य का शिष्य के प्रति कर्तव्य स्पष्ट हो गया। शिष्य का आचार्य से जुड़ना और आचार्य का शिष्य से जुड़ना तभी सम्भव है जब इन गुरुओं का उपयोग किया जाए।

उत्तराध्ययन सूत्र का पहला अध्ययन है—विनयश्रुत। उसमें अनुशासन के गुरु बतलाए गए हैं, अनुशासन के विषय में बहुत महत्वपूर्ण चिन्तन दिया गया है। उसके आधार पर ये सारे निष्कर्ष निकाले गए हैं—शिष्य आचार्य के साथ कैसा व्यवहार करे? दोनों ओर जो एक आध्यात्मिक मार्ग है, वह बहुत महत्वपूर्ण है। लौकिक मार्ग में ऐसा नहीं होता। लौकिक मार्ग में जो शक्तिशाली हो गया, वह बड़ा हो गया। वह छोटों के साथ चाहे जैसा व्यवहार करे किन्तु आध्यात्मिक मार्ग में गुरु और शिष्य—दोनों अनुशासित होते हैं। राजतन्त्र में ऐसा नहीं होता। राजतन्त्र में शासक हो और उच्छृंखल न हो, सौभाग्य से ही ऐसा मिल सकता है। अन्यथा उसके उच्छृंखल होने में कोई बाधा नहीं है। धर्म-शासन में ऐसा नहीं हो सकता इसलिए आचार्य और शिष्यों के सम्बन्ध को जानना बहुत जरूरी है।

आचार्य के दायित्व

आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ संघ को जो रूप दिया और उसके लिए एक आचार्य की जो व्यवस्था दी, वह अद्भुत है। तेरापंथ के आचार्य की अनेक अर्हताएं होती हैं। उनमें पहली बात है आगम परम्परा की सुरक्षा। यह सबसे महत्वपूर्ण बात है। आगम की परम्परा तेरापंथ का आधार है। उसकी अगर सुरक्षा नहीं होती है तो संघ की स्थिरता में बाधा पहुंचती है। दर्शन या मूल आधार के टोस बने बिना संघ रहता नहीं है। रहता भी है तो बिखरा हुआ रहता है। इसीलिए आचार्य की कसौटी बन गई—आगम परम्परा की सुरक्षा। आगम परम्परा की सुरक्षा करने वाला ही आचार्य होता है।

दूसरा काम है—नीति का निर्धारण। संघ में नीति का निर्धारण कौन करे? आचार्य नीति के नियामक होते हैं। वे उस नीति की क्रियान्विति चाहे जिससे करवाएं पर नीति का सूत्र उनके हाथ में रहेगा। जयाचार्य ने कहा—संपद राखो हाथ—संपद को आचार्य हाथ में रखे। इसका अर्थ है—आचार्य मूल डोर को हाथ में रखे फिर चाहे क, ख, ग किसी से भी काम ले। आचार्य नीति निर्धारण का अधिकार किसी को दे नहीं सकते और अगर देते हैं तो वह संघ टिकता नहीं है। इसीलिए कहा गया—अनुयोगकृत् आचार्य, नीतिकृत् आचार्य, नीतिनियामक आचार्य।

तीसरा काम है—संघ में शिक्षा का विकास करना। यह कार्य आचार्य स्वयं करें। या चाहे जिससे करवाएं।

चौथा काम है—संस्कार निर्माण या स्थिरीकरण, संस्कारों का निर्माण करना या स्थिरीकरण करना। साधु-साध्वियों और श्रावक-श्राविकाओं को धर्म में बनाए रखना, टिकाए रखना।

पांचवां काम है—व्यवस्था बनाए रखना। आचार्यश्री ने योगक्षेम वर्ष में अनेक वर्ग बना दिए, वर्ग के संयोजक बना दिए, सतर्कता आयोग और प्रशिक्षण आयोग बना दिया। योगक्षेम वर्ष की व्यवस्था बन गई। व्यवस्था में कुछ कठिनाइयां होती हैं, व्यवस्था को सहन करना भी कठिन होता है। व्यवस्था का नाम ही कठिनाई है पर व्यवस्था होती अच्छी है। व्यवस्था का मतलब है—एक विशेष प्रकार की अवस्था। विशेष प्रकार की अवस्था का निर्माण करना आचार्य का दायित्व है।

संघ के लिए ये पांच कार्य आवश्यक होते हैं—अनुयोग यानी आगम परम्परा की सुरक्षा, नीति का निर्धारण, शिक्षा, संस्कार का निर्माण या स्थिरीकरण और व्यवस्था। ये पांचों कार्य एक व्यक्ति ही करे, यह सम्भव नहीं, पर कम से कम पहले दो तो आचार्य के लिए अनिवार्य हैं, जिन्हें दूसरे को सौंपा ही नहीं जा सकता। तीन ऐसे हैं, जिन्हें चाहे तो आचार्य स्वयं करें या किसी दूसरे से करवाए।

ये सारी व्यवस्थाएं जब स्वस्थ रूप में चलती हैं तो गुरु और शिष्य का सम्बन्ध स्वस्थ रहता है। गुरु और शिष्य के सम्बन्धों की स्वस्थता से ही स्वस्थ और शक्तिशाली संघ का निर्माण संभव बन सकता है।

तितिक्षा की कसौटियां

उत्तराध्ययन का दूसरा अध्ययन है परीषह प्रविभक्ति। आचार्य ने परीषह प्रविभक्ति का प्रतिपादन किया। एक प्रबुद्धमति शिष्य बोला—गुरुदेव! हमें बताया गया है—धर्म की आराधना आनन्द, शक्ति और ज्ञान के लिए है। हमारी आत्मा में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द है। हमारे भीतर आनन्द का सागर लहरा रहा है। हम दीक्षित हुए हैं आनन्द के लिए और आप कह रहे हैं कष्टों को सहन करो, कष्टों को झेलो, कठिनाईयों को झेलो। क्या कष्ट के द्वारा आनन्द पाया जा सकता है? अज्ञान के द्वारा ज्ञान को नहीं पाया जा सकता। कष्ट के द्वारा भी आनन्द की प्राप्ति कभी संभव नहीं। फिर यह परीषह का प्रवचन क्यों?

जिज्ञासा महत्वपूर्ण थी। प्रश्न भी सीधा नहीं, टेढ़ा था।

परीषह : तितिक्षा के लिए

आचार्य ने बहुत शांतभाव से उत्तर दिया—‘वत्स! तुम्हारा प्रश्न ठीक है पर अभी तुम रहस्य को समझ नहीं पाए हो। तुम रहस्य को समझने का प्रयत्न करो। परीषह कष्ट सहन करने के लिए नहीं किन्तु तितिक्षा को बढ़ाने के लिए है।’

‘गुरुदेव! तितिक्षा का क्या अर्थ है?’

‘द्वन्द्वों को सहन करने का नाम है तितिक्षा। हमारा जगत् द्वन्द्वात्मक जगत् है। सर्दी और गर्मी, भूख और प्यास, रति और अरति—ये सारे द्वन्द्व हैं। सारे वातावरण में द्वन्द्व भरे हुए हैं। जब तक सहन करने की क्षमता नहीं बढ़ती तब तक व्यक्ति सुख का जीवन नहीं जी सकता।’

‘गुरुदेव! सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास—इन सब द्वन्द्वों को सहन करने के लिए परीषह-प्रविभक्ति अध्ययन की क्या आवश्यकता है? इसके लिए तो बहुत अच्छे साधन प्राप्त हैं। भूख लगी और रोटी खा ली, भूख मिट जाएगी। प्यास लगी, पानी पिया और प्यास मिट जाएगी। सर्दी आई और गर्म कपड़े पहने, सर्दी हमारा कुछ नहीं बिगाड़ पाएगी। सर्दी ज्यादा हो तो हीटर लगा लो, गर्मी ज्यादा हो तो मकान को वातानुकूलित कर लो। मनुष्य बुद्धिमान् प्राणी है। उसने ऐसे उपायों का विकास किया है कि इन दोनों द्वन्द्वों का कोई वश नहीं चलता। फिर यह कष्ट सहने की बात क्यों? इस वैज्ञानिक युग में इतने कष्ट सहन करने की बात कहां तक युक्त है?’

आचार्य ने कहा—‘अभी तक तुम इसके हृदय को नहीं पकड़ पाए। जब तक हृदय पकड़ में नहीं आता तब तक कुछ भी उपलब्ध नहीं होता। तुम इसके हृदय तक पहुंचो! परीषह का जो प्रतिपादन किया जा रहा है, उसका उद्देश्य है—

वर्धतां शक्तिरंतस्था, वर्धतां च मनोबलम्।
वर्धतामंतरानंदस्तत् सोढव्याः परीषहाः ॥
न कष्टं नाम कष्टाय, कष्टापोहाय तद्मतम्।
अस्मिन् कष्टाकुले लोके, कष्टमुक्तेरसौ पथः ॥

आंतरिक शक्ति बढ़े, आंतरिक आनन्द बढ़े इसलिए कष्टों को सहन करना जरूरी है। कष्ट को कष्ट के लिए नहीं किन्तु कष्ट को मिटाने के लिए कष्ट को सहना जरूरी है। यह सारा संसार कष्ट से व्याकुल है। यह परीषह को सहने का मार्ग, कष्ट-मुक्ति का मार्ग है कष्टों को निमंत्रण देने का मार्ग नहीं है।

यह बात अत्यन्त रहस्यपूर्ण है। यदि व्यक्ति रहस्य तक नहीं पहुंचता है तो उसे यह मार्ग अटपटा सा लगता है, दुष्कर लगता है। अगर वह रहस्य तक पहुंच जाए तो उसे लगेगा—यह जीवन का बहुत सुन्दर दर्शन है।

प्रकृति में जीए

एक अमेरिकन उद्योगपति बीमार पड़ गया। डाक्टरों को दिखाया, चिकित्सा कराई, अनेक प्रकार की चिकित्सा पद्धतियों का प्रयोग किया किन्तु वह स्वस्थ नहीं बना। आखिर वह एक प्राकृतिक चिकित्सक की शरण में गया। प्राकृतिक चिकित्सक ने कहा—महाशय! प्रतिदिन तीन घंटा गरम पानी के टब में नहाओ, स्वस्थ हो जाओगे।

वह तीन घण्टा गरम पानी में स्नान करने लगा। कुछ दिन में ही वह स्वास्थ्य का अनुभव करने लगा। एक दिन स्नान करते-करते उसके मन में विकल्प उठा—यह कैसी मूर्खता है! मकान वातानुकूलित और फिर तीन घण्टा गर्म पानी में स्नान करना! उसने वातानुकूलन समाप्त कर दिया; वह प्राकृतिक वातावरण में रहने लगा। तीन घण्टा गर्म पानी में बैठने की जरूरत भी समाप्त हो गई।

एक व्यक्ति बाहरी साधनों का प्रयोग कर भूख, प्यास आदि पर विजय पाने का प्रयत्न करता है और एक व्यक्ति अपने शरीर की क्षमता को बढ़ा कर। यदि शरीर की क्षमता बढ़ती है तो सर्दी गर्मी बहुत नहीं सताती है। जितने भी बाहर से आने वाले द्वन्द्व हैं, उन सब द्वन्द्वों को झेल सकें ऐसे शरीर का निर्माण कर लेना, इतनी शरीर की क्षमता को बढ़ा लेना कष्टों को सहन करने का एक मार्ग है। कष्टों को सहने का दूसरा मार्ग है—बाहरी साधनों का प्रयोग। उनसे व्यक्ति का शरीर कमजोर बन जाता है, उसकी सहन करने की शक्ति कम हो जाती है, चुकती चली जाती है। व्यक्ति इस कष्टाकुल लोक में जी रहा है। प्रत्येक आदमी के शरीर में रोग के कीटाणु भरे पड़े हैं किन्तु जब तक उसकी रोग-प्रतिरोधक क्षमता-मजबूत है तब तक वह बीमार नहीं बनता। जब रोग प्रतिरोधक क्षमता कम हो जाती है, व्यक्ति अकारण बीमार बन जाता है। बाहरी

साधन, कृत्रिम-साधन व्यक्ति की रोग निरोधक क्षमता को कम करते हैं। आन्तरिक साधन, परीषह को सहने की साधना शरीर की क्षमता को बढ़ाती है। उससे रोग प्रतिरोधक क्षमता में वृद्धि होती है।

अध्यात्म में अपनी आंतरिक क्षमता को बढ़ाने पर बल दिया गया। भीतर में जो अनन्त शक्ति है, उसका थोड़ा हिस्सा भी प्रकट होता है, भीतर में जो आनन्द का सागर लहरा रहा है, उसका थोड़ा अंश भी बाहर आता है तो व्यक्ति कष्ट को आनन्द मानकर झेल लेता है। यदि भीतर का आनन्द जाग जाए, आन्तरिक स्रोत फूट जाए जो जीवन सुखद और आनन्द से परिपूर्ण बन जाता है।

कष्ट सहने के लिए कष्ट नहीं है। कष्टों को आमंत्रित करना जैन दर्शन का उद्देश्य ही नहीं है। बहुत सारे लोग कहते हैं—जैन दर्शन को स्वीकार करने का, जैन मुनि बनने का अर्थ है—कष्टों को निमंत्रण देना। यह एक धारणा बन गई। वस्तुतः कष्टों को आमंत्रित करना जैन दर्शन का उद्देश्य नहीं है। जैन दर्शन का उद्देश्य है—जो मार्ग स्वीकार किया है, उस मार्ग पर निर्बाध चलते रहें और उस मार्ग में जो कष्ट आए, उन्हें हंसते-हंसते झेलने की क्षमता जागृत हो जाए। परीषह क्यों सहें?

आचार्य उमास्वाति ने बहुत सुन्दर लिखा—मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः। परीषह को सहन करने का एक उद्देश्य है—मार्गाच्यवन। जिस मार्ग को स्वीकार किया है, उससे च्यवन न हो, उसमें स्थिर बने रहें। मार्गाच्यवन के लिए परीषहों को सहने का विधान है। इसका दूसरा उद्देश्य है—निर्जरा। निर्जरा के लिए कष्टों को सहन करना चाहिए। व्यक्ति सोचे—मैं जो कष्ट सह रहा हूँ, उससे पूर्वकृत कर्म की निर्जरा हो रही है। यदि ये दोनों उद्देश्य स्पष्ट हों तो कष्ट होने पर आदमी रोएगा नहीं, वह बड़ी शांति के साथ कष्ट को झेल लेगा। अगर यह उद्देश्य नहीं होता है तो थोड़ी सी कठिनाई आने पर भी व्यक्ति विचलित हो जाता है, स्वीकृत मार्ग को छोड़ देता है।

आसन-सिद्धि : कष्ट सहने का उपाय

महर्षि पतंजलि ने कष्टों को सहन करने का उपाय बतलाया—आसनसिद्धि। प्रश्न हुआ—आसन-सिद्धि क्यों? उत्तर दिया गया—आसन सिद्धि हो जाएगा तो व्यक्ति को द्वंद्व नहीं सता सकेंगे। सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि द्वंद्व उसकी साधना में बाधक नहीं बन पाएंगे। प्रतिप्रश्न उभरा—आसन करने से द्वन्द्वों पर विजय कैसे होगी? कहा गया—आसन सिद्धि करने से बोध-शून्यता आएगी।

पांच मिनट पद्मासन करने से आसन-सिद्धि नहीं होती। आसन सिद्धि का समय है—डेढ़ घंटे से तीन घंटे तक। आसन सिद्धि से बोध-शून्यता आ जाएगी, इसका अर्थ है—आसन-सिद्धि से शरीर शिथिल बन जाएगा, फिर सर्दी गर्मी नहीं सताएगी।

जिनकल्प की साधना

जैन धर्म में जिनकल्प की प्रतिमा को स्वीकार करने वाला सबसे पहले पांच तुला का प्रयोग करता है। उसके लिए पांच कसौटियां होती हैं। जो मुनि छह महीने तक भूखा रह सके, इतनी साधना कर ले, वह जिनकल्प को स्वीकार कर सकता है। जो मुनि अभय बन जाए, श्मशान प्रतिमा कर सके, वह जिनकल्प प्रतिमा स्वीकार कर सकता है। पहले वह इस प्रतिमा का अभ्यास करता है। इसका एक अभ्यास-क्रम है। वह पहले अंधेरे में अकेला ध्यान करना शुरू करता है। वहां डर न लगे तो एक भूमिका सिद्ध हो गई। इसके पश्चात रात को बारह बजे उठकर बाहर जाकर अकेला ध्यान करता है। उसके सिद्ध हो जाने के बाद उपाश्रय से बाहर जाकर मार्ग के आस पास ध्यान करता है। उसकी सिद्धि के पश्चात चौराहे पर ध्यान करता है। इतना होने के बाद वह श्मशान में जाकर ध्यान करता है। जब श्मशान प्रतिमा सध जाती है तब मुनि जिनकल्प की साधना को स्वीकार कर सकता है। ये अभ्यासजनित सिद्धियां हैं, इन्हें अभ्यास के द्वारा साधा जा सकता है।

अनुबन्ध : चंचलता और पीड़ा में

आसन कायसिद्धि का एक प्रयोग है, इसका कारण भी बहुत सुन्दर बतलाया गया। व्यक्ति को कष्ट होता है चंचलता के कारण। एक नियम है—जितनी चंचलता उतनी पीड़ा। जितनी चंचलता कम, उतनी पीड़ा कम। जितनी स्थिरता उतनी ही शान्ति। चंचलता और पीड़ा में गहरा सम्बन्ध है। आसन करने से और आसन सिद्धि होने से शरीर की चंचलता कम होती है, मन की चंचलता कम होती है तब संवेदन-शून्यता आती है, संवेदना कम हो जाती है। आसन से व्यक्ति की क्षमता और स्थिरता बढ़ जाती है। उससे वह द्वन्द्वों को झेलने में समर्थ बन जाता है। आसन-सिद्धि एक उपाय है द्वन्द्वों को झेलने का, शारीरिक और मानसिक क्षमता को बढ़ाने का। जब क्षमता और स्थिरता प्रबल बनती है, परीषह अकिंचित्कर बन जाते हैं।

क्षमता का निदर्शन

तेरापन्थ धर्मसंघ के एक विशिष्ट संत हुए हैं मुनि हेमराजजी। वे जयाचार्य के विद्यागुरु थे। वे रात्रि के समय सदा कायोत्सर्ग करते। पौष मास में राजस्थान की ठिठुरने वाली सर्दी में रात को बारह बजे, एक बजे केवल एक पछेबड़ी (पतला सा सूती वस्त्र) रखते और थोड़ी देर बाद उसे भी उतार देते। उस सर्दी में एक प्रहर—तीन घंटे तक खुले शरीर कायोत्सर्ग करते। सहन करने की क्षमता का यह एक निदर्शन है।

आचार्यश्री कई बार ऐसे व्यक्तियों को देखते, जो बहुत ढंके रहते, गला बांधे रखते। ऐसा लगता है—जैसे उनके गला है ही नहीं। आचार्यश्री उनसे कहते—ऐसा करना अपने शरीर को कमजोर बना लेना है। जिस अवयव को खुली हवा नहीं लगेगी, उस अवयव के ज्ञान-तंतुओं की क्षमता कम हो जाएगी। वे कमजोर बन जाएंगे, कष्ट झेल ही नहीं पाएंगे।

आसन-सिद्धि से इन द्वन्द्वों पर विजय पाई जा सकती है। ऐसे कुछ आसन भी हैं। वीरासन धृति को बढ़ाने वाला आसन है। सिंहासन, जिसका जैन मुनियों की साधना पद्धति में मुख्य उल्लेख हुआ है, शरीर एवं मन की क्षमता को बढ़ाने वाला है। इन दोनों आसनों से धृति का विकास होता है, शरीर एवं मनोबल का विकास होता है, कष्टों को झेलने की क्षमता प्राप्त होती है।

धृति और श्रामण्य

चरक का महत्वपूर्ण कथन है—बुद्धि, स्मृति और धृति—ये तीन प्रज्ञापराय को रोकने वाले तत्त्व हैं। बुद्धि और स्मृति एक नहीं है। स्मृति करना बुद्धि का काम नहीं है। बहुत याद रखने वाला स्मृतिमान् हो सकता है, बुद्धिमान् नहीं हो सकता। वह स्मृतिमान् है जिसकी स्मृति-शक्ति अच्छी है। कंठस्थ करना, याद करना स्मृति का काम है। चरक के टीकाकार चक्रपाणी दलहन ने धृति की व्याख्या करते हुए लिखा—मन का नियन्त्रण करने वाली बुद्धि धृति है। सारा नियन्त्रण धृति के द्वारा होता है। आचार्य भद्रबाहु कृत दसवैकालिक की नियुक्ति का बहुत सुन्दर प्रसंग है। पूछा गया—श्रामण्य किसके होगा? श्रमण जीवन को कौन निभा सकेगा? उत्तर दिया गया—जिसमें धृति है, वह श्रामण्य को पाल पाएगा। जिसमें धृति नहीं है, वह सामान्य कष्टों से भी घबरा जाएगा, श्रामण्य से व्युत् हो जाएगा। धृति के बिना श्रामण्य का पालन संभव नहीं है।

परीषदों को झेलने के लिए धृति का विकास आवश्यक है। परीषद प्रविभक्ति अध्ययन का उद्देश्य केवल भूख-प्यास को सहन करना नहीं है। उसका यह प्रतिपाद्य ही नहीं है। उसका प्रतिपाद्य है—भूख को सहन कर सके वैसी धृति का विकास करना, प्यास को सहन कर सके वैसी धृति का विकास करना।

आचार्य कालूगणी का संवत् १६८८ का चौमासा बीदासर था। उस वर्ष वर्षा कम हुई थी। गर्मी भयंकर थी। संवत्सरी के दिन संत चौविहार उपवास करते हैं। अनेक श्रावकों ने भी चौविहार उपवास किया, पौषध किए। पूरे चौबीस घंटे निराहार और निर्जल रहना। अनेक व्यक्ति प्यास से व्याकुल हो उठे। अनेक संत अपने हाथ में कम्बल उठाए इधर से उधर ठंडे स्थान की गवेषणा में घूमते रहे। धृति के बिना यह कभी संभव नहीं कि उस भयंकर रात्रि में कोई पानी न पीए। अनेक ऐसे श्रावक, जिनमें धृति नहीं थी, विचलित हो गए। अनेक श्रावकों ने रात्रि में पौषध भंग कर पानी पी लिया। धृति कमजोर होने के कारण ऐसी स्थिति बन जाती है। मनोबल ही सब कुछ होता है। मनोबल गिरा कि आदमी गिरा।

मैंने सबसे छोटे समण से कहा—‘गर्मी आ रही है, रात को पानी नहीं पीना है!’

उसने कहा—‘पानी नहीं पीऊंगा।’

‘क्यों नहीं पीओगे?’

‘क्योंकि पानी पीना नियम के विरुद्ध है।’

‘प्यास को कैसे सहन करोगे?’

‘नहीं पीना है तो नहीं पीऊंगा, प्यास को सहन करूंगा।’

धृति होती है तो सब कुछ सह जा सकता है। अगर वह नहीं होती है तो साठ और सत्तर वर्ष का आदमी भी विचलित हो जाता है। अविचलन के लिए धृति का विकास, आंतरिक शक्ति का विकास अपेक्षित है।

सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास को सहना भी आसान हो सकता है पर गाली को सहन करना बहुत कठिन है। बहुत सारे व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो तपस्या कर लेते हैं, भूख सह लेते हैं, मासखमण तक की तपस्या कर लेते हैं पर मन के प्रतिकूल थोड़ी सी भी बात होती है तो उनका पारा गर्म हो जाता है। यह एक परीषह है। वध-मारपीट भी एक परीषह है।

एक बार आचार्यवर मेवाड़ में बेरों के मठ में ठहरे। ऐसी स्थिति बनी—मठ में रहने वाला एक व्यक्ति लोहे का गर्म चिमटा लेकर आचार्यश्री के पास पहुंच गया। उसका चेहरा गुस्से से लाल हो गया। जैसे लाल लोहे का चिमटा था वैसा ही लाल उसका चेहरा बना हुआ था। आचार्यश्री ने उस व्यक्ति से पूछा—क्या करोगे? उसकी हिम्मत नहीं हुई? चिमटा उसके हाथ में ही रह गया। हजारों लोग बैठे यह दृश्य देख रहे थे। वे किंकर्तव्यविमूढ़ और स्तब्ध बने हुए थे। कुछ क्षणों के बाद वह व्यक्ति लौट गया। ऐसी स्थिति में अगर धृति न हो तो आदमी विचलित हो जाए। बिना धृति और मनोबल के सहा नहीं जा सकता।

आदर्श स्पष्ट हो

सहिष्णुता के लिए धृति और मनोबल का विकास अपेक्षित है, आन्तरिक आनन्द को जगाना आवश्यक है। भीतर में आनन्द का स्रोत नहीं बह रहा है तो व्यक्ति को बाहर की परिस्थितियां और कष्ट तत्काल विचलित कर देंगे। धृति, मनोबल और आनन्द का जागरण तभी संभव है, जब व्यक्ति के सामने एक स्पष्ट आदर्श हो। आदर्श के बिना इसका विकास संभव नहीं है। आदर्श के सहारे ही इसका विकास किया जा सकता है।

अर्हत् एक आदर्श है। अर्हत् कोई व्यक्ति नहीं है। अर्हत् गुणों का एक समुच्चय है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति—यह चतुष्टयी जिस पुरुष में जागृत हो जाती है, उसका नाम है अर्हत्। अर्हत् आदर्श है, अर्हत् तक पहुंचना है, अर्हत् बनना है। यह दर्शन जितना साफ रहेगा उतनी ही व्यक्ति की क्षमता जागेगी, आनन्द जागेगा, शक्ति और मनोबल बढ़ेगा। यह आदर्श अगर स्पष्ट नहीं है तो मार्गांतरण होगा, दूसरा मार्ग खोजा जाएगा, छिपाव होगा। तितिक्षा के विकास के लिए और परीषहों को झेलने के लिए स्पष्ट आदर्श की जरूरत है।

प्रज्ञा परीषह : अज्ञान परीषह

बाईस परीषह बतलाए गए हैं। उनमें कुछ शारीरिक हैं, कुछ मानसिक और कुछ भावनात्मक। उनमें सबसे ज्यादा कठिन है अज्ञान और प्रज्ञा का परीषह। प्रज्ञा का परीषह सबसे ज्यादा भयंकर है, नास्तिकता पैदा करने वाला है। एक साथक सोचता है—कितने वर्ष साधुपन पाला, कितनी तपस्या की, कितना जप किया, कितना ध्यान किया और मिला क्या? कहां मोक्ष, कहां स्वर्ग और कहां

उपलब्धियां! कुछ भी नहीं मिला। गुरु की कृपा ही नहीं मिली। साधक इस चिन्तन में भटक जाता है, पथच्युत हो जाता है, प्राप्त संपदा को गंवा देता है। यह परीषह बहुत भयंकर है। सारे परीषह इसके नीचे दब जाते हैं। अज्ञान का परीषह भी साधना में बाधा बनता है। एक साधक सोचता है—वह मुनि बड़ा ज्ञानी है, बात को जल्दी पकड़ लेता है, याद कर लेता है और मैं इतना प्रयत्न करता हूँ फिर भी बात पकड़ में नहीं आती। उसका मन अशान्त और उद्विग्न बन जाता है। यह कोई जरूरी नहीं है कि सबकी स्मृति एक समान हो।

आदर्श की स्पष्टता : क्षमता का विकास

एक मुनि की स्मृति बहुत कमजोर थी। वह आगम पढ़ने की स्थिति में नहीं था। गुरु ने कहा—‘मा रुष मा तुष’ इस एक पद्य को याद कर इसका निरन्तर चिन्तन करो। शिष्य ने इस पद्य को कंठस्थ करना प्रारंभ किया। उसने इसकी साधना के लिए दूसरे स्थान पर जाने का निश्चय किया। वह थोड़ी दूर जाते ही इस पद्य को भी भूल गया। उसने सोचा—बड़ी मुसीबत हो गई। अब कैसे होगा? वापस जाऊंगा तो गुरु क्या समझेंगे। वह वापस नहीं आया, आगे चल पड़ा। उसने मार्ग में देखा—एक खलिहान है। उसमें धान साफ किया जा रहा है। उसने पूछा—यह क्या है? वे बोले—यह मास है और यह तुष है। उसने कहा—अच्छा! गुरु ने मुझे यहीं बताया था। उसने रटना शुरू कर दिया—मास तुष ... मास तुष। उसकी स्मृति कमजोर थी किन्तु अन्तःकरण बहुत पवित्र था। उसने सोचा—यह शरीर, जो तुष है, वह अलग है और यह मास—अनाज, जो आत्मा है वह अलग है। ऐसा करते-करते वह भेदज्ञान की स्थिति में पहुंच गया।

जब व्यक्ति के सामने आदर्श और लक्ष्य स्पष्ट होता है, साधना में आने वाली बाधाएं, विघ्न कमजोर बन जाते हैं। आदर्श की स्पष्टता से क्षमता का विकास संभव बनता है। जब व्यक्ति की क्षमता विकसित होती है, तब वह कष्टानुभूति के क्षणों में भी सुख और आनन्द को खोज लेता है और यही रहस्य परीषहों में अन्तर्गर्भित है।

दुर्लभ संयोग

आचार्य के उपनिषद् में तत्त्वचर्चा हो रही थी। प्रसंग चला दुर्लभ का। आचार्य ने पूछा—‘बताओ! इस दुनिया में दुर्लभ क्या है?’

एक शिष्य बोला—‘भंते! कल्पवृक्ष बहुत दुर्लभ है। मनुष्य की जो कल्पना है, कामना है, उसे कल्पवृक्ष पूरी कर देता है।’

दूसरा शिष्य बोला—‘भंते! मेरी दृष्टि में चिन्तामणि रत्न दुर्लभ है। वह पास में हो तो कहीं जाने की जरूरत नहीं होती। व्यक्ति की हर चाह को पूरी कर देता है।’

तीसरा शिष्य बोला—‘भंते! मेरी दृष्टि में कामधेनु दुर्लभ है। वह कामनाओं को पूरा कर देती है। वह व्यक्ति के पास अपने आप आती है, उसे बुलाने नहीं जाना पड़ता।’

चौथा शिष्य बोला—‘भंते ! मेरी दृष्टि में दुर्लभ है देव दर्शन। अगर देवता दर्शन दे दे तो कामधेनु, चिन्तामणि रत्न, कल्पवृक्ष—ये सारी बातें पूरी हो जाती हैं।’

एक शिष्य बोला—‘भंते ! ‘दुर्लभं भारते जन्म’ मेरी दृष्टि में भरत क्षेत्र में जन्म लेना दुर्लभ है। अगर यह हो जाए तो ये सारी बातें मिल जाए।’

अपनी अपनी मति और अपना अपना विचार।

आचार्य ने कहा—‘ठीक है तुम्हारा चिन्तन। पर और भी कुछ दुर्लभ है।’

‘भंते! कृपा कर आप ही बताएं, और क्या दुर्लभ है?’

गुरु ने कहा—प्राणी के लिए चार तत्त्व दुर्लभ हैं—मनुष्य का जन्म, श्रुति, श्रद्धा और संयम में पराक्रम करना।

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जंतुणो।

माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं॥

दुर्लभ है मनुष्य जन्म

शिष्य बोला—‘भंते! आजकल तो परिवार नियोजन पर बल दिया जा रहा है। बेशुमार आबादी बढ़ रही है। वैज्ञानिक चिन्तित हैं कि आबादी को कैसे रोकें जाए? इस स्तर से आबादी बढ़ती चली गई तो आदमी आदमी से सटकर चलेगा। उसे खाने को अन्न, रहने का स्थान और पैर पसारने को अवकाश नहीं मिलेगा। विश्व मनुष्यों से संकुल हो जाएगा। सारे राष्ट्र परिवार नियोजन की चिन्ता में लगे हुए हैं। आबादी पर नियन्त्रण किया जाए, रोक लगाई जाए, यह स्वर सर्वत्र उभर रहा है। मनुष्य जन्म दुर्लभ कहां है?’

आचार्य ने कहा—‘तुम समझे नहीं। पांच अरब आदमी कौन-सी बड़ी बात है। अगर १० अरब हों जाए तो भी कौन-सी बड़ी बात है! दुनिया के सारे जीवों को देखो। एक जीव है एकेन्द्रिय, एक इन्द्रिय वाले। तुम बतलाओ! वे दुनिया में कितने हैं?’

‘भंते! वे तो दुनिया में अनन्त-अनन्त हैं। एक सुई की नोक टिके उतने स्थान में अनन्त-अनन्त जीव हैं।’

‘उनकी तुलना में मनुष्य कितने हैं! कहां अनन्त और कहां पांच अरब? कहीं कोई तुलना ही नहीं है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और अमृतस्क पंचेन्द्रिय—इनका जगत् भी बहुत बड़ा है। इन सारी घाटियों को पार करने के बाद समनस्क पंचेन्द्रिय मनुष्य जन्म लेता है। क्या यह दुर्लभ नहीं है?’

वनस्पति में, निगोद में जीवों का अनन्त-अनन्त भंडार है। यदि उसमें कोई प्राणी गिर जाए, फंस जाए तो उसका निकलना अत्यन्त मुश्किल है। वहां से निकलने के बाद भी उसे अनेक दुर्गम घाटियों को पार करना पड़ता है।

मनुष्य जीवन दुर्लभ है, इस पर सारे धार्मिक लोग एकमत हैं। शंकराचार्य ने विवेक-चूड़ामणि में लिखा—

दुर्लभं त्रयमेवैतत् देवानुग्रहहेतुकम्।

मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः॥

तीन चीजें बड़ी दुर्लभ हैं। वे देवानुग्रह से ही मिलती हैं—मनुष्यत्व, मुमुक्षुत्व और महापुरुष का सम्पर्क। मनुष्य होना बड़ा दुर्लभ है। मुक्त होने की इच्छा पैदा होना है और महापुरुष का संपर्क मिलना भी बहुत दुर्लभ है।

दुर्लभ है श्रुति

दूसरा दुर्लभ तत्त्व है—श्रुति। ‘अध्यात्मश्रवणं श्रुतिः’ श्रुति का अर्थ है—अध्यात्म का श्रवण। अध्यात्म की बात सुनना मुश्किल है। उसमें मन ही नहीं लगता। बातों में मन लग जाता है, रेडियो सुनने में बहुत मन लगता है। जब क्रिकेट की कामेंद्री आती है, लाखों-करोड़ों मनुष्य खाते-पीते समय भी रेडियो कान के पास रखते हैं, उसे छोड़ना ही नहीं चाहते। इसका कारण है—आम आदमी का उसके प्रति आकर्षण है। धर्म की बात में रस नहीं है, आकर्षण नहीं है। प्रश्न है आकर्षण का। क्या धर्म की बात में रस नहीं है? धर्म की बात कहने वाले रस पैदा करना नहीं जानते या धर्म की बात में रस पैदा नहीं किया जा सकता? धर्म की बात को भी सरस बनाया जा सकता है, यह निश्चित तथ्य है। नीरस बात कोई सुनना नहीं चाहता। चाहे वह धर्म की चर्चा हो, टी.वी. या रेडियो पर आने वाला कोई कार्यक्रम हो।

कादम्बरी का पूर्वार्द्ध बनाने वाले महाकवि बाणभट्ट का निधन हुआ। प्रश्न प्रस्तुत हुआ—उसके उत्तरार्द्ध को कौन बनाए? निश्चय किया गया—जिसके काव्य में सरसता है, वह बनाए। विद्वानों की संगीति हुई। दो विद्वानों को इस कार्य के लिए चुना गया। समस्या दी गई—सूखा काठ खड़ा है, इसकी संस्कृत में पूर्ति करो। एक बोला—शुष्कं काष्ठं तिष्ठत्यग्रे। दूसरा बोला—नीरसतरुह विलसति पुरतः। पहला काव्य क्लिष्ट और नीरस था। दूसरा काव्य सहज और

सरस था। उसे बोलने में कोई कठिनाई नहीं आई। दूसरे विद्वान् को काम सौंप दिया गया।

धार्मिक लोगों के सामने प्रश्न है—व्याख्यान की शैली हो? कितनी सरस हो? उसमें रस होगा तो लोग स्वयं सुनना चाहेंगे। नीरस बात अच्छी भी ग्राह्य नहीं हो सकती। इस आकर्षण के युग में अध्यात्म की बात को सुनने में रस का होना बहुत दुर्लभ है।

सफलता का सूत्र

तीसरा दुर्लभ तत्त्व है—श्रद्धा। आस्था का होना बहुत ज्यादा कठिन है। वे व्यक्ति धन्य हैं, जिन्हें आस्था का सूत्र उपलब्ध है। वे ही व्यक्ति अपने जीवन में सफल बने हैं, जिन्हें आस्था का वरदान मिला है।

धर्म के क्षेत्र में भी आस्था का होना अनिवार्य है। धर्म की एक व्यवस्था है, मर्यादा है। प्रत्येक व्यक्ति को उसके अनुसार चलना होता है, अपनी सारी दिनचर्या बनानी होती है। यदि धर्म की व्यवस्था या मर्यादा के प्रति निष्ठा नहीं होती है तो सारी क्रियाएं यांत्रिक बन जाती हैं। यांत्रिक क्रिया व्यक्ति को बहुत अधिक सफल नहीं बना सकती। यदि उस व्यवस्था के प्रति श्रद्धा का भाव जगे, उसे अपने व्यक्तित्व के रूपान्तरण का उपक्रम माना जाए तो व्यक्ति के जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन घटित हो सकता है। चिन्तन का एक कोण है—यह व्यवस्था है, मुझे इसके अनुसार कार्य करना होगा। चिन्तन का दूसरा कोण है—यह व्यवस्था मेरे निर्माण के लिए है, मेरे कल्याण के लिए है, मुझे इसका हर स्थिति में अनुपालन करना है। चिन्तन का पहला कोण कार्य की सफलता में बाधक बनता है और दूसरा कोण उसकी सफलता की गारंटी बन जाता है। उसे सफलता सामने दिखाई देने लग जाती है।

श्रद्धाहीन समाज हमेशा रसातल की ओर जाता है। कभी ऊंचा नहीं उठता। कोरा तर्क आदमी को भटका देता है। आस्था के बिना जीवन एक निश्चित दिशा में चल नहीं सकता। आस्थाहीन जीवन उस पतंग की तरह है, जिसकी डोरी आसमान में टूट गई है और जिसे जल्दी ही नीचे गिर जाना है। बहुत बड़ी शक्ति है आस्था। इसी के आधार पर जीवन का निर्माण होता है। वह व्यक्ति कभी भी अपने जीवन का निर्माण नहीं कर सकता, जिसके जीवन में धर्म या अध्यात्म की आस्था न हो। पश्चिमी विचारकों ने आत्म-विश्वास और आस्था पर बहुत बल दिया है। उनका मानना है—आस्था के बिना जीवन कभी नहीं चल सकता। उसके बिना जीवन का कोई आधार ही नहीं रहता। आस्था-शून्य कार्य कभी सफल नहीं हो सकता और आस्था के साथ चलने वाला कार्य बहुत जल्दी सफल बन जाता है।

सफलता की पहली शर्त है आस्था, श्रद्धा। श्रद्धा का अर्थ है—लक्ष्य के साथ तादात्म्य या एकात्मकता स्थापित कर लेना, तन्मय हो जाना। तन्मयता ही व्यक्ति को सफल बनाती है।

प्रश्न वीर्य के प्रयोग का

चौथा दुर्लभ तत्त्व है—संयम में पराक्रम करना, वीर्य करना। कोई आदमी निर्वीर्य नहीं है। आदमी ही नहीं, कोई भी प्राणी निर्वीर्य नहीं है। प्रत्येक प्राणी वीर्य का प्रयोग करता है, शक्ति का प्रयोग करता है। वीर्य एक ऐसा तत्त्व है जो चेतन में ही नहीं, अचेतन में भी होता है। प्रत्येक पदार्थ वीर्यवान् है। आयुर्वेद में बल, वीर्य और विपाक का विशद वर्णन मिलता है। किस औषधि का कौन सा वीर्य है? शीत वीर्य औषधि है या ऊष्ण वीर्य औषधि है? इसका पूरा विचार किया जाता है और उसके आधार पर औषधि का प्रयोग किया जाता है।

प्रत्येक प्राणी और पदार्थ में अपना-अपना वीर्य होता है। हर आदमी पुरुषार्थ करता है, वीर्य का प्रयोग करता है किन्तु अधिकांशतः वीर्य का प्रयोग असंयम में होता है, अविरति में होता है। वीर्य का प्रयोग इन्द्रियों को तृप्त करने में होता है, मनचाही बात करने में होता है किन्तु संयम में वीर्य का प्रयोग करना अत्यन्त दुर्लभ है। इन्द्रिय का निग्रह करने में, व्रत की आराधना करने में, अपने आपको संयत रखने में व्यक्ति अपनी शक्ति का उपयोग नहीं करता।

क्या निवृत्ति अकर्मण्यता है?

कुछ वर्ष पूर्व उदयपुर में एक विद्वान ने कहा—जैन लोग निवृत्ति की बात बहुत करते हैं। यह तो अकर्मण्यता है, निकम्मापन और निठल्लापन है। जैन दर्शन इसे इतना महत्व क्यों देता है? मैंने कहा—निवृत्ति अकर्मण्यता है, यह चिन्तन समीचीन नहीं है। निवृत्ति अकर्मण्यता है ही नहीं। निवृत्ति का अर्थ है महाप्रवृत्ति। जब तक आन्तरिक प्रवृत्ति की सघनता नहीं होती, आदमी निवृत्ति कर ही नहीं सकता।

एक युवक से कहा जाए—तुम एक घंटे घूम आओ। वह इस कार्य को सहज रूप से सम्पादित कर देगा। यदि उससे कहा जाए—तुम एक घंटा तक प्रतिमा की भांति स्थिर बैठ जाओ। चाहे मक्खियाँ सताए, हवा, आंधी या गर्मी का अहसास हो, एकदम निष्प्रकम्प रहना है। वह व्यक्ति ऐसा कर ही नहीं पाएगा, स्थिर बैठना उसके लिए संभव नहीं होगा। हजारों आदमी एक घंटा तक घूमने वाले मिल जायेंगे पर प्रतिमा की भांति एक घंटा तक स्थिर बैठने वाले पांच-दस व्यक्तियों का मिल पाना भी कठिन है।

चलना प्रवृत्ति है, स्थिर बैठना निवृत्ति है। प्रश्न होगा—निवृत्ति महाप्रवृत्ति है या प्रवृत्ति महाप्रवृत्ति? चलना मुश्किल है या एक घंटा स्थिर बैठना? एक व्यक्ति से कहा जाए—तुम्हें एक घंटे बोलना है, अमुक व्यक्ति से बातचीत करना है। वह इस प्रस्ताव को सहजता से स्वीकार कर लेगा। यदि उसे एक घंटा मौन करने के लिए कहा जाए तो वह इसे स्वीकार नहीं करेगा। महाप्रवृत्ति बोलना है या न बोलना? निवृत्ति निष्क्रियता है, निठल्लापन है, यह सोचना भ्रांति है। इस भ्रांति का दूटना आवश्यक है।

निवृत्ति महाप्रवृत्ति है। प्रवृत्ति में बाहर की सक्रियता ज्यादा होती है। निवृत्ति में आन्तरिक सक्रियता सघन बन जाती है। जब तक आन्तरिक सक्रियता सघन नहीं बनती तब तक निवृत्ति संभव नहीं होती। संजमम्भि य वीरियं—संयम

में वीर्य करना मुश्किल है, इस चरण में जो गहराई है, अर्थ गाम्भीर्य है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। निवृत्ति है संयम में वीर्य करना। असंयम में वीर्य का प्रयोग सहज-सरल है किन्तु संयम में वीर्य का प्रयोग करना कठिन, कठिनतर और कठिनतम है।

दुर्लभ है दुर्लभता का संज्ञान

आचार्य से दुर्लभ की श्रृंखला का विशद विवेचन सुनकर शिष्य मुग्ध हो उठा। उसने पूछा—गुरुदेव ! इस चतुष्टयी की उपलब्धि दुर्लभ है, यह बोध भी अनेक व्यक्तियों को नहीं होता। इसका कारण क्या है ?

आचार्य ने कहा—इसका कारण भी महावीर की वाणी के आधार पर खोजा जा सकता है। जब तक जीवन में आरम्भ की बहुलता है और जब तक परिग्रह में ही आदमी लगा हुआ है तब तक यह चतुष्क—मनुष्य जन्म, श्रुति, श्रद्धा और संयम में पराक्रम दुर्लभ है, ऐसा संज्ञान होना भी दुर्लभ है।

यावदारंभबाहुल्यं, यावत् परिग्रहग्रहः।

चतुष्कं दुर्लभं तावद्, इति संज्ञापि दुर्लभा॥

समस्या आरम्भ और परिग्रह की है। आरम्भ मनुष्य के चित्त में सर्वत्र परिव्याप्त है। मैं जानता हूँ—एक गृहस्थ आरम्भ को छोड़ नहीं सकता पर कम से कम उसे अनारम्भ का बोध तो होना चाहिए। अनारम्भ का मूल्य क्या है? अनारम्भ जीवन में कितना जरूरी है और आरंभ की सीमा करना कितना जरूरी है? इस ओर ध्यान केन्द्रित होना आवश्यक है। यदि मनुष्य केवल आरम्भ में डूबा रहा तो उसकी एक श्रृंखला बन जाएगी और वह श्रृंखला कभी टूटेगी नहीं, अंतहीन बन जाएगी। आगमों में कहा गया है—जब तक आरम्भ और परिग्रह में कमी नहीं आती, मूर्च्छा कम नहीं होती तब तक धर्म सुनने की स्थिति नहीं बनती। परिग्रही व्यक्ति सुनता हुआ भी नहीं सुनता, देखता हुआ भी नहीं देखता। उसे वस्तुस्थिति का पता ही नहीं चलता। परिग्रह का भी एक ग्रह है। उसमें जकड़ा हुआ व्यक्ति अपने जीवन को भी व्यर्थ समझ लेता है। आसक्ति और लोभ में फंसे हुए व्यक्ति के सामने जीवन का कोई मूल्य नहीं होता।

मूर्च्छा से घिरा है आदमी

दो वृद्ध मित्र थे। दोनों में गाढ़ी मित्रता थी। वे किसी यात्रा पर जा रहे थे। पुराने जमाने में प्रायः पैदल ही चलना होता था। वे पैदल ही जा रहे थे। रास्ते में एक कुआं आया। उन्होंने सोचा—जरा सुस्ता लें, विश्राम कर लें और पानी पी लें। वे कुएं पर टहर गये। एक व्यक्ति कुएं के पास गया। जैसे ही वह कुएं में पानी देखने के लिए झुका, उसमें गिर गया। संयोग ऐसा मिला—कुएं में एक पेड़ था। वह उस पर अटक गया, उसे पकड़कर वहीं खड़ा हो गया। जोर से चिल्लाया—‘मुझे निकालो। मैं गिर जाऊंगा।’

‘कैसे निकालूं?’

‘बाजार जाकर एक रस्सा खरीदकर ले आ और मुझे निकाल दे।’

मित्र बाजार गया और घंटा भर घूमघाम कर वापस आ गया।

मित्र ने पूछा—क्या रस्सा ले आये ?

‘नहीं लाया।’

‘क्यों नहीं लाये?’

‘एक रस्सा दो आने का होता है और वे एक रुपया मांग रहे हैं। मैंने सोचा—हम बूढ़े हो गये हैं, मरना तो है ही। दो आने के बदले एक रुपया क्यों खर्चा जाए। मैं तो रस्सा नहीं लाया। अब मरना है तो मरो।’

परिग्रह में आसक्त व्यक्ति सधन मूर्च्छा में चला जाता है। उसके सामने रुपये का मूल्य बढ़ जाता है, जीवन का मूल्य समाप्त हो जाता है। यह कहानी नहीं, मानवीय प्रकृति का सुन्दर चित्रण है। मनुष्य की प्रकृति ही ऐसी है। जब वह लोभ में फंस जाता है तब वह बहुत सारी सार्थक, मूल्यवान वस्तुओं को गीण कर देता है, अमूल्य को बहुत मूल्य दे देता है।

दृष्टिकोण बदलें

सधन आरम्भ और परिग्रह में डूबा हुआ व्यक्ति अध्यात्म का मूल्य नहीं आंक सकता। उसे मनुष्य जन्म की दुर्लभता का बोध भी नहीं होता। उसकी दृष्टि में मूल्यवान् होता है धन। वह सोचता है—यदि धन पास में है तो सब कुछ है। उसके दिमाग में यह धारणा गहरे में वैठी हुई है कि दुनिया में सबसे ज्यादा दुर्लभ है धन। इस धारणा को तोड़ना बहुत आवश्यक है। इस मनोवृत्ति पर चोट करते हुए महावीर ने कहा—‘जब तक आरम्भ और परिग्रह की ये धारणाएं बनी रहेंगी तब तक दुर्लभ चतुष्टयी की बात भी समझ में नहीं आएगी।’ अगर यह धारणा बन जाए—जीवन चलाने के लिए धन जरूरी है पर धन ही सब कुछ नहीं है तो दुर्लभता की बात समझ में आ सकती है। जीवन चलाने का साधन धन को माना जा सकता है पर उसे सब कुछ नहीं कहा जा सकता। आज विश्व में मानसिक तनाव, भावात्मक तनाव बढ़ रहा है। इसका एक मुख्य कारण है—धन को सब कुछ मानना। अन्यथा यह तनाव की समस्या उग्र नहीं होती। आवश्यक है दृष्टिकोण को बदलना। जब तक आरम्भ और परिग्रह का सधन चक्रव्यूह नहीं टूटेगा तब तक इस दुर्लभ चतुष्टयी का मूल्यांकन संभव नहीं बन पाएगा। इस दुर्लभ चतुष्टयी का सम्यक् मूल्यांकन आरम्भ और परिग्रह की चेतना को बदलकर ही संभव बनाया जा सकता है।

स्वतन्त्रता की सीमा

आचार्य विराज रहे थे। विनम्र मुद्रा में वन्दना कर शिष्य बोला—गुरुदेव! मेरे मन में मोक्ष की उत्कट अभिलाषा है। मैं बन्धन से मुक्त होना चाहता हूँ। आप अनुग्रह कर बताएं—मोक्ष का मार्ग क्या है? आचार्य ने बहुत संक्षिप्त सा उत्तर दिया—छन्द का निरोध करो, स्वच्छंदता का निरोध करो, बन्धन-मुक्ति हो जाएगी।

शिष्य विस्मय में पड़ गया। उसने मन ही मन सोचा—मेरे पास और बचा ही क्या है? घर-बार छोड़ा, परिवार छोड़ा, धन-धान्य छोड़ा, मित्रों को छोड़ा, सगे-सम्बन्धियों को छोड़ा, सबको छोड़ दिया। केवल एक छन्द ही तो बचा है, जो अपना है। गुरु कहते हैं, उसका भी निरोध करो। वह बोला—गुरुदेव! बात समझ में नहीं आई। छन्द को छोड़ दूँ तो फिर बचेगा क्या?

गुरु ने कहा—इसको छोड़ दोगे तो फिर जो है, वही बचेगा। बाकी सारा का सारा चला जाएगा। बन्धन आरोपित है। मोक्ष स्वाभाविक है। छंद के निरोध से केवल स्वभाव शेष रहेगा। जो आरोपित है, वह चला जाएगा।

शिष्य बोला—आचार्यवर! मैं पूरी बात को समझ नहीं सका। आप इसे और स्पष्ट कराएं।

आचार्य ने कहा—आठ आत्माएं हैं। द्रव्य-आत्मा, कषाय आत्मा, योग आत्मा, उपयोग आत्मा, ज्ञान आत्मा, दर्शन आत्मा, चारित्र आत्मा और वीर्य आत्मा। इनमें जो कषाय आत्मा है, उसका निरोध करो और ज्ञान आत्मा को जागृत करो, तुम्हारी मुक्ति हो जाएगी। स्वतन्त्रता की यह सीमा स्वयं निर्धारित होती है—

ज्ञानात्मा नाम संबुद्धः, कषायात्मा नियन्त्रितः।

स्वतन्त्रतायाः सीमैषा, स्वयं निर्धारिता भवेत्॥

छन्द की अपनी सीमा होती है। छंद एक श्लोक का होता है और एक अपना होता है। छंद का अर्थ है संकल्प। छंद का अर्थ है स्वतन्त्र विचार या स्वतन्त्र प्रवृत्ति। यह स्वतन्त्रता का प्रश्न प्रत्येक व्यक्ति के लिए सुरक्षित है। कोई भी व्यक्ति परतन्त्र बनना नहीं चाहता इसलिए स्वतन्त्रता के अर्थ को समझना अपेक्षित है। छन्द से एक शब्द बनता है स्वच्छंदता। स्वच्छंदता स्वतन्त्रता नहीं है। वास्तव में छंद निरोध का नाम है स्वतन्त्रता। यह आचार का पहलू है, साथ-साथ दर्शन का पहलू भी है।

ईश्वरवादी अवधारणा

दर्शन की दो धाराएं हैं—ईश्वरवादी धारा और आत्म-कर्तृत्ववादी धारा। ईश्वरवादी धारा में कोई व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं है। ईश्वरवाद का प्रसिद्ध श्लोक है—

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुख दुःखयो।

ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्, स्वर्गं वा स्वभ्रमेव वा।।

जीव अज्ञ है। सुख-दुःख उसके अधीन नहीं है। वह ईश्वर की प्रेरणा से ही स्वर्ग अथवा नरक को प्राप्त होता है।

आदमी जो भी काम करता है, ईश्वर की प्रेरणा से करता है। उसका अपना कोई कर्तृत्व नहीं है। जैसा ईश्वर चलाता है वैसा चलता है। इस संदर्भ में एक बहुत बड़ा आचारशास्त्रीय प्रश्न उपस्थित होता है—यदि ईश्वर के द्वारा प्रेरित व्यक्ति काम करता है तो वह अपने किसी भी कर्तव्य के प्रति उत्तरदायी नहीं हो सकता। अपने कृत के प्रति व्यक्ति उत्तरदायी तभी हो सकता है, जब वह अपने स्वतन्त्र संकल्प के द्वारा कोई कार्य करता है।

काण्ट का अभिमत

जर्मन के प्रसिद्ध दार्शनिक एम्यूनल काण्ट ने नैतिक दायित्व की, कर्तव्य की जो परिभाषा की है, उसका एक अंश माना है—स्वतन्त्र संकल्प। व्यक्ति का वह संकल्प स्वतन्त्र है, जो किसी के द्वारा प्रभावित नहीं है, किसी के द्वारा निर्धारित नहीं है। संकल्प की स्वतन्त्रता में दोनों बातें होनी चाहिए। अगर व्यक्ति का संकल्प दूसरे के द्वारा प्रभावित है तो वह संकल्प स्वतन्त्र नहीं हो सकता। यदि वह किसी के द्वारा निर्धारित है तो भी स्वतन्त्र नहीं हो सकता।

यदि व्यक्ति का संकल्प किसी दूसरी शक्ति के द्वारा निर्धारित है, किसी दूसरे से प्रभावित है तो उसका उत्तरदायित्व वह नहीं ले सकता, वह उसका उत्तरदायी नहीं हो सकता। एक आदमी चोरी करता है यदि उसका कर्तव्य भी किसी दूसरी शक्ति से प्रेरित है, प्रभावित है या निर्धारित है तो चोर का कोई दोष नहीं हो सकता।

उत्तरदायी कौन?

मालिक ने कहा—तुम जाओ और अमुक घर की वह चीज उठा लाओ। नौकर गया और उठा लाया। अब उत्तरदायी कौन बनेगा? मालिक बनेगा या नौकर? नौकर तो मात्र काम करने वाला है, वह उत्तरदायी नहीं है। उत्तरदायी वह है, जो उसे प्रेरित कर रहा है, उसके कार्य को निर्धारित कर रहा है।

जैन दर्शन आत्म-कर्तृत्व में विश्वास करता है। प्रत्येक काम के लिए व्यक्ति स्वयं उत्तरदायी है। फिर वह चाहे शुभ हो या अशुभ। दूसरा व्यक्ति उत्तरदायी नहीं है। उसका संकल्प किसी दूसरे के द्वारा निर्धारित नहीं है। 'मुझे यह काम करना चाहिए' यह इच्छाकार का प्रयोग है। महावीर के पास कोई दीक्षा लेने आता। महावीर कहते—अहासुहं देवाणुप्पिया—देवानुप्रिय! जैसा तुम्हें सुख हो। यह है संकल्प की स्वतन्त्रता। किसी साधु को किसी दूसरे साधु से काम कराना

है तो वह उसे बाध्य नहीं कर सकता। वह कहेगा—भंते! यदि आपकी इच्छा हो, आप चाहें तो यह काम कर दें।

स्वतन्त्रता की बाधाएं

आत्मकर्तृत्व की परम्परा में स्वाधीनता—स्वतन्त्रता का पूरा सम्मान किया गया है। ईश्वर-कर्तृत्व की परम्परा में उसका कोई सम्मान नहीं हो सकता। वहां प्रत्येक व्यक्ति एक प्रकार से यंत्र जैसा होता है। जैसी नियुक्ति करो वैसा ही वह चलेगा, वैसा ही वह काम करेगा। उसकी अपनी कोई स्वतंत्र इच्छा नहीं होती। आत्मकर्तृत्व की परम्परा में संकल्प की पूरी स्वतन्त्रता है, पर उसमें भी कुछ बाधाएं हैं। एक बड़ी बाधा है प्रभावित होने की।

भयं प्रलोभनं द्वेष, आवेशो हीनभावना।

अहंकारी लोकवाद, एतैः स्यादप्रभाविताः।।

भय, प्रलोभन, द्वेष, आवेश, हीनभावना, अहं-भावना और लोकवाद—इनसे अप्रभावित होती है स्वतन्त्रता की सीमा। वास्तव में इनसे अप्रभावित स्वतन्त्रता ही स्वतन्त्रता है, अन्यथा वह परतंत्रता है।

भय और प्रलोभन

पूरे धर्मिक जगत् का सिंहावलोकन करें तो पता चलेगा—धर्म के साथ जो नहीं आना चाहिए था, वह आ गया। धर्म के निर्मल प्रवाह में जो कलुष नहीं धुलना चाहिए था, वह धुल गया। जमाना ही कुछ ऐसा है—गंगा की पवित्र धारा में यह फैक्ट्रियों का कचरा नहीं मिलना चाहिए था, पर वह मिलता चला जा रहा है। आज गंगा का निर्मल पानी भी स्वच्छ नहीं रहा। धर्म के जगत् में भी शायद कुछ ऐसा ही हुआ है। आदमी धर्म कर रहा है किन्तु उसके पीछे भय की भावना काम कर रही है। सबसे बड़ा भय नरक का है। स्वतंत्रता में यह भय भी नहीं होना चाहिए। जहां शुद्ध उपयोग है, आत्मा की पवित्रता है वहां किसी प्रकार का भय नहीं होता। उसमें प्रलोभन भी नहीं होना चाहिए। आज धर्म के साथ प्रलोभन भी जुड़ गया है। धन के लिए, बेटों के लिए, सुखी परिवार के लिए मुख्यतः धर्म की आराधना की जाती है। इसका कारण है—व्यक्ति की स्वतन्त्रता भय और प्रलोभन से प्रभावित है।

अप्रभावित चेतना के बिना स्वतंत्रता का मूल्य नहीं आका जा सकता। छंद का निरोध करो, इसका अर्थ यह नहीं है कि स्वतंत्रता को काम में न लिया जाए किन्तु इसका अर्थ है—जो भय और प्रलोभन से प्रभावित छंद है उसका निरोध किया जाए।

व्यक्ति आवेश से अविष्ट है। जब उत्तेजना आती है, आदमी अपना आपा खो देता है। क्रोध जागता है तो व्यक्ति की सारी चेतना लुप्त हो जाती है। व्यक्ति की स्वतंत्रता आवेश से प्रभावित होती है। व्यक्ति की स्वतंत्रता कभी हीनभावना से प्रभावित होती है और कभी अहंभाव से। कोई बड़ा आदमी आया, किसी को बड़ा सम्मान मिला, व्यक्ति में अपने आप हीनभावना जाग जाती है। व्यक्ति को अगर कभी कुछ मिल जाता है, सफलता मिल जाती है, शाबासी या साधुवाद मिल जाता है, उसका अहंभाव जाग जाता है।

लोकवाद का प्रश्न

लोकवाद से भी व्यक्ति की स्वतंत्रता प्रभावित है। जब लोकवाद का प्रश्न सामने आता है, व्यक्ति की स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है। अनेक व्यक्ति सोचते हैं—यह काम बहुत अच्छा है। मुझे ऐसा करना चाहिए, किन्तु लोग क्या कहेंगे? अनेक साधु-साध्वियां आचार्यवर से कह देते हैं—मुझे तो कोई चिन्ता नहीं, चाहे जहां आप रखें, पर लोग क्या कहेंगे। लोग कहेंगे—अमुक साधु इतना होशियार है और वह छोटे गांव में चीमासा करता है। यह समस्या है लोकवाद की। अनेक गृहस्थ सोचते हैं—मैं तो सादगी से विवाह कर दूंगा पर पड़ोसी क्या कहेंगे—इतना सम्पन्न आदमी है और इसने इस प्रकार का विवाह किया है। इस लोक संज्ञा या लोकवाद से व्यक्ति बहुत प्रभावित है। व्यक्ति शायद सबसे ज्यादा प्रभावित लोकवाद से ही होता है। आवेश, भय, प्रलोभन, अहं—ये भी व्यक्ति के छन्द को प्रभावित करते हैं किन्तु सबसे ज्यादा प्रभावित करता है लोकवाद। बहुत बार ऐसा स्वर सुनने को मिलता है—मुझे कोई चिन्ता नहीं है पर दूसरे क्या समझेंगे? छंद-निरोध का अर्थ यह नहीं है—व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता का निरोध करे। नैतिक आचरण में, धर्म के आचरण में संकल्प की स्वतंत्रता होनी चाहिए। अगर वह नहीं है तो कुछ भी नहीं होगा। आचार्यवर ने एक दिन प्रवचन में कहा था—हम लोग कुछ करना चाहते हैं पर साधु-साध्वियां उसके लिए तैयार नहीं हैं तो कुछ भी नहीं होगा। उनका स्वतन्त्र संकल्प नहीं है तो कोई भी काम नहीं हो सकेगा।

छंद-निरोध का अर्थ

छन्द का निरोध करने से मुक्ति मिलेगी, इसका मतलब छन्द को रोकना नहीं है। छन्द रुकेगा तो कविता भी नहीं बनेगी। कविता तभी बनेगी जब छन्द चलेगा। छन्द नहीं है तो कविता कहां से आएगी? छंद की, स्वतंत्रता की सीमा को समझना है। दार्शनिक भाषा से मुक्त होकर सरल भाषा में कहा जाए तो छंद-निरोध का तात्पर्य है—वासनात्मक छन्द को रोकना और विवेकात्मक छन्द का उपयोग करना। भय, क्रोध, काम आदि वासनात्मक छंद का निरोध करना और विवेकात्मक छंद का पूरा उपयोग करना, यह है स्वतंत्रता की सीमा। व्यक्ति विवेकात्मक छन्द का उपयोग करने में पूरा स्वतन्त्र है। उसका जितना उपयोग किया जाएगा, व्यक्ति की प्रसन्नता बढ़ती चली जाएगी।

स्वतंत्रता की सीमा को अगर पारिभाषिक शब्दावली में कहा जाए तो छंद निरोध का अर्थ है—आठ आत्माओं में कषाय आत्मा का निरोध करना तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और उपयोग आत्मा को काम में लेना। केवल निरोध नहीं, निरोध और प्रयोग—दोनों साथ में चलते हैं। सीधे शब्दों में कहा जा सकता है—वासनात्मक आत्मा को सुला देना और विवेकात्मक आत्मा को जगा देना। एक को सुलाना है और एक को जगाना है। यदि ऐसा होता है तो स्वतंत्रता अक्षुण्ण बन जाती है, उसमें कहीं कोई बाधा नहीं आती। जो नहीं करना है, जो अनाचरणीय है, जो अकर्तव्य है, उसका निरोध करना ही छंद का निरोध है।

धर्म स्वतंत्र बनाने के लिए

जब व्यक्ति की चेतना जाग जाती है, तब वह महात्मा या परमात्मा के सम्पर्क में चला जाता है, वहां छन्द निरोध की बात समाप्त हो जाती है। धर्म का मतलब ही है स्वतंत्रता। अगर धर्म है और परतन्त्रता है तो फिर वह धर्म ही नहीं है। धर्म में पूरी स्वतंत्रता है। एक व्यक्ति क्रोध भी करे और धार्मिक भी बन जाए, यह एक विरोधाभास है। वस्तुतः क्रोध में व्यक्ति धर्म को भूल जाता है। क्रोध से प्रभावित चेतना स्वतंत्र नहीं होती। अगर थोड़ा गहराई में उतर कर देखें तो ज्ञात होगा—धर्म के सारे नियम स्वतंत्रता के नियम हैं। कोई परतंत्र बनाने वाला है ही नहीं। परतन्त्रता की ओर जो प्रस्थान होता है, धर्म उसे रोकता है स्वतंत्र बनाने के लिए।

राजा और बालक

राजा जा रहा था। रास्ते में देखा—एक बालक मिट्टी से खेल रहा है। बालक को देखकर राजा चकरा गया। कैसा सौम्य! कितना सुन्दर! चेहरे पर शांति झलक रही है! वह स्तब्ध रह गया। धोड़े से नीचे उतरा। बालक के पास गया और बोला—‘ओ बच्चे! तुम मिट्टी से खेल रहे हो।’

बालक ने सहजता से उत्तर दिया—‘यह मिट्टी का पुतला मिट्टी से ही खेलेगा और किससे खेलेगा?’

राजा यह सुनकर दंग रह गया। उसने सोचा—क्या यह एक बालक का उत्तर हो सकता है?

कोई-कोई बालक ऐसा होता है, जिसके बारे में कल्पना करना भी कठिन हो जाता है, बड़े लोग भी उसके सामने झुक जाते हैं। राजा भी उसके सामने झुक गया।

राजा बोला—‘बच्चे! तुम बड़े अच्छे लगते हो। मेरे साथ महल में चलो।’

राजा को गौर से देखकर बालक बोला—‘तुम कौन हो?’

‘मैं राजा हूँ।’

‘अच्छा! राजा हो और महल में ले जाना चाहते हो?’

‘हां।’

‘मैं महल में जा सकता हूँ पर मेरी दो शर्तें हैं। पहली शर्त है—तुम निरन्तर मेरे साथ रहो तो मैं महल में जा सकता हूँ। दूसरी शर्त है—मैं सोऊँ और तुम जागते रहो तो मैं तुम्हारे साथ जा सकता हूँ।’

‘यह मेरे लिए संभव नहीं है कि मैं निरन्तर तुम्हारे साथ रहूँ, तुम सोओ और मैं जागता रहूँ।’

‘इस स्थिति में मेरे लिए भी जाना सम्भव नहीं है। मेरा प्रभु निरन्तर मेरे साथ रहता है। जब मैं सोता हूँ, मेरा प्रभु जागता रहता है। उसको छोड़कर मैं तुम्हारे साथ जाने जैसी मूर्खता नहीं करूँगा।’

राजा हक्का-बक्का रह गया। वह बोल ही नहीं सका।

जो व्यक्ति निरन्तर अपने प्रभु को साथ रखता है, उसका छन्द बिलकुल स्वतंत्र होता है। उसे कोई बाध्य नहीं कर सकता, परतन्त्र नहीं बना सकता और

महल में कैद भी नहीं कर सकता। वह प्रभु है हमारी उपयोग चेतना। जिसकी चेतना निरंतर जागती है, उपयोग निरन्तर जागता रहता है, वह पूर्ण स्वतंत्र है। उसे कोई परतन्त्र नहीं बना सकता। उसके लिए छन्द का उपदेश ही नहीं है। छन्द-निरोध का उपदेश उस व्यक्ति के लिए है जो क्षण भर में क्रोध कर लेता है, क्षण भर में आवेश में चला जाता है, क्षण भर में हीनता या अहंकार की भावना में चला जाता है और कभी लोकवाद में चला जाता है। उसके लिए कहा गया—‘छन्दं निरोहेण उवेइ मोक्खं’—छन्द का निरोध करो, मोक्ष मिलेगा। मोक्ष का अर्थ है पूरी स्वतंत्रता।

जरूरी है स्वतन्त्र होने की अर्हता

सुजानगढ़ में कालूगणी का चातुर्मास था। हजारीमलजी रामपुरिया की हवेली के ऊपर वाले कमरे में मुनि तुलसी के पास मैं और मेरे साथी विद्यार्थी मुनि पढ़ रहे थे। मुनि तुलसी ने कहा—देखो! अभी तुम बातें मत करो। बात पर पाबन्दी लगा दी गई। कोई भाई दर्शन-वन्दना करने आता तो भी पाबन्दी रहती। हमें यह निर्देश कड़ा और अप्रिय लगता। मुनि तुलसी ने एक दिन कहा—देखो! मैं तुम्हें मना कर रहा हूँ पर किसलिए? अभी तुम छोटे हो इसलिए खूब अध्ययन करो फिर तुम एकदम स्वतंत्र बन जाओगे, तुम्हें कोई टोकने वाला नहीं मिलेगा। अगर अभी बातों में गए, अध्ययन नहीं किया, पढ़ाई नहीं की तो जीवन भर तुम्हारे सिर पर कोई न कोई ठोला देना वाला रहेगा। मुनि तुलसी के कथन का रहस्य था—अभी छन्द का निरोध करो, स्वच्छन्दता का निरोध करो, स्वतंत्र बन जाओगे। अभी छन्द का निरोध नहीं किया तो जीवन भर परतंत्र बने रहोगे।

छन्द-निरोध के अर्थ को सम्यक् समझना जरूरी है। स्वतन्त्रता की सीमा का सही बोध आवश्यक है। स्वतंत्रता की अर्हता पाए बिना स्वतंत्र बनने का प्रयत्न जीवन के विकास में बाधक बन जाता है। स्वतंत्र होने की योग्यता पाए बिना स्वतंत्र होने का अर्थ है—परतन्त्रता को निमंत्रण देना। स्वतंत्रता की अर्हता को पाने वाला ही स्वतंत्रता का भार उठा सकता है।

छन्द-निरोध का उपाय : दीर्घश्वास प्रेक्षा

एक आदमी ने संकल्प किया—मैं सांड को अपने हाथों से उठाऊंगा। बड़ा कठोर संकल्प था। उसने उस दिन से एक बछड़े को उठाना शुरू किया। रोज उठाता चला गया। वह बछड़ा एक दिन सांड बन गया और उसने सांड को भी सहजता से उठा लिया।

निरन्तर अभ्यास के द्वारा यह संभव बन सका। बहुत कठिन है वासनात्मक छन्द का निरोध करना। अभ्यास के बिना इसका निरोध संभव नहीं है। दीर्घश्वास का अभ्यास छन्द-निरोध का सशक्त माध्यम है। एक व्यक्ति ने पहले दिन पांच मिनट दीर्घश्वास का प्रयोग किया, दूसरे दिन छह मिनट दीर्घश्वास का प्रयोग किया, तीसरे दिन सात मिनट दीर्घश्वास का प्रयोग किया। इस प्रकार जैसे-जैसे दीर्घश्वास का प्रयोग बढ़ता चला जाएगा, छन्द का निरोध होता चला जाएगा। दीर्घश्वास नियंत्रण करने वाला है। उसमें आश्चर्यकारक नियामक शक्ति

है। जिस व्यक्ति ने दीर्घश्वास का प्रयोग किया है, उसमें वासनात्मक छन्द को रोकने की शक्ति उद्भूत हुई है।

प्रश्न है आस्था का। प्रयोग या अभ्यास के प्रति आस्था का होना आवश्यक है। प्रयोग के साथ आन्तरिकता नहीं जुड़ेगी, उसे हृदय से स्वीकारा नहीं जाएगा तब तक परिवर्तन की बात संभव नहीं बनेगी। प्रयोग का मूल्य क्या है? वह क्यों किया जा रहा है? उसका क्या उपयोग है? उसके द्वारा छंद पर नियंत्रण पाया जा सकता है, छन्द का निरोध किया जा सकता है। जब तक यह आस्था गहरी और प्रबल नहीं जायेगी तब तक इसका पूरा उपयोग नहीं हो सकेगा। कुछ लोगों में आस्था सहज नहीं होती किन्तु उसे पैदा किया जा सकता है, किया जाता है।

मेवाड़ यात्रा का प्रसंग है। आचार्यश्री विहार कर रहे थे, एक गांव से दूसरे गांव जा रहे थे। गांव से बाहर आते ही आचार्यश्री एक दिशा से हटकर दूसरी दिशा में चलने लगे। मैं भी उसी दिशा में मुड़ गया। आचार्यश्री कुछ दूर चल कर पुनः उसी दिशा में पधार गए। मेरे मन में प्रश्न उभरा—आचार्यवर ने दिशा क्यों बदली? मेरे इस प्रश्न को पढ़ कर आचार्यवर ने कहा—उधर एक दुमुंही (सर्प की एक जाति) पड़ी थी। सकुन लेने के लिए उस दिशा से होकर आए हैं।

कहा गया—सकुन लीजै डायकै। यदि सहज सकुन नहीं मिलता है तो उसे उड़ाकर भी लिया जा सकता है। यदि अभ्यास में आस्था नहीं जग रही है तो उसे जगाना चाहिए। जब प्रयोग एवं अभ्यास के प्रति आस्था जायेगी, दीर्घश्वास का प्रयोग सधने लगेगा, छंद-निरोध का अर्थ भी स्पष्ट समझ में आएगा, मोक्ष का अर्थ भी प्रस्तुत हो जाएगा।

सबकी गति : मेरी गति

आचार्य की सन्निधि में एक संगोष्ठी का आयोजन था। चर्चा थी आदि और अनादि की। आदि और अनादि—ये दोनों शब्द धर्म के क्षेत्र में बहुत प्रचलित रहे हैं। जीव की कोई आदि नहीं है, वह अनादि है। दस तत्त्व ऐसे हैं, जिनका अनादि परिणमन है। भवन, पट्टा आदि सादि हैं। जिनका आदि बिन्दु पकड़ा जा सकता है, वे सादि हैं। चर्चा के प्रसंग में शिष्य ने पूछा—भंते! मेरी जिज्ञासा है—धर्म का आदि-पद क्या है? धर्म का आदि-बिन्दु क्या है?

धर्मस्यादिपदं किं स्याद् जिज्ञासा मम वर्तते।

आचार्य ने उत्तर दिया—

इन्द्रियातीतविज्ञानं धर्मस्यादिपदं मतम्।

धर्म का आदि बिन्दु है—इन्द्रियातीत विज्ञान। जब तक इन्द्रियातीत चेतना नहीं जागती, इन्द्रियातीत ज्ञान नहीं होता, धर्म समझ में नहीं आता। जिसमें इन्द्रियातीत चेतना का विकास नहीं है, उसके लिए धर्म का कोई अर्थ नहीं है।
दर्शन जगत के दो विभाग

संसार में दो प्रकार के लोग होते हैं—इन्द्रिय चेतना के स्तर पर जीने वाले और अतीन्द्रिय चेतना के स्तर पर जीने वाले। इन्द्रिय चेतना के स्तर पर जो आदमी जीता है, धर्म की बात उसकी समझ में नहीं आ सकती। इन्द्रियों से परे कोई देखता है तो धर्म की बात समझ में आती है।

सारे दर्शन जगत् को दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है—इन्द्रिय चेतना के आधार पर चलने वाला दर्शन और इन्द्रियातीत चेतना के आधार पर चलनेवाला दर्शन। आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म, स्वर्ग-नरक, कर्म—इन सबकी स्वीकृति इन्द्रियातीत चेतना की स्वीकृति है। स्वर्ग प्रत्यक्ष नहीं है, मोक्ष प्रत्यक्ष नहीं है, आत्मा और परमात्मा भी प्रत्यक्ष नहीं है, कर्म भी प्रत्यक्ष नहीं है, सब परोक्ष हैं। परोक्ष तत्त्वों को इन्द्रियों के द्वारा जाना नहीं जा सकता।

एक दर्शन है चार्वाक, जिसे नास्तिक दर्शन कहा जाता है। वह केवल एक प्रमाण मानता है—प्रत्यक्ष प्रमाण। वह केवल मानस प्रत्यक्ष, इन्द्रिय प्रत्यक्ष को ही स्वीकार करता है। उसके सामने दूसरा कोई प्रमाण नहीं है। चार्वाक दर्शन में न आत्मा और परमात्मा का स्वीकार है, न पुनर्जन्म और कर्म का स्वीकार है, न स्वर्ग-नरक और मोक्ष का स्वीकार है। ये सारी चीजें इन्द्रियों के द्वारा दिखाई नहीं देती इसलिए इनकी स्वीकृति चार्वाक दर्शन में नहीं हो सकती। इन्द्रिय प्रत्यक्ष वाला सारा निर्णय इन्द्रियों के आधार पर करता है।

प्रमाण की श्रृंखला : इन्द्रिय प्रत्यक्ष से आगम तक

नास्तिक मत में, चार्वाक दर्शन में धर्म कोई आवश्यक तत्त्व नहीं है और उसमें धर्म का प्रयोजन भी नहीं है। धर्म का प्रयोजन है मोक्ष और बंधन मुक्ति। नास्तिक के मन में न मोक्ष का प्रश्न है और न बंधन मुक्ति का इसलिए उसमें धर्म का प्रश्न भी नहीं हो सकता। जहां केवल इन्द्रिय प्रत्यक्ष का स्वीकार है वहां धर्म का आदि-बिंदु है ही नहीं। उसके लिए धर्म अर्थहीन है। जिन दार्शनिकों ने इन्द्रिय प्रत्यक्ष से आगे प्रमाण माना, उन्होंने प्रत्यक्ष के साथ अनुमान को भी प्रमाण माना। अनुमान को प्रमाण मानने से दर्शन की धारा बहुत लम्बी बन जाती है। जो इन्द्रियों से जाना जाता है, अनुमान के द्वारा उसका भी बहुत विकास हो जाता है। अनुमान से बहुत सारे नियमों का अध्ययन किया जाता है, अनेक नियम बना लिए जाते हैं, व्याप्ति और संबंध की योजना की जाती है। उससे भी आगे एक प्रमाण है—आगम। आगम का मतलब है—इन्द्रियातीत प्रत्यक्ष का ज्ञान। जिसने इन्द्रियातीत ज्ञान से जाना, वह आगम बन गया।

इन्द्रिय चेतना : चिन्तन का कोण

दो धाराएं बहुत स्पष्ट हैं—एक इन्द्रिय ज्ञान की धारा और दूसरी इन्द्रियातीत ज्ञान की धारा। जो केवल इन्द्रियों के स्तर पर जीने वाले हैं, उनका चिन्तन एक प्रकार का होगा। उनके चिन्तन का उत्तराध्ययन में बहुत सुन्दर चित्रण मिलता है—

जे गिद्धा कामभोगेसु, एगे कूडाय गच्छई।
न मे दिट्ठे परे लोए, चक्खू दिट्ठा इमा रई॥

जो व्यक्ति इन्द्रियों की सीमा में जीता है, कामभोगों में आसक्त है, वह कोई ऐसा काम करता है, जो उसे नहीं करना चाहिए और यदि कोई व्यक्ति उसे कहता है—भाई! तुम कितना बुरा काम करते हो! इसका आगे क्या फल होगा? अगले जन्म में क्या मिलेगा? उसका उत्तर होता है—किसने परलोक देखा है? इतने लोग परलोक की बातें करने वाले हैं, क्या किसी ने परलोक देखा है? और यह जो रति है, काम है, काम के विषय हैं, ये प्रत्यक्ष हैं। क्या प्रत्यक्ष को छोड़कर परोक्ष की बात करना मूर्खता नहीं है? क्या परोसे हुए भोजन को छोड़कर आने वाले की आशा करना उचित है? वह केवल इन्द्रिय भोगों के प्रति अपनी सारी आस्था केन्द्रित करेगा। उनसे परे भी कुछ है, इस पर उसका कोई चिन्तन नहीं होता।

यह चिन्तन अस्वाभाविक भी नहीं है। आदमी चौबीस घण्टा इन्द्रिय के संक्रमण से घिरा रहता है, उसका सारा चिन्तन इन्द्रियों की परिधि में सिमट जाता है। वह वर्तमान में, केवल वर्तमान में जीता है। न अतीत का प्रश्न, न भविष्य का प्रश्न। जो सामने है, वही सब कुछ है।

प्रसंग जंबूकुमार का

जंबूकुमार दीक्षा के लिए प्रस्तुत था और उसकी नवविवाहिता पत्नियां अदीक्षा के लिए। जंबूकुमार की एक पत्नी ने कहा—पतिदेव! आप दीक्षित होना

चाहते हैं सुख पाने के लिए। वर्तमान में जो सुख मिला है उसे छोड़ कर अप्राप्त की आशा करना समझदारी है? उसने अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए एक उदाहरण प्रस्तुत किया—

एक किसान अपने ससुराल में गया। ससुराल में ईख के रस के साथ चावल बनाए गए। किसान ने चावल खाए। उसे बड़ा अच्छा लगा। ईख का रस पीया, बड़ा अच्छा लगा, ईख चूसे, अच्छा लगा। उसने पूछा—ये क्या हैं? कहां होते हैं? ससुराल वालों ने उसे ईख के खेत दिखाए, बीज बोने से लेकर काटने तक की सारी विधि समझाई। उसने सारी बातें समझ लीं। लौटते समय वह साथ में ईख के बीज ले आया। महीना था भादवा का। उसने घरवालों से कहा—इस सारे बाजरे को उखाड़ दो, इस खेत में ईख बोना है। घरवालों के मना करने पर भी उसने बलपूर्वक खड़ी बाजरी उखड़वा दी और ईख बो दिया। ईख को पूरा पानी चाहिए। पर वहां कहां था पानी! थोड़े दिन ईख के डंटल खड़े रहे फिर सूखने लगे और सूख ही गए। वह बहुत पछताया। उसने कहा—मैंने कितनी मूर्खता की, खड़ी फसल को उखाड़ा भविष्य की आशा के लिए। ईख भी नहीं मिला और बाजरा भी चला गया। पत्नी ने कथा का उपसंहार करते हुए कहा—पतिदेव! आपको भी वैसा ही पश्चात्ताप करना पड़ेगा, जैसा उस किसान को करना पड़ा था।

व्यापक है परलोक का प्रश्न

इन्द्रिय चेतना में जीने वाले व्यक्ति का चिन्तन इससे भिन्न नहीं हो सकता। वह इन्द्रिय सीमा में ही सारी बात सोचता है। उससे बाहर की कोई बात वह सोच ही नहीं सकता।

हत्थागया इमे कामा कालिया जे अणागया।

को जाणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुणो।।

काम-भोग प्रत्यक्ष हैं, मेरे सामने हैं, हाथ में आए हुए हैं। जो आने वाले हैं, वे कालिक हैं। न जाने कब आएंगे? कौन जानता है—परलोक है या नहीं?

यह चिन्तन न जाने कितने व्यक्तियों के मस्तिष्क में चक्कर लगाता होगा। कभी-कभी साधु-संन्यासी के मन में भी यह प्रश्न उठ जाता होगा—इतनी तपस्या कर रहे हैं, साधना कर रहे हैं, ग्राम-अनुग्राम विहार कर रहे हैं, घर-बार छोड़कर अकिंचन होकर चल रहे हैं, सर्दी-गर्मी सहते हैं और भी न जाने क्या-क्या सहते हैं। आगे कुछ है या नहीं? क्या होगा? जब-जब साधक की चेतना इन्द्रियों के निकट जाती है तब-तब यह प्रश्न उभरता है। ऐसी स्थिति में दूसरा प्रश्न उभरता ही नहीं। यह प्रश्न इतना व्यापक बना हुआ है कि हर व्यक्ति के मन में उभर आता है।

धरती भी नहीं झेल पाएगी

आचार्य डालगणी जोधपुर विराज रहे थे। मुसद्दी बच्छराजजी सिंघी डालगणी के पास आए। वे विचारों के पक्के दार्शनिक थे। डालगणी के प्रति उनकी श्रद्धा थी। उन्होंने कहा—महाराज! आप लोच करवाते हैं, पैदल चलते हैं, सर्दी-गर्मी सहते हैं, भूख-प्यास सहन करते हैं। इस शरीर को भारी कष्ट देते हैं,

होना-जाना क्या है? आगे तो कुछ है नहीं। क्यों सता रहे हैं आप अपने शरीर को? डालगणी ने कहा—मान लो! तुम्हारा कहना ठीक है, परलोक नहीं है इसलिए हमने जो तपस्या की, कष्ट सहा, आराम नहीं भोगा, वह व्यर्थ चला जाएगा। इसके सिवाय तो कुछ नहीं होगा। पर बताओ—अगर हमारा मत सही है, परलोक है तो तुम्हारा क्या होगा? सिंधीजी बोले—अगर आपका मत सही है तो हमारे सिर पर इतने जर्बे (जूते) पड़ेगे कि धरती भी नहीं झेल पाएगी।

संस्कृत का प्रसिद्ध श्लोक है—

संदिग्धेऽपि परे लोके त्याज्यमेवाशुभं बुधैः।

यदि नास्ति ततः किं स्यात्, यद्यस्ति नास्तिको हतः॥

परलोक संदिग्ध है। उसके संदिग्ध होने पर भी व्यक्ति को अमुक कर्म छोड़ देने चाहिए। परलोक नहीं है इसलिए मन में जो आए करें, इतना उच्छृंखल व्यक्ति को नहीं होना चाहिए। प्रश्न हुआ—किसलिए? कहा गया—यदि परलोक नहीं है तो कष्ट सहना व्यर्थ हो जाएगा किन्तु यदि परलोक है तो नास्तिक मारा जाएगा।

एक व्यक्ति कहता है—परलोक नहीं है। प्रश्न हुआ—परलोक नहीं है इसका प्रमाण क्या है? दूसरा कहता है—परलोक है। प्रश्न हुआ—अगर है तो बताओ किसने देखा है? दोनों ओर प्रश्न है। नास्तिक आस्तिक से पूछे—परलोक है, इसका प्रमाण दो? आस्तिक पूछ सकता है—परलोक नहीं है, इसका प्रमाण दो। प्रमाण दोनों के पास नहीं है।

सबकी गति : मेरी गति

केवल इन्द्रियों के आसपास घूमने वाला चिंतन बड़ा खतरनाक होता है। एक युवक के मन में इस प्रकार का चिंतन उत्पन्न होना स्वाभाविक है। उस पर इन्द्रियों का भारी दबाव रहता है। उसे उनके सिवाय दुनिया में कोई सार वस्तु लगती ही नहीं। उसी के आधार पर उसका चिन्तन बढ़ता चला जाता है। लोक और परलोक के विषय में वह संदेहशील बन जाता है। काम-भोग की आसक्ति को उचित ठहराते हुए वह कहता है।

जणेण सद्धिं होक्खामि इइ बाले पगम्भई।

कामभोगाणुराएणं, केसं संपडिवज्जई॥

मैं दुनिया के साथ चलूंगा। दुनिया के अरबों-खरबों आदमी जो काम कर रहे हैं, उसे मैं अकेला नहीं करूंगा तो क्या फर्क पड़ेगा? जैसा सबका होगा, मेरा भी हो जाएगा। जो सबको मिलेगा, मुझे भी मिल जाएगा। इस मामले में वह अपने आपको प्रवाहपाती या सबके साथ चलने वाला मान लेता है। वह कहता है—सबकी गति मेरी गति। मैं जनता के साथ चलूंगा। यह चिंतन इन्द्रिय चेतना में सांस लेने वाले व्यक्ति का चिंतन होता है।

इन्द्रियातीत चेतना

दर्शन की दूसरी धारा है इन्द्रियातीत चेतना की धारा। इन्द्रियातीत चेतना से सम्पन्न व्यक्ति का सारा दर्शन बदल जाएगा। वह कभी नहीं कहेगा—जो सबको होगा, वह मुझे भी हो जाएगा। वह अकेला सोचेगा। बहुत बड़े लेखकों

और चिन्तकों ने स्वर दिया—‘एकला चलो रे।’ अकेला होने का मतलब है—बहुत लोग क्या कर रहे हैं, समूह क्या कर रहा है, इस तर्क के जाल से निकल जाना। किसी से कहा जाए—यह काम अच्छा नहीं है, अप्रामाणिकता का है! उत्तर मिलेगा—क्या मैं अकेला कर रहा हूँ, सभी करते हैं। यह तर्क एक कवच का काम करता है। सारी बुराइयों के लिए यह तर्क त्राण बना हुआ है। इस तर्क की ओट में व्यक्ति अपने आपको सुरक्षित कर लेता है, एक लोह कवच पहन लेता है। जो व्यक्ति इन्द्रियातीत चेतना में जीता है, वह कभी ऐसे तर्कों की पनाह नहीं लेता, बुरे तर्क की शरण में नहीं जाता। उसका चिंतन बिलकुल दूसरे प्रकार का हो जाता है।

धर्म का मूल बिन्दु है—इन्द्रियातीत चेतना का विकास। इन्द्रियों की बात उससे नीचे रह जाती है। जब तक यह बात समझ में नहीं आती तब तक धर्म की बात समझ में आ ही नहीं सकती। धर्म कहता है—खाने का संयम करो, प्राप्त को छोड़ो। एक गरीब आदमी, जिसे खाना मिलता ही नहीं है, वह क्या संयम करेगा? जिसे अच्छा भोजन मिलता है, ठंडा पेय मिलता है, मन को लुभाने वाली सारी वस्तुएं मिलती हैं, यदि उसे कहा जाए—विगय का वर्जन करो, रस परिहार करो, एकासन करो। उसका उत्तर होगा—क्यों उपवास किया जाये? यह तर्क इन्द्रिय चेतना में जीने वाले व्यक्ति का तर्क है। अतीन्द्रिय चेतना में जीने वाला संयम की बात सोचेगा, उन पदार्थों और विषयों को कम करने की बात सोचेगा।

अर्थ अतीन्द्रिय चेतना का

आज अतीन्द्रिय चेतना को अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, केवलज्ञान आदि के साथ जोड़ा जा रहा है। अतीन्द्रिय चेतना का मतलब यह नहीं है कि अवधिज्ञान पैदा हो जाए, केवलज्ञान पैदा हो जाए। अतीन्द्रिय चेतना का अर्थ है—इन्द्रिय आसक्ति से ऊपर उठकर चलना, सोचना और व्यवहार करना। इन्द्रिय की सीमा में जो आचरण और व्यवहार होता है उससे भिन्न प्रकार का चिंतन, भिन्न प्रकार का आचरण और भिन्न प्रकार का व्यवहार करना। इस परिधि में सोचा जाए तो धर्म की बात समझ में आएगी। धर्म क्यों करना चाहिए? धर्म को कहां से पकड़ा जाए? यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। धर्म का आदि बिन्दु है—राग और द्वेष से परे होना। इन्द्रियातीत चेतना में जीने वाला सबसे पहले राग पर चोट करेगा, द्वेष पर चोट करेगा। राग और द्वेष पर चोट करने का अर्थ है—समस्या की मूल जड़ पर प्रहार करना।

मूल्य चोट का नहीं है

एक कहानी बड़ी मार्मिक है। मोटर खराब हो गई। जंगल का रास्ता था। स्वयं मालिक झाड़व कर रहा था। अब जंगल में ठीक कैसे हो? वह गाड़ी से उतरकर इधर-उधर धोड़ी दूर घूमा। एक मिस्त्री बैठा काम कर रहा था। उसने कहा—‘भाई! मेरी मोटर ठीक कर दो।’

मिस्त्री ने गाड़ी देखकर कहा—‘सौ रुपये लूंगा।’

जंगल का मामला था। मालिक ने सौ रुपये दे दिए। मिस्त्री ने हथौड़ा लिया, एक स्थान पर चोट मारी और कार स्टार्ट हो गई।

मालिक ने मिस्त्री से कहा—‘तुमने मेरे साथ न्याय तो नहीं किया। एक चोट दी और सौ रुपये ऍट लिए। यह तो उचित नहीं हुआ।’

‘बाबूजी? आप समझे नहीं। मैंने इस चोट का मात्र एक रुपया ही लिया है’

‘बाकी निन्यानवे रुपये किस बात के?’

‘बाबूजी! चोट कहां करनी चाहिए, इस बात के निन्यानवे रुपये हैं।’

पहला प्रश्न है—चोट कहां करनी चाहिए? इन्द्रियातीत चेतना में जीने वाले व्यक्ति के लिए मूर्च्छा एक पारमार्थिक तत्त्व है। उसे सबसे पहले मूर्च्छा पर चोट करनी चाहिए। व्यक्ति को इन्द्रियों से काम लेना है, आंख से देखना है, कान से सुनना है, जीभ से चखना है पर उनके साथ जो मूर्च्छा जुड़ी हुई है उससे मुक्त होना है। जब मूर्च्छा पर प्रहार होगा, व्यक्ति इन्द्रियातीत चेतना में जीने में विश्वास करेगा और वही धर्म का आदि-बिन्दु होगा।

सिक्का नास्तिक का ही चल रहा है

चिंतन की इन दोनों धाराओं के बीच में एक भेद-रेखा है। उसे समझना आवश्यक है। एक वह खेमा है, जो इन्द्रिय चेतना में विश्वास करता है और दूसरा वह खेमा है, जो अतीन्द्रिय चेतना में विश्वास करता है। अतीन्द्रिय चेतना का भेद समझ में नहीं आएगा तब तक सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होगा, श्रद्धा प्राप्त नहीं होगी। कभी-कभी प्रश्न उभरता है—अस्तिक दर्शन नास्तिक दर्शन का खण्डन करते हैं, चार्वाक दर्शन को अच्छा नहीं मानते। उसका मजाक भी उड़ाते हैं, उसकी मान्यता को इस रूप में प्रस्तुत करते हैं—

पिब खाद च चारुलोचने, यदतीतं वरगात्र तन्न ते।

न हि भीरुगतं निवर्तते, समुदयमात्रमिदं कलेवरम्॥

खूब खाओ, पीओ, मीज करो। बार-बार जीवन थोड़े ही मिलेगा। धार्मिक भी कहते हैं—बार-बार मनुष्य जीवन थोड़े ही मिलेगा! नास्तिक भी कहेगा—जितनी मीज करनी है, करलें। यह मनुष्य का जीवन बार-बार थोड़े ही मिलेगा। दोनों तर्क एक समान हैं। सिद्धान्त की दृष्टि से कोई आस्तिक हो सकता है किन्तु व्यवहार और आचरण में कौन नास्तिक नहीं है? इस बात की गम्भीरता में जाएं तो लगेगा—मनुष्य का आचरण और व्यवहार नास्तिक जैसा है। एक आस्तिक व्यक्ति धर्म, आत्मा, परमात्मा और कर्म फल—इन सारी बातों को मानने वाला है किन्तु जहां इन्द्रिय सुखों का प्रश्न है, कौन आस्तिक नास्तिक से पीछे है? आगे भी हो सकता है। वासनाजन्य सुख में कोई आस्तिक नास्तिक से पीछे नहीं है। कहा जा सकता है—विचारधारा में कोई आस्तिक हो सकता है किन्तु सिक्का नास्तिक का ही चल रहा है।

एकला चलो

उत्तराध्ययन सूत्र जीवन-दर्शन का सूत्र है। उसमें जीवन का बहुत सुन्दर दर्शन दिया गया है—तुम अपने दर्शन को, दृष्टि को साफ करो। सबकी गति,

मेरी गति—इस प्रवाह में मत जाओ, इन्द्रियों के साथ मत चलो, अकेला चलने का सूत्र खोजो। सबके साथ चलते हुए अकेले चलते चलो! आचार्य भिक्षु ने मार्मिक शब्दों में कहा—गण में रहूँ निरदाव अकेलो—समूह के बीच रहता हुआ भी व्यक्ति अकेला रहे, 'एकला चलौ' इस चिन्तनधारा को मानकर चले, 'सबकी गति : मेरी गति' इन्द्रिय की धारा में पनपने वाले इस चिन्तन से परे रहे। उसे अपना स्वतन्त्र और मौलिक चिन्तन करना है, भीड़ का साथी नहीं होना है, भीड़ से अलग रहकर अपने स्वतन्त्र अस्तित्व और व्यक्तित्व को बनाए रखना है।

जैन दर्शन अतीन्द्रिय चेतना में विश्वास करने वाले दर्शनों में अगुआ दर्शन रहा है। उसमें अकेला चलने का विधान है—यह भी तुम करो, वह भी तुम करो। किसी की प्रतीक्षा मत करो, किसी की ओर मत देखो, अपने पुरुषार्थ पर भरोसा कर चल पड़ो। यह अकेला चलने की बात, अतीन्द्रिय चेतना की बात व्यक्ति के अन्तर्मानस में उतर जाए तो जीवन की धारा, चिन्तन की प्रणाली बदल जाए, शांति का मार्ग बहुत प्रशस्त बन जाए।

दुःख का मूल : अज्ञान

आचार्य की सन्निधि में शिष्य समुदाय बैठा था। पश्चिम रात्रि का समय। दशवैकालिक सूत्र का सामूहिक स्वाध्याय। एक चरण आया—पढमं नाणं तओ दया—पहले ज्ञान फिर दया, अहिंसा या आचार। यह चरण उच्चरित होते ही प्रश्न उपस्थित हो गया। एक शिष्य बोला—गुरुदेव! हमने सुना है—‘आचारः प्रथमो धर्मः’ और महावीर कह रहे हैं—‘पढमं नाणं’। इन दोनों में संगति कैसे होगी?

आचार्य ने कहा—महावीर का दर्शन है—ज्ञानं प्रथमो धर्मः। धर्म का पहला प्रकार है श्रुत और दूसरा प्रकार है चारित्र।

जब तक ज्ञान नहीं है, आचार की बात सोची नहीं जा सकती। अज्ञान से उपजा हुआ आचार कभी-कभी अनाचार भी बन जाता है। जैन दर्शन में कहा गया—‘नाणस्स सारं आयारो’ ज्ञान का सार आचार है। यदि ज्ञान नहीं है तो सार कहां से आएगा, आचार कहां से आएगा? पहले कोई पदार्थ हो तभी उसका सार निकाला जा सकता है। आयुर्वेद की पद्धति में बहुत सारे सत्त्व निकाले जाते हैं। गिलोय का घन-सत्त्व, कुटज का घन-सत्त्व आदि। अगर कुटज ही नहीं है तो कुटज का घनसत्त्व कहां से आएगा? अगर गिलोय नहीं है तो गिलोय का घनसत्त्व कहां से आएगा? लोण नींबू के सत्त्व को बहुत काम में लेते हैं। अगर नींबू, इमली ही नहीं हैं तो उनका सत्त्व कहां से आएगा? मूल पदार्थ होता है तो उसका सत्त्व निकाला जा सकता है। ज्ञान का सार या सत्त्व है आचार। यदि ज्ञान ही नहीं है तो आचार कहां से आएगा।

दुःख और अज्ञान

अज्ञान बहुत बड़ा कष्ट है। जितने दुःख हैं, उन सबका कारण अज्ञान है।

जावन्तविज्जा पुरिसा, सब्बे ते दुक्खसंभवा।

लुप्पंति बहुसो मूढा, संसारम्मि अणंतए।।

प्रश्न हुआ—दुःख को पैदा कौन करता है? दुःख का सृजन किसने किया है? उत्तर दिया गया—दुःख का सर्जक है अज्ञानी आदमी। अगर अज्ञान नहीं होता तो दुनिया में दुःख नहीं होता। अज्ञान और दुःख—दोनों में कार्य-कारण संबंध खोजा जा सकता है। प्रत्येक दुःख के पीछे व्यक्ति का अज्ञान काम कर रहा है। बुढ़ापा और बीमारी—ये दो शारीरिक स्तर पर होने वाले दुःख हैं। मानसिक तनाव, असहिष्णुता, विषाद आदि मानसिक स्तर पर होने वाले रोग हैं। प्रज्ञापराध भावनात्मक रोग है।

प्रज्ञापराध

आयुर्वेद में वात, पित्त और कफ की विषमता को रोग का कारण माना गया है। रोग का एक कारण माना गया है प्रज्ञापराध—

धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः, कर्म यत् कुरुतेऽशुभम्।
 प्रज्ञापराधं तं विद्यात्, सर्वदोषप्रकोपणम्॥
 बुद्ध्या विषमविज्ञानं, विषमं च प्रवर्तनम्।
 प्रज्ञापराधं जानीयान्, मनसोगोचरं हि तत्॥
 यच्चान्यदीदृशं कर्म, रजोमोहसमुत्थितम्।
 प्रज्ञापराधं तं शिष्टं, ब्रुवते व्याधिकारणम्॥

धी, धृति और स्मृति भ्रष्ट व्यक्ति जो अशुभ कर्म करता है, वह प्रज्ञापराध है, जो सब दोषों को कुपित करने वाला है।

बुद्धि के द्वारा विषम विज्ञान का होना और विषम आचरण करना प्रज्ञापराध है। वह मन का विषय है।

जब रजोगुण और तमोगुण से व्यक्ति का ज्ञान आवृत होता है, आच्छन्न होता है तब वह प्रज्ञापराध में प्रवृत्त होता है और वही बीमारी का निमित्त बनता है।

अज्ञान की परिभाषा

सहज जिज्ञासा होती है—अज्ञान क्या है? अज्ञानी मनुष्य कौन है? अज्ञान की एक परिभाषा है—जो सम्पूर्ण ज्ञानी नहीं है, वह अज्ञानी है। जब तक केवलज्ञान उपलब्ध नहीं होता, व्यक्ति अज्ञानी रहता है। अज्ञान शब्द की व्यावहारिक परिभाषा है—एक व्यक्ति मैट्रिक तक पढ़ा और एक व्यक्ति बी.ए. कर चुका है। कहा जाएगा—पहला व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा अज्ञानी है। एक मुनि दशवैकालिक पढ़ चुका और एक मुनि द्वादशांगी का पारायण कर चुका। कहा जाएगा—दशवैकालिक पढ़ने वाला द्वादशांगी पढ़ने वाले की अपेक्षा अज्ञानी है। अज्ञान एक सापेक्ष शब्द है। इसकी निश्चित परिभाषा करना कठिन है।

आकाशवाणी हुई—सुकरात से बड़ा कोई ज्ञानी नहीं है। जनता सुकरात को धन्यवाद देने उमड़ी पड़ी। सुकरात ने कहा—यह गलत बात है। किसी ने गलत भविष्यवाणी कर दी। मैं ज्ञानी नहीं हूँ। जनता ने सुकरात से कहा—हमारी देवी झूठ नहीं बोलती। आप इस उद्घोषणा को स्वीकार करें। सुकरात ने कहा—मैं अपने अज्ञान को जानता हूँ। मैं सबसे बड़ा ज्ञानी कैसे हो सकता हूँ? जनता ने देवी के समक्ष सुकरात का कथन प्रस्तुत किया। देवी बोली—दुनिया में सबसे बड़ा ज्ञानी वह होता है, जो अपने अज्ञान को जानता है।

उपाध्याय यशोविजयजी के शब्दों में अज्ञान की एक सुन्दर परिभाषा उपलब्ध होती है—*हेयोपादेयविज्ञानं नो चेत् व्यर्थः श्रमः श्रुतौ*—यदि हेय और उपादेय का विज्ञान नहीं जागा तो श्रुत में श्रम करना व्यर्थ है। जिसमें हेय और उपादेय का ज्ञान नहीं जागा, वह अज्ञानी है। हेय और उपादेय का ज्ञान न होने का कारण है अज्ञान। दशवैकालिक सूत्र में भी इस परिभाषा का समर्थन सूत्र उपलब्ध होता है—

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावणं।
उभयांपि जाणइ सोच्चा, जं छेयं तं समायरे॥

हेय और उपादेय का विवेक, इसका नाम है ज्ञान। इनका विवेक न होना अज्ञान है। यदि इस बिन्दु पर विमर्श किया जाए तो निष्कर्ष होगा—जितने दुःख होते हैं, उनका कारण है हेय और उपादेय का अज्ञान।

आमंत्रण : निमंत्रण

जीवन का एक संदर्भ है बुढ़ापा। अवस्था के परिपाक से प्रत्येक व्यक्ति बूढ़ा होता है। एक अवस्था के बाद बुढ़ापा आता है। एक बुढ़ापा होता है निमंत्रित। व्यक्ति बुढ़ापे को निमंत्रण देकर बुला लेता है। यह परिपक्व अवस्था से पूर्व आने वाला बुढ़ापा है।

जीवन का एक संदर्भ है बीमारी। शरीर भी बीमारी से ग्रस्त हो जाता है, मन भी बीमारी से ग्रस्त हो जाता है। कभी बीमारी प्राकृतिक कारणों से आती है और कभी व्यक्ति उसे निमंत्रण देकर बुला लेता है।

दो शब्द बहुत प्रचलित हैं—आमंत्रण और निमंत्रण। आमंत्रण में अनिवार्यता नहीं है। किसी व्यक्ति को आमंत्रित किया गया। उसकी इच्छा है, वह उसे स्वीकार करे या न करे। निमंत्रण में अनिवार्यता है। निमंत्रण में जाना ही पड़ता है। मुनि के लिए विधान है—एक साधु को निमंत्रण भोजन नहीं लेना चाहिए क्योंकि निमंत्रण में अनिवार्यता ही होती है। आमंत्रण में इच्छा प्रमुख होती है, निमंत्रण में इच्छा प्रधान नहीं रहती।

आमंत्रित बुढ़ापा अवस्थाजन्य होता है, आमंत्रित बीमारी प्राकृतिक होती है किंतु निमंत्रित बुढ़ापा या रोग मनुष्य के हेय और उपादेय के अज्ञान से आते हैं।

निमंत्रितं स्याद् वार्थक्यं, रोगा अपि निमंत्रिताः।

अनिमंत्रणविज्ञानं, ज्ञानं प्राहुर्बुधा इदम्॥

बुढ़ापा निमंत्रित आता है। रोग भी निमंत्रित होते हैं। ज्ञानी व्यक्तियों ने अनिमंत्रण विज्ञान को ज्ञान कहा है।

विद्यमान है अज्ञान

ज्ञान की परिभाषा बन गई—अनिमंत्रण विज्ञान। निमंत्रण न देने का विज्ञान है ज्ञान। प्रश्न हो सकता है—व्यक्ति बुढ़ापे को निमंत्रण क्यों देगा? बीमारी को निमंत्रण क्यों देगा? यह तर्क बिल्कुल सही है किन्तु मनुष्य के भीतर हेय और उपादेय का अज्ञान विद्यमान है। वह बुढ़ापे को निमंत्रण दिला देता है, बीमारी को निमंत्रण दिला देता है। जन्म मनुष्य के वश की बात नहीं है, वह नियति के हाथ में है। बुढ़ापा, बीमारी और मौत—ये तीनों मनुष्य के हाथ में है। अज्ञान के कारण इन तीनों को निमंत्रण दिया जाता है।

आगम साहित्य में माना गया है—सत्तर वर्ष से पहले आदमी बूढ़ा नहीं होता। चालीस वर्ष तक आदमी युवा होता है। चालीस से सत्तर वर्ष तक 'प्रौढ़ युवा' कहलाता है। बुढ़ापे का प्रारम्भ बिन्दु है सत्तर वर्ष, पर कभी-कभी पचास वर्ष का व्यक्ति भी अपने आपको बूढ़ा मानने लग जाता है।

कुछ लोगों को अपने आपको बूढ़ा कहने में बड़ा रस आता है। कुछ संन्यासी अपनी अवस्था बढ़ा-चढ़ा कर बताते हैं। वे होते हैं पचास वर्ष के और बताते हैं नब्बे वर्ष या सौ वर्ष। संन्यासियों में यह एक आम अवधारणा है—संन्यासी जितना वृद्ध होता है, वह उतना ही पूज्य होता है। संन्यासी अपने आपको बहुत जल्दी बूढ़ा मानने लग जाता है। वैज्ञानिक युग में बुढ़ापे की यह अवधारणा बदल रही है। आज बुढ़ापे का मानदण्ड भी बदल रहा है। यह युग-परिवर्तन का प्रभाव है।

बुढ़ापे का एक कारण है—भोजन का अज्ञान। अज्ञानजनित भोजन बुढ़ापे को जल्दी निमंत्रण देता है। शरीर के लिए दूध की भी एक मात्रा होती है। पोषणशास्त्र के अनुसार एक साथ पाव-डेढ़ पाव से ज्यादा दूध पीना पेट को बिगाड़ना है, बुढ़ापे को जल्दी बुलाना है। उसके अनुसार पूरे दिन शरीर को दो तोला घी की जरूरत होती है। इतने घी को ही आसानी से पचाया जा सकता है किन्तु व्यक्ति अपने अज्ञान के कारण इस सीमा का अतिक्रमण करता है। प्रसिद्ध कहावत है—‘घी खाओगे तो गोडा चलेगा’ यह अवधारणा बुढ़ापे का कारण बन रही है। अधिक भोजन भी जल्दी बुढ़ापा लाता है।

पोषणशास्त्रीय दृष्टिकोण

प्रोटीन, वसा, कार्बोहाइड्रेट, कुछ लवण, विटामिन आदि भोजन के मूल तत्व हैं किन्तु उनकी एक सीमा आवश्यक है। इनको पचाने वाले जो पाचक रस हैं, उनकी भी एक निश्चित सीमा है। जितने पाचक रस हैं, उनका रस स्राव प्रकृति द्वारा निर्धारित है। प्रोटीन को पचाने के लिए कितने रस का स्राव होगा? वसा को पचाने के लिए कितने रस का स्राव होगा? अमुक अमुक तत्व को पचाने के लिए कितने रस का स्राव होगा? इसकी सारी व्यवस्था निर्धारित है। यदि व्यक्ति भोजन ज्यादा करता है या अमुक पदार्थ को ज्यादा मात्रा में खाता है और उन सबको पचाने वाला पाचक रस कम उपलब्ध होता है तो वह भोजन सड़ांध पैदा करेगा, उससे दिमाग भारी बनेगा, बुद्धि की निर्मलता कम होगी, शारीरिक और मानसिक शक्ति क्षीण होगी, बुढ़ापा जल्दी उतर आएगा।

ऐसा लगता है—आज भोजन का अज्ञान खुलकर बोल रहा है। भोजन बनाने वाले और भोजन खाने वाले—दोनों इस अज्ञान से मुक्त नहीं हैं। भोजन बनाने वालों को भी यह पता नहीं है कि खाना कैसे बनाना चाहिए और खाने वालों को भी पता नहीं है कि खाना कैसा होना चाहिए? गेहूँ का फुलका इसका एक उदाहरण बन सकता है। व्यक्ति मानता है—फुलका (चपाती) कोमल-कोमल होना चाहिए। देखने में अच्छा होना चाहिए। गेहूँ का सार तत्व है चोकर। गेहूँ से उसे निकाल दिया जाता है, फेंक दिया जाता है और जो निःसार बचता है, उसका फुलका बनाया जाता है। चोकर में विटामिन डी होता है। जो चोकर-सहित रोटी खाता है, उसे बाहर से अतिरिक्त विटामिन डी लेने की जरूरत नहीं पड़ती। व्यक्ति अपने अज्ञान के कारण इस सहज प्राप्त सारतत्त्व से वंचित रह जाता है। पोषणशास्त्र के अनुसार शरीर के लिए दो ग्राम नमक आवश्यक होता है। वह सामान्य भोजन में सहज उपलब्ध हो जाता है किन्तु

आज आदमी कितने नमकीन और चटपटे पदार्थ खाता है। भुजिया, कचौड़ी आदि अनेक चीजें खा लेता है। बेचारा गुर्दा कितना नमक छानेगा, कितना नमक निकालेगा? डाक्टर कहते हैं—ज्यादा नमक खाना गुर्दे की बीमारी को निमन्त्रण देना है, हाईब्लड प्रेशर की बीमारी को निमन्त्रण देना है। हार्ट, फेफड़ा, गुर्दा, लीवर, तिल्ली आदि शरीर के मुख्य काम करने वाले अवयव हैं। यदि ये अवयव मजबूत बने रहते हैं तो व्यक्ति दीर्घकाल तक स्वस्थ रहता है, अवयवों की कार्य-क्षमता सम्यक् बनी रहती है। शरीर विज्ञान में इस प्रश्न पर भी विमर्श किया गया—हार्ट की आयु कितनी है? एक शरीर-वैज्ञानिक के अनुसार हार्ट, लीवर, गुर्दा आदि अवयवों की कुल मिलाकर कार्य करने की क्षमता ३०० वर्ष की होती है। व्यक्ति की हड्डियां और गुर्दा तीन सौ वर्ष तक काम कर सकता है किन्तु मनुष्य अपने अज्ञान के कारण, भोजन के अविवेक के कारण उन्हें सौ वर्ष तक भी सक्षम बनाए नहीं रख सकता। अधिकांश व्यक्ति सत्तर वर्ष तक भी कार्यक्षम नहीं रह पाते।

स्थानांगसूत्र में रोग का एक कारण बतलाया गया है—अतिआहार। अकाल मृत्यु का मुख्य कारण है—आहार का अविवेक। अत्यन्त आवेगशील होना, क्रोध करना, अधिक कुंठा का जीवन जीना, बात-बात में चिड़चिड़ा बन जाना अकाल मृत्यु को निमन्त्रण देना है। यदि अनिमन्त्रण का विज्ञान जाग जाए, अज्ञान का पर्दा हट जाए, हेय और उपादेय का विवेक स्पष्ट हो जाए तो अकाल मृत्यु से बचा जा सकता है, रोग और बुढ़ापे से बचा जा सकता है।

जीवन का एक संदर्भ है व्यवहार। हेय और उपादेय का ज्ञान व्यवहार के क्षेत्र में भी अत्यन्त उपयोगी बनता है। हेय और उपादेय का विवेक नहीं होता है तो व्यावहारिक जीवन में भी समस्याएं उभर आती हैं।

अज्ञान के तीन अर्थ

तर्कशास्त्र या दर्शनशास्त्र के संदर्भ में अज्ञान के तीन अर्थ बन जाते हैं—संशय, विपर्यय और न जानना। एक व्यक्ति नहीं जानता है और कुछ गलत व्यवहार कर लेता है तो वह क्षम्य भी हो जाता है किन्तु विपरीत ज्ञान बहुत बाधा डालता है। पारस्परिक सौहार्द का, संबंध अच्छा रखने का साधन है मृदु व्यवहार किन्तु व्यक्ति कटु व्यवहार करता है। मृदु वचन बोलने से समस्या का समाधान हो सकता है फिर भी वह खीर में मूसल डालने जैसी बात कह देता है। व्यक्ति के मानस में यह धारणा जमी हुई है—वह व्यक्ति सहता है, जो कमजोर होता है। एक व्यक्ति ने कुछ कहा और सामने वाला व्यक्ति ईट का जवाब पत्थर से दे तो कहा जायेगा—बड़ा पराक्रमी आदमी है। अगर वह सुन लेता है और कुछ बोलता नहीं है तो कहा जाएगा—क्या तुम सत्त्वहीन हो, मिट्टी के हो? तुम्हें मुंहतोड़ जवाब देना चाहिए, जिससे यह दुबारा कहने का साहस ही नहीं करे, यह सीख और मिल जाती है।

यह है व्यवहार का अज्ञान। इस अविद्या के कारण व्यक्ति पग-पग पर दुःखो की सृष्टि कर लेता है। यदि यह अज्ञान मिट जाए, ध्यान की चेतना जाग जाए तो स्थिति बदल सकती है। जितने भी कष्ट हैं, वे अज्ञान जनित हैं।

अज्ञानी को कष्ट होता है। जो जानता है, उसे कष्ट नहीं होता या बहुत कम होता है। दुःख होने का कारण है—नश्वर को अनश्वर मानना। जो व्यक्ति यह ज्ञान लेता है उसे दुःख नहीं होता। जब व्यक्ति में यह ज्ञान नहीं जागता तब वह पदार्थों को अपना मान लेता है, असली मान लेता है। वह उनके साथ जुड़ जाता है तो दुःख को रोक नहीं सकता। जब व्यक्ति असली आत्मा को नकली मान लेता है और नकली वस्तुओं को असली मान लेता है तब समस्या पैदा हो जाती है।

गांव का आदमी ट्रेन से सफर कर रहा था। हाथ में घी का डिब्बा था। उसने जंजीर पर उसे टांग दिया, गाड़ी रुक गई। टी.टी. आया और बोला—अरे! यह क्या किया? किसने यहां डिब्बा टांग दिया? गाड़ी को रोकना पड़ा। किसान बोला—यह डालडा घी का नहीं, देशी घी का चमत्कार है। उसकी यह बात सुनकर डिब्बे में बैठे सारे लोग हंस पड़े।

जिसे ज्ञान नहीं होता, वह हंसी का पात्र बन जाता है। अज्ञान का अपनयन करने वाला व्यक्ति ही दुःखों से बच सकता है। यह सचाई जितनी स्पष्ट होगी, दुःख की संभावना समाप्त होती चली जाएगी।

इन्द्रिय-संयम का प्रश्न

शिष्य के मन में एक जिज्ञासा उत्पन्न हुई। वह आचार्य की सन्निधि में पहुंचा। विनम्र प्रणाम पूर्वक बोला—गुरुदेव! मुनि स्वाध्याय कर रहे हैं और वे कह रहे हैं—इन्द्रियां हमारी दुश्मन हैं। यह मुझे अटपटा लगा। इन्द्रियां हमारी शत्रु कैसे? मैं बाह्य जगत् को इन्द्रियों के द्वारा जान रहा हूं। मेरा सारा सम्पर्क इन्द्रियों के माध्यम से हो रहा है। मैं इन्द्रियों से सारी दुनिया को देखता हूं, दूसरों के साथ सम्पर्क स्थापित करता हूं। अगर आंख और कान—ये दो इन्द्रियां न हों तो बाह्य जगत् मेरे लिए विलुप्त जैसा हो जाए। पूरा सामाजिक जीवन इन दो इन्द्रियों के साथ जुड़ा हुआ है।

समाज का माध्यम : भाषा

समाज का सबसे बड़ा माध्यम है भाषा। भाषा द्वारा समाज बनता है। जिन प्राणियों में भाषा नहीं है, वे अपना समाज नहीं बना पाए। संस्कृत साहित्य में दो शब्द मिलते हैं—समज और समाज। पशुओं का समज होता है, समाज नहीं होता। मनुष्य का समाज होता है। कारण स्पष्ट है—मनुष्य में भाषा है। दूसरे प्राणियों में भाषा का पर्याप्त विकास नहीं है, उनकी भाषा में बहुत थोड़े शब्द हैं। भाषाशास्त्रियों ने पशुओं की भाषा का अध्ययन किया। उनका निष्कर्ष था—किसी पशु की भाषा में पांच-सात शब्द हैं और किसी पशु की भाषा में दो-चार शब्द हैं। वे भी अव्यक्त हैं, व्यक्त नहीं हैं। भाषा समाज के निर्माण का मूलभूत तत्व है। अगर कान नहीं है तो भाषा का कोई अर्थ नहीं है। दूसरों के साथ सम्पर्क करने का एक माध्यम विच्छिन्न हो जाता है। आंख नहीं होती है तो भी सम्पर्क विच्छिन्न हो जाता है।

शिष्य ने कहा—‘मैं इन्द्रियों से ही सारे बाह्य जगत् को जानता हूं। इस स्थिति में इन्द्रियां शत्रु हैं, यह बात कैसे श्रद्धेय हो सकती है?’

इन्द्रियेणैव जानामि, बाह्यां जगदिदं स्फुटम्।

तानि संति च वैरीणि, श्रद्धेयं स्यादिदं कथम्।।

शिष्य का प्रश्न सम्यक् था। धर्म के लोगों ने इन्द्रियों को शत्रु माना है। इसलिए इस प्रश्न को अस्वाभाविक भी नहीं कहा जा सकता।

आचार्य ने कहा—‘वत्स! तुम ध्यान से सुनो। इन्द्रियां मनुष्य की शत्रु नहीं हैं, ज्ञान हैं। मन का ज्ञान बाद में होता है। सबसे पहला सर्व सुलभ ज्ञान है—इन्द्रिय-ज्ञान। दुनिया भर के जितने भी प्राणी हैं, सब इन्द्रिय वाले हैं। अविकसित जीवों में मन नहीं है। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय—इन प्राणियों में मन नहीं है किन्तु इन्द्रियां सबको प्राप्त हैं। काल

समवर्ती है। वह सब पर समान रूप से वर्त है। किसी का पक्षपात नहीं करता। इन्द्रियां भी समवर्ती हैं। सभी प्राणियों के पास है। संसार का एक भी प्राणी ऐसा नहीं है, जिसे इन्द्रिय सुलभ न हो। इन्द्रिय का यह स्वरूप प्रत्येक व्यक्ति के लिए परम उपयोगी है।'

शत्रुता का कारण

शिष्य बोला—'गुरुदेव! एक ओर आप इन्द्रियों को परम उपयोगी बता रहे हैं और दूसरी तरफ उन्हें शत्रु कहा जा रहा है।'

आचार्य ने कहा—'महामति शिष्य! इन्द्रियां जब राग-द्वेष के प्रभाव से आविष्ट होती हैं, तभी शत्रु कहलाती हैं। राग-द्वेष मुक्त इन्द्रियां शत्रु नहीं हैं।'

आविष्टानि यदा तानि, रागद्वेषप्रभावतः।

तदा तानि विपक्षाणि, नेतराणि महामते!।।

जब गंगा के निर्मल पानी में फैक्ट्रियों का दूषित कचरा मिलता है तो साफ पानी भी दूषित हो जाता है। जब इन्द्रिय-ज्ञान की निर्मल धारा में राग और द्वेष का कचरा मिल जाता है, उस अवस्था में वे शत्रु बन जाती हैं। यह बात अध्यात्म की भूमिका पर कही जा सकती है। इन्द्रियां एक साधक के लिए अहितकर भी हैं और शत्रुता का काम भी करती हैं। जब इनमें मूर्च्छा का मिश्रण हो जाता है, राग और द्वेष का मिश्रण हो जाता है, तब अध्यात्म विकास में बाधा उत्पन्न हो जाती है। जब मोह की गन्दी नाली इन्द्रियों के साथ जुड़ जाती है, इन्द्रियां उससे आविष्ट हो जाती हैं तब वे चित्त की निर्मल धारा को क्लुषित कर देती हैं।

दर्शन और आध्यात्म के क्षेत्र में यह एक बहुत बड़ा विषय रहा है। इस विषय पर गहन अध्ययन करने वालों के लिए आचार्य भिक्षु का एक ग्रन्थ 'इन्द्रियवादी की चौपाई' बहुत उपयोगी है। इन्द्रियों की वास्तविकता क्या है? इन्हें शत्रु क्यों माना जाता है? इन्द्रियां कब मित्र बनती हैं और कब शत्रु? ये प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इन्द्रियां न नितान्त मित्र हैं और न नितान्त शत्रु बनती हैं। एक अवस्था में वे मित्र हैं और एक अवस्था में वे शत्रु का काम भी करती हैं। इन दोनों स्थितियों का सम्यक् बोध आवश्यक है।

मानवीय जीवन के तीन पक्ष

अमेरिका के दार्शनिक हेनरी जेम्स बहुत बड़े चिन्तक हुए हैं। उन्होंने मानवीय जीवन को तीन पक्षों में बांटा—एक बाह्य अथवा भौतिक, दूसरा आन्तरिक अथवा मानसिक और तीसरा है आध्यात्मिक। इन तीनों भागों में मानव का जीवन विभक्त होता है। बाह्य जीवन व्यक्ति का शरीर है। आन्तरिक जीवन उसका मन है, जिसके द्वारा स्मृति, कल्पना और चिन्तन चलता है। आध्यात्मिक जीवन व्यक्ति की आत्मा है। आत्मा, मन और शरीर—इन तीनों का योग है हमारा व्यक्तित्व। यह जेम्स की परिभाषा है।

जीवन के चार पक्ष

जीवन विज्ञान एवं प्रेक्षाध्यान के संदर्भ में मनुष्य के जीवन को चार भागों में विभक्त किया गया—शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और भावात्मक। जेम्स ने बुद्धि और मन को एक साथ संकल्पित किया है किन्तु हमारी दृष्टि में बुद्धि का पक्ष मन से भिन्न है। मन स्थायी तत्त्व नहीं है। चेतना स्थायी तत्त्व है, बुद्धि स्थायी तत्त्व है। बुद्धि और मन—दोनों को एक नहीं किया जा सकता। मन अलग है और बुद्धि अलग है। फ्रायड ने मन पर विचार किया। उसके सामने मूल प्रश्न था माइंड का। उन्हीं के शिष्य कार्ल गुस्ताव युंग ने इस विषय को और आगे बढ़ाया। युंग ने कहा—केवल माइंड से जीवन की व्याख्या नहीं की जा सकती इसलिए उन्होंने चित्त को और जोड़ दिया। मन और बुद्धि के द्वारा जीवन की पूरी व्याख्या की जा सकती है, इन दोनों के द्वारा जीवन को पूरी तरह से समझा जा सकता है।

जीवन का चौथा पक्ष है—आध्यात्मिक या भावात्मक। भाव बुद्धि से भी परे हैं। भावों का बुद्धि और मन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। उनका स्वतंत्र अस्तित्व है। वे उत्पन्न होते हैं सूक्ष्म शरीर के प्रकम्पनों से। सूक्ष्म शरीर के प्रकम्पन, भावों के प्रकम्पन व्यक्ति के भीतर से इस स्थूल शरीर में आते हैं और हृदय में उत्पन्न होते हैं। हृदय को भावों का केन्द्र माना गया है। इस संदर्भ में एक प्रश्न उभरता है—क्या यह पंपिंग करने वाला हृदय भावों का केन्द्र है? जीवन विज्ञान एवं प्रेक्षाध्यान के संदर्भ में हमने इस प्रश्न पर गंभीर मंथन किया। हमारा निष्कर्ष रहा—मानव शरीर में दो हृदय होने चाहिए—एक वह हृदय, जो धड़क रहा है, पंपिंग कर रहा है और एक वह हृदय है, जो मस्तिष्क में है। जो भाव भीतर से आते हैं, सूक्ष्म शरीर से आते हैं, वे मस्तिष्क के एक भाग में अभिव्यक्त होते हैं। भावों का केन्द्र वह हृदय नहीं है, जो फेफड़े के पास है। वह रक्त-शोधन का काम करने वाला है। भावों का केन्द्र वह हृदय है जो मस्तिष्क में है। प्रेक्षाध्यान के सन्दर्भ में उसका स्थान निर्धारित किया गया है हाइपोथेलेमस। यह भावधारा का हृदय होना चाहिए।

आयुर्वेद का दृष्टिकोण

कुछ वर्ष पूर्व आचार्यश्री अहमदाबाद में थे। वहाँ के प्रसिद्ध वैद्य थे गोविन्द प्रसाद जी। आचार्यवर के सान्निध्य में उनके घर पर एक गोष्ठी का आयोजन था। उस गोष्ठी में बोलते हुए प्रसंगवश मैंने कहा—मनुष्य के शरीर में हृदय दो होने चाहिए। यह पंपिंग करने वाला हृदय भाव का केन्द्र नहीं होना चाहिए। भाव का केन्द्र होना चाहिए मस्तिष्क में। इस सन्दर्भ में मैंने हाइपोथेलेमस की विशेष रूप से चर्चा की। यह सुनकर वैद्यजी तत्काल उठे और भीतर जाकर अपना एक छपा हुआ लेख लेकर आए। उस लेख के कुछ अशों को उद्धृत करते हुए वैद्यजी ने कहा—आप जो कह रहे हैं, वह सही है। प्राचीन आयुर्वेद में दो हृदय माने गए हैं। मैंने इस लेख में प्रमाणित किया है कि एक हृदय तो पंपिंग करने वाला है और दूसरा मस्तिष्क में होता है। भेलसंहिता आदि अनेक ग्रन्थों के आधार पर इसे प्रमाणित किया गया है। आयुर्वेद में दो हृदय की मान्यता बहुत

प्राचीन रही है। जहाँ भाव पैदा होते हैं उस हृदय का न बुद्धि के साथ संबंध है, न मन के साथ संबंध है। इन्द्रियों का सम्बन्ध शरीर के साथ जुड़ा हुआ है। मस्तिष्क में उनके सारे केन्द्र हैं।

इन्द्रियां उपादेय भी हैं

व्यक्ति का सारा संपर्क सबसे पहले इन्द्रियों के माध्यम से होता है। हर धर्म में इन्द्रिय-संयम की बात कही गई है। इन्द्रिय-संयम करो, उन्हें उच्छृंखल मत बनाओ। यह बात ज्ञान की दृष्टि से नहीं कही गई है। इन्द्रियों के ज्ञान को बढ़ाना बहुत अच्छा है। जैन दर्शन में एक शब्द का विशेष प्रयोग किया गया—इन्द्रिय-पाटव। दूर-दर्शन, दूर-श्रवण—ये योगज विभूतियाँ रही हैं। दूर की चीज को देख लेना, दूर की बात को सुन लेना, इन्द्रियों की कुशलता को बढ़ा लेना भी बहुत आवश्यक है। यह एक उलझन भरी बात है। एक ओर इन्द्रियों से काम लेना और जीवन की यात्रा के लिए उनका अधिकतम पटुता पूर्वक प्रयोग करना, इस स्वर का समर्थन किया गया तो दूसरी ओर इन्द्रियों को दुश्मन और चोर भी कहा गया, अवांछनीय और हेय भी बतलाया गया। इन दोनों के बीच में भेद-रेखा खींचना बहुत कठिन है। अध्यात्म के आचार्यों ने इनके बीच एक भेद-रेखा खींची है। उनका कथन है—जहाँ-जहाँ इन्द्रियों के साथ मूर्च्छा जुड़ जाती है, वहाँ इन्द्रियों को चोर, शत्रु और हेय कहा जा सकता है और जहाँ यह मूर्च्छा न जुड़े, कोरी ज्ञान की धारा रहे वहाँ इन्द्रियाँ बहुत उपादेय हैं। ज्ञान उपादेय है किंतु यदि ज्ञान के साथ मूर्च्छा का योग बनता है तो ज्ञान भी हेय बन जाता है। ये दोनों दृष्टिकोण बहुत साफ होने चाहिए। संयम करना है मूर्च्छा का।

इन्द्रिय की मूर्च्छा आदमी को बीमार बना देती है। अगर व्यक्ति को शरीर से स्वस्थ रहना है तो उसे इन्द्रिय-संयम करना ही होगा। कोई आदमी श्रावक बने या न बने, साधु बने या न बने पर जो स्वस्थ रहना चाहता है, उसके एक सीमा तक इन्द्रियों का संयम नहीं होता है वहाँ समस्याएं पैदा होती चली जाती हैं। इन्द्रिय-असंयम का क्या परिणाम होता है, इसे जैन आगमों में एक कथा के द्वारा बहुत सुन्दर तरीके से समझाया गया है।

असंयम का परिणाम

एक राजा बीमार हो गया। बहुत इलाज कराए गए किन्तु राजा ठीक नहीं हुआ। एक पुराना अनुभवी वैद्य आया। उसने राजा को देखा और रोग के मूल को पकड़ लिया। वैद्य ने कहा—‘महाराज! मैं आपकी चिकित्सा कर सकता हूँ पर मेरी एक शर्त माननी होगी। मैं कहूँगा, वह काम आपको करना पड़ेगा।’

राजा ने कहा—‘आप जैसा कहेंगे मैं वैसा करूँगा। वैद्यजी की दवा से राजा स्वस्थ हो गया। वैद्य का काम पूरा हो गया। उसने कहा—महाराज! अब मैं जा रहा हूँ। आप स्वस्थ हो गए हैं। आनन्द से रहें, पर पथ्य का पालन करना पड़ेगा।’

‘कहिए, आपका पथ्य कौनसा है?’

‘आपको जीवन भर आम नहीं खाना है।’

राजा आम का बड़ा शौकीन था। बड़ी कठिनाई हो गई। राजा बोला—'वैद्यजी! आपने बड़ा कड़ा पथ्य बतलाया।'

'इसका पालन आपको करना होगा।'

'प्रतिदिन कितने आम खा सकता हूँ?'

'आम बिलकुल भी नहीं खाना है।?'

'आम का मौसम कुछ महीने के लिए आता है। क्या एक-दो दिन भी नहीं खाना है।'

'महाराज! जीवन भर आम नहीं खाना है। जिस दिन आपने आम खा लिया, उस दिन आपको कोई नहीं बचा सकेगा।'

राजा विवश था। उसने वैद्य का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। मौसम बदला। वैशाख का महीना आया। आम्रवृक्ष आमों से लद गए। राजा ने अपने मंत्री से कहा—'चलो! बहुत दिन हो गए, आज बगीचे में चलें।'

'महाराज! वन के बगीचे में क्या करेंगे? राजप्रासाद में बहुत बड़ा बगीचा है। आप वहीं घूम लें।'

'नहीं, आज वहीं चलना है।'

मंत्री बेचारा क्या करे। आखिर राजा राजा है। राजा और मंत्री—दोनों बगीचे में गए। राजा को मंत्री ने उधर ले जाना चाहा जिधर आम के पेड़ नहीं थे पर राजा उधर चल पड़ा, जिधर आम के पेड़ थे। राजा आम के पेड़ों को देख कर मुग्ध हो उठा। बोला—'मंत्रीजी! आम कितने अच्छे है!'

'महाराज! आपको जिस गांव ही नहीं जाना है, उसका रास्ता पूछने का मतलब ही क्या है? आपको आम देखना ही नहीं है।'

'तुम भी बड़े भोले हो। वैद्य लोग ऐसे ही कह दिया करते हैं। उनकी सारी बात मान ले तो आदमी जी ही नहीं सके। उनकी बात केवल सुनने की होती है। मानना उतना ही चाहिए जितना उचित लगे।'

मंत्री ने सोचा—आज क्या हो गया है महाराज को! ये क्यों मौत के मुंह में जा रहे हैं?

राजा ने कहा—'देखो! सघन पेड़ हैं, कितनी अच्छी छाया है। वैद्य ने आम खाने की मनाही की है। पेड़ के नीचे बैठने का निषेध तो नहीं किया है?'

राजा पेड़ की सघन छाया में बैठ गया। आंखें ऊपर आम पर टिकी हुई थीं। ऐसा कोई योग मिला, पवन का एक झोंका आया और एक पका हुआ आम राजा की गोद में आ गिरा। राजा ने उसे उठाया। वह उसे कभी इधर से देखता है और कभी उधर से देखता है।

मंत्री ने कहा—'महाराज! आप क्या कर रहे हैं? क्यों मौत को बुला रहे है?'

'मंत्रीजी! यदि इन वैद्यों के कहने के अनुसार चलते रहें तो जीना दूभर हो जाए। जीने का सारा रस निचुड़ जाए। यदि आदमी अपना मनचाहा न करे तो जीए किसलिए?' यह कहते हुए राजा ने आम खा लिया। आम खाते ही

बीमारी का दोष उभर आया और सांझ होते-होते राजा इस संसार से विदा हो गया।

इन्द्रिय की उच्छृंखलता मानसिक, शारीरिक और भावनात्मक स्वास्थ्य को कितना प्रभावित करती है, यह इस उदाहरण से समझा जा सकता है। ऐसी एक नहीं, अनेक घटनाएं घटती हैं। जब व्यक्ति अत्यधिक असंयम में प्रवृत्त होता है तब वह अपनी इन्द्रियों की उच्छृंखलता के कारण अनेक कठिनाइयों को झेलता है और कभी-कभी वह अपने आपको मौत के मुंह में भी धकेल देता है। उत्तराध्ययन सूत्र में इस कथा का संकेत देते हुए कहा गया। *अपथ्यं अम्बगं भोच्चा राया रज्जं तु हारए।* जैसे अपथ्य आम को खाकर राजा ने अपना राज्य गंवाया वैसे ही संयमी मुनि संयम के लिए जो अपथ्य है, उसका सेवन कर आध्यात्मिक राज्य खो देता है।

इन्द्रिय-संयम क्यों?

गृहस्थ जीवन में इन्द्रिय के संयम की एक सीमा है। उस सीमा तक सबको संयम करना चाहिए। जीभ का संयम, चक्षु का संयम, कान का संयम और स्पर्श का संयम एक गृहस्थ के लिए भी आवश्यक है। व्यक्ति संयम नहीं करता है तो उसका शरीर खोखला बन जाता है, भीतर की सारी शक्तियां चुक जाती हैं। मनुष्य कोरा हाड़-मांस का पुलिंदा जैसा रह जाता है। एक सामाजिक प्राणी के लिए एक सीमा तक इन्द्रिय-संयम आवश्यक है, जिससे उसके स्वास्थ्य को नुकसान न पहुंचे, आर्थिक और व्यावहारिक पक्ष में भी बाधा न आए। जहां इन्द्रियों का असंयम सामाजिक और व्यावहारिक जीवन में बाधा डालना शुरू कर देता है वहां समस्या पैदा हो जाती है। न जाने कितने राजाओं ने अपनी वृत्तियों की उच्छृंखलता के कारण अपने राज्य को गंवा दिया और पराधीन हो गए। एक ओर दुश्मन का हमला हो रहा है, दूसरी ओर शासक महलों में रंगरेलियां मना रहे हैं। इन्द्रियों के असंयम में रत ऐसे राजाओं के कारण हिन्दुस्तान को अनेक बार परतंत्रता का मुंह देखना पड़ा है। महामात्य कौटिल्य ने कहा—शासक और सामाजिक प्राणी—दोनों के लिए एक सीमा तक इन्द्रिय-संयम जरूरी है। स्वास्थ्य के लिए उस सीमा से परे संयम की जरूरत है। केवल शारीरिक स्वास्थ्य के लिए ही नहीं, किन्तु अतीन्द्रिय चेतना का विकास करने के लिए, भावपक्ष का विकास करने के लिए, आध्यात्मिक जीवन का विकास करने के लिए अतिरिक्त इन्द्रिय-संयम की जरूरत है।

इन्द्रिय-संयम का परिणाम

बहुत लोग सोचते हैं—स्वास्थ्य अच्छा है। पेट में कोई खराबी नहीं है, पाचनतंत्र ठीक है। इस अवस्था में हम सब कुछ खाते हैं तो क्या फर्क पड़ेगा? यह केवल शारीरिक स्तर पर होने वाला चिन्तन है। साधक को केवल शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से नहीं सोचना है। उसका चिन्तन होना चाहिए—भोजन का मन पर क्या असर होगा? बुद्धि पर क्या असर होगा? एक गृहस्थ के लिए इन्द्रिय-संयम की बात दस या बीस प्रतिशत होती है किन्तु एक साधक के लिए शत-प्रतिशत इन्द्रिय-संयम की बात आ जाती है। एक साधक को उतना संयम

करना चाहिए, जिससे मूर्च्छा को बढ़ावा न मिले, उद्दीपन न मिले। आगम साहित्य में इस बात पर बहुत विचार किया गया है कि किस प्रकार इन्द्रिय-असंयम के कारण मूर्च्छा को उद्दीपन मिलता है, राग-द्वेष बढ़ता है और संयम की विराधना होती है।

इन्द्रिय-संयम का प्रश्न व्यक्ति के स्वास्थ्य के साथ जुड़ा हुआ है। जब तक जीवन में इन्द्रिय-संयम को मूल्य नहीं मिलेगा तब तक शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और भावात्मक स्वास्थ्य का प्रश्न सदा प्रस्तुत रहेगा। इन्द्रिय-संयम से न केवल शरीर और मन स्वस्थ रहते हैं किन्तु बुद्धि और भाव भी पवित्र रहते हैं। जीवन विज्ञान का प्रसिद्ध सूत्र है—स्वस्थे चित्ते बुद्धयः प्रस्फुरन्ति—स्वास्थ्य चित्त में प्रतिभा का स्फुरण होता है। मलिन चित्त में प्रज्ञा का स्फुरण नहीं होता। प्रज्ञा जागरण के लिए इन्द्रिय-संयम, शरीर की निर्मलता और योग की भाषा में प्राण और अपान की निर्मलता आवश्यक है। अपान शुद्ध होगा तो प्रज्ञा जागेगी। अपान दूषित रहेगा तो प्रज्ञा का स्फुरण ही नहीं होगा, विचार भी दूषित बने रहेंगे। यदि प्राण और अपान को निर्मल बनाया जाए, इन्द्रिय-संयम के द्वारा अपनी प्रज्ञा को निर्मल बनाया जाए तो आध्यात्मिक विकास की संभावना उज्ज्वल बन सकती है, अपने संयम के द्वारा अपनी प्रज्ञा को जगाने का मार्ग प्रस्तुत हो सकता है।

नैतिकता का आधार : नानात्व का बोध

जिज्ञासा और समाधान—ये दो तत्त्व हैं। इनके द्वारा चिन्तन और दर्शन का विकास हुआ है। शिष्य और गुरु—यह एक युगल माना जाता है। शिष्य भी व्यक्ति और गुरु भी व्यक्ति। इसका दूसरा युगल बन सकता है—जिज्ञासा शिष्य है और समाधान गुरु है। दर्शन के विकास में आश्चर्य, कुतूहल बहुत बड़ा हेतु बना है।

एक शिष्य के मन में जिज्ञासा उभरी। वह गुरु के पास पहुंचा, वन्दना कर बोला—गुरुदेव! मैं मनुष्य हूँ और इस दुनिया में केवल मैं ही नहीं हूँ। आकाश में देखता हूँ तो बहुत सारे पक्षी उड़ रहे हैं। भूमि पर देखता हूँ तो बहुत सारे पेड़-पौधे खड़े हैं। आपने मुझे बताया था—सब जीव समान हैं, आत्मा आत्मा में कोई अन्तर नहीं है फिर भी नानात्व कैसे बना? यह भेद कैसे आया? कोई मनुष्य है, कोई पक्षी है, कोई पशु है और कोई वनस्पति है। इस प्रकृति के प्रांगण में अनेकता है, कहीं एकरूपता नहीं है। यह क्यों?

समानो वर्तते जीवः, नानात्वं कथमिष्यते।

मनुष्यो वर्तते कश्चित्, कश्चित् पक्षी पशुस्तरुः॥

यूनान के कुछ दार्शनिक आत्मा आत्मा में भेद बताते थे। उनकी दृष्टि से सब आत्माएं समान नहीं हैं। पशु-पक्षियों की आत्माएं अलग हैं, वनस्पति की आत्मा अलग है और मनुष्य की आत्मा अलग है। वे आत्मा के ये तीन वर्ग मानते हैं किन्तु जैन दर्शन में कहा गया—सब जीव समान हैं। उनमें कोई भेद नहीं है। फिर यह नानात्व कैसे आया? नानात्व का हेतु क्या है?

नानात्व का कारण

आचार्य ने इस प्रश्न का समाधान दिया—वत्स! सब जीव समान हैं। जीवों में कोई अन्तर नहीं है किन्तु समान होने पर भी नानात्व का एक कारण है—

अस्त्यात्मा शाश्वतस्तेन गतिचक्रं प्रवर्तते।

अस्ति पुण्यं च पापं च नानात्वं च गतेस्ततः॥

आत्मा शाश्वत है। व्यक्ति के मरने के बाद भी आत्मा की मृत्यु नहीं होती है। गति का एक चक्र चलता है। आत्मा एक गति में जाता है और वहां से दूसरी गति में जाता है। यह गति का चक्र निरन्तर चालू रहता है, रुकता नहीं है।

शिष्य ने पूछा—गुरुदेव! गति-चक्र चलता है। उससे सबके सब मनुष्य बन जाए लेकिन यह क्यों होता है कि एक मनुष्य बनता है और दूसरा पशु। इसका कारण क्या है?

गुरु ने कहा—इसका हेतु है पाप और पुण्य। प्राणी पुण्य के साथ जन्म लेता है, मनुष्य बन जाता है। प्राणी पाप के साथ जन्म लेता है, तिर्यञ्च योनि में चला जाता है, कुत्ता बन जाता है, चील बन जाता है, और कुछ बन जाता है।

दुनिया में नानात्व है, अनेकरूपता है। चार गतियां बताई गई हैं—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव। इनमें मनुष्य और तिर्यञ्च—ये दो गतियां प्रत्यक्ष हैं। नरक और देव—ये दो गतियां परोक्ष हैं। इनमें दो इन्द्रिय-ज्ञान का विषय है और दो अतीन्द्रिय ज्ञान का। परोक्ष को जानना आसान नहीं है, प्रत्यक्ष मनुष्य के सामने है। मनुष्य और तिर्यञ्च में बहुत बड़ा अन्तर है। मनुष्य ने बहुत विकास कर लिया किन्तु पशु आज भी वैसा का वैसा है जैसा वह हजारों वर्ष पहले था। हजार वर्ष पहले बैल गाड़ी से जुतता था और आज भी जुतता है। हजार वर्ष पहले कुत्ता ऐसे ही गलियों में भौंकता था और आज भी भौंकता है। कोई फर्क नहीं पड़ा। मनुष्य ने हजार वर्ष में बहुत विकास किया है। इन दो सौ वर्षों में भी उसने बहुत बड़ा विकास किया है।

आत्मा की अमरता है, गति का चक्र है और अपना-अपना पुण्य और पाप है, इसलिए यह गति का भेद हो रहा है। इस गति-भेद की पृष्ठभूमि में अपना-अपना किया हुआ शुभ-अशुभ कर्म, पुण्य और पाप कारण बन रहा है। यही धार्मिक जीवन या नैतिक जीवन जीने का बहुत बड़ा आचारशास्त्रीय आधार बनता है।

नैतिक और धार्मिक क्यों बने?

प्रश्न होता है—आदमी नैतिक क्यों बने? धार्मिक क्यों बने? किसलिए बने? धर्म ऐसी चीज नहीं है, जिसका प्रत्यक्ष अनुभव हो। रोटी का प्रत्यक्ष अनुभव होता है, दूध-चाय का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। भूख लगते ही मांग शुरू हो जाती है और मांग होते ही आदमी उसे खाता है। ऐसे धर्म की मांग क्यों नहीं होती? कोई भी दिन ऐसा नहीं उगा होगा, जिस दिन धर्म की भूख लगी हो। इसलिए उसकी अपेक्षा महसूस नहीं होती। जिसकी प्रत्यक्ष मांग है, उसकी जरूरत है। भूख लगती है इसीलिए रोटी चाहिए, पैसा चाहिए और पैसे के लिए कोई व्यापार चाहिए। यह प्रत्यक्ष मांग है। इसके लिए प्रेरणा देने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

साधु-साध्वियां बहुत उपदेश देते हैं, प्रवचन करते हैं। हजारों-हजारों गांवों में, हजारों-हजारों स्थलों में धर्म का प्रवचन होता है किन्तु ऐसा कोई प्रवचन मंडप नहीं बना, जहां रोटी खाने का उपदेश दिया जाता हो। जिसकी प्रत्यक्ष जरूरत है, उसके लिए प्रवचन की आवश्यकता नहीं होती। धर्म की बात प्रत्यक्ष नहीं है। अगर यह गति का नानात्व नहीं होता, सब आदमी समान होते, पुण्य-पाप का भेद नहीं होता तो धर्म की बात समझ में ही नहीं आती। मौत होती है तो धर्म की बात समझ में आती है। बीमारी होती है तो धर्म की बात समझ में आती है। यदि मौत नहीं होती, बीमारी नहीं होती, कोई दुःख नहीं होता तो शायद आदमी धर्म का नाम सुनना ही पसन्द नहीं करता। उसे धर्म केवल

निकम्मी बात लगती है। मैंने साक्षात् देखा है—धर्म की थोथी बकवास कहने वाले जब बीमार पड़े तो कांप उठे।

बिना भक्त तारिये तो तारिबो तिहारो है

एक श्रावक परम्परा में जन्मे हुए व्यक्ति धर्म के कष्टर आलोचक थे। जब वे बीमार पड़ गए, मृत्यु के निकट पहुंच गए, तब उनकी भावना में बदलाव आया। उन्होंने आचार्यवर को प्रार्थना करवाई—आचार्यवर! आप दर्शन दिरावें। आचार्यश्री पधारें, बातचीत हुई। वे बोले—‘महाराज! मैंने बहुत आलोचना की है, धर्म और संघ की निंदा की है, साधुओं की निन्दा की है पर अब अन्तिम समय आ गया है। मैं चाहता हूँ—अब मुझे धर्म की बात सुनाई जाए। आपने पधार कर दर्शन दिए, बहुत अच्छा हुआ। मेरी भावना है—आप हमेशा साधु-साध्वियों को दर्शन दिलाने के लिए यहां भेजें, मुझे अधिक से अधिक धर्म की बात सुनाएं।’ यह सुनकर सारे लोग अवाक् रह गए। लोगों ने कहा—पूर्व में उगने वाला सूरज पश्चिम में कैसे उग आया? यह क्या हुआ? कैसे हुआ? उस समय उन्होंने कहा—आचार्यवर! मैंने तो कुछ नहीं किया पर आप मुझे तारें। जिन्होंने भक्ति की, उन सबको तारना आसान है किन्तु जिन्होंने भक्ति नहीं की, उन्हें तारना ही तारना है—

प्रह्लाद् को तार्यो ताके तात को तमासो देख्यो,
ध्रुवजी को तार्यो ताको बालापन टार्यो है।
मोरध्वज तार्यो ताके पुत्र पे करीत धरी,
हरिश्चन्द्र तार्यो ताको कहां सत्य टार्यो है।
सुग्रीव को तार्यो ताको बंधव करायो नाश,
विभीषण तार्यो ताको कुटुंब संहार्यो है।
भक्त-भक्त तारे या में राव री बड़ाई कहां,
बिना भक्त तारिये तो तारिबो तिहारो है।।

अगर विषम परिस्थितियां नहीं होतीं, पुण्य-पाप नहीं होता तो शायद धर्म का मूल्य समझ में नहीं आता। वास्तव में पुण्य और पाप—ये दो तत्त्व ऐसे हैं, जो आदमी की मति को बदल देते हैं। धर्म दिखाई नहीं देता। दिखाई देता है व्यक्ति का पुण्य और पाप। यह पुण्य-पाप नहीं होता तो आदमी धर्म जैसे गूढ़ तत्त्व तक जाने की बात को सोचता ही नहीं। किन्तु ये दो चौकीदार हैं, जो आदमी को सदा जगाते रहते हैं, सावधान करते रहते हैं। व्यक्ति को पाप बहुत सावधान करता है, साथ-साथ पुण्य भी उसे सावधान करता है। एक आदमी के पुण्य को देखकर दूसरा भी सावधान होता है। इसने पाप किया था अतः यह भोग रहा है, मैंने नहीं किया इसलिए मुझे यह नहीं भोगना पड़ रहा है। ये दोनों ही मनुष्य को जगाते रहते हैं।

खतरनाक है दूसरों के सहारे ऊपर उठना

एक पिता के तीन पुत्र थे। जब तीनों बड़े हुए, पिता ने उन्हें बुलाया। पिता ने कहा—तुम जाओ, कमाकर खाओ।

जो पिता अपने पुत्र का पुरानी संपत्ति के आधार पर विकास चाहता है, वह अपने पुत्र का हितैषी नहीं है। अनेक व्यक्ति कहते हैं—भाई! बहुत धन पड़ा है हमारे पास, तुम कमा कर क्या करोगे? परावलम्बी जीवन जीना दूसरों के भरोसे पर जीवन जीना जितना खतरनाक होता है उतना बड़ा खतरा दुनिया में किसी बात का नहीं होता।

बम्बई चातुर्मास में आचार्यवर ने कहा—तुम मेघ पर अष्टक लिखो। आचार्यवर के निर्देश को तत्काल स्वीकृत कर मैंने मेघाष्टक लिखा। उसका एक श्लोक है—

आश्रित्यानिलमूर्ध्वगा जलमुचो जानन्ति तत्त्वं न तत्,
कुर्वन्तो गगनांगणे चपलताकेलिं हरन्ते मनः।
स्तोकेनैव पलेन भूमिपतनं ते यान्त्यतर्क्यध्रुवं
अन्यालम्बनतो यदूर्ध्वगमनं तन्नास्ति रिक्तं भयात् ॥

मेघ पवन के आश्रय से बहुत ऊंचे चले जाते हैं। वे तत्त्व को नहीं जानते वे आकाश में चपल क्रीड़ा करते हुए जनता का मन हर लेते हैं। वे थोड़े ही समय में अतर्कित रूप से भूमि पर गिर जाते हैं क्योंकि दूसरों के सहारे ऊपर चढ़ना खतरे से खाली नहीं होता।

मेघ पवन के आश्रय से बहुत ऊपर उठा और हवा के सहारे ही नीचे गिरा। जो दूसरे के सहारे ऊपर उठता है, उसके पतन को रोका नहीं जा सकता। अपनी क्षमता और अपनी शक्ति के विकास के बिना केवल दूसरों के भरोसे पर चलना, दूसरों के सहारे ऊपर जाना खतरे से खाली नहीं होता।
दूरी आराम और हराम में

पिता ने कहा—मेरी संपत्ति के भरोसे पर मत जियो। मैंने जो कमाया है उसके आधार पर मत जियो। अपना पुरुषार्थ करो और कमाओ। मैं तुम्हें प्रारम्भ में हजार-हजार मुद्राएं दे देता हूँ। इन्हें ले जाओ, प्रदेश में व्यापार को बढ़ाओ और कमाओ। तुम्हें लम्बे समय तक सुदूर प्रदेश में रहना है, बारह वर्ष की यात्रा करके वापस आना है और व्यापार का पूरा लेखा-जोखा मुझे देना है।

उस समय यात्रा के साधन तीव्र गति वाले नहीं थे। अधिकांश यात्राएं समय-साध्य और श्रम-साध्य होती थीं। गंतव्य स्थल पर पहुंचने में भी छह-सात महीने लग जाते थे। पुत्र व्यापार के लिए चल पड़े। वे चलते-चलते एक शहर में पहुंचे। तीनों भाइयों ने परामर्श कर निश्चय किया—इसी शहर में रहेंगे, व्यापार करेंगे और कमाएंगे। तीनों सगे भाई काम-धंधे में लग गए।

तीनों भाइयों के पास हजार-हजार मुद्राएं थीं। हजार मुद्राएं उस समय बहुत होती थीं। सौ वर्ष पहले दो-चार रुपये एक परिवार के लिए एक महीने तक पर्याप्त होते थे।

बड़े भाई ने सोचा—मेरे पास बहुत मुद्राएं हैं, आराम करूंगा। कोई चिन्ता की बात नहीं है। वह आराम में चला गया।

जो आराम में जाता है वह हराम बन जाता है। आराम और हराम के बीच ज्यादा दूरी नहीं है। इधर आराम और उधर हराम—इतनी-सी दूरी है।

उसने जुआ खेलना भी शुरू कर दिया। वह बुरी आदतों में फंसता ही चला गया।

दूसरे भाई ने सोचा—पिताजी ने हजार मुद्राएं दी हैं। यह व्यापार का झंझट क्यों मोल लूं?

कुछ लोग कोई भी खतरा मोल लेना नहीं चाहते, सीधा जीवन बिताना चाहते हैं। ज्यादा झंझट और माथापच्ची उनके वश की बात नहीं होती।

उसने वे हजार मुद्राएं ब्याज में दे दीं। जो ब्याज में आएगा, उसे खाऊंगा। पिताजी ने जो दिया है, वह सारा का सारा वापिस समर्पित कर दूंगा। किराए पर मकान लिया। ब्याज में उसका पूरा जीवन चल जाता। न कोई झंझट, न कोई उठा पटक। वह शांति के साथ अपने जीवन को बिताने लगा।

तीसरे भाई ने सोचा—पुत्र का कर्तव्य होता है कि उसे पिता से जितना मिले, उसे बढ़ाकर पिता को दे। सम्पत्ति की वृद्धि करना मेरा दायित्व है। पुत्र का काम होता है विकास करना। जैसे अपने शिष्य को आगे बढ़ते देख गुरु प्रसन्न होता है वैसे ही अपने पुत्र को विकास करते देख पिता प्रसन्न होता है। छोटे पुत्र ने एक बड़ी कल्पना के साथ व्यापार शुरू किया और ग्यारह वर्ष में उस नगर का सबसे बड़ा धनपति बन गया।

ग्यारह वर्ष बीत गए। बारहवां वर्ष चल रहा था। उसने सोचा—अब तो चलना होगा। दो-तीन माह रास्ते में लगेंगे। पिता के आदेश से तीनों भाई साथ-साथ आए। पिता का आदेश था, अतः तीनों भाई अलग-अलग रहे। अब तीनों को वापस साथ जाना है। उन दोनों का पता ही नहीं है कि वे कहां हैं। उनसे कैसे मिलूं! उसने एक उपाय ढूंढ निकाला। एक भोज का आयोजन किया। उसमें सब व्यापारियों को निमंत्रित किया। भोज में नगर के प्रतिष्ठित व्यापारी आए। बड़े भाई मिल गए। वह बोला—भाई साहब! अब तो चलना होगा। बारह वर्ष बीत रहे हैं। कुछ माह रास्ते में लग जाएंगे।

आराम का परिणाम

दोनों भाई मिल गए पर तीसरा नहीं मिला। उसने सोचा—तीसरा क्यों नहीं आया? उसने दूसरा उपाय सोचा तीसरे भाई को ढूंढने का। वह एक-एक वर्ग को भोजन पर आमंत्रित करने लगा। कभी स्वर्णकार वर्ग को बुलाया, कभी क्षत्रिय वर्ग को बुलाया और कभी किसी वर्ग को बुलाया। अनेक वर्ग आए, पर भाई नहीं मिला। आखिर एक वर्ग आया लकड़हारों का। उसमें तीसरा भाई भी आ गया। दोनों भाई उसकी दशा देखकर दंग रह गए। उसके पास सीधा जाना भी एक समस्या बन गया। भोजन कर सब जाने लगे। सेठ ने अपने कर्मचारी को भेजा। कर्मचारी ने तीसरे भाई से कहा—‘आप रुक जाएं।’ उसने कहा—‘मैंने कोई चोरी थोड़े ही की है।’ कर्मचारी ने कहा—‘सेठ साहब का हुक्म है, आपको रुकना होगा।’ सब चले गए। दोनों भाई नीचे आए। उन्होंने कहा—‘भाई! यह क्या हुआ है?’

छोटे भाइयों ने बड़े भाई को पहचान लिया पर बड़े भाई ने छोटे भाइयों को नहीं पहचाना। पैसा बढ़ता है तो आदमी की दशा भी बदल जाती है।

बड़ा भाई बोला—‘मेरी दशा खराब हो गई। मैं बुराई में फंस गया, बुरे आचरण में डूब गया। सारी राशि उसमें समाप्त हो गई। खाने को रोटी नहीं बची। लकड़ी लाने का काम करने लगा। रोज लकड़ी लाना और बेचना, रोज कमाना और रोज खाना। बस, यही मेरा भाग्य बन गया।’

तीनों भाई चले, पिता के पास पहुंचे। पिता ने बड़े भाई से पूछा—‘बताओ! तुमने क्या कमाया?’

वह रोने लगा। उसने व्यथा भरे स्वर में कहा—‘पिताजी! गया था तब हाथ भरा था और अब खाली हाथ आ रहा हूँ।’ उसने अपनी सारी स्थिति बताई।

पिता ने कहा—‘बैठ जाओ।’

दूरे लड़के से पूछा—‘तुमने क्या कमाया?’

उसने कहा—‘आपने जो दिया था, वह सुरक्षित है।’

पिता ने तीसरे लड़के से भी यही प्रश्न पूछा।

उसने कहा—‘ये बही-खाते देख लें।’

सेठ बही-खातों को उलट-पुलट कर देखने लगा। उसमें अपार संपदा का ब्यौरा था। सेठ प्रसन्न हो गया।

तीन बनिए समान राशि को लेकर गए। एक ने मूल को गंवा दिया, एक मूल को वापस लेकर आया और एक ने सम्पदा को अथाह बना दिया। यह एक उपमा है, उत्तराध्ययन सूत्र का बहुत मार्मिक उदाहरण है।

मानवीय सन्दर्भ

इस व्यावहारिक उदाहरण को मानवीय सन्दर्भ में भी देखा-परखा जा सकता है। मनुष्य भी तीन प्रकार के होते हैं। एक मनुष्य बना और बुराइयों में फंस गया। बुरे व्यवहार से वह मूल को ही खो देता है। वह मर कर नरक में जाता है, अपनी मूल पूंजी मनुष्य जीवन से ही वंचित हो जाता है। दूसरे प्रकार का मनुष्य वह है, जो न ज्यादा धर्म करता है और न बुराई में जाता है। उसकी प्रकृति सरल होती है, जीवन सादा होता है। वह मरकर मनुष्य बन जाता है, अपनी मूल पूंजी मनुष्य जीवन को सुरक्षित रख लेता है। एक मनुष्य ने तपस्या की, संयम की आराधना की, स्वाध्याय और ध्यान का आचरण किया। जीवन को खूब तपाया, साधा, इन्द्रियों का संयम किया। उसने अपार लाभ कमा लिया। वह मरने के बाद देवगति में चला जाता है, मूल पूंजी मनुष्य जीवन को बहुत अधिक बढ़ा लेता है।

नानात्व का कारण : व्यक्ति का आचरण

नानात्व का कारण है अपना-अपना आचरण। आचरण की विभिन्नता से व्यक्तियों में विभिन्नता होती है। एक मनुष्य मरने के बाद नरक में जाता है, एक मरने के बाद मनुष्य बना रहता है और एक मरने के बाद देवता बन जाता है। यह नानात्व व्यक्ति के आचरण पर, उसके पुण्य-पाप पर अवलम्बित है। इस प्राकृतिक नियम को मिटाया नहीं जा सकता। केवल कानूनी नियम इस विषय में प्रभावी नहीं होते।

आज के लोग कानूनी नियमों को समझने का बहुत प्रयत्न करते हैं पर प्राकृतिक नियमों की ओर उनका ध्यान नहीं जाता। प्राकृतिक नियमों को समझना जरूरी है। केवल कानून के नियम व्यक्ति के लिए त्राण नहीं बनेंगे। हो सकता है—कानून के नियम २०-३० वर्ष तक व्यक्ति के आड़े आ जाएं किन्तु व्यक्ति को यहां से जहां जाना है, वहां कौन आड़े आएगा? न कोई वकील साथ में चलेगा और न कोई डॉक्टर साथ में चलेगा। वहां साथ चलेगा अपना नियम और प्रकृति का नियम। इसलिए प्रकृति के नियम को समझना आवश्यक है, गति के नानात्व और उसके हेतु को जानना अपेक्षित है। सब जीव समान नहीं हैं, सब मनुष्य भी समान नहीं हैं। यह गति का जो भेद है, वह व्यक्ति का अपना किया हुआ भेद है। यह बात जितनी गहराई से हृदय में उतरेगी, व्यक्ति अपनी चेतना को उतना ही अधिक पवित्र बना सकेगा, अपने आचरण को विशुद्ध बना सकेगा। आचरण शुद्धि, धर्म और नैतिकता का बहुत बड़ा हेतु बनता है नानात्व का बोध। इस तथ्य को समझने वाला, हृदयंगम करने वाला धर्म की ओर प्रस्थित हो जाता है।

क्यों नहीं हो रहा है योगक्षेम की ओर प्रस्थान?

प्रश्न उपस्थित हुआ—इस दुनिया में अच्छाई की शक्ति ज्यादा है या बुराई की शक्ति? शक्तिशाली कौन है? मीमांसा चली, विश्लेषण किया गया। निष्कर्ष निकला—बुराई शक्तिशाली है। इसकी पकड़ बहुत मजबूत है। अनेक आदमी अच्छाई को जानना नहीं चाहते। कुछ जानते हैं तो उस तक पहुंचना नहीं चाहते। कुछेक अच्छाई को पा भी लेते हैं किन्तु उसमें स्थिर नहीं हो पाते। आदमी बुराई के पास बहुत सहजता से चला जाता है, उस तक पहुंच जाता है, उसमें रम जाता है। कहा जाता है—बुराई को कम करो, अच्छाई को स्वीकारो। सचाई इसके विपरीत लग रही है—अच्छाई छूट जाती है और बुराई अनायास उपलब्ध हो जाती है।

सभी धर्मों और अच्छे विचारकों ने प्रेरणा दी—अच्छाई की तरफ जाओ पर उस दिशा में गति बहुत धीमी है या प्रारम्भ ही नहीं होती। उत्तराध्ययन सूत्र में यही प्रश्न उभारा गया है—

कुसग्गमेत्ता इमे कामा, संनिरुद्धम्मि आउए।

कस्स हेउं पुराकाउं, योगक्खेमं न संविदे?

ये काम-भोग कुशाग्र पर स्थित जल-बिन्दु जितने हैं। मनुष्य का आयुष्य अति संक्षिप्त है। वह फिर किस हेतु को सामने रखकर योगक्षेम की ओर प्रस्थान नहीं कर रहा है?

पूरा चिन्तन इस श्लोक में संवृब्ध है। काम है कुशाग्रमात्र। जैसे कुश की नोक पर जल की बूंद टिकती है और थोड़ी-सी हवा लगते ही गिर जाती है, वैसे ही इस क्षणिक जीवन में कामभोग भी क्षण-स्थायी हैं। नीति का प्रसिद्ध श्लोक है—

चला लक्ष्मी चलाः प्राणाः चलं जीवितयौवनम्।

चलाचलोस्मिन् संसारे, धर्म एको हि निश्चलः॥

मनुष्य का वैभव स्थिर नहीं है, उसका प्राण और यौवन भी अस्थिर है। यह संपूर्ण संसार चलाचल है। इसमें एकमात्र स्थिर तत्त्व है धर्म।

योगक्षेम की ओर प्रस्थान का अर्थ

धन, भोग, यौवन—ये सब चंचल हैं, स्थिर नहीं हैं, नश्वर हैं। इस स्थिति में जो अचल है उसकी ओर प्रस्थान क्यों नहीं हो रहा है? योगक्षेम की ओर प्रस्थान करने का मतलब है अशाश्वत से शाश्वत की ओर प्रस्थान, चल से अचल को ओर यात्रा।

आगम में कहा गया—

असंजमं परियाणामि संजमं उवसंपज्जामि
 असंयम से संयम की ओर प्रस्थान
 अन्नाणं परियाणामि नाणं उवसंपज्जामि
 अज्ञान से ज्ञान की ओर प्रस्थान
 अकिरियं परियाणामि किरियं उवसंपज्जामि
 अक्रिया से क्रिया की ओर प्रस्थान
 मिच्छत्तं परियाणामि सम्मत्तं उवसंपज्जामि
 मिथ्या दृष्टिकोण से सम्यक् दृष्टिकोण की ओर प्रस्थान
 अबोहिं परियाणामि, बोहिं उवसंपज्जामि
 अबोधि से बोधि की ओर प्रस्थान
 अमग्गं परियाणामि मग्गं उवसंपज्जामि
 अमार्ग से मार्ग की ओर प्रस्थान
 यह है योगक्षेम की ओर प्रस्थान ।

प्रश्न होता है—व्यक्ति योगक्षेम की ओर प्रस्थान क्यों नहीं कर रहा है? मार्ग स्पष्ट है, लक्ष्य निर्धारित है फिर भी वह उस दिशा में गतिशील क्यों नहीं है? वह अच्छाई को क्यों नहीं पा रहा है? वह योग और क्षेम को क्यों नहीं समझ रहा है? यदि इस प्रश्न की समीक्षा की जाए तो प्रस्थान में आने वाली बाधा को मिटाना सम्भव बन सकता है। प्रस्थान में क्या बाधाएं हैं, क्या विघ्न हैं, शायद यही समझने के लिए योगक्षेम वर्ष की आयोजना की गई है।

पुद्गलैनावृतं ज्ञानं दर्शनं पुद्गलावृत्तं ।
 आनन्दः पुद्गलाछन्नश्चास्ति पौद्गलिकं वपुः ॥
 अस्ति पुद्गलसाम्राज्यमेकच्छत्रमितस्ततः ।
 एवास्ति महती बाधा, योगक्षेमस्य संविदेः ॥

ज्ञान, दर्शन और आनन्द पुद्गल से आवृत हैं। व्यक्ति का शरीर भी पौद्गलिक है। चारों ओर पुद्गल का एकछत्र साम्राज्य है। यही योगक्षेम को समझने में महान् बाधा है।

मालिक बन गया किराएदार

व्यक्ति के भीतर अनन्त ज्ञान का प्रकाश विद्यमान है। उसे कभी बिजली जलाने की जरूरत नहीं है। उसके भीतर अनन्त दर्शन है, उसे कभी देखने के लिए आंख को खोलने की जरूरत ही नहीं है। उसके भीतर अखूट आनन्द है, उसे सुख पाने के लिए कोई सामग्री जुटाने की जरूरत ही नहीं है। वस्तु-निरपेक्ष आनन्द भीतर है। पदार्थातीत सुख-प्राप्ति के अनन्त-अनन्त तत्त्व मनुष्य के भीतर हैं पर पुद्गल का एक ढक्कन आया हुआ है। नीचे अमृत है किन्तु ऊपर जहर का ढक्कन आ गया। इस स्थिति में अमृत काम में नहीं आ सकता। चारों ओर पुद्गल ही पुद्गल छाया हुआ है। आत्मा कहीं दिखाई ही नहीं देती है। योगक्षेम की ओर प्रस्थान में सबसे बड़ी बाधा है—पुद्गल का एक छत्र साम्राज्य होना। पुद्गल एक आकर्षण पैदा करता है, संयम की ओर बढ़ते कदम रुक जाते हैं।

अठारह पाप पौद्गलिक हैं। निंदा करना पुद्गल का कार्य है। चुगली पौद्गलिक है, घृणा पौद्गलिक है। अठारह पाप के वर्ण, गंध, रस और स्पर्श हैं। ये व्यक्ति के अस्तित्व पर छाए रहते हैं। उनसे आवृत व्यक्ति को अस्तित्व का पता ही नहीं चलता। बाहर से पुद्गल आते हैं चेतना का सहारा पाने के लिए और वे चेतना के मालिक बन जाते हैं। कुछ ऐसा ही होता है—घर का असली मालिक नहीं रहता, किराएदार मालिक बन जाता है। आजकल कुछ ऐसा ही हो रहा है। घर का मालिक निकल जाए पर किराएदार को निकालना बड़ा कठिन है।

बैंगलोर से समागत एक भाई ने बताया—कुछ दिन पहले तेरापंथ भवन किराएदारों से खाली कराया तो लाखों रुपये चुकाए गए। किराएदार भाड़ा चुकाए, यह बात समझ में आती है किन्तु किराएदारों से मकान छुड़ाने के लिए बड़ी-बड़ी राशि दी जाती है, यह समझ से परे की बात है। वास्तव में असली मालिक किराएदार बन बैठे हैं। पुद्गल आया था छाछ के लिए और मालिक बन बैठा। आत्मा के रहने के लिए कहीं स्थान नहीं बचा। उसने पूरे स्थान पर कब्जा जमा लिया। बड़ी विचित्र स्थिति बन गई है। व्यक्ति का निषेधात्मक भावों में जितना आकर्षण है, तोड़-फोड़, हिंसा, उपद्रव आदि में जितना आकर्षण है, उतना विधायक भावों में नहीं है। दूसरे को बुरी बात कहना, बुरे विचार में ले जाना मनुष्य का स्वभाव-सा बन गया है। सारे लोग प्रवाह में बह जाते हैं। कोई अच्छी बात कहता है तो उसे सुनने वाला भी नहीं मिलता। पुद्गल से आवृत चैतन्य इस स्थिति में पहुंच जाता है।

सन्देह का बिन्दु

पुद्गल ने एक प्रकार से व्यक्ति के सारे अस्तित्व को सन्दिग्ध बना दिया है। आज सचमुच मनुष्य का वास्तविक अस्तित्व संदिग्ध है और पुद्गल का अस्तित्व असंदिग्ध है। आत्मा के विषय में अनेक व्यक्ति संदिग्ध बन जाते हैं किन्तु पुद्गल है या नहीं, यह संदेह शायद ही किसी के मन में उपजता हो।

दर्शन जगत् की सबसे विवादास्पद चर्चा है—आत्मा है या नहीं? इन्द्रभूति जैसे महामनीषी और धुरंधर विद्वान् के मन में भी प्रश्न था—आत्मा है या नहीं? ढाई हजार वर्ष पहले भी यह संदेह था, आज भी यह संदेह है और ढाई हजार वर्ष बाद भी यह संदेह बना रहेगा। किन्तु पुद्गल है या नहीं, यह संदेह पांच हजार वर्ष पहले भी नहीं था, आज भी नहीं है और दस हजार वर्ष बाद भी नहीं रहेगा। जहां पुद्गल का एकाधिकार है, एकछत्र साम्राज्य है, वहां योगक्षेम की बात संभव प्रतीत नहीं होती।

बाधा कैसे मिटे?

शिष्य बोला—‘महाराज! क्या इस बाधा को मिटाया जा सकता है, योगक्षेम की ओर प्रस्थान किया जा सकता है?’

गुरु ने कहा—‘उपाय तो हो सकता है पर वह कारगर तभी बन पाएगा, जब व्यक्ति का मानस बने। बिना मानस बने कोई भी उपाय सफल नहीं हो सकता।’

दो लड़के बात कर रहे थे। एक लड़का बोला—‘मेरे पिता ने मुझसे कहा—यदि तुम बुराई छोड़ दो तो एक लाख रुपये दूंगा।’

मित्र ने पूछा—‘तुमने लिए या नहीं?’

‘नहीं लिए।’

‘अरे! कितने भोले आदमी हो! एक लाख रुपये मिल रहे थे और तुमने नहीं लिए?’

‘यदि बुराईयों को छोड़ दूंगा तो लाख रुपयों का क्या करूँगा?’

जब तक बुराई को छोड़ने का संकल्प नहीं जागो, तब तक व्यक्ति को बदला नहीं जा सकेगा। पहले यह संकल्प जागे—मुझे पुद्गल के एक छत्र साम्राज्य को तोड़ना है। उसका जो एक लोहावरण बन गया है, उस लोहावरण को तोड़ना है। यह संकल्प जागे, बुराई को छोड़ने की भावना जागे तो उपाय संभव हो सकता है।

शिष्य ने कहा—गुरुदेव! मैं उपाय जानना चाहता हूँ और बुराईयों को छोड़ना भी चाहता हूँ। आप कृपा कर मुझे बताएं।

गुरु ने कहा—‘मैं पुद्गल नहीं हूँ, चिद्रूप हूँ, आत्मा हूँ, चैतन्य हूँ,’ यह भेदविज्ञान की साधना योगक्षेम को जानने का उपाय है।

योगक्षेमस्य संवित्ते, उपायोऽसौ निदर्शितः।

नो पुद्गलोस्मि चिद्रूप, इति भेदस्य साधना॥

जरूरी है विकल्प

पुद्गल के एकछत्र साम्राज्य का यह एक सशक्त विकल्प है। सामने कोई अच्छा विकल्प होता है तो बड़ी से बड़ी बाधा को भी जीता जा सकता है। जब तक सामने कोई विकल्प न हो तब तक वह अपना शासन चलाता रहता है।

एक दावत में अनेक नास्तिक लोग उपस्थित हुए। चर्चा चली धर्म पर। एक नास्तिक ने कहा—‘दुनिया को सबसे ज्यादा खराब करने वाले धर्म को सहा जा रहा है, इससे ज्यादा मूर्खता की बात और क्या होगी? जिस धर्म ने हत्याएं करवाई, रक्तपात करवाए, भूमि को रक्तरंजित करवाया, गले कटवाए, उस धर्म को आज भी सहा जा रहा है, यह बहुत दुर्भाग्यपूर्ण है।’ तर्क बहुत तीक्ष्ण था। नास्तिक लोग भी इस दावत में सम्मिलित थे। एक नास्तिक ने कहा—‘आप बिल्कुल ठीक कह रहे हैं। धर्म को सहा जा रहा है क्योंकि दुनिया के किसी भी नास्तिक ने उससे बढ़िया विकल्प सामने नहीं रखा। अगर धर्म का कोई बढ़िया विकल्प सामने आता तो धर्म को भी उतार कर फेंक दिया जाता किन्तु किसी भी नास्तिक ने धर्म से बढ़िया विकल्प आज तक प्रस्तुत नहीं किया।’ सारे नास्तिक इस तर्क को सुनकर अवाक् रह गए।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक कार्ल गुस्ताव युंग ने लिखा—एक धर्म जितनी समस्याओं का समाधान देता है, हजारों मनोवैज्ञानिक भी अभी तक उतने समाधान नहीं दे पाए हैं।

मुक्त कौन : बंधा हुआ कौन?

‘आत्मा अन्य है और पुद्गल अन्य है’ धर्म का यह सबसे शक्तिशाली मंत्र है। इससे पुद्गल के एकछत्र साम्राज्य को तोड़ा जा सकता है। यह एक प्रभेपास्त्र है, शक्तिशाली अस्त्र है। शायद इससे बड़ा धर्म के पास कोई हथियार नहीं है। यदि यह पूछा जाए—धर्म का सबसे ज्यादा शक्तिशाली अस्त्र कौन सा है? उत्तर होगा—भेद-विज्ञान। आत्मा अलग और शरीर अलग, चेतना अलग और पुद्गल अलग, इस सत्य की अनुभूति भेदविज्ञान है। एक आचार्य ने लिखा—

भेदविज्ञानतो सिद्धाः, सिद्धा ये किल केचन।

भेदाऽविज्ञानतो बद्धाः, बद्धा ये किल केचन॥

दुनिया में आज जितने मुक्त हैं, वे भेद-विज्ञान के कारण हुए हैं। जितने बंधन में हैं, वे भेद-विज्ञान के अभाव में बंधे हुए हैं।

मुक्ति और धर्म का सबसे शक्तिशाली अस्त्र है—भेद-विज्ञान, ‘मैं पुद्गल नहीं हूँ’ इसका बोध होना। जिस दिन यह बोध होता है, पुद्गल का एक छत्र साम्राज्य टूटने लग जाता है। उसमें इतना बड़ा छेद हो जाता है कि वह टूटता ही चला जाता है।

भेद-विज्ञान : दृष्टान्त

भेद-विज्ञान का अनुभव किए बिना कोई भी व्यक्ति अध्यात्म की साधना में सफल नहीं हो सकता। जिसे योगक्षेम की ओर प्रस्थान करना है, असंयम से संयम की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर जाना है, उसके लिए शायद इससे बड़ा आकर्षण का मंत्र नहीं होगा। इसीलिए जैन परम्परा के महान् आचार्यों ने भेद-विज्ञान पर बहुत बल दिया। भेद-विज्ञान का अर्थ है विवेक करना, गेहूँ और कंकरो को अलग कर देना। आचार्य भिक्षु के कुछ उदाहरण इस संदर्भ में अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं—तिल से तेल को अलग कर देना। छाछ से मक्खन को अलग कर देना। सोने और मिट्टी को अलग कर देना। ‘तेरह द्वार’ ग्रन्थ में पृथक्करण की प्रक्रिया के निदर्शन उपलब्ध हैं—कोल्हू के द्वारा तिल और तेल को अलग किया जाता है। मथानी का उपयोग करके छाछ और मक्खन को अलग किया जाता है। अग्नि का उपयोग करके सोने और मिट्टी को अलग किया जाता है, वैसे ही चेतना और पुद्गल को भेद-विज्ञान की साधना से अलग किया जा सकता है।

धर्म की पहली और अन्तिम साधना

धर्म की पहली और अन्तिम साधना है भेद-विज्ञान। प्रश्न है अभ्यास और प्रयोग का। अभ्यास के बिना न तो भेद में रस आएगा और न उसकी सिद्धि होगी। यह माना जाता है—नेपोलियन धर्म के विरुद्ध था। संस्थागत धर्म के विरुद्ध नेपोलियन ने क्रांति की। वह धर्म को नहीं मानता था फिर भी वह बहुत समझदार शासक था, बुद्धिमान् था, वास्तविकता को जानता था। समाज का संगठन कैसे चलता है, वह इस बात को भी जानता था। समाज कुछ नैतिक मूल्यों पर आधारित होना चाहिए, इस बात से भी वह परिचित था। एक बार

लड़कियों के स्कूल की योजना बनी। वह नेपोलियन के सामने रखी गई। नेपोलियन ने योजना को पढ़ा, सारे नियमों को पढ़ा। उसमें एक नियम था—छात्राएं हफ्ते में दो बार प्रार्थना किया करेंगी। नेपोलियन ने तत्काल पैसिल हाथ में ली और उस नियम को काट कर लिख दिया—छात्राएं प्रतिदिन प्रार्थना किया करेंगी। प्रार्थना सप्ताह में दो दिन नहीं, प्रतिदिन हो। क्या प्रार्थना दो दिन की होती है? क्या यह भी काल-बद्ध नियम है?

दो दिन प्रार्थना और पांच दिन आराम, इस प्रार्थना का कोई अर्थ ही नहीं है। 'आत्मा भिन्न और शरीर भिन्न' यदि इसे दो दिन रटें और पांच दिन भुला दें तो इसका कोई अर्थ नहीं होगा। यह धर्म का शक्तिशाली मंत्र व्यक्ति के मन में रम जाए और दिन में जब कभी भी चेतना की थोड़ी-सी जागरूकता बढ़े, यह बात समझ में आ सकती है किन्तु वह जागने के बाद भी जागृत नहीं रहता। वह दिन में अनेक बार जागता हुआ भी सोया रहता है। जब क्रोध आता है, आदमी सो जाता है। जब घृणा, अहंकार या मूर्च्छा का भाव जागता है, आदमी जागृत नहीं रहता। जितने भी निषेधात्मक भाव हैं, मनुष्य के जागरण में बाधक बनते हैं। निषेधात्मक भावों में जीने वाला जागते हुए भी सोया रहता है।
संदर्भ कर्म-विपाक का

यदि एक नए साधक को ध्यान में नींद आ जाए तो बात समझ में आ सकती है किन्तु जिनको साधना करते तीस-चालीस वर्ष बीत गए, यदि वे भी जप के समय, ध्यान और साधना के समय नींद लेते हैं तो इसका अर्थ होगा—उनका अभी भेद-विज्ञान की दिशा में प्रस्थान नहीं हुआ है। कर्म का विपाक भी विचित्र होता है। ज्ञानावरण और दर्शनावरण का उदय तथा विपाक भी विचित्र होता है, मोह के प्रभाव भी विचित्र हैं। एक ही तराजू से सबको नहीं तोला जा सकता, एक ही आंख से सबको देखा नहीं जा सकता। इतनी विचित्रता के उपरांत भी न्यूनतम विकास प्रत्येक साधक में होना चाहिए। गरीब कोई हो सकता है पर एक वह गरीब, जो गरीबी की रेखा से नीचे जीता है, समाज विकास के लिए बड़ा खतरनाक होता है। जैसे व्यक्ति गरीबी की रेखा से नीचे न जाए वैसे ही साधक न्यूनतम मर्यादा से नीचे न जाए, वह अपेक्षित है। अधिकतम विकास काल के परिपाक से होगा, काललब्धि पकने के साथ-साथ होगा किन्तु न्यूनतम विकास की बात का निर्धारण आवश्यक है। 'आत्मान्यः पुद्गलश्चान्यः' यदि यह सूत्र प्रतिदिन बार-बार व्यक्ति के मानस में उभरता रहे तो न्यूनतम मर्यादा वाली बात संभव बन पाएगी।

साधक की मर्यादा

साधक की मर्यादा है सम्यक् दर्शन। आत्मा और पुद्गल के भेद का स्पष्ट अनुभव नैश्चयिक सम्यक् दर्शन है। यह सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य भी है। आत्मा और पुद्गल के भेद का अनुभव करना और आत्मा में रमण करना, यह निश्चय नय मं सम्यक् चारित्र्य है और इसी का नाम है—सम्यक् ज्ञान। सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की त्रिपदी इस सूत्र में समाविष्ट है। यदि इस दिशा में प्रस्थान नहीं होता है तो मानना होगा—जो परमात्मा जागना चाहिए,

वह जागा नहीं है, अपना प्रभु जागा नहीं है। इतने वर्ष के बाद जो जागना चाहिए, वह सोया का सोया पड़ा है। मंदिर में भगवान् को रोज जगाया जाता है। पुजारी आता है और भगवान् को जगाता है। यदि पुजारी नहीं आए तो भगवान् सोया ही रहता है। यह योगक्षेम में सबसे बड़ी बाधा है। जिसे जगना चाहिए, वह सोया हुआ है और जिसे सोना चाहिए, वह जगा हुआ है।

कैसे जगाए : कैसे सुलाएं

स्थानांग सूत्र में बतलाया गया है—जो मिथ्यादृष्टि या अग्रती है, उसके पांच जागे हुए हैं और जो साधु, श्रावक या सम्यक् दृष्टि है, उसके पांच सोए हुए हैं। पांच इन्द्रियां या पांच इन्द्रियों के विषय एक अविरत व्यक्ति के जागे हुए हैं और विरत व्यक्ति के सोए हुए हैं। कभी-कभी ऐसा होता है—जिस चेतना को जागना चाहिए, वह तो सोई हुई रह जाती है किन्तु जिन इन्द्रियों और विषयों को सोना चाहिए, वे जागे हुए रह जाते हैं। यह विपर्यास है। इसको मिटाए बिना योगक्षेम की ओर प्रस्थान सम्भव नहीं बनता।

प्रत्येक साधक को इस बात का निरन्तर चिन्तन करना चाहिए—उसे कैसे सुलाना है और कैसे जगाना है? जो जागना चाहिए, वह जगा या नहीं? जिसे सोना चाहिए, वह सोया या नहीं? यदि ये प्रश्न उभरते हैं तो विकास का मार्ग स्पष्ट होता चला जाता है। विकास की न्यूनतम मर्यादा है—‘आत्मा अलग और पुद्गल अलग’ इस बात की निरन्तर स्मृति। जब यह तथ्य विस्मृत होता है, तब प्रश्न उभरता है—क्यों नहीं हो रहा है योगक्षेम की ओर प्रस्थान और जब यह तथ्य सतत स्मृति में रहता है तब यह प्रश्न समाहित हो जाता है। उस समय व्यक्ति का मानस बोल उठता है—हो रहा है योगक्षेम की ओर प्रस्थान।

रूपान्तरण का प्रतिनिधि ऋषि

अरण्य का निर्जन स्थान। पांच सौ चोरों का एक घेरा और उनसे घिरा हुआ एक मुनि। नाम था कपिल। चोरों ने जांच की किन्तु मुनि के पास कुछ भी नहीं था। पल्लीपति ने कहा—यह तो कोई भिक्षु है इसके पास कुछ भी नहीं है। इसे छोड़ दो। मुनि को छोड़ दिया गया। मुनि मार्ग पर आगे बढ़ने लगे। पल्लीपति ने पुनः कहा—मुनिवर! आप जा रहे हैं, जाते-जाते गीत तो सुना दीजिए। चोरों की प्रार्थना पर मुनि ने एक अध्ययन गा दिया। उत्तराध्ययन का आठवां अध्ययन कपिल मुनि द्वारा उच्चरित है। उसका ध्रुवपद है—

*अधुवे असासयम्मि संसारम्मि दुःख पउराए।
किं नाम होज्ज तं कम्मयं, जेणाहं दोग्गइं न गच्छेज्जा।।*

कपिल मुनि ने कहा—यह संसार अध्रुव है, अशाश्वत है और दुःख बहुल है। ऐसा कौनसा कर्म—अनुष्ठान है, जिससे मैं दुर्गति में न जाऊँ?

इस ध्रुवपद में चोर उलझ गए। कोई-कोई ऐसा समय होता है, व्यक्ति के अंतर्मन में एक प्रश्न उभर जाता है। 'वह कौन-सा कर्म है जिससे हमारा भविष्य उज्ज्वल बने!' इस प्रश्न ने चोरों के मानस को प्रकंपित कर दिया। हर व्यक्ति के मन में अपना भविष्य उज्ज्वल बनाने की आकांक्षा होती। चोरों के मन में भी यही स्वर प्रतिध्वनित होने लगा। वे अपने आप इस प्रश्न का समाधान पाने के लिए तत्पर हो गए।

विकास और सफलता का सबसे बड़ा हेतु है अपने आप से प्रश्न पूछना।

थावच्चापुत्र ने अपने आप से प्रश्न पूछा—यह गीत क्या है? केवल इस प्रश्न ने थावच्चापुत्र को बिलकुल बदल दिया। पहले अपने आप से पूछा और फिर मां से पूछा। अपने मन में जो प्रश्न जगा, वह थावच्चापुत्र के रूपान्तरण का हेतु बन गया। नचिकेता ने पूछा—यह मृत्यु क्या है? इस मृत्यु के प्रश्न ने नचिकेता को अमर बना दिया। वह मृत्यु से अमरत्व की ओर चला गया। मार्क्स का लड़का गरीबी के कारण भूख से तड़फ रहा था और भूख से तड़फते-तड़फते जब उसने प्राण त्याग दिया तब मार्क्स के मन में एक प्रश्न उठा—यह भूख क्या है? इस प्रश्न ने मार्क्सवाद या साम्यवाद को जन्म दे दिया।

जिस व्यक्ति ने गहराई में जाकर अपने आप से कोई प्रश्न पूछा है उसे समाधान मिला है, इसीलिए यह बहुत प्रेरक बात हो सकती है—

*प्रश्नः प्रश्नः पुनः प्रश्नः, स्वं प्रति प्रतिपद्यताम्।
उत्तरे परिवर्तेत, स्वयं प्रश्नः समाहितः।।*

पूछो-पूछो, अपने आप से पूछो, बार-बार पूछो। प्रश्न स्वयं समाहित होकर उत्तर में बदल जाएगा।

जरूरत है प्रश्न करने की, पूछने की। चोरों के मन में एक प्रश्न उठा—वह कौनसा कर्म है, जिससे हमारा भविष्य सुधरे। इस प्रश्न ने समाधान दे दिया और सबके सब चोर अचोर बन गए। जो क्रूर कर्म करने वाले थे, वे कपिल के निकट आ गए, उसके शिष्य बन गए। चोर चोर नहीं रहे।

कला है अपने आपसे प्रश्न पूछना

प्रत्येक व्यक्ति को अपने आप से यह पूछना चाहिए—वह कौन-सा कर्म है, जिसके द्वारा मेरा भविष्य उज्ज्वल हो सकता है। वह कौन-सा कर्म है, जिससे निराशा को आशा में बदला जा सकता है, अधोगति को ऊर्ध्वगति में बदला जा सकता है। वह कौन-सा कर्म है, जिससे मृत्यु को अमरत्व में बदला जा सकता है।

एक राजा के मन में भी यही प्रश्न उभरा। राज्य परम्परा थी—राजा को एक अवधि के पश्चात् राज्य को छोड़ देना होता। राज्य छोड़ने के बाद उसे जंगल में भगवान् भरोसे छोड़ दिया जाता। एक समय जो राजा है, वह अमुक समय के बाद गद्दी पर नहीं रह सकता, उस नगर में भी नहीं रह सकता। उसे जीवन का शेष समय जंगल में बिताना पड़ता। यह वहाँ की परम्परा थी। अनेक पीढ़ियों से यह परम्परा चल रही थी। प्रत्येक राजा उसे निभाए जा रहा था। एक राजा के मन में प्रश्न उभरा—अभी मैं सब कुछ हूँ, सर्वेसर्वा हूँ और वह समय भी आने वाला है जब मुझे जंगल में छोड़ दिया जाएगा, फिर क्या होगा? प्रकाश से अन्धकार की ओर जाना है, सुखद स्थिति से दुःखद स्थिति की ओर जाना है। क्या मैं इस क्रूर नियति को बदल नहीं सकता? वह कौन-सा कर्म है, जिससे मैं इस नियति को बदल सकूँ। राजा के मन में यह प्रश्न जगा, वह इसकी गहराई में गया और उसे समाधान मिल गया।

जिस जंगल में राजा को छोड़ा जाता था, राजा ने उसे अत्यन्त भव्य और आरामदेह बना दिया। उसने उस जंगल में सब-सुविधाओं से पूर्ण आलीशान महल बनवा लिया। वह राज्य से भुक्त हुआ और परम्परानुसार उस जंगल में चला गया किंतु अब वह जंगल-जंगल नहीं रहा, एक मनोरम, भव्य व चित्ताकर्षक स्थल बन गया। राजा को यह अनुभव ही नहीं हुआ कि वह राज्य से च्युत हुआ है।

जो व्यक्ति वर्तमान में प्रश्न का मूल्य समझ लेता है वह भविष्य का निर्माण कर सकता है। राजा ने सचमुच अपने भविष्य का निर्माण कर लिया। वह बड़ी शांति के साथ जीवन जीने लगा।

अपने आपसे प्रश्न पूछना एक कला है। इसको सीखना आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति प्रतिदिन अपने आपसे यह प्रश्न पूछे—वह कौन-सा कर्म है, जिससे जो भविष्य आज है उससे कल और अच्छा बन सके। प्रतिदिन यह प्रश्न पूछा जाए तो विकास का, नए निर्माण का मार्ग प्रशस्त हो सकता है।

कपिल : चाह से अचाह की ओर

ब्राह्मण का नाम था कपिल। राजा के पुरोहित का पुत्र। उसने एक दिन देखा—मां रो रही है। मां का रोना उसे अच्छा नहीं लगा। वह मां के पास गया और बोला—‘मां! तुम क्यों रो रही हो! अपने घर में कोई कमी नहीं है और मैं तुम्हारे प्रति विनम्र हूँ, आज्ञाकारी हूँ। तुम चाहो वैसा करूँ फिर तुम्हें रोने की जरूरत क्या है?’

‘बेटा! तुम इस बात को मत पूछो?’

‘नहीं मां! मैं जानना चाहता हूँ।’

‘बेटा! आज तुम्हारे घर के आगे से घोड़े पर सवार आदमी गुजरा था, उसके सिर पर छत्र था। एक दिन तेरे पिता भी ऐसे ही जाते थे। वे राजपुरोहित थे किन्तु अचानक चल बसे। तू छोटा था। राजा ने दूसरे व्यक्ति की नियुक्ति कर दी। आज उसे देखा तो मुझे उन दिनों की स्मृति आ गई और आंखों से आंसू बरस पड़े।’

‘मां! उसे राजपुरोहित बनाया, मुझे क्यों नहीं बनाया?’

‘बेटा! तू पढ़ा-लिखा नहीं था।’

‘क्या पढ़ने से वह पद मुझे मिल सकता है?’

‘हां। पर यहां व्यवस्था नहीं है। तू श्रावस्ती में चला जा। वहां तेरे पिता का एक मित्र है, वह तुझे पढ़ा सकता है।’

वह श्रावस्ती चला गया। उसने पढ़ाई की और होशियार भी हो गया पर उसके साथ एक समस्या भी जुड़ गई। उसका एक युवती के साथ सम्पर्क स्थापित हो गया। वह युवती दासकन्या थी। एक बार दास महोत्सव मनाया जा रहा था। दासकन्या ने कहा—‘मेरे पास पैसे नहीं हैं।’

कपिल बोला—‘पैसा तो मेरे पास भी नहीं है।’

दासकन्या ने उपाय बताया—‘एक बात सुनो। यहां प्रातःकाल राजा के पास जो सबसे पहले जाता है, वह उसे दो मासा सोना देता है। आप वहां जाएं। आपको पैसा मिल जाएगा और मेरा काम बन जाएगा।’

कपिल को नींद नहीं आई। वह जल्दी उठकर रात को ही घर से चल पड़ा। पुलिस ने उसे पकड़ लिया। पुलिस ने सोचा—कौन रात में घूम रहा है? कोई चोर होगा? प्रातः उसे राजा के सामने प्रस्तुत किया गया। उसने राजा को सारी घटना सही-सही बता दी। राजा को उसकी बात पर विश्वास हो गया। राजा ने कहा—‘मैं तेरी सचाई से प्रसन्न हूँ। अब जो चाहो, मांग लो।’

कपिल ने कहा—‘आप मुझे जरा सोचने का मौका दें। वह एकांत में चला गया, उसने चिंतन करना शुरू किया। उसने सोचा—जब राजा खुश है तब दो मासा सोना ही क्यों मांगू? मैं उससे ज्यादा भी मांग सकता हूँ। भीतर की मांग बढ़ती चली गई। वह बढ़ते-बढ़ते करोड़ों तक पहुंच गई और राजा से राज्य मांग लेने की बात भी मन में उभर आई। उस समय कपिल के मन में एक प्रश्न उठा—

पृष्टवान् कपिलः प्रश्नमन्तः शान्तमना अमुम् ।

कोट्या तृप्तो भविष्यामि? स्वयं संबुद्धतां गतः ॥

अत्यन्त शांत मन से कपिल ने अपने आप से पूछा—क्या करोड़ों की संपत्ति पाकर मैं तृप्त हो जाऊंगा? और इस प्रश्न को पूछते-पूछते वह स्वयं सम्बोधि को प्राप्त हो गया।

‘क्या करोड़ों से मैं तृप्त हो जाऊंगा?’ वह इससे आगे नहीं चल सका, वहीं थम गया। हवा थम गई। वातावरण बिल्कुल नीरव बन गया। उत्ताल तरंगों वाला समुद्र जैसे स्थिर हो गया। बिलकुल शांत खड़ा है कपिल। उस समय उसे जाति-स्मरण ज्ञान हुआ, पूर्वजन्म का स्मरण हुआ, पूर्व की सारी घटनाएं साक्षात् हो गईं।

राजा ने सोचा—ब्राह्मण का लड़का आया ही नहीं। राजा को पता चला, वह एकदम शांत खड़ा है। राजा उसके पास गया, बोला—‘तुम क्या चाहते हो?’

उसने कहा—‘मुझे कुछ भी नहीं मांगना है। मुझे कुछ नहीं चाहिए।’

राजा विस्मय से भर गया। यह रूपान्तरण कैसे हुआ? आकृति बदल गई, चेहरा बदल गया, भावभंगिमा बदल गई।

राजा ने पूछा—‘क्यों नहीं चाहिए?’

कपिल ने कहा—‘मैंने अपने आप से प्रश्न पूछा और मुझे समाधान मिल गया। अब मेरी चाह मिट गई है।’

रूपान्तरण का प्रतिनिधि ऋषि

बहुत महत्वपूर्ण बात है अपने आपसे प्रश्न पूछना। लोग दूसरों से प्रश्न पूछना बहुत जानते हैं किन्तु अपने आपसे पूछना बहुत कम जानते हैं। यदि अपने आपसे पूछना सीख जाएं तो दूसरों से पूछने की जरूरत कम हो जाए।

अब कपिल वह कपिल नहीं रहा। राजा कपिल के संकल्प के आगे प्रणत था। वह रूपान्तरण का प्रतिनिधि ऋषि बन गया। व्यक्ति में कैसे रूपान्तरण होता है, इसका प्रतिनिधि उदाहरण है कपिल।

प्रश्न होता है—क्या व्यक्ति इतना बदल सकता है? क्या व्यक्तित्व का इतना रूपान्तरण सम्भव है? आज मनोविज्ञान ने व्यक्तित्व के परिवर्तन की बहुत समीक्षा की है। यह मनोविज्ञान का मुख्य विषय बन गया है। क्या व्यक्ति परिवर्तित होता है? और होता है तो कैसे होता है? उसका प्रेरक-तत्त्व क्या है? उसके उद्दीपन क्या हैं? आदि-आदि विषयों पर मनोविज्ञान ने विस्तृत विमर्श किया है।

परिवर्तन के घटक तत्त्व

व्यक्तित्व में परिवर्तन होता है किन्तु वह धीरे-धीरे बदलता है। आज ही साधना शुरू की और आज ही रूपान्तरण हो जाए, ऐसी घटना कभी-कभी होती है। डाकू अचानक संत बन जाता है और बिलकुल अकिंचन भावना से ओत-प्रोत हो जाता है, पर ये घटनाएं असामान्य घटनाएं हैं। मनोविज्ञान की दो शाखाएं हैं—असामान्य मनोविज्ञान और सामान्य मनोविज्ञान। ये असाधारण घटनाएं हैं, इनको सामान्य घटना नहीं कहा जा सकता। ये कभी-कभी घटित होती हैं,

किसी-किसी व्यक्ति में घटित होती हैं। एक साथ आदमी नहीं बदलता। सामान्यतः परिवर्तन शनैः शनैः होता है। व्यक्तित्व में परिवर्तन अन्तःइच्छा से भी होता है और प्रभाव से भी। परिवर्तन स्वतः भी होता है और परोपदेश से भी होता है—

शनैः शनैरन्तरिच्छाकृतं क्वचित् प्रभावतः।

स्वतः परोपदेशाद् वा, व्यक्तित्वे परिवर्तनम्॥

अन्तर्द्वन्द्व में जी रहा है आदमी

व्यक्ति में जो परिवर्तन होता है, वह चेतन-इच्छा से परे होता है। आदमी बदलना चाहता है, उसके मन में बदलने की इच्छा है किन्तु जब तक वह स्थूल-चेतना के स्तर पर है, उसे बदलना मुश्किल है। आचार और व्यवहार का निर्धारण होता है अवचेतन मन के स्तर पर। एक व्यक्ति की कोई आदत है, स्वभाव है, प्रकृति है, उसका कारण अवचेतन मन में विद्यमान है। किसी को क्रोध ज्यादा आता है, किसी में अहंकार अथवा लोभ ज्यादा है। इन सबका मूल स्रोत है अवचेतन मन। कर्मशास्त्र की भाषा में ये सारे प्रवाह, ये सारे प्रकम्पन कर्मशरीर से आ रहे हैं। चेतन में क्रोध उभरता है। व्यक्ति सोचता है—यह काम करना अच्छा नहीं है, क्रोध करना अच्छा नहीं है। यह चिन्तन उसके चेतन मन में उभरता है। वह देखता है—क्रोध करने वाले को भर्त्सना मिलती है। क्रोध करने वाले से लोग सम्पर्क नहीं रखते, उसकी उपेक्षा करते हैं। उसके मन में एक इच्छा जागती है—क्रोध नहीं करना चाहिए। यह इच्छा चेतन मन के स्तर पर जागती है किन्तु क्रोध का प्रवाह अवचेतन मन से आता है। जो भीतर से आ रहा है, वह बाहर की इच्छा को कैसे स्वीकार करेगा? क्यों मानेगा? वह उस काम को करता चला जाता है। वह बहुत बार कहता है—मैं अब क्रोध नहीं करूंगा, किन्तु प्रसंग आते ही वह क्रोध में चला जायेगा।

परिवर्तन का सूत्र

व्यक्ति चाहता कुछ है और करता कुछ। चेतन मन और अचेतन मन का यह एक अन्तर्द्वन्द्व है। स्थूल चेतना बुराई को छोड़ना चाहती है किन्तु भीतरी चेतना का ऐसा धक्का आता है, बन्द दरवाजा एकदम खुल जाता है, स्थूल चेतना के द्वारा उसे रोकना सम्भव नहीं बनता। जब तक स्थूल चेतना की इच्छा अवचेतन मन की इच्छा नहीं बनती तब तक व्यक्तित्व के रूपांतरण की बात सम्भव नहीं बनती। जब तक बाहरी इच्छा आंतरिक नहीं बन जाए तब तक परिवर्तन सम्भव नहीं है। रूपान्तरण का यह सूत्र कायोत्सर्ग के मूल्यांकन से उपलब्ध हो सकता है। कायोत्सर्ग में स्थूलचेतना को शान्त कर दिया जाता है, शरीर को भी शान्त कर दिया जाता है और उस स्थिति में अपने आपको जो सुझाव दिए जाते हैं, जो संकल्प किया जाता है, वह अवचेतन मन तक पहुंच जाता है, बाहर से भीतर तक चला जाता है। यह परिवर्तन का एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु है। जब सुझाव अवचेतन मन को प्रभावित करते हैं, बाहर से भीतर तक पहुंच जाते हैं तब रूपांतरण की संभावना बनती है।

सम्मोहन की स्थिति में भी ऐसा ही होता है। सम्मोहन में व्यक्ति की बाहरी चेतना को सुला दिया जाता है। उस समय उसकी भीतरी चेतना सक्रिय

बन जाती है। इस स्थिति में भी परिवर्तन की बात सम्भव बनती है। बहुत सारी जटिल आदतें, जिन्हें छोड़ना सम्भव नहीं लगता, वे सम्मोहन में सुझाव देने से छूट जाती हैं। एक व्यक्ति तम्बाकू पीता है। वह उसके लिए अत्यन्त हानिकारक है। यह जानते हुए भी, उसे छोड़ने की इच्छा होते हुए भी वह उसे छोड़ नहीं पाता। यदि उस व्यक्ति को सम्मोहन की स्थिति में ले जाकर तम्बाकू से मुक्ति का सुझाव दिया जाए तो सम्भव है—उसकी तम्बाकू पीने की आदत छूट जाए। व्यक्ति की आंतरिक इच्छा उस बात को पकड़ लेती है और वह व्यक्ति सदा सदा के लिए उससे मुक्ति पा लेता है। ऐसा भी होता है—उसके बाद जब कभी तम्बाकू उसके सामने आती है, उसे ग्लानि का अनुभव होता है।

स्थूल चेतना और सूक्ष्म चेतना के इस अन्तर्द्वन्द्व को समझना आवश्यक है। समाज में रहने वाला, सामाजिक जीवन जीने वाला व्यक्ति अच्छे आचरण को पसन्द करता है। कोई भी सामाजिक प्राणी यह नहीं चाहता—मुझे तिरस्कार मिले, तर्जना मिले, मुझे किसी के सामने सर झुकाना पड़े। किन्तु जब भीतर का वेग प्रबल होता है, आवेग उभरता है, तब चेतन मन बिलकुल सो जाता है और व्यक्ति अकरणीय काम कर लेता है। इस द्वंद्व से छुटकारा पाने का, अपने आपको रूपान्तरित करने का उपाय है आंतरिक इच्छा के साथ बाहरी इच्छा का सम्पर्क कर देना, आन्तरिक इच्छा तक अपनी बात को पहुंचा देना।

व्यवहार का निर्धारक है कर्मशरीर

व्यक्ति का सारा व्यवहार भीतरी चेतना चला रही है। कर्मशास्त्र की भाषा में कहें तो सारे व्यवहार का निर्धारक तत्त्व है कर्मशरीर। तैजस शरीर और औदारिक शरीर—ये दोनों व्यवहार के निर्धारक नहीं हैं। यदि कर्मशरीर को प्रभावित कर सकें तो परिवर्तन की संभावना की जा सकती है। यदि कर्मशरीर को प्रभावित न कर सकें तो परिवर्तन की संभावना ही नहीं हो सकती। कायोत्सर्ग मनोविज्ञान की प्रक्रिया भी है और अध्यात्म विज्ञान की प्रक्रिया भी है। अध्यात्म और विज्ञान का यही एक सूत्र है, जिससे परिवर्तन को सम्भव बनाया जा सकता है। अन्यथा कायोत्सर्ग जैसी विधि का कोई आकलन या मूल्यांकन नहीं होता। कायोत्सर्ग परिवर्तन का आधार बनता है किन्तु समस्या यह है—वर्तमान व्यक्ति को प्रवृत्ति जितनी प्रिय है, निवृत्ति उतनी प्रिय नहीं है।

अकर्म से बदलता है कर्म

मैंने एक प्रबुद्ध आदमी से कहा—आप ध्यान में क्यों नहीं आते? उसने उत्तर दिया—मेरा ध्यान में विश्वास नहीं है। एक घण्टा तक मैं पढ़ूँ, लिखूँ, स्वाध्याय करूँ तो काम की बात होगी पर आंख मूंदकर निकम्मा बैठना मुझे पसन्द नहीं। मुझे बड़ा अजीब-सा लगा। मैंने सोचा—इतना पढ़ा-लिखा, धर्म को जानने वाला ऐसी बात कर सकता है? एक बौद्धिक व्यक्ति को ऐसा लग सकता है किन्तु जब व्यक्तित्व के परिवर्तन की बात सोचते हैं तब यह तर्क टिकता नहीं है। जहाँ रूपान्तरण का प्रश्न है, परिवर्तन का प्रश्न है, वहाँ कर्म से अकर्म की ओर जाना होगा। अब तक अकर्म के विन्दु को नहीं पकड़ा जाएगा तब तक

व्यक्तित्व का रूपान्तरण नहीं होगा, कर्म का बिन्दु परिवर्तित नहीं होगा। केवल कर्म से कर्म नहीं बदलता।

महावीर ने अनुभव की वाणी में कहा—‘न कम्मुणा कम्म खवेति धीरा’ कर्म से कर्म को नहीं खपाया जा सकता। स्वभाव के पीछे प्रेरणा है कर्म। कोई प्रयत्न उसे मिटा नहीं सकता। यदि अकर्म करें तो कर्म अपने आप नष्ट हो जाएगा, आदत अपने आप बदल जाएगी। अकर्म से ही कर्म को समाप्त करने की बात सोची जा सकती है। कर्म एक भूत की तरह है। यदि कोई भूत से लड़ता है तो उसकी शक्ति दुगुनी बढ़ जाती है, उसका बल दुगुना हो जाता है। भूत से बचने का सबसे बड़ा उपाय है कायोत्सर्ग की मुद्रा में खड़ा हो जाना।

कायोत्सर्ग एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें आदतों को बदलने का, स्वभाव परिवर्तन का महत्त्वपूर्ण सूत्र उपलब्ध होता है। कहा गया—अकर्म से कर्म को क्षीण करो। कायोत्सर्ग एक अकर्म है, ध्यान एक अकर्म है। जब व्यक्ति अकर्म में चला जाता है, कर्म बेचारे कांप उठते हैं। जब तक यह अकर्म की बात समझ में नहीं आएगी तब तक रूपांतरण की बात भी समझ में नहीं आ पाएगी। कहा जाता है—खाली बैठना, खाली रहना अच्छा नहीं है। प्रसिद्ध कहावत है—खाली दिमाग शैतान का घर। वस्तुतः यह कहने वालों ने सचाई को ठीक पकड़ा नहीं। खाली दिमाग शैतान का घर होता ही नहीं है। खाली दिमाग वह होता है जिसमें न कोई चिंतन होता है, न कोई विचार होता है, न कल्पना और स्मृति होती है। उसमें केवल अपनी शुद्ध चेतना का अनुभव होता है। जहां शुद्ध चेतना है, वहां शैतान आ ही नहीं सकता।

असम्भव नहीं है रूपांतरण

अकर्म का अर्थ निकम्मा होना नहीं है। शायद जीवन के सफल और सार्थक क्षण वे हैं, जो अकर्म के क्षण हैं। अकर्म का क्षण वह है, जहां व्यक्ति कुछ भी नहीं करता, केवल अपनी आत्मा की सन्निधि में रहता है। यही परिवर्तन का बिन्दु बनता है। जो व्यक्ति एक चाह लेकर जाए और आधा धण्टा के बाद यह कह दे—मुझे कुछ नहीं चाहिए। क्या यह कल्पना की जा सकती है? क्या इतना रूपांतरण संभव है? किन्तु असंभव नहीं है। जब व्यक्ति भीतर में चला जाता है, अपने प्रभु के पास चला जाता है, अपनी आत्मा की सन्निधि में चला जाता है, रूपांतरण संभव बन जाता है। भीतर पहुंचने के बाद चाह नाम की कोई चीज ही नहीं रहती। जिस व्यक्ति ने भीतरी जगत् का अनुभव किया है, वह मिलने वाले वरदान को भी ठुकरा देता है। इतिहास में ऐसे अनेक प्रसंग उपलब्ध होते हैं। देने वाला कहता है—तुम मांगो और सामने वाला कहता है, मुझे कुछ नहीं चाहिए। दाता के पुनः आग्रह पर वह कहता है—अगर तुम देना चाहते हो तो दो, जिससे मेरे मन में मांगने की स्थिति ही पैदा न हो। यह रूपांतरण अन्तश्चेतना के साथ सम्पर्क किए बिना होता नहीं है।

परिवर्तन किसी व्यक्ति में स्वयं घटित हो जाता है, निसर्ग से हो जाता है। कभी निसर्ग से नहीं होता है तो अधिगम से हो जाता है। परिवर्तन की एक प्रक्रिया है और उससे गुजरने वाले व्यक्ति में परिवर्तन संभव है। यह रूपांतरण

का सूत्र बहुत महत्त्वपूर्ण है। व्यक्ति यह मानकर न चले—कुछ बदलता नहीं है। व्यक्ति में पहला विश्वास जागे—प्रत्येक आदत को बदला जा सकता है। दूसरा विश्वास जागे—अभ्यास के द्वारा बदला जा सकता है। हाथ पर हाथ धर कर बैठे रहने से परिवर्तन घटित नहीं होता। प्रयत्न और अभ्यास किया जाए, परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरा जाए तो व्यक्ति बदल सकता है अन्यथा बदलाव नहीं लाया जा सकता। परिवर्तन के लिए विश्वास और अभ्यास—इन दोनों का योग होना अपेक्षित है।

दोय मित्यां दुःख होय

सोमिल ने भगवान महावीर से पूछा—‘भंते! आप अकेले हैं या दो हैं?’ महावीर ने उत्तर दिया—‘मैं अकेला भी हूँ और दो भी हूँ।’ सोमिल ने पुनः पूछा—‘भंते! दोनों बातें कैसे?’ महावीर ने उत्तर दिया—‘निश्चय नय की दृष्टि से मैं अकेला हूँ, ज्ञान और दर्शन की दृष्टि से मैं दो हूँ।’

इस दुनिया में कोई व्यक्ति अकेला नहीं है और कोई व्यक्ति दो नहीं है। निश्चय नय की दृष्टि से हर व्यक्ति अकेला है। व्यवहार नय की दृष्टि से हर व्यक्ति दो है और सौ भी है। कहा जाता है—नमि एकाकी भलो दोय मित्यां दुःख होय। दो मिलने से ही दुःख होता है। इस बात को अनेकांत दृष्टि से समझना अपेक्षित है। किसी भी एक कोण को सर्वांगीण मानकर कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। दो मिलने से दुःख होता है, दो मिलने से सुख भी होता है। व्यक्ति अकेला बैठा है, बीमार है, दूसरा पास आता है और थोड़ा-सा पूछ लेता है तो लगता है पचास प्रतिशत दुःख बटा लिया गया। दूसरा व्यक्ति देता कुछ भी नहीं है, करता कुछ भी नहीं है पर दो शब्द सहानुभूति के बोल देता है। व्यक्ति समझता है—मेरा आधा दुःख तो चला गया है। इस स्थिति में यह कैसे माना जाए—दो मिलने से दुःख होता है? दो मिलने से बड़ा सुख भी होता है। एक अकेला सृष्टि है और एक द्वन्द्वात्मक सृष्टि है, दोनों सापेक्ष हैं।

उपनिषद् में कहा जाता है—ब्रह्मा अकेला था। अकेले में उसका मन नहीं लगा। उसने संकल्प किया—एकोऽहं बहुस्याम्—मैं अकेला हूँ, बहुत बन जाऊँ। ब्रह्मा का भी अकेले में मन नहीं लगा तो फिर किसका अकेले में मन लगेगा?

अकेला होना बहुत अच्छा है, यह सापेक्षता के आधार पर ही कहा गया। अनुप्रेक्षा का एक प्रयोग है एकत्व अनुप्रेक्षा, अकेलेपन का चिंतन। एक दृष्टिकोण रहा अकेला होने का। आदमी अकेला आता है और अकेला चला जाता है। न कोई साथ में आता है और न कोई साथ में जाता है। व्यक्ति अकेला कर्म करता है और अकेला कर्म का फल भोगता है। यह है एकत्व।

प्रत्येक व्यक्ति अकेला है। एक और अनेक का जो भेद है, वह सारा व्यवहार नय का प्रतिपादन है—

एकः समूहमध्यस्थः, समूह एकमाश्रितः।

एकानेकविभेदोऽयं, व्यवहारे प्रवर्तते।।

व्यवहार नय में न किसी को एक कहा जा सकता है और न अनेक कहा जा सकता है। उसमें एक और अनेक—दोनों का स्वीकार है। कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है, जो समूह में न हो और कोई भी समूह ऐसा नहीं है जिसमें एक न हो। कोई भी सागर की बूंद ऐसी नहीं है जिसमें सागर न हो और कोई

भा सागर ऐसा नहीं है, जिसमें एक बूद न हो। दोनों बातें साथ में जुड़ी हुई हैं। एक अनेक से जुड़ा हुआ है और अनेक एक से जुड़ा हुआ है।
अकेला कौन?

वास्तव में वह व्यक्ति अकेला है जो भीड़ में अकेला है। वह व्यक्ति अकेला है, जो समूह में अकेला है। वह व्यक्ति अकेला है, जो कोलाहल में मौन है। वह व्यक्ति अकेला है, जो दौड़ में ठहरा हुआ है और वह व्यक्ति अकेला है, जो ठहरेपन में दौड़ रहा है। ऐसा व्यक्ति वस्तुतः अकेला होता है। अकेलेपन में भी दोनों क्रियाएं साथ-साथ चल रहीं हैं। हिमालय की कंदरा में जाकर जो बैठ गया, वह अकेला हो गया पर उसके भीतर में भी एक कोलाहल भरा हुआ है, एक भीड़ भरी हुई है। अकेला व्यक्ति ध्यान करने बैठ गया, कमरा बन्द कर लिया, भीतर कोई नहीं है पर दिमाग में भीड़ भरी है। कितने विचार और कितनी अनुभूतियां उसके दिमाग में चक्कर लगाती हैं, इसका कोई लेखा-जोखा नहीं है। पूरा अतीत उसका साथ दे रहा है। जब तक अतीत साथ देता है कोई व्यक्ति अकेला नहीं हो सकता। जब तब भविष्य साथ देता है कोई व्यक्ति अकेला नहीं हो सकता। अतीत की स्मृतियां और भविष्य की कल्पनाएं व्यक्ति को अकेला नहीं होने देतीं। अकेला वह हो सकता है जो अतीत से भी कट गया है और भविष्य से भी कट गया है, केवल वर्तमान से ही जुड़ा हुआ है। निश्चयनय की दृष्टि से वही व्यक्ति अकेला हो सकता है, दूसरा कोई नहीं।

अकेलेपन का रहस्य

आगम साहित्य में बार-बार 'एक' शब्द का प्रयोग आया है। प्रश्न हुआ—अमुक व्यक्ति संघ में रह रहा है, फिर वह अकेला कैसे है? व्याख्याकारों ने स्पष्ट किया—अकेला वह है, जो राग-द्वेष से रहित है। निश्चय नय की दृष्टि से सब अकेले हैं, कोई दो नहीं है।

निश्चयं नयमाश्रित्य, सर्वोप्येकत्वमागतः।

रागद्वेषविमुक्तोऽसौ, एक एव भवेज्जनः॥

जो राग-द्वेष मुक्त क्षण को जी रहा है, वह भीड़ में रहता हुआ भी अकेला है और जो राग-द्वेष युक्त जीवन जी रहा है, वह हिमालय की कंदरा में बैठा हुआ भी भीड़ में जी रहा है। यह अकेलेपन का एक रहस्य है।

शिष्य ने अपने गुरु से कहा—'गुरुदेव! मैं जंगल में जाना चाहता हूं।'

'किसलिए?'

'साधना करने के लिए।'

'साधना तो यहां भी कर सकते हो। जंगल में जाकर क्या करेंगे?'

'जंगल साधना के लिए उपयुक्त होता है।'

'अगर राग-द्वेष नहीं जीता है तो जंगल में जाकर क्या करेगा और अगर राग-द्वेष को जीत लिया है तो फिर जंगल में जाकर क्या करेगा—

रागद्वेषावनिर्जित्य, किमरण्ये करिष्यसि!

रागद्वेषौ विनिर्जित्य, किमरण्ये करिष्यसि!

निश्चयनय : व्यवहारनय

हमारे सामने दो नय हैं—निश्चयनय और व्यवहारनय। दोनों नय अपने विचार में स्वतंत्र हैं, कोई परतन्त्र नहीं है। न व्यवहारनय निश्चयनय को परतन्त्र बनाता है और न निश्चयनय व्यवहारनय को परतन्त्र बनता है। दोनों का अपना-अपना स्वतन्त्र चिन्तन है। मर्यादा यह है—कोई भी नय एक दूसरे के चिन्तन में हस्तक्षेप नहीं करता। न निश्चयनय व्यवहारनय में हस्तक्षेप करता है और न व्यवहारनय निश्चयनय में हस्तक्षेप करता है, दोनों अपनी-अपनी सीमा में चलते हैं।

जैन शासन में दोनों नयों को समान स्थान दिया गया है। जैन दर्शन न केवल निश्चयनय का पक्षपाती है और न केवल व्यवहारनय का पक्षपाती है। अनेकांत का मतलब है तटस्थता। वह न व्यवहार को ज्यादा मूल्य देता है और न निश्चय को ज्यादा मूल्य देता है। एक आचार्य ने बहुत सुन्दर लिखा—

*जइ जिणमयं पवज्जह, मा व्यवहारणिच्छियं मुयह।
व्यवहारस्स उच्छेये, तित्थुच्छेदो हवई वस्सं।।*

यदि तुम जिनशासन को स्वीकार करना चाहते हो तो न व्यवहार को छोड़ो और न निश्चय को छोड़ो। दोनों को स्वीकार करो। व्यवहार के उच्छेद से तीर्थ का उच्छेद अवश्यभावी है।

शिष्य ने जिज्ञासा की—गुरुदेव! निश्चयनय बिलकुल सही है क्योंकि यह अध्यात्म का मार्ग है, सत्य का मार्ग है, इससे आत्मा पवित्र और उत्तम बनेगी। इसे नहीं छोड़ना चाहिए पर व्यवहारनय तो बिलकुल स्थूल नय है। व्यक्ति इससे चिपक कर कब तक रहेगा? इसे तो छोड़ देना ही अच्छा है।

आचार्य ने कहा—तुम सचाई को नहीं समझ रहे हो। अगर व्यवहार को उच्छेद हो गया तो तीर्थ का उच्छेद हो जाएगा। फिर यह परम्परा नहीं रहेगी, यह शासन, गण और संघ नहीं रहेगा। सब अकेले बन जाएंगे। कोई किसी का सहारा और मार्गदर्शक नहीं होगा। मार्गदर्शक के अभाव में सम्यक् पथ की प्राप्ति दुर्लभ हो जाएगी।

दो मिल्यां दुःख होय

साधना के लिए गण और तीर्थ की भी जरूरत है। तीर्थ के सहारे हजारों व्यक्ति आते हैं, साधना करते हैं। पेड़ के सहारे हजारों-हजारों पक्षी आते हैं, बैठते हैं और विश्राम करते हैं। यदि सारे-के-सारे पेड़ काट दिए जाएं तो बेचारे पक्षियों का क्या होगा? अगर धर्मसंघ और परम्परा न हो तो लोगों को सहारा देने वाला कौन होगा? उन्हें साधना का रहस्य समझाने वाला कौन होगा? इसलिए दोनों को स्वीकार करो। अनेकांत का यह एक सुन्दर वर्णन है।

दोय मिल्यां दुःख होय—यह सचाई है, यह भी नहीं कहा जा सकता और यह सचाई नहीं है, यह भी नहीं कहा जा सकता। दोनों सत्य हैं किन्तु सापेक्ष। दो मिलने पर दुःख हो सकता है। जहां द्वन्द्व हुआ वहां दुःख हो सकता है। मनुष्य का सारा व्यक्तित्व द्वन्द्वात्मक व्यक्तित्व है। किसी व्यक्ति से पूछा

जाए—वह आत्मा है? और उसे कहा जाए—उत्तर केवल हां या नां में देना है। वह इसका उत्तर नहीं दे पाएगा। पूछा जाए—वह पुद्गल है? उसके लिए इसका उत्तर भी हां या ना में देना संभव नहीं हो सकता।

न्यायाधीश ने मुल्ला नसरूद्दीन से कहा—‘मुल्ला! तुम बड़े होशियार आदमी हो, बड़े चतुर और चालाक हो, गलती करके भी बच जाते हो। अतः तुम मेरी एक बात का हां या ना में उत्तर दो।’

मुल्ला बोला—‘जज महोदय! ऐसा कभी नहीं हो सकता। मुझे अपनी सफाई में बहुत बातें कहनी पड़ेंगी।’

‘केवल हां या ना में उत्तर देना होगा।’

‘मेरे लिए यह संभव नहीं है।’

‘यह कैसे नहीं हो सकता?’

‘क्या आप किसी प्रश्न का उत्तर हां या ना में दे सकते हैं?’

‘हां दे सकता हूँ।’

‘पहले आप मेरे एक प्रश्न का केवल हां या ना में उत्तर दें।’

‘बोलो! तुम्हारा क्या प्रश्न है?’

‘क्या आपने अपनी पत्नी को पीटना छोड़ दिया है?’

बेचारा जज फंस गया। अगर वह कहे—पीटना छोड़ दिया है तो इसका मतलब होगा, पहले पीटता था और वह कहे—नहीं छोड़ा तो मतलब होगा—अभी भी पीटता जा रहा है।

न्यायाधीश ने कहा—‘इसका उत्तर हां या ना में सम्भव नहीं है।’

मुल्ला बोला—‘मैंने तो पहले ही कहा था—केवल हां या ना में हर प्रश्न का उत्तर संभव नहीं हो सकता।’

द्वन्द्वात्मक व्यक्तित्व

प्रश्न को समाहित करने के लिए विवेचनात्मक शैली का आश्रय लेना पड़ता है। जब इस शैली का सहारा लिया जाएगा तभी कोई उत्तर संभव बन पाएगा। आत्मा और पुद्गल के विषय में भी इसी शैली से उत्तर दिया जा सकता है। मनुष्य न केवल पुद्गल है और न केवल आत्मा है किन्तु दोनों का जोड़ा है। आत्मा और पुद्गल का यह योग अनादि काल से है। व्यक्ति अकेला तब बनेगा जब यह शरीर छूट जाएगा। उस अवस्था में ही अकेलेपन की बात प्राप्त होगी।

इस द्वन्द्वात्मक व्यक्तित्व में अकेलेपन की बात सोचना कठिन है। द्वन्द्वात्मक व्यक्तित्व है इसलिए अकेलेपन की बात कही गई, जिससे द्वंद्व मिटता चला जाए। जिस दिन यह द्वन्द्व मिट जाएगा उस दिन व्यक्ति वहां पहुंच जाएगा, जहां न कोई द्वन्द्व है और न कोई दुःख है। इस अपेक्षा से यह कहना संगत है—‘दोय मिल्यां दुःख होय।’ दो मिले हैं, इसलिए दुःख हो रहा है। यदि दो न हो तो कोई दुःख नहीं होता।

घटना नमि राजर्षि की

नमि राजर्षि के शरीर में दाह ज्वर हो गया। भयंकर वेदना से शरीर तप उठा। वह राजा था, उसके पास सब कुछ था पर जब बीमारी आती है, व्यक्ति अत्यन्त व्याकुल बन जाता है। वेदना के क्षणों में एक उपचार चला चंदन के लेप का। महारानियां स्वयं चंदन घिस रही थीं। वे बड़ी शोकाकुल थीं। राजा के स्वास्थ्य की कामना के साथ चंदन घिसती जा रही थीं। प्रासाद में महाराज सोए हुए हैं, मंत्री और वैद्य बैठे हैं। जब थोड़ी आवाज भी भयंकर लगने लग जाती है। राजा को वह आवाज बड़ी भयंकर लगी। राजा बोला—‘मंत्रीवर! यह अप्रिय आवाज कहां से आ रही है?’

मंत्री ने कहा—‘महाराज! अभी उपाय करता हूँ और दो मिनट के बाद ही आवाज आनी बन्द हो गई।’

‘मंत्रीवर! यह आवाज किसकी थी?’

‘महाराज! आपके लिए चंदन घिसा जा रहा था। कंगनों की टकराहट से आवाज आ रही थी।’

‘अब आवाज कहां गई? क्या चंदन घिसना बन्द कर दिया?’

‘महाराज! चंदन तो घिसा जा रहा है। आपको आवाज अप्रिय लग रही थी इसलिए महारानियों ने बड़ी बुद्धिमत्ता से काम लिया। उन्होंने हाथ में सुहाम का प्रतीक एक-एक कंगन रखा, और सब कंगन निकाल दिए। जब कंगन एक ही रहा तब आवाज आनी बन्द हो गई।’

इस एक बात ने नमि राजा को नमि राजर्षि के रूप में परिवर्तित कर दिया। वे प्रत्येकबुद्ध बन गए। इस एक घटना के साथ उनकी चेतना जाग गई। राजा बोल उठा—‘नमि एकाकी भलो दोय मिल्यां दुःख होय।’

बाहर जीएं : भीतर रहें

झगड़ा दो में होता है, लड़ाई दो में होती है, टकराहट दो में होती है। दूसरे का प्रतिबिम्ब भी लड़ाई पैदा कर देता है। मैंने अनेक बार देखा है—कांच के पास चिड़ियां आकर बैठती है और प्रतिबिम्ब को देखकर चोंच मारती है। यह संघर्ष है दो होने का। जहां दूसरा आता है, संघर्ष शुरू हो जाता है। शेर ने कुएं के पानी में दूसरे शेर को देखा और छलांग लगा दी। यह प्रसिद्ध बालकथा है। जहां दूसरा आता है, लड़ाई और संघर्ष शुरू हो जाता है। अकेले में कुछ नहीं होता।

आगम साहित्य में बतलाया गया—जहां व्यक्ति अकेला होता है वहां न कोई शब्द होता है, न कोई झंझट, कलह, और संघर्ष होता है, कुछ भी नहीं होता। दूसरा मिलते ही सारी बातें शुरू हो जाती है। दो में सारी समस्याएं पैदा हो जाती है, यह एक सचाई है। समस्या यह भी है—अकेला रहने से व्यक्ति का काम नहीं चलता। प्रश्न हुआ—कौन-सा रास्ता अपनाया जाए? सब एकलविहारी बन जाएं या समूहचारी रहें? व्यवहार के क्षेत्र में इस प्रश्न का कोई समाधान नहीं मिलता। निश्चयनय की शरण में जाने पर ही इसका समाधान उपलब्ध हो

सकता है। यदि भीतर में रहना सीख जाएं, अपने आप में रहना सीख जाएं और बाहर में जीएं तो इस समस्या का समाधान हो सकता है। जो व्यक्ति केवल बाहर में जीता है, वह सचमुच खतरनाक बन जाता है। बाहर में जीने वाला व्यक्ति ज्यादा लड़ाई झगड़ा करेगा। एक सुन्दर समाधान दिया गया—इस द्वन्द्वात्मक सृष्टि में जीते हुए भी उल्टे चलो, द्वन्द्वात्मकता से हटकर चलो। अध्यात्म का सूत्र है—भीतर में रहना सीखो किन्तु यह भीतर में रहने वाली बात समझ में कुछ कम आती है। एक आदमी घर में बैठा है और बाहर गली में लड़ाई शुरू हो गई। वह तत्काल बाहर आ जाएगा क्योंकि भीतर में रहना उसे पसंद नहीं है।

शरीर की, जीवन की सारी यात्रा चलाने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को बाहर जाना ही पड़ेगा। एक अपेक्षा से वीतराग को भी बाहर जाना पड़ता है। उसे भी जीवन चर्या में चलना पड़ता है। कुछ लोग कहते हैं—हम तो बिल्कुल मौनी और संन्यासी हैं, कुछ भी नहीं करते किन्तु उन्हें भी खाने-पीने की यात्रा करनी ही पड़ती है। उसके बिना जीवन चलता ही नहीं है। एक गृहस्थ को चौबीस घण्टे में कम-से-कम एक घण्टा भीतर रहने का अभ्यास करना ही चाहिए। प्रसिद्ध कहावत है—

अट्टावन घड़ी पाप की और दोय घड़ी आप की।

अट्टावन घड़ी काम की और दोय घड़ी राम की।।

यह सन्तुलन का स्वर है—तेईस घंटा बाहर रहें तो एक घण्टा अपने घर में रहना सीखें। एक मुनि को लम्बे समय तक भीतर रहना चाहिए। उसे कम-से-कम तीन घण्टा तो भीतर रहना ही चाहिए। स्वाध्याय करना, ध्यान करना, अनुप्रेक्षा करना भी भीतर में रहना है। स्वाध्याय, जप, प्रतिक्रमण—ये सब भीतर में रहने के उपक्रम हैं। यदि व्यक्ति इन उपक्रमों में जीता है तो वह बाहरी जगत् में रहते हुए भी सन्तुलन बनाए रख सकता है। जब यह सूत्र जीवन में घटित होता है, तब 'दोय मिल्यां दुःख होय' इसका रहस्य हृदयंगम हो जाता है। व्यक्ति इस सचाई तक पहुंच कर दुःख को भी मिटा सकता है और अकेलेपन की अनुभूति भी कर सकता है।

जो रास्ते में घर बनाता है

विश्व की प्रमुख समस्याओं का आकलन किया जाए तो तीन मुख्य समस्याएं सामने आएंगी—रोटी, कपड़ा और मकान। ये प्राथमिक समस्याएं हैं—खाने को रोटी, पहनने को कपड़ा और रहने को मकान चाहिए। आज संसार की समस्त सरकारों के सामने ये तीन बड़ी समस्याएं हैं। इनकी व्यवस्था करना प्रत्येक सरकार का दायित्व होता है। आवास की व्यवस्था के लिए बहुत बड़ी-बड़ी योजनाएं बनाई जाती हैं। कोई भी आदमी ऐसा न रहे, जिसका अपना घर न हो, हर व्यक्ति को अपना घर मिले। घर जीवन का आधार होता है। इस आधार पर संसार भर के मनुष्यों को दो वर्गों में बांटा जा सकता है—गृहस्थ और अनगार। इन दो वर्गों में सारे लोग समा जाएंगे। एक वर्ग में गृहस्थ हैं, जो घर में रहने वाले हैं। दूसरे वर्ग में अनगार हैं, जिनका अपना कोई घर नहीं है। अनगार शब्द मुनित्व या संन्यास का वाचक शब्द है। घर के आधार पर ये वर्ग बने हैं—एक ने घर को त्याग दिया और एक ने घर को अपना बना लिया।

जो व्यक्ति समझदार होता है और जिसके पास पैसा होता है, वह घर बनाने की बात सोचता है। उसके लिए ऐसा करना आवश्यक होता है। वह आखिर रहे कहां? व्यक्ति खुले आकाश में कैसे रहे? वर्षा आती है, धूप आती है, आंधिया और लूएं चलती हैं। व्यक्ति इनसे कैसे बचे? खाने को रोटी चाहिए। बाजार से खरीद कर अनाज लाए तो उसे कहां रखे। रखने के लिए भी स्थान चाहिए। आदमी पशु और पक्षी जैसा अकिंचन नहीं है। उन्हें रखने की कोई खास जरूरत नहीं होती।

घर बनाने की संज्ञा पशु-पक्षियों में भी है। पशु भी अपने घर बनाते हैं, मांद बनाते हैं। चूहे भी अपना बिल बनाते हैं। बहुत सारे पक्षी भी अपना घर बनाते हैं। बयां का घर बहुत सुन्दर होता है। आकाश में उड़ने वाले पक्षी और धरती पर रहने वाले पशु भी अपना घर बनाते हैं।

श्रृंखला समस्याओं की

मुनि के लिए घर कोई समस्या नहीं है किन्तु गृहस्थ के लिए आवास का प्रबन्ध एक बड़ी समस्या है। उपाध्याय विनयविजयजी ने गृहस्थ की समस्याओं का सुन्दर आकलन किया है—

प्रथममशनपानप्राप्तिवांछा विहस्ताः

तदनु वसनवेश्माऽलङ्कृतिव्यग्रचित्ताः।

परिणयनमपत्यावाप्तिमिष्टेन्द्रियाऽर्थान्,

सततमभिलषन्तः स्वस्थतां क्वाऽशुवीरन् ॥

पहली समस्या है—मनुष्य भोजन पानी को उपलब्ध करने की इच्छा में व्याकुल है। दूसरी समस्या है—वस्त्र, घर और अंलकार की प्राप्ति के लिए उसका चित्त व्यग्र बना हुआ है। तीसरी समस्या है—उसमें विवाह, संतान प्राप्ति और मनोज्ञ इन्द्रिय विषयों को पाने की अभिलाषा बनी हुई है। इस स्थिति में वह स्वास्थ्य को कैसे उपलब्ध हो सकता है?

जीवन में कितनी समस्याएँ हैं—रोटी की समस्या, पानी की समस्या, वस्त्र और मकान की समस्या। समस्याओं की एक लंबी श्रृंखला है। उपाध्याय विनयविजयजी ने आज से पांच सौ वर्ष पहले जिन समस्याओं को उभारा, वे आज के समाजवादी युग में भी बनी हुई हैं। आज का मनुष्य भी इन समस्याओं से आक्रान्त है। इन समस्याओं में मकान की समस्या एक बड़ी समस्या है।

ब्राह्मण का प्रश्न

जब नमि राजर्षि घर से निकले, मुनि बने। उस समय बूढ़ा ब्राह्मण बोला—राजर्षि! आप मुनि बन रहे हैं पर आपको तो अभी बहुत सारे मकान बनाने हैं। आप चाहे उनमें न रहें पर आने वाली पीढ़ी के लिए तो बनाएं। पहले बड़े-बड़े प्रासाद बनवाइए, अट्टालिकाएँ बनवाइए। उसके बाद आप मुनि बन जाएं। अभी क्यों मुनि बन रहे हैं?

पासाए कारइत्ताणं, वद्धमाणगिहाणि य।

बालगगपोइयाओ य, तओ गच्छसि खत्तिया।।

उस समय मुनि ने जो उत्तर दिया, वह सचमुच भारतीय चिंतन का, अध्यात्म चिंतन का और निर्वाणवादी परम्परा का एक शाश्वत उत्तर है। मुनि ने कहा—ब्राह्मण! तुम अभी सचाई को नहीं जानते। सचाई यह है—

संसयं खलु सो कुणई, जो मग्गे कुणई घरं।

जत्थेव गंतुमिच्छेज्जा, तत्थ कुव्वेज्ज सासयं।।

जो रास्ते में घर बनाता है, वह सदा संशय से भरा हुआ रहता है। अपना घर वहीं बनाना चाहिए जहां जाने की इच्छा हो और जहां जाने के बाद फिर कहीं जाना न पड़े।

एक कमी है

एक राजा ने बड़ा प्रासाद बनाया। वह अत्यन्त मजबूत और भव्य था। लोग आते हैं, उसे देखते हैं और साधुवाद देते हैं, मकान की भव्यता की सराहना करते हैं। चारों ओर से प्रशंसा के शब्द सुनकर राजा बहुत प्रसन्न होता। एक दिन एक अकिंचन, उदासीन संन्यासी आया। राजा स्वयं संन्यासी के साथ गया, उसे अपना मकान दिखाने लगा। एक-एक कर सारे कक्ष दिखाए पर कहीं भी प्रशंसा का एक शब्द संन्यासी के मुंह से नहीं निकला। राजा ने सोचा—ये मुनि लोग कंजूस होते हैं, किसी की प्रशंसा करना जानते ही नहीं हैं। ऐसा बढ़िया मकान देखकर मुंह से कुछ बात निकलनी चाहिए पर एक भी शब्द नहीं निकला। सारा मकान देखकर जैसे ही दोनों बाहर आए, राजा बोला—‘महाराज! आपने मकान देख लिया। आपको कैसा लगा मेरा मकान?’

संन्यासी ने कहा—‘जैसा है वैसा लगा।’

राजा का काम बना नहीं। जब मन में प्रशंसा पाने की आकांक्षा जाग जाए और प्रशंसा से भरे शब्द व्यक्ति के कानों में न पड़े तो वह बैचेन हो उठता है। राजा बैचेन हो गया। उसने कहा—‘महाराज! आप देखिए, इस मकान के खंभे कितने मजबूत हैं। सामने वाला हाल हजारों खंभों वाला है।’ वर्तमान युग में खंभा न होना शिल्प के महत्त्व का सूचक है। प्राचीन युग में खंभों का अधिक होना महत्त्वपूर्ण माना जाता था। राजा कहता चला गया—‘इस मकान की छतें कितनी नक्कासीदार हैं, कितनी मजबूत हैं, कितनी भव्य और आकर्षक हैं!’

संन्यासी सब कुछ सुनता रहा किन्तु उसके मुंह से एक भी शब्द नहीं निकला। राजा से रहा नहीं गया। वह बोला—‘महाराज! कुछ तो कहें! आपको यह सुन्दर मकान कैसा लगा, यह सुनने के लिए मैं अत्यन्त उत्सुक हूँ।’

‘राजन! मकान जैसा है वैसा लग रहा है। यह काफी अच्छा बना है, मजबूत बना है। इसमें समय, शक्ति और धन का प्रचुर उपयोग हुआ है पर इसमें एक कमी खटक रही है।’

‘क्या कमी खटक रही है? मैं उसे तत्काल पूरी करवा दूंगा।’

‘यह मकान चिरस्थायी हो सकता है किन्तु इसमें रहने वाला कोई स्थिर नहीं है।’

नया है निर्वाण

शाश्वत में विश्वास करने वाले व्यक्ति का स्वर यही हो सकता है। भारतीय दर्शन में दो धाराएं रही हैं—शाश्वतवादी धारा और अशाश्वतवादी धारा, निर्वाणवादी धारा और स्वर्गवादी धारा। प्रवर्तक धर्म स्वर्गवादी धर्म रहा है और निवर्तक धर्म निर्वाणवादी धर्म। दार्शनिक काल में कुछ ऐसा हुआ कि दोनों का मिश्रण हो गया। वस्तुतः अध्यात्म प्रधान जितने धर्म हैं, वे स्वर्गवादी नहीं हैं। प्रवर्तक धर्म का अंतिम लक्ष्य है स्वर्ग को पा लेना। अध्यात्म के क्षेत्र में इस चिन्तन को महत्त्व नहीं दिया गया। स्वर्ग पाना कोई बड़ी बात नहीं है। स्वर्ग पाने वाला व्यक्ति देवता बनता है। इसका अर्थ है—वह अधिक भोग प्रधान बन जाता है। मनुष्य जीवन में जो सुख-सुविधा और भोग-विलास के साधन प्राप्त हैं, देवता में उनका उत्कर्ष हो जाता है। जो मनुष्य को प्राप्त हैं, वे ही देवता को प्राप्त होते हैं, उनमें केवल मात्रा का भेद है। एक आदमी लखपति है, एक करोड़पति है, एक अरबपति है और एक खरबपति है। यह मात्रा-भेद जैसे मनुष्य लोक में है वैसे ही देवलोक में भी है। देवता के पास अपार धन है लेकिन है वही, जो मनुष्य लोक में है। स्वर्ग में नया कुछ भी नहीं है, नया है निर्वाण।

विज्ञान का चिन्तन

आज के वैज्ञानिक इस खोज में लगे हुए हैं कि मौत को समाप्त कर दिया जाए, आदमी को मौत से मुक्त कर दिया जाए। यह बड़ा विचित्र प्रश्न है—एक ओर परिवार के नियोजन की बात चल रही है, दूसरी ओर आदमी को अमर बनाने की बात सोची जा रही है। सारे अमर बन जाएंगे तो समाएंगे कहां? आज की पीढ़ी अमर बन गई तो आने वाली पीढ़ी के लिए कहीं अवकाश ही नहीं रहेगा। यदि आने वाली पीढ़ी उतनी ही आ गई तो कहां समाएंगी? यह

विरोधाभास आज चल रहा है। आदमी बूढ़ा न बने, विज्ञान की एक पूरी शाखा इसकी खोज में लगी हुई है। बहुत आशा के साथ कहा जा रहा है—कुछेक दशकों में बुढ़ापे पर नियन्त्रण पा लिया जाएगा, फिर आदमी कभी बूढ़ा नहीं बनेगा। कृत्रिम उपर्यों के द्वारा ऐसा किया जा रहा है। चेहरे पर झुर्रियां पड़ीं, प्लास्टिक सर्जरी कराई और आदमी जवान बन जाएगा। अवयवों का प्रत्यारोपण हो रहा है। कोई अवयव खराब हुआ, उसका प्रत्यारोपण कर दिया गया और अवयव ठीक हो जाएगा।

एक व्यक्ति के सिर का प्रत्यारोपण किया गया। कुछ दिन बाद डॉक्टर ने उसकी पत्नी से पूछा—तुम्हारे पति का स्वास्थ्य तो ठीक है? पत्नी ने कहा—और तो ठीक-ठाक है पर आजकल वे बहुत झूठे आश्वासन देने लगे हैं। दिन भर आश्वासन देते रहते हैं किन्तु कोई भी काम पूरा नहीं करते। डॉक्टर ने कान पकड़ते हुए कहा—एक भूल हो गई। जब सिर का प्रत्यारोपण किया था तब एक मन्त्री का सिर लगा दिया था इसलिए ऐसा हो रहा है। मन्त्री का काम है आश्वासन देना। आश्वासन के आधार पर ही सारा काम चल रहा है। जो आश्वासन देना नहीं जानता, वह सफल राजनेता नहीं हो सकता।

आज प्रत्येक चीज का प्रत्यारोपण हो रहा है और उसके माध्यम से बुढ़ापे को रोकने की योजना चल रही है।

संसार को निर्वाण बनाने की कल्पना

आज का वैज्ञानिक यह भी प्रयत्न कर रहा है कि रोग को समाप्त कर दिया जाए, बीमारियां न हों। ऐसी स्थिति का निर्माण किया जा रहा है, जहां वेदना न हो, संवेदन और कष्ट न हो, इसके काफी उपाय वर्तमान विज्ञान में खोज लिए गए हैं। ऐसा लगता है—आज का वैज्ञानिक संसार को निर्वाण बनाना चाहता है। पहले वह संसार को स्वर्ग बनाना चाहता था और अब वह उसे निर्वाण बनाना चाहता है। निर्वाण में बुढ़ापा नहीं है, मौत नहीं है, रोग नहीं है और कष्ट नाम की कोई चीज नहीं है। उसका नाम है शाश्वत धर्म, उसका नाम है निर्वाण। यह निर्वाणवादी धारा का चिंतन आज इस पृथ्वी का चिंतन बन रहा है। यह अध्यात्म का चिंतन आज के वैज्ञानिक का चिंतन बन रहा है। यह कल्पना बहुत अच्छी है। यह धरती निर्वाण बन जाए, बुढ़ापा, मौत, बीमारी और कष्ट समाप्त हो जाएं तो व्यक्ति निर्वाण जाने का प्रयत्न क्यों करेगा? वह पृथ्वी पर ही रहना चाहेगा, जीना चाहेगा। निर्वाण की बात सोचने की क्या जरूरत होगी?

शाश्वत की अदम्य आकांक्षा

महावीर ने कहा—अपथ की खोज। ताओ धर्म में कहा गया—जहां सारे पथ समाप्त हो जाते हैं, जहां कोई मार्ग नहीं है, पथ नहीं है, व्यक्ति उस शाश्वत स्थान पर जानना चाहता है। जहां जाने पर वापस न आना पड़े, पुनः जन्म न लेना पड़े, बूढ़ा न होना पड़े, बीमार न होना पड़े और कष्ट न भोगना पड़े, शाश्वत की यह एक अदम्य आकांक्षा मनुष्य में रही है। दोनों प्रकार के लोग होते

हैं—अशाश्वत में विश्वास करने वाले और शाश्वत में विश्वास करने वाले। व्यक्ति में दोनों प्रकार की रुचियाँ होती हैं, दोनों प्रकार का आकर्षण होता है।

सन् १९८७ में ग्रीनपार्क, दिल्ली में शिविर चल रहा था। सम्पूर्ण वीरप्रज्ञ (वर्तमान में मुनि कुमारश्रमण) जो उस वक्त सात वर्ष का था, एक दिन बोला—मुझे वह उपाय बतलाइए, जिससे मेरी मुक्ति जल्दी हो। मैंने सोचा—यह अदम्य आकांक्षा है, जो कुछ लोगों में जन्मगत, संस्कारगत होती है। कुछ लोगों में यह भावना कभी नहीं जागती। इसीलिए अवस्था कोई प्रमाण नहीं है, व्यक्तित्व को नापने की कोई कसौटी नहीं है। जब भीतर का संस्कार जागता है, आत्मा जाग जाती है, निर्वाण की आकांक्षा उभर आती है। 'जब जागे तभी सवेरा' उसके लिए कोई निश्चित समय या अवस्था नहीं है। यह आश्चर्य की बात है—भृगु परम्परा भी यही रही है।

शाश्वत का दीप जले

जिन व्यक्तियों में शाश्वत की प्रज्ञा जाग जाती है, वे अशाश्वत की कामना कभी नहीं करते और जिनकी बुद्धि अशाश्वत में प्रलुब्ध है, वे शाश्वत को जान नहीं सकते—

शाश्वते लब्धबुद्धीनां, नो काम्यः स्यादशाश्वतः।

अशाश्वते प्रलुब्धो यः, स किं जानाति शाश्वतम्?

अध्यात्म की पूरी परम्परा शाश्वत की परम्परा है। अशाश्वत में जिसका मन उलझा हुआ है, वह कभी अध्यात्म के मार्ग में नहीं आ सकता। आ जाए तो रह नहीं सकता। उसका ध्यान पदार्थ में उलझा रहता है। वह पदार्थों को ही देखता है। जब तक व्यक्ति के भीतर शाश्वत का दीप प्रज्वलित नहीं होता तब तक प्रेक्षा की बात समझ में नहीं आती। यदि लक्ष्य आंतरिक बन जाए और आंख खुली रहे तो व्यक्ति को कुछ भी दिखाई नहीं देगा। पांचों इन्द्रियों का इस क्रम में विकास किया जा सकता है। कांच में भी देखें तो अपने आपको देखें। भरत को केवलज्ञान कैसे हुआ? उन्होंने प्रेक्षा की, अपने आपको देखने का प्रयोग किया। कांच देखते-देखते अपने भीतर देखना आरम्भ कर दिया, कैवल्य प्राप्त हो गया।

अपने शरीर के भीतर जो बैठा है, व्यक्ति उसे देखना नहीं जानता। वह शरीर को देखना जानता है, मकान को देखना जानता है पर उसके भीतर जो बैठा है उसे देखना नहीं जानता। बड़े को देख लेता है पर उसके भीतर क्या है, उसे वह नहीं जानता। प्रेक्षा की चेतना तब जागती है, जब अशाश्वत की लौ बुझ जाती है, शाश्वत की लौ जग जाती है। शाश्वत की भावना जमे बिना न कोई सम्यक्दर्शी बन सकता, न कोई श्रावक, व्रती या मुनि बन सकता और न कोई प्रेक्षाध्यान का साधक बन सकता। अनिवार्य शर्त है—भीतर की चेतना जागे, भीतर के साथ सम्बन्ध स्थापित हो। एक भेदरेखा खिंच जाए—यह शाश्वत है और यह अशाश्वत है। अशाश्वत में रहना पड़ रहा है किन्तु वह गंतव्य नहीं है, उद्देश्य नहीं है। शाश्वत तक जाना है, शाश्वत में रमण करना है। आत्मरमण का

मतलब है शाश्वत में रमण करना। ऐसी स्थिति में रमण करना, जहां सारे पर्याय समाप्त हो जाएं।

मूल की खोज : शाश्वत की खोज

मनुष्य कोरा पर्याय है, द्रव्य नहीं है। वह केवल एक अवस्था है, अवस्थावान् नहीं है। एक संतरा, केला और नींबू एक अवस्था है, मूल तत्त्व नहीं है। ये सारी उसकी अवस्थाएं हैं। अवस्था मूल नहीं होती। मूल की खोज करना शाश्वत की खोज करना है। व्यक्ति पर्याय में उलझा हुआ है, अवस्था में उलझा हुआ है। एक के बाद एक अवस्था का चक्र चलता है और आदमी उसमें उलझता चला जाता है। वह मूल को छू ही नहीं पाता।

मूल तक पहुंचने के लिए प्रयत्न करने की जरूरत है। वैज्ञानिक मूल कण की खोज में लगे हुए हैं। आध्यात्मिक लोग भी इससे बच नहीं सकेंगे। यदि वे इस खोज से बचेंगे तो आध्यात्मिक नहीं बन पाएंगे। आध्यात्मिक व्यक्ति को भी खोजना है—मूल कण क्या है? मूल तत्त्व क्या है? मूल तत्त्व की खोज शाश्वत में घर बनाने की खोज है। शाश्वत में घर बनाने और मूल तत्त्व को खोजना—दो बातें नहीं हैं। अपेक्षा है—व्यक्ति-व्यक्ति में प्रेक्षा की चेतना, दर्शन की चेतना जाने और वह मूल तत्त्व को खोज सके, शाश्वत में अपना घर बना सके। इस चेतना का जागरण ही शाश्वत की दिशा में प्रस्थान है।

जहां निरपराध को दंड मिलता है

चिंतन के क्षेत्र में एक नई शाखा का विकास हुआ है—‘थिंकिंग’, कैसे सोचें? सोचने का तरीका सही होना चाहिए। बहुत बार सही चिन्तन न होने के कारण जाने-अनजाने गलत आचरण और गलत व्यवहार हो जाता है। चिन्तन सही नहीं होने से निर्णय भी सही नहीं होता। सही निर्णय के अभाव में व्यक्ति गलत आचरण कर लेता है। ‘कैसे सोचें’ इसका एक उदाहरण नमि राजर्षि के जीवन वृत्त में मिलता है।

ब्राह्मण ने कहा—‘राजर्षि! आप दीक्षित हो रहे हैं, मुनि व्रत को स्वीकार कर रहे हैं पर जाते-जाते आप एक काम तो कर जाएं।’

राजर्षि ने पूछा—‘कौन-सा काम?’

ब्राह्मण ने कहा—‘देखें, आपके नगर में कितने चोर हैं? वे नाना प्रकार की कलाओं से चोरी करने वाले हैं।’

चोरी की कई कलाएं होती हैं और आजकल इन कलाओं का विधिवत् प्रशिक्षण भी मिलता है।

एक कुशल जेबकतरा था। उसे न्यायाधीश के सामने प्रस्तुत किया गया। न्यायाधीश ने पूछा—‘तुम यह काम कैसे करते हो?’

‘न्यायाधीश महोदय! यह कला ऐसे नहीं सिखायी जाती। आपको सीखना हो तो आप मेरे साथ कुछ दिन रहें। मैं आपको यह कला सिखा दूंगा। यह कला बड़ी विचित्र है।’

‘जेब काटना क्या कला है, लोग सावधान नहीं रहते हैं इसलिए तुम्हें मौका मिल जाता है।’

‘नहीं! लोग बहुत सावधान रहते हैं। किन्तु यह मेरी कला है।’

‘कभी मेरी जेब काटना।’

‘ठीक है! आप सावधान रहना।’

न्यायाधीश ने जेबकतरे को मुक्त कर दिया। तीसरे दिन ही न्यायाधीश की जेब कट गई। उसने जेबकतरे को बुलाकर पूछा—‘क्या तुमने मेरी जेब काटी?’

‘आप जाने! मैं क्या जानू?’

‘सच बताओ।’

‘महाशय! मेरी यह कला है, सावधान तो आपको रहना था।’

न्यायाधीश को कहना पड़ा—‘तुम बड़े दक्ष आदमी हो।’

दक्षता हर बात में प्राप्त की जा सकती है। चोरी में बड़े दक्ष लोग हुए हैं।

चिन्तन के दो कोण

ब्राह्मण ने नमि राजर्षि से कहा—‘राजर्षि! आपकी नगरी में भी अनेक कुशल चोर हैं। आप सब चोरों को वश में करें, दण्ड दें, नगर में अभय का वातावरण बनाएं और फिर संन्यास ग्रहण करें—

आमोसे लोमहारे य, गंठिभेए य तक्करे।

नगरस्स खेमं काऊण, तओ गच्छसि खत्तिया!

राजर्षि शान्त भाव से बोले—‘ब्राह्मण! मेरा चिंतन दूसरे प्रकार का है। जैसे तुम सोचते हो वैसे मैं नहीं सोचता। मेरे सोचने का कोण भिन्न है।’

ब्राह्मण ने पूछा—‘आप क्या सोचते हैं?’

राजर्षि ने कहा—‘बहुत बार मनुष्य मिथ्यादण्ड का प्रयोग करता है। सही दंड का प्रयोग नहीं होता। जो अपराध करने वाला है वह बच निकलता है और जो निरपराध है, उसे दण्ड मिल जाता है। इस दंड में मेरा विश्वास नहीं है—

असई तु मणुस्सेहिं, मिच्छादंडो पजुंजई।

अकारिणोऽथ बज्झति, मुच्चइ कारओ जणो ॥

दंड भी जरूरी है

दंड के क्षेत्र में दो प्रकार का चिंतन रहा है—एक दंड में विश्वास करने का और दूसरा दंड में अविश्वास करने का। महाभारत में कहा गया—

राजदंडभयादेके, पापाः पापं न कुर्वते।

यमदंडभयादेके, परलोकभयादपि ॥

दंडश्चेन्न भवेल्लोके, विनश्येयुरिमाः प्रजाः।

जब राजदंड का भय होता है तब अपराध कम होते हैं। राजदंड का भय निकल जाए तो अपराधों की बाढ़ जा जाए। उन्हें दंड के बिना रोका नहीं जा सकता। राजदंड का ही नहीं, मृत्यु दंड का भी भय रहता है। न जाने कब मौत आ जाए, इस भय से भी लोग अपराध करने से बचते हैं। परलोक के भय से भी लोग अपराध करने से बचते हैं। वे सोचते हैं—यहां बहुत बुराइयां करते हैं, न जाने आगे क्या फल मिलेगा? यमराज का दंड हो, राजा का दंड हो या परलोक का दंड, दंड आखिर दंड ही है। अगर दंड का भय निकल जाए तो सारी प्रजा विनष्ट हो जाए। जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है वैसे ही बलवान निर्बल को खाने लग जाए इसलिए दंड बहुत जरूरी है।

आश्चर्य की बात

यह चिंतन का एक कोण रहा है और इस चिंतन में दंड को बहुत प्रधानता दी गई है। जब से शासन चल रहा है, राजतंत्र चल रहा है तब से दंड चल रहा है। अगर दंड से अपराधों की समाप्ति होती तो आज अपराधों का अस्तित्व नहीं होता। पर ऐसा हुआ नहीं। इसका कारण है—मनुष्य का सोचने का तरीका सही नहीं है।

अपराधान्निवर्तेत, प्रायः लोको न चिन्त्यते ।

दण्डं कथं प्रवर्तेत, चित्रं चिन्तेति वर्तते ।

अपराध से लोक निवृत्त कैसे हो? अपराधी कैसे न बने, इस बारे में प्रायः चिंतन नहीं होता। व्यक्ति सोचता है—दंड कैसे चालू रहे। इस ओर व्यक्ति का ध्यान केन्द्रित है। यह आश्चर्य की बात है।

चिंतन का यह विपर्यास अपराधों की समाप्ति में बाधा बना हुआ है। पुलिस का सिपाही अपने घर में सो रहा था। रात का समय था। चोर सिपाही के घर में घुस गया। पत्नी जाग गई। उसने कहा—घर में चोर घुस गया है, आप उठें।

सिपाही ने कहा—‘कितने बजे हैं?’

‘चार बजे हैं।’

‘अभी मेरी ड्यूटी का समय नहीं है।’

‘देखते क्या हो, संदूक उठाकर ले जा रहा है।’

‘अभी तो नहीं ले गया?’

‘हां! ले तो नहीं गया पर ले जाने वाला ही है।’

‘तुम जानती नहीं हो। मेरा कर्तव्य क्या है? जब तक चोर चोरी न कर ले, तब तक मैं उसे पकड़ नहीं सकता।’

अपराध की चिरजीविता का कारण

अपराध न हो तब तक दंड की बात नहीं हो सकती। पहले अपराध होना चाहिए। यह चिन्तन का ऐसा कोण है, जो दंड को जीवित बनाए रख रहा है। आज केवल दंड की भाषा में सोचा जा रहा है। अपराध से व्यक्ति कैसे निवृत्त हो, इस ओर समाज का ध्यान केन्द्रित नहीं है। किन्तु दंड कैसे प्रवृत्त हो, यह चिन्ता मनुष्य के मानस में पल रही है। उसका विश्वास जितना दंड में है उतना न्याय में नहीं है। यदि न्याय चालू हो जाए तो दंड क्यों चिरजीवी रहेगा? कैसे श्वास लेगा? वह अपने आप समाप्त हो जाएगा। एक ओर न्याय है तो दूसरी ओर दण्ड है। दण्ड में जितना विश्वास है उतना न्याय में हो जाए तो दण्ड अपनी मौत मर जाए—

विश्वासो वर्तते दण्डे, न्याये तावान्न विद्यते ।

यदि न्यायः प्रवृत्तः स्याद्, दण्डः किं चिरमुच्छ्वसेत् ॥

एक नया चिंतन दिया गया—दंड की भाषा में मत सोचो किन्तु न्याय की भाषा में सोचो, न्याय की भाषा में बोलो। आज की स्थिति है—जो अपराध नहीं करने वाला है, वह दंड पा रहा है और जो अपराधी है वह बच रहा है। जो अपराध करने वाला है, वह सही सलामत और बेदाग निकल जाता है और जो अपराध नहीं करने वाला है, वह दंड का भागी बन जाता है। यह वर्तमान युग की कटु सच्चाई है। जब तक न्याय की भाषा में चिंतन नहीं होगा, अपराध की समस्या का समाधान नहीं हो सकेगा।

कब बनता है दंड प्रभावी?

प्लेटो ने दंड के लिए दो बातें कही—एक वैधानिक कर्तव्य और दूसरा नैतिक कर्तव्य। जब तक आदमी वैधानिक कर्तव्य को ही प्रमुखता देगा, समाज में न्याय नहीं होगा। नैतिक कर्तव्य को मुख्यता दिए बिना समाज में न्याय की कल्पना नहीं की जा सकती। यदि न्याय नहीं है तो अपराध की रोकथाम भी संभव नहीं है और अपराध विद्यमान है तो दंड की अन्तहीन परंपरा चलती रहेगी।

मार्क्स ओरेलियस ने एक अधिकारी की नियुक्ति की। अपने हाथ से उसे तलवार देकर कहा—‘देखो! अपनी रक्षा के लिए मैं तुम्हें नियुक्त कर रहा हूँ। जब तक मैं न्याय का आचरण करूँ, तब तक तुम इस तलवार से मेरी रक्षा करो और जिस दिन मैं न्याय का अतिक्रमण करूँ, उस दिन इस तलवार से मेरा गला काट देना।’ उन्होंने कहा—‘मेरा कर्तव्य है रोमन के नागरिकों को सुखी बनाए रखना। जब तक मैं इस कर्तव्य का पालन करूँ, यह तलवार मेरी रक्षा करती रहे। जब मैं कर्तव्य से विमुख हो जाऊँ, यह तलवार तुम्हारे द्वारा मेरी गर्दन पर आ जाए।’

जब तक यह न्याय ही निष्ठा और नैतिक कर्तव्य की निष्ठा मनुष्य में बनी रहती है, दंड प्रभावी नहीं होता। वह केवल आचार-संहिता में ग्रथित रहता है। दंड तभी प्रभावी बनता है जब न्याय कमजोर बनता है।

न्याय की परिभाषा

समाज व्यवस्था, न्याय, नैतिक कर्तव्य और दंड व्यवस्था—ये चारों अपराध की रोकथाम में उपयोगी बनते हैं। आज समाज की व्यवस्था राजनीति के हाथ में है, विधान सभा, लोकसभा और न्यायपालिका के हाथ में है, पुलिस और प्रशासन के हाथ में है। जनता के पास कुछ रहा ही नहीं। यह बड़ी विचित्र स्थिति है। समाज की इस वर्तमान व्यवस्था में अपराध न हो तो आश्चर्य है, हो तो कोई आश्चर्य नहीं लगता। पुराने समय में नैतिक चिन्तन बहुत ऊंचा था। भागवत में समाज व्यवस्था के संदर्भ में कहा गया—

यावद् भ्रियेत जठरं, तावद् युक्तं हि देहिनाम्।

अधिकं योऽभिमन्येत, स स्तेनो दण्डमर्हति॥

जितने धन से अपना पेट, उतने धन पर व्यक्ति का अपना अधिकार है। जो उससे अधिक धन का संग्रह करता है और उसे अपना मानता है, वह चोर है। उसे दंड मिलना चाहिए। उसे मृत्यु तक का अधिकारी भी माना गया। यह एक परिभाषा थी न्याय की।

प्रश्न होता है—न्याय क्या है? बहुत जटिल है न्याय की परिभाषा करना। न्याय के सन्दर्भ में सारे मानव-समाज को एक भूमिका पर रखा गया। ‘कोई भी व्यक्ति अभाव में न रहे’ यह न्याय का आधार-सूत्र है। अभाव हो तो सबको हो और भाव हो तो सबके पास हो। इस आधार पर न्याय की सारी व्यवस्था की गई किन्तु आज इस अवधारणा में परिवर्तन आ गया। कानून के जाल में न्याय भी उलझ गया और व्यवस्था भी उलझ गई। अपराध और दण्ड को मुक्त

अवकाश मिल गया। समाज में अपराध भी बढ़े और दण्ड का भी विकास हुआ। वर्तमान में ही नहीं, अतीत में भी भयंकर दण्डों का विकास हुआ। स्मृतिग्रंथ भयंकर दण्डों के विधान से भरे पड़े हैं। उस युग में तरल गर्म शीशा कान में डालते, हाथ काट देते, आंख फोड़ देते, नाक काट देते। मनुष्य ने ऐसे भयंकर दण्डों का विधान और प्रयोग किया। आश्चर्य इस बात का है—जितना ध्यान दंड के विकास में गया उतना अपराध के मूल कारणों पर क्यों नहीं गया? आज भी यह प्रश्न प्रस्तुत है और पहले भी शायद यह प्रश्न पूछा गया होगा। इस प्रश्न का उत्तर अतीत में खोजा गया, ऐसा प्रतीत नहीं होता। आज भी इस ओर ध्यान केन्द्रित नहीं है।

कौन चौर : कौन साहूकार?

अपराध होने के बाद दण्ड का प्रयोग किया जाता है किन्तु अपराध के कारणों को मिटाने का प्रयत्न नहीं है। चोरी करने के बाद व्यक्ति को दण्डित किया जाता है किन्तु कोई चोरी न करे, यह बात नहीं सोची जा रही है। एक अवधारणा है—चोरी करने वाला अपराधी है। क्या बहुत संग्रह करने वाला अपराधी नहीं है? अगर गहराई से सोचा जाए तो निष्कर्ष होगा—अधिक संग्रह करने वाला समाज का बड़ा अपराधी है। भारी संग्रह करने वाला, हजारों जगह गढ़ा बनाकर घर में एक पहाड़ खड़ा करने वाला अपराधी क्यों नहीं होता? वह बहुत बड़ा अपराधी है किन्तु उसे अपराधी नहीं माना जाता। जिस व्यक्ति ने थोड़ा-सा धन चुरा लिया, उसे अपराधी मान लिया गया किन्तु अधिक संग्रह करने वाले को बिल्कुल अपराध मुक्त माना गया, साहूकार माना गया। नाम ही दो बन गए—चोर और साहूकार। यह सारा कानूनी प्रपंच के कारण हुआ। अगर नैतिक चेतना का विकास होता तो यह स्थिति कभी नहीं बनती। कानून की भाषा में चाहे जितने प्रपंच रचे जाएं पर वह चोरी नहीं है, साहूकारी है और कानून की भाषा में जहां भी थोड़ा-सा बदलाव आता है, व्यक्ति एक क्षण में चोर बन जाता है। यह एक विडंबना है।

समाज-विज्ञान की समस्या

अध्यात्म के बिना नैतिकता फलित नहीं होती और नैतिक कर्तव्य के बिना कोरा कानून और दण्ड समाज को कभी स्वस्थ नहीं बना सकता। स्वस्थ समाज की रचना के लिए कानून से परे जाकर नैतिक कर्तव्य पर ध्यान केन्द्रित करना अपेक्षित है। जब तक मनुष्य का ध्यान नैतिक कर्तव्य पर केन्द्रित नहीं है तब तक समाज नीरोग बन सके, स्वस्थ बन सके, यह संभव नहीं है।

बहुत बार समाज के बारे में सोचा जाता है, समाज व्यवस्था के बारे में सोचा जाता है किन्तु सारा चिंतन राजनैतिक प्रणाली तक अटक जाता है। इन पांच-सात दशकों में समाज के बारे में जितना चिंतन हुआ है, उससे पहले शायद उतना नहीं हुआ। पुराने जमाने का चिंतन धर्म के बारे में ज्यादा था। समाज के चिंतन को भी धर्म का रूप दे दिया गया। हिन्दुस्तान में एक काल स्मृतियों का काल रहा है। उस समय मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य-स्मृति आदि-आदि स्मृतियां लिखी

गई। उनमें समाज की व्यवस्था के बारे में सोचा गया किन्तु उसे धर्म का रूप दे दिया गया इसलिए समाज का स्वतंत्र चिंतन नहीं हुआ।

इन दशकों में समाज के विषय में स्वतन्त्र चिंतन का विकास हुआ है। विज्ञान की एक स्वतन्त्र शाखा बन गई—समाज-विज्ञान। उसमें समाज के बारे में सोचा गया है किन्तु उसके सामने जो शीशा रहा, वह राजनीति का रहा इसलिए समाज में जो परिवर्तन आना चाहिए, वह नहीं आया। जहां स्वस्थ समाज की रचना का, अहिंसक समाज की रचना का चिंतन चले वहां अपराध कम होने चाहिए, चोरी और डकैतियां कम होनी चाहिए किन्तु वे कम नहीं हुई हैं। इस युग में चोरियां अधिक बढ़ी हैं, डकैतियों के कारगर तरीके विकसित हुए हैं। प्रायः देखा गया है—बैंक की डकैतियों में आज के पढ़े-लिखे युवक का हाथ ज्यादा रहता है। इस स्थिति में यह चिंतन सार्थक लगता है—जब तक नैतिक कर्तव्य को छोड़कर केवल कानूनी आधार पर समाज की व्यवस्था का संचालन होगा तब तक स्वस्थ समाज की रचना संभव नहीं बन पाएगी। आज अपराध करने वाले को अगर कुशल व्यक्ति का सहारा मिल गया, अच्छा वकील मिल गया फिर चाहे उसका कितना ही बड़ा अपराध हो, वह व्यक्ति बच जाएगा। यह सारा कानून के आधार पर होता है। अध्यात्म का सूत्र है—अंगुली वहीं टिकाओ, जहां दर्द हो। अंगुली दूसरी जगह पर मत टिकाओ, कोरी झूठी सहानुभूति मत रखो।

अपराध का मूल : संग्रह की मनोवृत्ति

एक व्यक्ति से पूछा—तुमने हाथों पर पट्टी क्यों बांधी है? क्या कोई चोट लग गई? हड्डी टूट गई? उसने कहा—मेरे मित्र की हड्डी टूट गई इसलिए उसकी सहानुभूति में मैंने पट्टी बांधी है।

जहां कोरी सहानुभूति की भाषा होती है वहां बदलाव की बात संभव नहीं बनती। जहां दर्द है, वहीं पट्टी बांधें। जहां दर्द है वहीं अंगुली टिकाएं। मनुष्य में आकांक्षा और लोभ है, संग्रह की प्रवृत्ति है, यह अपराध का मूल है। इसका इलाज किए बिना अपराध की समस्या को समाहित नहीं किया जा सकता। जिस समाज में अपराध के मूल कारणों की रोकथाम का प्रयत्न किया जाता है, वह समाज स्वस्थ होता है। जिस समाज में दंड देने की स्थिति कभी-कभी आती है, विशेष परिस्थिति में ही दंड का प्रयोग होता है, उस समाज में स्वस्थ वातावरण निर्मित होता है। यह नहीं कहा जा सकता—दण्ड बिलकुल ही अप्रभावकारी बन जाए, निवृत्त हो जाए। यह अतिवाद है। समाज व्यवस्था में दंड की आवश्यकता को सर्वथा अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

कानून की अभिमुखता

इस मानव समाज में पांच अरब आदमी हैं और बढ़ते ही चले जा रहे हैं। इतने बड़े मानव समाज में दंड न हो, यह नहीं सोचा जा सकता किन्तु यह सोचा जा सकता है—क्या दंडाभिमुख होकर ही सारा चिंतन करें या अपराध न हो, इस दिशा में सोचें। समाज की अभिमुखता किस दिशा में जा रही है? समाज की अभिमुखता किस दिशा में होनी चाहिए? कानून की सारी अभिमुखता

दंडाभिमुखी है। उसके सामने दंड का प्रावधान मुख्य प्रश्न है। कानून कहता है—अमुक काम के लिए यह दंड है और अमुक काम के लिए यह दंड है। भारतीय दंड-संहिता या किसी भी राष्ट्र की दंड-संहिता का रूप दंडात्मक ही होगा। किस अपराध के लिए क्या दंड दिया जाए, यह कानून का विषय है किंतु अपराध की स्थिति को कैसे मिटाया जा सकता है, यह दृष्टि वर्तमान कानून संहिता में प्राप्त नहीं है।

अध्यात्म का ज्योति-स्तम्भ

धर्म के क्षेत्र में कहा गया—प्रमाद मत करो। धर्म की भाषा भिन्न है। एक है अपराध की भाषा। धर्म के क्षेत्र में अपराध की भाषा नहीं है। धर्म के क्षेत्र में है प्रमाद की भाषा। राजनैतिक क्षेत्र में दंड की भाषा है, अध्यात्म में प्रायश्चित्त की भाषा है। प्रमाद और प्रायश्चित्त, अपराध और दंड। जहां अपराध है वहां दंड है। जिसका धर्म में विश्वास है, जिसने अपना दायित्व स्वयं संभाला है, जो किसी भी आचरण और व्यवहार के प्रति स्वयं जिम्मेदार है और जो इस दायित्व के साथ चलता है, उसकी भाषा प्रायश्चित्त की भाषा होगी। अध्यात्म का दृष्टिकोण है—अप्रमाद की साधना कैसे बढ़े? प्रमाद को कैसे मिटाया जाए? कभी-कभी धर्म के लोग भी इस तथ्य को विस्मृत कर देते हैं। किसी व्यक्ति से कहा जाए—तुम यह गलती मत करो, यह प्रमाद है, इसे छोड़ो। वह कहता है—मैं क्या करता हूं? बड़े-बड़े व्यक्ति भी ऐसा ही करते हैं। वे हांशियार हैं इसलिए बच जाते हैं और मैं पकड़ा जाता हूं। यह भाषा भी बहुत खतरनाक है। कानून से कोई बच सकता है, छिपा भी रह सकता है, वहां वकील भी हो सकता है पर धर्म के क्षेत्र में न कोई वकील है, न कोई वकालत है। उसमें वकालत का धन्धा ही नहीं है। कोई बिचौला नहीं है, कोई दलाल नहीं है। अध्यात्म के क्षेत्र में एक ही ज्योति-स्तम्भ है 'कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि' कृत कर्मों से छुटकारा नहीं है, मैं करूंगा तो मैं भोगूंगा। किसी को पता चले या न चले, कोई देखे या न देखे, कोई जाने या न जाने। इसका कोई मूल्य नहीं है। जो करेगा, वह भरेगा, जो बोएगा, वह काटेगा। यह ज्योति स्तम्भ ही व्यक्ति को अन्धकार की ओर बढ़ने से रोकता है। इससे व्यक्ति में केवल नैतिक दायित्व और कर्त्तव्य की भावना जागती है।

नैतिक कर्त्तव्य की चेतना जागे

इंग्लैंड की घटना है। पुलिस का सिपाही चोराहे पर खड़ा था। एक कार आ रही थी। कार में कुछ बड़े लोग बैठे थे। कार गलत ढंग से चल रही थी। सिपाही ने कार को रोका। भीतर से आवाज आई—तुम जानते नहीं हो, इसमें कौन बैठे हैं? सिपाही बोला—आप कौन हैं, इससे मुझे कोई लेना देना नहीं है। यदि कार में स्वयं सम्राट् बैठा है तो भी मुझे कोई मतलब नहीं है। मेरा कर्त्तव्य है—जो कार गलत चलाए, उसका चालान कर देना। मैं तुम्हारा चालान करता हूं।

जब नैतिक कर्त्तव्य की चेतना जागती है तब ऐसा सम्भव बनता है। प्रत्येक व्यक्ति सोचे—मैंने जो नैतिक कर्त्तव्य स्वीकार किया है, जो दायित्व ओढ़ा है, वह मेरा दायित्व है, कर्त्तव्य और धर्म है। यह विवेक चेतना प्रत्येक व्यक्ति में

जागे। इस स्थिति में ही सोचा जा सकता है—हम अपराध की रोकथाम में लगे हुए हैं, दण्ड का उच्छेद करने में लगे हुए हैं। इस मनःस्थिति में ही दंड का उन्मूलन किया जा सकता है, दंड को कम किया जा सकता है। जब तक चिन्तन का यह स्तर नहीं होगा तब तक कोई भी समाधान समाधानकारक नहीं होगा, उसका अर्थ भी समझ में नहीं आएगा। वह तभी समझ में आ सकता है जब यह प्रकाश-सूत्र व्यक्ति के सामने बराबर बना रहे।

जरूरी है संस्कारों का निर्जरण

अध्यात्म के क्षेत्र में कहा गया—‘नत्थि अवेयइत्ता तवसा वा झोसइत्ता’—कृतकर्म से छुटकारा पाने के दो ही मार्ग हैं—जो कर्म किया है, उसे भोग लिया जाए या तपस्या के द्वारा उसे क्षीण कर दिया जाए। ध्यान एक तपस्या है। ध्यान के द्वारा जो पुराने संस्कार अर्जित हैं, उन संस्कारों को क्षीण किया जा सकता है। वे संस्कार व्यक्ति को कभी हिंसा में ले जाते हैं, कभी झूट, चोरी में ले जाते हैं, कभी अब्रह्मचर्य और संग्रह की लुभावनी वृत्ति में ले जाते हैं। कभी कलह, ईर्ष्या, निन्दा, चुगली, निराशा आदि में ले जाते हैं। ये सारे संस्कार व्यक्ति के भीतर विद्यमान हैं। इन संस्कारों के निर्जरण के लिए, इन संस्कारों को तोड़ने के लिए ध्यान का प्रयोग किया जाता है। संस्कारों को क्षीण करना अपराध को कम करना है। जब मनुष्य-समाज में व्यापक स्तर पर यह चेतना जागेगी—तपस्या के द्वारा पुराने संस्कारों को क्षीण करना है, अपनी निर्मलता को प्राप्त करना है—तब दंड की वृत्ति अपने आप कम हो जाएगी। तपस्या का विकास किए बिना समाज में अपराध कम हो सके, ऐसा संभव नहीं है। अध्यात्म के जगत् में जीने वाले, सांस लेने वाले लोग इस तथ्य पर बहुत गहराई से चिन्तन-मनन करें।

आत्मना युद्धस्व

एक जिज्ञासा लेकर शिष्य आचार्य की सन्निधि में प्रस्तुत हुआ। विनम्र भाव से वंदन कर उसने कहा—गुरुदेव! मैंने सुना है, पढ़ा है—भगवान महावीर इस संसार में अहिंसा के सबसे बड़े प्रवर्तक हुए हैं। उन्होंने अहिंसा को जितना मूल्य दिया, उतना महत्त्व किसी को नहीं दिया। मैंने यह भी सुना है—महावीर युद्ध की भाषा में बोले, लड़ाई की भाषा में बोले, जय और पराजय की भाषा में बोले। मेरे मानस में यह प्रश्न घूम रहा है—महावीर युद्ध की भाषा में क्यों बोले? एक ओर अहिंसा का सूक्ष्म विवेचन, दूसरी ओर युद्ध की भाषा का प्रयोग। इन दोनों में संगति कहाँ है? मनोवैज्ञानिक बतलाते हैं—युद्ध एक मौलिक मनोवृत्ति है। मनोविज्ञान में चौदह मौलिक मनोवृत्तियाँ मानी गई हैं। उनमें एक है युद्ध। क्या यह माना जाए—महावीर में भी एक मौलिक मनोवृत्ति विद्यमान थी?

गुरु ने कहा—वत्स! महावीर अहिंसा के प्रवक्ता थे, इसमें कोई सन्देह नहीं है। महावीर युद्ध की भाषा में बोले, यह भी सचाई है। महावीर क्षत्रिय राजकुमार थे। युद्ध क्षत्रिय का प्रिय विषय होता है।

कायरता : सबसे बड़ा पाप

वस्तुतः लड़ना कोई बुरी बात नहीं है। बुरा है कायर होना। महावीर ने कायरता को सबसे बड़ा पाप बतलाया। बहुत लोग आक्षेप करते हैं—अहिंसा कायरता सिखलाती है, जैन धर्म ने कायरता सिखलाई। यह आरोपण भी कर दिया जाता है—हिन्दुस्तान परतन्त्र बना, उसमें जैन धर्म और बौद्ध धर्म का बहुत सहारा रहा है। इन धर्मों ने अहिंसा पर अधिक बल दिया इसलिए हिन्दुस्तान परतंत्र बन गया। इस आरोपण में कोई सचाई नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह बिलकुल मिथ्या बात है। अहिंसा के कारण कोई देश परतंत्र नहीं बनता। कायरता के कारण, आपसी फूट के और कलह के कारण ही कोई देश परतंत्र बनता है। जहाँ परस्पर वैमनस्य होता है, कलह और संघर्ष होता है, वहाँ परतन्त्र होने की सम्भावना बनी रहती है। जहाँ अहिंसा का विकास होता है, वहाँ फूट, बेईमानी और कलह को पनपने का अवकाश नहीं मिलता।

युद्ध का होना अनिवार्य है

मनुष्य का सबसे उदात्त गुण है—पराक्रम। विक्रम और पराक्रम मनुष्य के विशिष्ट गुण हैं। जहाँ विक्रम और पराक्रम होगा, वहाँ अभिक्रम निश्चित होगा। 'अभिक्रमो रणे यानम्', अभिक्रम का अर्थ है—युद्ध की दिशा में प्रस्थान। यह पराक्रम का लक्षण है। प्रश्न हो सकता है—युद्ध कहाँ करें? युद्ध भूमि कौन-सी हो? युद्ध किनसे करें? युद्ध कैसे करें?

हमारे दो जगत् हैं—भीतरी जगत् और बाह्य जगत्। जिन लोगों ने भीतरी जगत् का साक्षात्कार नहीं किया है, वे बाहर में लड़ेंगे, युद्ध भूमि में लड़ेंगे, दूसरों से लड़ेंगे, शस्त्रों के द्वारा लड़ेंगे। जब बाह्य जगत् का आंतरिकीकरण हो जाता है, बाह्य स्थितियों का भीतर में स्थानांतरण हो जाता है, तब भी युद्ध चलता है किन्तु रणभूमि में नहीं, अपनी चेतना की भूमि पर लड़ा जाता है। किसी दूसरे से नहीं किन्तु अपनी ही दुर्बलताओं से लड़ा जाता है। वह युद्ध बाह्य शस्त्रों से नहीं, अपने ही शस्त्रों से लड़ा जाता है, जागरूकता और अप्रमाद से लड़ा जाता है। आंतरिकीकरण में युद्ध का साधन बदल जाएगा, स्थल बदल जाएगा, प्रकार बदल जाएगा किन्तु युद्ध का होना अनिवार्य है।

दुर्लभ है युद्ध का क्षण

महावीर ने कहा—जुद्धारिहं खलु दुल्लहं—युद्ध का क्षण दुर्लभ है। कोई-कोई क्षण ऐसा होता है, जो युद्ध का क्षण होता है। किसी भाग्यशाली को ही युद्ध का क्षण उपलब्ध होता है। महावीर जैसे अहिंसा के प्रवक्ता हैं, वैसे ही युद्ध के प्रवक्ता भी हैं। ब्राह्मण ने नमि राजर्षि से कहा—राजन्! अनेक राजाओं की आपके राज्य पर नजर टिकी हुई है। आप राज्य छोड़कर चले जाएंगे तो पीछे क्या होगा? आप मुनि बनने से पहले एक काम करें, जो राजा आपके सामने नत नहीं होते हैं, उन सब राजाओं को अपने अधीन बना लें, उन पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लें, उसके बाद संन्यासी बन जाएं—

जे केई पत्थिवा तुब्भं, नानमति नराहिवा।

वसे ते ठावइत्ताणं, तओ गच्छसि खत्तिया!

नमि राजर्षि ने उत्तर दिया—जिसको वश में करना चाहिए, उसको वश में नहीं किया जा रहा है। मैं युद्धभूमि में लड़े जाने वाले युद्ध में विश्वास नहीं करता। इस बाहरी युद्ध से अधिक महत्वपूर्ण है अपनी आत्मा से युद्ध करना—

जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिणे।

एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ॥

अप्पाणमेव जुज्जाहि, किं ते जुज्जेण बण्णओ?

अप्पाणमेव अप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए॥

जो पुरुष दुर्जेय संग्राम में दस लाख लोगों को जीतता है, उसकी अपेक्षा वह एक अपनी आत्मा को जीतता है, वह उसकी परम विजय है।

आत्मा के साथ ही युद्ध कर। बाहरी युद्ध से क्या होगा? आत्मा के द्वारा आत्मा को जीतकर ही मनुष्य सुख पाता है।

युद्ध के बाद सुख नहीं, दुःख बढ़ता है

जो युद्ध समर भूमि में लड़ा जाता है, उसमें व्यक्ति दूसरों के जीवन के साथ खेलता है। उसमें हारने वाला तो हारता ही है, जीतने वाला भी हार जाता है। उस युद्ध से व्यक्ति स्वयं दुःखी बनता है और सारे संसार को दुःखी बना देता है। दूसरे महायुद्ध से पहले अधिक महंगाई नहीं थी, कठिनाई नहीं थी, द्वितीय महायुद्ध के बाद लोगों की कठिनाइयां बढ़ गईं, वस्तुओं के भाव एकाएक बढ़ गए। महायुद्ध के बाद सारी स्थितियां बदल गईं, जीवन-निर्वाह दूभर होता

चला गया। इतिहासवेत्ता जानते हैं—महाभारत से पहले जो हिन्दुस्तान था, वह बहुत समृद्ध हिन्दुस्तान था। विद्या, बुद्धि, वैभव आदि से समृद्ध था, मंत्र, यंत्र और तंत्र से सम्पन्न था। महाभारत के बाद हिन्दुस्तान का नक्शा बदल गया। महाभारत से पूर्व और महाभारत के बाद के हिन्दुस्तान में आकाश-पाताल जितना अन्तर आ गया। महाभारत युद्ध से अनेक विद्याएं लुप्त हो गईं, बड़े बड़े विद्याधर, अनेक विद्याओं के मर्मज्ञ मनुष्य समाप्त हो गए। आज अणुबम बहुत खतरनाक माना जाता है। उस समय ब्रह्मास्त्र कम खतरनाक नहीं था। एक प्रकार से मानना चाहिए—महाभारत के युद्ध में शक्तियों का लोप ही नहीं हुआ, हिन्दुस्तान की आत्मा भी चली गई। युद्ध के बाद दुनिया में सुख नहीं बढ़ता, दुःख बढ़ता है। यह एक सचाई है।

युद्ध के दो प्रकार

नमि राजर्षि ने आत्मयुद्ध का संकल्प किया, अपने आप से युद्ध करने का संकल्प किया। युद्ध के दो प्रकार बन गए—बाह्ययुद्ध और आत्मयुद्ध। बाह्य युद्ध में दूसरों से लड़ा जाता है। आत्मयुद्ध में अपनी आत्मा से लड़ा जाता है। आत्मा का आत्मा से युद्ध आत्मयुद्ध है। प्रश्न प्रस्तुत हुआ—अपने आप से लड़ो, इसका मतलब है, एक वह आत्मा है, जिससे युद्ध करना है और एक वह आत्मा है जो युद्ध करने वाली है। एक को पराजित करना है और एक को विजेता बनाना है। ये दो आत्माएं कहां से आ गईं? उत्तर दिया गया—प्राणी के भीतर दो नहीं, सौ आत्माएं बैठी हैं। आत्मा कभी अकेली बनी ही नहीं। मनुष्य के इस शरीर के भीतर अनेक आत्माएं हैं। उनमें एक आत्मा को विजेता बनाना है और शेष को पराजित करना है। एक पराजित करने वाली आत्मा है, एक पराजित होने वाली आत्मा है।

आगम साहित्य में आत्मा का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है। आत्मा एक अर्थ है—शरीर। आत्मा का एक अर्थ है—इन्द्रियां। आत्मा का एक अर्थ है—मन। आत्मा का एक अर्थ है—चेतना। आत्मयुद्ध के प्रसंग में इन्द्रिय, मन और कषाय आत्मा से लड़ना है। चार कषाय, पांच इन्द्रियां और मन—इन दस का समूह है—आत्मा। यह एक यूनिट है, इकाई है। आत्मयुद्ध में इस आत्मा को पराजित करना है और ज्ञाता द्रष्टा आत्मा को विजयी बनाना है। यह 'आत्मना युद्धस्व' की रूपरेखा है।

आश्चर्यजनक सच्च

'कैसे लड़ें' इस प्रश्न पर अध्यात्म और मनोविज्ञान—इन दो दृष्टियों से विचार करना अपेक्षित है। अध्यात्म के आचार्यों ने चेतना के क्षेत्र में सूक्ष्म जगत् के अनेक रहस्यों का प्रतिपादन किया था किन्तु वे बहुत संदिग्ध माने जाते थे। सिगमंड फ्रायड, जो मनोविज्ञान के प्रवर्तकों में प्रमुख हैं, ने चेतना के सूक्ष्म-स्तरों का विश्लेषण किया। उससे अध्यात्म को एक नया प्रकाश मिला, नया बल मिला। फ्रायड के बाद मनोविज्ञान की एक परम्परा चल पड़ी। मनोविज्ञान ने चेतना के अनेक सूक्ष्म स्तरों की व्याख्या की। अगर आज कोई आध्यात्मिक-मनोविज्ञान को नहीं पढ़ता है तो एक कमी महसूस करनी चाहिए। चेतना के सूक्ष्म स्तरों की

व्याख्या में मनोविज्ञान आज अध्यात्म का पूरक एवं सहायक बनता है। यह स्वीकार करना चाहिए—आज चेतना के जगत् में प्रवेश करने का संसार को जो अवसर मिला है, वह मनोवैज्ञानिकों के द्वारा मिला है, किसी धार्मिक व्यक्ति के द्वारा नहीं। यह आश्चर्य की बात होते हुए भी सच है।

मनोरचना का एक प्रकार : अवदमन

मनोविज्ञान में मनोरचना के अनेक प्रकार बतलाए गए हैं। इनमें तीन प्रमुख हैं—

- अवदमन (रिप्रेशन)
- शमन (सप्रेसन)
- उन्नयन (सब्लिमेशन)

मनोरचना का पहला प्रकार है—अवदमन। एक सामाजिक प्राणी हर कोई काम नहीं कर सकता। समाज में रहने वाला, सामाजिक जीवन जीने वाला व्यक्ति चाहे जैसा नहीं कर सकता। व्यक्ति के मन में बहुत सारी तरंगें पैदा होती हैं, अनेक प्रकार की कल्पनाएं और विचार पैदा होते हैं किन्तु जो मन में आता है, उसे बाह्य करना नहीं है। व्यक्ति के मन में जो आए उसे वह करता चला जाए तो वह सामाजिक दृष्टि से पागल कहलाएगा। सामाजिक व्यक्ति में सहज नियंत्रण होता है। समाज का मतलब है नियंत्रण। समाज बना, साथ-साथ नियंत्रण ने भी जन्म लिया। एक व्यक्ति कुलीन परिवार का है, उस परिवार में शराब को हेय माना जाता है। व्यक्ति के मन में विचार आया—मुझे शराब पीना है। मन में यह भाव जन्म गया किन्तु वह शराब पी नहीं सकता। वह सोचता है—घर का अमुक सदस्य देख रहा है, अमुक व्यक्ति देख रहा है इसलिए शराब पीना उचित नहीं है। मन में जो भाव जगा, आकांक्षा पैदा हुई, वह पूरी नहीं हुई। वह अकेला नहीं था, उसके साथ दूसरा व्यक्ति था इसलिए उसे अपनी आकांक्षा को दबाना पड़ा। उसकी आकांक्षा समाप्त नहीं हुई। वह दमित भावना, दमित आकांक्षा स्थूल चेतना से हटकर अवचेतन जगत् में चली जाती है, अवदमित हो जाती है। यह है अवदमन। एक वृत्ति का अवदमन हो गया, इसका मतलब है—वह उस समय उस बुराई से बच गया। बचने का निमित्त चाहे कुछ भी बना किन्तु बचाव हो गया।

नियंत्रण : एक उपाय

एक लड़का बुराई में चला गया। पिता ने बहुत उपाय किए किन्तु कोई परिवर्तन नहीं आया। एक बार गांव में एक मुनि आए। पिता अपने लड़के को मुनि के पास ले गया। उसने सारी बात मुनि को बता दी। मुनि ने लड़के से कहा—‘तुम बुराइयां छोड़ दो।’

लड़का बोला—‘मैं असमर्थ हूँ। मैं नहीं छोड़ सकता।’

मुनि बड़े मनोवैज्ञानिक थे। उन्होंने सारी स्थिति को देखकर सोचा—इसे ज्यादा कहना अच्छा नहीं है और यह सीधे रास्ते से बुराइयां नहीं छोड़ेगा। मुनि

बोले—‘तुम शराब पीना नहीं छोड़ सकते, जुआ नहीं छोड़ सकते, वेश्यागमन नहीं छोड़ सकते पर एक बात तो मान सकते हो।’

‘आप क्या कहना चाहते हैं?’

‘क्या तुम झूठ बोलना छोड़ सकते हो?’

‘हां, यह मैं कर सकता हूँ।’

मुनि ने लड़के को झूठ बोलने का त्याग करवा दिया। चाबी हाथ में आ गई।

दूसरा दिन! प्रातः काल ही वह तैयार होकर शराब पीने के लिए जाने लगा। पिता ने पूछा—‘कहां जा रहे हो?’

वह उलझन में फंस गया। झूठ बोलना नहीं था। उसने संकोच के साथ कहा—‘शराब पीने जा रहा हूँ?’

‘तुम शराब पीते हो?’

पुत्र कुछ बोल नहीं सका। वह चुपचाप वापस मुड़ गया।

दोपहर का समय। वह जुआ खेलने जाने लगा। मां ने कहा—‘कहां जा रहा है?’

उसके सामने पुनः समस्या पैदा हो गई। क्या कहे? वह जुआ खेलने नहीं जा सका।

संध्या का समय हुआ। उसने वेश्या के घर जाने की तैयारी की। बहन ने पूछ लिया—‘कहां जा रहे हो?’

वह फिर मुसीबत में फंस गया। उसका मन लज्जा से भर गया। वेश्यागमन बंद हो गया।

उसकी वृत्तियां नहीं छूटी। ऊपर से नियंत्रण आया, वृत्तियों का दमन हो गया। वे धीरे-धीरे अवचेतन में चली गईं। बाहरी तौर पर सारी बुराइयां बंद हो गईं। बुराइयों से लड़ने का यह एक प्रकार है—अवदमन। यह प्रकार बहुत अच्छा नहीं है किन्तु कभी-कभी अच्छा भी होता है।

शमन

मनोविज्ञान की भाषा में आत्मयुद्ध का दूसरा प्रकार है—शमन—सप्रेशन। मनुष्य में थोड़ा विवेक जाग जाता है—यह काम करना अच्छा नहीं है, जुआ खेलना अच्छा नहीं है। मैंने पढ़ा है—बहुत काम-वासना से भयंकर बीमारियां पैदा हो जाती हैं। इस प्रकार का विचार मनुष्य के मानस में उपजता है और वह उस बुराई से अपना बचाव करता है। अपने बचाव के लिए, आत्म-रक्षा के लिए इस प्रकार की मनोरचना की निर्मिति शमन—सप्रेशन है।

उदात्तीकरण

आत्मयुद्ध का तीसरा प्रकार है—उन्नयन—उदात्तीकरण, एक वृत्ति को उदात्त बना लेना। मन बार-बार बुरे विचारों में जा रहा था, बुरी भावनाएं जन्म ले रही थीं। एक आलंबन मिला स्वाध्याय का। व्यक्ति ने संकल्प किया—प्रतिदिन पांच घंटा स्वाध्याय में लगाना है। इस सूत्र को पकड़कर वह स्वाध्याय में लग गया। दिन भर उठने वाले बुरे विचार, बुरी कल्पनाएं बंद हो गईं। जो मन बुरी

दिशा में जा रहा था, उसका उन्नयन हो गया, उदात्तीकरण हो गया। बुराई से बचने के लिए वृत्ति का रूपांतरण करना, उदात्तीकरण है।

आत्मयुद्ध : अध्यात्म के सूत्र

बुराई से बचने का मतलब है अपने आप से लड़ना, अपने आपसे संघर्ष करना, युद्ध करना। अध्यात्म में बुराई से निवृत्त होने के अनेक उपाय निर्दिष्ट हैं—

संकल्पः शमनं, ज्ञातृद्रष्टृभावविभावनम्।

स्मरणं प्रतिक्रमणं, युद्धं पंचविधं स्मृतम्॥

आत्मयुद्ध के पांच प्रकार हैं—

- संकल्प
- शमन
- ज्ञाता-द्रष्टा भाव
- स्मरण
- प्रतिक्रमण

आत्मयुद्ध का पहला प्रकार है—संकल्प। संकल्प का प्रयोग करना यानी अपनी संकल्प शक्ति को बढ़ा लेना, जिससे व्यक्ति इन्द्रियों और संवेगों के साथ लड़ सके, कषायों के साथ युद्ध कर सके। 'इयाणि नो' अब नहीं करूंगा, यह संकल्प आत्म-युद्ध का पहला अस्त्र है। जिस व्यक्ति को यह अस्त्र प्राप्त होता है, वह अपने आपको बचा सकता है।

आत्मयुद्ध का दूसरा प्रकार है—शमन करना। जैसे मनोविज्ञान में दो प्रक्रियाएं निर्दिष्ट हैं वैसे ही अध्यात्म के क्षेत्र में भी दो प्रक्रियाएं हैं—एक उपशमन की प्रक्रिया और दूसरी क्षयीकरण की प्रक्रिया।

मनोविज्ञान में दबाने की प्रक्रिया बतलाई गई है। अध्यात्म के क्षेत्र में भी दबाने की प्रक्रिया मान्य है। किसी वृत्ति का एक साथ क्षय हो जाए, यह जरूरी नहीं है। उसका क्षय न हो तो कम से कम उसे खुला मत छोड़ो, उसका नियंत्रण करो, दबाओ। दबाने से भी वृत्ति में बड़ा अन्तर आ सकता है।

एक राजा के मन में एक विकल्प उठा। उसने राज्यसभा में घोषणा की—जो व्यक्ति बकरे को तृप्त कर देगा, उसे पुरस्कृत किया जाएगा। बिलकुल नई घोषणा थी। बकरा कभी तृप्त नहीं होता। उसे भरपेट खिला दिया जाए, दिन भर खिलाया जाए किन्तु वह तृप्त नहीं होगा। ज्योंहि उसके सामने खाने की सामग्री रखी जाएगी, वह खाने लग जाएगा। पुरस्कार की बात से प्रत्येक व्यक्ति के मन में लार टपक जाती है। एक व्यक्ति ने बकरे को खूब खिलाया, पिलाया, उसे तृप्त कर दिया। वह राजा के सामने प्रस्तुत हुआ। उसने कहा—मेरा बकरा बिलकुल तृप्त है। बकरे को लाया गया। राजा ने कर्मचारियों को आदेश दिया—चारा लाओ। चारा बकरे के सामने रखा गया। बकरे ने तत्काल चारे में मुंह डाल दिया, वह खाने लग गया। राजा ने कहा—यह तो तृप्त नहीं है। कई व्यक्ति आए, असफल होकर चले गए।

तीन दिन बाद एक आदमी आया। उसने कहा—मेरा बकरा बिलकुल तृप्त है। राजा ने उसे बुलाया। बकरे के सामने चारा रखा गया पर वह बिलकुल नहीं खा रहा है। राजा को आश्चर्य हुआ—यह कैसे हुआ! बकरे के सामने फिर

चारा रखा तो भी वह नहीं खा रहा है। बहुत देर तक चारा सामने पड़ा रहा। बकरे ने चारे को स्पर्श भी नहीं किया। राजा ने कहा—‘तुम उत्तीर्ण हो, पर बताओ! यह कैसे किया?’

वह बोला—‘महाराज! तीन दिन हो गए। इसके साथ बराबर घूम रहा हूँ। जब-जब इसने खाने का साहस किया, मेरा डंडा इसके सिर पर पड़ा और अब यह इतना प्रशिक्षित हो गया है कि खाने की हिम्मत ही नहीं कर रहा है।’

यह दमन की बात है, नियंत्रण की बात है। जब-जब भीतर से मांग उठे, एक डंडा मारो। डंडा मारते-मारते मन प्रशिक्षित हो जाए, फिर सामने कितना ही चारा आए, बढ़िया पदार्थ आए, व्यक्ति उसे पसंद ही नहीं करता। नियंत्रण भी अनावश्यक नहीं होता। यह भी एक प्रकार है लड़ने का।

वृत्ति को दबाना, दबाते रहना आवश्यक है। समाज में रहने वाला व्यक्ति हो या साधना के क्षेत्र में रहने वाला व्यक्ति, दबाने की बात सबके लिए प्राप्त होती है। कोई भी व्यक्ति एक साथ वीतराग नहीं बन जाता। यह अतिकल्पना है—आज ही साधु बना और आज ही वह वीतराग बन जाएगा। इन सीढ़ियों से चढ़ा रागी बनकर और उतरेगा वीतरागी बनकर, यह कभी संभव नहीं है। हर आदमी को प्रक्रिया से गुजरना होता है। उसमें नियंत्रण भी जरूरी होता है। अगर गुरु, आचार्य, व्यवस्था या संघ का नियंत्रण न हो तो व्यक्ति अपने पथ से भटक जाए।

आत्मयुद्ध का तीसरा उपाय है—ज्ञाताद्रष्टाभाव। जैसे-जैसे ज्ञाताद्रष्टाभाव का विकास होगा, आत्मयुद्ध की लड़ाई अधिक तेज बन जाएगी। मैं भोक्ता नहीं हूँ, मैं द्रष्टा हूँ। इस चेतना का जैसे-जैसे विकास होगा, आत्मयुद्ध अधिक प्रखर बन जाएगा, विजय की संभावना प्रबल बन जाएगी।

नेतिवाद : चैतन्य की स्मृति

आत्मयुद्ध का चौथा उपाय है—सतत स्मृति, सतत जागरूकता। बौद्ध साहित्य का महत्त्वपूर्ण शब्द है—स्मृति प्रस्थान। व्यक्ति को निरन्तर अपनी स्मृति रहे, वह अपने प्रति निरन्तर जागरूक रहे। वह सोचे—मैं इन्द्रियां नहीं हूँ, मैं मन नहीं हूँ। मैं कषाय नहीं हूँ। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में इस विषय पर बहुत प्रकाश डाला है। समयसार में नेतिवाद का एक पूरा प्रकरण है—मैं क्रोध नहीं हूँ, मैं मान नहीं हूँ, मैं माया नहीं हूँ, मैं लोभ नहीं हूँ, मैं यह नहीं हूँ, मैं वह नहीं हूँ, नेति-नेति करते चले जाएं—मैं राग नहीं हूँ, मैं द्वेष नहीं हूँ, मैं ईर्ष्या नहीं हूँ, मैं घृणा नहीं हूँ। नेति-नेति करते-करते शेष रहेगा केवल चैतन्य। मैं चैतन्य हूँ, केवल चैतन्य हूँ, और कुछ नहीं। यह सतत स्मृति आत्मयुद्ध का एक प्रकार है। उपनिषद् में नेतिवाद का विशद वर्णन है। आध्यात्म में भी नेतिवाद का पूरा प्रकरण है। इस नेतिवाद की सतत स्मृति अपने चैतन्य की स्मृति है।

प्रतिक्रमण : रणनीति का एक अंग

आत्मयुद्ध का पांचवां उपाय है—प्रतिक्रमण। मुड़कर देखना भी जरूरी है। प्रतिक्रमण में व्यक्ति सोचता है—मैं क्या था, क्या हूँ और मुझे क्या होना है? प्रतिक्रमण का अर्थ है—जिस स्थिति को स्वीकारा, आत्मयुद्ध को स्वीकारा, उस भूमिका पर पहुंचकर समग्र रूप से अपना विश्लेषण करना। प्रतिक्रमण नहीं होता है तो कभी-कभी शिथिलता आ जाती है, कमजोरी आ जाती है, रसद की कमी भी हो जाती है। जब दूसरा महायुद्ध चल रहा था तब बार-बार रेडियो में एक स्वर सुनाई देता—आज बिट्टेन की सेना बड़ी बहादुरी के साथ पीछे हटी। पीछे भी हटी किन्तु बहादुरी के साथ। यह स्वर बहुत विचित्र लगता। पूछा गया—भाई! पीछे हटने में कौनसी बहादुरी है? इसका स्पष्टीकरण दिया जाता—यह भी रणनीति का एक महत्वपूर्ण अंग है। आत्मयुद्ध की लड़ाई में कभी-कभी बहादुरी से पीछे हटना भी जरूरी है और इसी का नाम प्रतिक्रमण है।

महावीर का आत्मयुद्ध का यह संदेश मानवीय चिन्तन या मानवीय चेतना के विकास का सबसे बड़ा उपक्रम है। निठल्ला बैठना, कायर होकर बैठना महावीर जैसे पराक्रमी व्यक्ति को पसंद नहीं था। पराक्रमी व्यक्ति कभी निकम्मा बैठना पसन्द नहीं करता, खाली होकर बैठना पसंद नहीं करता। वह हमेशा कुछ न कुछ करता रहता है। यह आत्मयुद्ध पराक्रमी व्यक्ति ही कर सकता है। इसमें जो व्यक्ति आता है, वह स्वयं सुखी बनता है और दूसरों को भी सुख बांटता है। 'आत्मना युद्धस्व' यह अध्यात्म का एक महत्वपूर्ण सूत्र है। इसकी गहराई में जाना, इसको जीना अपने आपको विजयी बनाना है।

गृहस्थ जीवन का आकर्षण क्यों?

एक शब्दों का युगल है आकर्षण और विकर्षण, प्रियता और अप्रियता। एक वस्तु अपनी ओर खींचती है, उसके प्रति आकर्षण होता है। एक वस्तु विमुख बनाती है, पीठ को घुमा देती है। उसके प्रति हमारा विकर्षण होता है। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जिसके प्रति सबका आकर्षण हो और कोई भी ऐसी नहीं है, जिसके प्रति सबका विकर्षण हो। आकर्षण और विकर्षण—दोनों सापेक्ष हैं। किसी का किसी के प्रति आकर्षण और किसी का किसी के प्रति विकर्षण होता है। प्रश्न प्रस्तुत हुआ—गृहस्थ जीवन का आकर्षण क्यों?

प्राचीनकाल में आश्रम की व्यवस्था थी। आश्रम को मुख्यतः दो भागों में बांटा गया—गृहस्थाश्रम और संन्यासाश्रम। हिन्दुस्तान में दो प्राचीन परम्पराएं रही हैं—श्रमण परम्परा और ब्राह्मण परम्परा। ब्राह्मण परम्परा में संन्यास के लिए स्थान नहीं था। उसमें गृहस्थाश्रम का महत्त्व अधिक था। श्रमण परम्परा में संन्यास को बहुत महत्त्व दिया गया। ऐसा लगता है—एक सिद्धांत के महत्त्व को कम करने के लिए उसके प्रतिपक्ष पर अधिक बल दिया गया। पक्ष के लिए प्रतिपक्ष का होना जरूरी है। अनेकान्त का सिद्धान्त है—जिसका अस्तित्व है, उसका कोई न कोई प्रतिपक्ष है। विज्ञान का सिद्धांत है—बॉडी के साथ एन्टीबॉडी का होना अनिवार्य है। प्रतिपक्ष के बिना किसी का अस्तित्व नहीं है। एक ओर गृहवास का महत्त्व तथा दूसरी ओर मुनि-धर्म का महत्त्व। श्रमण और ब्राह्मण—दोनों परम्पराओं में एक बात को अधिक महत्त्व दिया गया। यदि दोनों को मिलाएँ तो जीवन का समग्र दर्शन प्रस्तुत होता है।

ज्येष्ठाश्रम : गृहस्थाश्रम

गृहस्थ के बिना संन्यास नहीं होता और संन्यास न हो तो गृहस्थ का महत्त्व नहीं रहता, उसमें शुद्धि और पवित्रता नहीं रहती। गृहवास एवं गृहत्याग—दोनों का अपना अपना महत्त्व है। ब्राह्मण परम्परा में चार प्रकार के आश्रम माने गए हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम और संन्यास आश्रम। जीवन को चार भागों में बांट दिया गया—पचीस वर्ष तक विद्यार्थी जीवन, पचीस वर्ष तक गृहस्थ जीवन, पचीस वर्ष तक वानप्रस्थ जीवन और पचीस वर्ष तक संन्यास जीवन। ब्राह्मण परम्परा की मान्यता रही—इन चार आश्रमों में सबसे बड़ा है गृहस्थ आश्रम। महाभारत में इसका बहुत समर्थन किया गया। प्रश्न प्रस्तुत हुआ—गृहस्थ आश्रम सबसे बड़ा कैसे? इस प्रश्न के सन्दर्भ में कहा गया—ब्रह्मचर्य आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम, संन्यास आश्रम—इन तीनों को धारण कौन करता है? इनका भरण-पोषण कौन करता है? ज्ञान और

अन्न—दोनों दृष्टियों से ये तीनों आश्रम गृहस्थाश्रम पर अवलम्बित हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम के व्यक्तियों को गृहस्थ-पण्डित पढ़ाते हैं, अध्यापक पढ़ाते हैं। उनके अन्न की व्यवस्था भी गृहस्थ ही करते हैं। वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम की व्यवस्था का उत्तरदायित्व भी गृहस्थ वहन करता है। मनुस्मृति का प्रसिद्ध श्लोक है—

यस्मात् त्रयोप्याश्रमिणो, ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते, तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥

ज्ञान और अन्न के द्वारा तीनों आश्रमों को गृहस्थ ही धारण करता है, इसलिए वह ज्येष्ठाश्रम है, सबसे बड़ा आश्रम है।

चिन्ता का सम्बन्ध गृहस्थ के साथ

एक व्यक्ति दीक्षित हो रहा है, मुनि बन रहा है। किसी दूसरे व्यक्ति से कहा जाए—यह मुनि बन रहा है तुम भी मुनि बन जाओ। उस व्यक्ति का तर्क होता है—आप कहते हैं, दीक्षा लो, दीक्षा लो। यदि सब दीक्षित हो जाएंगे तो आपको भिक्षा कौन देगा, भोजन कौन देगा? गृहस्थ के बिना साधुत्व को आधार नहीं मिलता। इसलिए गृहस्थ आश्रम बहुत कठिन है, घोर है। एक गृहस्थ को बहुत दायित्व निभाने होते हैं। एक साधु के क्या जिम्मेवारी है? कहा जाता है—साधु के हाथ बगल में हैं। उसे कोई चिन्ता नहीं होती। एक गृहस्थ कहीं भी चला जाए, चिन्ता उसके साथ रहती है। वह सोचता रहता है—गांव में कैसे चल रहा है? परिवार के लोग कैसे हैं? पत्नी का स्वास्थ्य कैसा है? लड़के क्या काम कर रहे हैं? पढ़ रहे हैं या नहीं पढ़ रहे हैं? किसी बुरी संगत या बुरी लत में तो नहीं पड़ गए हैं? घर की सुरक्षा का प्रश्न भी उसके सामने होता है। घर में कोई चोर न घुस जाए? कहीं नुकसान न हो जाए? एक गृहस्थ ऐसी अनेक चिन्ताओं से सदा ग्रस्त रहता है। कहा गया—एक ग्यारहवीं प्रतिमा को धारण करने वाला श्रावक, जो श्रमणभूत होता है, साधु-तुल्य होता है, अनेक चिन्ताओं से आक्रांत रहता है। साधु-तुल्य होने पर भी वह गृहस्थ है, चिन्ता से मुक्त नहीं है। उसे पूरे परिवार की स्मृति हो रही है, उसकी दुकानें चल रही हैं, घर-बार चल रहा है। इन सबसे उसका सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। एक दिन उसे वापस वहीं जाना है।

प्रश्न हो सकता है—एक गृहस्थ, जो श्रमणभूत बन गया, उसका परिवार से रिश्ता क्यों नहीं टूटा? शास्त्रों में बतलाया गया—उसके प्रेम का, राग का जो धागा है, वह टूटा नहीं है। वह परिवार से रागात्मक रूप से जुड़ा हुआ है। वह श्रमणभूत बन गया फिर भी वह घर-बार से रागात्मक तंतु से बंधा हुआ है। जब मारणान्तिक समुद्रघात होता है, आत्मा के प्रदेश शरीर से बाहर निकल जाते हैं, बहुत दूर तक चले जाते हैं। मरने के बाद आत्मा को जहां पैदा होना होता है, वहां तक आत्मा के प्रदेश पहुंच जाते हैं किन्तु चेतना का एक धागा जुड़ा रहता है, जिसे रजतसूत्र या सिल्वरकॉर्ड कहा जाता है। आत्मा के प्रदेश उस धागे से निरन्तर जुड़े होते हैं, संपर्क बना रहता है। इसी प्रकार एक गृहस्थ का भी अपने परिवार से लगाव बना रहता है। वह परिवार की चिन्ता से मुक्त नहीं हो सकता।

जैन विश्व भारती परिसर में युवालोक के पास एक जनरल स्टोर है। प्रबंधक ने बताया—हमारे यहां पन्द्रह सौ आइटम हैं। मैंने पूछा—इनका क्या उपयोग है? उसने बताया—ये भी कम पड़ रहे हैं। हमें और चाहिए। एक मुनि से कहा जाए—नाममाला कण्ठस्थ करो, उसके पन्द्रह सौ श्लोक हैं। उसे इतने श्लोक कण्ठस्थ करना बहुत भारी लगता है। एक गृहस्थ को, जो रोज दुकान पर बैठता है, पन्द्रह सौ आइटम याद रखने पड़ते हैं। कब, कौन, किस चीज के लिए आ जाए, कोई पता नहीं चलता। जहां बड़े-बड़े जनरल स्टोर होते हैं, वहां हजारों-हजारों तरह के आइटम होते होंगे। इन सबको याद रखना बहुत मुश्किल होता है किन्तु एक गृहस्थ को यह दायित्व निभाना पड़ता है। उसके अनेक जिम्मेदारियां और अनेक प्रकार की चिन्ताएं होती हैं।

आकर्षण क्यों?

प्रश्न होता है—जब गृहस्थाश्रम इतना कठोर है तब व्यक्ति मुनि क्यों नहीं बन जाता? संन्यासी क्यों नहीं बन जाता? क्यों वह घर में बैठा रहता है? जब नमि राजर्षि बने, तब उनके साथ मिथिला का समाज मुनि क्यों नहीं बना? एक गृहस्थ मुनि क्यों नहीं बनता? एक गृहस्थ का घर के प्रति आकर्षण क्यों है? इसका कारण क्या है? अध्यात्म के क्षेत्र में इसका हेतु बतलाया गया—

इन्द्रियाणि प्रधानानि, मानसञ्चापि चंचलम्।

कषायरजिता भावाः, तावदाकर्षणं गृहे॥

जब तक इन्द्रियां प्रधान बनी हुई हैं, मन चंचल है और भाव कषायरजित हैं तब तक घर के प्रति आकर्षण बना रहता है।

इन्द्रियों की प्रधानता, मन की चंचलता और कषायात्मक भाव व्यक्ति को गृहस्थ जीवन में बनाए हुए हैं। जब तक व्यक्ति पर इन्द्रियों का आधिपत्य है, तब तक वह हजारों कष्ट सह लेगा किन्तु मुनि बनने की बात नहीं सोचेगा, घर छोड़ने की बात उसके मन में पैदा नहीं होगी। चारों ओर से इन्द्रियां व्यक्ति को खींच रही हैं। उस खिंचाव से मुक्त हुए बिना आकर्षण की दिशा में बदलाव नहीं आ सकता। जब तक मन की चंचलता है तब तक घर का आकर्षण कम नहीं हो सकता। जब मन चंचल होता है, व्यक्ति अपने आकर्षण की दिशा को परिवर्तित नहीं कर सकता। जब तक भाव कषाय से रंगे हुए हैं, घर का आकर्षण कम नहीं होता। जब व्यक्ति रंगीन चश्मा लगाता है तब उसे सब कुछ रंगीन ही दिखाई देता है। जिस व्यक्ति का मन कषाय से रजित है, उसे लगेगा—जो सुख है, वह घर में ही है। घर के बाहर दुःख ही दुःख है।

घर में रहना ही सुख है?

पूज्य कालूगणी का चातुर्मास उदयपुर में था। चातुर्मास के दौरान दीक्षा हो रही थी। दीक्षा ले रहा था उदयपुर का एक किशोर। सारे उदयपुर में तहलका मच गया। औरों की बात ही क्या, बाजार में सब्जी बेचने वाले कूजड़े-कूजड़ी कहने लगे—देखो! बेचारा छोटा लड़का घर छोड़कर जा रहा है। इसने संसार में क्या भोगा? इसने क्या देखा संसार का सुख? इन खरों में उनकी पीड़ा बोल रही थी। उनको दीक्षा से क्या लेना-देना था, पर जब तक भाव कषाय से रंगे हुए हैं,

तब तक व्यक्ति को लगता है, घर में रहना ही सुख है। घर के बाहर दुःख ही दुःख है। जब कोई साधु बनता है, घरवाले उसके सामने विशाल दुःखों का प्रदर्शन करते हैं, दुःखों का अंबार-सा लगा देते हैं।

मृगापुत्र ने माता-पिता के सामने मुनि बनने का संकल्प व्यक्त किया। उसे विचलित करने के लिए माता-पिता ने मुनि-जीवन के कष्टों की गाथा गाई। यदि उसका मानस थोड़ा-सा भी कच्चा होता तो वह साधु बनने का नाम भी नहीं लेता। आज भी वही बात चल रही है। कोई व्यक्ति मुनि बनता है तो उसे बहुत दुःख दिखाए जाते हैं। ऐसा लगता है—मानो गृहस्थ में ही सातों सुख हैं। 'सातों सुख' यह एक बहुत प्रचलित शब्द है। इसका तात्पर्य है—सब प्रकार के सुख हैं, कोई दुःख है ही नहीं। सारा दुःख साधु जीवन में ही इकट्ठा हो गया। जब तक इन्द्रियों की प्रधानता रहेगी, मन की चंचलता प्रबल होगी, कषायों का रंगीन चश्मा हमारी आंखों पर चढ़ा रहेगा तब तक यह चिन्तनधारा बनी रहेगी। प्रभाव रंगों का

यह दुनिया इकरंगी नहीं है। इसमें नाना रंग हैं। जिस बगीचे में केवल एक रंग के फूल होते हैं, वह बगीचा जनता को अच्छा नहीं लगता। यह दुनिया बहुरंगी है, इसमें नाना प्रकार के फूल खिलते हैं और वे नाना प्रकार के रंगों से रंजित हैं। इसमें लाल रंग भी है, नीला रंग भी है। अगर लाल रंग नहीं होता तो सारे व्यक्ति सुस्त हो जाते, चुस्ती का कोई काम ही नहीं होता, सब आलसी, अकर्मण्य, निटल्ले बन जाते, सारे दिन पड़े रहते, उठने का कोई नाम ही नहीं लेता। हमारे शरीर में लाल रंग है, इसलिए सक्रियता है, स्फूर्ति है। रूस में एक प्रयोग किया गया। भार ढोने वाले कुछ मजदूरों का चयन किया गया। लाल रंग के थैलों में औसत से अधिक सामान भरा गया। उसे लाल रंग के कमरों से उठाना था। मजदूरों ने मात्रा से अधिक सामान को स्फूर्ति, तत्परता और उत्साह से उठा लिया। उन्हें भार का कुछ पता ही नहीं चला। वही प्रयोग दूसरे स्थान पर किया गया। नीले रंग का कमरा और नीले रंग के थैले में सामान। मजदूरों का उत्साह मंद पड़ गया, उनकी भार उठाने की क्षमता में कमी आ गई, वे सुस्त हो गए।

हमारे भीतर लाल रंग है इसलिए हम बहुत सक्रिय हैं। यदि व्यक्ति के भीतर केवल लाल रंग ही होता तो वह दिन भर क्रोध से भरा रहता, निरन्तर लड़ाकू बना रहता। किन्तु व्यक्ति के भीतर नीला रंग भी है। वह लाल रंग को दबा रहा है, शांत कर रहा है। इसलिए आदमी समझदारी से काम ले रहा है, गुस्से को शांत कर लेता है। कभी लाल रंग प्रधान बन जाता है और कभी नीला रंग, कभी सफेद रंग या हरा रंग उभर आता है। रंग की प्रधानता के आधार पर व्यक्ति का व्यवहार एवं स्वभाव बनता है। प्रत्येक व्यक्ति में एक ही प्रकार का रंग नहीं होता। वह बदलता रहता है, उसमें कभी लाल मुख्य हो जाता है, कभी हरा और कभी नीला मुख्य हो जाता है। जब नमि राजर्षि ने मुनि बनने का संकल्प किया तब उनके नीले और हरे रंग का उत्कर्ष रहा होगा। रंग न केवल व्यवहार को किन्तु समग्र जीवन को प्रभावित करते हैं।

परिणाम सुखद होना चाहिए

कुछ लोग घर को छोड़ना नहीं चाहते और कुछ लोग ऐसे बन जाते हैं तो घर में रहना नहीं चाहते। उनके लिए घर में एक पल रहना भी भारी होता है। ऐसा क्यों होता है? इसका एक कारण बताया गया—जब तक पुण्य का भोग है तब तक विवेक चेतना नहीं जागती। प्रवृत्ति काल में पुण्य का भोग सुखद हो सकता है किन्तु वह परिणाम काल में दुःखद हो जाता है। एक अविवेकी आदमी के लिए पाप का परिणाम दुःखद होता है और पुण्य का परिणाम सुखद। जिसकी विवेक चेतना जाग जाती है, उसके लिए पुण्य का परिणाम और पाप का परिणाम—दोनों दुःखद बन जाते हैं। यही बात उत्तराध्ययन में कही गई है—चक्रवर्ती के बहुत बड़ा साम्राज्य होता है, सुख भोग के प्रचुरतम साधन होते हैं फिर भी वे दुःख-रूप हैं। क्योंकि जिसका परिणाम सुखद नहीं होता, वह वास्तव में दुःखद ही होता है। मनुष्य चीनी खाता है। उसे चीनी खाने में मीठी लगती है। अगर वह खाने में मीठी नहीं लगती हो उसे कौन खाता? यह सफेद दानेदार चीनी दीखने में सुन्दर और खाने में स्वादिष्ट लगती है, किन्तु इसका परिणाम क्या होता है? डॉक्टर कहते हैं—एसिडिटी बढ़ेगी। आजकल एसिडिटी की बीमारी बहुत चल रही है। इस अम्लता की बीमारी में चीनी का मुख्य हिस्सा है। चीनी खाने में मीठी है किन्तु परिणाम में अम्ल है। आंवला खाने में कसैला या खट्टा लगेगा पर वह परिणाम में मधुर है।

आयुर्वेद का कथन है—कुछ पदार्थ खाने में मधुर होते हैं, परिणाम में मधुर नहीं होते। कुछ पदार्थ खाने में मधुर नहीं होते, पर उनका परिणाम मधुर होता है। भारतीय चिन्तन और दर्शन की धारा में उसका मूल्य अधिक माना गया जो परिणाम में सुखद होता है। उसका मूल्य बहुत कम माना गया, जो प्रवृत्ति काल में सुखद होता है। आगम का प्रसिद्ध सूक्त है—‘खणमेत्त सोक्खा बहुकाल दुक्खा’—सांसारिक भोग क्षण भर के लिए सुख देते हैं किन्तु बहुत काल के लिए दुःख देने वाले हैं इसीलिए चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त का आमंत्रण चित्त मुनि ने स्वीकार नहीं किया। भृगुपुत्रों की घटना भी यही संकेत देती है। पिता पुत्रों से कह रहा है—गृहवास मत छोड़ो, घर को मत छोड़ो। पिता वृद्ध था और पुत्र बहुत छोटी आयु में थे। उलटी बात हो रही थी।

लोग कहते हैं—जब व्यक्ति बूढ़ा होता है, उसकी आकांक्षा कम हो जाती है। सच्चाई यह है—जैसे-जैसे व्यक्ति बूढ़ा होता है, उसकी आकांक्षा बढ़ती चली जाती है, मोह सघन बनता चला जाता है। वह सोचता है मौत निकट आने वाली है, जितना भोग सकूँ, भोग लूँ, फिर यह सब साथ चलने वाला नहीं है। सारा का सारा यहीं धरा रह जाएगा। उसकी लालसा प्रबल हो जाती है।

संन्यास के तीन हेतु

भृगु ने अपने पुत्रों से पूछा—‘घर क्यों छोड़ रहे हो?’ पिता के इस प्रश्न के उत्तर में पुत्र बोले—पिताजी! पहली बात है—‘असासयं’—यह गृहवास अशाश्वत है। एक दिन इसे छोड़कर चले जाना है। इसे आपको भी छोड़ना है, हमें भी छोड़ना है। दूसरी बात है—‘बहुअन्तरायम्’—सांसारिक भोग में बहुत

बाधाएं हैं। आज तक कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं हुआ है, जिसने सांसारिक भोगों को निर्विघ्नता से भोगा हो। तीसरी बात है—‘न य दीहमाउ’—आयुष्य बहुत छोटा है, संक्षिप्त है। इस छोटे से जीवन को भोगों में बरबाद करना उचित नहीं है। इसलिए घर में रहना हमें पसन्द नहीं है, स्वीकार नहीं है। गृहत्याग के ये तीन कारण बड़े महत्वपूर्ण हैं। अशाश्वतता, बहुविघ्नता और आयुष्य की अल्पता—

असासयं वद्दु इमं विहारं, बहु अन्तरायं न य दीहमाउं।

तम्हा गिहंसि न रइं लहामो, आमंतयामो चरिस्सामु मोणं।।

वासुदेव कृष्ण ने थावच्चा पुत्र से कहा—तुम अभी दीक्षित मत बनी। गृहवास को भोग कर दीक्षित हो जाना।

थावच्चा पुत्र ने कहा—महाराज! यदि आप दो बातों का आश्वासन दें तो मैं दीक्षा नहीं लूंगा। पहली बात है—मैं कभी मरूंगा नहीं। दूसरी बात है—मैं कभी बीमार नहीं बनूंगा। अमृतत्व और आरोग्य—इन दो बातों का आश्वासन दें।

कभी-कभी छोटी अवस्था वाला भी प्रौढ़ बात कह जाता है, गंभीर चिंतन दे देता है। इस गंभीर प्रश्न को सुन कर वासुदेव स्तब्ध रह गए।

वासुदेव कृष्ण ने कहा—मैं तुम्हें राज्य दे सकता हूँ, राजा बना सकता हूँ, धनवान् बना सकता हूँ किन्तु अमर बनाना मेरे वश की बात नहीं है।

थावच्चा पुत्र ने कहा—मेरा भी घर में रहना सम्भव नहीं है।

जिस व्यक्ति में यह अमृतत्व की भावना, शाश्वत की भावना जाग जाती है, जिसकी विवेक चेतना प्रबुद्ध हो जाती है उसका घर के प्रति आकर्षण हो नहीं सकता। जैन, वैदिक और बौद्ध—तीनों धाराओं में ऐसी हजारों घटनाएं घटी हैं। जिनमें विवेक चेतना जाग जाती है, उनका घर में रहना भारी हो जाता है।

जम्बूकुमार की घटना विश्रुत है। आज लोग दहेज के नाम पर बहुत लुभावने सपने देखते हैं। वे समझते हैं—दहेज बहुत आ गया तो निहाल हो गए। दूसरों की रोटियों पर आकर्षक सपना देखना अत्यन्त विचित्र लगता है। किसी व्यक्ति को अपने लड़के की शादी में पांच-दस लाख का दहेज मिल जाता है तो वह मानता है—सब कुछ मिल गया। यदि जंबूकुमार को जितना दहेज मिला था उसे सुनें तो मुंह में पानी आ जाए। जम्बूकुमार को निन्यानवे करोड़ सोनैये दहेज में मिले थे। आज किसी आदमी को इतना मिल जाए तो वह सीधा अरबपति बन जाए। उस समय निन्यानवे करोड़ सोनैयों का मिलना महान् घटना थी। सामान्य आदमी इन रुपयों के भार से दब जाए किन्तु जम्बूकुमार के मानस में कोई प्रकंपन नहीं हुआ। उसकी आकर्षण की दिशा बदल चुकी थी। इतना बड़ा दहेज और आठ नवयौवना कन्याएं, किन्तु जम्बूकुमार का उनसे कोई लगाव नहीं। सुहागरात के दिन जम्बूकुमार कहता है—मैं दीक्षा लूंगा। आठों नवयौवनाएं उसे रोकने का प्रयत्न कर रही हैं। जम्बूकुमार में कोई विचलन पैदा नहीं हुई। वह सूर्योदय होते ही विशाल परिकर के साथ मुनि बन गया।

विवेक चेतना : अविवेक चेतना

क्या ऐसा होना सम्भव है? क्या यह अनहोनी बात नहीं है? आठ नवयौवना कन्याएं और अपार दहेज सामने प्रस्तुत है, उसके प्रति किंचित भी

आकर्षण न हो? जिसकी विवेक चेतना जाग जाती है, उसके सामने निन्यानवे अरब रुपये आ जाएं, तो वे उसके लिए सिवाय मिट्टी के कुछ नहीं हैं। जब विवेक चेतना जागती है, मनुष्य का मन भौतिकता के पाश में आबद्ध नहीं होता। एक ओर है प्रियता का संसार तथा दूसरी ओर है विवेक का संसार। जब तक विवेक जागृत नहीं है तब तक गृहस्थ जीवन का आकर्षण कम नहीं होता। अविवेक की चेतना में व्यक्ति का घर के प्रति आकर्षण बना रहता है। उसे ऐसा लगता है—जो कुछ सुख है, वह संसार में ही है। जैसे ही विवेक जागता है, व्यक्ति को लगता है—संसार में कुछ भी नहीं है, गृहस्थ के भोगों का कोई मूल्य नहीं है। जब तक आदमी की एक प्रकार की चेतना होती है, उसे पदार्थ ही सब कुछ लगते हैं। जब चेतना का रूपान्तरण होता है, प्रियता की चेतना बदलती है, विवेक की चेतना जागती है तब सारे मूल्य निर्मूल्य बन जाते हैं। यह मूल्यों का संसार है। एक अवस्था में आदमी एक चीज को मूल्य देता है और दूसरी अवस्था में उसे निर्मूल्य बना देता है।

मूल्य का मानदण्ड

पूज्य कालूगणी रुग्ण अवस्था में थे। अनेक साधु बहुत दूर से धूल की पोटलियां बांध-बांध कर लाते। एक दिन कालूगणी ने कहा—हमारे लिए धूल का भी कितना मूल्य है? साधु कितने श्रम से दूर-दूर से धूल ला रहे हैं? मेवाड़ में धूल का मिलना कितना मुश्किल है। एकदम शुद्ध बालू, चांदी जैसी चमकती हुई रेत का मेवाड़ में जितना मूल्य है उतना थली प्रदेश में नहीं है। थली में रेतीले टिब्बे बहुत हैं और वहां ऐसी बालू बहुत ज्यादा सुलभ है। मेवाड़ में वह दुर्लभ है इसलिए मेवाड़ में दूर से रेत लाना भी मूल्यवान् कार्य बन गया। मूल्य देना या मूल्य न देना—दोनों सापेक्ष हैं। एक अवस्था में गृहवास, धन और पदार्थों का बहुत मूल्य है किन्तु जब चेतना बदल जाती है, विवेक जाग जाता है, ये सब बिलकुल फीके-फीके लगने लग जाते हैं। ये दोनों प्रकार की चेतनाएं, दोनों प्रकार की विचारधाराएं, दोनों प्रकार के चिंतन हमारे सामने रहे हैं।

ब्राह्मण ने नमि राजर्षि से कहा—राजन्! आप घौराश्रम—गृहस्थाश्रम को छोड़कर संन्यास आश्रम की इच्छा कर रहे हैं, यह उचित नहीं है। आप यहीं रहकर पौषध, अणुव्रत, तप आदि व्रतों का पालन करें।

घौरासमं चइत्ताणं, अन्नं पत्थेसि आसमं।

इहेव पोसहरओ, भवाहि मणुजाहिवा।।

नमि राजर्षि बोले—तुम गृहस्थी की भूमिका की ही जानते हो किन्तु स्वाख्यात धर्म की भूमिका से तुम परिचित नहीं हो। मैं जिस महान् स्थिति में जा रहा हूँ उसका मूल्य तुम नहीं जानते।

मासे मासे तु जो बालो, कुसग्गेण तु भुंजए।

न सो सुयक्खायधम्मस्स कलं अग्घइ सोलसिं।।

राजर्षि ने कहा—अविवेकी मनुष्य मास-मास की तपस्या के अनंतर कुश

की नोक पर टिके उतना सा आहार करे तो भी वह स्वाख्यात धर्म की सोलहवीं कला को भी प्राप्त नहीं होता।

जो व्यक्ति धर्म की इस महत्ता को समझ लेता है, जिसकी विवेक चेतना जाग जाती है, उसका गृहस्थ जीवन में आकर्षण नहीं रहता। त्याग का जीवन कितना महान् और उदात्त है, इसका बोध होना जीवन की सार्थकता है। जिस दिन त्याग के मूल्यांकन की चेतना जागेगी, मनुष्य की विवेक चेतना उद्बुद्ध होगी, उसके आकर्षण की दिशा बदल जाएगी, उसका जीवन-दर्शन बदल जाएगा।

इच्छा हु आगाससमा अणंतिया

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रश्न उभरते रहते हैं, जिज्ञासाएं जागती हैं, संदेह पैदा हो जाते हैं। आज एक प्रश्न का समाधान मिला किन्तु कल नया प्रश्न पैदा नहीं होगा, यह नहीं कहा जा सकता। एक संदेह का निवर्तन होता है, दूसरा संदेह उत्पन्न हो जाता है। जब संदेह, कुतूहल और जिज्ञासा बार-बार उभरती है तब चिंतन का विकास होता है। शिष्य के मन में एक अन्तर्द्वन्द्व पैदा हो गया। उसने आचार्य से निवेदन किया—‘गुरुदेव! मैं मुनि बना। मैंने संकल्प किया—करेमि भंते! सामाइयं, सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खाभि। आपने प्रत्याख्यान करवाया सर्व सावद्य योग का। मुनिजन कह रहे हैं—सर्वसावद्य योग के त्याग से व्रत संवर निष्पन्न हुआ। यह कैसे हो सकता है? सावद्य योग के त्याग और व्रत संवर में संगति कहां है? योग का अर्थ है प्रवृत्ति। मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति का नाम है योग। इनकी सावद्य प्रवृत्ति के प्रत्याख्यान से व्रत संवर कैसे निष्पन्न होगा? प्रवृत्ति का व्रत से क्या संबंध है?’

आचार्य ने कहा—‘वत्स! तुम अभी रहस्य को पकड़ नहीं पाए हो। व्यक्ति के भीतर दो इच्छाएं हैं—व्यक्त इच्छा और अव्यक्त इच्छा। हमारे सारे व्यवहार का प्रवर्तन कौन कर रहा है? हमारी प्रवृत्ति का संचालन कौन कर रहा है? हमारे व्यवहार का निर्धारण किसके द्वारा हो रहा है? मैं यह व्यवहार करूं और यह व्यवहार न करूं, मैं यह प्रवृत्ति करूं और यह प्रवृत्ति न करूं, इनका नियामक कौन है? इस पर ध्यान केंद्रित करना जरूरी है।’

ऐसा ही प्रश्न गीता में भी चर्चित हुआ है। अर्जुन के मन में प्रश्न उठा—पाप का प्रवर्तन कौन कर रहा है? श्री कृष्ण ने कहा—

काम एषः क्रोध एषः रजोमोहसमुद्भवः।

महाशनो महापाप्मा, विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

मूल प्रवर्तक है अव्यक्त इच्छा

हमारा सारा व्यवहार अव्यक्त इच्छा के द्वारा प्रवर्तित है। मनोविज्ञान में इच्छा को दो भागों में बांटा गया—अव्यक्त इच्छा और व्यक्त इच्छा। व्यवहार का सारा प्रवर्तन अव्यक्त इच्छा के द्वारा हो रहा है, उसी का नाम है अविरति। अविरति आश्रय व्यक्ति की आन्तरिक इच्छा है। भीतर में यह अव्यक्त रूप से प्रतिष्ठित है और सारे व्यवहार को संचालित कर रही है। हमारी स्थूल प्रवृत्ति व्यक्त इच्छा से संचालित है। एक व्यक्ति अंगुली को हिला सकता है, स्थिर कर सकता है। उसे टेढ़ी और सीधी कर सकता है। शरीरशास्त्र के अनुसार मुख्य कार्यकारी तंत्र दो हैं—स्वतःचालित तंत्र और इच्छाचालित तंत्र। एक आदमी सीधा

जा रहा है। चलते-चलते वह दूसरी दिशा में मुड़ गया, यह उसकी इच्छाचालित क्रिया है। एक चींटी भी चलते-चलते मुड़ जाती है क्योंकि उसमें इच्छा है। एक घोड़ा एवं एक गधा भी चलते-चलते मुड़ जाता है किन्तु एक रेलगाड़ी ऐसा नहीं कर सकती। वह यह नहीं कह सकती—मेरी इच्छा नहीं होगी तो मैं पटरी पर नहीं चलूंगी। वह परप्रेरित है। उसे दूसरे की इच्छा पर अपना कार्य सम्पादित करना होता है। उसकी अपनी कोई इच्छा नहीं हो सकती। एक मनुष्य की अपनी इच्छा होती है। वह पटरी के ऊपर भी चल सकता है और नीचे भी चल सकता है। मनुष्य की व्यक्त इच्छा व्यवहार को संचालित करती है किन्तु उसके पीछे जो अव्यक्त इच्छा है, वह व्यक्त इच्छा का भी संचालन कर रही है। व्यवहार का मूल प्रवर्तक है अव्यक्त इच्छा।

गुजरात की प्रसिद्ध कहानी है। एक व्यक्ति ने दर्जी को अपना कोट बनाने के लिए दिया। एक सप्ताह बीत गया। वह व्यक्ति दर्जी के पास गया। उसने कहा—क्या मेरा कोट सिल गया?

‘नहीं’

‘कब तक कोट पूरा बन जाएगा?’

‘जब प्रभु की मर्जी होगी।’

‘मुझे उस कोट की सख्त जरूरत है।’

‘जब प्रभु की इच्छा होगी तभी मिलेगा। अभी नहीं मिलेगा।’

दो, तीन सप्ताह तक उस व्यक्ति ने दर्जी के घर कई चक्कर लगाए किन्तु दर्जी हर बार वही उत्तर देता—जब प्रभु की इच्छा होगी, कोट मिल जाएगा।

उस व्यक्ति ने कहा—‘प्रभु की इच्छा की बात जाने दो। यह बताओ तुम्हारी इच्छा कब देने की है?’

प्रभु की इच्छा कहें, आत्मा की या अन्तर की इच्छा कहें या अव्यक्त इच्छा कहें। केवल शब्दों का ही अन्तर है। इनके तात्पर्य में विभेद नहीं है। व्यक्ति हर काम अपनी इच्छा से करता है। इच्छा के बिना कोई काम नहीं होता। कितनी ही व्यवस्थाएं निर्मित की जाएं, कानून बनाए जाएं, नियंत्रण किया जाए किन्तु जब तक व्यक्ति का मानस नहीं बनता है, इच्छा नहीं बनती है, तब तक उससे कोई कार्य करवा नहीं सकता। कानून के जरिए व्यक्ति का गला तो काटा जा सकता है किन्तु उससे किसी बात को मनवाया नहीं जा सकता। व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर है किसी बात को मानना या न मानना और वही उसके व्यवहार की नियंता बनी हुई है।

त्याग का प्रभाव

सावध योग के त्याग का अर्थ है—व्यक्त इच्छा का त्याग। ‘मैं किसी प्राणी की हत्या नहीं करूंगा’ यह एक ऐच्छिक संकल्प है। ‘मैं हिंसा नहीं करूंगा’ इसका अर्थ है—मैं हिंसात्मक प्रवृत्ति नहीं करूंगा। इस संकल्प से हिंसात्मक प्रवृत्ति का नियमन हो गया। हम चिन्तन करें—इस संकल्प का प्रभाव कहां पड़ा? इसका परिणाम क्या होगा? गहराई में जाने पर समाधान मिलेगा—इसका प्रभाव पड़ा

अव्यक्त इच्छा पर। निरोध किया व्यक्त इच्छा का और प्रभावित हुई अव्यक्त इच्छा। अव्यक्त इच्छा है भीतरी मांग। प्रत्येक चीज की मांग भीतर से आती है। रागात्मक और द्वेषात्मक जितनी मांगें हैं, वे भीतर से उठती हैं। व्यक्त इच्छा के निरोध का अर्थ है—अव्यक्त इच्छा की मांग की पूर्ति नहीं करना।

व्यक्त इच्छा को त्यागने का अर्थ है—भीतर से जो मांग आई, उसका निरोध कर दिया, उसे अस्वीकार कर दिया। जब-जब भीतर से मांग आए, उसे अस्वीकार करते चले जाएं, रोकते चले जाएं। इसका परिणाम होगा—मांग करने वाली जो अव्यक्त इच्छा है, वह निराश हो जाएगी। एक बार मांगा और नहीं मिला। दूसरी बार मांगा, तीसरी बार मांगा और नहीं मिला तो वह मुरझा जाएगी। प्रश्न होता है—भीतरी इच्छा को पोषण कौन दे रहा है? बल कौन दे रहा है? जो इच्छा भीतर में पैदा होती है, उसे पूरा कर दिया जाता है तो भीतरी इच्छा को बल मिलता है। अव्यक्त इच्छा जो चाहती है, उसकी पूर्ति से उसका शरीर पुष्ट बनता है। जो मांग भीतर से आई, उसे अस्वीकार कर दिया जाए। वह जैसा चाहती है वैसा नहीं किया जाए। वह मांग एक बार आएगी, दो बार आएगी, दस बार आएगी किन्तु अंततः मुरझा जाएगी।

इच्छा का शमन क्यों?

वर्तमान में फीड करने की बात बहुत चलती है। एक ऐसा तत्त्व, जो फीड कर रहा है यानी अव्यक्त इच्छा को पोषण दे रहा है। पोषण मिलने से अव्यक्त इच्छा पुष्ट और बलवान बनती है। यदि पोषण मिलना बंद हो जाए, व्यक्त इच्छा का सहयोग मिलना बंद हो जाए तो अव्यक्त इच्छा पुष्ट नहीं बन पाएगी, बलवान नहीं हो पाएगी। जब तक शरीर में थाइराइड ग्रन्थि चयापचय की क्रिया करती है तब तक शरीर को पोषण मिलता है। जब चयापचय की क्रिया करना बंद कर देती है, शरीर सूखने लग जाता है, पतला होने लग जाता है, शक्तिशून्य बनता चला जाता है। कारखाने चलते हैं, उनमें पक्का माल बनता है किन्तु कारखाना अपने आप नहीं चलता। वह चलता है कच्चे माल के आधार पर। किसी कारखाने में लोहे के नल बन रहे हैं, छड़ें बन रही हैं, खम्भे बन रहे हैं किन्तु वे तब तक बन सकते हैं जब तक कच्चा लोहा मिलता रहे। कच्चे माल की आपूर्ति बंद हो जाए तो कारखाना कब तक चलेगा? लोहा खान में बहुत है किन्तु कारखाना बंद हो गया तो सारा कार्य ठप्प हो जाएगा। यह एक सचाई है—जब-जब मन में इच्छा जागे, हम उसे रोकते रहें तो एक दिन आंतरिक इच्छा निष्क्रिय बन जाएगी। इच्छा का शमन आंतरिक इच्छा को निष्क्रिय बना देता है।

सावध प्रवृत्ति के त्याग का परिणाम है—व्रत संवर। इसका अर्थ है—भीतर में जो अव्यक्त इच्छा विद्यमान है, अविरति विद्यमान है उसे पोषण मिलना बंद हो गया। अव्यक्त इच्छा का संवरण हो गया यानी व्रत संवर हो गया। एक प्रश्न उभरता है—जब सावध प्रवृत्ति का त्याग हो गया, व्रत संवर हो गया तब मन में त्याज्य इच्छाएं क्यों जागती हैं? एक व्यक्ति ने सावध प्रवृत्ति का संकल्प किया किन्तु उसके मन में कभी हिंसा और चोरी की भावना जाग जाती है, कभी काम-वासना, लोभ और लालच का भाव जन्म ले लेता है। ऐसा क्यों

होता है? जिस वृत्ति को छोड़ने का संकल्प किया, वह क्यों उभरती है? इसका कारण बतलाया गया—सावध प्रवृत्ति का त्याग करने से सावध प्रवृत्ति का संवरण हो गया किन्तु भीतर में जो अव्यक्त इच्छा है उसका अस्तित्व विद्यमान है।

इसे पारिभाषिक दृष्टि से समझें—वृत्ति का उपशम हुआ है, क्षयोपशम हुआ है किन्तु उसका सर्वथा क्षय नहीं हुआ है। बाहर से एक रुकावट हो गई किन्तु भीतर से उसका अस्तित्व बना हुआ है। भीतर में आग जल रही हैं, किन्तु वह राख से आच्छन्न है, ढकी हुई है। आग सर्वथा बुझी नहीं है, उसे मिलने वाला पोषण—ईंधन बंद हुआ है। अगर आग सर्वथा बुझ जाए, अविरति का सर्वथा क्षय हो जाए तो उसके पुनः पैदा होने की संभावना शेष हो जाती है। जिसके मिथ्यादर्शन क्षीण हो जाता है, जो क्षायिक सम्यक्त्व को पा लेता है, वह कभी मिथ्यादृष्टि नहीं बनता। इस बात की गहराई में जाएं—सावध योग के त्याग से अग्रत आश्रव रुकता है किन्तु वह सर्वथा क्षीण नहीं होता। उससे अग्रत आश्रव की अभिव्यक्ति का निग्रह होता है किन्तु उसका अस्तित्व बना रहता है। अव्यक्त इच्छा को निष्क्रिय कैसे बनाएं?

एक व्यक्ति ने सर्व-सावध योग का त्याग किया, वह मुनि बन गया। इसका अर्थ है—जो अव्यक्त इच्छा विद्यमान है, उस पर एक ढक्कन लगा दिया। उस अव्यक्त इच्छा को योग से जो पोषण मिल रहा था, वह बन्द हो गया किन्तु इच्छा का अस्तित्व सर्वथा विनष्ट नहीं हुआ। भीतर आग जल रही है, उस पर बाहर से मजबूत ढक्कन दे दिया गया। उसकी ऊष्मा बाहर नहीं आएगी किन्तु उसके भीतर ऊष्मा या ताप नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता। यदि भीतर की ऊष्मा समाप्त हो जाए, ताप विनष्ट हो जाए तो आग कभी नहीं जलेगी।

असद् आचरण के त्याग का अर्थ है—व्यक्त इच्छा का निग्रह। व्यक्त इच्छा का निग्रह करना अव्यक्त इच्छा को कमजोर बनाना है। एक साधक सबसे पहले व्यक्त इच्छा का निग्रह करे। यदि एक मुनि के मन में लोभ जाग जाए तो वह उसका निग्रह करे। वह सोचे—‘मैं मुनि बन गया हूँ। मुझे इन चीजों का संग्रह नहीं करना है। मुझे दो वस्त्रों की ही जरूरत है और तीसरा सुन्दर है तो भी मुझे उसकी आकांक्षा नहीं करनी चाहिए। मुझे अधिक पात्र नहीं रखना हैं। व्यवस्था का अतिक्रमण कर पात्र रखना मेरे लिए उचित नहीं है। इस प्रकार के चिन्तन से व्यक्ति अपनी इच्छा का निरोध कर लेता है, उसे अस्वीकार कर देता है।

जो लोभ की वृत्ति जागी, वह प्रयोग में न आए, बाहर व्यक्त न हो पाए, यह है व्यक्त इच्छा का निग्रह। किसी वृत्ति का जागना एक बात है और उसका प्रयोग में आना दूसरी बात है। व्यक्ति के भीतर क्रोध का भाव जगा, किन्तु उसे अभिव्यक्त नहीं किया; क्रोध सफल नहीं होने दिया। क्रोध आया किन्तु चेहरा नहीं तमतमाया, हाथ ऊपर नहीं उठा, इसका अर्थ है—क्रोध को विफल कर दिया। क्रोध का प्रयोग नहीं करना निग्रह है। यानी क्रोध जाग गया किन्तु हाथ मत उठाओ, गाली मत बको, कलह मत करो, वह स्वतः शांत हो जाएगा। क्रोध को प्रयोग में लाने से क्रोध का संस्कार पुष्ट होता है। क्रोध को विफल

करने का अर्थ है—स्थूल या व्यक्त इच्छा का निग्रह कर अव्यक्त इच्छा को निष्क्रिय बना देना।

विस्तार विकल्प से

स्थूल से सूक्ष्म की ओर गति करना योग शास्त्र का नियम है। यह आचार-शास्त्र में भी घटित होता है। बहुत लोग कहते हैं—ध्यान का ऐसा मार्ग बतलाइए, जिससे विचार आने बन्द हो जाएं, निर्विकल्प समाधि में चले जाएं। उन्हें कहा जाता है—पहले स्थूल का निरोध करो। निर्विकल्प समाधि बहुत आगे की बात है, पहले विकल्पों का तांता तोड़ना सीखो। विचार का जो सिलसिला चल रहा है उसे तोड़ना सीखो। पहले ही चरण में निर्विकल्प समाधि की बात संभव नहीं है। यशोविजयजी ने एक बहुत सुन्दर बात कही है—यह माया विकल्प-रूपा है। हमारी दुनिया बहुत छोटी है। उसका सारा विस्तार विकल्प से हुआ है। आज के वैज्ञानिक मानते हैं—यदि सारी दुनिया को कूट-पीसकर घनीभूत बनाया जाए तो मात्र एक आंवले जितनी बनेगी। यह बात बड़ी विचित्र लगती है। क्या यह कल्पना की जा सकती है? दुनिया का ठोस भाग कितना है? सारी माया ही माया है, प्रपंच ही प्रपंच है, सर्वत्र विस्तार ही विस्तार है। ठोस द्रव्य बहुत थोड़ा है। यह जगत लम्बा-चौड़ा दिखता है, पर ठोस भाग बहुत नगण्य है।

जरूरी है नियम का ज्ञान

हमारा सूक्ष्म जगत बहुत विचित्र है। हम स्थूल जगत् को ही न समझें किन्तु सूक्ष्म जगत के नियमों को भी समझने का प्रयत्न करें। स्थूल जगत के नियम अलग होते हैं, सूक्ष्म जगत के नियम अलग होते हैं।

गडरिया लुहार एक गांव से दूसरे गांव घूमते रहते हैं, इन्हें कहीं मकान खोजना नहीं पड़ता। एक दृष्टि से गडरिया लुहार मुनि की तरह अनिकेत होता है। वह खुले आकाश में ही रहता है और खुले आकाश में ही सोता है। एक बार एक व्यक्ति ने अनुकम्पा की। उसने घोषणा की—गडरिये लुहारों को भी बसाया जाए। उनको मकान दिए गए, बसाने का प्रयत्न किया गया। एक गडरिया मकान में रहने लग गया, पर उसका मन नहीं लगा। दो-चार दिन बीते। एक अधिकारी उनके हालात जानने आया। उस लुहार से पूछा गया—‘बोलो भाई! सुखी तो हो, कोई समस्या तो नहीं है?’

उसने कहा—‘सुखी तो नहीं हूँ’

‘अरे! मकान मिल गया फिर सुखी नहीं?’

‘मकान तो मिल गया पर मन में बड़ा दुःख है।’

‘किस बात का दुःख है?’

‘मैं सदा खुले आकाश में सोता था और अब इस छत के नीचे सोता हूँ। सोते समय मन में आता है—मैं सो रहा हूँ, कहीं छत गिर तो नहीं जाएगी? मैं सुखी बनने के स्थान पर उलटा दुःखी बन गया हूँ।’

जो नियम को नहीं जानता है, वह हमेशा दुःख में रहता है, उलझन में रहता है। खुले आकाश का अलग नियम है और छत का अलग नियम है। वह छत के नियम से परिचित नहीं था। उसे इस बात का पता नहीं था कि छत ऐसे

नहीं गिरा करती और ऐसे गिर जाए तो सारी दुनिया पर ही गिर जाए। हम लोग स्थूल जगत के नियमों की बहुत जानते हैं। अगर हम अव्यक्त जगत के नियम को जान लें, अव्यक्त इच्छा को बाहर से पोषण देना बन्द कर दें तो अविरति स्वयं पतली होनी शुरू हो जाएगी, क्षीण होनी शुरू हो जाएगी। उसकी जो सक्रियता है, प्रबलता है, वह कम होने लग जाएगी। ऐसा होते-होते वह एक दिन मुरझा जाएगी। उसका अस्तित्व बना रहेगा पर भीतर से उसका बहिर्निस्सरण लगभग बन्द हो जाएगा।

राजर्षि का उत्तर

अविरति को मिटाने का पहला उपाय है—व्यक्त इच्छा का निग्रह। इच्छा भी एक नहीं है। उसकी एक शृंखला है। शरीर की इच्छा, खाने की इच्छा, कपड़े की इच्छा—इच्छा की एक अन्तहीन शृंखला है।

ब्राह्मण ने नमि राजर्षि से कहा—राजन! पहले आप चांदी, सोना, मणि, मोती, कांसे के बर्तन, वस्त्र, वाहन और भण्डार की वृद्धि करें, उसके बाद मुनि बनने की बात सोचें—

हिरण्यं सुवर्णं मणिमुत्तं, कंसं दूंसं च वाहणं।

कोसं वड्ढावइत्ताणं, तओ गच्छसि खतिया!।।

नमि राजर्षि बोले—तुम नहीं जानते। पदार्थ पदार्थ से कभी तृप्त नहीं होता। मैं जितने पदार्थ, धन सामग्री जुटाऊंगा, आग उतनी ही भभकती जाएगी, उस आग को बल मिलता चला जाएगा। तुम इच्छा की स्थिति को नहीं जानते। वह कभी तृप्त नहीं होती—

सुवर्णरुप्पस्स उ पव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असंखया।

नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि, इच्छा हु आगाससमा अणतिया।।

यदि सोने और चांदी के कैलाश के समान असंख्य पर्वत हो जाएं तो भी लोभी पुरुष को उनसे कुछ नहीं होता क्योंकि इच्छा आकाश के समान अनंत है। संदर्भ पर्यावरण विज्ञान का

व्यक्ति की इच्छाएं अनंत हैं और पदार्थ सीमित हैं। पर्यावरण विज्ञान का एक सिद्धांत है लिमिटेसन। उपभोक्ता अधिक हैं, पदार्थ सीमित। व्यक्ति की इच्छा को आकाश के साथ तुलित किया गया। इस दुनिया में इच्छा और आकाश—ये दोनों अनंत हैं। जीव की इच्छा का विस्तार आकाश की भांति अनंत है। वे कभी पूरी नहीं होती। इच्छा की पूर्ति का उपाय है—इच्छा का निग्रह करना, भीतर से जो मांग आ रही है, उसे अस्वीकार कर देना, उसके सामने घुटने न टेकना। जैसे-जैसे यह अस्वीकार और निरोध की शक्ति बढ़ेगी, व्रत संवर पुष्ट होता चला जाएगा, अव्रत आश्रय क्षीण होता चला जाएगा और एक क्षण ऐसा आएगा, अव्रत आश्रय व्रत संवर बन जाएगा, क्षायिक संवर बन जाएगा। अविरति के क्षीण होने के बाद, उसके बीज के दग्ध होने के बाद उसका पुनः प्रसव नहीं होगा।

कई बार एक प्रश्न प्रस्तुत होता है—एक मुनि, जो मरकर स्वर्ग में चला गया, देवता बन गया, उसे वंदना करें या न करें। कहा गया—उसे वन्दना नहीं की जा सकती। कल तक वह साधु था, इसलिए वंदनीय था किन्तु आज वह

गृहस्थ बन गया इसलिए वन्दनीय नहीं रहा। देवता बनकर भी वह गृहस्थ ही बना, अव्रती या असंयमी ही बना क्योंकि उसका अव्रत आश्रय सर्वथा क्षीण नहीं हुआ। यदि हम व्यक्त इच्छा के निग्रह को प्रबल बनाते चले जाएं और उसके दबाव से अव्यक्त इच्छा की आग बुझती चली जाए तो क्षय की प्रक्रिया तेज होगी, सावद्य योग का त्याग सहज बनेगा, व्रत की शक्ति बढ़ती चली जाएगी। सावद्य योग के त्याग का अर्थ है—बाहर से भीतर की ओर प्रस्थान। यह प्रस्थान जितनी तीव्र गति से होगा, व्यक्ति की आन्तरिक क्षमता उतनी ही प्रबल बनती चली जाएगी।

समय का अंकन हो

‘समयं गोयम! मा पमायए’—यह भगवान् महावीर का शाश्वत स्वर है। गौतम को उद्दिष्ट कर निकला हुआ यह स्वर आज भी उतना ही मूल्यवान है, प्रासंगिक है, जितना ढाई हजार वर्ष पहले था। यह शाश्वत स्वर अतीत में भी मूल्यवान् बना रहेगा। इस अमर स्वर को समझने के लिए पश्चिमी विचारक जॉर्ज हारेस लॉ युर्नर की एक घटना को समझना आवश्यक है। उसने उन वस्तुओं की एक सूची बनाई, जो पैसे से नहीं खरीदी जाती हैं। दो प्रकार की वस्तुएं होती हैं—एक वे वस्तुएं, जो धन से उपलब्ध हो जाती हैं। दूसरी वस्तुएं वे हैं, जो धन से प्राप्त नहीं होतीं। उसने जो सूची बनाई, वह अन्तिम नहीं है। उसे बढ़ाया भी जा सकता है, उसका नवीनीकरण भी किया जा सकता है। उस सूची में कुछ बातें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं—

- सच्ची मित्रता कभी पैसे से खरीदी नहीं जा सकती। वह मित्रता, जिसमें कभी धोखा नहीं होता, धन से उपलब्ध नहीं होती। सच्ची मित्रता हृदय की पवित्रता है, उसका कोई मूल्य नहीं हो सकता।
- पवित्र अन्तःकरण कभी पैसे से नहीं खरीदा जा सकता।
- प्रसन्नता धन से प्राप्त नहीं होती।
- मन की शांति को पैसे से नहीं पाया जा सकता।

दुनिया में ऐसे लोग हैं, जिनके पास धन की कोई कमी नहीं है। किन्तु प्रसन्नता बिल्कुल नहीं है। उनका चेहरा सदा मुरझाया हुआ रहता है। मैंने स्वयं एक बड़े उद्योगपति को रोते-बिलखते देखा है। हिन्दुस्तान के पांच-सात उद्योगपतियों में से प्रमुख उद्योगपति की मां आचार्यश्री के सामने सुबकने लगी। आचार्यश्री ने पूछा—‘तुम रोती क्यों हो? तुम्हें क्या दुःख है?’ उसने कहा—‘महाराज! मेरे दुःख की बात मत पूछिए। इस दुनिया में मैं जितनी दुःखी हूँ उतना शायद दूसरा कोई नहीं होगा।’ यदि प्रसन्नता धन से प्राप्त होती तो देश के धन्ना सेठ उसे सबसे पहले खरीद लेते।

आचार्य उमास्वाति ने बहुत मार्मिक बात लिखी—

स्वर्गसुखानि परोक्षाणि अत्यन्तपरोक्षं च मोक्षसुखम्।

प्रशमसुखं प्रत्यक्षं, न परवशं न च व्ययप्राप्तम्॥

स्वर्गसुख परोक्ष है, मोक्ष सुख अत्यन्त परोक्ष है। यह मानसिक शांति—प्रशमसुख प्रत्यक्ष है। यह न दूसरे के वश में है और न ही इसे खरीदा जा सकता है।

बहुत वर्ष पहले की बात है। आचार्यवर दिल्ली में थे। अमेरिका के एक उद्योगपति आचार्यवर के दर्शनार्थ आए। उन्होंने कहा—‘आचार्यश्री! मैं अमेरिका जा रहा हूँ। आप अमेरिकन लोगों के लिए शांति का संदेश दीजिए।’ आचार्यश्री ने प्रश्न किया—‘आपको क्या जरूरत है शांति के संदेश की। हमने सुना है—अमेरिकन लोगों के पास विशाल वैभव है, धन है, भोग के सारे साधन उपलब्ध हैं। फिर आपको क्यों चाहिए शांति का संदेश?’ उद्योगपति तपाक से बोले—‘आचार्यश्री! हमारे पास धन की कोई कमी नहीं है किन्तु धन से कभी शांति नहीं मिलती। हमें शांति की जरूरत है। धन से कभी मन की शांति को खरीदा नहीं जा सकता।’

मूल्य, अमूल्य और मूल्यातीत

इस सूची के आधार पर तीन शब्द बन गए—मूल्य, अमूल्य और मूल्यातीत। एक वह वस्तु है, जिसका मूल्य होता है। जहां पैसे का संबंध जुड़ा, मूल्य की स्थापना हो गई। एक वस्तु का मूल्य एक पैसा भी हो सकता है, हजारों रुपए भी हो सकता है किन्तु पैसे से मिलने वाली कोई भी वस्तु अमूल्य नहीं होती। जिसका कोई मूल्य नहीं है, वह अमूल्य है। दुनिया में ऐसी बहुत वस्तुएं हैं, जिनका कोई मूल्य नहीं होता। बहुत सारी वस्तुएं निकम्मी मानी जाती हैं, तुच्छ मानी जाती हैं, मूल्यहीन मानी जाती हैं। ऐसी वस्तुओं का कोई महत्त्व नहीं होता, उनका कोई संग्रह नहीं करता, वे पैरों तले रेंदी जाती हैं। कुछ वस्तुएं ऐसी होती हैं, जो मूल्यातीत होती हैं। मूल्यातीत स्थिति वह है, जहां सारे मूल्य नीचे रह जाते हैं, सारे मापदण्ड अकिंचित्कर बन जाते हैं, सारी कसौटियां, सारे तराजू निकम्मे बन जाते हैं। मूल्यातीत स्थिति को मापने वाला कोई मापक नहीं होता, तौलने वाला कोई तराजू नहीं होता, कसौटी करने वाला कोई कषोपल नहीं होता।

विजय और पराजय का सूत्र

मूल्य शब्द धन से जुड़ा हुआ है। अमूल्य के दो अर्थ बन गए—मूल्यहीन और मूल्यातीत। महावीर ने गौतम को सम्बोधित कर कहा—गौतम! क्षण भर भी प्रमाद मत करो, समय का अंकन करो। इसे खरीदा नहीं जा सकता। जो समय का अंकन कर लेता है, वह कभी पराजित नहीं होता। महावीर का विजयी होने में विश्वास था। पराजय उन्हें कभी मान्य नहीं थी। वे बहुत पराक्रमी व्यक्ति थे। पराक्रमी व्यक्ति विजय में विश्वास करता है। जो कमजोर होता है, कायर होता है, वह पराजय की स्थिति में चला जाता है। महावीर ने सदा विजय का जीवन जिया, वे कभी परास्त नहीं हुए। महावीर को भयंकर कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, अनेक भीषण उपसर्ग और परीषह प्रस्तुत हुए किन्तु वे कभी विचलित नहीं हुए। कष्ट देने वाले स्वयं पराजित हो गए। महावीर के जीवन में एक भी क्षण ऐसा नहीं आया, जब उन्हें पराजय का मुंह देखना पड़ा हो। महावीर ने विजय के सूत्र को पकड़ा था। अगर मुझसे पूछा जाए—विजय का सूत्र

क्या है तो उत्तर देना कठिन होगा। यदि पूछा जाए—पराजय का सूत्र क्या है तो मेरा उत्तर होगा—

जयस्य सूत्रं निर्देषुः, नाहमस्मि क्षमस्तथा।

पराजयस्य सूत्रं तु, प्रमादात् परमस्ति नो।।

पराजय का सबसे बड़ा सूत्र है—प्रमाद। जिसको जीवन में असफल होना है, पराजित होना है, हार का जीवन जीना है, उसके लिए सबसे सुन्दर सूत्र है—प्रमाद, प्रमाद और प्रमाद। प्रमाद में जीने वाले व्यक्ति को पराजय पाने के लिए कहीं जाना नहीं पड़ता। नींद एक प्रमाद है, विकथा और आलस्य प्रमाद है, निठल्ला बैठे रहना, हास्य-मजाक करना, नशे में चले जाना—ये सब प्रमाद हैं। महावीर इनके प्रति बहुत जागरूक थे। उन्होंने कहा—क्षण भर भी प्रमाद मत करो, निरन्तर जागरूक रहो। व्यवहार जगत् में भी जागरूकता का बहुत मूल्य है। मारवाड़ की प्रसिद्ध कहावत है—‘सूत्यां के पाडा जणै।’

दो भैंसों गर्भवती थीं। दोनों ने एक साथ प्रसव किया। एक ने पाडे को जन्म दिया। दूसरी ने पाडी को जन्म दिया। दोनों भैंसों के मालिक दो थे। जब भैंस ने प्रसव किया तब एक का मालिक सो रहा था, दूसरी का मालिक जाग रहा था। जो जाग रहा था, उसने पाडी को हथिया कर अपनी भैंस के पास सुला दिया और पाडे को दूसरी भैंस के पास। जो सो रहा था, उसे पाडा मिला और जो जाग रहा था, उसे पाडी मिल गई। अब इसका निर्णय कौन करे—पाडी किसने जनी और पाडा किसने जना? जिसे जो मिलना था, वह मिल गया। कहावत बन गई—सूत्यां के पाडा जणै।

अप्रमत्तता : सैद्धान्तिक आधार

जागरूकता की अखण्ड ज्योति निरन्तर जलती रहे, कभी बुझे नहीं, ऐसा क्यों कहा गया? इसका आधार क्या है? इस प्रश्न की गहराई में जाने पर इसका सैद्धान्तिक आधार उपलब्ध हो सकता है। प्रत्येक व्यक्ति सद्गति में जाना चाहता है। कोई भी व्यक्ति दुर्गति में जाना नहीं चाहता, नरक में जाना नहीं चाहता। कोई भी व्यक्ति मनुष्य बनकर उससे निम्न जाति को पाना नहीं चाहता, वह गधा या बैल बनना नहीं चाहता, जो निरन्तर भार ढोता रहता है और ऊपर से प्रहार सहता रहता है। वह ऊर्ध्वारोहण चाहता है, उन्नयन चाहता है। वह चाहता है—जिस स्थिति में मैं आज हूँ उससे अधिक अच्छी स्थिति कल मिले। उसकी इस आकांक्षा की पूर्ति आगामी जन्म पर निर्भर है। व्यक्ति का अगला जन्म श्रेष्ठ होगा तो उसका ऊर्ध्वारोहण होगा। अगला जन्म आयुष्य के बंध पर निर्भर है। व्यक्ति जिस गति के आयुष्य का बंध करता है, वह मरकर उसी गति को प्राप्त होता है। आयुष्य का बंध कब होगा, इसके निश्चित समय की जानकारी व्यक्ति को नहीं होती। ऐसी स्थिति में निरन्तर जागरूकता ही उसके सुखद भविष्य का आश्वासन बनती है, आधार बनती है।

महावीर ने कहा—आयु-बंध का समय निश्चित नहीं है। यदि तुम्हें अच्छी गति में जाना है तो निरन्तर अप्रमत्त रहना चाहिए—

आयुर्बन्धक्षणो नास्ति, निश्चितं तेन संततम्।
भाव्यमेवाऽप्रमत्तेन, प्रतिक्षणं प्रतिक्षणम्॥

जब मनुष्य सोता है तब वह बहुत सारी व्यवस्थाएं करता है। वह सीने से पूर्व घर के सारे मुख्य दरवाजे बंद कर देता है, तिजोरी और गोदरेज की आलमारियां बंद कर देता है। घर की सुरक्षा के लिए, अपनी सुरक्षा के लिए वह और भी अनेक व्यवस्थाएं करता है। इन व्यवस्थाओं का उद्देश्य होता है—कहीं कोई चोर घुस न जाए, जन-धन का नुकसान न हो जाए। पदार्थ की सुरक्षा के लिए व्यक्ति बहुत जागरूकता बरतता है। आयुष्य बंध के साथ पूरे जीवन का सवाल जुड़ा हुआ है। यदि वह उसके प्रति जागरूक नहीं होता है तो ऊर्ध्वारोहण की आकांक्षा की पूर्ति संदिग्ध बनी रहती है।

इस दर्शन को स्पष्ट करने के लिए ही महावीर ने कहा—समयं गोयम! मा पमायए—गौतम! क्षण भर भी प्रमाद मत कर। न जाने कब क्या हो जाए, न जाने कब आयुष्य बंध जाए। अप्रमत्त जीवन जीने का यह बहुत महत्त्वपूर्ण सैद्धांतिक आधार बनता है। अप्रमत्तता के बिना उन्नयन संभव नहीं होता, ऊंचाई का स्पर्श सहज नहीं होता। जागरूकता जीवन विकास की अनिवार्य शर्त है पर साथ-साथ यह भी सचाई है—प्रत्येक व्यक्ति की अपनी दुर्बलताएं हैं, प्रमाद है। व्यक्ति की मानवीय दुर्बलताओं से हम अनजान नहीं हैं। प्रमाद को एक साथ बिलकुल छोड़ा नहीं जा सकता। गृहस्थ की भूमिका से परे मुनि की भूमिका पर भी प्रमाद बना रहता है। मुनि की दो भूमिकाएं हैं—प्रमत्त गुणस्थान और अप्रमत्त गुणस्थान। एक मुनि दिन में न जाने कितनी बार छटे गुणस्थान—प्रमत्त गुणस्थान में जीता है और न जाने कितनी बार सातवें गुणस्थान में जीता है। दिन में कुछ-कुछ क्षण ऐसे आते हैं, जब मुनि प्रमत्त गुणस्थान को अतिक्रान्त कर अप्रमत्त गुणस्थान का स्पर्श करता है। मुनि के लिए कहा गया—वह छटे गुणस्थान—प्रमत्त गुणस्थान में कम रहे, सातवें गुणस्थान—अप्रमत्त गुणस्थान की प्राप्ति के लिए निरन्तर सचेष्ट रहे। सातवें गुणस्थान में पूर्ण अप्रमत्तता, निरन्तर जागरूकता की स्थिति बनती है।

अप्रमत्तता की परम भूमिका

जागरूकता विजय का महत्वपूर्ण सूत्र है। महावीर ने अप्रमत्तता की जिस परम भूमिका का निर्देश किया है, उस तक पहुंचना बहुत कठिन है। उस भूमिका का नाम है—यथालंदक। उसमें अप्रमाद की अखंड ज्योति प्रज्वलित रहती है। इस भूमिका में न तपस्या की चौथी परिपाटी करनी होती है, न उपवास, आर्यबिल करना होता है किन्तु प्रतिक्षण जागरूक रहना होता है। यथालंदक मुनि की जागरूकता को इन शब्दों में व्याख्यायित किया गया—‘एक व्यक्ति ने हाथ धोया, सारा पानी नीचे गिर गया, केवल हाथ की रेखाएं गीली हैं। हथेली की गीली रेखा सूखे, इतनी देर भी यदि प्रमाद आ जाए, जागरूकता नहीं रहे तो एक बेला प्रायश्चित्त स्वरूप करना होता है।’ कितनी कठोर साधना है! सामान्य व्यक्ति इस भूमिका की कल्पना भी नहीं कर सकता। एक गृहस्थ श्रावक पांचवें गुणस्थान में

होता है। एक मुनि छठे गुणस्थान में रहता है, सातवें में भी चला जाता है। इन सबको पार करने के बाद यथालंदक की भूमिका प्राप्त होती है।

प्रतिक्षण अप्रमत्त रहने का अर्थ है—समय का अंकन। मुझे इस क्षण में वह काम करना है, तो मूल्यातीत है, इस चेतना की जागृति से ही समय का अंकन हो सकता है। पवित्रता मूल्यातीत है, प्रसन्नता मूल्यातीत है। प्रत्येक व्यक्ति सोचे—चौबीस घंटे में कितने घंटे प्रसन्नता में बीते, कितना समय पवित्र भावों में बीता। यह चिन्तन समय का अंकन है और यही विजय का आधार बनता है। जो व्यक्ति अपनी स्थिति के प्रति जागरूक होता है, प्रमादवश अपनी स्थिति को छिपाने का प्रयत्न नहीं करता, वह विजय का वरण कर लेता है।

सन्दर्भ मल्लयुद्ध का

आगम व्याख्या साहित्य की प्रसिद्ध कहानी है। उज्जैन का अट्टण मल्ल बहुत पराक्रमी था। प्रतिवर्ष मल्ल-युद्ध का आयोजन होता। उसमें अनेक राज्यों के मल्ल भाग लेते, परस्पर मल्ल कुशितयां लड़ते। जो विजयी होता, उसे श्रेष्ठ मल्ल घोषित किया जाता। वह पुरस्कृत और सम्मानित होता। जिस राज्य का मल्ल जीतता, उस राज्य की पराक्रम गाथा सर्वत्र विश्रुत होती। प्रतिवर्ष मल्लयुद्ध की प्रतियोगिता में उज्जैन का मल्ल 'अट्टण' विजयी बनता। सोपारक नगर के राजा सिंहगिरी ने सोचा—मैं भी एक ऐसे मल्ल को तैयार करूँ, जिससे मेरे देश का गौरव उन्नत हो। उसने एक युवा और बलिष्ठ मछुआरे का चयन किया। उसे खूब खिलाया, पिलाया, पौष्टिक भोजन दिया। व्यायाम और आसन का प्रशिक्षण दिलाया, मल्लयुद्ध के दावपेंच सिखलाए। कुछ ही समय में वह निपुण हो गया। उसका नाम रखा गया—मच्छिय मल्ल। अगले वर्ष मल्ल-कुशती की आयोजना की गई। एक ओर अट्टण मल्ल था, दूसरी ओर मच्छिय मल्ल था। मच्छिय मल्ल जवान था, शक्तिशाली था। अट्टण मल्ल बूढ़ा हो चला था। दोनों के बीच मल्ल युद्ध प्रारम्भ हुआ। युद्ध की परिणति अप्रत्याशित थी—मच्छिय मल्ल जीत गया, सदा जीतने वाला अट्टण मल्ल परास्त हो गया।

अट्टण मल्ल की हार से उज्जैन के राजा की प्रतिष्ठा को धक्का लगा। मल्ल युद्ध में सदा जीतने वाले देश की पराजय से राजा क्षुब्ध हो उठा। अट्टण मल्ल को भी ठेस पहुंची। उसने भी एक युवक को मल्ल बनाने का निश्चय किया। उसने सोचा—कोई युवा मल्ल ही उज्जैन की खोई प्रतिष्ठा पुनः पा सकता है।

जहां शक्ति का काम होता है, वहां युवा को खोजना पड़ता है। युवक शक्ति का पर्याय बना हुआ है। वृद्ध का अपना काम होता है, अपना कौशल होता है किन्तु शक्ति के संदर्भ में युवा ही सफल हो सकता है।

अट्टण मल्ल ने एक युवा कृषक का चयन किया। उसे मल्ल विद्या का महत्त्व समझाया, उसके मां-बाप की इस कार्य के लिए सहमति प्राप्त की। राजा का पूरा संरक्षण उसे प्राप्त था। उस युवक की सारी व्यवस्थाएं संपादित हो गईं। अट्टण मल्ल स्वयं अत्यन्त निपुण था। उससे प्रशिक्षण पाकर युवा कृषक कुशल मल्ल बन गया। उसका नाम रखा गया—फलिह मल्ल। प्रतिवर्ष की तरह अगले

वर्ष भी मल्ल युद्ध की प्रतियोगिता आयोजित हुई। इस बार दो युवा मल्ल—मच्छिय और फलिह—के बीच मुकाबला था। मच्छिय मल्ल अहंकार में घूर था। उसने सोचा—मैंने अदृष्ट जैसे मल्ल को पराजित कर दिया। यह तो नया-नया मल्ल है, मेरे सामने टिक ही नहीं पाएगा। मल्ल-कुशती का समय हुआ। एक ओर सोपारक नगर का मच्छिय मल्ल था तथा दूसरी ओर उज्जैन का फलिह मल्ल। कुशती प्रारम्भ हुई, संध्या तक चलती रही, कोई निर्णय नहीं हो पाया। न कोई हारा, न कोई जीता। दोनों बराबर रहे। समय-सीमा समाप्त होने पर कुशती दूसरे दिन के लिए स्थगित हो गई

दोनों मल्ल अपने-अपने खेमे में चले गए। मच्छिय मल्ल अपने खेमे में चला गया, फलिह मल्ल अपने खेमे में चला गया। अदृष्ट मल्ल ने फलिह मल्ल से पूछा—‘बेटा! तुम बहुत बहादुरी से लड़े, कहीं तुम्हें चोट तो नहीं आई, कहीं दर्द तो नहीं है?’ फलिह मल्ल ने कहा—‘पिताजी! अमुक स्थान पर चोट लगी है, अमुक स्थान पर दर्द है।’ उसने सारी स्थिति स्पष्ट बता दी। अदृष्ट मल्ल ने उसके तेल मालिश की, चोट ग्रस्त स्थानों पर मरहम लगाई, रात भर में उसे पुनः तरोताजा बना दिया।

मच्छिय मल्ल से राजा ने पूछा—‘क्या थकान आई है? कहीं चोट तो नहीं लगी? कोई समस्या हो तो बता दो।’ मच्छिय मल्ल अहंकार में झूबा हुआ था। उसने कहा—‘कुछ भी नहीं है, सब कुछ ठीक है।’ राजा ने तेल मालिश कराने का निर्देश दिया। उसने राजा की इस बात को भी टाल दिया। दूसरे दिन प्रातः फिर कुशती आयोजित हुई। एक ओर फलिह मल्ल तरोताजा होकर आया था, दूसरी ओर मच्छिय मल्ल थका हुआ था, प्रमाद और अहंकार से आविष्ट था। मल्ल युद्ध प्रारम्भ होते ही मच्छिय मल्ल पर फलिह मल्ल हावी हो गया और कुछ ही समय में फलिह मल्ल ने मच्छिय मल्ल को पराजित कर दिया।

जो अप्रमत्त होता है, वह जीत जाता है। जो प्रमत्त होता है, वह हार जाता है। पराजय का सूत्र है प्रमाद। प्रमाद के साथ पराजय जुड़ी हुई है। पराजय को प्रमाद से कभी अलग नहीं किया जा सकता। विजय की दिशा में प्रस्थान का पथ है अप्रमाद। उस पर बढने वाला कभी परास्त नहीं होता। महावीर का यह शाश्वत स्वर उसके लिए आलोक स्तम्भ बन जाता है—समयं गोयम! मा पमायए।

आज तीर्थंकर नहीं है?

एक दिन बुद्धि अनुभव को जगाने की बात करने लगी, सिद्धांत से हटकर प्रयोग की भूमिका में जाने लगी। अहंकार चौंक पड़ा। उसने सोचा—यह क्या हो रहा है, अन्याय हो रहा है। वह तत्काल बुद्धि से बोला—‘देवी! तुम क्या कर रही हो, अनुभव को जगाने का विचार तुम्हारे मन में क्यों जागा? इसे सोया ही रहने दो। इसको जगाकर क्यों सिरदर्द मोल ले रही हो।’ बुद्धि बोली—‘अनुभव बुद्धि से आगे की बात है। वह जागेगा तो जगत का कल्याण होगा।’ अहंकार बोला—‘यही तुम्हारी नासमझी है। तुम रहस्य को नहीं जानती। यदि यह अनुभव की चेतना जाग गई तो सबका नुकसान होगा। न तुम बचोगी? न मैं बचूंगा और न यह दुनिया बचेगी।’

जब व्यक्ति का अनुभव जाग जाता है तब बुद्धि नीचे रह जाती है, अहंकार विलीन हो जाता है। अनुभव जागरण का अर्थ है—अहंकार की समाप्ति। अहंकार आदमी में तब तक रहता है, जब तक अनुभव नहीं जागता। जिस दिन अनुभव की चेतना जागती है, अहंकार अपनी मौत मर जाता है। अनुभव के जागते ही बुद्धि का मूल्य समाप्त हो जाता है। उसके जागने पर व्यक्ति के व्यवहार का नियामक बुद्धि नहीं रहती। अनुभव उसके व्यवहार का संचालक बन जाता है। आज सब जगह पदार्थों का मूल्य है, जगत का मूल्य है। जिस दिन अनुभव जागता है, ये सब निर्मूल्य बन जाते हैं। व्यक्ति का स्वर बदल जाता है। अनुभव जागने पर व्यक्ति कहेगा—ब्रह्म सत्यं, जगत मिथ्या। व्यक्ति का सारा दृष्टिकोण बुद्धि से प्रभावित है। अनुभव उसके इस प्रभाव का अपनयन कर देता है।

हमारे दो चित्त हैं—अनुभव का चित्त और बुद्धि का चित्त। भगवान् महावीर के सामने यह सचाई स्पष्ट थी। उन्होंने गौतम से कहा—‘आयुष्मन्! मैं तुम्हें जो कह रहा हूँ, वह किसी शास्त्र या ग्रन्थ या ग्रन्थ के आधार पर नहीं कह रहा हूँ, किसी ग्रन्थ में लिखी हुई बात को नहीं दोहरा रहा हूँ। तुम्हें करणीय और अकरणीय, विधि और निषेध के लिए किसी प्रमाण की जरूरत नहीं है क्योंकि मैं जो कह रहा हूँ, वह अनुभव के आधार पर कह रहा हूँ।’

महावीर किसी के द्वारा प्रवर्तित नहीं थे

महावीर ने गौतम से कहा—‘गौतम! तुम्हारा पुराना मित्र स्कंदक आ रहा है। तुम उसके सामने चले जाओ।’ गौतम चले गए। किसी के मन में यह प्रश्न नहीं उभरा—महावीर ने एक अन्यतीर्थिक मुनि के सामने गौतम को कैसे भेजा? आज स्थिति बदल गई है। आज अगर कहा जाए—अमुक मुनि आ रहे हैं,

सामने चले जाओ। प्रश्न प्रस्तुत हो जाएगा। एक साधु और एक साध्वी के मन में प्रकंपन पैदा हो जाएगा, श्रावक समाज में हलचल पैदा हो जाएगी। प्रश्न होगा—किस आधार पर यह निर्णय लिया गया। महावीर को आधार बताने की जरूरत नहीं थी। उनका कथन किसी ग्रन्थ या शास्त्र के आधार पर नहीं था। उन्होंने जो कुछ कहा, अपने अनुभव के आधार पर कहा, साक्षात् ज्ञान के आधार पर कहा। वे किसी के द्वारा प्रवर्तित नहीं थे। वे स्वयं प्रवर्तक थे। सारे शास्त्र उनकी वाणी से पैदा हुए हैं, सारे सिद्धान्त उनके अनुभव से उपजे हैं।

मनुष्य की नैसर्गिक प्रकृति

महावीर ने कहा—‘गौतम! अनुभव का क्षण उपलब्ध होना सहज नहीं है क्योंकि मनुष्य का स्वभाव वर्तमान केन्द्रित नहीं है। वह अतीत की स्मृति करता है और वर्तमान की उपेक्षा। व्यक्ति की इस चिरन्तन प्रकृति में परिवर्तन अपेक्षित है’—

*अतीतं स्मर्यते भूयो, वर्तमानमुपेक्ष्यते।
मनुष्याणां निसर्गोऽयं, सन्मते! परिवर्त्यताम् ॥*

महावीर ने कहा—‘सन्मति गौतम! कभी तुम्हारे जीवन में ऐसा प्रसंग न आए जिसमें तुम्हें अतीत की स्मृति करनी पड़े और वर्तमान की उपेक्षा हो जाए। आज मैं तुम्हारे सामने प्रस्तुत हूँ। तुम इस अवसर का लाभ उठा लो, मेरे अनुभवों से स्वयं को लाभान्वित कर लो। जो भी प्रष्टव्य है, पूछ लो, प्रमाद मत करो।’

महावीर के इस संबोधन से उद्बुद्ध गौतम ने प्रश्नों की झड़ी लगा दी। गौतम ने ढेर सारे प्रश्न प्रस्तुत किए। गौतम प्रश्न पूछते चले गए, महावीर उन्हें समाहित करते चले गए। उन प्रश्नोंत्तरों का एक विशाल संचयन भगवती सूत्र में संदृब्ध है।

केवली एवं छद्मस्थ का ज्ञान

भगवान महावीर प्रत्यक्षज्ञानी थे। जिसे प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त नहीं है, वह विश्व के सूक्ष्म सत्त्यों को जान नहीं सकता। आज वैज्ञानिक उपकरणों का बहुत विकास हुआ है। उनके माध्यम से सूक्ष्म तत्त्व जाने जा रहे हैं, सूक्ष्म जीवाणु और एटम जैसे पदार्थ गम्य बन रहे हैं। टेलीस्कोप के द्वारा बहुत दूर की वस्तुओं को देखा जा रहा है, पकड़ा जा रहा है। जो यंत्रों के माध्यम से देखा जा रहा है, पकड़ा जा रहा है, वह सूक्ष्म है। सूक्ष्म के दो रूप हैं—मूर्त और अमूर्त। जो जाना जा रहा है, वह मूर्त या रूप है, अमूर्त को नहीं जाना जा रहा है। उसे यंत्रों के द्वारा जाना भी नहीं जा सकता। जिसकी चेतना का समग्र विकास हो जाता है, जो कैवल्य को उपलब्ध हो जाता है, वह मूर्त और अमूर्त—दोनों को जान लेता है। स्थानांग सूत्र में कहा गया—धर्मास्तिकाय आदि छह तत्त्वों को छद्मस्थ सर्वभाव से नहीं जान सकता, उन्हें केवली सर्वभाव से जान लेता है।

प्रश्न अतीत में भी होते रहे हैं और वर्तमान में भी प्रस्तुत हैं। गौतम के प्रश्नों को समाहित करने के लिए भगवान महावीर उपलब्ध थे किन्तु आज कोई तीर्थंकर नहीं है। उस युग के प्रश्न दूसरे प्रकार के थे और इस वैज्ञानिक युग में

दूसरे प्रकार के प्रश्न हैं। आज अध्यात्म के अनेक सिद्धान्त विज्ञान से टकरा रहे हैं और विज्ञान के अनेक सिद्धान्त अध्यात्म से टकरा रहे हैं। अध्यात्म और विज्ञान—दोनों के सामने अनेक प्रश्न हैं। विज्ञान ने जो प्रश्न प्रस्तुत किए हैं, क्या उनके उत्तर अध्यात्म में उपलब्ध हैं? क्या विज्ञान की खोजों के साथ अध्यात्म की संगति बिटाई जा सकती है? अध्यात्म और विज्ञान का कहां-कहां समन्वय हो सकता है? इन प्रश्नों के संदर्भ में आज नए सिरे से चिन्तन करना और एक निष्कर्ष को उपलब्ध होना अपेक्षित है।

शाश्वत स्वर का उद्गान

‘वर्तमान की उपेक्षा मत करो’ महावीर का यह संबोधन केवल गीतम के लिए ही नहीं था। यह शाश्वत स्वर का उद्गान है। इस सूत्र में मनुष्य की प्रकृति का सजीव चित्रण है। मनुष्य प्राप्त अवसर का लाभ नहीं उठाता किन्तु अवसर के चले जाने के बाद उसकी स्मृति करता है। वर्तमान क्षण का सम्यक् उपयोग करना अपने व्यक्तित्व का विकास करना है। वर्तमान का क्षण अनुभूति का क्षण है। अतीत के क्षण की स्मृति हो सकती है, वह तर्क का विषय बन सकता है। तर्क से जो गति प्रवर्तित होती है वह अनुभूति में विराम लेती है—

अनुभूतिर्वर्तमानेऽतीते तर्कः स्मृतिर्भवेद्।

तर्काद् गतिः प्रवर्तते, सानुभूतौ विरम्यते ॥

हमारे विकास के दो साधन हो सकते हैं—अनुभव और शास्त्र। अनुभव सबसे बड़ा होता है। आज व्यक्ति का विश्वास ग्रन्थ या शास्त्र पर ज्यादा है। जैन धर्म के मूल सिद्धान्तों में आस्था रखने वाला, आत्म कर्तृत्व में विश्वास करने वाला ग्रन्थ या शास्त्र को अधिक मूल्य नहीं दे सकता। वह अनुभव को अधिक महत्त्व देगा क्योंकि अनुभव उसका अपना होता है।

ग्रन्थ की समस्या

ग्रन्थ या शास्त्र के बारे में विमर्श करें तो लगेगा—ग्रन्थ की बड़ी समस्या है। अनेक कठिनाइयां ग्रन्थ या शास्त्र के साथ जुड़ी हुई हैं। ग्रन्थ का एक शब्द पचास भाषाओं में उपलब्ध हो सकता है, उसके पचास अर्थ हो जाते हैं। किसे सही माना जाए। लिखने वाले ने जिस आशय से लिखा, जिस द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में लिखा और जिस अनुभूति के साथ लिखा किन्तु आज पढ़ने वाले को न उसका आशय ज्ञात है, न वह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव है और न ही वह अनुभूति के उस स्तर को पा सका है। लिखने वाला था एवरेस्ट की चोटी पर और पढ़ने वाला बैठा है तलहटी में। एवरेस्ट की चोटी पर चढ़ा व्यक्ति जिस अनुभूति के साथ जी रहा है, तलहटी में बैठा व्यक्ति उस अनुभूति को कैसे पा सकेगा? एक स्थूल उदाहरण से इस बात को समझें—एक व्यक्ति मकान की छत पर चढ़ा हुआ है और एक व्यक्ति जमीन पर खड़ा है। छत पर खड़ा व्यक्ति कह रहा है—आंधी आ रही है, बादल आ रहे हैं। नीचे खड़ा व्यक्ति कहेगा—नहीं, कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा है। छत पर खड़ा व्यक्ति कहता है—अभी सूर्यास्त नहीं हुआ है। नीचे खड़ा व्यक्ति कहेगा—सूर्य दिख ही नहीं रहा है। छत पर चढ़े हुए व्यक्ति का ज्ञान जितना स्पष्ट है, नीचे खड़े व्यक्ति का ज्ञान उतना स्पष्ट

नहीं है। शास्त्र और अनुभव की दूरी को समझने का यह एक स्थूल दृष्टांत बन सकता है।

एक परिवार के मारे सदस्य अन्धे थे। केवल एक व्यक्ति को आंखों से दिखाई देता था। चक्षुष्मान् व्यक्ति कहता—देखो! मौसम कितना सुहाना है। आकाश में बादल उमड़-धुमड़ रहे हैं। उद्यान में कितने सुन्दर फूल खिल रहे हैं। यह मनभावना मौसम प्रत्येक व्यक्ति को आह्लादित कर रहा है। उसकी बातों को सुनकर अन्धे व्यक्ति एक साथ बोल उठे—यह बहुत फिजूल की बातें कर रहा है। एक दिन एक अनुभवी वैद्य आया। उसने कहा—‘मैं तुम सब लोगों का इलाज कर सकता हूँ, तुम सबको चक्षुष्मान बना सकता हूँ।’ अन्धे व्यक्तियों ने कहा—‘हम सब ठीक हैं। हमारा एक साथी बीमार है। वह रोज ऊटपटांग बातें कर हमें बोर करता है। आप उसका इलाज कर दीजिए, सब कुछ ठीक हो जाएगा।’

भगवती स्वतः प्रमाण नहीं है

जो अंधे हैं, वे अंधे नहीं हैं। जो अंधा नहीं है, वह अन्धा है। अन्धे बीमार नहीं हैं। बीमार है चक्षुष्मान। जिसकी आंखें ठीक है, उसको आंखों का इलाज करना है। जिन्हें दिखाई नहीं देता, उनकी आंखें ठीक हैं। यह दुनिया की बड़ी विचित्र प्रकृति है। इस दुनिया में शब्दों के आधार पर, आंखों के आधार पर, इन्द्रियों के आधार पर न जाने क्या-क्या हो जाता है। इस स्थिति में अनुभव का महत्त्व सहज प्रस्फुटित होता है। साक्षात् ज्ञान का मूल्य सबसे अधिक है, महावीर की इस उद्घोषणा से सर्वज्ञवाद को नया प्रकाश मिला। उन्होंने कहा—प्रत्यक्ष की ओर प्रस्थान करो, परोक्ष में मत अटको, ग्रंथों को ही सब कुछ मत मानो। हालांकि जब तक प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता तब तक ग्रन्थ भी सहारा बनते हैं, आधार बनते हैं, किन्तु ग्रन्थ व्यक्ति का अन्तिम लक्ष्य नहीं है, मूल आधार नहीं है। इसीलिए जैन दर्शन ने ग्रन्थ के स्वतः प्रामाण्य को स्वीकार नहीं किया। स्वतः प्रमाण सर्वज्ञ हैं, अतीन्द्रिय ज्ञान से सम्पन्न पुरुष हैं। भगवती स्वतः प्रमाण नहीं है, भगवान स्वतः प्रमाण हैं, यह सर्वज्ञवाद की महत्त्वपूर्ण प्रस्थापना है।

मतवाद की विडम्बना

जब साक्षात् ज्ञानी नहीं होते, तीर्थंकर नहीं होते तब ग्रन्थ या शास्त्र प्रामाणिकता का आधार बनते हैं। जब ग्रन्थ को प्रमुखता मिलती है तब क्या स्थिति बनती है, इसका मार्मिक चित्रण महावीर की भाषा में उत्तराध्ययन सूत्र में उपलब्ध होता है—

न हु जिणे अज्ज दिस्सई, बहुमए दिस्सई मग्गदेसिए।

संपइ नेयाउए पहे, समयं गोयम! मा पमायए।।

महावीर ने कहा—‘गौतम! आज जिन नहीं दिख रहे हैं। जो मार्गदर्शक हैं, वे एकमत नहीं हैं—अगली पीढ़ियों को इस कठिनाई का अनुभव होगा। किन्तु अभी मेरी उपस्थिति में तुझे पार ले जाने वाला न्यायपूर्ण पथ प्राप्त है।’

जब तक तीर्थकर मार्गदर्शक होते हैं, सारे लोग उनके मार्गदर्शन में चलते हैं। जब तीर्थकर नहीं रहते हैं, तब ग्रन्थ मुख्य बन जाते हैं, एक ग्रन्थ की पचासों व्याख्याएं हो जाती हैं। आचार्य अपनी-अपनी समझ से उनकी व्याख्या करते हैं। व्याख्या की विभिन्नता से अनेक मार्ग बन जाते हैं, अनेक मार्गदर्शक उभर आते हैं। स्थिति यह बनती है—मार्गदर्शक अधिक बन जाते हैं, भक्त कम हो जाते हैं। भगवान् भक्तों को ढूँढते रहते हैं, बुलाते रहते हैं। यह मतवाद की विडम्बना है।

मतवाद का कारण

जैन शासन की स्थिति को देखें। पहले जैन शासक एक था। कालान्तर में उसके दो विभाग हो गए—श्वेताम्बर और दिगम्बर। एक ने भगवती आदि सूत्रों को प्रमाण माना, दूसरे ने समयसार आदि का प्रामाण्य स्वीकार किया। समय बीता। उन्हीं आगमों के आधार पर एक मूर्तिपूजक बन गया, एक अमूर्तिपूजक बन गया। यदि इनके अवान्तर भेदों की विविक्षा करें तो एक जैन शासन के सैकड़ों भाग बन जाते हैं।

प्रश्न हो सकता है—जैन शासन के अनेक भागों में विभक्त होने का कारण क्या है? उसमें मतवाद अधिक क्यों पनपे? जब तक प्रत्यक्षज्ञानी होते हैं, सर्वज्ञ होते हैं, मतवाद को पनपने का अवकाश ही नहीं मिलता। जब सर्वज्ञ नहीं होते, प्रत्यक्षज्ञानी व्यक्तियों का अभाव हो जाता है, तब मतवाद को पनपने का अवसर उपलब्ध हो जाता है। मतवाद का आधार है परोक्ष ज्ञान। गीता एक है किन्तु उसके आधार पर अद्वैतवाद भी चलता है, द्वैतवाद भी चलता है। महावीर का यह कथन कितना यथार्थ है—जब तक प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, मतवादों की भीड़ नहीं लगती। जब प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता तब अपनी मान्यता का आग्रह प्रबल बनता है। एक व्यक्ति कहता है—मैं ऐसा सोचता हूँ। दूसरा कहता है—मैं ऐसा सोचता हूँ। जितने व्यक्ति, उतने चिन्तन बन जाते हैं। जब चिन्तन के साथ आग्रह जुड़ता है, मतवाद को पनपने का अवसर मिल जाता है। निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है—मतवाद का कारण है—परोक्ष ज्ञान और उसका समाधान है परोक्ष से प्रत्यक्ष की दिशा में प्रस्थान।

तीर पर पहुंच कर क्यों रुके हो?

एक साधु उदास मुद्रा में बैठा था। मैंने पूछा—‘ऐसे क्यों बैठे हो?’

उसने कहा—‘मन में समाधि नहीं है।’

‘समाधि क्यों नहीं है?’

‘मुझ पर आचार्यश्री का कृपा नहीं है इसलिए मन में समाधि नहीं है।’

‘कृपा नहीं है, इसका कैसे पता चला? क्या ऐसा कोई कारण बता सकते हो, जिससे पता चले—तुम्हारे पर कृपा नहीं है।’

‘हां! बता सकता हूं। मैं कई बार आचार्यवर के पास गया, दर्शन किए और एक बार भी आचार्यश्री ने यह नहीं पूछा—तुम कैसे हो? कब आए? कितने वर्ष से आए? इससे अपने आप पता चल जाता है कि आचार्यश्री की मुझ पर कृपा नहीं है। इसी कारण मेरे मन में समाधि नहीं है।’

इस प्रकार की अनेक घटनाएँ घटित होती हैं।

मैंने मन ही मन सोचा—यह छोटा साधु कम पढ़ा-लिखा है, इसलिए असमाधि में चला गया। कभी-कभी गौतम जैसे मनीषी व्यक्ति भी असमाधि में चले जाते हैं तब इसकी तो बात ही क्या है? गौतम स्वामी महावीर के ज्येष्ठ गणधर थे। महावीर के चौदह हजार साधु थे और छत्तीस हजार साध्वियां थी। उनमें गौतम सबसे पहले महावीर के शिष्य बने। जब वे भी असमाधि में चले जाते हैं तब मैं एक छोटे साधु की बात को लेकर क्यों उलझूं?

एक बार ऐसा ही हुआ। गौतम स्वामी उदास होकर बैठ गए। वे बड़े खिन्न थे। कभी-कभी शिष्य उदास होता है तो गुरु को मनाना पड़ता है। महावीर को जब यह पता चला—गौतम आज उदास बैठे हैं तो महावीर ने पूछा होगा—‘आज ऐसे क्यों बैठे हो।’

उत्तर मिला होगा—‘मन में समाधि नहीं है।’

‘समाधि क्यों नहीं है? तुम मेरे शिष्य बने, मैंने तुम्हें सब साधुओं में अग्रणी बनाया, प्रथम गणधर बनाया फिर भी तुम्हारे चित्त में समाधि नहीं है। यह क्यों?’

‘आपकी मुझ पर कृपा नहीं है।’

ऐसा सुनकर महावीर भी शायद अचम्भे में पड़े होंगे। ये सारी विचित्रताएं होती हैं। इसका कारण है हमारा परोक्ष ज्ञान।

परोक्ष की प्रकृति

असमाधि का मूल बीज है परोक्ष ज्ञान। प्रत्यक्ष ज्ञान का न होना असमाधि का बहुत बड़ा कारण है। परोक्ष ज्ञान समाधि में बाधा पैदा करता है। विपर्यय, निराशा, विचिकित्सा, शंका और संशय—ये सब परोक्ष ज्ञान के घटक तत्त्व हैं—

परोक्षे संप्रजायन्ते, बाधास्तत्र विपर्ययः।
निराशा विचिकित्सा च, शंका क्वचिच्च संशयः॥

परोक्ष की प्रकृति स्पष्ट नहीं होती। उसमें बाहर और भीतर का भेद होता है। एक व्यक्ति एक बात कह रहा है किन्तु सामने वाला उसे मानता ही नहीं है। वह सोचता है—बाहर में ऐसा कह रहा है, पता नहीं, इसके भीतर क्या है? व्यवहार में यह कल्पना कौन नहीं करता? व्यक्ति सोचता है—इस व्यक्ति ने मुझे आश्वासन दिया है, यह बाहर से बड़ी मीठी-मीठी बातें कर रहा है पर इसके भीतर क्या है? उसके मन में यह संशय बना रहता है।

संशय का कारण परोक्ष की प्रकृति है। उसका परिणाम है बाहर और अंदर का भेद। उसके साथ अनुमान और जुड़ जाता है। व्यक्ति मन ही मन अनुमान और अटकलें लगाता है। उसका सिर भारी बन जाता है। यदि यह परोक्ष ज्ञान नहीं होता, अनुमान नहीं होता तो संगठन की समस्या भी नहीं होती। संगठन की सबसे बड़ी समस्या है—परोक्ष ज्ञान का होना और अनुमान की शक्ति का होना। हर आदमी अपना-अपना अनुमान लगाता है। चाहे अनुमान का हेतु गलत भी हो किन्तु वह प्रत्येक बात में अटकलें लगाता है। कहा गया—अनुमान हनुमान की पूछ की तरह लंबा होता है। उसका कहीं अंत नहीं होता।

अस्पष्टता की स्थिति में अनुमान जन्म लेते हैं। जहां अस्पष्टता होती है, बाहर और अंदर का भेद होता है वहां असमाधि का होना असम्भव नहीं है। अस्पष्टता का परिणाम है—असमाधि। समाधि वहीं होती है, जहां प्रत्यक्षीकरण होता है, स्पष्टता होती है—

परोक्षं विद्यतेऽस्पष्टं, बाह्यान्तरविभेदकृद्।
सानुमानं च प्रत्यक्षं, स्पष्टं तेन समाधिकृद्॥

असमाधि का कारण : विपर्यय

असमाधि का एक कारण है—विपर्यय। किसी व्यक्ति को कहा कुछ जाता है और वह उसे समझ कुछ और लेता है। ऐसी अनेक घटनाएं घटित होती रहती हैं। अगर उनका पूरा विश्लेषण करें तो एक बृहद् ग्रन्थ बन जाए। आचार्यश्री ने कुछ कहा, सामने वाले ने कुछ और ही समझ लिया, उसका ज्ञान विपरीत हो गया। उसके मन में असमाधि का एक भूत खड़ा हो जाता है। जब विपर्यय होता है, मन में निराशा आ जाती है।

गौतम के मन में भी निराशा छा गई। गौतम बोले—‘भगवान्! आपको अपनी बात क्या बताऊं?’

महावीर बोले—‘बताने की कोई जरूरत नहीं है, मैं जानता हूँ फिर भी तुम बता दो। तुम्हारा बोझ तो हलका हो जाए।’

जब मन में बहुत सारी बातें होती हैं और कोई सुनता नहीं है तो व्यक्ति बेचैन और उदास हो जाता है। पेट का ही अफारा नहीं होता, मस्तिष्क का भी अफारा होता है। पेट का अफारा दवा से जल्दी समाप्त हो जाता है पर दिमाग का अफारा किसी दवा से नहीं मिटता। इसे मिटाने का उपाय है रेचन।

कोई रेचन कराने वाला मिल जाए, बात को सुनने वाला मिल जाए तो दिमाग का बोझ हलका हो जाता है।

गौतम ने कहा—‘भगवान्! आपने मेरी कैसी स्थिति बना दी है। एक ओर मुझे सब साधु-साधियों में ज्येष्ठ बना दिया, दूसरी ओर मेरी दयनीय दशा देखिए—जिनको मैं दीक्षित करके लाया, जिन्हें शिष्य बनाया, जो मेरे पीछे-पीछे चले, आपके पास पहुंचते-पहुंचते वे एक-एक कर केवली होते चले गए और मैं अभी भी छद्मस्थस हूँ। इससे बड़ा भी कोई अन्याय हो सकता है? आप पूछते हैं—असमाधि क्यों? इसका स्पष्ट कारण है—मैंने जिनको मूंडा, जो मेरे शिष्य बने, वे आपकी परिषद् में पहुंचते-पहुंचते केवली बन गए। मुझे साधना करते हुए इतने वर्ष बीत गए फिर भी प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं जागा। कौनसी शिला आड़े आ रही है? मेरी छद्मस्था दूर क्यों नहीं हो रही है? आवरण दूर क्यों नहीं हो रहा है?’

महावीर का समाधान

भगवान् ने कहा—गौतम! तुम निराशा में क्यों चले गए? तुमने सारा समुद्र तैर लिया। तुम बहुत सारे छद्मों को पार कर गए। तुम छद्म और आवरण के समुद्र को पार कर तट पर पहुंच गए हो—

तिष्णो हु सि अण्णवं महं, किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ।

अभितुर पारं गमित्तए, समयं गौयम! मा पमायए॥

हमारी ज्ञान-नदी के दो तट हैं—एक परोक्ष का तट और एक प्रत्यक्ष का तट। तुम परोक्ष के तट से चले और प्रत्यक्ष के तट पर पहुंच गए। ऐसा लगता है—तट पर पहुंच कर तुम्हारे पैर ठिठक गए हैं, अटक गए हैं, तुम्हारी गति मंद हो गई है। आश्चर्य है—तुम तीर पर पहुंचकर ठहर क्यों गए? यह ठहराव अच्छा नहीं है।

बहुत बार ऐसा होता है—आदमी बहुत आगे बढ़ जाता है किन्तु जहां किनारा आता है, वह रुक जाता है। प्रसिद्ध कथा है—अन्धा आदमी चौरासी के चक्कर में फंस गया। वह दीवार का सहारा लिए घूमता रहा। बाहर निकलने का एक ही दरवाजा था। जब बाहर निकलने का दरवाजा आया तब वह सिर को खुजलाने लगा। सिर खुजलाते-खुजलाते वह आगे चला गया, दरवाजा पीछे छूट गया। वह एक अन्तहीन चक्कर में फंस गया। कभी-कभी ऐसा हो जाता है।

महावीर का संदेश जारी था—‘गौतम! तुम तीर पर रुक गये हो, तुमने यह अच्छा नहीं किया। तुम निराशा को छोड़ो। अब भी जल्दी करो, तैयार हो जाओ। तीर तुम्हारे सामने है। यह तट सामने दिख रहा है।’

महावीर ने गौतम को बहुत आश्वासन दिया। आचार्य को कभी-कभी बहुत आश्वासन देना होता है। महावीर बोलते चले जा रहे थे—‘गौतम! तुम भूल गये हो। तुम्हारा और मेरा सम्बन्ध नया नहीं है। न जाने हमारे संबंध कितने काल से है? न जाने कितने जन्मों से हम दोनों साथ-साथ रह रहे हैं? हमारा चिर-परिचय है, चिर-संसर्ग है। मैं तुम्हारा बहुत पुराना साथी हूँ, तुम्हारी उपेक्षा कैसे कर सकता हूँ? इस जन्म को पूरा कर हम जहां जायेंगे, वहां तुम और मैं

का भेद ही समाप्त हो जाएगा, हम एक हो जाएंगे। जो तुम हो वह मैं हूं और जो मैं हूं वह तुम हो। हमारा अद्वैत और अभेद बना रहेगा।

समाधि : असमाधि

महावीर की विशेषता थी—वे सामने वाले व्यक्ति को साक्षात् बोध करा देते। शिष्य के मन में समाधि पैदा करना गुरु का काम होता है। समाधि के लिए साक्षात्कार, स्पष्ट ज्ञान कराना जरूरी होता है। जहां अस्पष्टता है, वहां असमाधि है। ज्ञान और व्यवहार में समाधि स्पष्टता की स्थिति में ही संभव बनती है।

अस्पष्टता भवेद् यत्राऽसमाधिस्तत्र जायतेः।

स्पष्टतायां समाधिः स्याद्, ज्ञानजो व्यवहारजः॥

जब तक अस्पष्टता बनी रहेगी, समाधि की बात नहीं सोची जा सकेगी। समाधि के लिए स्पष्टता बहुत आवश्यक है। जब तक अस्पष्टता होती है, मन में समाधि नहीं रहती। स्पष्टता से जुड़ी हुई है समाधि। अनेक व्यक्ति कहते हैं—मुझे अभी तक समाधान नहीं मिला। प्रश्न हुआ—क्यों नहीं मिला? वे कहते हैं—अभी पूरी बात साफ नहीं हुई, स्पष्ट नहीं हुई। जब तक पूरी बात सामने नहीं आती, समाधि नहीं होती।

सिद्धांत सर्वज्ञता का

भगवान् महावीर ने अतीन्द्रिय ज्ञान पर बहुत बल दिया। अगर चित्त समाधि को पाना है तो प्रत्यक्ष में जीना होगा। परोक्ष में जीने वाला व्यक्ति कभी समाधि के बिन्दु तक पहुंच नहीं सकता। समाधि के चरम बिन्दु को छूना है तो ज्ञान को भी प्रत्यक्ष बनाना होगा। न केवल भारतीय दर्शन अपितु विश्व दर्शन की परम्परा में सर्वज्ञता पर सबसे अधिक बल देने वाला दर्शन जैन दर्शन है। सर्वज्ञवाद की प्रस्थापना सबसे पहले जैन दर्शन ने की। बहुत सारे दर्शनों ने सर्वज्ञवाद का खण्डन किया और उसका उपहास करते हुए उन्होंने कहा—

सर्वं पश्यतु मा वा, तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु।

कीटसंख्यापरिज्ञानमस्माकं क्वोपयुज्यते॥

सबको जानो या मत जानो। तुम इष्ट तत्त्व को अवश्य जानो। कितने कीड़े-मकोड़े हैं। यह जानने की क्या उपयोगिता है?

राजा ने एक विद्वान से पूछा—अगर तुम ज्ञानी हो तो बताओ, मेरे राज्य में कौए कितने हैं? उसने कहा—पांच हजार। राजा ने कहा—मैं गिनती कराऊंगा। विद्वान बोला—ज्यादा निकल जाए तो मान लीजिए—इतने विदेश से आ गए। यदि कम हो तो मान लीजिए—इतने कौए विदेश चले गए।

अस्पष्टता में कोई समाधान नहीं होता, केवल अटकलें और ऊटपटांग बातें चलती हैं। महावीर ने इस सूत्र को पकड़ा। उन्होंने कहा—यदि समाधान पाना है, समाधि को उपलब्ध होना है तो ज्ञान को भी स्पष्ट करना होगा, प्रत्यक्षीकरण करना होगा। कोई भी व्यक्ति महावीर के पास आता, उनसे कोई प्रश्न पूछता तो महावीर उसे सबसे पहले जाति-स्मरण (पूर्वजन्म की स्मृति) का प्रयोग कराते। जाति-स्मरण होते ही सारे संशय एक साथ समाप्त हो जाते हैं। कोई संशय रहता ही नहीं है। जब व्यक्ति को पहले जन्म की स्मृति हो गई तब

आत्मा है या नहीं? यह प्रश्न समाप्त हो जाता है। धर्म है या नहीं? स्वर्ग और नरक है या नहीं? पुनर्जन्म है या नहीं? ये प्रश्न स्वतः समाहित हो जाते हैं। अच्छे कर्म का फल अच्छा होता है और बुरे कर्म का बुरा फल होता है, इस सचाई में उसका विश्वास हो जाता है। सारे संशय इस एक प्रयोग से समाप्त हो जाते हैं।

परामनोविज्ञान

आज जातिस्मरण की प्रक्रिया को विकसित करने की जरूरत है। विज्ञान की एक नई शाखा विकसित हो रही है—परामनोविज्ञान। विज्ञान की एक शाखा बनी—मनोविज्ञान। मनोविज्ञान को भी विज्ञान के रूप में मान्यता सहजता से नहीं मिली। साम्यवादी परम्परा में ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, नरक, कर्म, पुण्य और पाप—सबको अस्वीकार किया गया। जब सोवियत रूस में पेरासाइकोलोजी के प्रयोग हुए और उसके निष्कर्ष सामने आए तो सारा रूस हिल उठा। इन प्रयोगों को बंद करने का स्वर उभरा। कहा गया—इन प्रयोगों को बन्द नहीं किया गया तो मार्क्सवाद लड़खड़ा जायेगा। अगर पुनर्जन्म सिद्ध हो गया तो अनर्थ हो जाएगा। आज पेरासाइकोलोजी का सिद्धांत प्रतिष्ठित हो गया, मान्य हो गया। उसके लड़खड़ाने की बात समाप्त हो गई। आज पुनर्जन्म पर, जाति-स्मरण पर बहुत अनुसन्धान चल रहे हैं। टैलीपेथी के द्वारा, अतीन्द्रिय चेतना के द्वारा बहुत बड़े-बड़े कार्य होने लग गये हैं। यदि अध्यात्म के लोग इस दिशा में नहीं सावेंगे तो पिछड़ जाएंगे।

अगला विश्वयुद्ध हुआ तो?

पेंटागन, जो अमरीका का रक्षा-संस्थान है, उसमें परामनोविज्ञान का उपयोग किया जा रहा है। ऐसे-ऐसे पेरासाइकोलाजिस्ट हैं, जो समाधि में चले जाते हैं। वे समाधि की अवस्था में रूस के आधुनिक शस्त्रास्त्रों की गुप्ततम फाइलों का पता-ठिकाना बना देते हैं। उन फाइलों में क्या-क्या जानकारी संदृब्ध है, इसका अक्षरशः ब्यौरा लिखवा देते हैं। परामनोविज्ञान के विकास पर अरबों डालर खर्च किए जा रहे हैं। यह माना जा रहा है—यदि अगला विश्व युद्ध हुआ तो वह शस्त्रों से नहीं, परमानसिक शक्तियों से लड़ा जाएगा। यह विशुद्ध आध्यात्मिक प्रक्रिया संहारक बनती चली जा रही है। यदि धर्म के लोगों ने जाति-स्मरण की प्रक्रिया के विकास की ओर ध्यान नहीं दिया तो वह दिन दूर नहीं है जिस दिन इस क्षेत्र में विज्ञान आगे बढ़ जाएगा और धर्म पीछे रह जाएगा। जाति-स्मरण को प्रायोगिक स्तर पर जीने वाला धर्म मुंह ताकता रह जाएगा। विज्ञान के जरिए यह महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया विस्तार पाएगी, धर्म की प्रासंगिकता पर प्रश्नचिह्न लग जाएगा।

प्रसंग मेघकुमार का

अध्यात्म की तेजस्विता के लिए जरूरी है—हम उन प्रयोगों को पुनरुज्जीवित करने का प्रयत्न करें, जो महावीर करारते थे। मेघकुमार मुनि बना और एक ही रात में विचलित हो गया। वह साधुत्व को छोड़कर घर जाने के

लिए उद्यत हो गया। महावीर ने कहा—मेघकुमार! तुम अपने पूर्व-जन्म को देखो। पिछले जन्म में तुम हाथी थे। उस जीवन में, हाथी के भव में, तुमने भयंकर कष्टों को सहन किया है। आज तुम मनुष्य होकर भी सामान्य कष्टों से घबरा गए।

महावीर ने मेघकुमार को सम्बोधित कर उसे उसका पूर्वजन्म दिखा दिया। मेघकुमार देख रहा है—‘जंगल में दावानल लगी हुई है। एक तृण रहित मैदान में सारे जानवर इकट्ठे हो रहे हैं। वह विशाल मैदान जानवरों से संकुल हो गया है। मैं हाथी के रूप में वहां खड़ा हूँ। मैंने अपने शरीर को खुजलाने के लिए एक पैर को ऊपर उठाया। उसी समय एक खरगोश उस रिक्त स्थान में बैठ गया। मैंने खुजलाकर पैर को नीचे रखना चाहा किन्तु उस स्थान पर खरगोश को देखकर मैं अनुकंपा से भर उठा। मैंने सोचा—पैर नीचे रखने से खरगोश मर जाएगा। दयाभाव से वशीभूत होकर मैंने पैर अधर में रख लिया। मेरा शरीर भारी भरकम था। उस स्थिति में मैं ढाई दिन तक खड़ा रहा। मैंने अपार वेदना को समभाव से सहा।’

मेघकुमार अपने पूर्वजन्म को देख संबुद्ध हो गया। वह साधुत्व में पुनः स्थिर हो गया। उसने कहा—‘भंते! मैं आपके चरणों में पूर्ण समर्पित हूँ। इन दो आखों को छोड़कर मेरा पूरा शरीर आपके चरणों में समर्पित है, आप चाहें जैसे इसका उपयोग करें।’

मेघकुमार राजकुमार था। यदि पूर्वजन्म में कष्ट प्रत्यक्ष नहीं होते तो उसको स्थिर बनाना कठिन होता। महावीर ने प्रत्यक्ष ज्ञान पर बहुत बल दिया। यदि किसी को समाधि में ले जाना है तो उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कराना होगा। समाधि के लिए जरूरी है—हमारी यात्रा परोक्ष से प्रत्यक्ष की दिशा में हो। उसका पहला चरण होगा—हमारे भीतर जो अस्पष्टताएं छिपी हुई हैं, उन्हें स्पष्ट करें। मन में जो गांठें घुली हुई हैं, उन्हें खोलें, जो छिपाव है, उसे स्पष्ट करें।

नए नौकर ने मालिक से पूछा—‘मैं आपकी क्या सेवा करूँ, आपका क्या काम करूँ?’ मालिक ने कहा—‘तुम्हारा एक ही काम है, समय पर घड़ी बता देना। जब सुबह पांच बज जाए तब तुम मुझे उठा देना।’

नौकर ने कहा—‘मुझे घड़ी देखना नहीं आता। जब पांच बज जाए तब आप मुझे बता देना। मैं आपको उठा दूंगा।’

हम कम से कम घड़ी देखना तो सीखें। घड़ी देखना सीखें बिना समय का स्पष्ट ज्ञान संभव नहीं है। अस्पष्टता को मिटाने का प्रयत्न होगा तो प्रत्यक्ष की दिशा में पहला कदम उठ जाएगा, समाधि की दिशा में प्रस्थान संभव हो पाएगा।

जैन शिक्षा प्रणाली

आचार्य ने शिष्य से कहा—‘वत्स! तुम मुनि बन गए हो, इसलिए अपना ध्यान अध्ययन में केन्द्रित करो।’

शिष्य ने निवेदन किया—‘गुरुदेव! आपकी प्रेरणा बहुत कल्याणकारी है किन्तु मेरे सामने पढ़ने का उद्देश्य, शिक्षा का दर्शन स्पष्ट नहीं है। क्या पढ़ूँ, कैसे पढ़ूँ? आदि प्रश्न मेरे मानस में उभरते हैं, मेरे अन्तःकरण को कुरेदते रहते हैं। आप मुझे कृपा कर शिक्षा का दर्शन बताएं, मैं पढ़ने का प्रयत्न करूँगा।’

आचार्य ने कहा—‘वत्स! पढ़ने से पहले शिक्षा का दर्शन जानना जरूरी है। प्रत्येक शिक्षा पद्धति के सामने दो बातें स्पष्ट होनी चाहिए। पहली बात है—वह व्यक्ति को क्या मानती है और दूसरी बात है—वह व्यक्ति को क्या बनाना चाहती है? जैन, बौद्ध या वेदान्त की शिक्षा पद्धति हो अथवा आधुनिक विज्ञान की शिक्षा पद्धति, उसमें इन दो बातों की स्पष्टता जरूरी है। जब तक इन दो तत्त्वों का दर्शन स्पष्ट नहीं होता तब तक शिक्षा पद्धति का निर्धारण नहीं हो सकता। जैन दर्शन के अनुसार जो शिक्षा प्रणाली निर्मित हुई है, उसमें दोनों प्रश्नों का समाधान उपलब्ध होता है।’

व्यक्ति की योग्यता

जैन शिक्षा पद्धति व्यक्ति को क्षायोपशमिक योग्यता वाला मानती है। इसका अर्थ है—

प्रत्येक व्यक्ति में अनावरण की क्षमता है।

प्रत्येक व्यक्ति में चारित्रिक विकास की क्षमता है।

प्रत्येक व्यक्ति में अपनी आदतों को बदलने की क्षमता है।

प्रत्येक व्यक्ति में शक्ति-संवर्धन की क्षमता है।

आवरण को हटाया जा सकता है, चरित्र का परिष्कार किया जा सकता है, आदतों का परिवर्तन किया जा सकता है और शक्ति को बढ़ाया जा सकता है। व्यक्तित्व की इस स्पष्ट परिकल्पना के साथ चार कर्मों का संबंध जुड़ा हुआ है।

कर्मशास्त्रीय परिभाषा में देखें—प्रत्येक व्यक्ति में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोह और अन्तराय कर्म का क्षयोपशम होता है। व्यक्ति की यह क्षायोपशमिक योग्यता जैन शिक्षा पद्धति के निर्धारण का प्रमुख आधार है। इसी आधार पर शिक्षा का उद्देश्य प्रस्तुत किया जा सकता है।

शिक्षा का उद्देश्य

जैन शिक्षा पद्धति का उद्देश्य है—

व्यक्ति में अनावरण की जो क्षमता है, उसे बढ़ाते चले जाना, अनावरण को एक निश्चित बिन्दु तक पहुंचा देना।

व्यक्ति बौद्धिक सीमा का अतिक्रमण कर प्रज्ञा की सीमा में चला जाए, अतीन्द्रिय ज्ञान की सीमा में पहुंच जाए।

व्यक्ति सम्यग्दृष्टि बने। दर्शन मोह का क्षयोपशम मिथ्यादृष्टि के भी होता है। शिक्षा का उद्देश्य है—व्यक्ति मिथ्यादृष्टि न रहे, वह दर्शन मोह के क्षयोपशम को बढ़ाता चला जाए, सम्यग्दृष्टि बन जाए।

व्यक्ति अप्रमत्तता की भूमिका तक पहुंच जाएं। उसके चारित्रमोह का क्षयोपशम बढ़ जाए, सम्यग्दृष्टि बन जाए।

संयम में शक्ति का प्रयोग। शक्ति प्रत्येक प्राणी में है किन्तु उसका उपयोग असंयम में अधिक होता है। शिक्षा के द्वारा ऐसी क्रियात्मक शक्ति जागे, जिसका संयम में अधिकतम उपयोग हो, व्यक्ति संयम की दिशा में प्रस्थित हो जाए।

विकास का क्रम

शिष्य ने जिज्ञासा की—गुरुदेव! प्रज्ञा को जगाने की बात, अतीन्द्रिय ज्ञान तक पहुंचने की बात बहुत प्रिय लगती है। उसके लिए क्या करना चाहिए? प्रज्ञा और अतीन्द्रिय ज्ञान कैसे उपलब्ध हो सकता है?

आचार्य ने कहा—विकास का एक क्रम है। बौद्धिक विकास तथ्यों के ग्रहण में उपयुक्त होता है, मानसिक विकास उत्कट समस्याओं को जीतने में और भावात्मक विकास दायित्व पालन में उपयुक्त होता है। इनके विकास का आधार है—शरीर सिद्धि। ये प्रशिक्षण के बिना विकसित नहीं होते। इनके विकास के लिए विद्यार्थी को स्वाध्याय-योग में प्रवृत्त होना चाहिए।

*विकासो बौद्धिको युक्तस्तथ्यानां ग्रहणे भवेत्।
विकासो मानसो युक्तः, समस्या जेतुमुत्कटाः॥
विकासो भावनानां च, युक्तो दायित्वपालने।
शरीरसिद्धिरेतेषामाधार इति विश्रुतम्॥
प्रशिक्षणं बिना नैते, संभवन्ति कदाचन।
ततः स्वाध्याययोगोऽयं, विद्यार्थिनां प्रवर्तते॥*

इतिहास और भूगोल को क्यों जानें?

व्यक्तित्व निर्माण के लिए बौद्धिक विकास आवश्यक है। व्यक्तित्व के लिए तथ्यों का ज्ञान बहुत जरूरी है। तथ्यों को जानने के लिए इतिहास और भूगोल को जानना होता है, महापुरुषों के चरित्र को जानना होता है। प्राचीन विशिष्ट व्यक्तियों को जानना, उनके जीवन-दर्शन को पढ़ना और उनकी रहन-सहन की पद्धतियों से परिचित होना अतीत से सम्पर्क स्थापित करना है। पुराने लोग कैसे रहते थे? उनका जीवन व्यवहार कैसा था? महावीर कैसे जिए? बुद्ध कैसे जिए? ईसा, कृष्ण और राम कैसे जिए? आचार्य भिक्षु का जीवन-दर्शन कैसा था? तेरापंथ के विशिष्ट संत—मुनि हेमराजजी, मुनि वेणीरामजी आदि का जीवन कितना उदात्त और महान् था? महापुरुषों का जीवन चरित्र प्रेरणा देता है,

कुछ बनने का अवसर देता है। उनके जीवन-दर्शन के आलोक में व्यक्ति अपना जीवन ढाल सकता है। उनका श्रेष्ठ आचरण व्यक्ति के आचरण का आधार बनता है।

भूगोल को पढ़े बिना व्यक्ति भौगोलिक स्थितियों से अनजान रह जाता है। किस समय किस क्षेत्र का क्या प्रभाव था? क्यों था? भौगोलिक घटनाओं को जाने बिना इसका ज्ञान संभव नहीं है। किस समय सौरमंडल का क्या विकिरण होता है, यह जानने के लिए खगोल को जानना आवश्यक है। जैन आचार्यों ने इस विषय पर बहुत विस्तार से विमर्श किया है—किस समय सूर्य अथवा दूसरे ग्रह किस अवस्था में होते हैं और उनका हमारे व्यक्तित्व पर क्या प्रभाव होता है? जैन आगम सूर्यप्रज्ञप्ति एवं उसकी टीका में ज्योतिष का विशद विवेचन है। ज्योतिष का अर्थ केवल फलित ज्योतिष ही नहीं होता, सौरमंडल का विकिरण भी ज्योतिष का विषय है। सौरमंडल के विकिरण हमें कैसे प्रभावित करते हैं? किस अवस्था में कैसे विघ्न आ सकता है? उन विघ्नों का निवारण कैसे किया जा सकता है? किस समय का विकिरण ज्ञान और चरित्र-विकास में सहयोगी बनता है, इन सारे तथ्यों को जानने के लिए खगोल का ज्ञान अपेक्षित है।

मानसिक विकास क्यों?

व्यक्तित्व निर्माण का दूसरा घटक है—मानसिक विकास। व्यक्ति के जीवन में बहुत सारी समस्याएं आती हैं, अनेक अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियां आती हैं। जब तक मन का विकास नहीं होता, इन समस्याओं को झेलने की शक्ति प्राप्त नहीं होती। शिक्षा का उद्देश्य केवल तथ्यों को जानना नहीं है। उसका उद्देश्य है—सामुदायिक जीवन में आने वाली समस्याओं को झेलने के लिए मन को मजबूत और बलवान बनाना। मानसिक विकास के अभाव में परिस्थितियों को झेलने की क्षमता प्राप्त नहीं हो सकती।

दायित्व बोध का प्रश्न

शिक्षा का एक उद्देश्य है—भावात्मक विकास। प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक दायित्व से बंधा हुआ है। भावात्मक विकास दायित्व निर्वाह के लिए आवश्यक है। सामुदायिक जीवन जीने वाले व्यक्ति में दायित्व बोध का होना जरूरी है। बहुश्रुत को धुरीण कहा गया। उसकी तुलना उस बैल से की गई, जो गृहीत भार को बीच में नहीं डालता, पार लगा देता है। दायित्व की पूर्ति के लिए धैर्य का होना बहुत आवश्यक है। धुरीण व्यक्ति ही दायित्व को निभा सकता है। दायित्व दायित्व होता है, वह बड़ा या छोटा नहीं होता।

अरविंद आश्रम में परम्परा है। आज एक व्यक्ति को प्रोफेसर बनाया गया, पढ़ाने का दायित्व सौंपा गया। कल उसे भोजनालय में थालियां साफ करने का दायित्व भी सौंपा जा सकता है। आम लोग प्रिंसिपल के दायित्व को बड़ा मानते हैं। थाली साफ करने के काम को बहुत छोटा समझा जाता है। दायित्व के साथ यह एक गलत अवधारणा जुड़ी हुई है। जैन मुनि के लिए कहा गया—'नन्नत्थ निज्जरद्धयाए'—मुनि का प्रत्येक कार्य निर्जरा के लिए हो। मुनि का ज्ञानार्जन, अध्यापन, भिक्षाटन और स्थान का प्रमार्जन—सफाई, सब कुछ निर्जरा

के लिए होता है। वह जो कार्य करे, निर्जरा के लिए करे। जहां निर्जरा की बात गौण होती है, दूसरी बात प्रमुख होती है, मुनि अपने उद्देश्य से भटक जाता है।

जब तक भावात्मक विकास नहीं होता, दायित्व का पालन नहीं हो सकता। अहंकार का प्रतिपक्ष है विनम्रता। विनम्रता एक भाव है। क्रोध का प्रतिपक्ष है क्षमा। माया का प्रतिपक्ष है ऋजुता। लोभ का प्रतिपक्ष है संतोष। यदि मृदुता की भावना का विकास नहीं है तो व्यक्ति बड़प्पन और छुटपन की भावना से बच नहीं सकेगा। अहंकार के कारण व्यक्ति के मन में अनेक धारणाएं जम जाती हैं—अमुक कार्य बड़प्पन का है, अमुक कार्य छुटपन का है। पढ़ना बड़ा काम है, झाड़ू लगाना छोटा काम है। व्यक्ति बड़प्पन या छुटपन का संबंध ऐसे कार्यों से जोड़ लेता है। जब तक यह छुटपन और बड़प्पन की बात व्यक्ति के मानस में बनी रहेगी तब तक किसी कार्य को छोटा अथवा बड़ा मानने की वृत्ति समाप्त नहीं होगी। यह मनोवृत्ति दायित्व पालन में बहुत बड़ी बाधा बनती है।

एक मुनि बीमार है। उसके लिए दवा लाना है, उसे पानी पिलाना है अथवा उसका कोई शारीरिक कार्य करना है। एक ज्येष्ठ मुनि सोचे—यह सब मैं कैसे करूं? अमुक बाल मुनि आए तभी ये कार्य संभव हो सकते हैं। यदि इस अवधारणा से ग्रस्त होकर ज्येष्ठ मुनि बीमार मुनि की सेवा को गौण करता है तो वह अपने दायित्व पालन से विमुख होता है। एक मुनि का दायित्व बहुत विशाल और उदात्त होता है। भावात्मक विकास के बिना उसका पालन संभव नहीं बनता।

जैन शिक्षा पद्धति में भावात्मक विकास पर सर्वाधिक बल दिया गया। प्रत्येक शिक्षा पद्धति में विद्यार्थी और शिक्षक की एक आचार-संहिता होती है। जैन शिक्षा पद्धति में भी विद्यार्थी की समग्र आचार-संहिता उपलब्ध है। उसका प्राणलत्त्व है—भावात्मक विकास।

शिक्षा की बाधाएं

अह पंचहिं टाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्धिई।

थंभा कोहा पमाएणं, रोगेणालस्सएण य।।

पांच हेतुओं से व्यक्ति को शिक्षा प्राप्त नहीं होती—१. मान, २. क्रोध, ३. प्रमाद, ४. रोग ५. आलस्य।

शिक्षा की प्राप्ति में ये पांच बाधाएं हैं। जो व्यक्ति इन बाधाओं का पार पा लेता है, वह शिक्षा का अधिकारी होता है। रोग को शारीरिक बाधा माना जा सकता है, शेष चारों हेतु भावात्मक हैं।

शिक्षाशील की विशिष्टताएं

उत्तराध्ययन सूत्र में शिक्षाशील का जीवन्त चित्रण उपलब्ध होता है। शिक्षाशील की जिन अर्हताओं का उल्लेख किया गया है, उन्हें विद्यार्थी की आचार-संहिता कहा जा सकता है। यदि इस आचार-संहिता को मूल्य दिया जाए तो वर्तमान शिक्षा की अनेक समस्याओं का समाधान उपलब्ध हो सकता है। शिक्षा के द्वारा जिस प्रकार के व्यक्तित्व का निर्माण होना चाहिए, उसका आधार बन सकती है जैन शिक्षा पद्धति की आचार-संहिता।

शिक्षाशील की आठ विशिष्टताएं होती हैं—

- | | |
|-------------------------------|--------------------------|
| १. हास्य नहीं करना | ५. दुःशील न होना |
| २. इन्द्रिय और मन का दमन करना | ६. रसों में गृह्य न होना |
| ३. मर्म का प्रकाशन न करना | ७. क्रोध न करना |
| ४. चरित्रवान होना | ८. सत्य में रत रहना। |

*अह अद्दहिं ठाणोहिं, सिक्खासीलेत्ति वुच्चई।
अहस्सिरे सया दंते, न य मम्ममुदाहरे।।
नासीले न विसीले, न -सिया अइलोलुए।
अकोहणे सच्चरए, सिक्खासीलेत्ति वुच्चई।।*

शिक्षा और विनय

शिक्षा और विनय में गहरा संबंध है। जो विनीत होता है, वह शिक्षा का उपलब्ध होता है। अविनीत को शिक्षा प्राप्त नहीं होती। विनीत और अविनीत के जो लक्षण बतलाए गए हैं, उनसे विद्यार्थी की योग्यता को परखा जा सकता है। शिक्षास्थान, शिक्षाशील, विनीत और अविनीत का दर्शन प्रत्येक विद्यार्थी की कसौटी बन सकता है। जैन शिक्षा पद्धति के अनुसार उपरोक्त आचार-संहिता का अनुशीलन-अनुपालन करने वाला विद्यार्थी श्रेष्ठ होता है। इस आचार-संहिता को अपनाए बिना श्रेष्ठता उपलब्ध नहीं की जा सकती। इस आचार-संहिता को जीने वाला विद्यार्थी सहजता से बौद्धिक विकास कर सकता है, मानसिक विकास कर सकता है, दायित्व बोध को विकसित कर सकता है।

आधार है शरीरसिद्धि

शारीरिक, मानसिक और भावात्मक विकास का आधार है—शरीरसिद्धि। यदि शरीर की उपेक्षा कर दी जाए तो न बौद्धिक विकास संभव बनेगा, न मानसिक और भावात्मक विकास संभव होगा। काया को साथे बिना इनके विकास की संभावना नहीं की जा सकती। शरीरसिद्धि के बिना, आसन-प्राणायाम के बिना, प्राण और अपान की विशुद्धि के बिना सारे विकास अधूरे रह जाते हैं। उसी व्यक्ति की बुद्धि काम देती है, जिसका दिमाग स्वस्थ होता है। जिसका प्राण और अपान शुद्ध नहीं है, उसका दिमाग शुद्ध कैसे होगा? बुद्धि की स्फुरणा के लिए नाभि और उपस्थ पर ध्यान देना जरूरी है। यदि पेट शुद्ध है, अपान शुद्ध है, कोष्ठबद्धता नहीं है, मल का संचय नहीं है तो दिमाग स्वस्थ, स्वच्छ और निर्मल रहेगा, बुद्धि की स्फुरणा होगी, नए चिन्तन की शक्ति उद्भूत होगी। यदि अपान अशुद्ध है तो बुरी भावनाएं, बुरी कल्पनाएं जन्म लेंगी, बुद्धि भी कुटित हो जाएगी। मस्तिष्कीय विकास भी अपान-शुद्धि पर निर्भर है। व्यक्ति मस्तिष्क के विकास पर जितना ध्यान देता है, उससे भी अधिक उसका ध्यान अपान-शुद्धि पर होना चाहिए। शरीरसिद्धि का एक अर्थ है—अपान-शुद्धि।

शरीरसिद्धि का एक अर्थ है—मलों का संचयन ज्यादा न हो। वायु के वेग का ज्यादा होना एक बाधा है। पित्त और कफ का प्रकोप होना एक बाधा है। किस भोजन से वात, पित्त और कफ कुपित होते हैं, इसका विवेक आवश्यक है। किस प्रकार का भोजन करें और किस प्रकार का भोजन न करें, किस ऋतु में

क्या खाएं और क्या न खाएं—इसका पूरा विधान आयुर्वेद में उपलब्ध होता है। आयुर्वेद में कहा गया—अमुक समय में घी खाना चाहिए, अमुक समय में घी नहीं खाना चाहिए। घी कितना खाना चाहिए, इसका भी आयुर्वेद में स्पष्ट निर्देश है। अमुक ऋतु में दही नहीं खाना चाहिए, अमुक ऋतु में दूध नहीं पीना चाहिए, इसका विवेक भी अपेक्षित होता है। मारवाड़ी का प्रसिद्ध श्लोक है—

चेते गुड़ वैशाखे तेल, जेठे पंथ असाढे बेल,
सावण दूध रु भादवा मही, कार करेला कार्तिक दही।
अगहन जीरो पोष धणा, माघे मिसरी फागण चणा,
जै एवारे देत बचाय, तिण घर रोग कदै नहीं आय।।

जैन शिक्षा पद्धति केवल बौद्धिक विकास पर ही केन्द्रित नहीं है। वह जीवन के समग्र विकास एवं स्वास्थ्य से जुड़ी हुई है। आहार-विवेक स्वास्थ्य का मउत्त्वपूर्ण घटक है। आज आहार-विज्ञान बहुत विकसित हो गया है। उसमें अनेक सचाइयां प्रतिपादित हुई हैं। विज्ञान कहता है—जैसा आहार करते हैं वैसे रसायन बनते हैं। जब हमारे शरीर के रसायन ठीक काम नहीं करते हैं, ग्रन्थियों के स्राव सन्तुलित नहीं होते हैं तब बौद्धिक, मानसिक एवं भावात्मक विकास की क्षमता मन्द हो जाती है।

बाह्यतप : कायसिद्धि

कायसिद्धि के लिए आसन और अशन—इन दोनों को जानना बहुत जरूरी है। आहार-विवेक और आसन-प्राणायाम से प्रभावित है कायसिद्धि। कायसिद्धि व्यक्तित्व के विकास का मूल आधार है। इस संदर्भ में निर्जरा के प्रथम पांच भेदों का विश्लेषण करें तो लगेगा—निर्जरा के प्रथम पांच भेद शिक्षा के अनिवार्य अंग हैं। अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी और रस-परित्याग—ये चारों अशन से जुड़े हुए हैं। कायक्लेश का संबंध आसन से है। आगमकारों ने जिस गहराई में जाकर तत्त्वों का प्रतिपादन किया था, उस गहराई तक पहुंचना आसान नहीं है। जब तक अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी और रस-परित्याग का मूल्य नहीं समझा जाएगा, इन बाह्यतपों का मूल्यांकन नहीं किया जाएगा तब तक विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग की बात समझ में नहीं आ पाएगी। आभ्यन्तर तप के विकास के लिए बाह्य तप को जानना और जीना आवश्यक है। एक व्यक्ति स्वाध्याय का विकास करना चाहता है, ध्यान का विकास करना चाहता है किन्तु उसकी यह चाह बाह्य तप के विकास के बिना अधूरी रहेगी।

आभ्यन्तर तप के विकास में बाह्य तप की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इस संदर्भ में जैन शिक्षा पद्धति के स्वरूप का विश्लेषण करें तो निष्कर्ष होगा—जैन शिक्षा प्रणाली सर्वांगीण प्रणाली है। इसमें शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक विकास के साथ-साथ भावात्मक विकास पर बहुत अधिक बल दिया गया है। इनका विकास प्रशिक्षण के बिना संभव नहीं है। प्रशिक्षण के लिए स्वाध्याय योग आवश्यक है। जैन आगम के प्रसिद्ध शब्द हैं—सिक्खियं, ठिअं, चिअं, परिचिअं। पहले सीखें, जानें, फिर उसकी धारणा करें, उसे स्थिर करें, विस्मृत न होने दें। उससे परिचित हो जाएं, सीखी हुई बात को आत्मसात कर लें। प्रशिक्षण का यह क्रम शिक्षा को समग्रता से जानने एवं जीने का सशक्त उपक्रम है।

पूजा करें बहुश्रुत की

बहुश्रुत शब्द बहुत मूल्यवान् है। जैन आगमों की परम्परा में कुछ प्रतिष्ठित शब्द हैं। उनमें से एक प्रतिष्ठा प्राप्त शब्द है बहुश्रुत। इसके उच्चारण के साथ गौरव की अनुभूति होती है। भाष्य साहित्य में इसकी बहुत चर्चा हुई है। बहुश्रुत की परिभाषा के तीन विकल्प किए गए हैं—

- जघन्य बहुश्रुत
- मध्यम बहुश्रुत
- उत्कृष्ट बहुश्रुत

जो आचार प्रकल्प का ज्ञाता है, निशीथ का ज्ञाता है। वह जघन्य बहुश्रुत है।

जो कल्प और व्यवहार का ज्ञाता है, वह मध्यम बहुश्रुत है।

जो नवें-दसवें पूर्व को धारण करने वाला है, वह उत्कृष्ट बहुश्रुत है।

धवला के अनुसार बारह अंगों का धारक बहुश्रुत होता है।

बहुश्रुत का संबंध ज्ञानराशि से है। सहज प्रश्न होता है—क्या निशीथ इतनी बड़ी ज्ञानराशि है, जिसके आधार पर बहुश्रुत को परिभाषित किया गया? क्या कल्प और व्यवहार इतनी बड़ी ज्ञानराशि है, जिसे पढ़ने वाला व्यक्ति बहुश्रुत बन जाए?

छेदसूत्रों का महत्त्व

बहुत बार एक विचार मेरे मन में उठता है—विदेशी विद्वानों ने जैन आगमों पर काम शुरू किया। उन्होंने छेदसूत्रों पर बहुत खोज की और बहुत विस्तार से उन पर काम किया। प्रश्न होता है—उन्होंने छेदसूत्रों को ही क्यों चुना?

जीवन की एक जो शैली है, प्रणाली है, उसमें कोरा ज्ञान नहीं होता, कोरा आचार और कोरा व्यवहार नहीं होता। जीवन की प्रणाली में ज्ञान, आचार, व्यवहार, रहन-सहन, चर्चा, अनुशासन, व्यवस्था—ये सब होते हैं। इन सबको मिलाकर कहा जाता है जीवन की प्रणाली। सामुदायिक जीवन किसी एक बात से नहीं चलता और व्यक्ति का जीवन भी किसी एक बात से नहीं चलता। उसके सर्वांग सम्पूर्ण होने का अर्थ है—जीवन के अशेष पहलुओं का स्पर्श। छेदसूत्रों का अध्ययन विदेशी विद्वानों ने किया और इसका कारण है—वे लोग सामाजिक या सामुदायिक जीवन में विशेष रुचि रखते हैं। सामुदायिक जीवन में कैसे रहा जाए? इसका विश्लेषण महत्त्वपूर्ण होता है। अकेले व्यक्ति का जीवन कैसा होता है, यह

बहुत अध्ययन का विषय नहीं बनता। व्यक्ति अलग-अलग प्रकार के होते हैं, उनकी अलग-अलग प्रकार की रुचियां होती हैं, उनको पढ़ना जटिल भी होता है और समाज के लिए बहुत उपयोगी भी नहीं होता। सौ व्यक्तियों ने एक साथ जीवन जिया, हजार व्यक्तियों ने एक साथ जीवन जिया, दस हजार व्यक्तियों ने एक साथ जीवन जिया और कैसे जीवन जिया, यह अध्ययन पूरे समाज के लिए एक आदर्श बनता है।

अन्धकार : निशीथ

बहुश्रुत वह होता है, जो निशीथ को जानता है। निशीथ को जानने का मतलब है जीवन की पद्धति को जानना। निशीथ में जीवन के वे रहस्य, जीवन की वे मनोवृत्तियां बतलाई गई हैं, जिन्हें जानने वाला बहुश्रुत हो जाता है। सूत्र का नाम ही निशीथ—अन्धकार है। वह सूत्र प्रकाश नहीं है। अन्धकार को पकड़ लेना बहुत बड़ी बात है। प्रकाश में हर वस्तु साफ दिखाई देती है। अन्धकार का मतलब है—अविवेक, जहां कोई भेदरेखा नहीं होती, सब समान होते हैं। अंधकार में पूरा साम्यवाद, सोलह आना साम्यवाद होता है। प्रकाश के साम्राज्य में कभी सोलह आना साम्यवाद नहीं होता है। उस अन्धकार को पकड़ना, समझना सूक्ष्म प्रज्ञा का विषय है। जिसकी प्रज्ञा बहुत जागृत और बहुत सूक्ष्म होती है वह अन्धकार को जान लेता है। जीवन के सारे रहस्य अन्धकार से भरे पड़े हैं। किस मनुष्य में न जाने कब कौन-सी वृत्ति जाग जाती है, कब कौनसा व्यवहार प्रकट हो जाता है। जीवन के रहस्य अनगिनत हैं। एक जीवन को जानना भी कभी संभव नहीं बनता। इस स्थिति में अन्धकार को जानने वाला, निशीथ को जानने वाला सचमुच बहुश्रुत होता है।

समतल भूमि पर काम करना बहुत कठिन नहीं है। उन खदानों में काम करना बहुत कठिन होता है जिनमें हजारों-हजारों फुट नीचे अन्धकार में जाना होता है। उनमें काम करने के लिए बहुत तैयारी चाहिए। उनमें काम करने वाले मजदूरों के ऑक्सीजन की थैलियां लगी रहती हैं, प्रकाश भी उनके साथ चलता रहता है। वे मजदूर उस सघन अन्धकार को चीरते हुए वहां पहुंचते हैं जहां सोना है, रत्न है, बहुत सारे मूल्यवान् खनिज हैं। वे अनेक कठिनाइयों को पार कर गहराई तक पहुंच पाते हैं। आज ऐसे यंत्र बने हैं, जो अन्धकार में नीचे जाते हैं और बता देते हैं कि अमुक स्थान पर पेट्रोल है, अमुक स्थान पर गैस है, अमुक स्थान पर अमुक खनिज है। यंत्र सारी सूचना दे देते हैं।

कठिन है व्यवहार को जानना

अन्धकार में जीवन के रहस्य छिपे हैं, उन्हें निकाल कर बाहर रख देना सचमुच बहुश्रुत का काम है। जीवन की मर्यादाएं, जीवन के कल्प और व्यवहार को जानने वाला भी बहुश्रुत होता है। बहुत कठिन है मर्यादाओं को जानना और उससे भी ज्यादा कठिन है—व्यवहार को जानना। कौन आदमी कब कैसा व्यवहार करता है और किस प्रेरणा से अभिप्रेरित होकर व्यवहार करता है। इस को समझने के लिए आज हजारों लोग काम कर रहे हैं और इस विषय की गहराई में जाकर खोज कर रहे हैं। वे खोज रहे हैं—व्यवहार के पीछे कारण क्या है?

एक चिपैजी कैसा व्यवहार करता है? एक खरगोश और एक चूहा कैसा व्यवहार करता है? वे ऐसा व्यवहार क्यों करते हैं? उसके पीछे प्रेरणाएं क्या हैं? इनके व्यवहार को कब बदला जा सकता है? क्या वे मुक्त मस्तिष्क से व्यवहार कर रहे हैं या उनका अपने व्यवहार नियंत्रण है? उनका किस अवस्था में कौनसा व्यवहार होता है और किस अवस्था में कौन-सा व्यवहार बदल जाता है? आदि-आदि रहस्यों को जानने के लिए आज विद्या की बहुत शाखाएं फैल चुकी हैं।

ऐसा क्यों?

प्रश्न हो सकता है—निशीथ और व्यवहार सूत्र बहुत छोटा है। क्या इतना पढ़ लेने मात्र से व्यक्ति बहुश्रुत बन जाता है? एक ओर इतना प्रतिष्ठित शब्द बहुश्रुत, दूसरी ओर इतने छोटे से आगम का अध्ययन। निशीथ, कल्प, व्यवहार की अपेक्षा आज मनोविज्ञान की एक पुस्तक बहुत बड़ी है। इनकी अपेक्षा आधुनिक अर्थशास्त्र की पुस्तक बहुत विशाल है। समन्तभद्र का ग्रंथ अष्टसहस्री और उसकी व्याख्या बहुत बड़ी है। उन्हें पढ़ने वाले को बहुश्रुत नहीं कहा गया और छोटे-छोटे ग्रन्थ, जो सौ पृष्ठों में समा जाए, उन्हें पढ़ने वाला बहुश्रुत माना गया। बात अटपटी-सी लग सकती है। क्या पुराने लोगों का ज्ञान सीमित था? इतनी स्वल्प ज्ञान राशि धारण करने वाले को बहुश्रुत कैसे कह दिया गया? उसे पूजा पाने का अधिकारी क्यों माना गया? आज बहुत विद्वान हैं, अनेक ग्रन्थों एवं शास्त्रों के मर्मज्ञ हैं। उन्हें न तो बहुश्रुत कहा गया और न ही पूजा का अधिकारी माना गया। ऐसा क्यों?

जरूरत है सूरज उगाने की

हम केवल सूत्र की बात पर अटक जाते हैं। यह बहुत बड़ी समस्या है। हमने सूत्र को पकड़ा किन्तु उसके अर्थ को नहीं पकड़ा। सूत्र छोटा होता है किन्तु उसका अर्थ बहुत विशाल हो सकता है। कोरे सूत्र को पकड़ने का अर्थ है—शब्द को पकड़ना। निशीथ सूत्र को पढ़ने वाला यदि निशीथ भाष्य और चूर्ण को नहीं पढ़ता है तो उसके लिए अन्धकार सचमुच अन्धकार ही रह जाता है। कल्प और व्यवहार को पढ़ना है तो उसका टब्बा कड़ा तक सहयोग करेगा? उससे अन्धकार में एक छोटा सा दीप तो जल जाएगा किन्तु यदि घोर अन्धकार व्याप्त है तो कोरे दीप से काम कैसे चलेगा? उसे मिटाने के लिए जरूरत है एक सूरज को उगाने की और उसका उदय अर्थाधिकार के बिना कभी संभव नहीं बनता।

सूत्रों में बहुत गहरा और विशुद्ध ज्ञान निबद्ध रहा है। उसे समग्रता से भाष्यकार भी नहीं बांध सके, चूर्णिकार भी नहीं बांध सके। अगर आज निशीथ, व्यवहार और कल्प—इनकी पूरी अर्थ-कल्पना प्राप्त होती तो शायद मनोविज्ञान को खोजना नहीं होता, जैन दर्शन को व्यवहार-मनोविज्ञान को खोजना नहीं होता, नीतिशास्त्र और आचारशास्त्र में डुबकियां लगाने की जरूरत नहीं होती। जैन धर्म के पास ज्ञान का विशाल समुद्र होता और वह मनोविज्ञान को बहुत सारी नई बातें दे पाता किन्तु बहुश्रुत के साथ जो ज्ञान राशि जुड़ी हुई थी, वह विस्मृत हो गई, केवल पूजा की बात ही रह गई। प्रश्न हुआ—बहुश्रुत की पूजा क्यों करें? कहा गया—जिस व्यक्ति ने अन्धकार में प्रकाश को खोजा है, जिस व्यक्ति ने

जीवन के रहस्यों को खोजा है, उसकी पूजा करना हमारा धर्म है, कर्त्तव्य है। हम उस व्यक्ति की पूजा करें, जो अन्धकार में प्रकाश को ला दे।

बहुश्रुत : निश्चय की भाषा

जयाचार्य ने आचार्य भिक्षु के जीवन चरित्र में लिखा—आचार्य भिक्षु अमाप्य हैं। उन्हें कोई माप नहीं सकता। गुरु को कभी तोला नहीं जा सकता। समुद्र की गहराई को कभी मापा नहीं जा सकता। बहुश्रुत का अर्थ कोरा ज्ञान से जुड़ा हुआ नहीं है। ज्ञानराशि और आचार राशि को हम उपयोगिता की दृष्टि से बांट देते हैं किन्तु निश्चय को कभी बांटा नहीं जा सकता। व्यवहार की भाषा में ज्ञान, दर्शन और चरित्र की त्रिपदी होती है किन्तु निश्चय की भाषा में आत्मा को जानना ज्ञान, आत्मा का निश्चय करना दर्शन और आत्मा में रमण करना चरित्र है। आत्मा से बाहर कुछ नहीं है। आत्मा ही ज्ञान, आत्मा ही दर्शन और आत्मा ही चरित्र है। हम निश्चय की भाषा में विचार करें—बहुश्रुत वह है, जो दर्शन, ज्ञान और चरित्र की त्रिपदी का धारक होता है।

शिष्य ने आचार्य से पूछा—‘भंते! बहुश्रुत में ऐसे कौन से गुण होते हैं, जिनके कारण वे लोगों के द्वारा पूजनीय बनते हैं?’

आचार्य ने कहा—‘बहुश्रुत में निर्मलता, पराक्रम, आशा, धैर्य, उदारता, उच्चत्व, और गाम्भीर्य—ये सभी गुण आत्मगत होते हैं।

जो अपने प्रयत्न से अपने आपका साक्षात्कार करता है, वह चिदानन्दमय—आत्ममय हो जाता है और वह जन-जन के द्वारा पूजा जाता है।’

स्वच्छता शौर्यमाशा च, धैर्यमौदार्यमात्मगम् ।

उच्चता सुगभीरत्वं, बहुश्रुते श्रुता अमी ॥

यः करोति स्वयत्नेन, साक्षात्कारं निजात्मनः ।

चिदानन्दमयश्चात्मा, तन्मयः पूज्यते जनैः ॥ युग्मम् ॥

बहुश्रुत पूजा

उत्तराध्ययन का ग्यारहवां अध्ययन है—बहुश्रुत पूजा। उसमें बहुश्रुत की पूजा की गई है। बहुश्रुत की सारी विशेषताओं को उपमाओं के द्वारा प्रदर्शित किया गया है। कहा गया—बहुश्रुत एक घोड़े के समान है, बहुश्रुत वृषभ, हाथी, सिंह और शक्र के समान है। अगर बहुश्रुत कोरा जानी होता तो ये उपमाएं नहीं होतीं। बहुश्रुत योद्धा भी होता है। बहुश्रुत प्रयत्न होता है, स्वच्छ होता है जैसे शंख में रखा हुआ दूध। वह बाहर से भी प्रसन्न होता है, भीतर से भी प्रसन्न होता है। स्वच्छता का नाम है प्रसन्नता। वह अटूट धैर्य से संपन्न होता है।

शिष्यों की प्राचीन परम्परा को लें। शिष्य गुरु के पास गए, निवेदन किया—‘मुझे पढ़ाएं!’ गुरु ने कहा—‘झाड़ू निकालो।’ गया था पढ़ने के लिए और काम मिला झाड़ू निकालने का। वह सफाई करने का काम करता रहा। एक दिन बीता, एक महीना बीता, एक वर्ष बीत गया। वह बोला—‘गुरुदेव! पढ़ाएं’ गुरु ने कहा—‘नहीं, अभी सफाई करो।’ वह वर्षों तक सफाई करता रहा। न शिष्य हिला, न गुरु पिघले। सफाई करते-करते आखिर एक समय आया, गुरु से एक मंत्र मिला। जो पढ़ना था, जो पाना था, वह एक दिन में उपलब्ध हो गया।

टॉलस्टाय से एक युवक ने पूछा—‘जीवन की सफलता का सूत्र क्या है?’ टॉलस्टाय ने कहा—‘धैर्य।’ युवक के मन में सन्देह था। उसने सोचा—‘धैर्य भी सफलता का सूत्र हो सकता है? युवक बोला—‘आप बड़े दार्शनिक हैं विचारक हैं। आपने जो उत्तर दिया, वह मेरी समझ में नहीं आता। क्या धैर्य रखने से सफलता मिल जाएगी?’

‘हां, जरूर मिलगी।’

‘एक चलनी है और उसमें पानी रखना है। क्या उसमें पानी टिक पाएगा।’

‘धैर्य रखोगे तो टिक जायेगा।’

‘धैर्य कब तक रखू?’

‘जब तक पानी जम न जाए, बर्फ न बन जाए तब तक धैर्य रखो।’

आज इतना धैर्य कहां है! पानी जमने तक धैर्य रखा जा सके, ऐसी स्थिति में मनुष्य नहीं है। सामान्य कष्टों में भी उसकी धृति डोल जाती है।

संत तिरुवल्लुवर दक्षिण के महान् संत हुए हैं। वे जैन परम्परा के संत थे, जुलाहे का काम करते थे। उन्होंने एक ग्रन्थ लिखा—कुरल। दो हजार वर्ष बीत जाने के बाद भी वह ग्रन्थ नीतिशास्त्र का एक मूल्यवान् ग्रन्थ माना जाता है। अणुव्रत आन्दोलन की व्याख्या करने में एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ बन सकता है कुरल। उसमें नैतिकता के महत्त्वपूर्ण सूत्र मिलते हैं। वह नैतिकता का एक महान् ग्रन्थ है, जिसे दक्षिण में ही नहीं, विश्व भर में प्रतिष्ठित ग्रन्थ माना जाता है।

संत तिरुवल्लुवर बुनाई का काम कर रहे थे, वे एक साड़ी बुन रहे थे। कुछ युवक आए। जवानी अवस्था में उन्माद सहज ही होता है। वे युवक कुछ मनचले थे, पांच सात मिलकर आए थे। एक युवक बोला—‘तिरुवल्लुवर! साड़ी का मूल्य क्या है?’

‘दो रुपये।’

‘अच्छा! मैं देखता हूँ।’ उसने साड़ी हाथ में ली, उसके दो टुकड़े कर दिए। उसने फिर पूछा—‘बोली, अब इस साड़ी का मूल्य कितना है?’

‘एक रुपया।’

युवक ने उस साड़ी को फिर फाड़ना शुरू कर दिया, साड़ी का लीरा-लीरा बना दिया। युवक ने फिर अल्हड़पन से पूछा—‘अब इसका कितना मूल्य है?’

संत ने कहा—‘भाई! अब इसके टुकड़े-टुकड़े हो गए हैं। यह अब न मेरे काम की है और न तेरे काम की। यह किसी के काम की नहीं है।’

इतना होने पर भी संत न क्रोध में आए और न उनके मन में युवक के प्रति अन्यथा भाव जागा। वे बिलकुल शांत थे। सारे युवक अचम्भे में थे। वह युवक बोला—‘ये लो तुम्हारे दो रुपये।’

‘किस बात के दो रुपये?’

‘मैंने तुम्हारी साड़ी फाड़ डाली इसलिए दो रुपये ले लो।’

‘मेरी साड़ी का मूल्य तुम चुका नहीं सकते।’

‘कैसे नहीं चुका सकता?’

‘तुम्हे पता नहीं है, बेचारे कितने किसानों ने पसीने और श्रम को बहाकर कपास को उगाया, कपास को तोड़ा। वह कपास मेरे घर आया। मेरी पत्नी ने उसे काता, मैंने उसे रंगा, बुना। और भी न जाने इसमें कितने लोगों का श्रम पसीना बनकर बहा है। क्या तुम दो रुपये से उसका मूल्य चुका सकते हो? उसका कोई मूल्य नहीं है। तुम चले जाओ। तुम्हारा पिता तुमसे कहेगा—तुम दो रुपये का हिसाब दो। तुम कोई चीज नहीं ले जा रहे हो, क्या कहोगे? क्या हिसाब दोगे? तुम्हें भर्त्सना सहनी पड़ेगी इसलिए तुम शान्त भाव से चले जाओ।’

युवक पैरों में गिर पड़ा। उसकी आंखों में आंसू आ गए। उसने कहा—आप क्षमा करें, मैंने बड़ी नादानी की है।

संत ने युवक को गले लगाते हुए कहा—‘जाओ! भविष्य में ऐसी भूल मत करना। तुमने साड़ी का लीरा-लीरा कर दिया। मैं दूसरी साड़ी बना लूंगा और वह बन जाएगी पर तुम अपने जीवन का ध्यान रखना, अगर जीवन का लीरा-लीरा कर दिया तो पुनः जीवन नहीं बनाया जा सकेगा।’

अहंकार का स्थान

बहुश्रुत में इतना धैर्य होता है कि वह अपने धैर्य के द्वारा दूसरे व्यक्ति के जीवन को बदल देता है, उसका कायाकल्प कर देता है। बहुश्रुत जीवन के रहस्यों को पढ़ लेता है, जीवन की गहराइयों में उतर जाता है, अधियारी गलियों और पगडण्डियों में पहुंच कर जीवन का अर्थ समझता है। ऐसा व्यक्ति बहुश्रुत होता है और वह पूजा का अधिकार पाता है। कोई आदमी किसी की पूजा सहज ही नहीं करता। बहुत कठिन है मस्तक को नमाना, गर्दन को झुकाना। व्यक्ति की गर्दन अकड़न में रहती है। यह स्थान है अहंकार का। हमारे शरीर में क्रोध का भी एक स्थान है और अहंकार का भी एक स्थान है। हमारे शरीर में चारों कषायों के अपने-अपने स्थान बने हुए हैं। अहंकार का स्थान है—गर्दन। अनेक लोग कहते हैं—यह व्यक्ति ऊंट की भांति पकड़कर चल रहा है। जब अकड़न होती है, सिर झुकता नहीं है। यह अहंकार का विलयन और विनम्रता का उद्भव उसी व्यक्ति के सामने होता है, जिस व्यक्ति ने जीवन के रहस्यों को समझा है। कहा गया—जो बहुश्रुत होता है, उसमें श्रुत और शील—दोनों का योग होता है। उसमें गंभीरता और ऊंचाई—दोनों होती है। जिसमें गहराई नहीं होती, उसमें ऊंचाई भी नहीं हो सकती।

बहुश्रुत थे मधवागणी

बहुश्रुत के रूप में पूज्य मधवागणी का उदाहरण दिया जाता है। मधवागणी के व्यक्तित्व में बहुश्रुत की अनेक विशेषताएं उपलब्ध होती हैं। वे बहुत कोमल और उदार माने जाते थे। जब वे किसी को उलाहना देते, किसी की गलती के परिष्कार के लिए अनुशासनात्मक कार्यवाही करते तब उनके हृदय में करुणा का झोत फूट पड़ता। वे गलती करने वाले व्यक्ति से कहते—‘तुमने गलती की, इसीलिए मुझे कहना पड़ा। तुम्हें कहने में मुझे दुःख हो रहा है।’ एक ओर उलाहना और अनुशासन, दूसरी ओर प्रत्येक व्यक्ति के साथ सघन संवेदना की

अनुभूति। करुणा से आप्लावित अनुशासन व्यक्ति के अवचेतन मन पर प्रभाव डालता है। मघवागणी के मानस में गहरी संवेदना थी। उनका अनुशासन करुणा से आप्लावित था। उनके बारे में जयाचार्य ने कहा था—‘मघजी पंडित हैं।’ जयाचार्य जैसे प्रखर और मेघादी व्यक्ति के मुंह से ‘पंडित’ का विशेषण मिलना बहुत कठिन था किन्तु मघवागणी का बाहुश्रुत्य जयाचार्य के मानस को छू गया था।

कहा जाता है—युवाचार्य मघवा स्वाध्याय कर रहे थे। एक मुनि आया। उसने मुट्टी भर रेत युवाचार्य मघवा के कंधे पर डाल दी। मघवागणी ने मुड़कर रेत डालने वाले साधु को देख लिया। रेत डालने वाला संत चला गया। युवाचार्य मघवा ने कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। वे पुनः ध्यान में लीन हो गए। प्रश्न होता है—क्या एक युवाचार्य के लिए यह संभव है? एक सामान्य साधु युवाचार्य पर रेत गिरा दे और वे यह भी न पूछे—तुमने ऐसा काम क्यों किया? तुम क्या चाहते हो?

यह गंभीरता और सहिष्णुता का निदर्शन है। एक आचार्य या बहुश्रुत को समुद्र के समान गंभीर होना होता है। जो व्यक्ति समुद्र के समान गंभीर होता है, वह प्रत्येक स्थिति को सहन कर सकता है।

आचार्य भिक्षु ने संघ की प्रगति के संदर्भ में निर्देश दिया—बहुश्रुत जो बात कहे, उसे मान जाए। अनेक स्थलों पर आचार्य भिक्षु का यह निर्देश प्राप्त होता है। प्रश्न प्रस्तुत हुआ—बहुश्रुत किसे माना जाए? हर व्यक्ति अपने आप को बहुश्रुत के रूप में प्रस्तुत कर सकता है। ऐसी स्थिति में बहुश्रुत की कसीटी क्या होगी? जयाचार्य ने बहुश्रुत की परिभाषा प्रस्तुत की—मनमाना बहुश्रुत बहुश्रुत नहीं है। बहुश्रुत वह है जिसे आचार्य बहुश्रुत माने। आचार्य द्वारा अनुशंसित बहुश्रुत ही बहुश्रुत है।

बहुश्रुत अत्यन्त पूज्य शब्द रहा है। बहुश्रुत की पूजा करना किसी भी व्यक्ति या संघ के लिए गौरव की बात होती है। यदि बहुश्रुत की आधुनिक परिभाषा की जाए तो कहा जा सकता है—प्रज्ञा को जगाने का अर्थ है—बहुश्रुत बनना और बहुश्रुत बनने का अर्थ है प्रज्ञा का जागरण। जिसकी प्रज्ञा जाग गई, वह बहुश्रुत बन गया, वह सबके लिए प्रशंसनीय और आदरणीय बन गया।

जातिवाद तात्त्विक नहीं है।

आज से दो हजार वर्ष पहले एक संघर्ष चलता था। समाज में एक द्वन्द्व था। एक ओर जातिवाद का समर्थन किया जा रहा था, दूसरी ओर जातिवाद का खंडन किया जा रहा था। एक शिष्य ने आचार्य से जिज्ञासा की—‘गुरुदेव! यह बात हर आदमी समझ सकता है कि किसी व्यक्ति से घृणा नहीं करनी चाहिए। फिर यह जातिवाद चर्चा का विषय क्यों बना? यह एक दार्शनिक विषय बन गया है। इस पर बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं। श्रमण परंपरा के एक विद्वान् कहते हैं—

वेदः प्रामाण्यं कस्यचित् कर्तृवादः, स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः।

संतापारंभः पापहानाय चैते, ध्वस्तप्रज्ञानां पंचचिन्हानि जाड्ये॥

जड़ता के पांच लक्षण हैं। उनमें से एक है जातिवाद का अहंकार।

एक ओर जातिवाद को समर्थन मिल रहा है, दूसरी ओर उसे जड़ता का लक्षण माना जा रहा है। क्या समर्थन करने वालों में इतनी भी समझ नहीं है कि वे इस सचाई को समझ सकें।’

यह प्रश्न बहुत स्वाभाविक है। यह एक शिष्य का ही प्रश्न नहीं है, हजारों-हजारों लोगों के मानस में यह प्रश्न उभरता है। बहुत सूक्ष्म और गंभीर बात को समझने में कठिनाई हो सकती है। एक सूई की नोक टिके उतने स्थान में अनन्त जीव हैं, यह समझना कठिन हो सकता है किन्तु एक आदमी दूसरे आदमी को नीचा न माने, भाई माने, उसके साथ भाईचारे का व्यवहार करे, इतनी स्थूल बात समझने में दुविधा क्यों होती है? अनेक ग्रन्थों के लेखक, तार्किक और समझदार व्यक्ति भी इतनी स्थूल बात समझ नहीं पाते, क्या यह विस्मयजनक नहीं है?

आचार्य ने कहा—‘वत्स! तुम्हारा प्रश्न उचित है पर प्रश्न बौद्धिकता का नहीं है। जितने हम बुद्धिमान् हैं उतने बुद्धिमान् सामने वाले भी हो सकते हैं, वे हमसे अधिक बुद्धिमान् भी हो सकते हैं। उनमें भी चिंतन की शक्ति है, विचार की शक्ति है। चिंतन, विचार और बौद्धिक क्षमता का अंतर इसका कारण नहीं है।

शिष्य ने जिज्ञासा की—‘गुरुदेव! फिर जातिवाद के समर्थन का कारण क्या है?’

आचार्य ने कहा—‘मनुष्य के व्यवहार के पीछे उसकी वृत्तियां काम करती हैं। व्यक्ति की प्रत्येक मान्यता की पृष्ठभूमि में अनेक वृत्तियां सक्रिय रहती हैं, जितनी समाज की मान्यताएं बनीं हैं, संगठन की मान्यताएं बनीं हैं, उनके पीछे

छिपी हुई वृत्तियां काम करती हैं। यह जातिवाद का प्रश्न भी बुद्धि का नहीं है, मनुष्य की मान्यता का है और इसके पीछे भी एक वृत्ति काम कर रही है। चाहे सामाजिक मान्यता हो, संप्रदायगत मान्यता हो, जातिगत मान्यता हो, उसकी पृष्ठभूमि में मनुष्य की मनोवृत्ति विद्यमान रहती है।'

जातिवाद का आधार

मनोविज्ञान ने वृत्तियों का एक जाल बिछाया है। उसके कई वर्गीकरण किए हैं, किंतु यदि हम जैन मनोविज्ञान की दृष्टि से विचार करें तो मौलिक मनोवृत्ति एक है—राग। शेष वृत्तियां उसका विस्तार है। सब वृत्तियों में मूल है—राग, प्रियता का संवेदन। राग है तो दूसरी वृत्ति बनेगी—द्वेष। द्वेष मूल मनोवृत्ति नहीं है। राग है तो द्वेष का होना भी अनिवार्य है। राग है, इसका मदलब लोभ और प्रियता है। प्रियता है, राग है तो अप्रियता और द्वेष का होना जरूरी है, घृणा और अहंकार का होना भी जरूरी है। अहंकार दिखाई देता है, ममकार दिखाई देता है, राग और द्वेष छिपे रहते हैं। व्यक्ति कहता है—मैं धनवान हूं, मैं पढ़ा लिखा हूं, मैं सत्ताधीश हूं—यह अहंकार है। जितनी उपाधियां लगती हैं, जितने विशेषण लगते हैं, वे सारे व्यक्ति के अहंकार को प्रकट करने वाले हैं। जो जातिवाद की मान्यता बनी है, उसका एक आधार है—अहंकार। व्यक्ति में अहंकार होता है और वह अपने अहंकार का प्रदर्शन करना चाहता है। अहंकार की अभिव्यक्ति का एक रूप बनता है—जातिवाद।

अहंकार : अनेक रूप

प्रश्न हो सकता है—हिन्दुस्तान में ही जातिवाद को इतना बढ़ावा क्यों मिला? बाहर उसका प्रसार क्यों नहीं हुआ? हिन्दुओं में जातिवाद की जड़ें बहुत गहरी हैं। दूसरी अनेक जातियों में भाईचारा बना हुआ है। क्या वे जातियां नहीं हैं? क्या दूसरे देशों में जातियां नहीं हैं? यह सोचना भी शायद सार्थक नहीं है। अहंकार को प्रकट करने का रास्ता एक ही नहीं होता। उसकी अभिव्यक्ति के अनेक रास्ते हैं। अहंकार को जो माध्यम मिलता है, वह उसे अपना लेता है। अभिव्यक्ति के आधार पर आचार्यों ने अहंकार को आठ भागों में विभक्त किया है—

- | | |
|--------------------|-----------------------|
| १. जाति का अहंकार। | ५. रूप का अहंकार। |
| २. कुल का अहंकार। | ६. तप का अहंकार। |
| ३. बल का अहंकार। | ७. श्रुत का अहंकार। |
| ४. लाभ का अहंकार। | ८. ऐश्वर्य का अहंकार। |

अहंकार के ये आठ ही नहीं, अनेक विभाग हो सकते हैं। वस्तुतः अहंकार एक ही है, उसकी प्रणालियां अलग-अलग हो गईं। एक ही गंगा से नहरें निकलीं, एक ही यमुना से नहरें निकलीं, कोई भाखड़ा नहर बन गई, कोई गंगनहर बन गई। नाम अलग-अलग हो गए। उनमें सारा पानी गंगोत्री और यमुनोत्री से आ रहा है। वह नहरों और नालियों के माध्यम से अनेक रूपों में प्रवाहित होता है। इस प्रकार मूल में एक ही अहंकार काम कर रहा है और वह अहंकार ही अनेक रूपों में बंट जाता है।

आयुर्वेद का सिद्धान्त है—व्यक्ति के बीमारी या दर्द होता है। दर्द दर्द है, बीमारी बीमारी है। घुटनों में दर्द होता है तो कहा जाता है—घुटने में दर्द हो गया। कमर में दर्द है तो कहा जाता है—कमर का दर्द हो गया। दर्द आखिर दर्द ही है। केवल स्थान-भेद से नाम-भेद हो गया। अहंकार अहंकार है, अभिव्यक्ति के भेद से उसके अनेक रूप बन जाते हैं।

जाति, रंग और वर्ण

हिन्दुस्तान में जाति का अहंकार प्रबल बना। कहीं रंग का अहंकार प्रबल है। गोरे लोगों का अहंकार काले लोगों पर कहर ढा रहा है। दक्षिण अफ्रीका में रंग-भेद के आधार पर यहां तक नियम बना दिए गए—जिस सड़क से गोरा आदमी जाता है, उस सड़क से काला आदमी नहीं जा सकता। काला आदमी अमुक-अमुक पथों से नहीं जा सकता। गोरे व्यक्ति पर उसकी छाया भी नहीं पड़नी चाहिए। जिस वायुयान या रेल के डिब्बे में गोरे आदमी बैठते हैं, उसमें काले आदमी नहीं बैठ सकते। आज भी रंगभेद काफी तीव्र बना हुआ है। अहंकार कभी जातिभेद के रूप में अभिव्यक्त हो गया, कभी रंगभेद के रूप में प्रकट हो गया और कभी वर्णभेद के रूप में अभिव्यक्त हो गया। एक ओर उच्चवर्ग है, दूसरी ओर निम्नवर्ग है। उच्चवर्ग का अहंकार वर्णभेद को उभार देता है। उच्चवर्ग और निम्नवर्ग की जाति एक ही है पर उनमें वर्णगत अन्तर परिलक्षित होता है। उच्चवर्ग का अहंकार नीचवर्ग को अपना रूप बताना चाहता है, अपने धन-वैभव का प्रदर्शन करना चाहता है। इस वर्ण-भेद से अहंकार का एक और विभाग हो गया। किसी व्यक्ति को सत्ता मिली, अहंकार बढ़ गया। अहंकार की अभिव्यक्ति का एक माध्यम विकसित हो गया। कुर्सी छूटी, अहंकार गल गया। धन मिला, अहंकार बढ़ गया, धन चला गया, अहंकार दब गया। यह सारा अहंकार का मायाजाल है। इसमें हमारी बुद्धि काम नहीं देती। हमारी बुद्धि, हमारे तर्क, हमारी मान्यताएं वहां जाती हैं जहां हमारी वृत्तियां उन्हें ले जाती हैं।

संस्कृत का एक प्रसिद्ध श्लोक है :—

आग्रही बत! निनीषति युक्तिं, यत्र तत्र मतिरस्य निविष्टा।

पक्षपातरहितस्य तु युक्तिः, यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्॥

आग्रही व्यक्ति तर्क का प्रयोग करता है और पक्षपात रहित व्यक्ति भी तर्क का प्रयोग करता है। दोनों तर्क का प्रयोग करते हैं किन्तु एक व्यक्ति, जिसमें मान्यता का एक अभिनिवेश बन गया, पकड़ हो गई, वह सोचता है—मुझे इसी बात का समर्थन करना है। उसकी जो मान्यता या मति बन जाती है, वह उसके समर्थन में ही तर्क खोजता है। जो व्यक्ति पक्षपात रहित है, वह व्यक्ति जहां युक्ति है वहां अपनी मति का प्रयोग करेगा। वह एक न्यायपूर्ण मान्यता के साथ अपनी तर्क-शक्ति को नियोजित करेगा। एक आग्रही व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता। उसके सामने उसकी पकड़ मुख्य होती है। वह न्याय या औचित्य को नहीं देखता।

उपाध्याय यशोविजयजी ने आग्रह के संदर्भ में अत्यन्त मार्मिक दृष्टान्त दिया है—

मनोवत्सो युक्तिगवी, मध्यस्थस्यानुधावति ।

तामाकर्षति पुच्छेन, तुच्छाग्रहमनःकपिः ॥

जो पुरुष मध्यस्थ मनोवृत्ति वाला होता है, उसका मनरूपी बछड़ा युक्तिरूपी गाय के पीछे-पीछे दौड़ता है और जो पुरुष तुच्छ आग्रह में जकड़ा रहता है, उसका मनरूपी बंदर उस युक्तिरूपी गाय की पूँछ को अपनी ओर खींचता रहता है।

प्रश्न मानवीय अधिकार का

बुद्धि, न्याय और अधिकार के आधार पर जातिवाद का समर्थन नहीं किया जा सकता। दो प्रकार के अधिकार माने जाते हैं—कानूनी अधिकार और नैतिक अधिकार। इन मानवीय अधिकारों को इस युग में बहुत महत्त्व मिला है, सारे राष्ट्र चौकन्ने हो जाते हैं। समाचार पत्रों में पढ़ा—चीन ने तिब्बत के सन्दर्भ में दलाईलामा से बातचीत का प्रस्ताव रखा है। चीन के पास विशाल साम्राज्य शक्ति है, दलाईलामा के पास कुछ भी नहीं है। जो तिब्बत था, वह भी छूट गया। कुछेक हजार लोग भारत में निर्वासित जीवन बिता रहे हैं। वे हिन्दुस्तान की सहानुभूति पर जी रहे हैं। इस संदर्भ में दलाईलामा के साथ जो बातचीत का प्रस्ताव किया है, उसका महत्त्व बढ़ जाता है। प्रश्न होता है—ऐसा क्यों किया गया? प्राचीन काल में ऐसा होना सम्भव नहीं था।

आज मानवाधिकार का प्रश्न बहुत शक्तिशाली बन गया है। स्वतंत्रता मानव का अधिकार है, शिक्षा मानव का अधिकार है, रोजगार मानव का अधिकार है। मानवाधिकार की जो आज व्याख्या हुई है, उस आधार पर अनेक मानवीय समस्याएँ सुलझ रही हैं। कोई भी राष्ट्र, चाहे कितना ही शक्तिशाली हो, मानवाधिकार का मनचाहा अतिक्रमण नहीं कर सकता। पंजाब की समस्या को लेकर अमेरिकी सीनेट के सदस्य ने मानवाधिकार का प्रश्न उठाया तो भारत को भी सावधान होना पड़ा। कहा गया—हिन्दुस्तान को दी जाने वाली सहायता बन्द होनी चाहिए क्योंकि पंजाब में हिन्दुस्तान की सरकार मानवाधिकारों का अतिक्रमण कर रही है। आज एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न बन गया है—मानवाधिकार। एक आदमी दूसरे आदमी को घृणित माने, जातिभेद के कारण, रंगभेद के कारण या किसी अन्य सामाजिक कारण से व्यक्ति के अधिकार छीन लिए जाएं, क्या यह मानवाधिकार का अतिक्रमण नहीं है? आज यह बहुत स्पष्ट है। यह अतिक्रमण पहले भी चलता था, आज भी चलता है। प्रश्न भी होता है—यह क्यों चलता है? इसके पीछे जो प्रेरणा है, वह बुद्धि की नहीं है। वह प्रेरणा है अहंकार की। अतिक्रमण की पृष्ठभूमि में मनुष्य का अहंकार काम कर रहा है और इसका जीवित निदर्शन है हरिकेश मुनि का आख्यान।

त्याग की विजय : अहंकार की पराजय

हरिकेश मुनि जाति से चांडाल थे। बड़े तपस्वी थे। वे एक-एक मास का तप कर रहे थे। पारणे के दिन वे भिक्षा के लिए घूमते-घूमते एक यज्ञ मंडप के

पास पहुँचे। यज्ञ का अनुष्ठान चल रहा था। बड़े-बड़े पंडित, पुरोहित, उपाध्याय और छात्र उस यज्ञ में लगे हुए थे। मुनि यज्ञशाला के पास खड़े हो गए। यज्ञ में उपस्थित ब्राह्मण कुमारों ने मुनि को देखा। वे मुनि की वेशभूषा को देखकर उनका उपहास करने लगे। मुनि के शरीर पर पूरे वस्त्र नहीं थे। उनके विचित्र रूप को देखकर ब्राह्मणों ने पूछा—

‘तुम कौन हो?’

‘मैं भिक्षु हूँ।’

‘यहां क्यों आए हो?’

‘भिक्षा लेने के लिए।’

‘भिक्षा लोगे?’

‘हां!’

जातिवाद का नाग फुफकार उठा। ब्राह्मण आवेश से भर गए। उन्होंने कहा—‘चले जाओ यहां से। तुम यहां भिक्षा लेने आए हो? तुम्हें पता नहीं है, यहां ब्राह्मण यज्ञ कर रहे हैं। यह भिक्षा जातिमान ब्राह्मणों के लिए है, तुम्हें नहीं मिलेगी।’

मुनि बोले—‘मैंने देखा—तुम्हारे यहां बहुत रसोई बन रही है, सहज ही बहुत अन्न पकाया जा रहा है। उसमें से कुछ इस भिक्षु को मिल जाए, और कोई लेना-देना नहीं है।’

ब्राह्मण बोले—‘नहीं! नहीं मिल सकता। जो जाति से उच्च हैं, उन्हें ही यह अन्न मिल सकता है। जो विद्या से उच्च हैं, उन्हीं के लिए यह भोजन है। तुम जाति से हीन हो, क्योंकि चांडाल पुत्र हो। तुम विद्या से हीन हो, क्योंकि तुमने वेद नहीं पढ़े हैं, इसलिए तुम्हें यह अन्न नहीं मिल सकता।’

मुनि बोले—‘तुम जाति से अपने आपको महान मानते हो, वस्तुतः तुम महान नहीं हो। तुम आवेश में हो, अभिमान से भरे हुए हो और साथ-साथ हिंसा से जघन्य पाप का बन्ध कर रहे हो। तुम विद्या से भी महान नहीं हो सकते। इस संसार में तुम केवल वाणी का भार ढो रहे हो। ‘शास्त्रं भारोऽविवेकिनां’—तुम्हारे लिए शास्त्र भार बन रहे हैं। तुम इसका हृदय नहीं समझ पाए हो।’

मुनि और ब्राह्मणों के बीच लंबा संवाद चला। एक ओर त्याग-तपस्या का बल था, दूसरी ओर जाति का अहंकार था। अन्ततः अहंकार हार गया, त्याग और तपस्या का बल विजयी बन गया। ब्राह्मण मुनि के चरणों में नत हो गए। सदा हारता है अहंकार

अहंकार सदा हारता है। अन्तिम विजय समत्व की होती है, तप की होती है। जहां समता है, त्याग है, वहां अहंकार टिक नहीं पाता। एक सेठ के मन में धन का अहंकार जाग गया। उसने धन के प्रदर्शन की एक योजना तैयार की। उसने घोषणा करवाई—मेरी मां के पड़पोता हुआ है इसलिए मैं अपनी मां की पूजा कराऊंगा। घोषणा हो गई। अनेक लोग आ गए। पंडित को बुलाया गया। सेठ ने अपनी मां को सोने की चौकी पर बिठाया। पूजा विधि सम्पन्न हुई।

सेठ ने घोषणा की—‘पंडितजी! आपने सुन्दर ढंग से पूजा विधि संपादित की है इसलिए मैं आपको सोने की चौकी दक्षिणा में प्रदान करता हूँ।’ पंडितजी यह सुन विस्मित रह गए। तालियां बज उठीं। सेठ की जय जयकार होने लगी। अहंकार से भरे सेठ ने आगे कहा—‘पंडितजी! आज तक कोई इतना बड़ा दानी मिला?’ पंडितजी त्यागी थे। सेठ के कथन से उनका मानस आहत हुआ। उन्होंने सोचा—‘मैं सोने की चौकी ले सकता हूँ किन्तु उसके साथ यह अहंकार का भार नहीं उठा सकता। पंडितजी ने जब मैं हाथ डाला, एक रुपया निकाला। उस रुपये को चौकी पर रखते हुए पंडितजी बोले—‘सेठजी! इस रुपये के साथ मैं आपकी चौकी आपको लौटा रहा हूँ।’ पंडितजी ने आगे कहा—‘सेठजी! क्या आपको आज तक इतना बड़ा त्यागी मिला?’ सेठ यह सुनकर स्तब्ध रह गया। उसका सारा खून पानी बन गया और अहंकार का उच्चाप त्याग की शीतलता से ठण्डा हो गया।

समता की चेतना प्रबल बने

अहंकार की पराजय हमेशा त्याग के द्वारा होती है। धन के द्वारा कभी अहंकार की पराजय नहीं होती। सत्ता और शक्ति के द्वारा कभी अहंकार को हराया नहीं जा सकता। जब समत्व, त्याग और तपस्या का विकास होता है, अहंकार विलीन होता चला जाता है। जातिवाद के उस युग में भगवान महावीर और बुद्ध ने समता की चेतना के विकास पर बल दिया। समता का विकास प्रबल बना, जातिवाद की पकड़ कमजोर होने लगी। जातिवाद का जो एकछत्र साम्राज्य था, उसकी जड़ें हिलने लग गईं। अगर महावीर और बुद्ध ने इस दिशा में प्रयत्न न किया होता तो आज न जाने हिन्दुस्तान की क्या दशा होती? आज भी हिन्दुस्तान की स्थिति बहुत अच्छी नहीं है। अनेक तीव्र प्रयत्नों के बावजूद हिन्दुस्तान को जातिवाद के बुरे परिणाम भुगतने पड़े। हम आज भी उसके परिणाम भुगत रहे हैं। जातिवाद की काली छाया आज भी विद्यमान है। मनुष्य का अहंकार आज भी समस्या का कारण बना हुआ है। अहंकार के द्वारा उसे मिटाया नहीं जा सकता।

आप जीते, मैं हारा

राजा दशार्णभद्र ने महावीर की वन्दना के लिए प्रस्थान किया। उसके साथ विशाल सेना थी, वैभव था। इन्द्र को यह अहंकार-प्रदर्शन अनुचित लगा। इन्द्र ने दशार्णभद्र को पराजित करने के लिए अपार वैभव और शक्ति का प्रदर्शन किया। दशार्णभद्र के अहंकार को चोट पहुंची। उसने सोचा—‘वैभव और शक्ति से मैं इन्द्र को पराजित नहीं कर सकता। उसने तत्काल एक निश्चय किया और महावीर को वन्दन कर बोला—‘भगवन! आप मुझे दीक्षित करने की कृपा करें!’ भगवान ने दशार्णभद्र को दीक्षित कर लिया। वह सर्वत्यागी मुनि बन गया। इन्द्र का अहंकार पराजित ही गया। वह वैभव और शक्ति से समृद्ध था किन्तु त्याग के क्षेत्र में वह दशार्णभद्र की बराबरी नहीं कर सका। वह राजर्षि के चरणों में झुक गया। उसने कहा—‘राजर्षि! आप जीते, मैं हारा।’

सार्वभौम उद्घोष

जातिवाद की इस समस्या को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

यथा यथाऽभिवर्धतेऽभिमन्यता निरंकुशा ।

तथा तथा प्रवर्धते घृणा च जातिसंभवा ॥

यथा यथा प्रवर्धते समत्वभावसंस्त्वः ।

तथा तथा विलीयतेऽभिमानभावना स्वतः ॥

जैसे जैसे निरंकुश अभिमन्यता बढ़ती है, वैसे वैसे जाति से पैदा होने वाली घृणा बढ़ती चली जाती है। जैसे-जैसे समत्व भाव से परिचय बढ़ता है, वैसे वैसे अभिमान भावना स्वतः विलीन हो जाती है, अपनी मौत मर जाती है।

यह जातिवाद का भूत, अहंकार का आवेश मनुष्य को सत्ताता रहता है और इसी आधार पर विषमता को बढ़ावा मिलता है। जहाँ विषमता होती है, वहाँ आदमी-आदमी को समान मानने की बात गौण हो जाती है। एक आदमी दूसरे आदमी को घृणित माने, इससे बढ़कर मानवता का कोई अपमान नहीं हो सकता। इस बात को लेकर जैन और बौद्ध आचार्यों ने जातिवाद के खण्डन में अपनी पूरी शक्ति लगाई। डेढ़ हजार वर्ष का दार्शनिक साहित्य इसका स्पष्ट प्रमाण है। दूसरी ओर जातिवाद के समर्थकों ने उसके मंडन में अपनी शक्ति नियोजित की। एक पक्ष था—जातिवाद वास्तविक है, काल्पनिक नहीं। दूसरा पक्ष था—जातिवाद कल्पना है, मान्यता है, वास्तविक नहीं। महावीर के सिद्धान्तों से उपजा यह घोष मुखर हो उठा—‘एक्का मणुस्स जाई’—मनुष्य जाति एक है। जाति का कोई भेद नहीं है, जाति में कोई अलगाव नहीं है। आज यह उद्घोष सार्वभौम और सामुदायिक बन रहा है। हमें यह मानना चाहिए—जातिवाद के पीछे जो एक अहंकार था, वह बदल रहा है, नया रूप ले रहा है। जब तक समत्व की प्रतिष्ठा नहीं होगी, अहंकार को नया रूप मिलता रहेगा। महावीर के जो सिद्धान्त विकसित हुए हैं, उनके पीछे सामाजिक पृष्ठभूमि रही है। जिस समय जो सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक परिस्थितियाँ होती हैं, सिद्धान्तों का निर्माण उन परिस्थितियों के संदर्भ में होता है।

विस्तार : परिस्थिति सापेक्ष

हिंसा नहीं करनी चाहिए, यह एक सिद्धान्त है। अहिंसा की व्याख्या का विस्तार तत्कालीन परिस्थिति के आधार पर हुआ। उस समय दासप्रथा प्रचलित थी। अहिंसा की व्याख्या में एक बात कही गई—‘किसी को दास मत बनाओ।’ यह अहिंसा की कोई मूल परिभाषा नहीं है। यह परिस्थिति से उपजा हुआ सिद्धान्त था। अहिंसा का मूल हार्द है—राग-द्वेष मत करो, किसी को मत सत्ताओ। उसका जो विस्तार हुआ है, वह सामाजिक स्थितियों के सन्दर्भ में हुआ है। आचार्यश्री ने अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन किया। नया मोड़ चलाया। उसके व्रतों का निर्धारण वर्तमान परिस्थितियों के आधार पर हुआ। आचार्य भिक्षु ने धर्म की जो व्याख्या की, उसका आधार भी समाज की तत्कालीन परिस्थितियाँ थीं। अगर समाज नहीं होता, व्यक्ति अकेला होता तो सत्य का व्रत नहीं बनता। अगर

समाज नहीं होता तो अस्तेय और ब्रह्मचर्य का व्रत नहीं बनता। इन व्रतों की उपयोगिता समाज के संदर्भ में है। हो सकता है—पहले अहिंसा ही एक व्रत रहा हो। चार या पांच महाव्रत इसका विस्तार है। आचार्य हरिभद्र ने व्रतों की बहुत सूक्ष्म मीमांसा की है। उन्होंने लिखा—

अहिंसा पयसः पालिभूतान्यन्यव्रतानि यत् ।

मूल व्रत एक है अहिंसा। शेष सारे व्रत उसकी सुरक्षा के लिए हैं। व्रतों का सारा विस्तार सामाजिक परिस्थितियों के संदर्भ में होता है।

आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा—आश्रव भव-भ्रमण का हेतु है और संवर मोक्ष का कारण है। समग्र अहंत् दर्शन इन दो तत्त्वों का विस्तार है—

आश्रवो भवहेतुः स्याद्, संवरो मोक्षकारणम् ।

इतीयमार्हतीदृष्टिरन्यदस्याः प्रपञ्चनम् ॥

जितनी परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं, उतना ही दर्शन का विस्तार होता चला जाता है। भगवान महावीर ने आत्मतुला का सिद्धांत प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा—सब जीवों को अपने समान समझो। जातिवाद की अतात्त्विकता इसी सिद्धांत का विस्तार है। उस समय सामाजिक परिस्थितियों के कारण यह स्वर प्रबल बना। महावीर के समय में समाज की क्या परिस्थितियाँ थीं, क्या सामाजिक मान्यताएँ थीं, यदि इनका विश्लेषण किया जाए तो जातिवाद के समर्थन या विरोध की परिस्थिति को समझा जा सकता है। इस परिस्थिति के संदर्भ में ही जातिवाद और अहंकार की पृष्ठभूमि का विश्लेषण यथार्थ रूप में प्रस्तुत हो पाएगा।

कर्मणा जाति

भगवान ऋषभ राज्य और समाज की व्यवस्था का प्रवर्तन कर रहे थे। राज्य और समाज की व्यवस्था में कार्य का विभाजन जरूरी होता है। मुख्य प्रश्न यह था—किस व्यक्ति को किस कार्य में लगाया जाए? जब यौगलिक या अरण्य का जीवन था तब न व्यवस्था की जरूरत थी, न कार्य विभाजन की जरूरत थी और न श्रम के बंटवारे की जरूरत थी। जिसने जैसा चाहा, वैसा कार्य कर लिया। जहां समाज के निर्माण का प्रश्न है, वहां विभाग अत्यन्त जरूरी है।

त्रिवर्ण व्यवस्था

भगवान ऋषभ ने समाज को तीन भागों में विभाजित किया। एक विभाग का आधार बना—पराक्रम, एक विभाग का आधार बना—व्यवसाय और एक विभाग का आधार बना—उत्पादन। समाज के लिए उत्पादन का कौशल जरूरी है, विनिमय की आवश्यकता है और सामाजिक हितों का संरक्षण अपेक्षित है। यदि उत्पादन नहीं है तो विनिमय की बात नहीं आएगी। कृषि शब्द उत्पादन का प्रतीक है। जो उत्पादक वर्ग बना, वह कृषक वर्ग कहलाया। उसका कार्य था—उत्पादन करना और सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति करना। दूसरा वर्ग बना व्यवसाय करने वाला। जो उत्पादन हुआ है, उसे जनता तक पहुंचाना। उसका माध्यम बना—विनिमय करना, लेना-देना। उसका प्रतीक शब्द है—स्याही या लेखनी। जब दो वर्ग बन गए तब संघर्ष की संभावना भी बन गई। इस स्थिति में एक वर्ग बना—संरक्षक वर्ग। वह क्षत्रिय कहलाया। उसका प्रतीक बना तलवार। क्षत्रिय वर्ग, व्यापारी वर्ग और कृषि वर्ग—इन तीनों विभागों के आधार पर समाज को बांट दिया गया। यह त्रिवर्ण व्यवस्था है।

चतुर्वर्ण व्यवस्था

वैदिक विद्वानों ने समाज को चार भागों में बांटा। उसके चार आधार थे—बुद्धि, पराक्रम, आवश्यकता-पूर्ति और सेवा। माना जाता है कि सृष्टि की रचना हुई और उसमें ब्राह्मण ब्रह्मा के सिर से पैदा हुआ। क्षत्रिय भुजा से पैदा हुआ। वैश्य पेट से और शूद्र पैरों से पैदा हुआ। हम इन शब्दों को पकड़ेंगे तो बात बहुत अटपटी लगेगी। इसी आधार पर ब्राह्मण को उच्च और शूद्र को नीचा मान लिया गया। यदि हम प्रतीकों की सम्यक् व्याख्या करें तो सारी धारणा ही बदल जाए। यह सारी प्रतीकात्मक भाषा है। जो दिमाग से काम लेता है, वह ब्राह्मण है। इसका अर्थ है—जो बुद्धि से काम लेता है, उसे सिर से पैदा हुआ मान लें। पौरुष का प्रतीक है—भुजा। जो पौरुष से काम लेता है, उसे भुजा से पैदा हुआ मान लें। वह है—क्षत्रिय। वैश्य की उत्पत्ति मानी गई है पेट से। पेट

कौन भरता है? यदि व्यापारी वर्ग नहीं होता तो सब पेट पर हाथ फेरते। व्यापार का प्रतीक है—पेट। सेवक वर्ग पैर से पैदा हुआ। गतिशीलता का प्रतीक है—पैर। इसमें ऊंचा-नीचा कुछ भी नहीं है। गुणों के आधार पर समाज को चार भागों में बांटा गया। इन्हीं चार अपेक्षाओं के आधार पर चार वर्गों की व्यवस्था की गई थी किंतु कोई भी लथ्य भविष्य में अपना मूल रूप खो देता है। उसके साथ अनेक प्रकार की कल्पनाएं, मान्यताएं और धारणाएं जुड़ जाती हैं।

समाज व्यवस्था : प्लेटो की कल्पना

प्लेटो ने आदर्श राज्य की कल्पना की। उन्होंने बताया—समाज में तीन प्रकार के लोग होते हैं—बुद्धिप्रधान, साहसप्रधान और वासनाप्रधान। बुद्धि, साहस और वासना—ये तीन अपेक्षाएं हैं। जो बुद्धिप्रधान होता है, वह संरक्षक होता है। जो साहसप्रधान है, वह सहायक संरक्षक होता है। इस श्रेणी के लोग सैनिक या पुलिसकर्मी होते हैं। जो वासनाप्रधान है, वह कृषक या व्यापारी है। कहा गया—प्रत्येक व्यक्ति में ये तीनों प्रधान गुण होते हैं किंतु तरतमता के आधार पर उसे तीन भागों में बांटा जा सकता है। एक व्यक्ति में बुद्धि प्रधान होती है, साहस और वासना गौण होती है। इतिहास साक्षी है—बहुत से शासक ऐसे हुए हैं, जिनमें साहस तो बहुत था पर बुद्धि कम थी। कुछ लोगों में वासना प्रधान होती है, बुद्धि और साहस गौण होता है।

व्यापक दृष्टिकोण

प्रत्येक व्यक्ति में ये सारी वृत्तियां विद्यमान हैं। आदमी सुबह शौच जाता है, क्या वह शूद्र नहीं है। आदमी धन कमाता है, क्या वह वैश्य नहीं है? वह पढ़ता है, क्या ब्राह्मण नहीं है? वह अपने परिवार की रक्षा करता है, क्या वह क्षत्रिय नहीं है? क्या प्रत्येक आदमी में ये चारों वर्ण नहीं हैं? यह एक व्यापक और लचीला दृष्टिकोण है। महावीर ने इसी दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया था—जातिवाद और वर्णवाद को लेकर हिंसा मत फैलाओ। एक दूसरे के प्रति उच्चता या निम्नता का भाव मत लाओ। जो आदमी जैसा काम करता है, वह वैसा ही होता है।

महावीर की इस अवधारणा को इस रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

समाजः व्यक्तिसापेक्षः, जनाः विविधशक्तयः।

कर्म शक्त्यनुरूपं स्याद्, तेन जातिः स्वकर्मणा।।

समाज व्यक्ति सापेक्ष होता है। प्रत्येक समाज में साहसप्रधान, बुद्धिप्रधान और कर्मप्रधान लोग होते हैं। कोई भी आदमी एक प्रकार की शक्ति वाला नहीं होता किंतु शक्ति वह कहलाती है, जो जाग जाती है। किसी में पौरुष और पराक्रम की शक्ति जाग जाती है। किसी में बुद्धि की क्षमता प्रखर होती है। अनेक व्यक्तियों में अनेक प्रकार की शक्तियां जागती हैं। एक व्यक्ति पढ़ने में बहुत तेज है पर कला-शिल्प में कुछ नहीं है। एक व्यक्ति कला-शिल्प में बहुत दक्ष है पर पढ़ने में मंद है। शक्ति का जागरण एक प्रकार का नहीं होता। अनेक प्रकार की शक्तियों की तरतमता होती है। समाज की जितनी अपेक्षाएं होती हैं,

उन्हें पूरा करने वाले लोग भी उतने ही चाहिए। यदि एक आदमी होता तो कुछ होता ही नहीं। आदमी कितना ही शक्तिशाली हो पर वह होगा एक ही दिशा में। अन्य सारी शक्तियों की पूर्ति के लिए उसे समाज से जुड़ना पड़ेगा। इसीलिए सब सापेक्ष हैं, कोई निरपेक्ष नहीं है। यदि कोई व्यक्ति निरपेक्षता की बात सोचता है तो इससे बड़ी कोई भूल नहीं हो सकती। आचार्य कालूगणी कहा करते थे—आचार्य सब कुछ होता है पर वह भी इतना सापेक्ष है कि उसे कहीं भी जाना हो तो एक साधु का सहयोग चाहिए। जहां समुदाय है, समाज और राज्य है वहां निरपेक्षता की बात नहीं सोची जा सकती।

समाज का सूत्र है सापेक्षता। अनेक लोगों का शक्ति लगती है तब एक समाज बनता है, समाज की आवश्यकताएं पूरी होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुरूप कर्म करता है। जिसमें जिस प्रकार की शक्ति होती है, उसमें उसी प्रकार का कर्म होता है। यह बहुत बड़ा सूत्र है—जिस व्यक्ति में जिस प्रकार की शक्ति है, उसे उसी कर्म में लगाओ। यह समाज की सफलता का सूत्र है—शक्ति के अनुरूप कर्म का नियोजन होना चाहिए। यह था कर्म का सिद्धांत—जिस प्रकार की शक्ति, उसी प्रकार का कर्म। प्रस्तुत प्रसंग में कर्म का अर्थ ज्ञानावरण और दर्शनावरण से नहीं है। कर्म का तात्पर्य है कार्य से। जिस व्यक्ति में जो काम करने की शक्ति है, वह उसी काम में अपनी शक्ति का नियोजन करे। इस कार्य विभाजन के आधार पर ही एक व्यक्ति ब्राह्मण बनता है, एक व्यक्ति क्षत्रिय बनता है, एक व्यक्ति वैश्य या शूद्र बनता है। जिसमें विद्या की शक्ति है, वह ब्राह्मण है। जिसमें पौरुष की शक्ति है, वह क्षत्रिय बनेगा। जिसमें व्यावसायिक बुद्धि है, वह व्यापारी बनेगा। जिसमें सेवा करने की शक्ति है, वह सेवक बनेगा।

जन्म से नहीं, कर्म से

वैदिक विद्वानों द्वारा कर्म के आधार पर समाज को चार भागों में बांटा गया। ऋषभ ने समाज को तीन भागों में विभक्त किया। प्लेटों ने जिन तीन विभागों की कल्पना की है, वह जैन आचार्यों की कल्पना के काफी निकट है। असि-मसि-कृषि के साथ बुद्धि, साहस और वासना की तुलना की जा सकती है। यह एक लचीला सिद्धान्त था, जिसका उद्देश्य था—समाज की अपेक्षाएं पूरी हों और परिवर्तन भी न हो। जब जैन दर्शन और बौद्ध दर्शन का समाज पर व्यापक प्रभाव पड़ा तब जन्मना जाति की बात गौण हो गई, चारों ओर कर्मणा जाति का स्वर उभरा। गीता में भी कहा गया—चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं, गुणकर्मविभागशः।

व्यक्ति अपने गुण या कर्म से ब्राह्मण बनता है। ब्राह्मण जन्मना नहीं, कर्मणा होता है। केवल ऊँ जपने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं होता। ब्रह्मविद्या को जानने वाला ब्राह्मण होता है। जैन और बौद्ध धर्म ने कर्मणा जाति का एक तीव्र आंदोलन चलाया और उसका समाज पर व्यापक प्रभाव हुआ। भागवत-पुराण और महाभारत में भी कहा गया—एक व्यक्ति एक जन्म में ब्राह्मण भी हो सकता है, वैश्य और क्षत्रिय भी हो सकता है, चाण्डाल भी हो सकता है।

वैचारिक जगत् में यह धारणा हो गई—जाति जन्मना नहीं, कर्मणा होती है किन्तु आम जनता में जो जन्मना जाति का संस्कार डाल दिया गया, वह नहीं बदल पाया। इसी का परिणाम है—आज हिन्दुस्तान जाति और वर्णवाद की समस्याओं को झेल रहा है। आज मनुष्य में घृणा भरना जितना आसान है, प्रेम और मैत्री भरना उतना आसान नहीं है। कहा जाता है—मत की बात महीन। ऊंच-नीच की एक मान्यता या मत बन जाता है। उस मत या मान्यता को तोड़ पाना बहुत कठिन होता है किन्तु इन सारी मान्यताओं, धारणाओं, आग्रहों और अभिनिवेशों को तोड़ना आवश्यक है।

महावीर का क्रांत चिंतन

महावीर ने इन आग्रहों को तोड़ने के लिए जो कार्य किया, वह एक बहुत बड़ी क्रांति थी। उन्होंने ग्रन्थों का प्रामाण्य न बतलाकर व्यक्ति का प्रामाण्य बतलाया। यदि ग्रन्थों का प्रामाण्य होता तो जातिवाद पर कभी प्रहार नहीं हो पाता। यदि हम ग्रन्थों की व्याख्या पर ही चलेंगे तो जातिवाद को भी तोड़ा नहीं जा सकेगा। व्यक्ति का अनुभव प्रमाण होता है, वृत्तियां प्रमाण होती हैं, उसका चरित्र और अतीन्द्रिय दर्शन प्रमाण होता है। इस क्रांत दृष्टिकोण ने एक नए दर्शन की स्थापना की और यह स्वर मुखर हो गया—

कम्मणा बंधणो होइ, कम्मणा होइ खत्तिओ।

वइस्सो कम्मणा होइ, सुद्धो हवइ कम्मणा।।

मनुष्य कर्म से ब्राह्मण, कर्म से क्षत्रिय, कर्म से वैश्य और कर्म से शूद्र होता है।

महावीर ने जातिवाद की प्रचलित मान्यता को नया संदर्भ दिया और एक वैचारिक क्रांति घटित हो गई। यदि वह वैचारिक क्रांति मानवीय जीवन में संक्रांत होती तो विश्व में जातिवाद और रंगभेद की समस्या का उद्भव ही नहीं होता। महावीर का यह स्वर जातीय समस्या के समाधान का आधार-सूत्र बन सकता है।

यज्ञ, तीर्थस्थल आदि का आध्यात्मिकीकरण

एक पुरानी कहानी है। राजा ने शुकराज से पूछा—‘शुकराज! तुम इतनी देर से क्यों आए?’ शुकराज ने कहा—‘महाराज! मैं आ रहा था किंतु मेरे सामने एक विवाद आ गया। उसका निपटारा किए बिना मैं कैसे आ सकता था? मैं अपनी जाति का राजा हूँ, शासक हूँ। अपनी जाति के विवादों का निपटारा मुझे करना होता है।’ राजा के मानस में जिज्ञासा उभर आई। उसने पूछा—‘तुम्हारे सामने क्या विवाद था?’ शुकराज बोला—‘जब मैं आपके पास आ रहा था तब दो तोते आपस में लड़ते-लड़ते आए। मैंने उसने पूछा—तुम क्यों लड़ रहे हो? उन्होंने कहा—हम दोनों में विवाद हो गया है। मैंने पूछा—विवाद का कारण क्या है? उन्होंने कहा—इस दुनिया में पुरुष ज्यादा हैं या स्त्रियाँ ज्यादा हैं? यह प्रश्न समाहित नहीं हो रहा है। यही विवाद का कारण है।’

प्रत्येक आदमी अपनी बात के लिए लड़ता है। वह बिना मतलब बहुत लड़ता है। एक बात को लेकर विवाद खड़ा कर देता है, प्रश्न प्रस्तुत कर देता है। प्रश्न सहेतुक हो या अहेतुक, अनेक बार विवाद का रूप ले लेता है। यह प्रश्न भी अनेक बार उभरता रहा है—ज्यादा कौन—पुरुष या स्त्री?

प्रश्न आस्तिक और नास्तिक का

ऐसा ही एक प्रश्न मेरे मानस में उभरा है। इस दुनिया में आस्तिक ज्यादा हैं या नास्तिक? यह प्रश्न भी विवादास्पद बन सकता है। मुझे लगता है—इस दुनिया में नास्तिकों की संख्या बहुत ज्यादा है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया—जो केवल वर्तमान की बात सोचता है, वर्तमान जीवन के विकास की बात सोचता है, वर्तमान जीवन में अधिकतम सुख-सुविधा और संपदा पाने की बात सोचता है, वह सही अर्थ में आस्तिक नहीं हो सकता।

आस्तिक वह होता है, जो अतीत की बात सोचता है, वर्तमान और भविष्य की बात सोचता है। जिसका दृष्टिकोण तीन काल से बंधा हुआ है, वह आस्तिक है। जो केवल वर्तमान की बात सोचता है, वह नास्तिक है, चाहे उसकी मान्यता कुछ भी हो। एक आदमी आत्मा को मानता है, पुनर्जन्म और पूर्वजन्म को मानता है किंतु केवल वर्तमान की बात सोचता है। वह सोचता है—मैं इस जीवन में सुखी रहूँ। भयभीत न रहूँ। मेरे पास पर्याप्त धन-संपदा हो। सुख-सुविधा के साधन हों। वह रात-दिन इसी चिंतन में लगा रहता है। ऐसा व्यक्ति चाहे आत्मवादी कहलाए, धार्मिक कहलाए, पर सही अर्थ में वह नास्तिक होता है। आस्तिक व्यक्ति का दृष्टिकोण होता है—मुझे अतीत के संस्कारों का परिष्कार करना है, निर्जरण करना है, वर्तमान में धर्म का जीवन जीना है और

ऐसा काम करना है, जिससे भविष्य में दुर्गति न हो, भविष्य समुज्ज्वल बना रहे। जिस व्यक्ति में यह चिंतन नहीं होता, उसे आस्तिक कैसे कहा जाए?

व्यक्ति की आकांक्षा

प्रत्येक व्यक्ति इष्ट को पाना चाहता है, अनिष्ट का निवारण चाहता है। इष्टसिद्धि और अनिष्ट-निवारण—ये दोनों तत्त्व प्रत्येक व्यक्ति को काम्य रहे हैं। इष्टसिद्धि और अनिष्ट-निवारण के लिए व्यक्ति धर्म भी करता है, कर्म भी करता है। इष्ट और अनिष्ट—दोनों अनेक प्रकार के होते हैं। जो प्रज्ञावान् हैं, उनकी दृष्टि में इष्ट का आध्यात्मिक रूप ही दोषरहित है, सम्यक् है।

*इष्टसिद्धिरनिष्टस्य, निवारणमभीप्सितम् ।
तदर्थं कर्म धर्मोऽपि, तदर्थं विद्यते नृणाम् ॥
इष्टं नैकविधं तेषां, अनिष्टं चापि नैकधा ।
तेषामाध्यात्मिकं रूपं, निर्दोषं सम्मतं बुधैः ॥*

प्रत्येक व्यक्ति चाहता है—जीवन में अनिष्ट न आए, विघ्न न आए। व्यक्ति अतीत से बंधा हुआ है। उसने अतीत में न जाने क्या-क्या किया है। अतीत का प्रतिक्रमण किए बिना यह संभव नहीं है कि विघ्न न आए, बाधा न आए। यदि वर्तमान जीवन में संयम नहीं है, पवित्रता नहीं है तो भी विघ्न की संभावना को समाप्त नहीं किया जा सकता। अतीत का प्रतिक्रमण और वर्तमान की पवित्रता—ये दोनों बातें होती हैं तो सुखद भविष्य की संभावना जन्म लेती है। धर्म की दो धाराएं

धर्म की दो धाराएं रही हैं—प्रवृत्तिवादी धर्म और निवृत्तिवादी धर्म। प्रवर्तक धर्म का उद्देश्य था—स्वर्ग की प्राप्ति। मीमांसक दर्शन प्रवर्तक धर्म का अग्रणी दर्शन है। मीमांसक धर्म का मुख्य उद्देश्य स्वर्ग-प्राप्ति रहा। आत्मा या मोक्ष की अवधारणा का विकास बाद में हुआ है। मीमांसक दर्शन ने मोक्ष को स्वीकार किया, उसे जीवन का परम लक्ष्य माना, किंतु उसका मुख्य उद्देश्य स्वर्ग की प्राप्ति का रहा। प्रश्न था—स्वर्ग की प्राप्ति कैसे हो? नरक को कैसे टालें? कहा गया—स्वर्ग के लिए यज्ञ करना चाहिए।

प्रवर्तक धर्म में कर्म की प्रधानता होती है। निवर्तक धर्म में ज्ञान की प्रधानता होती है। मीमांसा दर्शन के प्रमुख आचार्य प्रभाकर कर्मवादी हैं। उनकी सृष्टि में कर्म प्रधान है, ज्ञान गौण। वे ज्ञान को स्वतंत्र नहीं मानते। आचार्य शंकर ज्ञानवादी हैं। उनकी दृष्टि में ज्ञान का मूल्य अधिक है, कर्म का मूल्य नगण्य। कर्म ज्ञान का ही अंग है। कुमारिल भट्ट ज्ञान और कर्म—दोनों को स्वीकार करते हैं। मीमांसा के इन तीन आचार्यों की तीन प्रकार की चिंतनधाराएं रही हैं। यज्ञ आदि का सबसे ज्यादा समर्थन आचार्य प्रभाकर ने किया। मीमांसा के पूर्वपक्ष में यज्ञ का समर्थन और विधान है, इसलिए मीमांसा का पूर्वपक्ष कर्मकाण्ड कहलाता है। उत्तरपक्ष में यज्ञ आदि का समर्थन नहीं किया गया। वह ज्ञानकाण्ड कहलाता है।

यज्ञ क्यों?

एक मत रहा—यज्ञ करने से आदमी स्वर्ग में चला जाता है। इस मत का समर्थन करने वाले व्यक्तियों का यज्ञ परम धर्म बन गया। स्थान-स्थान पर यज्ञ के बड़े-बड़े समारोह होने लगे। आयोजन में हजारों व्यक्ति सम्मिलित होते। यज्ञ की परम्परा विस्तार पाती चली गई। जब भगवान महावीर को कैवल्य उपलब्ध हुआ तब इंद्रभृति गौतम आदि ग्यारह दिग्गज विद्वान यज्ञ के निमित्त ही आ रहे थे। एक ही यज्ञ के लिए ग्यारह महापण्डित आए। प्रत्येक पण्डित के पांच सौ-पांच सौ शिष्य थे। उस समय हजारों लोग उस यज्ञ में उपस्थित थे। भगवान् महावीर का योग मिला, ग्यारह पंडितों की दिशा बदल गई। वे यज्ञ-कर्म से निवृत्ति पा भगवान् महावीर के शिष्य बन गए।

श्रेष्ठ याज्ञिक कौन?

आस्तिकता का एक लक्षण है, इष्टसिद्धि और अनिष्ट-निवारण की अभीप्सा। आदमी पाप से बचना चाहता है। वह उसके लिए विभिन्न अनुष्ठान करता है। मुनि हरिकेशबल ने याज्ञिक ब्राह्मणों से कहा—‘अग्नि का समारम्भ करते हुए जल से शुद्धि की मांग कर रहे हो? तुम जिस शुद्धि की बाहर से मांग कर रहे हो, उसे कुशल लोग सुदृष्ट—सम्यग् दर्शन नहीं कहते।

किं माहणा जोइ समारभंता, उदएण सोहिं बहिया विमग्गहा?

जं मग्गहा बाहिरियं विसोहिं, न तं सुदिट्ठं कुसला वयन्ति।।

मुनि ने कहा—‘तुम अग्नि का समारम्भ कर प्राणों और भूतों की हिंसा करते हुए बार-बार पाप करते हो। जहां अग्नि का समारम्भ है, वहां हिंसा है। हिंसा के साथ पाप-कर्म का बन्धन जुड़ा हुआ है।’

ब्राह्मण ने पूछा—‘हे भिक्षो! हम कैसे प्रवृत्त हों? यज्ञ कैसे करें? जिससे पाप कर्मों का नाश कर सकें? आप हमें बताएं—कुशल पुरुषों ने सुदृष्ट—श्रेष्ठ यज्ञ का विधान किस प्रकार किया है?

कहं चरे? भिक्खु! वयं जयामो? पावाइ कम्माइ पणोल्लयामो?

अक्खाहि णे संजय! जक्खपूइया! कहं सुजट्ठं कुसला वयन्ति?

मुनि हरिकेशबल ने इस प्रश्न का बहुत मार्मिक उत्तर देते हुए कहा—‘जो पांच संवरों से संसुवृत होता है, जो असंयम जीवन की इच्छा नहीं करता, जो काय का व्युत्सर्ग करता है, जो शुचि है और जो देह का त्याग करता है, वह महाजयी श्रेष्ठ यज्ञ करता है।’

सुसंवुडो पंचहिं संवरोहिं, इह जीवियं अणवकंखमाणो।

वोसट्ठकाओ सुइचत्तदेहो, महाजयं जयइं जन्नसिट्ठं।।

यज्ञ और तीर्थ-स्थान : आध्यात्मिक दृष्टि

ब्राह्मण सोमदेव की जिज्ञासा का स्रोत फूट पड़ा। उसने पूछा—‘भिक्षो! तुम्हारी ज्योति कौन सी है?’

मुनि बोले—‘तप है ज्योति।’

‘तुम्हारा ज्योति-स्थान (अग्नि-स्थान) कौन-सा है?’

‘जीव ज्योति-स्थान है।’

‘तुम्हारी धी डालने वाली करछियां कौन-सी हैं?’

‘योग—मन, वचन और शरीर की संतु प्रवृत्ति धी डालने की करछियां

हैं।’

‘तुम्हारे अग्नि जलाने के कंडे कौन से हैं?’

‘शरीर अग्नि जलाने के कंडे हैं।’

‘ईधन कौन सा है?’

‘कर्म है ईधन’

‘और शांति पाठ.....?’

‘संयम।’

‘तुम किस होम से ज्योति को प्रीणित करते हो?’

‘ऋषि प्रशस्त अहिंसक होम से।’

‘तुम्हारा जलाशय कौन सा है?’

‘अकलुषित एवं आत्मा का प्रशस्त लेश्या वाला धर्म मेरा जलाशय है।’

‘शांतितीर्थ कौन-सा है? आप कहां नहा कर कर्मरज धोते हैं?’

‘ब्रह्मचर्य है शांति, जहां नहा कर मैं विमल, विशुद्ध, सुशीतल होकर कर्मरज का त्याग करता हूँ।’

वर्तमान शैली

पाप कर्मों का नाश कैसे करें? अधोगति से कैसे बचें? अनिष्ट से कैसे बचें? विमल, विशुद्ध और पवित्र कैसे बनें? ये प्रश्न आस्तिकता के सूचक प्रश्न रहे हैं। इन सभी प्रश्नों का जैनदृष्टि से समाधान दिया गया। हम किसी भी प्रश्न का खंडन न करें। खंडन करने से कोई प्रश्न उत्तरित नहीं होता। खंडन करना आज की शैली नहीं है। खंडन न करना महावीर की शैली रही है। इस संदर्भ में एक युग की चर्चा करना अप्रासंगिक नहीं होगा। जैन परंपरा का मध्य युग—पंद्रह सौ वर्षों का समय जैन परंपरा के अनुकूल नहीं रहा। उसमें कुछ दूसरा प्रभाव आ गया। यदि जैन दार्शनिक महावीर के पदचिन्हों पर चलते तो जैन दार्शनिक ग्रन्थों में दूसरे दर्शनों का खंडन नहीं मिलता। जो दर्शन अनेकांतवाद को स्वीकार करता है, नयवाद को शिरोमणि मानता है, वह दर्शन दूसरे दर्शनों का खंडन करे, यह बात समझ से परे है किन्तु ऐसा हुआ है, इस सचाई को नकारा नहीं जा सकता। अनेक जैन आचार्यों ने खंडन का मार्ग अपनाया किन्तु समय-समय पर अनेक आचार्यों ने महावीर का अनुगमन किया, समन्वय की नीति का प्रयोग किया।

समन्वय ग्रन्थ : शास्त्रवार्ता समुच्चय

आचार्य हरिभद्र सूरि ने एक ग्रन्थ लिखा—शास्त्रवार्ता समुच्चय। वह बहुत अद्भुत ग्रन्थ है। उस ग्रन्थ में सभी दर्शनों का स्पर्श है किन्तु खंडन किसी भी दर्शन का नहीं है। उसमें सभी दर्शनों का नयदृष्टि से समर्थन है। आचार्य हरिभद्र ने शास्त्रवार्ता समुच्चय में ईश्वरकर्तृत्ववाद का भी समर्थन किया है। नय दृष्टि से विचार करें तो कोई भी विचार असत्य नहीं हो सकता। जितने वचन के प्रकार

हैं, बोलने और सोचने के प्रकार हैं, वे सब नय हैं। नय का खंडन कैसे किया जा सकता है? आचार्य समन्तभद्र, सिद्धसेन आदि आचार्यों ने संग्रह और व्यवहार—इन दो दृष्टियों से सांख्य, वेदांत, वैशेषिक आदि दर्शनों का समाहार किया है। एक जैन आचार्य ने कितना मार्मिक लिखा है—जैसे समुद्र में सारी नदियां गिरती हैं वैसे ही सारे विचार अनेकांत के महासमुद्र में समाहित हो जाते हैं। नदियों में समुद्र नहीं है किन्तु समुद्र में सारी नदियां मिल जाती हैं। एकान्त नयों में अनेकान्त नहीं है किन्तु अनेकांत में सारे नय समाहित हो जाते हैं।

कहा गया—हम बौद्ध दर्शन का खंडन कैसे करें, वह तो हमारा ऋजुसूत्र नय का अभिप्राय है। हम वेदान्त का खण्डन कैसे करें, वह संग्रह नय का मंतव्य है।

परम्परा : नया संदर्भ

यह समाहार और समन्वय का दृष्टिकोण सचमुच महावीर का दृष्टिकोण है। महावीर ने यज्ञों का खंडन नहीं किया, जातिवाद का खंडन नहीं किया, तीर्थस्थान का भी खंडन नहीं किया। महावीर ने कहा—‘तुम जो मान रहे हो, उसे निरपेक्ष मत मानो, सापेक्ष मानो। तुम अपनी दृष्टि अहिंसा-सापेक्ष बना लो, तुम्हारा कार्य पवित्र बन जाएगा। हिंसा के स्थान पर अहिंसा की बात जोड़ दो।’ महावीर ने अपने इस दृष्टिकोण से यज्ञ आदि का आध्यात्मिकीकरण कर दिया। महावीर ने प्रत्येक प्रचलित प्रथा को एक नया रूप दिया, नया आयाम दिया। जो व्यक्ति नया विकल्प देना नहीं जानता, वह कभी क्रांतिकारी नहीं हो सकता, समाज-सुधारक नहीं हो सकता। प्रत्येक रूढ़ि को नया रूप दिया जा सकता है। रूढ़ि एक परंपरा होती है। परंपरा खराब ही नहीं होती। उसका नया रूप हो जाए तो वह ग्राह्य भी बन सकती है। भर्तृहरि ने वैराग्य शतक में विवाह के सारे नेकचारों का नवीनीकरण कर दिया। विवाह के अवसर पर सास दामाद का नाक पकड़ती है। आचार्य भिक्षु ने इस प्रथा की आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत कर दी। उन्होंने कहा—‘नाक पकड़ना खराब बात नहीं है। सास नाक पकड़कर कह रही है—न जाने कितने जन्मों से तू काम-भोग और वासना के चक्र में फंसा हुआ है, संसार में भ्रमण करता रहा है। अभी भी तुझे शर्म और लज्जा नहीं आ रही है। तू फिर उसी संसार-चक्र में जा रहा है। तुझे शर्म आनी चाहिए।’

सहज प्रचलित परंपरा का एक नया अर्थ प्रस्तुत हो गया।

मूल्यांकन की दृष्टि

आज हम लोग वैज्ञानिक युग में जी रहे हैं। इस युग में भी दर्शन प्रतिष्ठित है, वह अप्रतिष्ठित नहीं है। आज दर्शन के नये-नये ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं। आज तक सारे दर्शनों का जो मूल्यांकन हुआ है, वह वेदांत के आधार पर हुआ है। दार्शनिक जगत में मूल्यांकन की परंपरा रही है। जैन दर्शन, वैशेषिक दर्शन—इन सबके सिद्धान्त प्रस्तुत करने के बाद लेखक उनका मूल्यांकन करते हैं। जैन दर्शन की कौन-सी मान्यता सम्यक् है और कौन-सी सम्यक् नहीं, लेखक के इस मूल्यांकन की कसौटी का आधार प्रायः वेदांत रहा है। विद्वानों ने मूल्यांकन किया वेदांत को मूल मानकर। यदि कोई विद्वान सारे दर्शनों का

अनेकांत के आधार पर मूल्यांकन करता तो दर्शन को एक नया आयाम प्राप्त होता।

बहुत वर्ष पहले आचार्यवर का चातुर्मास उदयपुर में था। उस समय डा. कमलचंद सौगानी ने एक पत्र लिखा, उसमें दो मांगे प्रस्तुत की। उनका एक प्रस्ताव था—संस्कृत साहित्य का जो इतिहास लिखा गया है, उसमें जैनों का प्राधान्य नहीं रहा है। सारा संस्कृत काव्य मुख्यतः अन्य परम्परा का या लौकिक परम्परा का रहा है। जैन संस्कृत काव्यों का स्थान बहुत गौण रहा है इसलिए संस्कृत साहित्य का इतिहास किसी जैन विद्वान् द्वारा लिखा जाना चाहिए। उनका अनुरोध मेरे लिए था, आज भी वह पत्र हमारे पास सुरक्षित है। उनकी भावना सुरक्षित है किन्तु कार्य नहीं हो सका। योगक्षेम वर्ष में एक बहुत अच्छा सुझाव आया—जैन आचार्य अनेकांतवाद को मानते हुए भी दूसरे-दूसरे दर्शनों का खण्डन करते रहे। योगक्षेम वर्ष में एक ऐसा ग्रन्थ तैयार होना चाहिए, जिसमें सब दर्शनों का स्पर्श हो, चर्चा हो पर खण्डन किसी का न हो। सब दर्शनों का नयदृष्टि से समन्वय साधा जाए। कौन-सा विचार किस नय से प्रतिपादित है और वह किस नय से हमें मान्य है? सारे विचारों के समन्वय से जैन दर्शन का एक नया ग्रन्थ बन जाए और वह सबके लिए ग्राह्य हो जाए, यह अपेक्षित है।

सापेक्षता का दृष्टिकोण

‘यदि सब विचारों को अलग-अलग कर दिया जाए, उन्हें निरपेक्ष बना दिया जाए तो सब विचार मिथ्या हो जाएंगे। यदि उन सारे विचारों को मिला दिया जाए, सापेक्ष बना दिया जाए वे सारे विचार सम्यक् बन जाएंगे।’ आचार्य सिद्धसेन के इस दृष्टिकोण का अर्थ निकाला गया—मिथ्यादृष्टीनां समूहो जैनदर्शनम्—सारे मिथ्या दृष्टिकोणों के समूह का नाम है जैन दर्शन। प्रश्न प्रस्तुत हुआ—अनेक बुराइयाँ हैं, उन सारी बुराइयों को मिला देने से एक अच्छाई कैसे बन जाएगी? सारे गलत दृष्टिकोणों को मिला देने से जैन दर्शन कैसे बन जाएगा? यह बात बड़ी अटपटी लगती है किन्तु इसमें सचाई है। हम सब विचारों को मिलाएं या नहीं, किन्तु उन्हें स्वीकार कर लें।

मध्ययुग में जो अस्वीकार करने की दृष्टि का विकास हुआ, उससे खण्डन की परम्परा को बल मिला। वस्तुतः कोई दृष्टिकोण गलत नहीं है। संग्रह नय कहता है—सब एक है। वेदान्त में कहा गया—ब्रह्म एक है। अन्तर कहाँ रहा? ब्रह्म एक है किन्तु उससे आगे जब विचार का दरवाजा बंद होता है तब अन्तर प्रस्तुत हो जाता है। विचार का दरवाजा बाहर से बंद न करें, दूसरे के विचारों को भी भीतर आने दें।

दूसरा जो कहता है, वह भी सचाई है। किसी भी विचार के प्रति निरपेक्ष न बनें, सापेक्ष बने रहें। जब सापेक्षता का सूत्र पकड़ में आता है, खंडन या अस्वीकार का स्वर मंद हो जाता है। यदि पूछा जाए—क्या यह हाथ शरीर है? कहा जाएगा—हां यह शरीर है। पुनः प्रश्न होगा—हाथ शरीर है तो भुजा क्या है? क्या वह शरीर नहीं है? समाधान दिया गया—शरीर है पर यहीं रुको मत और आगे बढ़ो। आगे बढ़ेंगे तो हमारा कथन होगा—सारे अंग एक-एक अवयव

हैं, सबको मिलाए, एक अवयवी बन जाएगा। मोटर का एक पहिया मोटर है और मोटर नहीं भी है। अगर एक पहिए को मोटर मान कर उसे चलाए, उस पर १०-२० आदमी बैठ जाएं तो फलित क्या होगा? अगर वह मोटर नहीं है, ऐसा मानें और पहिए को निकाल कर फिर मोटर चलाएं तो क्या होगा? क्या मोटर चलेगी?

सबकों एक साथ देखें और कभी-कभी जरूरत हो तो अलग-अलग देखें। अगर हाथ में दर्द है तो हाथ का व्यायाम करें, हाथ की मालिश करें। हाथ को भी अलग देखें, किन्तु शरीर से काटकर नहीं। महावीर का यह दृष्टिकोण हृदयंगम हो जाए तो वैचारिक आग्रह को अवकाश ही न मिले। यदि हम अनेकांत दृष्टि का उपयोग कर पाएं तो हमारी भाषा का प्रकार बदल जाएगा, बोलने की शैली बदल जाएगी, दूसरों के साथ व्यवहार करने की शैली बदल जाएगी। हमारा स्वर यह नहीं रहेगा—

तुम आओ डग एक तो, हम आएँ डग अट्ट।

तुम हमसे करड़े रहो, तो हम हैं करड़े लट्ट॥

हमारे व्यवहार और वाणी में लचीलापन आ जाएगा। अनेकांत की सबसे बड़ी विशेषता है, सोच को लचीला बना देना। इस बात की आज बहुत अपेक्षा है, यह बहुत बड़ा काम है। आज एक करणीय कार्य है—जैन दर्शन के जितने ग्रन्थ पन्द्रहवीं शताब्दी में आचार्य सिद्धसेन से लेकर यशोविजयजी तक लिखे गए हैं, उनमें कहां दूसरे दर्शनों का खंडन किया गया है, उसे खोजा जाए, उस पर पुनर्विचार किया जाए, उसका पुनर्मूल्यांकन किया जाए। यह भी विमर्शनीय है कि जो खंडन किया गया, क्या वह आवश्यक था? अमुक नय की दृष्टि से विचार करते तो खंडन करना कोई जरूरी नहीं था। यह टिप्पणी की जा सकती है कि यह विचार एकान्तदृष्टि से, निरपेक्षदृष्टि से माना जाए तो मिथ्या है। अगर इसे सापेक्षता से स्वीकारा जाए तो बिल्कुल सही है। खंडन के पुनर्वीक्षण में इतनी टिप्पणी ही पर्याप्त हो सकती है।

महावीर का दृष्टिकोण

भगवान् महावीर ने यज्ञ के संदर्भ में, तीर्थस्थान के संदर्भ में जिस दृष्टि का प्रयोग किया, वह अनेकांत का निदर्शन है। भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्य महावीर के पास आए। महावीर ने उन पर अपना विचार नहीं थोपा। महावीर उनसे पूछते—बोलो, पुरुषादानीय पार्श्व ने क्या कहा है? वे उन्हें उनके मंतव्य से ही अभिभूत कर देते। वैदिक विद्वान आए, इन्द्रिभूति गौतम आए। भगवान् ने कहा—तुम कहते हो कि आत्मा नहीं है, लेकिन तुम्हारे वेदों में ऐसा माना गया है। इसका जो निष्कर्ष निकलता है, वह यह है कि हमारा कहीं आग्रह न हो। जिस व्यक्ति में जितना राग, द्वेष प्रबल होगा, वह व्यक्ति उतना ही एकांतवादी होगा। राग, द्वेष और एकांतवादिता को कभी अलग नहीं किया जा सकता। वीतराग का अर्थ है अनेकांत की दिशा में प्रस्थान। जो व्यक्ति जितना राग-द्वेष कम करेगा, अपने आप उसका सम्यक् दर्शन जागेगा, अनेकांत दृष्टि प्रबल होगी।

महावीर ने अनेकांत के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। वीतरागता, समता और अनेकांत—तीनों एक बिन्दु पर पहुंच जाते हैं।

महावीर की साधना-पद्धति का एक प्रतिनिधि शब्द है वीतरागता। जैनधर्म में आदर्श है वीतराग। उसका दर्शन है वीतरागता की साधना का। जैन दर्शन में आस्था रखने वाले व्यक्ति का लक्ष्य है वीतराग होना। चरित्र का अंतिम रूप है वीतरागता। वीतरागता का पहला और अंतिम बिन्दु है समता। समता से बड़ा कोई आचरण नहीं है—समता परम आचरणम्। वीतरागता और समता दो नहीं हैं। वीतराग हुए बिना समता के बिन्दु पर कभी पहुंचा नहीं जा सकता है। जहां समता है वहां एकांत आग्रह नहीं होगा, अनेकांत होगा।

प्रतिस्रोत के पथ पर

भगवान् महावीर के समय में आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक—तीनों प्रकार की समस्याएं थीं। अनेक दर्शनों ने इन पर विचार-मंथन प्रस्तुत किया। आधिदैविक और आधिभौतिक स्थितियों से ऊपर उठकर उनका आध्यात्मिकीकरण कर सारी समस्याओं का समाधान कर देना महावीर जैसे समर्थ व्यक्तित्व के लिए ही संभव था। महावीर सामायिक के प्रवर्तक थे, समता के प्रवक्ता थे इसलिए यह बात संभव बन सकी। जातिवाद, यज्ञवाद और तीर्थस्थान—ये तीन उस समय के जटिल प्रश्न थे। हजारों लोग इन बातों को मानकर चल रहे थे। उस स्थिति में एक नया दर्शन और नया चिंतन देना सचमुच साहस का काम था। बहती धारा के साथ चलना बहुत आसान है। प्रतिस्रोत में चलने का साहस किसी महापुरुष में ही होता है। भगवान् महावीर में ऐसा साहस था। उन्होंने प्रचलित परम्परा के प्रतिकूल सिद्धान्त की प्रतिस्थापना की। उनके सामने वीतरागता का दृष्टिकोण था, अनेकांत दर्शन था इसलिए आधिदैविक और आधिभौतिक प्रश्नों का आध्यात्मिकीकरण सहज संभव बन गया। यज्ञ और तीर्थस्थान के प्रश्न का आध्यात्मिकीकरण उसका एक निदर्शन हैं।

दो भाइयों का मिलन

महाभारत का एक प्रसिद्ध पद्य है—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः, जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।

मैं धर्म को जानता हूँ पर उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं है। मैं अधर्म को जानता हूँ पर उससे निवृत्त नहीं हो पा रहा हूँ।

यह प्रश्न बहुत बार चर्चित हुआ है—धर्म को जानते हुए भी उसमें प्रवृत्त क्यों नहीं हो पाता हूँ? अधर्म को जानते हुए भी उससे निवृत्त क्यों नहीं हो पाता हूँ?

महाभारतकार के इस प्रश्न का सुन्दर समाधान मिलता है उत्तराध्ययन सूत्र में। उत्तराध्ययन सूत्र का तेरहवाँ अध्ययन है—चित्तसंभूतीय। चित्र महान् निर्ग्रन्थ है और संभूति है चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त। मुनि और राजा के बीच बहुत लंबा संवाद चला और उस संवाद में यह प्रश्न उत्तरित हुआ है।

मुनि चित्र ने कहा—‘राजन्! जो इस अशाश्वत जीवन में प्रचुर शुभ का अनुष्ठान नहीं करता, वह मृत्यु के मुख में जाने पर पश्चात्ताप करता है। इसलिए तुम लौकिक सुखों में मत फंसो। इन्हें छोड़कर लोकोत्तर सुख की उपलब्धि के लिए प्रस्थान करो—

इह जीविए राय! असासयाम्मि, धणियं तु पुण्णाइं अकुव्वमाणो।

से सोयई मच्चुमुहोवणीए, धम्मं अकाऊण परंसि लोए।।’

चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त बोला—‘मुनिप्रवर! आप जो कह रहे हैं, वह बिल्कुल यथार्थ है। मैं भी यह जानता हूँ—ये काम-भोग आसक्तिजनक होते हैं किन्तु मुनीश्वर! वे भी हमारे जैसे व्यक्तियों के लिए दुर्जेय हैं।’

फल निदान का

काम-भोगों की दुर्जयता का कारण बताते हुए राजा ने कहा—‘मुनिप्रवर! हस्तिनापुर में चक्रवर्ती सनत्कुमार को देख, काम-भोगों में आसक्त होकर मैंने अशुभ निदान—भोग का संकल्प कर डाला। उस पूर्वजन्म के निदान का मैंने प्रतिक्रमण और प्रायश्चित्त नहीं किया। उसी का फल है कि मैं धर्म को जानता हुआ भी काम-भोगों में मूर्च्छित हो रहा हूँ।

अहंपि जाणामि जहेह साहू! जं मे तुमं साहसि वक्कमेयं।

भोगा इमे संगकरा हवंति, जे दुज्जया अज्जो अम्हारिसेहिं।।

हत्थिणपुरम्मि चित्ता दट्ठूणं नरयइं महिड्डियं।

कामभोगेसु गिद्धेणं, नियाणमसुहं कडं।

तस्य मे अपडिकंतस्स इमं एयारिसं फलं।

जाणमाणो वि जं धम्मं, कामभोगेसु मुच्छिओ।।

चक्रवर्ती ने कहा—‘मैं अपने ही पूर्वकृत कर्म के कारण, स्वयं द्वारा किए गए निदान के कारण आसक्ति में डूबा हुआ हूँ। धर्म को जानता हुआ भी मैं उसमें प्रवृत्त नहीं हो पा रहा हूँ।’

प्रश्न कहीं : उत्तर कहीं

महाभारत और उत्तराध्ययन के इस प्रकरण में कितना साम्य है! हम केवल प्रश्न को ही न छुएँ, समाधान को भी छुएँ। यह दुनिया बड़ी विचित्र है। प्रश्न कहीं पैदा हुआ और उत्तर कहीं दिया गया। प्रश्न पूछा जा सकता है बम्बई में और उत्तर मिल सकता है जैन विश्व भारती में। सीमेंट कहीं बनती है, ईंटें कहीं बनती हैं, चूना कहीं बनता है, इन सबसे मकान और कहीं बन जाता है। एक ग्रन्थकार ने एक समस्या प्रस्तुत कर दी, एक विचार प्रस्तुत कर दिया, व्यक्ति के मस्तिष्क को झकझोर दिया। यह कोई जरूरी नहीं है कि जो प्रश्न खड़ा करे, वही समाधान भी दे। दूसरा ग्रन्थकार समाधान दे देता है, प्रश्न खड़ा नहीं करता। अध्येता के लिए यह जरूरी है कि वह एक ग्रन्थ में प्रश्न खोजे और दूसरे ग्रन्थ में समाधान खोजे। महाभारत के प्रश्न को उत्तराध्ययन में बहुत सुन्दर समाधान मिला और वह तब मिला जब दो भाइयों का मिलन हुआ।

मिलन में से बहुत सारी बातें निकलती हैं। मिलन और सम्मेलन व्यर्थ नहीं होता। सफलता या विकास का एक आधार है मिलन या सम्मेलन। जब मिलते ही नहीं हैं तब विकास की बात ही समाप्त हो जाती है। विकास का पहला चरण है मिलन। दो आंखें मिलती हैं, एक नया संबन्ध पनपता है। अपनी ही दो आंखें मिलती हैं, ध्यान की मुद्रा बन जाती है। निमेष, अनिमेष—ये शब्द मिलन तथा उससे जुड़ी विभिन्न मुद्राओं की सूचना देते हैं। मिलन बहुत काम का होता है। उत्तराध्ययन सूत्र में दो भाइयों के मिलन का जो प्रसंग है, वह बहुत ही रोमांचक है। दो भाई मिले हैं और बहुत ही विचित्र ढंग से मिले हैं।

गाथा मिलन की

चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त अपनी राजसभा में बैठा था। एक नटमण्डली आई। वह नटविद्या में बहुत दक्ष थी। प्राचीन युग में बहुत नाटक खेले जाते थे। नाटककारों का अभिनय कौशल जनता को बांधे रखता था। आज भी नाटक की परम्परा चल रही है। यह सिनेमा का युग है फिर भी नाटक का मूल्य बना हुआ है। आज नाटक का पुनर्जन्म हो रहा है, उसका मूल्य बढ़ रहा है। नाटक में जो सजीवता आती है, वह कभी-कभी व्यक्ति के चेतन मन को अतिक्रान्त कर अवचेतन मन को छू लेती है।

नटप्रमुख ने प्रार्थना की—‘राजन्! हम आपको एवं आपकी प्रजा को प्रमुदित करने वाले नाटकों का प्रदर्शन करना चाहते हैं। राजा ने नट प्रमुख के प्रस्ताव को स्वीकृति दे दी। विशाल मैदान में व्यवस्था की गई। रंगमंच तैयार हो गया। निश्चित समय पर नट मंडली प्रस्तुत हो गई। चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त भी नाटक देखने के लिए पधारे। हजारों-हजारों लोगो की भीड़ उमड़ पड़ी। विशाल मैदान छोटा लगने लगा।

प्रदर्शन था मधुकरी गीत नामक नाट्य-विधि का। बहुत विचित्र होता है यह नाटक। रायपसेणीय सूत्र में नाटक की अनेक विधियों का वर्णन है, नाटक के अनेक प्रकारों का विवेचन है। उनमें प्रमुख नाट्य विधि है मधुकरी गीत। जैसे फूलों पर भंवरा आता है, गुंजारव करता है, कभी किसी फूल पर बैठता है और कभी किसी फूल पर, कभी किसी फूल का रस लेता है और कभी किसी का। एक फूल का रस लिया, आकाश में उड़ गया। दूसरे फूल का रस लिया, आकाश में उड़ गया। वैसे ही मधुकरी गीत नाट्य में फूलमालाएं बिछा दी जाती हैं। नट कभी किसी फूलमाला का स्पर्श करता है और कभी किसी अन्य फूलमाला का। एक फूल का स्पर्श करता है और भंवरे की तरह उड़ जाता है। पुनः आता है, दूसरे फूल का स्पर्श करता है और फिर उड़ जाता है। एक ओर गायन चलता है, वाद्ययंत्रों से विभिन्न प्रकार की नाट्य ध्वनियां निकलती हैं, दूसरी ओर व्यक्ति फूलों के स्पर्श का करतब दिखाता चला जाता है।

मधुकरी गीत नाट्य प्रारम्भ हुआ। एक युवती ने राजा के सामने फूलमालाएं बिछा दीं। नट आता है विभिन्न अदाओं के साथ। फूलमाला का स्पर्श करता है और गायब हो जाता है। मधुर गीत और वाद्ययंत्र की मधुर धुन से वातावरण मधुर बनता जा रहा था। चक्रवती ब्रह्मदत्त मधुकरी गीत में डूबता चला गया। वह बहुत गहरे में उतर गया। उसके मन में विकल्प उठा—ऐसा नाटक कहीं देखा है?

यह जातिस्मृति ज्ञान का पहला चरण है—ऐसा मैंने कहीं देखा है? ऐसा मैंने कहाँ देखा है? चक्रवती इस प्रश्न की गहराई में डूबने लगा। वह चेतन मन की सीमा से अवचेतन मन की सीमा में चला गया। चेतन मन का दरवाजा बंद हो गया। जब व्यक्ति अवचेतन मन के स्तर पर पहुंचता है, जातिस्मृति की भूमिका बन जाती है। अवचेतन की सीमा में पहुंचते ही चक्रवती सिंहासन पर बैठा-बैठा ही मूर्च्छित हो गया। वह मूर्च्छित होकर नीचे गिर पड़ा। उसे अपने शरीर का कोई ध्यान नहीं रहा। राजा को इस अवस्था में देख चारों ओर सन्नाटा छा गया। सारे सभासद और विशिष्ट व्यक्ति राजा के पास पहुंचे। चिकित्सक को बुलाने के लिए राज्यकर्मचारी दौड़ पड़े। मंत्री राजा पर पंखा झलने लगा।

चक्रवती ब्रह्मदत्त भीतर की गहराइयों में डूब रहा था। लोग इस तथ्य को कैसे जान पाते? वे यही सोच रहे थे—राजा मूर्च्छित हो गया है, बीमार हो गया है। वस्तुतः यह कोई बीमारी नहीं थी। यह अचेतन जगत में प्रवेश था। वह भीतर में इतना चला गया कि बाहर की कोई सुध-बुध नहीं रही। बाहरी चेतना समाप्त हो गई। उपचार चला, शीतल हवा के स्पर्श से राजा पुनः सचेत हो गया।

चेतन जगत में आते ही वह पुनः चिन्तन में खो गया। उसके मन में चिन्तन उभरा—मैंने इसे कहीं देखा है? कहाँ देखा है इसे? इस प्रश्न की गहराई में जाते-जाते चेतना का द्वार खुल गया, वह प्रकाश से भर उठा। अतीत का एक-एक पृष्ठ स्मृति-पटल पर उतरने लगा, उसे याद आया—मैंने ऐसा नाटक

सौधर्म देवलोक में पद्मगुल्म नामक विमान में देखा है। इस मधुकरी गीत नाटक को बहुत बार देखा है और यह वही नाटक है।

जातिस्मृति—पूर्वजन्म की स्मृति हो गई। राजा को बहुत आह्लाद मिला—ओह! कितना सुन्दर था सौधर्म कल्प देवलोक और कितना सुन्दर था पद्मगुल्म विमान! कितनी ऋद्धि थी, कितनी समृद्धि और कितना वैभव था! उसके सामने चक्रवर्ती का वैभव कुछ भी नहीं है। अपने अतीत के वैभव को देखकर चक्रवर्ती पुलकित हो उठा। किन्तु इस पुलकन के साथ-साथ वेदना भी उभर आई। उसने सोचा—अरे! मेरा भाई कहां गया? एक नया प्रश्न खड़ा हो गया। मेरा भाई कहां है? मैं अकेला हो गया। अपने भाई से बिछुड़ गया। मन में एक अकुलाहट और वेदना का भाव प्रबल हो गया। उसकी पीड़ा फूट पड़ी। वह बार-बार इस अर्द्ध श्लोक को दोहराने लगा—

आस्व दासौ मृगौ हंसौ, मातंगावमरौ तथा।

मंत्री वरधनु ने देखा—सम्राट को क्या हो गया? पहले तो मूर्च्छित हुए थे। अब लगता है—दिमाग में कोई अस्त-व्यस्तता आ गई है। बहुत बार ऐसा होता है, जब कोई भीतर का दरवाजा खुलता है, आन्तरिक अनुभूतियां जागती हैं, उस समय आदमी जो चेष्टाएं करता है, जो सोचता और बोलता है, तब दूसरों को ऐसा लगता है, व्यक्ति पागल हो गया है। इस प्रकार की घटनाएं बहुत बार घटती हैं। ध्यान की गहराई में जाने वाला व्यक्ति भी ऐसी स्थिति में चला जाता है। देखने वाले लोग सोचते हैं—अमुक व्यक्ति को क्या हो गया? वे घबरा जाते हैं।

अलग-अलग दुनिया हैं। एक समझदारी की दुनिया है। वहां समझदारी यह है—जो बनी-बनाई सीमा-रेखा है, उसमें रहे, वह समझदार है। जो उससे थोड़ा इधर-उधर चला जाए, वह पागल है। एक दूसरी दुनिया है, जिसमें जीने वाले लोग सोचते हैं—वे सब पागल हैं, जो मूर्च्छा से ग्रस्त हैं, विषय-भोगों में मूढ़ बने हुए हैं।

ऐसा ही कुछ हो रहा था चक्रवर्ती की सभा में। चक्रवर्ती जनता को पागल समझ रहा था और जनता चक्रवर्ती को पागल समझ रही थी। यह एक विचित्र स्थिति थी। मंत्री वरधनु ने सोचा—चक्रवर्ती को क्या हो गया है? कहीं पागला तो नहीं गया है? बार-बार अर्थहीन बात बोलता जा रहा है। कुछ भी अर्थ समझ में नहीं आ रहा है। क्या कह रहे हैं? कुछ भी पता नहीं चल रहा है। वरधनु मंत्री ही नहीं था, राजा का मित्र भी था। उसने कहा—राजन्! आप क्या कर रहे हैं? बार-बार इस प्रकार की असंबद्ध बातें करना अच्छा नहीं लगता। सामने नाटक हो रहा है, हजारों संभ्रान्त नागरिक खड़े हैं। अनेक देशों के राजा यहां आए हुए हैं, उन पर क्या असर होगा?

चक्रवर्ती बोला—‘क्या अच्छा नहीं लगता? तुम जाओ और यह घोषणा कर दो—जो इस श्लोक को पूरा करेगा, उसे आधा राज्य दूंगा।’

मंत्री यह सुनकर सन्न रह गया। क्या आज सचमुच ही राजा के दिमाग का कोई तंतु ढीला हो गया है? एक श्लोक की पूर्ति करने वाले को आधा राज्य! मंत्री बोला—‘महाराज! आप क्या कह रहे हैं?’

‘कुछ नहीं, तुम बैठ जाओ।’ यह कहते हुए चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त ने राजसभा में घोषणा कर दी—‘जो इस श्लोक को पूरा करेगा, उसे आधा राज्य दूंगा—

आस्व दासौ मृगौ हंसौ, मातंगावमरौ तथा।

चक्रवर्ती का आधा राज्य कितना विशाल होता है! एक श्लोक की पूर्ति करने वाले को चक्रवर्ती का आधा राज्य मिलेगा, इस घोषणा से तीव्र हलचल मच गई। सबके मन में एक गुदगुदी पैदा हो गई। लोग सोचने लगे—कितना अच्छा हो कि श्लोक पूरा करें और आधा राज्य पाएं। मंत्री वरधनु के मन में भी श्लोक पूरा करने की कामना आई होगी पर श्लोक पूरा कैसे करें? अनेक लोगों ने श्लोक की पूर्ति की पर सफल नहीं हो सके। चक्रवर्ती जिस रूप में पूर्ति चाहता था, वह संभव नहीं बन सकी।

यह घोषणा चारों ओर फैल गई। पूरे साम्राज्य में यह आधा श्लोक जन-जन के मुंह उच्चरित होने लगा।

एक दिन एक चरवाहा अपनी गायों और भैंसों को चरा रहा था। वह एक कुए की मेंढ पर खड़ा था और बार-बार इसी श्लोक को दोहरा रहा था। ऐसा योग मिला—उसके पास ही पेड़ की छांव में एक मुनि ध्यान में लीन थे। उन्होंने यह श्लोक सुना। मुनिवर पहले ही जातिस्मृति ज्ञान को उपलब्ध हो चुके थे।

ऐसा लगता है, महावीर के शासन में जातिस्मरण की प्रक्रिया बहुत प्रखर बन गई थी। जातिस्मृति ज्ञान के सैकड़ों-सैकड़ों प्रसंग आज भी उपलब्ध हैं। यदि पूरे उपलब्ध होते तो हजारों-हजारों प्रसंग बन जाते। आगमों में ऐसे प्रसंग भरे हुए हैं—अमुक व्यक्ति को जातिस्मरण हुआ और वह मुनि बन गया। अमुक व्यक्ति को जातिस्मृति उपलब्ध हुई और उसमें वैराग्य का भाव जाग गया, मूर्च्छा का चक्र टूट गया। महावीर की यह पद्धति रही है—जातिस्मरण कराओ, संसार की वास्तविकता का दर्शन कराओ, वैराग्य का स्रोत फूट पड़ेगा।

मुनि चित्र को जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त था। श्लोक सुनते ही मुनि ने उसको पूरा करते हुए श्लोक का उत्तरार्थ सुना डाला। चरवाहे ने यह श्लोक-पूर्ति सुनी। उसने सोचा—यदि यह श्लोक-पूर्ति सही होगी तो मुझे आधा राज्य मिल जाएगा। वह मुनि के पास आया। उसने मुनि को प्रणाम कर निवेदन किया—‘मुनिवर! आप इस श्लोक को पुनः सुनाएं।’ उसने वृक्ष के एक बड़े पत्ते को उठाया और मुनिवर द्वारा बोला गया श्लोक उस पत्र पर उतार लिया। उसे लिखा ही नहीं, याद भी कर लिया। वृक्ष के पत्ते का क्या भरोसा? कब टूट जाए? वह चरवाहा एक हाथ में पत्ता लिये जा रहा है और उस याद किए हुए श्लोक को दोहराता जा रहा है। मन में उमंग लिए वह चक्रवर्ती की राजसभा में पहुंचा। द्वारपाल ने गेट के बाहर रोक दिया। चरवाहा बोला—‘मुझे मत रोकें, जाने दो। मैं श्लोक की पूर्ति करने के लिए आया हूँ।’ द्वारपाल से अनुज्ञा लेकर वह भीतर

पहुँचा। चक्रवर्ती को नमस्कार कर निवेदन किया—‘महाराज! मैंने श्लोक पूरा कर दिया है।’

चक्रवर्ती ने कहा—सुनाओ अपना श्लोक।

चरवाहे ने मुनि के द्वारा रचा गया पद्य बोल दिया—

आस्व दासौ मृगौ हंसौ, मातंगवमरी तथा।

एषा नौ षष्ठिका जातिः, अन्योन्याभ्यां वियुक्तयोः॥

जैसे ही इस श्लोक को सुना, चक्रवर्ती मूर्च्छित हो गया। वह सिंहासन से नीचे गिर पड़ा। यह देख राज्य कर्मचारी उस चरवाहे को डांटने लगे—‘बेवकूफ हो तुम। कहीं ऐसा श्लोक बनाकर लाया जाता है। तुमने राजा को मूर्च्छित कर दिया।’ यह कहते हुए राज्य कर्मचारियों ने चरवाहे की पिटाई शुरू कर दी। आधा राज्य मिलना तो कहीं रहा, मार और पड़ने लगी। उसने सिसकते हुए कहा—‘मुझे मत मारो! यह श्लोक मैंने नहीं बनाया है।’

यह सुनते ही चक्रवर्ती सावधान हो गया। चक्रवर्ती ने पूछा—‘किसने बनाया है यह श्लोक?’

चरवाहे ने कहा—‘राजन्! कुए के पास एक मुनि खड़े हैं। उन्होंने यह श्लोक बनाया था और उसको मैंने यहां सुनाया है।’

चक्रवर्ती तत्काल खड़ा हो गया। उससे रहा नहीं गया। वह चरवाहे को साथ ले चल पड़ा। आगे चरवाहा चल रहा है, उसके पीछे चक्रवर्ती चल रहा है और उसके पीछे हजारों लोगों की भीड़ है। वे नगर को पार कर बाहर आए। चरवाहे ने कुए के पास पहुँच कर पेड़ के नीचे खड़े मुनि की ओर इशारा किया। चक्रवर्ती तेज कदमों से मुनि के समीप पहुँच गया। चक्रवर्ती ने देखा—मुनि ध्यानमुद्रा में लीन हैं। उन्हें देखते ही चक्रवर्ती के भीतर स्नेह जाग गया। उसे यह प्रतीति हो गई—यही है मेरा भाई। मैंने अपने भाई को पा लिया।

चक्रवर्ती मुनि को संबोधित करते हुए बोला—‘भइया! मैं आ गया हूँ।’

मुनिवर ने ध्यान पूरा किया। उसने भी चक्रवर्ती को पहचान लिया। बिछुड़े हुए दो भाई मिल गए। इसे दो भाइयों का मिलन कहा जाए या दो जातिस्मरणों का मिलन कहा जाए। मुनि को भी पूर्वजन्म की स्मृति और चक्रवर्ती को भी पूर्वजन्म की स्मृति। दोनों देख रहे हैं अपने अतीत के सारे चित्र को। रील का ऐसा फीता खुल गया कि अनेक जन्मों के दृश्य साक्षात् होते चले गए। अतीत की गाथा

चक्रवर्ती बोला—‘भाई! इससे पहले जन्म में हम सौधर्म कल्प देवलोक में पद्मगुल्म विमान के देवता थे। उससे पहले हम मातंग थे, चांडाल पुत्र थे। उस समय हमारे में क्या-क्या नहीं बीता! कैसे हमें नगर से निकाला गया! कितने अच्छे गायक थे हम! इतने कष्टों के बाद भी हमने साथ नहीं छोड़ा। उसी भव में हम दोनों मुनि बन गए। इससे पूर्वजन्म में हम गंगा नदी के तीर पर हंस-युगल हुए। उससे पहले जन्म में हम दोनों कालिंजर पर्वत पर मृग बने और शिकारी के एक ही बाण से हम दोनों की मृत्यु हो गई। उससे पूर्वजन्म में हम दास थे। आज हमारे सामने पांच भव प्रत्यक्ष हैं—दास का भव, मृग का भव, मातंग पुत्र

का भव और सौधमं कल्प देवलोक का भव। इनसे पहले कोई ऐसा जन्म आ गया है, ऐसी स्थिति आ गई है, जिससे हम उससे आगे के जन्मों को नहीं जान पा रहे हैं।’

जातिस्मरण ज्ञान संज्ञी भवों को जानने वाला ज्ञान है। जहां अमनस्क का जीवन बीच में आ जाता है, वहां से आगे नहीं देखा जा सकता।

चक्रवर्ती ने कहा—‘भाई! हम पांच जन्मों को देख रहे हैं। इन जन्मों में हम सदा एक-दूसरे के साथ रहे हैं। यह छटा भव है, जिसमें हम दोनों बिछुड़ गए। भाई चित्र! तूने स्नेह पाला ही नहीं और मुझसे अलग हो गया। अनेक जन्मों का यह साथ छूट गया।’

मुनि चित्र ने कहा—‘राजन्! तुम सोचो। अलग मैं हुआ या तुम हुए? अलग कौन हुआ? तुम निदान नहीं करते तो हम अलग नहीं होते। तुमने संयम पाला, साधना की और अन्त में निदान कर लिया। तीव्र आसक्ति और मूर्च्छा के साथ संकल्प कर लिया। इसका परिणाम है—हम बिछुड़ गए।’

चक्रवर्ती बोला—‘भाई! मैंने निदान किया तो क्या बुरा किया? तुम्हें भी कर लेना चाहिए था निदान। मैंने निदान किया इसलिए चक्रवर्ती का साम्राज्य भोग रहा हूँ। तुमने नहीं किया इसलिए जंगल में अकेले खड़े हो। न कोई नौकर है और न कोई चाकर।’

चक्रवर्ती का प्रलोभन

चक्रवर्ती ने कहा—‘भाई! जो होना था, हो गया। अब हम मिल गए हैं। आओ। मेरे साथ चलो। इस साधुपन को छोड़ो। देखो! मेरे पास कितने विशाल, भव्य और रमणीय प्रासाद हैं! कितना वैभव है! कितनी ऋद्धि है! सुख-सुविधा के सारे साधन प्राप्त हैं। जो कुछ चाहिए, वह सब कुछ है। तुम इस साधु-वेश को त्याग दो। मैंने घोषणा की थी—जो अधूरे श्लोक को पूरा करेगा, उसे आधा राज्य दूंगा। तुमने उस श्लोक को पूरा किया है। मैं तुम्हें आधा नहीं, पूरा राज्य दे रहा हूँ। तुम आओ, राज्य का उपभाग करो, मैं तुम्हारी सेवा में रहूंगा।’

कितना बड़ा प्रलोभन! इस स्थिति में मुनि चित्र ने जिस आंतरिकता का परिचय दिया, वह भी अद्भुत है। जो व्यक्ति अलौकिक सुख की अनुभूति में चला जाता है, उसे लौकिक सुख फीके लगने लग जाते हैं। कहा गया—जिसने अलौकिक सुख का पा लिया है, उसे सोना पत्थर या मिट्टी के ढेले जैसा लगता है। सामान्य आदमी यह कल्पना भी नहीं कर सकता कि ऐसा रूपांतरण भी व्यक्ति में हो सकता है किन्तु जब अलौकिक अवस्था जाग जाती है तब ऐसा घटित हो जाता है।

मुनि चित्र ने कहा—‘तुमने मुझे चक्रवर्ती का साम्राज्य भोगने का आमंत्रण दिया है। मैं तुम्हें सारे संसार के साम्राज्य का निमंत्रण दे रहा हूँ, विश्व साम्राज्य का निमंत्रण दे रहा हूँ। तुम्हें ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक—तीनों लोकों का स्वामित्व मिलेगा। चक्रवर्ती के साम्राज्य से बड़ा है तीन लोक का साम्राज्य। तुम आओ, उस साम्राज्य का उपभोग करो।’

चक्रवर्ती ने कहा—‘कहां है तुम्हारे पास तीन लोक का साम्राज्य?’

‘राजन्! क्या तुम जानते हो—तीन लोक का अधिपति कौन होता है?’

‘तुम बताओ! कौन होता है तीन लोक का स्वामी?’

‘जो अकिंचन है, वह तीन लोक का स्वामी है।’

बड़ा कौन

यह बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है—पूर्णता के शिखर बिंदु पर कौन पहुंच सकता है? पूर्ण साम्राज्य किसका हो सकता है? एक करोड़पति आदमी को बड़ा माना जाता है पर एक अरबपति के सामने वह छोटा है। एक अरबपति खरबपति के सामने कुछ नहीं है। एक सम्राट् के वैभव के सामने ये सब छोटे पड़ जाते हैं। क्या एक सम्राट् बहुत बड़ा है? दूसरा सम्राट् उससे भी बड़ा हो सकता है। सिकन्दर विश्वविजयी था। नेपोलियन भी बहुत बड़ा सम्राट् था। जब उनसे बड़ा कोई आया, वे छोटे पड़ते चले गए। यह मनुष्य लोक की बात है। इसमें कोई छोटा हो जाता है और कोई बड़ा। हम इससे आगे बढ़ें। देवलोक की समृद्धि को देखें। माना जाता है—व्यंतर देवता के पैर के जूते में जितना धन है उतना धन समूचे मनुष्य लोक में नहीं है। कौन बड़ा है ओर कौन छोटा? ज्योतिषी, भवनपति और अनुत्तर विमान के देवताओं के पास वैभव क्रमशः अधिक है। सर्वार्थसिद्ध के देवताओं का वैभव उनसे भी अधिक है। इन्द्र का वैभव सामने हो तो राजा दशार्णभद्र का वैभव छोटा ही पड़ेगा।

मुनि चित्र ने संभूति से कहा—‘भाई! जब तक किंचन रहेगा तब तक सबसे बड़ा नहीं बन पाएगा। तुम चक्रवर्ती हो पर देवता तुमसे भी बड़े हैं। जहां किंचनता है वहां छुटपन और बड़प्पन का मापदण्ड चलता रहेगा। सबसे बड़ा बनने का सूत्र है—अकिंचनता। जो अकिंचन हो गया, वह सबसे बड़ा बन गया।’

अनेक बार यह स्वर उभरता है—आचार्यवर जितने बड़े-बड़े प्रासादों में रहे हैं, करोड़ों-अरबों रुपये के सुविधा संपन्न भवनों में रहे हैं उतने मकानों में दुनिया का कोई व्यक्ति रहा है या नहीं। आचार्यवर पचास वर्षों की पद-यात्रा में इतने गांवों में गए हैं, इतने मकानों में रहे हैं, जिनकी गणना करना भी कठिन है। राष्ट्रपति भवन में रहे, प्रधानमंत्री निवास में रहे, मुख्यमंत्री संपूर्णानंद की कोठी में रहे। अनेक राज्यपाल-भवनों में रहे, ऊंटी के राजभवन में रहे, बड़े-बड़े कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में रहे। इतने बड़े-बड़े मकानों में कितने व्यक्ति रह पाते हैं! बाइमेर जिले में रेतीले टिब्बे पर बनी घास-पूस की झोपड़ी में रहे, जहां रात भर बिच्छुओं और मच्छरों का परीषह रहा। झोपड़ी से लेकर राष्ट्रपति भवन तक—आचार्यवर का प्रवेश अबाध रहा है। कितना मूल्य है उन सबका! प्रश्न हो सकता है—इतने मकानों में कैसे रहे? समाधान दिया गया—जो अकिंचन हो जाता है, उसके लिए सारे दरवाजे खुल जाते हैं, वह तीन लोक का अधिपति बन जाता है। पूर्णता का बिन्दु है अकिंचन होना।

चर्चा सुख-दुःख की

चित्र और संभूति के बीच बहुत लंबा संवाद चला। चित्र उसे मुनि बनने की प्रेरणा दे रहा है और चक्रवर्ती उससे मुनित्व को छोड़ने के लिए प्रार्थना कर रहा है। उत्तराध्ययन के तेरहवें अध्ययन में दोनों भाइयों का संवाद प्रस्तुत है।

वह संवाद बहुत मननीय है। उसमें कर्म की अनेक गुत्थियां सुलझाई गई हैं। आज कर्म के बारे में अनेक प्रश्न खड़े हो रहे हैं। एक प्रश्न है—धन किससे मिलता है? क्या वह पुण्य का फल है? वह पुण्य से मिलता है या नहीं? वैभव किससे मिलता है? एक बहुत सुखी है और एक दुःखी है। इसका कारण क्या है? ऐसे अनेक प्रश्न आज चर्चित हो रहे हैं। चित्र और संभूति इन्हीं प्रश्नों पर चर्चा कर रहे थे।

चित्र कह रहा था—‘तुमने क्या किया और क्या पाया?’ संभूति कह रहा था—‘तुमने क्या पाया और क्या खोया?’ हमने सुख का फल भी भोगा है, दुःख का फल भी भोगा है। हमारा जन्म कर्म के अधीन है। वह सुखद हो या दुःखद। सात संवेदन या असात संवेदन की अनुभूति कृत-कर्म का परिपाक है—

कर्माधीनं भवेज्जन्म, सुखदं दुःखदं तथा।

सातसंवेदनं तद्वद्, असातस्यापि वेदनम्॥

सुख और दुःख के विपाक की चर्चा कर्म-विपाक की चर्चा है। कर्म-विपाक की चर्चा किए बिना कोई व्यक्ति आध्यात्मिक नहीं बन सकता। अध्यात्म की गहराई में जाने का एक महापथ है—कर्मशास्त्र। जो व्यक्ति कर्मशास्त्र को नहीं जानता, कर्मशास्त्र की गहराइयों में जाना नहीं चाहता, वह अध्यात्म की बात को सतही तौर पर ही पकड़ पाएगा। अध्यात्म में उसका अन्तःप्रवेश नहीं होगा। अध्यात्म की गहराई में जाने के लिए कर्म के रहस्यों को, कर्म के मर्म को समझना बहुत जरूरी है।

आर्य-कर्म का उपदेश

चित्र और संभूति ने कर्म-विपाक का विश्लेषण किया। पूर्वकृत कर्म, पुण्य का विपाक, पाप का विपाक आदि को देखा। मुनि चित्र ने कहा—‘भाई! तुम याद करो। हमने अपने पूर्वजन्मों में क्या-क्या भोगा है? जब हम चांडाल थे तब हमारे साथ क्या-क्या बीता? आज तुम गर्व कर रहे हो कि पूर्वकृत कर्म के कारण मुझे यह सब मिला है।’

चित्र का यह संबोधन सुनकर भी चक्रवर्ती की मूर्च्छा नहीं टूटी।

मुनि चित्र ने उसकी मनःस्थिति को पढ़ा। उसने कहा—‘संभूत! मुझे लगता है—तुम वैराग्य को नहीं पा सकते। तुम साम्राज्य का मोह नहीं छोड़ सकते पर तुम मेरी एक बात मानो। तुम अनार्य कर्म मत करो। यदि मुनि नहीं बन सकते तो गृहस्थ रहते हुए भी धर्म में स्थित रहो, सब जीवों के प्रति अनुकंपा करो—

जइ ता सि भोगे चइउं असत्तो, अज्जाइं कम्माइं करेहि रायं।

धम्मे ठिओ सव्वपयाणुकंपी, तो होहिसि देवो इओ विउव्वी॥

यह कहा जाता है—जैन धर्म में केवल अकर्म की बात है। निवृत्ति पर बल दिया गया है। इस संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण सूत्र मिलता है—जो विरक्त नहीं हो सकता, सारे भोगों को छोड़ नहीं सकता, वह आर्य-कर्म तो करे।

बौद्ध साहित्य में आर्य-कर्म की बहुत अच्छी व्याख्या की गई है। आर्य-कर्म का अर्थ है—धर्म में स्थित रहना और सब जीवों के प्रति अनुकंपा

करना। इसका तात्पर्य है—करुणा और संवेदनशीलता जग जाए। जिसमें अनुकंपा का भाव है, वह मिलावट नहीं कर सकता, अप्रामाणिकता और भ्रष्टाचार नहीं कर सकता। जिसमें अनुकंपा है, वह दूसरे को थोखा नहीं दे सकेगा, लूट नहीं सकेगा। जीवन की महत्त्वपूर्ण घटना है—अनुकंपा के भाव का जागना। यदि प्राणीमात्र के प्रति अनुकंपा का भाव जाग जाए तो हिंसा और अपराध की समस्या स्वतः कम हो जाए। जिस व्यक्ति की संवेदनशीलता प्रबल है, दूसरों के कष्ट से उसका हृदय द्रवित हो जाएगा।

आर्य-कर्म करने का सन्देश सुनकर भी राजा प्रतिबुद्ध नहीं हुआ। मुनि ने यह जानकर वहां से विहार कर दिया। दो भाई मिल कर पुनः बिछुड़ गए। एक त्याग के पथ पर बढ़ गया और एक भोगों में पुनः लिप्त हो गया। यदि हम आर्य-कर्म के मर्म की बात को समझ पाएं तो यह प्रसंग एक नई दृष्टि और नया दर्शन देने वाला सिद्ध हो सकता है।

जब सत्य को झूठलाया जाता है

जब-जब जिज्ञासा प्रबल होती है तब-तब किसी का द्वार खटखटाना होता है। जिसने दरवाजा खटखटाया है, उसने समाधान पाया है। जो बैठा रहता है, वह समाहित नहीं हो पाता।

शिष्य जिज्ञासा को लेकर आचार्य की सन्निधि में पहुँचा। आचार्य ने पूछा—‘वत्स! कैसे आए हो?’

‘भंते! मन में एक जिज्ञासा है। उसका समाधान पाने आया हूँ।’

‘क्या जिज्ञासा है तुम्हारी?’

‘भंते! सत्य बलवान होता है या भाव-विप्लव। भाव का परिवर्तन होता रहता है। कभी एक भाव आता है और कभी दूसरा भाव आ जाता है, यह भाव का विप्लव बलवान है या सत्य?’

‘वत्स! जब ज्ञान का उपयोग होता है तब सत्य बलवान होता है। जब क्रोध, लोभ, मोह आदि का उपयोग होता है तब भाव-विप्लव बलवान होता है।’

सत्यं बलयुतं यद् वा, बलवान् भावविप्लवः।

ज्ञानोपयोगे सत्यं स्याद्, अन्यो मोहचिदःक्षणे।।

आचार्य ने सत्य की थोड़े शब्दों में बहुत सुन्दर परिभाषा दी है। सत्य है ज्ञान का उपयोग। असत्य है भाव का विप्लव। यह सत्य और असत्य को परखने की बहुत बड़ी कसौटी है। जब-जब ज्ञान का केवल उपयोग होता है, उसके साथ कोई मिश्रण नहीं होता तब-तब सत्य बलवान होता है। जब वह क्रोध, मान, माया और लोभ से युक्त होता है तब-तब असत्य बलवान हो जाता है। भगवती सूत्र में कहा गया है—जब व्यक्ति क्रोध, मान, माया और लोभ से उपयुक्त होता है, जिस क्षण में इन औदयिक भावों का आवेश हमारी चेतना में प्रबल बनता है, उस समय असत्य बलवान बन जाता है।

असत्य की उत्पत्ति के चार कारण बतलाए गए हैं—क्रोध, लोभ, भय और हास्य। आदमी झूठ बोलना नहीं चाहता, मिथ्या आचरण करना नहीं चाहता, सिद्धांत और वाणी का असत्य भी नहीं चाहता किंतु जब ये चार आवेश प्रबल होते हैं, तब सच्चाई नीचे चली जाती है, असत्य उभर कर सामने आ जाता है।

असत्य बोलने के कारण

दर्शनशास्त्र में आप्त पुरुष की बहुत चर्चा हुई है। कहा गया—जो आगम हैं, वे प्रमाण हैं। प्रश्न आया—आगम प्रमाण है, इसका क्या प्रमाण है? कहा गया—आगम आप्त की वाणी है और आप्त कभी झूठ नहीं बोलता। झूठ बोलने के तीन कारण हैं—राग, द्वेष और मोह। व्यक्ति इन तीन कारणों से झूठ बोलता है। जिसमें ये तीनों दोष नहीं होते, वह झूठ क्यों बोलेगा?

रागाद् वा द्वेषाद् वा मोहाद् वा यद् वाक्यमुच्यते ह्यनृतम् ।
यस्य तु नैते दोषाः तस्यानृतकारणं किं स्यात् ॥

जिसमें मोह नहीं है, राग और द्वेष नहीं है, वह सत्य ही बोलेगा। वह अयथार्थ को ग्रहण नहीं करता, यथार्थ को ही ग्रहण करता है इसलिए यथार्थ ही कहेगा। उसमें केवल ज्ञान का उपयोग होता है।

जीव का लक्षण है उपयोग आत्मा। क्रोधोपयोग और मानोपयोग जीवन का लक्षण नहीं है। जीव का लक्षण है केवल उपयोग, शुद्ध उपयोग। जब जीव अपने लक्षण से लांछित या चिह्नित होता है, उस क्षण में सब सत्य ही सत्य होता है, किन्तु जब उपयोग के पीछे कोई विशेषण जुड़ता है, क्रोध, मान, माया, लोभ, भय, हास्य आदि का योग होता है तब सत्य गौण हो जाता है, असत्य बलवान हो जाता है।

बदलाव का चक्र

जीवन में बदलाव का एक चक्र चल रहा है। प्रत्येक व्यक्ति बदलता है। वह प्रतिदिन ओर प्रतिक्षण बदलता है। वह इतना बदलता है, फिर भी हम कभी कभी ही उस बदलाव को पकड़ पाते हैं। अवस्था में आने वाला बदलाव भी रोज नहीं पकड़ा जाता। एक शिशु दस वर्ष का होता है तब बदलाव का पता चलता है। हम सोचते हैं शिशु किशोर हो गया, दूसरी अवस्था में चला गया। जब बीस वर्ष के आस-पास पहुंचता है तब एक और बदलाव की बात सामने आती है। जब पचास वर्ष का होता है तब वह प्रौढ़ बनता है। इन बदलावों के आधार पर जैन आचार्यों ने सौ वर्ष की आयु को दस अवस्थाओं में बांट दिया। दस-दस वर्ष की एक अवस्था। सौ वर्ष जीने वाला व्यक्ति इन अवस्थाओं को भोग लेता है। सूर्य में भी बदलाव आता है। जो सौर वैज्ञानिक हैं, वे उस बदलाव को पकड़ लेते हैं। सूर्य के भी दस वर्ष का एक चक्र होता है। उस चक्र के आधार पर बदलाव को पकड़ा जाता है। प्रतिदिन होने वाला बदलाव हमारी पकड़ में नहीं आता। प्रातःकाल सूर्योदय होते ही वातावरण में एक बदलाव आता है। ज्यों-ज्यों दिन चढ़ता है, वातावरण बदलता जाता है। दो तीन घण्टे बाद वातावरण एकदम बदल जाता है। एक-एक मिनट में बदलाव आता है पर हम उसे पकड़ नहीं पाते। यह सूक्ष्म होता है।

हम व्यक्ति की मनःस्थिति को देखें। वह कब एकरूप रहती है? यदि हम एक दिन कागज पेंसिल लेकर बैठे और दिन भर बदलते मूड को अंकित करते चलें तो पूरा पृष्ठ मूड परिवर्तन की घटनाओं से भर जाएगा। संभव है एक पूरी कॉपी भर जाए। हमारा मूड अपने आप भी बदलता है और बाहरी निमित्तों के कारण भी बदलता है। हमारी भावधारा बदलती रहती है, हमारे हाव-भाव और मुद्राएं बदलती रहती हैं। केवल अन्तर्मन नहीं बदलता। एक आदमी किसी आकृति को एक दिन तक पढ़ता रहे तो उसे लगेगा आकृति में कितने बदलाव आए हैं—कभी प्रसन्न आकृति और कभी विषण्ण। कभी खुश तो कभी नाराज। कभी हंसमुख और कभी चिंतातुर। कभी सिर पर हाथ धरे बैठा है और कभी उत्साह के क्षण में। आदमी क्षण-क्षण में बदलता है। आदमी कुछ होता है और

कुछ बन जाता है। हम उस बदलाव को पकड़ें। जब औदयिक भावों का परिवर्तन होता है तब आदमी असत्य में चला जाता है। जब बदलाव नहीं, ठहराव आता है, तब आदमी उत्पाद-व्यय से मुक्त होकर ध्रौव्य की अवस्था में चला जाता है। जब औदयिक भाव से मुक्त होकर पारिणामिक भाव में आता है तब जो स्थिति बनती है, उसमें सत्य बलवान होता है।

देवता की चिन्ता

आचार्य ने अपनी बात को स्पष्ट करते हुए एक उदाहरण प्रस्तुत किया। दो देवताओं के देवलोक से च्युत होकर धरती पर आने का समय निकट आ गया। उनकी मालाएं कुम्हलाने लग गईं, चेहरे पर झुर्रियां पड़ गईं। देवताओं ने देखा—यह क्या हो रहा है? माला क्यों कुम्हला रही है? चेहरे पर झुर्रियां क्यों आ रही हैं? वे गहराई में उतरे, रहस्य समझ में आ गया—माला कुम्हलाना और बुढ़ापा उतरना मौत का पूर्व संकेत है। देवताओं की माला सदा पुष्पित रहती है, उनका चेहरा सदा तरोताजा रहता है। जब देवलोक से च्युत होने का समय निकट आता है तब माला कुम्हलाने लगती है, चेहरे पर झुर्रियां पड़ने लग जाती हैं। देवता चिन्तित हो उठे। उन्होंने देखा—कहां जाना है? पता चल गया—मनुष्य लोक में जाना है। जब मनुष्य होने की बात आती है, देवता घबरा जाते हैं। अन्य गति में जाने से तो उससे भी अधिक घबराते हैं। दिव्य भूमि से मनुष्य लोक में जाना किसे पसन्द होगा? ऐसी दिव्य भूमि है, जहां चारों ओर मनोहर वातावरण है, न प्रदूषण है, न गन्दी हवा है, न कोलाहल है, न रसोई बनाने का झंझट है, न चूल्हा फूंकना है, न खाने-पीने की चिन्ता है, न आजीविका की चिन्ता है। जो मनुष्य बनता है, उसे सबसे पहले गर्भावास में रहना होता है। एक बंद थैली में नौ महीने तक रहना कितना दुःखद है। देवताओं का मन विषाद से भर गया। शांत, सुरम्य और पवित्र भूमि से ऐसी भूमि में आना कौन चाहेगा? कोई चाहे न चाहे, अपने कर्म के अनुसार उसे निर्धारित योनि में जाना ही होता है। प्रकृति के नियम को कैसे टाला जा सकता है?

देवताओं ने उस स्थान को देख लिया, जहां जाना था। दोनों देवता परस्पर परामर्श कर मनुष्य लोक में आए। साधु का वेश बनाया। ईषुकार नगर राजपुरोहित के घर भिक्षा के लिए पहुंचे। राजपुरोहित का नाम था भृगु। उसकी पत्नी का नाम था यशा। मुनि को देखते ही दोनों के हाथ जुड़ गए। यह सहज है—जब मनुष्य त्यागी व्यक्ति को देखता है, उसका सिर नीचे झुक जाता है, हाथ जुड़ जाते हैं।

राजपुरोहित ने पूछा—‘महाराज! कैसे पधारे?’

‘ऐसे ही, भिक्षा के लिए आ गये।’

मुनि ने राजपुरोहित से कुछ बातचीत की। राजपुरोहित के मन में आकर्षण पैदा हो गया। मुनि की भव्य मुद्रा और तेजस्वी मुखमण्डल पुरोहित के हृदय में समा गया। राजपुरोहित ने कहा—‘महाराज! कहिए क्या आदेश है?’

‘हमारा आदेश यही है कि तुम धार्मिक बनो। धर्म का जीवन जीओ।’

मुनि ने राजपुरोहित को धर्म का स्वरूप और मर्म समझाया। राजपुरोहित प्रबुद्ध बन गया। उसे सम्यग् दर्शन हो गया। उसने श्रावक के व्रत स्वीकार कर लिए। जब दिव्य शक्ति का अवतरण होता है तब एक साथ विस्फोट हो जाता है।

संतान की अभिलाषा : मुनि का कथन

बातचीत के मध्य राजपुरोहित ने मुनि से पूछा—‘आप ज्ञानी हैं। आप बताइए—हमारे कोई संतान होगी? अनेक वर्षों से हम संतान की कामना लिए हुए हैं। हमारी कामना कब पूरी होगी?’

यह संतान का प्रश्न आज के युग में भी बहुत उभरता है। आज परिवार नियोजन की बात भी प्रखर बन रही है पर उस समय संतान का प्रश्न बहुत जटिल था। चीन में यह नियम बन गया—संतान एक से ज्यादा न हो। हिन्दुस्तान में कहा जाता है—दो या तीन से अधिक संतान न हो। रूस में कुछ वर्ष पहले तक यह विधान था—जितनी अधिक संतान उतना अधिक पुरस्कार। कहीं परिवार-नियोजन का स्वर रहा है तो कहीं संतति की वृद्धि का स्वर। पर संतान की कामना हमेशा रही है।

मुनि ने कहा—‘भाई! हमारा यह विषय तो नहीं है पर तुमने पूछ लिया है इसलिए बता देते हैं—तुम्हारे एक नहीं, दो पुत्र होंगे पर...’

पर शब्द सुनते ही राजपुरोहित का मन आशंका से भर गया। उसने पूछा—‘महाराज! पर का अर्थ!’

‘वे तुम्हारे ज्यादा काम के नहीं होंगे।’

‘क्या मैं जल्दी चला जाऊंगा इस दुनिया से।’

‘न तुम जाओगे, न वे कहीं जाएंगे किन्तु थोड़े से बड़े होते ही वे मुनि बन जाएंगे।’

पुत्र होंगे, यह सुनकर हर्ष हुआ और वे मुनि बन जाएंगे, यह सुनकर विषाद भी हुआ। वे मुनि बन जाएंगे तो मेरे किस काम आएंगे? दुनिया को न पुत्र से मतलब है, न पिता से। उसका मतलब अपने स्वार्थ से है।

झुटलाने का अहं

मुनि यह कहकर विदा हो गये। राजपुरोहित ने सोचा—मुनि जब बनेंगे तब बनेंगे। मैं उन्हें बनने ही नहीं दूंगा। वे मुनि तब बनेंगे जब साधुओं के सम्पर्क में आएंगे। मैं उन्हें साधुओं के सम्पर्क में आने ही नहीं दूंगा। उनकी छाया से ही दूर रखूंगा। न रहेगा बांस और न बजेगी बांसुरी। उसने सोचा—शहर में तो साधु-संन्यासी आते ही रहते हैं, गांवों में कौन आयेगा? मैं इस शहर को छोड़कर किसी गांव में जाकर रहूंगा। बच्चों का मुनियों से सम्पर्क होगा ही नहीं। शहर में साधुओं की जमात आती ही रहती है, लड़के उन्हें देखेंगे तो मुनि बनने की बात जाग जाएगी। राजपुरोहित ने यह निश्चय कर नगर का मोह छोड़ दिया। वह एक गांव में रहने लगा। वह राज्य का मान्य पुरोहित था इसलिए गांव में भी सारी सुविधाएं उपलब्ध थीं। वह निश्चिंतता से जीवन जीने लगा। उसके मन में यह अहं भर आया—मुनिजी की बात सच कैसे होगी? मैं उनके कथन को

झुठलाकर रहूँगा। सत्य को झुठलाने के लिए उसने शहर से गांव में बसकर पहला कदम रखा। कुछ समय बीता। राजपुरोहित के दो पुत्र पैदा हुए। राजकुमार-देवकुमार जैसे पुत्रों को प्राप्त कर पुरोहित प्रसन्न हो उठा। उसका जीवन खुशियों से भर गया। समय बीतता गया। दोनों कुमार बड़े हुए। गुरुकुल में पढ़ने लगे। उनकी बुद्धि भी तीक्ष्ण और पैनी थी। राजपुरोहित के मन में यह प्रश्न सदा बना रहता—कहीं कोई साधु इन्हें मिल न जाए। यदि साधु मिल गये तो क्या होगा? उसने सोचा—मुझे इनके मन में ऐसा संस्कार भर देना चाहिए, जिससे इनके मन में साधुओं के प्रति आस्था और आकर्षण का भाव जागे ही नहीं? इस चिन्तन के साथ ही सत्य को झुठलाने का दूसरा प्रयत्न शुरू हो गया।

राजपुरोहित ने पुत्रों के मन में यह मंत्र फूंकना शुरू कर दिया—‘बेटे! जो साधु होते हैं ना, उनका सदा ध्यान रखना। कभी उनके पास मत जाना।’

लड़कों ने पूछा—‘पिताजी! कैसे होते हैं ये साधु?’

‘वे एक हाथ में झोली रखते हैं, पात्र रखते हैं। उनके कपड़े सफेद होते हैं वे इधर-उधर घूमते रहते हैं, पर तुम उनसे सदा बचते रहना।’

‘पिताजी! उनके पास क्यों नहीं जाना चाहिए?’

‘बेटे! तुम नहीं जानते, वे बालकों को उठाकर ले जाते हैं। अपने पात्रों में छुरी-कैंची रखते हैं। बच्चों का अपहरण कर उन्हें सताते हैं, मार डालते हैं। किसी का कान काट देते हैं, किसी का नाक काट लेते हैं। तुम उनके पास भूल-चूक कर भी मत जाना।’

राजपुरोहित इस प्रकार की बातें समय-समय पर अपने लड़कों के कान में भरता रहा। उनके मन में साधुओं के प्रति घृणा के भाव भर दिए। बच्चों के कच्चे दिमाग में ये संस्कार गहरे जम गए।

एक दिन की बात है। दोनों किशोर जंगल में घूमने चले गए। संयोग ऐसा मिला, उसी जंगल में दो तीन मुनि विहार करते हुए आ पहुंचे। दोनों भाइयों ने देखा—अरे! ये तो वे साधु हैं! पिताजी ने इनसे ही दूर रहने की सलाह दी थी। ओह! ये तो सामने ही आ रहे हैं। कहां जाए? हम दो हैं, ये तीन हैं। हम छोटे हैं, ये बहुत बड़े हैं। दोनों भय से आक्रान्त हो उठे।

शरीरशास्त्री बतलाते हैं—भय की स्थिति में एड्रीनल का अतिरिक्त स्राव होने लग जाता है। जब एड्रीनल का अतिरिक्त स्राव होता है तब आदमी की शक्ति दस-बीस गुना अधिक बढ़ जाती है। उस स्थिति में ‘भागो या लड़ो’ की भावना प्रबल बनती है।

उन्होंने सोचा—इनसे लड़ नहीं सकते और भाग कर भी कहां तक जा सकते हैं। दोनों भाई एक गहरे पेड़ पर चढ़ गये, उस पर छिपकर बैठ गये। पेड़ पर चढ़कर उन्होंने राहत की सांस ली। वे मुनि के आगे जाने की प्रतीक्षा करने लगे। नियति का ऐसा योग मिला, मुनि भी उसी पेड़ के नीचे विश्राम करने उठर गए, जिस पर वे दोनों भाई बैठे थे। भूमि का प्रमार्जन किया। मुनि ने एक स्थान पर पात्र रख दिए और ध्यान मुद्रा में खड़े हो गए। दोनों भाई भयभीत थे। मुनि की यह सामान्य चर्या होती है। वे प्रत्येक प्रवृत्ति के बाद निवृत्ति करते हैं। प्रत्येक

प्रवृत्ति से निवृत्त हो कायोत्सर्ग करते हैं। यह एक परम्परा बन गई—प्रत्येक प्रवृत्ति के साथ कायोत्सर्ग करें। यह शारीरिक और मानसिक—दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। मुनि ने ध्यान पूरा कर पात्रों को खोला। दोनों भाइयों ने सोचा—अब ये मुनि छुरी और कैंची निकाल रहे हैं। वे यह देखकर अवाक् रह गए—पात्र में छुरी-कैंची नहीं, रोटी और शाक था, पानी और दूध था। मुनिजनों ने आहार किया, पानी से पात्र धोए और पात्रों को साफ कर पुनः झोलों में रख दिया। मुनि आहार-पानी से निवृत्त हो वहीं सुस्ताने लगे।

बच्चों ने देखा—ये मुनि तो यहीं बैठे हैं। हम कब तक वृक्ष पर बैठे रहेंगे। आखिर नीचे उतरना ही होगा। डरने से क्या होगा? जब तक डर न आये तब तक ही डरना चाहिए। डर के सामने आने पर तो उसका मुकाबला ही करना चाहिए।

दोनों भाई पेड़ से नीचे उतरे। मुनियों ने बालकों को देखा और बालकों ने मुनियों को। मुनिजी ने पूछा—‘भाई! कौन हो तुम?’

बच्चों ने जवाब दिया—‘हम इसी गांव के रहने वाले हैं, राजपुरोहित भृगु के पुत्र हैं। तुम कौन हो?’

‘भाई! हम साधु हैं।’

‘क्या तुम बच्चों को पकड़ते हो? उन्हें भगाकर ले जाते हो!’

‘तुम कैसी बहकी-बहकी बातें कर रहे हो। किसने बताया है यह सब तुम्हें।’

‘हमारे पिताजी ने।’

‘इतनी झूठी बात कैसे बताई?’

‘क्या यह सच नहीं है?’

‘इसमें बिलकुल सचाई नहीं है। हम तो एक चींटी को भी नहीं सताते। फिर आदमी को सताने की बात ही कहाँ? तुमने स्वयं देखा होगा? जब हम वृक्ष के नीचे ठहरे तो भूमि का प्रमार्जन कर ठहरे। उस पर कंबल बिछा कर बैठे। किसी जीव को संत्रास न पहुंचे, यह हमारा व्रत है।’ मुनि ने विस्तार से अहिंसक चर्या की जानकारी दी।

पूरी जानकारी पाते ही पर्दा हट गया। उन्होंने सोचा—यह क्या? क्या पिता भी इतनी गलत बातें बता सकता है? पिताजी ने ऐसा क्यों बताया? वे इस प्रश्न की गहराई में गए, आवरण हट गया। यथार्थ सामने आ गया। उनके मन में प्रश्न उभरा—अहो! ऐसे साधु हमने कहीं देखे हैं? इस प्रश्न पर चिन्तन गहरा हुआ। उन्हें जातिस्मृति ज्ञान उपलब्ध हो गया। उन्होंने अपने पूर्वजन्मों को साक्षात् देख लिया। उन्होंने देखा—हम दो ही नहीं, छह मित्र थे। इससे पहले हम छहों मित्रों ने किसी सभ्य कुल में जन्म लिया। उस जन्म में हम सबने विविध भोगों को भोगा और उसके बाद मुनि बन गये। उस भव में मरकर हम देवलोक में उत्पन्न हुए और वहां से च्युत होकर राजपुरोहित भृगु के पुत्र के रूप में जन्म लिया है। हमारे पिता और माता हमारे पूर्व भव के दो मित्र हैं और दो मित्र इषुकार नगर के राजा इषुकार और रानी कमलावती हैं।

अपने अतीत को साक्षात् देखते ही उनके मन में असीम श्रद्धाभाव जागा। उन्होंने मुनि को भावपूर्ण वन्दना कर प्रार्थना की—‘मुनिवर! हम भी आपके पास दीक्षित होंगे, मुनि बनेंगे। हम दीक्षा के लिए पूर्णतः प्रस्तुत हैं। आप हमारे गांव में पधारें। हम पिताजी की अनुज्ञा लेने जा रहे हैं। वे सीधे पिता के पास पहुंचे।’ पिता से आग्रह किया—‘पिताजी! हम मुनि बनना चाहते हैं। आप हमें आज्ञा दे।’ राजपुरोहित भृगु यह सुनकर अवाक् रह गया। उसने कहा—‘यह कैसी पागलपन की बात है!’ दोनों भाई एक साथ बोल पड़े—‘पिताजी! आपने हमें बहुत झूठ सिखाया है, सदा सत्य को झुठलाया है। अब आप सत्य को नहीं झुठला सकते!’

झुठलाने का परिणाम

जो आदमी सत्य को झुठलाता है, वह घाटे में रहता है। सत्य को झुठलाने का परिणाम अच्छा नहीं होता। जब सत्य का पता चलता है तब वह झूठ उसे ही सालने लगता है।

पुत्र ने पिता को एक अंगूठी भेजी। उसने लिखा—‘पिताजी! आपको मैं एक अंगूठी भेज रहा हूँ, उसका मूल्य है पांच हजार रुपया।’ पिता ने अंगूठी पहन ली। अंगूठी बहुत चमकदार और सुन्दर थी। बाजार में मित्र मिले। नई अंगूठी को देखकर पूछा—‘यह कहां से आई?’ उसने कहा—‘लड़के ने भेजी है। पांच हजार रुपये लने हैं।’ मित्र बोला—‘क्या इसे बेचोगे? मैं पचास हजार दूंगा।’ उसने पांच हजार की अंगूठी निकालकर दे दी और पचास हजार रुपये ले लिए। पुत्र को पत्र लिखा—‘तुमने शुभ मुहूर्त्त में अंगूठी भेजी। उसको मैंने पचास हजार रुपये में बेचकर पैंतालीस हजार रुपया कमा लिए। लौटती डाक से पत्र आया—पिताजी! संकोच और भयवश मैंने सचाई नहीं लिखी थी। वह अंगूठी एक लाख की थी।’

यह सत्य को झुठलाने का परिणाम था।

संवाद पिता के साथ

भृगुपुत्रों ने कहा—‘पिताजी! आपने सत्य को झुठलाने का प्रयत्न कर अच्छा नहीं किया! हम मुनि अवश्य बनेंगे।’

पिता ने कहा—‘तुम मुनि क्यों बनना चाहते हो?’

‘आत्मा को पाने के लिए’

‘अरे! तुम कहां भ्रम में फंस गये। यह झूठा मंत्र तुम्हारे कान में किसने फूंक दिया। क्या कोई साधु मिला था?’

‘हां! जो मिलना था, मिल गया।’ भृगुपुत्रों ने पूरी कथा सुना दी।

राजपुरोहित ने सोचा—अनर्थ हो गया। अब क्या करूं? उसने कहा—‘कहां है आत्मा? आत्मा तो है ही नहीं।’

वह सत्य को फिर झुठलाने का प्रयत्न करने लगा। अब तक आस्तिक था और अब नास्तिक बन रहा था। राजपुरोहित बोला—‘पुत्रो! तुम्हें यह झूठी बात किसने सिखला दी। तुमने अरणी की लकड़ी देखी है?’

‘हां!’

‘क्या उसमें आग होती है?’

‘नहीं!’

‘अरणी की लकड़ी में आग नहीं होती। किन्तु दो अरणी की लकड़ियों का घर्षण करो, आग पैदा हो जायेगी। दूध में घी नहीं होता। उसे जमाओ, तपाओ, मथो, घी निकल आएगा। तिल में तेल कहां होता है? किन्तु उसको घाणी में पीलते ही तेल निकल आएगा। इस प्रकार इन भूतों में कोई आत्मा नहीं होती। ये पांच भूत मिलते हैं और भूतों का एक शरीर बन जाता है। वह एक दिन नष्ट हो जाता है। कोई भी आत्मा अमर नहीं है। शरीर के नष्ट होने के बाद उसका अस्तित्व नहीं रहता—’

जहा य अग्गी अरणी उ संतो, खीरे घयं तेल्ल जहा तिलेसु।

एमेव जाया! सररींसि अत्ता, समुच्छह नासइ नावचिट्ठे॥

पुत्र बोले—‘पिताजी! आपने कैसे कहा कि आत्मा नहीं है।’

‘कहा है आत्मा? यदि है तो दिखाओ?’

‘पिताजी! आप इतने बुद्धिमान हैं, बहुत अनुभवी हैं। आप वृद्ध हैं, हम बच्चे हैं फिर भी आप हमें झूठी बात सिखला रहे हैं। आप कहते हैं—आत्मा को दिखाओ। आत्मा अमूर्त है। वह कैसे दिखाई देगी? क्या आप इस नियम को नहीं जानते—अमूर्त वस्तु इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं होती? किन्तु यह निश्चित है—आत्मा के आंतरिक दोष ही बंधन के हेतु हैं और बंधन संसार का हेतु है—’

नो इंदियग्गेज्ज अमुत्तभावा, अमुत्तभावा वि य होई निच्चो।

अज्जत्थहेउं निययस्य बंधो, संसारहेउं च वयति बंधं॥

आईस्टीन ने लिखा—हम वैज्ञानिक लोग अहंकार में चूर हो जाते हैं। हम इस बात को भूल जाते हैं, हमारी ज्ञान की सीमा कितनी छोटी है। आखिर हम उन इन्द्रियों पर ही निर्भर हैं, जो न जाने कितनी बार हमें धोखा देती हैं।

भृगुपुत्र बोले—‘पिताजी! इन्द्रियों की सीमित शक्ति के आधार पर आप यह कह रहे हैं—आत्मा नहीं है। आपका यह कथन सही नहीं है। आप सत्य को अब झुठला नहीं सकते।’

पिता ने सोचा—इतनी विद्या इनमें कहां से आ गई। ये आज आत्मा की बात कर रहे हैं। ये जो कह रहे हैं, वास्तव में सही है किन्तु इस सचाई को स्वीकार करूंगा तो मुनि बनने की आज्ञा देनी होगी।

राजपुरोहित राग के कारण सत्य को झुठलाने का प्रयत्न कर रहा था। जब-जब आदमी राग, द्वेष, भय आदि में उपयुक्त होता है तब-तब वह सत्य को झुठलाना चाहता है। वही व्यक्ति सत्य को स्वीकार कर सकता है, जो केवल ज्ञान में उपयुक्त है, शुद्ध चेतना में उपयुक्त है।

भृगुपुत्रों का निश्चय अटल था। वे सत्य का साक्षात् कर चुके थे। भृगु का प्रयत्न विफल हो गया। यह राग पर विराग की परम विजय थी। उसमें अनुगुंजित था यह स्वर—सच्चं लोयम्मि सारभूयं।

मुक्ति की प्रेरणा

जिस दुनिया में हम जी रहे हैं, वह नाना रूप वाली है। उसमें नानात्व है, कहीं एकरूपता नहीं है। नाना प्रकार के मनुष्य हैं और नाना प्रकार के व्यवहार हैं। यह नानात्व देखकर सहज प्रश्न होता है—एक आदमी धनी बनना चाहता है, एक व्यक्ति राजनीति में जाना चाहता है, सत्ता हथियाना चाहता है, एक व्यक्ति मुनि बनना चाहता है, एक व्यक्ति वैज्ञानिक बनना चाहता है, ऐसा क्यों? अगर सब समान हैं तो हमारी प्रवृत्ति एक होनी चाहिए, प्रेरणा एक होनी चाहिए। यह अलगाव और भेद क्यों है?

शिष्य ने आचार्य से पूछा—‘गुरुदेव! सबकी चाह समान क्यों नहीं है? व्यक्ति अलग-अलग प्रवृत्ति क्यों करता है? कोई धनार्थी है, कोई कामार्थी है, कोई भोगार्थी है। यह अर्थित्व का जो भेद है, उसे कौन संप्रवर्तित कर रहा है?’

कामार्थी वर्तते कश्चित्, मोक्षार्थी कोऽपि वर्तते।

अर्थित्वस्य विभेदोऽयं, केनास्ति संप्रवर्तितः॥

बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है—अर्थित्व-भेद का कारण क्या है? वैज्ञानिक ऐसी क्रियान्विति के स्तर पर आ रहे हैं, जिससे मनुष्य की प्रवृत्ति को नियन्त्रित किया जा सके। वैज्ञानिक प्रयोगशाला में बैठा रहेगा और वहां से सभी मनुष्यों के व्यवहार का कंट्रोल करेगा, उनकी प्रवृत्ति का नियमन करेगा।

आचार्य ने कहा—‘वत्स! तुम्हारा प्रश्न उचित है। एक व्यवहार होता है और एक प्रेरणा होती है। प्रेरणा अर्थित्व को पैदा करती है और अभिप्रेरणाएं अलग-अलग होती हैं।’

मनोविज्ञान का संदर्भ

मनोविज्ञान ने व्यवहार और अभिप्रेरणा—दोनों की व्याख्या की है। अभिप्रेरणा (Motive) जैसी होती है, आदमी वैसा ही व्यवहार करता है। अभिप्रेरणा और व्यवहार—दोनों में अंतःसंबंध है। प्रेरणाओं का अलग-अलग कार्य है। वे कई प्रकार की होती हैं। एक अभिप्रेरणा है, जो अवस्था को प्रेरित करती है। एक अभिप्रेरणा व्यवहार को अभिप्रेरित करती है। जो अभिप्रेरणा व्यवहार का हेतु है, वह मनुष्य को शांत एवं संतुष्ट करती है।

मनोविज्ञान ने अभिप्रेरणा की व्याख्या तो की पर व्यक्ति के मन में अभिप्रेरणा क्यों जागती है, इसका कोई समाधान नहीं दिया। किसी व्यक्ति के मन में मोक्ष की प्रेरणा क्यों जागती है? त्याग और परमार्थ की प्रेरणा क्यों जागती है? मनोविज्ञान के पास इस प्रश्न का कोई समाधान नहीं है।

भारतीय चिन्तन परम्परा में कर्मशास्त्र को बहुत मूल्य दिया गया है। यह बहुत बड़ा मनोविज्ञान-शास्त्र है। पश्चिम के मनोविज्ञान और भारतीय कर्मशास्त्र को एक ही शाखा निरूपित किया जा सकता है। कर्मशास्त्र की गहराई में जितने जैन आचार्य गए हैं, उतना कोई दर्शन नहीं जा पाया। कर्मशास्त्र गणित का इतना जटिल विषय है कि गणित का प्रखर विद्वान् हुए बिना कर्मशास्त्र को समझ पाना ही कठिन है।

आचार्य ने शिष्य के प्रश्न को समाधान देते हुए कहा—काम मोह के द्वारा प्रवर्तित है और मोक्ष स्वभाव के द्वारा प्रवर्तित है। इस हेतु-भेद के कारण अर्थित्व का भेद होता है—

मोहप्रवर्तितः कामः, मोक्षः स्वभाववर्तितः।

हेतुभेदेन चार्थित्वभेदो लोके प्रविद्यते॥

प्रेरणा और उसका हेतु

व्यवहार, व्यवहार की प्रेरणा और प्रेरणा का हेतु—इन तीनों की मीमांसा आवश्यक है। काम की प्रेरणा और काम का व्यवहार—ये दो बातें ठीक हैं पर यह प्रेरणा क्यों जाग रही है? एक व्यक्ति के मन में काम की प्रेरणा जाग रही है और दूसरे के मन में वह प्रेरणा नहीं जागती। इसका कारण क्या है? जिस व्यक्ति के अन्तःकरण में मोह प्रज्वलित होता है, उसमें काम की प्रेरणा जागती है। काम का व्यवहार, उसकी प्रेरणा और उस प्रेरणा का हेतु मोह—ये तीन तत्व मिलते हैं तब पूरी बात समझ में आती है।

इसी प्रकार मोक्ष का व्यापार और उसकी प्रेरणा का हेतु है आत्मा का स्वरूप—पारिणामिक भाव। मोक्ष की प्रेरणा तब जागती है जब पारिणामिक भाव प्रबल हो जाता है। पारिणामिक भाव ही जीव के जीवत्व को बनाए रखता है। वह शाश्वत है। यदि यह पारिणामिक भाव नहीं होता, जीवत्व की निरन्तरता नहीं होती तो मोक्ष की प्रेरणा जागती ही नहीं। औदयिक भाव अस्तित्व को इतना ढाँक लेता कि कभी मोक्ष की बात उपजती ही नहीं किन्तु भीतर एक ज्योति निरन्तर जल रही है और वह ज्योति है जीव का पारिणामिक भाव। वह सदा अपने अस्तित्व को प्रगट करना चाहता है। उसे पुद्गल इष्ट नहीं है। वह पुद्गल को विजातीय मानता है। वह व्यक्ति को बार-बार सावधान करता है—तुम मानते हो, मैं भोग रहा हूँ, तृप्त हो रहा हूँ पर तुम इस सचाई पर ध्यान नहीं देते—तृप्त कौन हो रहा है? वस्तुतः तृप्त हो रहा है पुद्गल। यह मानना भ्रान्ति है कि मैं तृप्त हो रहा हूँ। तुम इस सचाई को जानो—चारों ओर पुद्गल का साम्राज्य है। पुद्गल ही तृप्त हो रहा है और पुद्गल ही उसे तृप्त कर रहा है—

पुद्गलैः पुद्गलास्तृप्ति, यान्त्यात्मा पुनरात्मना।

परतृप्तिसमारोपः, ज्ञानिनस्तन्न युज्यते॥

कारण दुःख का

आत्मा की भूख अलग प्रकार की है। उसकी भूख न भोजन से तृप्त होती है, न भोग से तृप्त होती है। इन सबसे आत्मा तृप्त नहीं होती किन्तु ऐसा समारोप कर दिया गया। जहाँ समारोप है वहाँ संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय

होता है। आचारांग सूत्र में इस समारोप की ओर ध्यान खींचा गया है—तुम दुःख मिटाने के लिए कार्य कर रहे हो किन्तु और ज्यादा दुःखी बन रहे हो। आदमी सुख के लिए इतना खा लेता है कि वह दुःख का कारण बन जाता है। ज्ञानी के लिए ऐसा करना उचित नहीं है। ज्ञानी होना और तृप्ति का अनुभव करने वाला होना बिलकुल भिन्न तत्त्व है। ऐसा लगता है—हमारा स्वरूप ज्ञाता नहीं, भोक्ता का बन गया है। प्रसिद्ध सूक्त है—ज्ञानी जानता है और अज्ञानी भोगता है। अज्ञानी के लिए दुःख की चादर द्रोपदी के चीर जितनी लम्बी बन जाती है, जिसका कभी अन्त नहीं होता।

अर्थित्व-भेद का कारण है हेतु का भेद। एक हेतु है कर्म और एक हेतु है स्वभाव। जीव पारिणामिक हमारा स्वभाव है। जब-जब वह प्रबल होता है, मोक्ष की प्रेरणा जागती है। जब-जब कर्म प्रबल होता है, तब-तब काम की प्रेरणा जागती है। भारतीय साहित्य एवं चिन्तन में दो मूल प्रेरणाएं रही हैं—काम की प्रेरणा और मोक्ष की प्रेरणा। धन तो काम की पूर्ति का साधन-मात्र है। पुरुषार्थ चतुष्टयी का प्रतिपादन किया गया—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। दो प्रेरणाएं हैं काम और मोक्ष। अर्थ काम की पूर्ति का साधन है और धर्म मोक्ष की पूर्ति का साधन। जब मोक्ष की प्रेरणा जागती है, काम की प्रेरणा सो जाती है। जब काम की प्रेरणा जागती है, मोक्ष की प्रेरणा सो जाती है। मोक्ष की प्रेरणा के जागने का अर्थ है—जीवन में धर्म का अवतरण।

भृगु परंपरा का चित्रण

भारतीय जीवन में उस युग को देखें, जिस समय भृगुओं की परंपरा विकसित थी। महाभारत, मार्कण्डेय पुराण और उत्तराध्ययन में भृगु परंपरा का उल्लेख है। महाभारत में कहा गया—भृगु परंपरा ने श्रमण परंपरा, मोक्ष और आत्मा का समर्थन किया है। मार्कण्डेय पुराण में भी पिता और पुत्र का संवाद है। उसमें सारी लौकिक मान्यताओं का निरसन किया गया है। महाभारत शान्तिपर्व का प्रसंग है—उसमें भार्गव दानवों को संरक्षण देते थे। प्रश्न हुआ—सब देवताओं का सहयोग कर रहे थे और भार्गव दानवों को संरक्षण दे रहे थे? कहा गया—यह भृगु की परंपरा है। दानव श्रमण जाति के लोग रहे हैं। बड़ी उच्च परंपरा रही है दानवों की। हम आज दानवों की बात छोड़ दें। एक समय था जब दानव उच्च, सभ्य और शिष्ट जाति थी। उसने आत्मा और मोक्ष की परंपरा का उन्नयन किया था। यह एक तथ्य है—परास्त होने पर शब्द का अपकर्ष हो जाता है। आर्य शब्द का भी बहुत अपकर्ष हुआ है। उत्तराध्ययन का चौदहवां अध्ययन भृगुपुत्र का अध्ययन है। उसमें भारतीय दर्शन की दो परम्पराओं का चित्रण है और उस चित्रण में मोक्ष की प्रेरणा का स्वर प्रस्फुटित हुआ है।

दो परंपराओं के बीच सीधा संवाद

हिन्दुस्तान में दो परंपराएं बहुत पुरानी हैं—ब्राह्मण परंपरा और श्रमण परंपरा। ब्राह्मण परंपरा प्रवर्तक धर्म की परंपरा है, स्वर्गवादी परंपरा है। श्रमण परंपरा निवर्तक धर्म की परंपरा है, निर्वाणवादी परंपरा है। इसलिए दोनों के सिद्धांत और धारणाएं भिन्न हैं। यह स्वाभाविक है—स्वर्गलक्षी चिन्तन की धारणा एक प्रकार की होगी और मोक्षलक्षी चिन्तन की धारणा उससे भिन्न प्रकार होगी।

भृगुपुत्रों के मन में मोक्ष की प्रेरणा जग गई। उन्होंने पिता से कहा—पिताजी! हम मुनि बनना चाहते हैं।

‘किसलिए?’

‘मोक्ष पाने के लिए।’

पिता ने सोचा—यह परिवर्तन कैसे आया? अकस्मात् यह कैसे हुआ? इनका चिन्तन कैसे बदल गया?

पिता और पुत्रों के मन में एक अन्तर्द्वन्द्व चला। उस अन्तर्द्वन्द्व ने उनके अन्तर्मानस को उद्वेलित कर दिया। उत्तराध्ययन सूत्रकार ने उस अन्तर्द्वन्द्व को बहुत थोड़े शब्दों में प्रस्तुत किया है। उन शब्दों के पीछे न जाने कितना चिन्तन रहा होगा। सूत्र का अर्थ ही है सूचना देना। सूत्रकार ने एक सूचना देकर अन्तर्द्वन्द्व का एक संकेत प्रस्तुत कर दिया। आज उस अन्तर्द्वन्द्व की व्याख्या की जा सकती है।

पिता का अन्तर्द्वन्द्व यह था—दो घंटे पहले घर से बाहर गए तब तक कुछ नहीं था। दो घंटे बाद वापस आए और सब कुछ बदल गया। क्या इतना जल्दी कोई व्यक्ति बदल सकता है? यदि आदमी इतना जल्दी बदल जाए, परिवर्तन का ऐसा सूत्र हाथ लग जाए तो चमत्कार घटित हो जाए। बड़े-बड़े वैज्ञानिक बदलने के सूत्र की खोज में लगे हुए हैं। अनेक दशकों से परिवर्तन के सूत्र की खोज चल रही है। वे छोटे जीवों और प्राणियों को बदलने में सफल भी हुए हैं, किन्तु मनुष्य को बदलने के सूत्र अभी तक हाथ नहीं लगे हैं। दुनिया में यदि सबसे जटिल प्राणी कोई है तो वह है मनुष्य। मनुष्य का मस्तिष्क सबसे जटिल है।

प्रत्येक व्यक्ति के मन में एक मान्यता या धारणा होती है। उसे चिरकाल से पोषण मिलता रहता है। यह सद्यः विलीन हो सकती है। ऐसा चिन्तन किसी समझदार व्यक्ति को नहीं करना चाहिए।

मान्यता धारणा यास्ति, चिरकालेन पोषिता।

सद्यः सा विलयं गच्छेद्, नेति चिन्त्यं विचक्षणैः॥

प्रत्येक व्यक्ति के मन में अपनी एक मान्यता होती है। कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है, जो मान्यता बनाए न बैठा हो। ऐसे लोग, जो समझदार नहीं माने जाते, वे कहते हैं—मैं ऐसा मानता हूँ, मेरी ऐसी मान्यता है। पहले मान्यता होती है, फिर धारणा बन जाती है। व्यक्ति उस बात को मजबूती के साथ पकड़ लेता है, छोड़ता नहीं है। जो चिरकाल से पोषित होती है, वह अस्थिर और मज्जागत हो जाती है।

संस्कार की समस्या

ज्ञातासूत्र का प्रसंग है। एक सेठ की लड़की की शादी करने के लिए भिखारी को लाया गया। वह विषकन्या थी। विषकन्या के साथ कौन शादी करता? भिखारी तैयार हो गया। उसे स्नान करवा कर नए कपड़े पहनाए गए। उसके पास जो भिक्षा पात्र था, उसे फेंकने लगे। भिखारी चिल्लाया—इसे मत फेंको। उसके साथ संस्कार जुड़ गया था। कर्मचारी बाले—अरे! कैसी मूर्खता की बात करते हो! सेठ अपनी कन्या का विवाह तुम्हारे साथ कर रहा है। वह तुम्हें प्रचुर धन देकर धनपति बना देगा। फिर भिक्षापात्र की जरूरत क्या रहेगी? भिखारी इतना कहने पर भी शांत नहीं हुआ। कर्मचारियों ने सेठ को सारी स्थिति से अवगत कराया। सेठ ने कहा—भिक्षापात्र को मत फेंको। उसे इसके पास ही रहने दो। इतने वर्षों से इस भिक्षापात्र के साथ उसका जो गहरा संस्कार जुड़ा हुआ है, वह सहसा कैसे छूट सकता है?

जिस भिखारी को अपार संपत्ति मिल रही थी, वह भिक्षापात्र को फोड़ना नहीं चाहता, छोड़ना नहीं चाहता। इस स्थिति में हमने जो मान्यताएं और धारणाएं बना रखी हैं, चिरकाल से जिन्हें पोषण मिल रहा है, वे सहसा कैसे टूट सकती हैं? बहुत कठिन प्रश्न है परिवर्तन का।

राजपुरोहित ने सोचा—चिरकाल से पोषित धारणाएं एकाएक कैसे टूट गई? यह परिवर्तन कैसे हुआ? अब क्या किया जाए? मुझे अपनी मान्यताओं के द्वारा ही इनके मानस को बदलना होगा।

राजपुरोहित बोला—‘कुमारो! तुम मुनि बनना चाहते हो, पर जरा सोचो अभी तुम्हें अध्ययन करना है। हम ब्राह्मण हैं। हमारी अपनी एक परम्परा है। तुम उसके अनुसार चलो, वेदों को पढ़ो। ब्राह्मणों को भोजन कराओ, स्त्रियों का भोग करो। पुत्र उत्पन्न करो। वेदों को जानने वाले इस प्रकार कहते हैं कि जिसके पुत्र उत्पन्न नहीं होता, उसकी गति नहीं होती।’

अहं तायगो तत्थ मुणीण तेसिं, तवस्स बाधायकरं वयासी।

इयं वयं वेयविओ वयंति, जहा न होई असुयाण लोगो ॥

अहिज्ज वेए परिविस्स विप्पे, पुत्ते पडिट्ठप्प गिहंसि जाया।

भोच्चाण भोए सह इत्थियाहिं, आरण्णगा होइ मुणी पसत्था ॥

‘अभी तुम किशोर हो। जब तक युवा रहो, तब तक भोग भोगो। यह अवस्था भोग भोगने की है, मुनि बनने की नहीं। जब बूढ़े बनो, तब आरण्यक मुनि बन जाना।’

पिता के ये तर्क पुत्रों को प्रभावित नहीं कर सके। उन्होंने कहा—‘वेद पढ़ने पर भी त्राण नहीं होता और पुत्र भी त्राण नहीं देते। ये काम-भोग क्षण भर सुख और चिरकाल दुःख देने वाले हैं। ये संसार-मुक्ति के विरोधी हैं और अनर्थों की खान हैं। जिसे पुत्र, स्त्रियां, काम-भोग आदि कामनाओं से मुक्ति नहीं मिलती, वह अतृप्ति की अग्नि में संतप्त रहता है। दूसरों के लिए प्रमत्त होकर धन की खोज करता हुआ वह जन्म और मृत्यु को प्राप्त होता है’—

वेया अहीया न भवति ताणं, भुत्ता दिया निति तमं तमेणं ।
जाया य पुत्ता न हवति ताणं, को णाम ते अणुमन्नेज्ज एयं ॥
खणमेत्तसोक्खा बहुकालदुक्खा, पगामदुक्खा अण्णिगाभसोक्खा ।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया, खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥
परिव्वयंते अणियत्तकामे, अहो य राओ परितप्पमाणे ।
अन्नप्पमत्ते थण्णमेसमाणे, पप्पोत्ति मच्चुं पुरिसे जरं च ॥

राजपुरोहित कुमारों के मानस को बदल नहीं पाया। उनकी चेतना बदल चुकी थी।

बदलाव : दो मार्ग

बदलने के दो मार्ग हैं—निसर्ग और अधिगम। आदमी ने पिछले जन्म में ऐसा ही कोई क्षयोपशम किया होता है कि वह एकदम बदल जाता है। न उपदेश, न मार्गदर्शन, न चर्चा, न वार्ता, कुछ भी नहीं होता, किन्तु आदमी बदल जाता है। यह नैसर्गिक बदलाव है। इसमें बाहरी प्रयत्न की जरूरत नहीं होती। दूसरा मार्ग है अधिगम का। ज्ञान, अभ्यास, पुरुषार्थ और प्रयत्न से बदलाव आता है। निसर्ग से बदलाव वाली घटना हजारों में एक या दो घटित होती है। इसे आपवादिक बात कह सकते हैं। सामान्य मार्ग है अधिगम का। आदमी बदलता है और वह प्रयत्न से बदलता है। वह सहसा नहीं बदलता। एक क्रम और पद्धति-सापेक्ष होता है बदलाव। निसर्ग में कोई पद्धति नहीं होती। वह अपथ का पथ है। आकाश में कोई मार्ग नहीं बनता। भूमि पर पदचिह्न बनते हैं, मार्ग और पगडंडियां बनती हैं।

परिवर्तन की पद्धति

परिवर्तन की एक पद्धति है और उस पद्धति को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

अभीप्सान्वेषणं मार्गः सहायो भावना तथा ।
दृढनिश्चय इत्येते, हेतवः परिवर्तने ॥

परिवर्तन में ये छह तत्त्व हेतु बनते हैं—

- | | |
|------------|----------------|
| १. अभीप्सा | ४. सहाय |
| २. अन्वेषण | ५. भावना |
| ३. मार्ग | ६. दृढ़ निश्चय |

परिवर्तन का पहला सूत्र है—अभीप्सा का जागना। व्यक्ति के मन में सबसे पहले यह अभीप्सा जाग जाए—मुझे बदलना है। जब तक यह अभीप्सा नहीं जागती, व्यक्ति को सम्मोहित किया जा सकता है, नींद की गोलियां देकर

सुलाया जा सकता है, मूर्च्छा में लाया जा सकता है, पर बदला नहीं जा सकता। बदला तभी जा सकता है जब अभीप्सा जागे। आचार्य आदेश देकर कोई काम करवा सकते हैं पर बदल नहीं सकते। आचार्य यह आदेश दे सकते हैं—खड़े हो जाओ। विहार कर जाओ, अमुक स्थान पर चले जाओ। शिष्य को वैसा करना होता है पर यह बदलाव नहीं है। आचार्य भिक्षु के शब्दों में शिष्य को खड़े-खड़े धूप में सुखाया जा सकता है, यह आदेश के द्वारा संभव है।

आचार्यवर मेवाड़ संभाग की यात्रा के दौरान एक गांव में पधारे। दो भाइयों में अनबन चल रही थी। आचार्यवर ने दोनों भाइयों को समझाया—इस आपसी झगड़े को मिटा दो। परस्पर कलह करना ठीक नहीं है। हम तुम्हारे गांव में आए हैं, इस अवसर को हाथ से मत जाने दो। वह गांव पहाड़ों की घाटियों के बीच था। चारों ओर चट्टानें ही चट्टानें, मध्य में गांव। वह आदमी गांव की चट्टान जैसा ही मजबूत था। उसने आचार्यवर से निवेदन किया—‘गुरुदेव! मैं आपका भक्त हूँ, श्रावक हूँ। आपके चरणों में पूर्णतः समर्पित हूँ। आप मुझे धूप में सुखाएं तो खड़ा-खड़ा सूख जाऊंगा, पर यह झंझट नहीं मिटाऊंगा।’

यह कैसा विपर्यास है। कुछ लोग समर्पण की ऐसी दुहाई देते हैं। आप जो कहेंगे, वह कर लूंगा पर इस बात को नहीं मानूंगा। यह कैसा समर्पण है! इस स्थिति में समर्पण की परिभाषा क्या हो सकती है? अपवाद होगा तो समर्पण नहीं और समर्पण होगा तो अपवाद नहीं। अपवाद और समर्पण—दोनों एक साथ नहीं चल सकते। समर्पण में कोई अपवाद नहीं हो सकता।

‘यह कैसा समर्पण है’—आचार्यवर ने यह कहकर बातचीत को वहीं समाप्त कर दिया।

दो घंटे बीते। वह भाई पुनः आचार्यवर के पास आया। उसने निवेदन किया—‘महाराज! मैंने बड़ी भूल की, अब आप माफ करें। अब मैं पूरा समर्पित हूँ। आपका जो निर्देश होगा, वैसा ही करूंगा।’

समर्पण प्रस्तुत हुआ और झगड़ा मिट गया।

स्वयं के हाथ में है बदलाव

आदमी को तभी बदला जा सकता है जब वह बदलने के लिए प्रस्तुत हो जाए। यह तथ्य है, आदमी को आदेश दिया जा सकता है पर उसे बदला नहीं जा सकता। तीर्थंकर उपदेश देते हैं, इच्छा का प्रयोग भी करते हैं और आदेश की भाषा भी बोलते हैं, फिर भी व्यक्ति को बदल नहीं सकते। बदलना व्यक्ति के स्वयं के हाथ में है।

जैन धर्म में कितना बड़ा सत्य स्वीकार किया गया—तीर्थंकर भी किसी को जबर्दस्ती बदल नहीं सकते। इसका अर्थ है—हृदय परिवर्तन का जितना महत्त्व अहिंसा के क्षेत्र में है उतना कहीं नहीं है। महावीर ने इस सचाई को उजागर किया। इन हजारों वर्षों में इस सत्य के सबसे प्रखर प्रवक्ता हुए हैं आचार्य भिक्षु। आचार्य भिक्षु ने हृदय परिवर्तन पर जितना बल दिया, इस संदर्भ में जितना लिखा उतना किसी अन्य आचार्य ने लिखा है या नहीं, यह आज भी अन्वेषणीय

है। आचार्य भिक्षु ने कहा—कोई किसी को बदल नहीं सकता। जब तक व्यक्ति का हृदय नहीं बदलता, परिवर्तन का होना संभव ही नहीं है।

परिवर्तन का पहला सूत्र है—हृदय परिवर्तन, अभीप्सा का जाग जाना। व्यक्ति के मन में यह अभीप्सा जाग जाए कि मुझे बदलना है। यह अभीप्सा की जागृति परिवर्तन का पहला आधार सूत्र है।

परिवर्तन का दूसरा हेतु है—अन्वेषण। जब अभीप्सा तीव्र बनती है, तब व्यक्ति अन्वेषण करता है। वह खोज करता है—कैसे बदलूँ? बदलने का मार्ग क्या है? हम आध्यात्मिक साहित्य को देखें। व्यक्ति गुरु की खोज में कहाँ-कहाँ गया है? कितने-कितने कष्ट सहे हैं? अन्वेषण शुरू होता है, आदमी भटकता रहता है, खोज चलती रहती है तो गुरु उपलब्ध हो जाता है। आचार्य भिक्षु ने भी अन्वेषण कम नहीं किया था। उन्होंने अन्वेषण किया, करते रहे और सत्य को उपलब्ध हो गए।

तीसरा हेतु है—मार्ग का उपलब्ध होना। जो खोजता है, उसे मार्ग मिल जाता है। जिसने खोजा है, उसने पाया है। जब मार्ग मिलता है, तब कोई सहायक भी मिल जाता है, गुरु भी मिल जाता है। सहायक वह हो, जिसकी मेधा सूक्ष्म हो, जो सूक्ष्म अर्थ को जानने वाला हो। ऐसे गुरु या सहायक की उपलब्धि परिवर्तन का चौथा हेतु है। परिवर्तन का पांचवाँ हेतु है—भावना। भावना का अर्थ कोरा रटना नहीं है। सोचना, चिन्तन करना, पुनः पुनः आवृत्ति करना, यह है भावना। यह परिवर्तन का महत्त्वपूर्ण हेतु है।

परिवर्तन का छठा हेतु है—दृढ़ निश्चय। व्यक्ति में यह निश्चय जागे—मुझे बदलना है। यह चेतना जाग जाये—करूँगा या मरूँगा। बुद्ध ने निश्चय किया—जब तक बोधि नहीं मिलेगी, इस आसन से नहीं उटूँगा, चाहे शरीर सूख जाए। ऐसा दृढ़ निश्चय पैदा होता है, तब परिवर्तन घटित होता है।

बदलाव कब?

प्रायः एक प्रश्न पूछा जाता है—व्यक्ति बदलता क्यों नहीं? अमुक आदमी में परिवर्तन क्यों नहीं आया? कल जिसने परिवर्तन का प्रयोग शुरू किया, वह आज कैसे बदल जाएगा? बदलना एक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया से गुजरने पर ही बदलाव संभव बनता है। बदलना कोई सहज घटना नहीं है। बौद्धिक विकास करना उतना जटिल नहीं है, जितना जटिल है बदलना। एक व्यक्ति बौद्धिक विकास बहुत कर सकता है, पर हृदय परिवर्तन नहीं कर पाता। सबसे कठिन काम है हृदय-परिवर्तन करना।

परिवर्तन की अनिवार्य शर्त है—गहरी प्यास जगे। शिष्य ने गुरु से प्रार्थना की—‘गुरुदेव! मैं साधना करना चाहता हूँ, आप कोई मार्ग बताएं।’ गुरु शिष्य को साथ ले तालाब पर आया। दोनों तालाब के अन्दर उतरे। गुरु शिष्य को तालाब में डुबोने लगा। शिष्य चिल्लाया—‘गुरुदेव! मैं डूब रहा हूँ!’ गुरु ने उसका नाक व मुँह बन्द कर दिया। वह छटपटाने लगा। कुछ क्षण बाद गुरु ने शिष्य को पानी से बाहर निकाला। शिष्य बोला—‘गुरुदेव! मैं आया था साधना का

मार्ग जानने। आपने यह क्या किया?’ गुरु ने मुस्कराते हुए कहा—‘वत्स! तुम्हारी कसीटी की है।’ शिष्य ने पूछा—‘गुरुदेव! यह क्या कसीटी है?’ गुरु ने कहा—‘जब मैंने तुम्हारा नाक व मुंह बन्द किया तब कैसा लग रहा था?’ शिष्य बोला—‘उस समय ऐसी छटपटाहट और अकुलाहट हुई कि मैं बता नहीं सकता।’ गुरु ने कहा—‘वत्स! जिस दिन ऐसी अकुलाहट और छटपटाहट तुम्हारे मन में पैदा होगी, उस दिन साधना का मार्ग मिल जाएगा।’

संवाद दो परंपराओं के बीच

हजारों लोग प्रवचन सुनते हैं, सत्-साहित्य पढ़ते हैं, साधना के महत्व को जानते हैं पर उन सबमें अभीप्सा जागती नहीं है। विरल व्यक्तियों में ही यह अभीप्सा जागती है। भृगुपुत्रों के मन में ऐसी ही अभीप्सा जागी और वे विरक्त हो गए।

राजपुरोहित भृगु और उनके दो पुत्रों के बीच लम्बा संवाद चला। संवाद केवल पिता-पुत्र के बीच ही नहीं, दो परंपराओं के बीच था। पिता वैदिक धर्म से प्रभावित थे और पुत्र श्रमण परंपरा से। संवाद में वे अपनी-अपनी परंपराओं का प्रतिनिधित्व कर रहे थे।

राजपुरोहित भृगु ने कहा—‘तुम ब्राह्मण-कुल में पैदा हुए हो इसलिए वेदों को पढ़ो!’

पुत्र बोले—‘पिताजी! आप जानते हैं—निर्वाणवादी के लिए वेद त्राण का कारण नहीं होते।’

वेदों का बड़ा महत्त्व है। वह बहुत बड़ी ज्ञानराशि है। आज भी भारतीय साहित्य में वेद को प्राचीन साहित्य माना जाता है। गीता में कहा गया है—वेदों में तीन गुणों का वर्णन मिल जाएगा। समाज के महत्त्वपूर्ण सूत्र उसमें उपलब्ध हैं। राष्ट्र की व्यवस्था के सूत्र भी उसमें हैं। विज्ञान के बहुत से संकेत-सूत्र हैं किन्तु निर्वाण की बात वेद नहीं बता सकते।

मौन सम्मति बन गया

भृगुपुत्रों ने अपने पिता की बातों से असहमति व्यक्त करते हुए कहा—‘आप कहते हैं—ब्राह्मण-भोज करो। ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा दो। भोग भोगो, संतान पैदा करो। ये सारी बातें अंधकार की ओर ले जाने वाली हैं, बन्धन का हेतु हैं। हम उस मार्ग पर बढ़ना चाहते हैं, जो मोक्ष का हेतु है। यदि आप निर्वाण प्राप्ति में सहायक होने वाली कोई बात बताएं तो हम उसे मानने को तैयार हैं। आप हमें भोग भोगने की प्रेरणा दे रहे हैं। क्या आप नहीं जानते—भोग क्षणिक सुख देते हैं, बहुत काल तक दुःख देते हैं। क्या कोई पिता अपने पुत्र को ऐसा प्रलोभन दे सकता है, जिसमें सुख कम हो और दुःख अधिक? जो थोड़ा सुख देकर बहुत दुःख देने वाले हैं, उन काम-भोगों में हमें

नहीं फंसना है। हमें उस निर्वाण के सुख को प्राप्त करना है, जो कभी दुःख में नहीं बदलता। शाश्वत सुख का स्थान है मोक्ष। हमारा लक्ष्य वही है।

राजपुरोहित भृगु पुत्रों के तर्क सुनकर स्तब्ध रह गया। उसने सोचा—आज सारा चक्का उलटा घूम रहा है। मैं सोचता था—मैं इनका पिता हूँ और ये मेरे पुत्र हैं। पर आज ऐसा लग रहा है—ये मेरे पिता बन गए हैं और मैं इनका पुत्र। सचमुच चक्का घूम गया। पुत्रों को समझाने वाला पिता स्वयं समझ गया। वह निःशब्द हो गया। उसका मौन सम्मति बन गया—मौनं सम्मति लक्षणम्। और उनके बीच जो वार्तालाप हुआ वह बन गया—दो परम्पराओं के बीच सीधा संवाद।

समस्या का मूल : परिग्रह

एक शिष्य अध्यात्म और विज्ञान का तुलनात्मक अध्ययन कर रहा था। उसने मनोविज्ञान को भी पढ़ा। उसके मन में एक प्रश्न उभरा। वह उसे समाहित नहीं कर पाया। उसने गुरु से जिज्ञासा की—‘गुरुदेव! मनोविज्ञान का प्रवर्तक फ्रायड कहता है—हमारी सारी प्रवृत्तियों का मूल है सेक्स (कामवृत्ति)। क्या यह मत सही है?’ गुरु ने कहा—‘हम अनेकान्तवादी हैं इसलिए उसे अस्वीकार न करें किन्तु सीधा स्वीकार भी न करें। यह एक सापेक्ष सत्य है। पूर्ण सत्य नहीं है। पूरी सचाई के लिए कर्मशास्त्र का अध्ययन करना होगा।’ गुरु ने मोहनीय कर्म का विवेचन करते हुए समझाया—‘मूलवृत्ति लोभ है। शेष वृत्तियां इससे उपजी हुई हैं। इसे हम लोभ कहें, राग कहें या परिग्रह, यही मूल वृत्ति है।’

एका वृत्तिर्भवेद् मूलं, लोभो रागः परिग्रहः।

अधिकारोऽथवा वाच्यः, परास्तेनोपजीविताः॥

लोभ है तो क्रोध आता है। क्रोध की पृष्ठभूमि में छिपा रहता है लोभ। अभिमान क्या है? वह भी लोभ का उपजीवी है। लोभ है तो माया होती है।

शिष्य ने जिज्ञासा की—‘गुरुदेव! क्या मनोविज्ञान का यह मत गलत है—काम मूल वृत्ति है।’

गुरु ने कहा—‘वत्स! काम लोभ की उपजीवी वृत्ति है। सब नोकषाय कषाय की उपजीवी वृत्तियां हैं। लोभ और काम—दोनों जुड़े हुए हैं। निर्युक्तिकार ने काम के दो प्रकार किए हैं—इच्छाकाम और मदनकाम। मदनकाम (सेक्स) मूल नहीं है, मूल है इच्छाकाम।’

आचार्य ने कहा—‘फ्रायड ने जो कहा है, वर्तमान मनोविज्ञान में वह अवधारणा भी बदल गई है। वर्तमान मनोवैज्ञानिक यह मानने लग गए हैं—मूल वृत्ति सेक्स नहीं है। मूल वृत्ति है अधिकार की भावना। वैज्ञानिकों ने एक प्रयोग किया। ऐसा कृत्रिम तालाब बनाया, जिसमें तापमान को नीचे गिरा दिया गया। तालाब में जितने जलचर प्राणी थे, उनकी सारी कामवृत्ति समाप्त हो गई। सेक्स का सम्बन्ध व्यक्ति के तापमान से है। तापमान के नीचे गिर जाने पर भी अधिकार की भावना उनमें बनी रही। इस विषय पर वैज्ञानिकों ने बहुत गहरा अध्ययन किया है। उनका निष्कर्ष है—अपने अधिकार को, अपने निवास-स्थान को छोड़ना कोई पसन्द नहीं करता।’

दो महत्त्वपूर्ण शब्दों का चुनाव किया गया—अगार और अनगार।

अनगार वह है, जिसने अधिकार की वृत्ति को समाप्त कर दिया, घर को छोड़ दिया। अनगार का अर्थ है—मूल मनोवृत्ति पर प्रहार करने वाला। चिड़िया

घोंसला बनाती है। पशु घूरी बनाते हैं। चिड़िया पेड़ पर बैठेगी और एक प्रकार की आवाज करेगी, उसका अर्थ है—इस टहनी पर मेरा अधिकार हो गया है। अब कोई इस पर बैठने का प्रयास न करे। कुछ पशु ऐसे हैं, जिनमें गंध की ग्रन्थि होती है। शेर के मूत्र में गंध होती है। सब पशु समझ जाते हैं—वहाँ शेर रहता है, उस ओर नहीं जाना है। शेर अपना अधिकार जताता है गंध के द्वारा।

छोटे से प्राणी में अपना घर बनाने की वृत्ति है, अपना अधिकार जताने की मनोवृत्ति है। बहुल कठिन बात है अगार को त्यागना। प्राणी की मूल मनोवृत्ति है घर पर अधिकार करना। जिसने यह अधिकार छोड़ दिया, वह अनगार हो गया, उसने एक नई यात्रा शुरू कर दी।

परिग्रह : तीन प्रकार

जैन तीर्थंकरों ने दो मूल दोष बतलाए—आरंभ और परिग्रह। इनमें भी मूल है परिग्रह। हमारी धारणा पदार्थ पर अटकी हुई है। पदार्थ परिग्रह है पर मूल परिग्रह नहीं है। परिग्रह के तीन प्रकार हैं—कर्म, शरीर और पदार्थ। जड़ में है कर्म, जहां से मूर्च्छा और अधिकार की भावना आ रही है। दूसरा परिग्रह है शरीर। तीसरा परिग्रह है पदार्थ—धन, धान्य, मकान आदि। आदमी घर छोड़कर भी शरीर की आसक्ति को नहीं छोड़ता तो वह परिग्रह को नहीं छोड़ता। जो शरीर की आसक्ति को छोड़ देता है, वह होता है पूरा अनगार। जब शरीर की आसक्ति छूटेगी तब दूसरे परिग्रह छूटेंगे इसीलिए जैन आचार्यों ने भेद-विज्ञान पर बल दिया। हम भेद-विज्ञान का अभ्यास करें, परिग्रह की वृत्ति पर प्रहार होगा। यह भेद विज्ञान अनेक बीमारियों की चिकित्सा भी है, पर इसके लिए प्रयोग करना आवश्यक है, अंतर के रसायनों को बदलने की प्रक्रिया का अभ्यास करना अपेक्षित है। विज्ञान कहता है—एक लाख से ज्यादा प्रकार के प्रोटीन हमारे शरीर के भीतर बनते हैं। रसायनों से भरा पड़ा है हमारा शरीर। इतना बड़ा कारखाना शरीर के भीतर है, उसको चलाने वाला चाहिए, उसका स्विच-बोर्ड मिलना चाहिए। न जाने कितना भीतर पड़ा है। हम यह अध्ययन करें कि कैसे इन अध्यात्म के रहस्यों को समझने का प्रयत्न करें? जब यह प्रयत्न क्रियान्वित होगा, सारी धारणाएं बदल जाएंगी।

हिंसा मूल नहीं है

परिग्रह की बात छूटती है, अध्यात्म की चेतना अपने आप जाग जाती है। जब तक आदमी परिग्रह के अधिकार को पकड़े रखेगा, तब तक लोभ प्रासंगिक बना रहेगा, हिंसा कभी समाप्त नहीं होगी। हिंसा मूल नहीं है, मूल है परिग्रह। आचारांग सूत्र में भगवान महावीर ने हिंसा के जितने कारण बतलाए हैं, उनमें मुख्य कारण है—लोभ, परिग्रह की मनोवृत्ति। म्यूनिख (पश्चिमी जर्मनी) के चिड़ियाघर के डायरेक्टर ने बताया—‘जब बंदर को जंगल से लाते हैं तब वह यहाँ रहना पसन्द नहीं करता किन्तु जब वह पिंजड़े पर अपना अधिकार जमा लेता है तब वह अन्दर किसी को घुसने नहीं देता।’ यह अधिकार और परिग्रह की भावना से प्रभावित प्रवृत्ति है। यह छूटती है तो सब कुछ छूट जाता है अन्यथा कोई भी पदार्थ राग या मूर्च्छा का कारण बन जाता है।

पात्र को रंगने का प्रसंग था। मुनि वेणीरामजी ने आचार्य भिक्षु से कहा—‘इसे हिंगलू से रंगना अच्छा नहीं है, इसे केल्लू से रंग लें, मूर्च्छा नहीं आएगी।’ आचार्य भिक्षु ने कहा—‘एक खपरेल कुछ खराब है और एक खपरेल कुछ अच्छा है। तुम कौन सा लोगे?’ मुनि वेणीरामजी बोले—‘जो अच्छा है, वही लूंगा। आचार्य भिक्षु ने कहा—‘तब तो खपरेल भी मूर्च्छा का कारण बन गया।’

राजा को प्रतिबोध

प्रश्न वस्तु का नहीं है, प्रश्न है मूर्च्छा का। राजा इषुकार को सूचना दी गई—राजपुरोहित भृगु अपनी पत्नी एवं पुत्रों के साथ अकूत धन-वैभव को छोड़कर प्रव्रजित हो गए। उनकी सम्पत्ति का वारिस कोई नहीं है। जिस सम्पत्ति का कोई मालिक नहीं होता, उस पर राज्य का अधिकार होता है। राजा ने उस सम्पत्ति को राज्य के कोषागार में लाने का आदेश दे दिया। महारानी कमलावती ने इस राजाज्ञा को सुना। उसने राजा को प्रतिबोध देते हुए कहा—‘राजन्! वमन खाने वाले पुरुष की प्रशंसा नहीं होती। तुम ब्राह्मण के द्वारा परित्यक्त धन को लेना चाहते हो, यह क्या है? यदि समूचा जगत् मित्त जाए या सारा धन तुम्हारा हो जाए तो वह भी तुम्हारी इच्छापूर्ति के लिए पर्याप्त नहीं होगा। वह तुम्हें कभी त्राण नहीं दे सकेगा। राजन्! एक दिन इस धन और कामनाओं को छोड़कर मरना होगा। एक धर्म ही त्राण है, दूसरा कोई त्राण नहीं हो सकता’—

वंतासी पुरिसो रायं! न सो होई पससिओ।

माहणेण परिच्चत्तं, धणं आदाउमिच्छसि॥

सव्वं जगं जइ तुहं, सव्वं वा वि धणं भवे।

सव्वं पि ते अपज्जत्तं, नेव ताणाय तं तव॥

मरिहिसि रायं! जया तया वा, मणोरमे कामगुणे पहाय।

एक्को हु धम्मो नरदेव! ताणं, न विज्जई अन्नमिहेह किंचि॥

महारानी का उपदेश सुन राजा प्रतिबुद्ध हो गया। राजा इषुकार और रानी कमलावती—दोनों संयम के पथ पर प्रस्थित हो गए। भृगुपुत्रों का वैराग्य माता-पिता एवं राजा-रानी के रूपान्तरण का हेतु बन गया। उनके वैराग्य और संकल्प ने मूर्च्छा की मनोवृत्ति को पराजित कर दिया। अपरिग्रह और अमूर्च्छा की चेतना के आलोक से वे ज्योतिर्मय बन गए, समस्या का अंधकार विलीन हो गया। वह आलोक आज भी दुनिया को प्रकाशित करने वाला, मूर्च्छा से विरत होने की प्रेरणा देने वाला है।

साधुत्व की कसौटी

आचार्य की सन्निधि में ध्यान का प्रयोग शुरू हुआ। ध्यान के प्रारम्भ में एक सूत्र दिया गया—‘क्वाहं’ मैं कहां हूँ, इस विषय पर विचय करो। इस पहेली को बुझाओ कि मैं कहां हूँ। ‘मैं कौन हूँ’—कोऽहं के स्थान पर मैं कहां हूँ—क्वाऽहं का ध्यान। आधा घंटा बीता, ध्यान सम्पन्न हो गया। शिष्य ने जिज्ञासा की—

प्रश्नः कोऽहमिति ख्यातः, क्वाहमित्यस्ति नो श्रुतः।

‘गुरुदेव! मैं कौन हूँ, इस प्रश्न को अनेक बार सुना पर मैं कहां हूँ, यह नवीन प्रश्न है। मैं कहां हूँ, इसमें खोजना क्या है? सबका अपना-अपना स्थान है, अपना-अपना घर है, अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। प्रत्येक व्यक्ति जानता है—मैं कहां हूँ, फिर यह प्रश्न प्रस्तुत क्यों किया?’

आचार्य ने कहा—‘वत्स! मैं कौन हूँ, यह जानना जितना जरूरी है, उतना ही जरूरी यह जानना है कि मैं कहां हूँ। मैं कहां हूँ यह जाने बिना व्यक्ति यह निश्चय कैसे करेगा कि मुझे कहां जाना है। व्यक्ति की चेतना कहां है, इसी के आधार पर समझा जा सकता है कि वह कौन है?’

एक प्रश्न है—साधु कौन है? तैजसकेन्द्र का अतिक्रमण करके ही कोई व्यक्ति साधु बन सकता है, सम्यक्दृष्टि बन सकता है, श्रावक या धार्मिक बन सकता है—तैजसं समतिक्रम्य, चैतन्यं साधुतां व्रजेत्।

जब तक चेतना तैजस केन्द्र के आसपास परिक्रमा करती रहेगी तब तक व्यक्ति मिथ्यादृष्टि बना रहेगा, उसका कषाय प्रबल बना रहेगा, वह क्रोधी, अहंकारी और कामुक बना रहेगा। जब तक व्यक्ति यह नहीं जान लेता—मैं कहां हूँ, मेरी चेतना कहां है, तब तक साधुता की बात समझ में नहीं आ सकती। कर्म के प्रकंपन

हमारे शरीर में अनेक केन्द्र बने हुए हैं। जैन-दर्शन में कर्म के आठ प्रकार बतलाए गए हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि। ये सारे कर्म हमारे शरीर के भीतर हैं, कहीं बाहर, आकाश में टंगे हुए नहीं हैं। इस स्थूल शरीर के भीतर हैं। आठ कर्मों का एक संस्थान बना हुआ है। उस संस्थान का नाम है—कर्मशरीर। हमारी पूरी प्रवृत्तियों का संचालन वह संस्थान कर रहा है। कर्मशरीर के निर्देश आते हैं, उनके प्रकम्पन आते हैं, वे शरीर में आकर रसायन पैदा करते हैं। इस स्थूल शरीर में स्थान-स्थान पर चौकियाँ बनी हुई हैं। उन चौकियों पर निर्देश आता है और उनके द्वारा संचालन होता रहता है। कर्म की

सैकड़ों प्रकृतियां हैं, उनके सैकड़ों प्रकार के प्रकम्पन हैं, प्रत्येक प्रकम्पन ने अपना-अपना एक-एक स्थान बना रखा है। जिस-जिस प्रकृति का विपाक आता है, उस उस प्रकृति के प्रकम्पन स्थूल शरीर में आते हैं। उन प्रकम्पनों को क्रियान्वित करने के लिए उतनी ही चौकियां स्थूल शरीर में बनी हुई हैं।

हमारी नाभि (तैजस केन्द्र) के पास दो ग्रन्थियां हैं—एड्रीनल और गोनाड्स। कामवासना का केन्द्र है गोनाड्स और कषाय की अभिव्यक्ति का केन्द्र है एड्रीनल ग्लैण्ड। नाभि के आसपास ये दो मजबूत चौकियां हैं। जब मनुष्य की चेतना नाभि के आसपास काम करती है तब ईर्ष्या, भय, क्रोध, कलह आदि वृत्तियां जागती रहती हैं। पुराने आचार्यों ने अनेक कल्पनाएं कीं—नाभिकमल, हृदयकमल आदि। कमल की अनेक पंखुड़ियों में एक-एक वृत्ति की स्थापना। एक जैन आचार्य ने कल्पना की नाभि कमल की। उसमें बारह पंखुड़ियां हैं। वहां बारह प्रकार की वृत्तियां जागती हैं। जब तक हमारी चेतना नाभि के आसपास रहेगी तब तक साधुता की कल्पना नहीं की जा सकती। इस स्थिति में काम, क्रोध, ईर्ष्या, मत्सर आदि वृत्तियां ही जागेंगी। जब ये वृत्तियां जागेंगी, साधुता की बात समझ में नहीं आएगी।

आचार्य ने कहा—‘मैं कहां हूँ, इस पर ध्यान देना बहुत महत्त्वपूर्ण है। जब तक क्वाहं पर ध्यान नहीं जाएगा, तब तक अपनी स्थिति का यथार्थ बोध नहीं होगा।’ यदि स्वार्थ की चेतना जागृत है तो मानना चाहिए—चेतना नाभि के आसपास काम कर रही है। जो स्वार्थी है, केवल अपनी बात सोचता है, अपना हित देखता है, अपनी रोटी सेकता है, वह दूसरे के हित की बात नहीं सोच सकता। वह ‘तिन्नाणं तारयाणं’ नहीं हो सकता। वह आत्मानुकंपी और परानुकंपी—दोनों का जोड़ा नहीं हो सकता। वस्तुतः वह अनुकम्पी ही नहीं, केवल स्वार्थी होता है। ऐसे व्यक्ति की चेतना नाभि के इर्द-गिर्द केन्द्रित होती है।

साधुता की कसौटी

प्रश्न है—साधुता कब आती है? जब चेतना तैजस केन्द्र से ऊपर उठकर आनन्द केन्द्र पर आ जाती है, थाइमस ग्लैण्ड के प्रभाव में आ जाती है तब मानना चाहिए—चैतन्य में साधुता आ गई। भगवान् महावीर ने साधुता की अनेक कसौटियां बतलाई हैं। कसौटी पर कसे बिना यथार्थ का पता नहीं चलता। व्यक्ति सोना खरीदता है तो पहले कसौटी करता है—सोना है या नहीं? कितनी खाद है और कितना सोना? कहीं पीतल तो नहीं है? साधु की कसौटी भी जरूरी है। आचार्य भिक्षु ने इस बात पर बहुत बल दिया—पहले परखो, कसौटी करो, उसके बाद मानो। जन्मना मत मानो। किसी कुल में पैदा होना कोई मानदण्ड नहीं है। प्रत्येक बात को परखो, आख मूंद कर स्वीकार मत करो।

उत्तराध्ययन सूत्र के पन्द्रहवें अध्ययन में साधु की कसौटियों का प्रतिपादन है। साधु कौन होता है, इसकी संक्षिप्त परिभाषा दशवैकालिक में भी है—

बहवे इसे असाधू, लोए वुच्चति साहुणो ।
 न लवे असाहु साहु ति साहु साहु ति आलवे ॥
 नाणदंसणसंपन्नं, संजमे य तवे रयं ।
 एवं गुणसमाउत्तं, संजयं साहुमालवे ॥

इस लोक में बहुत असाधु हैं, जिन्हें लोक में साधु माना जाता है। तुम असाधु को साधु मत कहो। जो ज्ञान-दर्शन से सम्पन्न हैं, संयम और तप में रत हैं, वे साधु हैं।

साधु कौन?

कौन साधु है और कौन असाधु? आज यह प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण बन गया है। जैन परम्परा के साधु भारतीय परम्परा के निराले साधु रहे हैं। इस तथ्य को जैन ही नहीं, सभी धर्मों के लोग स्वीकार करते हैं। जैन साधु की जितनी तपस्या और त्याग है, वह विस्मयकारी है लेकिन आज स्थिति चिन्तनीय बन गई है इसीलिए साधुता की कसौटी का निर्धारण अधिक प्रासंगिक बन गया है। जैन मुनि की एक पहचान बनी हुई है—जैन मुनि रुपया-पैसा नहीं रखता। वह सर्वथा अकिञ्चन और अपरिग्रही होता है। आज यह पहचान कुछ धुंधली बन रही है। दूसरे धर्म-सम्प्रदायों में यह माना जाता था—जिसके पास जितना अधिक पैसा है, जितना बड़ा मठ है, वह उतना ही बड़ा संन्यासी है। लेकिन जैन धर्म में साधु का मानदण्ड यह कभी नहीं रहा। ऐसा लगता है—जैन परम्परा में भी आज यह दरवाजा खुलना शुरू हो रहा है। अनेक जैन साधु रुपये-पैसे बटोरने में लगे हुए हैं। एक क्रम शुरू हुआ है—खुले आम पैसा इकट्ठा करना, बैंक-बैंलेस रखना, घर-घर जाकर रुपये मांगना। लगता है—कुछ संकोच रहा ही नहीं। मुनि यह नहीं सोच पा रहे हैं—मैं जैन मुनि हूँ, 'समणोऽहं'—मैं समण हूँ, अपरिग्रही और अकिञ्चन हूँ, मुझे पैसे को छूना भी नहीं है। इस अवस्था में साधु के सामने कसौटी का होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है और उन कसौटियों को जानना एक श्रावक के लिए भी अनिवार्य हो गया है।

एक श्रावक ने कहा—'महाराज! अमुक मुनि हमारे घर आए। उन्होंने रुपये मांगे। हमारी इच्छा तो नहीं थी रुपये देने की पर संकोचवश उनको कुछ रुपये दे दिए।' उसके पास खड़े एक व्यक्ति ने कहा—'यह तुमने अच्छा नहीं किया। तुम्हें यह कहना चाहिए था—यदि आप साधुवेश को छोड़ दें तो आपको सौ के स्थान पर हजार रुपये दे दूंगा पर इस वेश में रुपये मांगकर साधुत्व को लज्जित न करें।'

समस्या यह है—साधुत्व का वेश छोड़ दे तो रुपया न मिले और जैन साधु के वेश में रुपया मांगे, यह लज्जास्पद बात है। यह आज एक ज्वलंत प्रश्न बन रहा है। यदि इस पर श्रावक समाज ने ध्यान नहीं दिया तो शायद साधु समाज को डुबोने वाला कहलाएगा श्रावक समाज। आचार्य भिक्षु का यह श्लोक कितना मार्मिक है—

साध ने डुबोया श्रावकां, श्रावकां ने डुबोया साध ।
 दोनूं डूबा बापड़ा, श्रीजिनवयण विराध ॥

यह चित्र बहुत यथार्थ है। ऐसा लगता है—आज फिर एक बार आचार्य भिक्षु के जन्म लेने की जरूरत है। ऐसा कोई साहसी, अभय और सत्य का प्रवक्ता उभरे, जो साधु-समाज को पतन से बचा सके। इसके लिए सगुण भाषा का प्रयोग भी करना पड़े तो करना चाहिए।

अगुण भाषा

प्रसिद्ध समाजवादी चिन्तक डाक्टर राममनोहर लोहिया ने आचार्यवर से प्रार्थना की—आप मुनि नथमलजी (युवाचार्य महाप्रज्ञ) को भिक्षा के लिए मेरे घर भेजिए। मैं डा० लोहिया के घर गया। अनेक संत और श्रावक साथ थे। हम उनके घर थोड़ी देर रुके। बातचीत चल पड़ी। मैंने कहा—‘डा० साहब! आपकी काफी बातें पसन्द हैं, पर एक बात अच्छी नहीं लगती।’ डा० लोहिया ने कहा—‘मुनिजी! लगता है—आप भी प्रवाह में बह गए। किसी ने बहका दिया है आपको।’ मैंने कहा—‘डा० साहब! मैं किसी के कहने से नहीं कह रहा हूँ।’ डाक्टर लोहिया ने पूछा—‘आपको कौन सी बात अच्छी नहीं लगी?’ मैंने कहा—‘आप कटु बोलते हैं। कभी-कभी लोकसभा में भी हल्के शब्दों का प्रयोग कर लेते हैं। आप जैसा व्यक्ति इस प्रकार बोले, यह अखरने जैसी बात है।’ डा० लोहिया सुनते ही जोश में आ गए। वे तत्काल अपने अध्ययन कक्ष से कुछ फाइलें उठाकर ले आए। उन फाइलों को मेरे सामने रखते हुए डा० लोहिया ने कहा—‘ये मेरी लोकसभा में दिए गए भाषणों की फाइलें हैं। आप बताइए—मैंने कौन से ऐसे शब्द का प्रयोग किया है, जो कटु है। आप जिस शब्द के लिए कहेंगे, मैं उसे निकाल दूंगा।’ डा० लोहिया ने कहा—‘मुनिजी! पूजा उपासना की दो पद्धतियां चल रही हैं—सगुण उपासना और निर्गुण उपासना। सगुण उपासना वाले मूर्ति बनाकर पूजा करते हैं, निर्गुण वाले कोरा अमूर्त का ध्यान करते हैं। आम आदमी अमूर्त को नहीं समझता। उसके लिए सगुण उपासना का अधिक महत्त्व है। उसके सामने कोई आकार होना चाहिए। मैं लोकसभा में किसी को गाली नहीं देता, किन्तु सगुण भाषा बोलता हूँ ताकि वह बात किसी को चुभ जाए। यदि निर्गुण भाषा बोलूंगा तो मेरी बात कोई सुनेगा ही नहीं।’

श्रावक समाज की जागरूकता

आचार्य भिक्षु ने जिस भाषा का प्रयोग किया, वह अवश्य ही सगुण भाषा रही है। उन्होंने जो कुछ कहा, वह जनता को प्रभावित कर गया। आज जिस प्रकार जैन परम्परा में विकार आना शुरू हुआ है, यह आवश्यक हो गया है कि सगुण भाषा बोली जाए। सन् १९८६ में कुछ जैन मूर्तिपूजक मुनि विदेश यात्रा के लिए जाना चाहते थे। इस प्रश्न को लेकर बम्बई जैन समाज में काफी हलचल मच गई। जैन-समाज के अग्रणी व्यक्तियों ने कहा—‘यदि आप विदेश जाना चाहते हैं तो जाइए पर इस वेश में नहीं। साधुत्व का वेश उतार दीजिए और जैन धर्म के प्रचारक बन कर जाइए।’ इस घटना के संदर्भ में आचार्यवर ने बम्बई वासियों को एक संदेश प्रदान किया—‘आज आपने जैन साध्वाचार को लेकर एक प्रश्न खड़ा किया है, वह बहुत जरूरी है। बम्बई का समाज जागरूक समाज है। आपकी जागरूकता की मैं प्रशंसा करता हूँ।’ यह स्थिति कभी नहीं

होनी चाहिए कि साधु समाज चाहे जो करता रहे और श्रावक समाज सोया रहे। श्रावक समाज यह न सोचे—साधु जाने साधु का काम जाने, हमसे तो कुछ अच्छे ही हैं साधु। जिस दिन यह बात श्रावक समाज सोचेगा, उस दिन जैन समाज का अस्तित्व ही खतरे के बिन्दु पर पहुँच जायेगा। खतरे के बिन्दु से सावधान रहना जरूरी है। यदि वहाँ असावधानी होगी तो विनाश अवश्यभावी हो जाएगा।

नदी में बाढ़ आ गई। कर्मचारियों ने अधिकारियों को जानकारी दी। पानी खतरे के बिन्दु के पास आ गया है। अब क्या करें? अधिकारी प्रमादी था। उसने कहा—‘चिन्ता मत करो। खतरे के बिन्दु को तीन फीट ऊँचा कर दो।’

कितनी मूर्खता है! खतरे के बिन्दु को ऊपर करने से क्या होगा? यदि समाज प्रमादी बन जाए तो समस्या का समाधान नहीं हो सकता। आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ समाज में जागरूकता के संस्कार-बीज बोए। समाज में कुछ भी अवांछित होता है, श्रावक समाज की ओर से प्रश्न प्रस्तुत हो जाते हैं। आचार्य भिक्षु ने श्रावक समाज के हाथ में एक डंडा पकड़ा दिया—किसी साधु में दोष देखो तो छिपाओ मत, तत्काल उसे जता दो, गुरु को जता दो। श्रावक समाज को एक अधिकार दे दिया। कोई साधु-साध्वी अवांछनीय आचरण करता है तो श्रावक-समाज तत्काल जागरूक बन जाता है। वह उस बात को गुरु तक पहुँचा देता है। साधु-साध्वियां बाद में पहुँचते हैं, उनकी शिकायत पहले ही पहुँच जाती है। यह जागरूकता साधु-साध्वियों के स्वस्थ एवं निर्दोष आचरण का हेतु बनती है।

अकेला चले

महावीर ने साधु की जो कसौटियां बतलाई, वे जागरूकता की कसौटियां हैं। उत्तराध्ययन सूत्र के पन्द्रहवें अध्ययन में चालीस से भी अधिक कसौटियों का उल्लेख है। उनमें कुछ आन्तरिक कसौटियां हैं और कुछ बाह्य। प्रस्तुत प्रसंग में मैं दो-तीन कसौटियों की चर्चा करना चाहता हूँ। साधु की एक कसौटी है—अकेला होना। जो घर को छोड़कर अकेला चलना जानता है, उसका नाम है साधु। घर छोड़ने मात्र से कोई साधु नहीं बनता। जो केवल घर छोड़कर साधु बनता है और अकेला चलना नहीं जानता, उसकी साधुता में कमी आ जाएगी। बहुत बड़ी साधना है अकेला चलना। आचार्य भिक्षु ने कहा था—मरण धार सुध मग लखो। उन्होंने संकल्प किया—‘मैं शुद्ध मार्ग पर चलूँगा, चाहे मैं अकेला रह जाऊँ।’ जब तक यह एगचारिता का संकल्प दृढ़ नहीं होता, तब तक साधुता की बात पूरी आती नहीं है।

एक राजा ने कहा—साधुओं का भी कोई टोला नहीं होता। शेर का कभी टोला नहीं बनता। वह अकेला चलता है। भेड़-बकरियों का टोला होता है। हाथियों का गुप होता है। मनुष्यों का समाज होता है पर साधु, जिसने दुनिया को छोड़ दिया, घर बार छोड़ दिया, उसका क्या टोला होता है? साधु और शेर का कोई टोला नहीं होता।

उस समय इस प्रश्न का उत्तर क्या दिया गया, नहीं कहा जा सकता पर आज इस प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता है। वह उत्तर अनेकान्त की भाषा में

होगा—साधुओं का टोला होता भी है और नहीं भी। 'साधु अकेला चलना जानता है' इस दृष्टि से उनका कोई टोला नहीं होता। लेकिन यह भी सत्य है—जो अकेला चलना जानता है, वही वास्तव में टोला बनाने का अधिकारी हो सकता है। जो अकेला चलना ही नहीं जानते, उनका टोला बनना भी है तो वह लम्बे समय तक टिक नहीं सकता।

साधुता की महत्त्वपूर्ण कसौटी है—अकेला चलना। राग-द्वेष मुक्त होना, इसका अर्थ है अकेला होना। आचारांग सूत्र में मुनि का एक विशेषण है—'ओए'—ओज। इसका अर्थ है—अकेला होना। जब-जब राग-द्वेष आता है, व्यक्ति अकेला नहीं रहता। राग और द्वेष—ये दो साथी बने हुए हैं। राग-द्वेष छूटे और व्यक्ति अकेला रह गया। राग और द्वेष—दोनों आदिकाल से हमारे साथी बने हुए हैं। इनका साथ छूटने पर बचता कौन है? व्यक्ति यह सोचे—चाहे मैं कितने ही व्यक्तियों के साथ रहा हूँ पर वास्तव में अकेला हूँ। यह सूत्र जितना स्पष्ट रहेगा, जीवन में कोई खतरा आयेगा ही नहीं। दो शब्द हैं—द्वन्द्व और निर्द्वन्द्व। आचार्य भिक्षु का प्रसिद्ध वाक्य है—गण में रहूँ निरदाव अकेलो। जो द्वन्द्व में उलझ गया, वह खतरे की ओर बढ़ता चला जाएगा। जिन्होंने वास्तव में अकेलेपन का अनुभव किया है, उन्होंने साधुता के मर्म को समझा है।

अव्यग्र मन

साधुता की दूसरी कसौटी है—अव्यग्र मन। चित्त की दो प्रकार की अवस्थाएँ हैं—व्यग्र और अव्यग्र। मन चारों ओर भटकता रहता है। यह उसकी व्यग्रता है। वह एक बिन्दु पर केन्द्रित हो गया, इसका अर्थ है—एकाग्र मन। हम रूपक की भाषा में समझे—बछड़ा इधर-उधर चक्कर लगा रहा है, कूद-फाँद कर रहा है, इसका तात्पर्य है—व्यग्र मन। उसे एक खूँटे से बांध दिया। वह केवल उसकी ही परिक्रमा कर पाएगा, इसका तात्पर्य है एकाग्र मन—इधर-उधर भटकते हुए मन को एक स्थान पर केन्द्रित कर देना। मुनि का विश्लेषण है—अबहिल्लेसे—उसकी लेश्या बाहर नहीं जाए, भीतर रहे। जिसने लेश्या को भीतर बांध दिया, वह अव्यग्र हो गया। जिसने मन की एकाग्रता को नहीं साधा, उसने साधना के मर्म को नहीं समझा। मन में चंचलता और विक्षेप न आए, यह साधना की कसौटी है।

एक भाई ने पूछा—'महाराज! आपको साधु बने कितने वर्ष हुए हैं?' मुनिजी ने उत्तर दिया—'पन्द्रह वर्ष।' उस भाई का अगला प्रश्न था—'आप कहां तक पहुंचे हैं?'

यह प्रश्न प्रत्येक साधनाशील व्यक्ति के सामने है—वह कहां तक पहुंचा है? अभी वह कहां है और पहले वह कहां था। पांच वर्ष की साधना कर वह कहां तक पहुंचा? दस वर्ष बाद कहां तक पहुंचा? जिस साधक ने मन की एकाग्रता को साधा है, वही व्यक्ति इस प्रश्न का उत्तर दे सकता है।

प्रश्न पूछा गया—‘भगवन्! एक वर्ष के दीक्षित साधु को कितना सुख उपलब्ध होता है?’ महावीर ने उत्तर दिया—‘एक वर्ष का दीक्षित साधु सर्वार्थसिद्ध के देवताओं के सुखों का अतिक्रमण कर देता है।’

हम अभिधा से नहीं, लक्षणा से विचार करें। सर्वार्थसिद्ध का लाक्षणिक अर्थ है—जिसके अर्थ सिद्ध हो गए। साधक चेतना की उस भूमिका पर पहुंच गया, जहां पहुंचने पर कोई प्रयोजन शेष नहीं रहता। इस संदर्भ में यह प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है—मैं कहां हूँ? मैं कौन हूँ—इससे पहले यह प्रश्न उभरे—मैं कहां हूँ? जिसके सामने क्षितिज पर यह प्रश्न लिखा रहेगा, उसकी साधना में निरन्तर निखार आता रहेगा, साधुता की कसौटियां उसके लिए मार्गदर्शक बन जाएंगी।

ब्रह्मचर्य के साधक-बाधक तत्त्व

दो प्रकार की घटनाएं मिलती हैं—निमित्त से प्रभावित होने वाली घटनाएं और निमित्त की उपेक्षा कर उपादान पर चलने वाली घटनाएं। जैन आगम उत्तराध्ययन के सोलहवें अध्ययन में मुनि के लिए ब्रह्मचर्य के दस स्थान बतलाए गए हैं। वे निमित्तों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं—

१. निर्ग्रन्थ स्त्री, पशु और नपुंसक से आकीर्ण शयन और आसन का प्रयोग न करे।
२. केवल स्त्रियों के बीच कथा न कहे।
३. स्त्रियों के साथ एक आसन पर न बैठे।
४. स्त्रियों की मनोहर और मनोरम इन्द्रियों को दृष्टि गड़ा कर न देखे।
५. स्त्रियों के कूजन, रोदन, गीत, हास्य, विलाप आदि के शब्द न सुने।
६. पूर्व क्रीड़ाओं का अनुस्मरण न करे।
७. प्रणीत आहार न करे।
८. मात्रा से अधिक न खाए, न पीए।
९. विभूषा न करे।
१०. शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श में आसक्त न हो।

प्रकरण आचारांग का

ब्रह्मचर्य के इन दस स्थानों में उपादान की विशेष चर्चा नहीं है। आचारांग सूत्र का एक पूरा प्रकरण है, जिसमें निमित्त की चर्चा विशेष नहीं है, उपादान की चर्चा प्रमुख है। ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला अनागार—

१. निर्बल भोजन करे।
२. ऊनोदरिका करे, कम खाए।
३. ऊर्ध्व स्थान (धुटनों को ऊंचा और सिर को नीचा) कर कायोत्सर्ग करे।
४. ग्रामानुग्राम विहार करे।
५. यथाशक्ति आहार का परित्याग (अनशन) करे।
६. स्त्रियों के प्रति दौड़ने वाले मन का त्याग करे।
७. काम-कथा न करे।
८. वासनापूर्ण दृष्टि से न देखे।
९. परस्पर कामुक भावों का प्रसारण न करे।
१०. ममत्व न करे।

११. शरीर की साज-सज्जा न करे।
१२. मीन करे।
१३. मन का संवरण करे।
१४. सदा पाप का परिवर्जन करे।

निमित्त : उपादान

एक ओर प्रश्न है उपादान का तो दूसरी ओर प्रश्न है निमित्त का। एकांतदृष्टि कभी निमित्तों की ओर झुक जाती है तो कभी उपादान की ओर। सचाई तब सामने आती है जब हम सापेक्ष दृष्टि से विचार करते हैं। हम न केवल उपादान को पकड़ें और न केवल निमित्तों को। ब्रह्मचर्य की सिद्धि के लिए इन दोनों की सापेक्षता अपेक्षित है—

केवलं न निमित्तानि, साधनानि न केवलं।

सापेक्षता भवेदेषां, ब्रह्मचर्यस्य सिद्धये॥

ब्रह्मचर्य की सिद्धि के लिए हमें दोनों की सापेक्षता को समझना है। घटनाओं की मीमांसा करें या निमित्तों की। विचित्र घटनाएं घटित हुई हैं। स्थूलभद्र का प्रसंग हमारे सामने आता है। एक ओर कहा गया—मुनि वेश्या के मोहल्ले में गोचरी भी न जाए। इसे ब्रह्मचर्य का बाधक तत्त्व मान लिया गया। दूसरी ओर स्थूलभद्र वेश्या के मोहल्ले में ही नहीं गए, वेश्या के घर में गए। वे वेश्या के घर एक-दो दिन नहीं रहे किन्तु चातुर्मासिक प्रवास किया। आचार्य की आज्ञा से चातुर्मास किया, अनाज्ञा से नहीं। ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में एक निर्देश है—प्रणीत भोजन न करे। स्थूलभद्र ने वेश्या के घर रहते हुए प्रतिदिन षड्रस युक्त भोजन किया। वेश्या ने हाव-भाव से स्थूलभद्र को अपनी ओर खींचने का प्रयत्न किया। स्थूलभद्र के सामने उसने कामोद्दीपक गीत-संगीत और नृत्य प्रस्तुत किया। वेश्या कोशा ने पूर्व भोग की स्मृतियां भी दिलाई—

चित्रशाला

विशाला

मदनालय-सी

मलयाचल सी

मोहक सी

मादक सी

अतीत स्मृति सी

प्रियंकरा

कल्पना-सी मनोहरा

.....

.....

याद करो याद करो

पुनः सहवास करो

तिमिर का नाश करो।

यौवन है दो दिन का

सार यही जीवन का ।
 बने हो क्यों योगिराज !
 उचित नहीं महाराज !
 आलंबन सहित करो ।
 निराशा का आवरण
 दूर करो
 याद करो याद करो
 पुनः सहवास करो ।

वेश्या का यह भावपूर्ण अनुरोध भी स्थूलभद्र के संकल्प को हिला नहीं सका। जिस कोशा वेश्या के साथ स्थूलभद्र बारह वर्ष तक रहे, भोगों में डूबे रहे, वह वेश्या स्थूलभद्र के संकल्प के समक्ष पराजित हो गई। किसे बाधक तत्त्व कहा जाए और किसे साधक तत्त्व?

जरूरी हैं नियम

हम इस सचाई को समझें—जब तक मनोबल का विकास नहीं होता तब तक निमित्तों पर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है। जो इन पर ध्यान नहीं देता, उसके लिए विचलन या स्खलन होना अनिवार्य है। जब मनोबल का विकास हो जाता है तब नियम बदल जाते हैं। हम नियम और व्यवस्था को पकड़ कर न बैठ जाएं। नियम जरूरी हैं पर जब व्यक्ति एक भूमिका को पार कर जाता है तब वे नियम कृतकृत्य हो जाते हैं। जब साधक सिद्ध हो जाता है, साधकत्व उपलब्ध हो जाता है तब नियम गौण बन जाते हैं। जब तक साधकत्व प्रबल नहीं है तब तक निमित्त बलवान बना रहेगा। एक बलवान बनता है तो दूसरा निष्क्रिय बन जाता है। जब उपादान बलवान होता है तब निमित्त गौण हो जाता है और जब निमित्त बलवान होता है तब उपादान गौण हो जाता है।

ऐसी कितनी घटनाएं हैं। सुदर्शन सेट की घटना को देखें। महारानी उसे विचलित करना चाहती है किन्तु सुदर्शन अडिग है। आचार्य भिक्षु ने इस घटना का बहुत सुन्दर चित्रण किया है। विजय सेट और विजया सेटानी की घटना को पढ़ें। वर्तमान में देखें तो महात्मा गांधी ने ब्रह्मचर्य के संदर्भ में बड़े विचित्र प्रयोग किए। आचार्य कृपलानी ने लिखा—‘गांधी ऐसे विचित्र प्रयोग कर रहे हैं। मेरा ऐसा विश्वास है कि मैं अगर गांधी को अनाचार करता हुआ देख भी लूं तो एक बार सोचूंगा—मेरी आंखें मुझे धोखा दे गईं। वे ऐसा नहीं कर सकते।’ तेरापंथ समाज के वरिष्ठ व्यक्ति थे सुगनचन्दजी आंचलिया। उनका मनोबल बहुत दृढ़ था। उन्होंने भी ब्रह्मचर्य के अनेक प्रयोग किए। उनकी धृति बहुत प्रशंस्य थी। जो लोग ऐसी स्थिति में चले जाते हैं, उनके लिए निमित्त अकिंचित्कर बन जाते हैं। दूसरी ओर निमित्त की घटनाएं भी कम नहीं हैं। थोड़ा-सा निमित्त मिला, व्यक्ति मोम की तरह पिघल गया। दोनों प्रकार की घटनाएं हमारे सामने हैं। प्रश्न है—हम क्या करें? क्या ब्रह्मचर्य के जो दस स्थान बतलाए गए हैं, उनकी उपेक्षा करें? नहीं, उनकी उपेक्षा न करें। हम अभ्यास करें निमित्तों से उपादान की ओर जाने का। जब तक अभ्यास परिपक्व न हो तब तक निमित्तों की उपेक्षा न करें।

एक घटना है—एक व्यक्ति ने पहले अपने आपको पकाया। ब्रह्मचर्य को सिद्ध किया। फिर उसका परीक्षण किया। वह पहले दिन वेश्या के पास गया। वेश्या उसके सामने बैठ गई। वह वेश्या के रंग-रूप और लावण्य को देखता रहा किन्तु उसके मनोबल में न्यूनता नहीं आई। दूसरे दिन वह वेश्या के पास बैठ गया फिर भी मन विचलित नहीं हुआ। चौथे दिन उसने वेश्या का स्पर्श किया, उसके शरीर से सटकर बैठ गया फिर भी मन विचलित नहीं हुआ। कुछ दिन ऐसा अभ्यास चला। उसके बाद उसने वेश्या को अर्द्धनग्न अवस्था में देखा और एक दिन वेश्या को निर्वस्त्र कर अपनी गोद में बिठा लिया। उसका मन अडोल रहा। ब्रह्मचर्य सिद्ध हो गया।

इस घटना का निष्कर्ष निकाला गया—वह व्यक्ति संन्यासी होना चाहता था इसलिए अपने आपको साथ रहा था। हम इस प्रश्न पर विचार करें और अपनी परिपक्वता को बढ़ाएं। इस दृष्टि से जो महत्त्वपूर्ण नियम हैं, उसमें से कुछ पर विमर्श करें, यह अपेक्षित है।

आहार और ब्रह्मचर्य

भोजन के संदर्भ में दो नियम हैं—प्रणीत और अतिमात्र भोजन न करें। शायद ही अध्यात्म का कोई ऐसा विषय होगा, जिसके साथ भोजन की बात न जुड़ी हुई हो। भोजन बहुत प्रभावित करता है। तंत्र-शास्त्र में इस विषय पर बहुत नई दृष्टियाँ मिलती हैं। एक नया दर्शन तंत्र-शास्त्र में दिया गया—पांच ज्ञानेन्द्रियों के साथ पांच कर्मेन्द्रियों का सम्बन्ध है। उपस्थ का सम्बन्ध है जीभ के साथ। रसनेन्द्रिय को जितना पोषण मिलेगा उतना पोषण मिलेगा जननेन्द्रिय को। रसनेन्द्रिय और जननेन्द्रिय में गहरा सम्बन्ध है।

बहुत मनन के बाद यह नियम बनाया गया—प्रणीत और अतिमात्र भोजन का वर्जन करें। ज्यादा भी न खाएं और रोज-रोज गरिष्ठ भोजन न करें। दूध, दही, घी आदि जितनी विकृतियाँ हैं, वे शरीर के लिए आवश्यक भी होती हैं किन्तु ये बाधक भी बनती हैं। आयुर्वेद का एक सिद्धांत है—बल बढ़ाना है तो दूध पीओ। दूसरा सिद्धांत यह आया है—दूध मनुष्य के लिए आवश्यक नहीं है, वह केवल बच्चों के लिए आवश्यक है। दूध हृदय रोग को भी बढ़ाता है। किसे सच मानें? दुनियाँ में विचारों की इतनी संकुलता है कि किसे स्वीकारा जाए और किसे अस्वीकारा जाए? एक विचार को पकड़कर बैठ जाएं तो बड़ी समस्या हो जाती है इसीलिए कहा गया—यत् सारभूतं तदुपासनीयम्—जो सारभूत है, उसकी उपासना करें।

ध्यान दें उपादान पर

अनेकान्त दर्शन का तात्पर्य है—हम किसी एक विचार को पूरा सत्य मानकर न बैठें। हम यह मानें—दुनियाँ में विचारों की बहुत संकुलता है। समाधान यही है—हम स्वयं सत्य खोजें। विचारों को सुनें, जानें और स्वयं खोज करें। ब्रह्मचर्य के क्षेत्र में भी विचारों की कमी नहीं है। इन्द्रियों का संयम कैसे करें? कितना करें? क्यों करें? वर्तमान युग में ही नहीं, महावीर के युग में भी इस संदर्भ में अनेक विचित्र विचार उभरे थे। सूत्रकृतांग सूत्र को पढ़ने वाला इस

सचाई को जानता है। ब्रह्मचर्य पर सबसे अधिक बल भगवान महावीर ने दिया। महावीर ने सब विचारों का सार प्रस्तुत किया, निमित्तों का भी और उपादान का भी। इस संदर्भ में एक बात कहने में संकोच नहीं होता—आज जितना ध्यान केवल निमित्तों पर है उतना उपादान पर नहीं दिया जा रहा है। मानसिक शुद्धि कैसे करें? मन पवित्र कैसे बना रहे? इस पर बहुत ध्यान नहीं दिया जा रहा है इसलिए जितना विकास होना चाहिए उतना नहीं हो पा रहा है।

ब्रह्मचर्य : परिणाम

ब्रह्मचर्य का लाभ है—प्रतिभा का विकास। ब्रह्मचर्य का लाभ है—धृति का विकास। बहुत बार प्रश्न होता है—गांधी जैसा दुबला-पतला आदमी, इतने कष्ट कैसे सहे? इतने विरोध का सामना कैसे किया? उनमें इतनी धृति का विकास कैसे हुआ? यह स्वीकार करना चाहिए—जैसे-जैसे ब्रह्मचर्य की आन्तरिक साधना परिपक्व होती है वैसे-वैसे धृति का विकास होता है, प्रतिभा का विकास होता है। ब्रह्मचर्य से सिद्ध होता है—प्रातिभ ज्ञान, धृति, अपने मन एवं इन्द्रियों पर नियंत्रण करने की क्षमता। शरीर के विकास के साथ-साथ इन आन्तरिक शक्तियों के विकास का सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता।

आराधना साधक तत्त्वों की

भगवान महावीर ने ब्रह्मचर्य के साधक-बाधक तत्त्वों की सुन्दर विवेचना की है। हम बाधक तत्त्वों का निरसन कर साधक तत्त्वों की आराधना करें। निमित्तों का निरन्तर ध्यान रखते हुए उपादान की दिशा में अपनी यात्रा को आगे बढ़ाएं। इससे चित्त और अन्तःकरण की निर्मलता बढ़ती चली जाएगी। इसके लिए प्रयोग भी बहुत अपेक्षित हैं। शरीर-शास्त्र का अध्ययन करने वाला व्यक्ति जानता है—वृत्ति कहां पैदा होती है? कौन उसे उभारता है? उसकी क्रियान्विति कहां होती है और उसके निवारण के कौन-कौन-से स्थान हैं? इनके बारे में जितनी स्पष्ट जानकारी आज मिल रही है शायद उतनी पहले भी थी, यह नहीं कहा जा सकता। इन शताब्दियों में तो ऐसा युग आया कि इन नियमों की जानकारी बहुत कम रह गई। इस विषय को एक प्रकार से लज्जनीय विषय मान लिया गया। जानकारी के अभाव में भी समस्याएं पैदा होती हैं। आचार्य भिक्षु ने 'शील की नवबाड़' ग्रन्थ लिखा। उस ग्रन्थ में ब्रह्मचर्य के साधक-बाधक तत्त्वों का सुन्दर विश्लेषण है।

ब्रह्मचर्य : ध्यान के प्रयोग

ब्रह्मचर्य के विकास में ध्यान के कुछ प्रयोग बहुत उपयोगी हैं। हम आनन्द केन्द्र पर अहं का ध्यान करते हैं। आज वैज्ञानिक दृष्टि से भी यह माना जाने लगा है कि इससे वृत्तियों पर नियन्त्रण होता है। दर्शन केन्द्र, ज्योति केन्द्र—ये सारे नियन्त्रण करने वाले केन्द्र हैं। इन पर ध्यान करने से वृत्तियों का दमन नहीं, उदात्तीकरण होता है। दमन करना, रोकना एक बात है। उदात्तीकरण उस से बिल्कुल भिन्न है। प्रश्न है—क्या दस-बीस या पचास वर्ष बीत जाने पर, भी केवल नियंत्रण की ही बात रहेगी? इस दिशा में विकास होना चाहिए। हम

ऐसा प्रयास करें—नियन्त्रण स्वयं उदात्तीकरण की दिशा में आगे बढ़ता चला जाए। हमारी चेतना अधिक से अधिक स्वाध्याय, ध्यान और आत्म-गवेषणा में लगे। जैसे-जैसे चेतना का नियोजन इन सबमें होगा, अन्य बातें गौण होती चली जाएंगी। विकास की दिशा में आगे बढ़ते हुए, वर्जनाओं और निमित्तों का ध्यान रखते हुए अपनी चेतना को पवित्र और निर्मल बनाते चले जाएं, ब्रह्मचर्य सिद्ध हो जाएगा। ब्रह्मचर्य केवल उपस्थ का संयम ही नहीं है। उसका अर्थ है—इन्द्रियों का संयम। उसका व्यापक अर्थ है आचार। जीवन का आचार, ब्रह्मचर्य का आचार या ब्रह्म विद्या का पूरा विकास होगा तो जीवन में एक नया तेज और एक नई अनुभूति का आविर्भाव होगा।

जहां साधुता सिसकती है

हमारी दोनों आंखें इस जगत को देखती हैं, तब भेद ही भेद नजर आता है। अभेद खोजने पर मिलता है और मिलता है तो आश्चर्य भी होता है। भेद में कोई आश्चर्य नहीं होता।

हम जिस जगत में जीते हैं, वह स्थूल है। जिस जगत् को हमारी इन्द्रियां देख रही हैं, वह भी स्थूल है। स्थूल का अर्थ होता है भेद। हम भेद को ही पकड़ पाते हैं। भेद में कम से कम तीन भूमिकाएं की जा सकती हैं—आदि, मध्य और अन्तिम। दुनिया के प्रत्येक पदार्थ में तारतम्य है, भूमिका-भेद है। मकान, पहाड़, नदी और पेड़—इन सबमें तारतम्य है, मनुष्य-मनुष्य में भी तारतम्य स्पष्ट दिखाई देता है। जिन्होंने घर छोड़ दिया, जो साधु बन गए, उनमें भी बहुत तारतम्य होता है।

साधु बनना एक बात है किन्तु साधु बनने के बाद उसकी जो भूमिकाएं हैं, उन पर ध्यान केन्द्रित होना, उनका सम्यक निर्वहन करना बिल्कुल दूसरी बात है। सब साधु समान नहीं होते। वे व्यक्ति थोखे में रहते हैं, जो सब साधुओं को समान मान लेते हैं। एक साधु दूज के चांद जैसा होता है और एक साधु पूनम के चांद जैसा होता है। इस भूमिका-भेद या तरतमता को समझना आवश्यक है। इस भूमिका-भेद का यथार्थ ज्ञान नहीं होता है तो व्यक्ति भ्रान्ति का जीवन जीता है। जब कभी यह भ्रान्ति टूटती है, व्यक्ति को कष्ट होता है। वह अनास्था से भर जाता है, विचलित हो जाता है किन्तु यदि यह तरतमता स्पष्ट ज्ञात होती है तो व्यक्ति भ्रान्ति में नहीं उलझता, उसकी आस्था विचलित नहीं होती।

मुनि: तीन श्रेणियां

साधना के स्तर पर साधु की कई भूमिकाएं हैं। भगवान महावीर ने मुनि को तीन श्रेणियों में विभक्त किया—भिक्षु कौन होता है? पूजनीय साधु कौन होता है? पापश्रमण कौन होता है? पापश्रमण का अर्थ है दुष्ट साधु, स्वलना करने वाला, दोषपूर्ण जीवन जीने वाला मुनि। इन प्रश्नों के आधार पर भगवान् महावीर ने तीन तालिकाओं को निर्माण किया—

- जो साधु की न्यूनतम आचार-संहिता का पालन करता है, वह भिक्षु होता है।
- जो साधु की आचार-संहिता का सजगता से पालन करता है, निरन्तर अप्रमाद का जीवन जीता है, वह पूजनीय साधु होता है।
- जो साधु की न्यूनतम आचार-संहिता का अतिक्रमण करता है, उसका सम्यग पालन नहीं करता, सतत प्रमाद का जीवन जीता है, वह पापश्रमण होता है।

उत्तराध्ययन में पापश्रमण के लक्षणों का विस्तृत निर्देश है। जो व्यक्ति मुनि जीवन को स्वीकार कर उसके नियमों का सम्यक्तया पालन नहीं करता, साधना की दिशा में आगे नहीं बढ़ता, यह पापश्रमण होता है। ऐसे मुनि को देख कर साधुता सिसकती है, लज्जित होती है। आचार्यप्रवर बहुत बार कहते हैं—कोई साधु बना और किसी काम में लग गया तो संतोष होता है। यह विश्वास जम जाता है कि वह अपने जीवन को ठीक चलाएगा। यदि साधु किसी काम में नहीं लगता है, न स्वाध्याय करता है, न ध्यान, न सेवा और न तपस्या करता है तो बड़ा खतरा बना रहता है। पूज्य कालूगणी कहा करते थे—जो साधु प्रारम्भ में ही बातों में लग जाता है, वह बिगड़ जाता है, उसका जीवन नहीं सुधर सकता।

आहार करना, पानी पीना, नींद लेना, कपड़े पहनना और जीवन-चर्या चलाना एक साधु के लिए सामान्य बात है। यह तो एक गृहस्थ भी करता है। इसमें साधुता की कोई अतिरिक्त बात नहीं है।

स्वाध्याय

स्वाध्याय, ध्यान, पवित्र भाव और तप—ये चार साधु की कसौटियां हैं। जो इन कसौटियों का पालन नहीं करता, इनसे विरत रहता है, वह पापश्रमण होता है।

पवित्रश्रमण की पहली कसौटी है—स्वाध्याय। पवित्रश्रमण स्वाध्यायशील होता है। पापश्रमण का स्वाध्याय में मन नहीं लगता। उसका बात करने में जितना रस है, पढ़ने में उतना रस नहीं है। यह केवल आज की बात नहीं है, हजारों वर्ष पूर्व भी ऐसी मनोदशा रही है।

नव दीक्षित शिष्य से आचार्य ने कहा—‘तुम स्वाध्याय करो, पढ़ना शुरू करो।’

‘महाराज! क्यों पढ़ें?’

‘पढ़े बिना पूरा ज्ञान नहीं होता।’

‘महाराज! मुझे ज्ञान की जरूरत क्या है? आपकी कृपा प्राप्त हो गई है, वरदहस्त प्राप्त हो गया है, फिर चिन्ता किस बात की है? एक व्यक्ति को मकान, कपड़े, रोटी और पानी चाहिए, ये सभी आपकी कृपा से मिल रहे हैं।’

‘सारी बातें तो मिल रही हैं पर पढ़े बिना पता कैसे चलेगा कि कहां क्या हो रहा है?’

महाराज! ‘मुझे सारा पता है कि कहां, कौन, क्या कर रहा है।’

आचार्य ने कहा—‘प्रेक्षा दो प्रकार की होती हैं। एक का नाम है अपरा और दूसरी का नाम है परा। जो अपरा प्रेक्षा है, वह लौकिक है, वर्तमानदर्शी है। परा प्रेक्षा अलौकिक है, दूरदर्शी है। वह केवल जो सामने है, वर्तमान में उपलब्ध है, उसी को नहीं देखती, दूर तक की बात को देखती है।

अपरा तोषमायाति प्रेक्षा संप्राप्य लौकिकम्।

परा तु दुरदर्शित्वाद् अलौकिकपदं ब्रजेत्॥

सबसे कठिन है पर को देखना। हमारी इन्द्रियों की, बुद्धि और चिन्तन की सीमा अत्यन्त छोटी है। जो लोग इनकी सीमा में जीते हैं, वे छोटी बात को

सोचते और देखते हैं। बड़े लक्ष्य की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता। वे केवल दृश्य में उलझ जाते हैं, अदृश्य जगल उनके लिए अगम्य बन जाता है। तब तक परा प्रेक्षा नहीं जागी, जब तक अलौकिक पद प्राप्त नहीं होगा।'

शिष्य ने पूछा—'गुरुदेव! यह अलौकिक पद क्या है?' गुरु ने कहा—'पढ़े बिना पता नहीं चलता। श्रुत स्वाध्याय ही एक ऐसा उपाय है, जिसके द्वारा हम परोक्ष को प्रत्यक्ष कर सकते हैं। स्वर्ग किसने देखा है? नरक किसने देखा है? स्वाध्याय के द्वारा प्रत्यक्ष हो सकता है। श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष करा देता है। नई-नई बातें श्रुत के द्वारा प्राप्त होती हैं। जब श्रुत नहीं होता है तब अज्ञान होता है। आदमी नई बात से भी भड़क जाता है।'

स्वाध्याय का, ज्ञानार्जन का बहुत बड़ा मूल्य है। अगर वर्तमान की पीढ़ी ज्ञानवान नहीं होती है, दूरदर्शी नहीं होती है तो उसका परिणाम भावी पीढ़ियों का भुगतना पड़ता है। यह एक बहुत बड़ा शाश्वत सत्य है। वर्तमान की पीढ़ी पर दो दायित्व होते हैं—अतीत का दायित्व यानि अपने पुरखों के प्रति दायित्व और भावी पीढ़ी के प्रति दायित्व यानि अपने बच्चों के भविष्य-निर्माण का दायित्व। जो वर्तमान की पीढ़ी अपनी बात सोचती है, अपने तक सोचती है, वह बहुत खतरनाक पीढ़ी होती है। अपने द्वारा किया हुआ कार्य भावी पीढ़ी पर क्या प्रभाव डालेगा? यह सोचना दूरदर्शिता है। यदि यह दूरदर्शिता नहीं होती है तो भावी पीढ़ी वर्तमान पीढ़ी को सदा कोसती रहती है।

जीवन का लक्ष्य

रोटी, कपड़ा और मकान जीवन का लक्ष्य नहीं है। जीवन का लक्ष्य होना चाहिए—निरन्तर नए तथ्य की प्राप्ति और वह स्वाध्याय से संभव है। जो गृहस्थ एक दिन में कोई नई बात नहीं पढ़ता, नई जानकारी नहीं लेता, तो क्या वह केवल खाने-पीने के लिए ही जीवन धारण करता है? यदि वह केवल इनके लिए ही जी रहा है तो मनुष्य जीवन की व्यर्थता इससे बड़ी क्या होगी? मनुष्य जीवन की सार्थकता ज्ञानार्जन से है। मनुष्य को ज्ञान की, जानने की शक्ति मिली है। अगर उसका वह कोई उपयोग नहीं करता है तो उससे बड़ी जीवन की कोई निरर्थकता नहीं हो सकती।

एक अच्छे मुनि का लक्षण है—स्वाध्यायशील होना पर स्वाध्याय में बड़ी बाधा है—आलस्य और निद्रा। महावीर ने कहा—जो साधु बन गया और केवल आहार, पानी और नींद में अपना जीवन बिताता है, वह पापश्रमण है।

चिन्तन का प्रश्न है—यदि साधु का सारा समय प्रमाद में बीतता है, केवल आहार पानी, गोचरी आदि में बीतता है, न स्वाध्याय और ध्यान होता है, न कोई विकास के लिए चिन्तन होता है, न अध्यात्म की यात्रा आगे बढ़ती है तो इस स्थिति में क्या साधुता नहीं सिसकती? साधुता सोचती है—मुझे कहां जाना था और मैं कहां आ गई?

जब कभी लक्ष्मी किसी कृपण आदमी या दुष्ट आदमी के पास चली जाती है तब वह भी रोती है। वह सोचती है—मैं किसके पल्ले पड़ गई। गलत स्थान पर आ गई। जैसे लक्ष्मी जैसी शक्तियां गलत स्थान को पाकर सिसकने

लग जाती हैं, वैसे ही साधुता जैसी पवित्र शक्ति किसी असाधुचरित व्यक्ति के पास चली जाती है तो सिसकने लग जाती है।

महावीर ने भार्गदर्शन दिया—हर साधु सावधान रहे, साधुता को सिसकने न दे। एक साधक मुनि धर्म की आराधना करता है, पांच महाव्रतों को ठीक पालता है, किन्तु वह व्यवहार में कुशल नहीं है, शांतिपूर्ण जीवन जीना नहीं जानता है तो साधुता सुबक उठती है। मुनि-जीवन में समस्या पैदा हो जाती है।

भगवान् महावीर ने पुण्यश्रमण के लिए जो बातें बतलाई हैं, उनमें कोरे महाव्रत ही नहीं हैं, पूरी जीवन की शैली का निरूपण है। मुनि एक प्रकार की जीवन-शैली अपनाकर पुण्यश्रमण बन जाता है।

बड़ा कौन बनता है

पूज्य कालूगणी टमकोर से राजगढ़ पधार रहे थे। एक दिन मध्यवर्ती छोटे ग्राम में ठहरे। शाम का समय था। मैं और मेरे सहपाठी मुनि बुद्धमल्लजी आचार्यश्री की उपासना में बैठे थे। कालूगणी ने कहा—‘तुम बड़ा बनना चाहते हो या छोटा?’ हमने तत्काल कहा—‘बड़ा!’ प्रत्येक आदमी बड़ा होना चाहता है, छोटा होना कोई नहीं चाहता। कालूगणी ने कहा—‘लो! तुम यह श्लोक सीखो—

*बालसखित्वमकारणहास्यं, स्त्रीषु विवादमसज्जनसेवा
गर्दभयानमसंस्कृतवाणी, षट्सु नरो लघुतामुपयाति।।*

बाल सखित्व, अकारण हास्य, स्त्रियों से विवाद, दुर्जन की सेवा, गधे की सवारी और असंस्कृत भाषा—इन छह कारणों से व्यक्ति लघुता को प्राप्त होता है।’

जो बच्चों के साथ ज्यादा हंसी-मजाक करता है या मित्रता करता है, जो अकारण हंसता है, बात-बात पर हंसता है, ऐसा व्यक्ति छोटा बन जाता है। जो व्यक्ति स्त्रियों के साथ विवाद करता है, वह भी छोटा बन जाता है। पुरुष को बड़ा माना जाता है और स्त्री को छोटा। स्त्री के साथ विवाद करे और जीत जाए तो लोग कहेंगे—आखिर स्त्री को ही तो जीता, क्या बड़ा काम किया? हार जाएगा तो लोग कहेंगे—नपुंसक है, स्त्री से हार गया। दोनों ओर से हानि है। कहीं भी विजय की बात नहीं। शायद इसी अपेक्षा से कहा गया होगा—स्त्रियों के साथ विवाद करना छुटपन का कार्य है। इस संदर्भ को व्यापक रूप दिया जा सकता है। स्त्रियों के साथ ही नहीं, किसी भी व्यक्ति के साथ विवाद करने वाला छोटा बन जाता है।

यदिच्छसि गुरोर्भावं, विवादं त्यज दूरतः।

आग्रहेन विवादेन, लघुतां मानवो व्रजेत्।।

यदि तुम महान् बनना चाहते हो तो विवाद को छोड़ दो। आग्रह और विवाद से मनुष्य छोटा बन जाता है।

मनुष्य की मनोवृत्ति

महावीर ने कहा—जो शांत हुए विवाद को फिर से उभारता है, जो सदाचार से शून्य होता है, जो कुतर्क से अपनी प्रज्ञा का हनन करता है, जो कदाग्रह और कलह में रत होता है, वह पापश्रमण कहलाता है। कुछ व्यक्तियों

की मनोवृत्ति विवाद को उकसाने की होती है। विवाद का प्रसंग नहीं होता है तो भी वे जानबूझ कर विवाद को पैदा कर देते हैं। वे हर बात को विवाद का रूप दे देते हैं। भगवान महावीर ने इसी मनोवृत्ति की ओर संकेत किया है।

विवादं च उदीरेइ, अहम्मे अत्तपन्नहा।

वुग्गहे कलहे रत्ते, पावसमणे ति वुच्चई॥

दो शब्द हैं—संवाद और विवाद। संवाद का अर्थ होता है जुड़ जाना। विवाद का मतलब है टूट जाना, बिखर जाना। प्रत्येक बात को सम्यक ग्रहण करने से संवाद बनता है किंतु मनुष्य ऐसा नहीं करता। वह हर बात में विवाद खड़ा कर देता है। मूल बात तो जहां की तहां रह जाती है और एक नया अध्याय उसके साथ जुड़ जाता है: यह मानवीय प्रकृति की बहुत बड़ी समस्या है। महावीर ने जीवन शैली का महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया—विवाद के स्थान पर संवाद करना सीखो।

विवाद और कलह

विवाद, विग्रह और कलह—यह एक श्रृंखला है। पहले विवाद शुरू होता है, फिर बढ़ते-बढ़ते विग्रह बन जाता है। विवाद बढ़ा, खींचातानी हुई और कलह हो गया। कलह की समस्या शाश्वत समस्या है। आदमी बहुत कलह करता है पर कलह होता क्यों है? अगर हम इस प्रश्न की मीमांसा करें तो साफ होगा—कलह सीधा नहीं होता। वह शुरू होता है विवाद से। विवाद बढ़ते-बढ़ते विग्रह का रूप ले लेता है, उसमें आग्रह और जुड़ जाता है। विवाद, आग्रह और विग्रह की परिणति है कलह।

महावीर ने कहा—‘जो मुनि महाव्रती होते हुए भी इन तीन चीजों का प्रयोग करता है, वह पापश्रमण है। आग्रह करने वाला, विग्रह करने वाला और विवाद करने वाला मुनि पापश्रमण है’। मुनि के लिए कहा गया—जहां विवाद बढ़े, वहां वह तत्काल अपनी आत्मरक्षा करे। आत्मरक्षा का उपाय है—मौन हो जाना। विवाद वहीं समाप्त हो जाएगा।

प्रकृति का चित्रण

उत्तराध्ययन के सतरहवें अध्ययन में सर्वांग जीवन शैली के पक्ष और प्रतिपक्ष का बहुत सुन्दर चित्रण हुआ है। जयाचार्य ने दो गीतिकाएं बनाई—‘खोड़ीली प्रकृति नो धणी’ और ‘चोखी प्रकृति नो धणी’। इन दोनों गीतिकाओं से मनुष्य की प्रकृति का जीवन्त वर्णन है। इस संदर्भ में जयाचार्य ने एक सुन्दर घटना प्रस्तुत की है—‘कोई व्यक्ति कपड़ा सी रहा है और बात भी कर रहा है। किसी ने कहा—कपड़ा भी सी रहे हो और बात भी कर रहे हो। कहीं सूई की न लग जाये, इसलिए बातें मत करो।’ वह प्रत्युत्तर में कहता है—‘मुझे क्या कह रहे हो, तुम सावधान रहना, कहीं तुम्हारे न लग जाए!’ जयाचार्य ने कहा—‘ऐसा व्यक्ति खोड़ीली प्रकृति का धणी होता है।’

महावीर की भाषा में ऐसा मुनि पापश्रमण होता है, साधुओं के ऐसे आचरण से साधुता सिसक उठती है। यदि अच्छी बात कोई बच्चा भी कहे तो उसे स्वीकार कर लेना चाहिए किन्तु जिसकी प्रकृति अच्छी नहीं होती, वह

कहेगा—मुझे सलाह देने आया है। खुद तो अपना ध्यान ही नहीं रखता और मुझे सीख देता है।

‘सम्यक ग्रहण न करना’—एक बहुत बड़ी संक्रामक बीमारी है। एक-दो नहीं, किंतु प्रत्येक व्यक्ति इससे ग्रस्त है। प्रत्येक व्यक्ति कहता है—‘तुम अपना ध्यान रखो, दूसरे की चिंता छोड़ो!’ वह अच्छी प्रेरणा को भी सम्यक स्वीकार नहीं करता किन्तु प्रतिक्रिया करता है। वह सोचता है—कब मैं उसकी बात को पकड़ूँ और कहूँ—तुम स्वयं क्या कर रहे हो? जब तक यह नहीं कह देता तब तक उसे पूरा चैन भी नहीं पड़ता। एक प्रकार से मानसिक बेचैनी जैसी स्थिति बन जाती है। उसे तब तक संतोष नहीं मिलता जब तक वह सामने वाले व्यक्ति की बुराई को पकड़ नहीं लेता।

साधुता की शोभा

विनम्रता साधुता की शोभा है। प्राचीन साधुओं की जीवनियां पढ़ें। जितने भी अच्छे साधु हुए हैं, वे अत्यन्त विनम्र थे। जैन परम्परा में और अन्य परम्पराओं में भी ऐसे साधुओं का प्रचुर उल्लेख मिलता है। साधु कहीं भी मिल सकता है, सज्जनता कहीं भी मिल सकती हैं। भद्रता, उच्चता और विशालता—ये किसी देशकाल से बंधे हुए नहीं है। ऐसे-ऐसे विलक्षण संत हुए हैं, जिन्होंने हर बात को सहा है। आचार्य भिक्षु की जीवनी को पढ़ें, उन्होंने बहुत सहा है। प्रत्येक बात को सम्यक ग्रहण करना उनके जीवन की विशेषता थी। जो आदमी हर बात को सम्यक ले लेता है, उसका कोई कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता।

बुद्धिमान आदमी वही होता है, जो बुराई में से अच्छे प्रसंग निकाल लेता है। जिस आदमी में विशालता होती है, उसमें महानता जागती है। गुरुता और बड़प्पन के लिए इन छोटी-छोटी बातों से बचना बहुत आवश्यक है। आदमी को अनेक बार सहना पड़ता है। यह सहना उसमें बड़प्पन लाता है और न सहना छुटपन लाता है। अगर छोटे व्यक्तियों से निम्नता का व्यवहार करोगे तो जीवन भर वे तुम्हारे सामने बोलते ही रहेंगे। खुद में महानता नहीं होती है, छिछलापन होता है तो व्यक्ति जीवन भर छोटा ही बना रहता है। जब एक मुनि की महानता और विशालता कम होती है, उसमें शुद्धता की वृत्ति जन्म नहीं लेती है तब साधुता सिसक उठती है। साधुता के सिसकते रूप को बदलने के लिए बुद्धिमानी और शालीनता की जरूरत है, विशालता और महानता की जरूरत है। यदि व्यक्ति बुद्धिमान होता है, उदात्त और महत्तम प्रकृति का होता है तो प्रत्येक घटना में से महान बनने का बिंदु खोज लेता है।

जो व्यक्ति सम्यग आचरण और व्यवहार करना जानता है, वह सारे विवादों को शांत कर देता है, समाधि का जीवन जीता है और पुण्यश्चमण बन जाता है। इस सूत्र पर निरन्तर मनन किया जाये तो साधुता समर्थ और शक्तिशाली बनती चली जाएगी।

अभयो पत्थिवा ! तुब्भं

प्रत्येक व्यक्ति अभय होना चाहता है, वह सदा भय से मुक्त होने की चर्चा करता रहता है। वस्तुतः जो दूसरों को डराता है, वह डर की चर्चा करने का अधिकारी नहीं है। अभय के लिए सबसे पहले डराने की बात छोड़ें, फिर डरने की बात ही नहीं आएगी। डरो मत, अभय बनो, इसके स्थान पर यह सूत्र होना चाहिये—‘डराओ मत।’ यह सूत्र बनेगा तभी ‘न डरो’ का सूत्र मजबूत बनेगा। भगवान महावीर ने दोनों बातें एक साथ कहीं—णो भायए णो वि य भावियप्पा—डरो मत और डराओ मत। इन दोनों को अलग नहीं किया जा सकता।

राजर्षि ने राजा संजय से कहा—‘मैं तुम्हें अभयदान देता हूँ पर तुम भी दूसरों को मत डराओ। तुम अभयदाता बनो। इस अनित्य जीव लोक में हिंसा में आसक्त क्यों हो रहे हो?’

अभयो पत्थिवा! तुब्भं, अभयदाया भवाहि य।

अणिच्चे जीवलोगम्भि, कि हिंसाए पसज्जसि?

यह अभय का बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है। जहां व्यवहार का जीवन है, सामाजिक और संस्थागत मूल्यों का जीवन है, वहां बहुत बार डरना पड़ता है और डरना जरूरी भी हो जाता है।

हम डरें तो बुद्धिमानी के साथ डरें। बुद्धि और डर एक बात है। जड़ और डर दूसरी बात है। मूर्ख वह होता है, जिसमें मूर्खता होती है और जड़ वह होता है, जो अपने खतरों से भी अनजान रहता है। न मूर्खता, न जड़ता किन्तु बुद्धि के साथ डरें। चूल्हा जलता है तो आदमी उसमें हाथ नहीं डालेगा। चूल्हा बुझा हुआ है तो वह हाथ से उसे साफ कर देगा क्योंकि उसमें समझ होती है। बुद्धि और अभय, बुद्धि और भय—ये दोनों बातें साथ में होनी चाहिए। हम जड़ नहीं हैं कि खतरों से अनजान रहें।

अभय कहां है?

कहा जाता है—एक आतंकवादी डरता नहीं, सैनिक भी डरता नहीं। यह सही नहीं है। सैनिक अभय कहा है? वह तो इतना भयभीत है कि शस्त्रों से लदा रहता है। अगर अभय होता तो शस्त्र कभी हाथ में लेता ही नहीं। एक योद्धा कभी अभय नहीं हो सकता, आतंकवादी कभी अभय नहीं हो सकता और अभय कोई जड़ भी नहीं हो सकता। जड़ में खतरे का भान नहीं होता। अभय वह होता है, जिसमें बुद्धि का विकास होता है। अभय की पहली शर्त है—बौद्धिक विकास। जो बुद्धिहीन हैं वे अभय नहीं हैं क्योंकि उनमें चेतना विकसित ही नहीं

है। इस तथ्य में भी अब संशोधन करना चाहिए। कुछ मनुष्य खतरे से अनजान होते हैं, परन्तु बहुत से छोटे प्राणी खतरे को बहुत पहले भांप जाते हैं। यह प्राणी में अतीन्द्रिय चेतना होने का प्रमाण है। ज्वालामुखी फटने वाला है, सारे प्राणी वहां से चले जाएंगे। उनके भागने के आधार पर अनुमान किया जाता है कि ज्वालामुखी फटने वाला है। वेकस्टर ने वनस्पति पर बहुत प्रयोग किए। इस सन्दर्भ में उनकी एक पुस्तक है—माडर्न रिसर्च। उसने सात व्यक्तियों को पौधे के पास भेजा। पौधे शांत बने रहे। फिर उस व्यक्ति को भेजा, जिसकी मनोवृत्ति पौधों को तोड़ने-मोड़ने की थी। वह व्यक्ति जैसे ही पौधों के सामने आया, गेल्बेनोमीटर की सूई घूमने लग गई। पोलिग्राफ पर भय जताने वाली रेखाएं अंकित हो गईं। भय की भांपने की बुद्धि हर छोटे प्राणी में होती है। त्रस की गति ही यह बता देती है कि वे भयभीत होते हैं। त्रसिताः पलायिताः—वे भय से पलायन कर जाते हैं। पलायन एक प्रवृत्ति है। उसका संवेग है—भय।

डर जरूरी भी है

हर व्यक्ति में भय और अभय—दोनों होते हैं। अभय आवश्यक है तो भय भी आवश्यक है। कहा गया—‘भय बिनु प्रीति न होय।’ यह भी एक सचाई है। प्रीति भय के बिना नहीं होती। भय निकल गया और चेतना जागी नहीं तो व्यक्ति उद्वंड, आक्रामक बन जाएगा। हमारे संवेग भी नियामक होते हैं। समाज भय के आधार पर चलता है, राज्य भय के आधार पर चलता है क्योंकि भय नियामक होता है। इसका निदर्शन है यह श्लोक—

हर डर गुरु डर गांव डर, डर करणी में सार।

तुलसी डरै तो उबरै, गाफिल खावै मार॥

कब, किसने डरना चाहिए और कब नहीं डरना चाहिए? इसमें विवेक और बुद्धि की जरूरत है। जहां मूढात्मा विश्वस्त है, वहां व्यक्ति के लिए उससे बड़ा कोई भय और खतरा नहीं होता। जो भयभीत है, उसके लिए अभय का कोई दूसरा स्थान नहीं है।

मूढात्मा यत्र विश्वस्तः ततो नान्यद् भयस्पदम्।

यतो भीतस्ततो नान्यद्, अभयस्थानमात्मनः॥

आदमी धन में बहुत विश्वास करता है। वह सोचता है—धन काम आएगा पर पता नहीं वह उसके काम आएगा, या औरों के काम आएगा। जो अभय देने वाला स्थान है, उससे वह घबराया हुआ रहता है और जो भय का स्थान है, उसे अभय का स्थान मान लेता है। यह विपर्यय भय का सबसे बड़ा कारण है।

अभय है आत्मस्थ

अभय को छोड़कर महावीर की और महावीर को छोड़कर अभय की व्याख्या नहीं की जा सकती। अभय का दूसरा कारण बनता है—आत्मस्थ हो जाना। जहां बुद्धि का विकास बढ़ता है, वहां आदमी झूठे भयों से मुक्त होता चला जाता है। माताएं बच्चों को अपने स्वार्थ के लिए हौया का डर बहुत दिखाती हैं, परिणामतः बच्चे कमजोर और डरपोक बन जाते हैं। यदि किसी

पचास वर्ष के आदमी से कहा जाए—भीतर मत जाना, हीवा बैठा है तो वह बिलकुल नहीं डरेगा क्योंकि उसमें बुद्धि का विकास हो गया है। जो आत्मस्थ हो जाता है, सन्तुलित बन जाता है, वह कर्भा नहीं डरता; असन्तुलन भय पैदा करता है। क्रोध आया, भय पैदा हो जाएगा। झूट बोला, भय पैदा हो जाएगा। भय परिणाम है। माया और भय का सम्बन्ध है। आजकल अनेक व्यक्तियों का छोटी अवस्था में हार्टफैल हो जाता है। इसके दो कारण हैं—लोभ और भय। भय से आदमी का हार्ट कमजोर बनता चला जाएगा। जहां आत्मस्थता नहीं आती, वहां भय बना का बना रहता है।

भयग्रस्त कौन?

अभय के सन्दर्भ में कहा गया—जो अतिमात्र भय है, पहले उसे क्षय करना सीखो। पहले यह बात न करो कि सीधे अभय के बिन्दु पर पहुंच जाएं। भय का सर्वथा क्षय बड़ा कठिन है। कितना डरना चाहिए या कितना नहीं डरना चाहिए, क्यों डरना चाहिए और क्यों नहीं डरना चाहिए, इन सूत्रों का विवेक करना हमारे लिए बहुत जरूरी है।

एक प्रश्न है—भयग्रस्त कौन? जो मूढ़ है, वह भयग्रस्त है, जो भयग्रस्त है, वह मूढ़ है। मूढ़ और मूर्ख एक नहीं हैं। मूढ़ वह होता है, जिसमें घनीभूत मूर्च्छा होती है और मूर्ख वह होता है, जिसमें समझ कम होती है। जो जड़ है, वह भय के स्थान को पकड़ ही नहीं पाता। जो मन से दुर्बल है, वह भी भयभीत रहता है। सारा जगत भय से आकुल है। अभय वास्तव में वह होता है, जो न मूढ़ होता है और न जड़।

मूढो नित्यं भयग्रस्तः, मूर्खो भाति भयद्रुतः ।
मनसा दुर्बलो भीतो, भयभीतमिदं जगत् ॥
जडो भयास्पदं सम्यग्, न गृह्णाति न चाभयः ।
स एवास्थ्यभयो लोके, यो न मूढो न वा जडः ॥

दूसरों को न डराएं

भगवान् महावीर की साधना का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है—अभय। वह तभी सिद्ध हो सकता है, जब हम यह संकल्प करें—हम दूसरों को डराएंगे नहीं, सताएंगे नहीं, दूसरों को कष्ट नहीं देंगे, अपनी ओर से दूसरों का तिलमात्र भी अनिष्ट नहीं करेंगे। जैसे-जैसे यह चेतना जागती जाएगी, अभय की चेतना अपने आप विकसित होती चली जाएगी। एक ओर अभय की अनुप्रेक्षा करें, दूसरी ओर आरम्भ और परिग्रह का भाव पुष्ट बनता चला जाए तो अभय की साधना विफल हो जाएगी। हम भय और लोभ की भावना को पुष्ट न होने दें, अभय हमारे जीवन में स्वतः घटित होगा।

राजर्षियों की परंपरा

शिष्य ने जिज्ञासा की—‘गुरुदेव! पुरुषों के लिए बहत्तर और स्त्रियों के लिए चौसठ कलाएं बतलाई गई हैं। क्या कोई ऐसा व्यक्ति है, जो सारी कलाओं को जानता है? एक व्यक्ति बहत्तर कलाओं को पढ़ सकता है, पर उन्हें जान जाए, यह बहुत मुश्किल है। पढ़ना जितना आसान है उतना ही कठिन है उसमें दक्ष या निपुण होना। क्या इस स्थिति में एक व्यक्ति इतनी सारी कलाओं का ज्ञाता हो सकता है?’

गुरु ने कहा—‘जो दो कलाओं को जान लेता है, वह सब कलाओं को जान लेता है।’

उपनिषद्कारों ने कहा—‘जो आत्मा को जानता है, वह सब को जान लेता है। जो आत्मविद् है, वह सर्वविद् है।’ आचार्य ने दो कलाओं की ओर संकेत किया है। व्यंग्य की दो कलाएं मानी जाती हैं। एक है अपनी बुद्धि तथा समझ का न होना और दूसरी है—दूसरे की बात को न मानना। राजस्थान की प्रसिद्ध लोकोक्ति है—स्वयं की उपजे नहीं, औरों की माने नहीं—स्वयं में अक्ल का न होना और दूसरे के परामर्श को अस्वीकार कर देना। आचार्य ने जिन कलाओं की ओर दिशा-निर्देश किया है, उनका सम्बन्ध इन कलाओं से नहीं है।

जीवनं च कलापूर्णं, मृत्युः साप्यतिशायिनी।

स कलां सकलां वेत्ति, रहस्यमनयोर्ध्रुवम्॥

जीवन की कला से भी अतिशायी है मृत्यु की कला। जीवन की कला और मृत्यु की कला के रहस्य को जानना सब कलाओं के रहस्य-सूत्र को जानना है। जो इन कलाओं को जानता है, वह सब कलाओं को जानता है। प्रश्न हो सकता है, क्या जीवन का भी कोई रहस्य है? मृत्यु का भी कोई रहस्य है?

आरण्यक पुत्र श्वेतकेतु पांचाल की सभा में पहुंच गया। राजा प्रवाहण ने पूछा—‘तुम्हारे पिता ने तुम्हें क्या पढ़ाया है?’

श्वेतकेतु—‘महाराज! मुझे सब विद्याओं में निष्णात बनाया है।’

‘कुमार! ब्रताओ, मरने के बाद प्रजा कहा जाती है?’

‘महाराज! मैं यह नहीं जानता। मुझे यह नहीं बताया गया।’

‘यह प्रजा कहाँ से आती है? कैसे आती है?’

‘महाराज! इसका भी मुझे पता नहीं है?’

‘देवयान और पितृयान के मार्ग पहले साथ-साथ चलते हैं। आगे जाकर कहाँ अलग हो जाते हैं?’

‘इस प्रश्न का उत्तर भी मुझे ज्ञात नहीं है।’

‘पितृलोक मरता क्यों नहीं है?’

‘यह भी मैं नहीं जानता।’

‘पांचवीं आहुति के हवन करने पर आप, सोम, रस आदि पुरुष की संज्ञा को कैसे प्राप्त होते हैं? क्या तुम्हें इनका ज्ञान है?’

‘नहीं।’

‘कुमार! तुम्हारे पिता ने तुम्हें क्या सिखाया? तुम कहते हो—मैं शिक्षित हूँ, शिक्षा को उपलब्ध कर चुका हूँ। जब तुम इन बातों को नहीं जानते तब तुमने कैसी शिक्षा पायी है?’

आज के किसी विद्यार्थी से ये प्रश्न पूछ लिये जाए तो वह क्या उत्तर दे पाएगा? जो स्नातक हैं, ग्रेजुएट या पोस्ट ग्रेजुएट हैं, डाक्टर या वकील हैं, उनसे यह पूछा जाए—बताइए प्रजा कहाँ से आती है? प्रजा कहाँ जाती है? कैसे चली जाती है? क्या वे इन प्रश्नों को समाहित कर पाएंगे?

कुमार श्वेतकेतु सीधा अपने पिता के पास आया। उसने पिता से कहा—‘पिताजी! आप कहते हैं—आपने मुझे सारी विद्याएं पढ़ा दी। आपने सारी विद्याएं कहाँ पढ़ाई? आज मुझे कितनी लज्जास्पद स्थिति का सामना करना पड़ा। राजा प्रवाहण ने मुझसे पांच प्रश्न पूछे। मैं एक भी प्रश्न का उत्तर नहीं दे सका। मेरे लिए यह कितनी लज्जा की बात है।’

पिता गौतम में श्वेतकेतु से कहा—‘पुत्र! इस विद्या पर ब्राह्मणों का अधिकार नहीं है। इस विद्या को क्षत्रिय लोग ही जानते हैं।’

गौतम स्वयं राजा प्रवाहण के पास आकर बोले—‘राजन्! मैं कुछ प्रश्न लेकर आया हूँ, आप इन्हें समाहित करें।’

राजा प्रवाहण बोले—‘प्रियवर! आज तक इस विद्या पर क्षत्रियों का अधिकार रहा है। आज पहली बार यह विद्या मैं तुम्हें बता रहा हूँ।’

यह छान्दोग्य उपनिषद् की घटना है। ऐसी ही घटना का उल्लेख बृहदारण्यक उपनिषद् में मिलता है। उसमें राजा प्रवाहण आरण्यक से कहता है—‘इससे पूर्व यह विद्या किसी ब्राह्मण के पास नहीं रही है। आज पहली बार मैं तुम्हें यह विद्या बताऊंगा।’

उपनिषदों को पढ़ने वाला व्यक्ति इस बात को बहुत सरलता से जान सकता है—आत्मविद्या पर एक मात्र क्षत्रियों का अधिकार रहा है। क्षत्रियों ने ब्राह्मणों को यह विद्या सिखाई। इस सचाई को पुष्ट करने वाले अनेक प्रमाण मिलते हैं।

आत्मविद्या की परम्परा : अग्निविद्या की परम्परा

दो परम्पराएं स्पष्ट रूप से सामने आती हैं। एक परम्परा थी—आत्मविद्या की परम्परा, क्षत्रियों की परम्परा। जैन आगमों में कहा गया—तीर्थंकर क्षत्रिय होता है। इस कथन में एक रहस्य छिपा है। क्षत्रिय का अर्थ जाति नहीं, क्षत्रिय की परम्परा है। क्षत्रिय परम्परा का तात्पर्य है—आत्मविद्या का ज्ञाता। जो आत्मविद्या को जानता है, वही तीर्थंकर होता है। जो आत्मविद्या

को नहीं जानता, वह जैन परम्परा का, ऋषभ या काश्यप की परम्परा का तीर्थंकर नहीं हो सकता।

दूसरी परम्परा थी अग्निविद्या की परम्परा, यज्ञ की परम्परा। उस पर एक मात्र ब्राह्मणों का अधिकार रहा। भविष्य में दोनों परम्पराओं का मिलन हो गया। जो आत्मविद्या की परम्परा क्षत्रियों में थी, वह ब्राह्मणों में चली गई। अग्निविद्या को जैनों ने अपना लिया।

अध्ययन करने वाले व्यक्ति के यह ध्यान में रहना चाहिए—जितने उपनिषद् हैं, वे आज वैदिक परम्परा से जुड़ गए हैं, किन्तु सारे उपनिषद् वैदिक परम्परा के नहीं हैं, बहुत सारे उपनिषद् श्रमण परम्परा के भी हैं। कुछ ऐसा योग बना, श्रमण परम्परा के अनेक सम्प्रदाय नष्ट हो गए। नष्ट होने के बाद जो धन बचता है, उसका कोई उत्तराधिकारी नहीं रहता। जहां कोई उत्तराधिकारी नहीं होता वहां धन को कोई भी अपने अधिकार में ले लेता है। श्रमण परम्परा के उपनिषदों को वैदिक परम्परा ने अपने अधिकार में ले लिया और वे उपनिषद् भी वैदिक परम्परा के माने जाने लगे। वस्तुतः अनेक उपनिषदों में वैदिक परम्परा के प्रतिकूल तत्त्व बहुत हैं। उपनिषदों में यज्ञों का खंडन किया गया है, वेदों का खंडन किया गया है। यदि उपनिषद् वैदिक परम्परा से जुड़े होते तो उनमें ये बातें कैसे लिखी जाती? इससे यह स्पष्ट होता है—उपनिषद् किसी अन्य परम्परा के रहे हैं किन्तु कालांतर में उनको स्वीकार कर लिया गया। ब्राह्मण परम्परा अपनाने में बहुत उदार रही है। यह इन शताब्दियों की घटना नहीं है, किन्तु ऐतिहासिक तथ्य है। हर्मन जेकोबी आदि पाश्चात्य विद्वानों ने भी यह स्वीकार किया है—वैदिक परम्परा बहुत उदार रही है और उसने बहुत सारे दूसरे तत्त्वों को अपना लिया।

आज श्रमण और ब्राह्मण—दोनों परम्पराओं का अंत हो गया। वर्तमान में शुद्ध रूप में न किसी को श्रमण परम्परा कहा जा सकता है और न किसी को ब्राह्मण परम्परा। दोनों में तत्त्वों का इतना मिश्रण है कि पृथक्करण करना आसान नहीं है। बहुत गहरे अध्ययन के बाद ही दोनों परम्पराओं में पृथक्ता के बिन्दुओं का उद्घाटन सम्भव बन सकता है।

राजर्षियों की परम्परा

आत्मविद्या के अधिकारी थे क्षत्रिय, इसका एक साक्ष्य है उत्तराध्ययन का अठारहवां अध्ययन। इसमें क्षत्रिय राजाओं की एक लम्बी परम्परा का वर्णन है। प्रायः शासक क्षत्रिय होते रहे हैं। जो क्षत्रिय शासक मुनि बने हैं, उनकी एक प्रलंब शृंखला जैन परम्परा में है। उत्तराध्ययन में दो प्रकार के राजाओं का इतिहास मिलता है। कुछ वे हैं, जो प्राग ऐतिहासिक काल में हुए हैं और कुछ वे हैं, जो ऐतिहासिक हैं। भरत, सागर, सनत्कुमार आदि प्रागैतिहासिक हैं राजा दशार्णभद्र, उद्रायण आदि ऐतिहासिक हैं—

१. राजा संजय
२. चक्रवर्ती भरत
३. चक्रवर्ती सागर

१०. चक्रवर्ती जय
११. राजा द्विमुख
१२. राजा दशार्णभद्र

४. चक्रवर्ती मधवा	१३. राजा करकण्डु
५. चक्रवर्ती सनत्कुमार	१४. राजा नमि
६. चक्रवर्ती शांतिनाथ	१५. राजा नग्गति
७. राजा कुन्धु	१६. राजा उद्रायण
८. चक्रवर्ती महापद्म	१७. काशीराज
९. चक्रवर्ती हरिषेण	

ये सारे राजा अपने विशाल साम्राज्य को छोड़कर मुनि बने। राज्य का संचालन किया, उसे त्यागा और मुनि बन गये। ऐसा लगता है—प्राचीन काल में एक जीवन शैली विकसित रही है। यह रहस्य ज्ञात रहा है—कैसे जीना चाहिए? कैसे मरना चाहिए? वर्तमान स्थिति को देखकर यह कहा नहीं जा सकता कि आज का आदमी जीवन की शैली को जानता है या मरने की कला को जानता है। एक आदमी सत्तर-अस्सी या नब्बे वर्ष तक जीए और इतने वर्ष तक एक ही प्रकार का जीवन जीए, यह सचमुच आश्चर्य की बात है।

एक सोलह वर्ष के लड़के से पूछा—‘पढ़ाई करते हो।’

उत्तर मिला—‘नहीं।’

मैंने पूछा—‘इतनी जल्दी पढ़ाई क्यों छोड़ी।’

‘व्यापार में लग गया।’

अठारह वर्ष का युवक भी यही उत्तर देगा और बीस वर्ष या बाईस वर्ष का युवक भी यही उत्तर देगा। सोलह वर्ष का, अठारह या बीस वर्ष का होकर व्यक्ति जिस काम में लग गया वह जीवन भर उसी काम में लगा रहेगा। जब तक सांस लेगा, खाट नहीं पकड़ेगा तब तक उसे नहीं छोड़ेगा। यह जीना भी कोई जीना है। कार्यों का परिवर्तन होना जरूरी है। वह जीवन-शैली महत्त्वपूर्ण होती है, जिसमें कार्यों का काल के साथ निर्धारण होता है। कब क्या करना चाहिए, इसका बोध आवश्यक है। यह नहीं हो सकता कि सुबह नाश्ता शुरू करें तो शाम तक वही करते चले जाएं। यदि व्यक्ति ऐसा करने लग जाए तो क्या होगा?

प्राचीन जीवन-शैली

प्राचीन काल में जीवन की जो शैली थी, उसका थोड़ा-सा चित्रण कालिदास ने रघुवंश में किया है। रघुकुल के राजाओं की जीवन-शैली का विश्लेषण करे हुए लिखा गया—

शैशवेभ्यस्तविद्यानां, यौवने विषयैषिणाम् ।

वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां, योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥

रघुकुल के राजा शैशव में विद्या का अभ्यास करने वाले, यौवन में विषय की एषणा करने वाले, बुढ़ापे में मुनिवृत्ति को धारण करने वाले और अन्त में योग के द्वारा शरीर त्यागने वाले होते थे।

जीवन की एक शैली रही है—पच्चीस वर्ष तक केवल अध्ययन, व्यापार-व्यवसाय नहीं। आत्मविद्या और लौकिक-विद्या—दोनों का संतुलित अध्ययन। उसके बाद २५ वर्ष तक व्यापार-व्यवसाय करे, काम-भोग आदि

सांसारिक प्रवृत्तियों में बिताए। पचास वर्ष का हो जाने पर सारे सांसारिक झंझटों को छोड़ विरक्त हो जाए। पच्चीस वर्ष तक वानप्रस्थ आश्रम में रहे। उसके बाद योग के द्वारा शरीर का त्याग करे। यह बात शायद कालिदास के समय में दूसरों के प्रभाव से आई है। आश्रम-व्यवस्था में भी यह संन्यास परम्परा का प्रभाव है। तीन पुरुषार्थ में संन्यास की बात नहीं थी और यह बाद में जुड़ी है।

जैन परम्परा की जीवन-शैली

हम जैन परम्परा की जीवन-शैली को देखें। प्राचीन काल में कुछ लोग मध्यम वय में दीक्षा लेते थे, कुछ अल्प-वय में और कुछ अंतिम-वय में। उस समय मध्यम-वय या अल्प-वय में दीक्षित कम होते थे। इस अवस्था में दीक्षा लेना सामान्य बात नहीं थी। ऐसा लगता है—प्राचीन काल में अधिकांश लोग अंतिम-वय में दीक्षा लेते थे। आज कोई वृद्ध व्यक्ति दीक्षा लेता है तो लोग आश्चर्य करते हैं।

एक परम्परा रही—पहले राजा बने, राज्य का संचालन किया और फिर ऋषि बने। चक्रवर्ती भरत ने पूरे भारत वर्ष पर शासन किया, लम्बे समय तक राज्य संचालन किया और उसे छोड़ अंतिम वय में मुनि बन गए। राजा सगर भी ऐसे ही मुनि बने थे। सागर के साठ हजार पुत्र थे। इतने पुत्रों का पिता, राज्य और परिवार को छोड़कर मुनि बन गया। एक नगर की जितनी आबादी होती है, उतना राजा सागर का परिवार था। वह एक युग था—प्रायः राजा राज्य का संचालन करते और उसका त्याग कर मुनि बन जाते। अंतिम वय में मुनि बनने वाले राजाओं की प्रलम्ब परम्परा इसका साक्ष्य है।

केवली नौ वर्ष का

एक परम्परा रही जघन्य अवस्था में मुनि बनने वालों की। महावीर से पूछा गया—‘भंते! केवली किस अवस्था में बनता है?’ भगवान ने उत्तर दिया—‘नौ वर्ष की अवस्था में व्यक्ति केवली बन जाता है।’ नौ वर्ष, गर्भ के नौ महीनों सहित हैं। बाल मुनि की दीक्षा हो रही थी। लोगों ने कहा—‘इतनी छोटी सी अवस्था में दीक्षा! अभी तो मात्र नौ वर्ष का है।’ मैंने कहा—‘यह तो नौ वर्ष की अवस्था में मुनि बन रहा है किन्तु आगम कहते हैं—नौ वर्ष का बालक केवली बन जाता है। जब नौ वर्ष का बच्चा केवली बन जाता है तब श्रमण बनना कौनसी बड़ी बात है।’ सत्तर-अस्सी वर्ष के व्यक्ति मुनि नहीं बन पाते और नौ वर्ष का बालक मुनि बन जाता है। मुनित्व की दृष्टि से पहली अवस्था नौ वर्ष की है। दूसरी है मध्यम वय की अवस्था। बीस वर्ष से चालीस वर्ष के बीच की आयु वाले व्यक्ति मुनि बनते हैं। ऐसी मुनियों की संख्या भी कम नहीं है। तीसरी अवस्था है वार्द्धक्य की। प्रथम वय—बचपन में मुनि बनना आश्चर्य नहीं है। दूसरी वय—यौवन में मुनि बनना भी आश्चर्य नहीं है किन्तु तीसरी अवस्था में मुनि न बनना सबसे बड़ा आश्चर्य है। व्यक्ति साठ वर्ष का हो जाए और उसमें मुनि बनने की भावना न जागे, क्या यह आश्चर्य नहीं है?

आज अपेक्षा है—जैनों की जीवन-शैली निश्चित की जाए। एक भाई ने लिखा—‘आचार्यजी! मैंने सुना है—आपने जीवन की शैली निर्धारित की है, उसका

प्रशिक्षण दिया जा रहा है। मेरे मन की प्रबल भावना है—मैं आपकी सन्निधि में आकर उसका प्रशिक्षण लूँ।' जीवन शैली का ज्ञान बहुत महत्त्वपूर्ण है। हम राजर्षियों के इतिहास को केवल पढ़ने की दृष्टि से न पढ़ें। हम इतना ही न मानें—राजा भरत भारत वर्ष के राज्य को त्याग कर मुनि बने, राजा सनत्कुमार भी राज्य त्याग कर मुनि बन गए। राजा दर्शाणभद्र और उद्रायण भी राज्य को त्याग मुनि बने। शांतिनाथ भी चक्रवर्तित्व को छोड़कर मुनि बने, जिनका नाम मंगल मंत्र बना हुआ है। उनके नाम से जुड़ा प्रसिद्ध मंत्र है—

*चइत्ता भारहं वासं चक्कवट्टी महिड्डियो।
संती संतिकरे लोए, पत्तो गइमणुत्तरं।।*

जीवन की नई दिशा

हम केवल मंत्र और परम्परा की दृष्टि से ही नहीं, जीवन शैली की दृष्टि से विश्लेषण करें। जर्मन विचारक नीत्से ने कहा था—'एक व्यक्ति जिस विचार में जन्म लेता है, उसी विचार में मर जाता है। किसी विचार में जन्म लेना नियति है किन्तु उसी विचार में मरना मूर्खता है।' इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सब गृहस्थी को छोड़कर साधु बन जाएं। यह बहुत कठिन काम है और सबके लिए संभव नहीं है पर कम से कम व्यक्ति गृहस्थी में न मरे। इसका तात्पर्य है—या तो मुनिदीक्षा को स्वीकार करे और ऐसा न कर सके तो घर के प्रपंचों से सर्वथा मुक्त हो, त्याग-वैराग्य का, संन्यास जैसा जीवन जीना शुरू कर दे। वह गृहस्थी के झंझटों में न रहे। यह एक बहुत अच्छी जीवन शैली है। यदि ऐसा होता है तो न पुत्र पिता का तिरस्कार करेंगे, न पिता के मन में घर के प्रति द्रोह जन्मेगा। उसे यह कहना नहीं पड़ेगा—मैंने किस आशा से बेटों को पाल पोषकर बड़ा किया था। आज बेटे मुझे पूछते ही नहीं हैं। जैसे ही पक्षी के पंख आते हैं, वे विभिन्न दिशाओं में उड़कर माता-पिता से दूर चले जाते हैं। शायद पक्षी भी यह सोचते होंगे—इन्हें कितने परिश्रम से पाला, पोषा, बड़ा किया। आज पंख आते ही हमें छोड़कर चले गए। जिन लड़कों को प्रेम से पाला-पोषा, बड़ा किया जाता है, पढ़ाया जाता है वे जब बड़े होते हैं तब सबसे पहले चूल्हे अलग जलते हैं। पिता-माता गांव में रहते हैं और पुत्र अपनी पत्नी के साथ प्रदेश चला जाता है। शायद कई बार पिता-पुत्र वर्षों तक मिलते ही नहीं हैं। कभी-कभी तो पिता पुत्र कोर्ट में ही मिलते हैं। इस स्थिति में जीवन-शैली में परिवर्तन आवश्यक है।

मोह कम करें

सबसे महत्त्वपूर्ण बात है—घर का मोह कम हो जाए। अलगाव का-सा जीवन जीया जाए। व्यापार चल रहा है, पुत्र दुकान पर बैठते हैं पर वह उसमें लिप्त न हो। घर में रहना गृहस्थी नहीं है। गृहस्थी का मतलब है घर में लिप्त हो जाना। व्यक्ति घर में इतना लिप्त हो जाता है कि मृत्यु-शय्या पर भी उसका मोह नहीं छूटता।

पिता की मौत सन्निकट थी। सारे पुत्र पिता की सेवा में उपस्थित थे। पिता ने आंखें खोली, देखा—बड़ा लड़का भी यहीं बैठा है, मझला और छोटा

लड़का भी यहीं है। पिता से रहा नहीं गया, उसने अपने पुत्रों से पूछा—‘दुकान पर कौन है?’ बड़ा लड़का बोला—‘पिताजी! दुकान पर कोई नहीं है। ‘बेवकूफों! तुम सब यहां बैठे क्या करोगे, दुकान पर जाओ।’ यह कहते-कहते पिता के प्राण पखेरू उड़ गए।

अंतिम सांस तक घर का मोह नहीं छूटता। यह अत्यन्त लिप्तता का जीवन अच्छा जीवन नहीं है। यह न जीने की कला है और न मरने की कला है।

हम जीवन की शैली को बदलें, अपनी शांति के लिए बदलें। त्याग केवल अपनी शांति के लिए होता है, वह किया नहीं जाता। जो व्यक्ति यह निश्चय कर लेता है—मुझे शांति का जीवन जीना है, वह स्वतः त्याग में चला जाता है। त्याग का अर्थ केवल खाना छोड़ना नहीं है। त्याग का एक अर्थ यह भी है—मैं अधिकतम मीन रहूंगा। जितना बोलना आवश्यक होगा, उतना ही बोलूंगा। मैं शरीर की भी अनावश्यक प्रवृत्ति नहीं करूंगा। मन का संयम, शरीर और वाणी का संयम—यह त्याग का व्यापक संदर्भ है। मुनि बन जाना कोई अन्तिम बात नहीं है। मुनि बनना साधना के मार्ग को स्वीकार करना है, मंजिल बहुत दूर है। जैसे-जैसे वृद्धता आए वैसे-वैसे वैराग्य बढ़ता जाए तो शांति और समाधि बढ़ेगी। शांति और समाधि देना किसी दूसरे के हाथ में नहीं है। शांति और अशांति का, समाधि और असमाधि का निमित्त दूसरा बन सकता है पर उपादान व्यक्ति स्वयं है। हम इस सूत्र को हृदयंगम करें—जिस मूर्च्छा के वातावरण में पलें-बढ़ें, उसी वातावरण में मरना मूर्खता है। यह बात समझ में आए तो जीवन और मृत्यु का रहस्य पकड़ में आ जाए। जो इनके रहस्य को जान लेगा, वह सारी कलाओं का पारगामी बन जाएगा। प्राचीन राजर्षियों की जीवन-चर्या के विश्लेषण से इसी सचाई का अनावरण होता है।

याद पिछले जन्म की

यह सौरमंडल हमारे आस-पास परिक्रमा कर रहा है और काल को अभिव्यक्त कर रहा है। जहां सौरमण्डल नहीं है, क्या वहां अतीत है? वर्तमान और भविष्य है? इस प्रश्न का उत्तर देना बहुत कठिन है। अतीत किसने बनाया? वर्तमान का सृजनहार कौन है? भविष्य का निर्माण कौन करता है? इन सबका कारण है सूर्य। जहां सूरज नहीं है, सूरज की गति या क्रिया से होने वाला काल नहीं है वहां अतीत, वर्तमान और भविष्य किस आधार पर माना जाए? दिन उगा, रात अतीत बन गई और सांझ भविष्य। दिन है तो अतीत भी है, वर्तमान और भविष्य भी है। दिन कौन करता है? सूरज आता है तो दिन होता है। सूरज न आए तो न दिन होगा और न रात। क्या सौधर्म कल्प देवलोक में दिन होता है? इस प्रश्न का उत्तर यही होगा—दिन और रात होती ही नहीं है। न दिन न रात। घड़ी का कोई उपयोग नहीं है। वहां काल का नियम ही बदल जाता है। जहां सौरमण्डल है, वहां काल का नियम दूसरा है। हम सबको एक नियम से देखते हैं। तो उलझन पैदा होता है। अंतरिक्ष में भी घड़ी की सूई कैसे घूमेगी? वहां काल की गति बहुत मंद हो जाती है। काल का नियम परिवर्तित हो जाता है। गुरुत्वाकर्षण में जो काल का नियम है, वह उससे परे नहीं है। हम सौरमण्डल की सीमा में जी रहे हैं, इसलिए हमारा अतीत भी है, वर्तमान और भविष्य भी है। ये सब हैं तो जन्म भी बंट जाएगा—एक पहले का जन्म—पूर्व जन्म, एक वर्तमान का जन्म, एक होने वाला जन्म—पुनर्जन्म। एक ही आत्मा अनेक जन्मों में बंट जाएगी। एक ही जीव अनेक जीवों में बंट जाएगा। ऐसा होता है इसलिए स्मृति भी होती है। स्मृति समस्या भी है और उपयोगी भी है। जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना है—पूर्वजन्म का ज्ञान।

त्राटक : सम्मोहन का अनिवार्य अंग

मृगापुत्र अपने वातायन से राजपथ की ओर देख रहा था। उसने एक व्यक्ति को जाते हुए देखा। वह देखता ही रह गया। एकटक उस व्यक्ति को देखने लगा। सहज त्राटक सिद्ध हो गया। त्राटक का दूसरा नाम है सम्मोहन। सम्मोहन का अनिवार्य अंग है त्राटक। जब तक त्राटक की साधना अच्छी नहीं है तब तक सम्मोहन की साधना सफल नहीं होती। आत्म-सम्मोहन हो या पर-सम्मोहन—त्राटक की साधना अनिवार्य है। जैन पारिभाषिक शब्द है अनिमेष प्रेक्षा। महावीर जब ध्यान करते। एक पुद्गल पर अनिमेष दृष्टि से ध्यान करते थे। एक पुद्गल पर अनिमेष दृष्टि से ध्यान करते हैं तो वस्तु का स्वरूप बदल जाता है। एक वस्तु को देखें, पुस्तक या पैसिल या किसी भी पदार्थ को दस मिनट तक एकटक देखते चले जाएं, उस वस्तु का स्वरूप बदल जाएगा। पहले

सब कुछ ठीक दिखाई देता है, उसके बाद कुछ अन्यथा दिखाई देने लग जाता है। देखते-देखते ऐसी प्रकाश की किरणें फूटने लगती हैं कि सारी वस्तु बदल जाती है। बदलते-बदलते वस्तु भी गायब हो जाती है, कोरा आभामंडल ही शेष रह जाता है। जैसे व्यक्ति का आभामंडल होता है वैसे ही पदार्थों का भी अपना आभामंडल होता है।

सम्मोहन का हार्द

मृगापुत्र ने अनिमेष दृष्टि से देखा, ध्यान केन्द्रित हो गया, वह चिन्तन की गहराई में उतरा, मन में विकल्प उठा—ऐसा कहीं देखा है, इस रूप को कहीं देखा है। वह उसी विकल्प में उलझ गया, सम्मोहित हो गया। सम्मोहित हुए बिना कोई व्यक्ति विशिष्टता को उपलब्ध नहीं हो सकता। आज सम्मोहन हल्के प्रयोगों के कारण काफी बदनाम हो चुका है पर वह है बहुत महत्त्वपूर्ण। एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है योग वाशिष्ठ, जिसमें ऋषि वशिष्ठ ने राम को संबोधन दिया था, वह गहन आध्यात्मिक ग्रन्थ है। योग वाशिष्ठ में लिखा है—भावना का प्रयोग किए बिना कोई व्यक्ति अध्यात्म की गहराइयों में नहीं जा सकता, अपने भीतर डुबकियां नहीं लगा सकता। भावना का ही दूसरा नाम है—सम्मोहन। किसी भावना से स्वयं को भावित कर लेना या सम्मोहित कर लेना। एक व्यक्ति अर्हम् का जप करता है, वह अर्हम् मंत्र का बार-बार उच्चारण करता है। उच्चारण का अपना मूल्य है, किन्तु उच्चारण के साथ भावना का प्रयोग हो, व्यक्ति अर्हत् की अनुभूति करने लग जाए तो वह अर्हत् के रूप में बदल जाता है। यह योग का गुण-संक्रमण का सिद्धांत है। गरुड़ की भावना करने वाला गरुड़ की शक्ति का और हाथी की भावना करने वाला अपने मन में उसके बल की अनुभूति करता है। भावना या सम्मोहन के प्रयोग का हार्द है—जिसकी भावना करे, उसमें तन्मय या तल्लीन हो जाए। व्यक्ति केवल उसी भाव में लीन हो जाता है, शेष सारे विकल्प क्षीण हो जाते हैं।

मृगापुत्र उस अवस्था में चला गया। सारे विकल्प समाप्त हो गए, वह केवल इसी विकल्प में डूब गया—मैंने ऐसा रूप कहीं देखा है। उस सम्मोहित अवस्था में मृगापुत्र को जातिस्मृति ज्ञान उपलब्ध हो गया। जैसे ही पूर्वजन्म की स्मृति हुई, अतीत वर्तमान बन गया। किसी व्यक्ति से पूछा जाए—पांच दिन पहले क्या खाया? यदि उसे यह याद आ जाए और वह वस्तु का नाम बता दे तो मन में बड़ा हर्ष उत्पन्न होता है। बहुत कम लोगों को यह याद रहता है कि पांच दिन पहले क्या खाया था। यदि किसी को यह पूछा जाए कि एक वर्ष पहले क्या खाया था तो शायद उत्तर देना अत्यन्त मुश्किल हो जाए। व्यक्ति संभवतः इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे पाएगा।

ग्रहण, धारणा और स्मृति

अतीत में लौटना बहुत कठिन होता है। वही अतीत याद रहता है, जिसकी धारणा मजबूत बन जाती है। ग्रहण, धारणा और स्मृति—इन तीनों की एक शृंखला है। पहला तत्त्व है—ग्रहण—अवग्रह कितना मजबूत हो रहा है। अवग्रहण सामान्य है तो धारणा कमजोर बनेगी। अवग्रह से ईहा और ईहा से

अवाय—यह एक पूरा क्रम है ग्रहण का। अवाय के बाद होती है धारणा। जिस व्यक्ति में धारणा की शक्ति जितनी मजबूत होती उस व्यक्ति की स्मृति भी उतनी ही मजबूत होगी। जब तक विषयों और शरीर में मन चंचल बना रहता है तब तक धारणा स्थिर नहीं होती। मन की चंचलता के कम होने पर ही धारणा सुदृढ़ हो सकती है।

विषयेषु शरीरे च, मनश्चांचल्यमश्नुते।

ताभ्यां विरतिमापन्ने, धारणा स्थिरतां व्रजेत् ॥

बहुत लोग कहते हैं—स्मरण शक्ति कमजोर है पर वे इस बात को भुला देते हैं—स्मृति कमजोर नहीं है, धारणा की शक्ति कमजोर है। स्मृति अपने आपमें स्वतंत्र नहीं है, वह धारणा से बंधी हुई है।

इस संदर्भ में हम जैन मनोविज्ञान का विश्लेषण करें। विस्मृति की समस्या कहां पैदा नहीं होती? एक व्यक्ति बहुत विद्वान है, हजारों ग्रन्थ याद कर लेता है। जो भी पढ़ता है, उसे भूलता नहीं। उसने एक व्यक्ति से पूछा—तुम्हारा नाम क्या है? उस व्यक्ति ने अपना नाम बता दिया। दो घंटे बीते। फिर वही व्यक्ति मिला। उसने फिर वही प्रश्न दोहराया—तुम्हारा नाम क्या है? उस व्यक्ति ने कहा—‘अभी दो घंटे पहले आपको नाम बतलाया था। आप इतनी देर में भूल गए। आपको मेरा नाम भी याद नहीं रहता।’ दूसरे दिन फिर वही व्यक्ति मिला और वे ही प्रश्न फिर पूछे गये—तुम कौन हो, कहां से आए हो? तुम्हारा नाम क्या है? व्यक्ति सोचता है—यह क्या? मैंने सुना था—इनकी स्मृति बहुत तेज है। इन्हें हजारों पद्य कंठस्थ हैं। इनको तो एक नाम भी याद नहीं रहा। तीन बार बता दिया, फिर भी भूल गये। वह आश्चर्य में डूब जाता है।

प्रायः प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में ऐसी घटनाएं घटती हैं। इसका कारण है—व्यक्ति जिस बात की धारणा मजबूत नहीं करता, वह बात बीस बार पूछने पर भी विस्मृत हो जाती है। जैसे-जैसे आदमी समझदार होता है, काम की बातों की धारणा करता चला जाता है, निकम्मी बातों को छोड़ता चला जाता है। जिस बात को छोड़ते चले जाएंगे, उसकी धारणा नहीं बनेगी। जिसकी धारणा नहीं होगी, उसकी स्मृति नहीं रहेगी। इस स्थिति में अनेक बार समस्या पैदा हो जाती है। एक व्यक्ति कहता है—मैंने तुम्हें यह बात कही थी। दूसरा व्यक्ति कहता है—नहीं! तुमने मुझे कुछ कहा ही नहीं। उस व्यक्ति ने कहा—तुम झूठ बोलते हो। दूसरा व्यक्ति भी उसी भाषा में बोलने लग जाता है। एक व्यक्ति कह रहा है—तुम झूठ बोल रहे हो और दूसरा कह रहा है—तुम झूठ बोल रहे हो। इस स्थिति में किसे सही माने? क्या निर्णय करे? मनोविज्ञान के क्षेत्र में यह बहुत बड़ी उलझन है। इसका समाधान यही होगा—दोनों झूठ नहीं बोल रहे हैं। जिसने कहा—मैंने अमुक बात कही है, वह भी सही कहता है। जिसने कहा, मैंने यह बात नहीं सुनी है, वह भी सही है।

तुम दोनों सही हो

पत्नी ने आईस्टीन से कहा—‘आपका नौकर निकम्मा है। कोई काम नहीं करता। ऐसे निकम्मे आदमी को रखने का अर्थ ही क्या है?’ आईस्टीन

बोले—‘तुम ठीक कहती हो, वह ऐसा ही है। नौकर दूर खड़ा सुन रहा था। पत्नी चली गई।’ नौकर ने आईस्टीन से कहा—‘मालिक! मैं सब काम करता हूँ, कभी काम से जी नहीं चुराता फिर भी मुझे दिन भर टोका जाता है।’ मालकिन बात-बात पर मुझे डाटती है। आईस्टीन बोला—‘तुम ठीक कहते हो। पत्नी ने यह सुना, वह आवेश से भर उठी।’ उसने कहा—‘यह क्या? यह भी सही और मैं भी सही। या तो यह झूठा होगा या मैं। दोनों सही कैसे हो सकते हैं?’ आईस्टीन ने फिर वही उत्तर दिया—‘तुम भी सही हो, यह भी सही है और जो मैं कहता हूँ, वह भी सही है।’

कहीं-कहीं सब बातों को सही प्रमाणित करना होता है। जिस व्यक्ति ने कहा, वह सही है और जिसने कहा, मैंने नहीं सुना, वह भी सही है क्योंकि उसने उस बात को पूरा ग्रहण ही नहीं किया। जब ग्रहण ही नहीं किया तो धारणा और स्मृति कैसे होगी? व्यक्ति जिस बात को सुनता है, उसे अवधानपूर्वक या रुचिपूर्वक नहीं सुनता है तो उसकी स्मृति नहीं रहेगी।

मैं स्वयं अपने आपको देखता हूँ तो यह लगता है—अनेक बातें विस्मृत हो जाती हैं। साठ वर्ष पहले कंठस्थ किए हुए श्लोक आज भी याद हैं। साठ वर्ष पहले दीक्षा ली, तब क्या-क्या घटित हुआ, यह याद है। आज कुछ ऐसी बातें भी भूल जाते हैं, जो दस दिन पहले ही सुनी हैं। ऐसा क्यों होता है? कहा जाता है—पुरानी स्मृतियाँ, बचपन की बातें याद रह जाती हैं किन्तु एक अवस्था आने पर स्मृति कमजोर होने लग जाती है। ऐसा कुछ कारण हो सकता है पर यह भी पूर्णतः सही नहीं है। काम की बात आज भी याद रह जाती है। कोई नया श्लोक सुना, कोई अच्छी कथा पढ़ी, जिस बात के प्रति आकर्षण पैदा हुआ, वह याद रह जायेगा, उस कथा और श्लोक का उचित अवसर पर उपयोग भी कर लेंगे। वस्तुतः स्मृति कमजोर नहीं है, धारणा कमजोर है। जिसका अंकन हमारे धारणा के केन्द्र में नहीं होता, वह याद नहीं आती। आदमी सारी बातों की धारणा कर ही नहीं पाता। यदि वह दिन भर होने वाली निकम्मी बातों की धारणा करता चला जाए तो पागल बन जाए, उसका दिमाग खोखला हो जाए। आदमी समझदार और चतुर है, वह केवल काम की बात को दिमाग में रखता है। जो कबाड़खाना लगता है, उसे बाहर फेंक देता है। उसकी धारणा करने की जरूरत भी क्या है? मैं यह मानता हूँ—जैसे-जैसे मुनि योगी बनेगा, अच्छा साथक बनेगा उसकी स्मृति कमजोर होती चली जाएगी, वह निकम्मी बातों को भूलता चला जाएगा। बहुत बातें ऐसी ही होती हैं, जिन्हें सुनें और तत्काल विसर्जित कर दें। ग्रहण किया और रेचन कर दिया। ऐसा करने वाले व्यक्ति का दिमाग कबाड़खाना नहीं बन सकता।

ध्यान दें धारणा पर

हम ध्यान केन्द्रित करें धारणा पर। किस बात की धारणा करें और किसकी धारणा न करें। जैन ज्ञान मीमांसा के तीन शब्द हैं—धारणा, वासना और संस्कार। पहले धारणा होती है फिर वह वासना में बदल जाती है, उसका एक संस्कार बन जाता है। उसकी विच्छ्युति नहीं होती। जैसे ही कोई निमित्त

मिला, पूर्वजन्म की स्मृति उभर आई। महर्षि पतंजलि ने भी यही कहा—जब संस्कार का साक्षात्कार होता है, तब पूर्वजन्म की स्मृति हो जाती है। अनुप्रेक्षा का प्रयोग धारणा को पुष्ट करने का प्रयोग है। अभय की अनुप्रेक्षा करेंगे तो अभय का भाव पुष्ट होता चला जाएगा। अभय की धारणा बनती चली जाएगी, भय की धारणा क्षीण हो जाएगी। जब तक अभय की भावना पुष्ट नहीं होगी, भय के भाव क्षीण नहीं होंगे। एक घड़ा, जो अभी आवे से निकला है, हमें उसे गीला करना है। वह पानी की एक-दो बूंद डालने से कभी गीला नहीं होगा। उस पर पानी की बूंद गिरती रहेगी तो एक क्षण ऐसा आएगा, घड़ा गीला हो जाएगा। गर्म एवं शुष्क घड़े को भिगोने की एक प्रक्रिया है। घड़े पर एक-एक बूंद डालते चले जाएं, घड़ा आर्द्र हो जाएगा।

जाति-स्मृति का हेतु

हम नियम और प्रक्रिया को महत्त्व दें। हर बात की एक प्रक्रिया होती है। प्रक्रिया सही होती है तो कार्य में सफलता मिल जाती है। मृगापुत्र ने ठीक प्रक्रिया को अपनाया, वह सम्मोहित हो गया। उस अवस्था में जाति स्मृति ज्ञान उपलब्ध हो गया। उसने देखा—मैं पूर्वजन्म में ऐसा ही मुनि था, मैंने ऐसी ही साधना की थी। जाति-स्मृति होते ही आदमी की स्थिति बदल जाती है। यदि गहरा विपाक न हो तो व्यक्ति में रूपान्तरण घटित हो जाता है। यद्यपि जाति-स्मृति ज्ञान का संबंध है ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से किन्तु साध में मोहनीय कर्म का भी गहरा संबंध है। भाष्य साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण गाथा है—

जायमाणस्स जं दुक्खं, मरमाणस्स वा पुणो ।

तेण दुक्खेण संमूढो, जाइं सरइ न अप्पणो ॥

जन्म के समय भी दुःख होता है और मरण के समय भी दुःख होता है। यह यंत्रों से मापा जाने वाला दुःख नहीं है। हम यह साक्षात् देखते हैं—जब सारा के कण-कण में, कोशिका-कोशिका में गुत्थमगुत्था हुआ प्राण, उनके साथ एकमेक जैसा बना हुआ प्राण निकलता है तब उसे निकलने में कितना कष्ट होता है। आकस्मिक निकले या प्रेरणा से, किंतु संबंध विच्छिन्न करने में क्या कठिनाई नहीं होती? अत्यंत वेदना होती है? उस समय अत्यंत वेदना होती है पर उसे यंत्रों से मापा नहीं जा सकता। दुःख मूढ़ता या मूर्च्छा पैदा करता है। मरते समय भी आदमी मूर्च्छा में चला जाता है। शरीरशास्त्र का नियम है—जब तक कष्ट सहने करने की स्थिति है, आदमी जागता रहता है और जब कष्ट को सहने की शक्ति नहीं रहती है तब व्यक्ति मूर्च्छा या बेहोशी में चला जाता है। जब तक मूढ़ता रही है, दुःख सघन रहता है। मूर्च्छा के चक्रव्यूह को तोड़े बिना पूर्वजन्म की स्मृति नहीं हो सकती। पूर्वजन्म की स्मृति के लिए मूर्च्छा को तोड़ना जरूरी है। प्रस्तुत प्रसंग में मोहनीय कर्म का तात्पर्य यही है—जो प्रबल मूर्च्छा स्मृति में व्यवधान डाल रही है, वह टूट जाए।

प्रतिक्रमण

सम्मोहन के कुछ प्रयोग किए गए। एक व्यक्ति को सम्मोहित किया, उसे अतीत को देखने का सुझाव दिया। दो वर्ष तक की अवस्थाओं की स्मृतियाँ सजीव हो गईं। जैसे-जैसे सम्मोहन या सुझाव द्वारा, आत्म-संवेदन द्वारा मूर्च्छा टूटती चली जाती है वैसे-वैसे अतीत की स्मृति तीव्र होती चली जाती है। दो वर्ष की ही नहीं, एक वर्ष की और उससे पहले की भी स्मृति में व्यक्ति लौट सकता है। सम्मोहन के प्रयोग द्वारा ऐसी अनेक घटनाएँ उजागर हुई हैं। प्रतिक्रमण की भी यही प्रक्रिया है। हम यथाक्रम आलोचना करें। सुबह चार बजे उठने के बाद से लेकर सायंकाल तक क्या-क्या किया, उसकी स्मृति और आलोचना करें। प्रातः और सायं प्रतिक्रमण का अर्थ यही है। प्रतिक्रमण यानि अतीत की स्मृति करते चले जाओ—आज मैंने किस क्षण क्या-क्या किया? अतीत के सिंहावलोकन की, अतीत की ओर प्रस्थान की यह प्रक्रिया मूर्च्छा को तोड़ने की प्रक्रिया है। यदि प्रतिक्रमण नहीं होता है तो मूर्च्छा गहरी होती चली जाएगी। इस दृष्टि से प्रतिक्रमण का बहुत महत्त्व है। हम इसे रूढ़ि न मानें, इसका समुचित मूल्यांकन करें। जब तक प्रतिक्रमण के महत्त्व को नहीं जाना जाता तब तक ही उसे रूढ़ि के रूप में लिया जाता है। अच्छी चीज रूढ़ि बन जाती है, इसका बड़ा कारण है अज्ञान।

एक प्रशासक को कृषि विभाग का अधिकारी बनाया गया। अधिकारी को सूचना मिली—आलू की फसल बहुत बढ़िया हुई है। अधिकारी फसल का निरीक्षण करने के लिए आया। उसने देखा—आलू के खेत हरे भरे हैं। आलू एक भी दिखाई नहीं दे रहा है। वह चारों तरफ घूमा, निराश हो गया। उसने क्षुब्ध होकर कर्मचारियों से कहा—तुमने मुझे गलत सूचना दी है, मुझे धोखे में रखा है। तुम कह रहे थे—‘आलू की फसल बहुत बढ़िया हुई है और यहां एक भी आलू दिखाई नहीं दे रहा है।’ कर्मचारी और काश्तकार देखते रह गए—कैसा अधिकारी आया है? इसे इतना भी पता नहीं कि आलू कहां होते हैं। एक कर्मचारी ने मुस्कराते हुए कहा—‘श्रीमान्! आलू ऐसे ऊपर दिखाई नहीं देते हैं। उन्हें देखने के लिए जमीन को थोड़ा-सा कुरेदना होगा।’ उसने आलू के एक पादप को उखाड़ते हुए कहा—‘देखिए, आलू ही आलू हैं।’ अधिकारी का सिर शर्म से नीचे झुक गया। वहीं खड़े एक व्यक्ति ने व्यग्य किया—‘महाशय! हमने गलत सूचना नहीं दी है। गलती हमारी नहीं है, गलती तो उनकी है जिन्होंने आपको कृषि विभाग का अधिकारी बना दिया।’

प्रतिक्रमण: अतीत में लौटते का प्रयोग

हमारा ज्ञान भी फसल के नीचे उगाया हुआ है। वह उसके फल को जानने नहीं देता। यदि अज्ञान और मूर्च्छा का पर्दा हट जाए तो अतीत को जानना आसान हो जाए। अतीत की घटनाओं को जानना, अतीत के लिखे ग्रन्थों को जानना एक ही बात है। मूल बात यह है—हम जिस दिशा में प्रस्थान करेंगे, वह दिशा स्पष्ट हो जाएगी। हजार वर्ष पहले किसी ने काव्य लिखा, आज हम उसका अर्थ पकड़ते हैं। यह क्या है? यह इन्द्रिय का काम तो नहीं है? यह

कोई अतीन्द्रिय ज्ञान है हजार वर्ष पहले लिखे अर्थ को पकड़ना। आज का वैज्ञानिक दो हजार वर्ष, पांच हजार वर्ष पूर्व लिखी गई लिपि को पकड़ने का प्रयत्न कर रहा है, उसका अर्थ खोज रहा है। कोई वैज्ञानिक पशुओं की भाषा को पढ़ रहा है, कोई चिड़िया और कबूतर की भाषा को पढ़ रहा है। प्रत्येक व्यक्ति में यह क्षमता होती है। जब व्यक्ति अतीत में लौटता है, तब उसे बहुत सारे नए तथ्य मिलते हैं। प्रतिक्रमण अतीत में लौटने का महत्त्वपूर्ण प्रयोग है, इसके द्वारा अनेक नई दिशाएं उद्घाटित हो सकती हैं।

अपेक्षा है—हम अतीत में लौटना सीखें, वर्तमान में जीना सीखें और भविष्य का सपना देखना सीखें। हम सौरमण्डल के वातावरण में जी रहे हैं इसलिए एक काल में जीकर हम पूरी बात नहीं कर सकते। जिन लोगों ने अतीत में लौटना सीखा है, उन्हें पूर्व जन्म की स्मृतियां हुई हैं या अन्य विशेष क्षमताएं उपलब्ध हुई हैं। क्षमता एक प्रकार की नहीं होती।

आचार्य हेमचन्द्र, आचार्य मलयगिरी और आचार्य अभयदेवसूरी—तीनों ने एक साथ सरस्वती की आराधना की, सरस्वती सिद्ध हो गई। सरस्वती ने प्रसन्न होकर कहा—वरदान मांगो। आचार्य हेमचन्द्र ने कहा—‘मुझे राजाओं का प्रतिबोध देने की क्षमता दो।’ उनका प्रयत्न इस दिशा में चल पड़ा। आचार्य मलयगिरी ने कहा—‘मैं आगमों की टीकाएं लिखूं।’ उन्होंने अपनी शक्ति का नियोजन उस दिशा में किया और समर्थ टीकाकार कहलाए। आचार्य मलयागिरी आज भी आगम के समर्थ टीकाकार और व्याख्याकार माने जाते हैं! दुर्लभ हैं ऐसे टीकाकार। आचार्य अभयदेवसूरी ने कहा—‘मुझे वह सामर्थ्य दो मैं अंगों की टीकाएं लिखूं।’ उन्होंने नौ अंगों की टीकाएं लिखीं और ‘नवांगी टीकाकार’ के रूप में ख्याति प्राप्त की। दो अंगों की टीकाएं उनके पूर्वज आचार्य लिख चुके थे।

प्रश्न है—हम किस दिशा में अपनी शक्ति का नियोजन करें, अपनी क्षमता का विकास करें। मृगापुत्र को केवल जातिस्मृति की घटनाएं जानने के लिए न पढ़ें किन्तु अपनी क्षमताओं का विकास कर सकें, इसलिए पढ़ें। ऐसा करने पर ही हम आगम के दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देख सकेंगे, स्वयं को अधिक सक्षम और सम्पन्न बना सकेंगे।

जहां एक भी क्षण आराम नहीं मिलता

शिष्य आचार्य की सन्निधि में आया। वंदना कर अवग्रह की याचना की—‘भंते! क्या मैं आपके अवग्रह में आ जाऊँ?’ यह बहुत शिष्ट परम्परा रही है—आचार्य के पास जाना हो तो पहले दूर से अनुमति लें, फिर निकट जाएं। शिष्य अनुमति प्राप्त कर आचार्य के उपपात में पहुंचा। उसने वंदना कर निवेदन किया—‘भंते! आज मैंने बड़ा आश्चर्य देखा। मैं उस आश्चर्य का कारण जानना चाहता हूँ।’

आचार्य ने कहा—‘वत्स! तुमने क्या नया आश्चर्य देखा? इस दुनिया में अनेक आश्चर्य माने जाते हैं, यह स्थूल कल्पना है। वस्तुतः दुनिया आश्चर्यों का घर है। इतने बड़े आश्चर्य हैं, जिन्हें शब्दों में बांधना भी कठिन हो सकता है। तुमने कैसा आश्चर्य देखा है आज?’

‘गुरुदेव! मैंने देखा—एक प्रौढ़ आदमी बाजार में खड़ा था। वह आईसक्रीम की दुकान पर गया, आईसक्रीम खाई। फिर दूसरी दुकान पर गया, कुछ मिठाइयां खा लीं। एक दुकान पर गरमागरम कचौरी बन रही थी। उसका मन फिर ललचा गया। वह तीन-चार कचौरियां खा गया। दूसरी ओर मैंने देखा—एक चौदह वर्ष का बालक बाजार से गुजर रहा था। किसी ने कहा—आईसक्रीम खाओ। उस बालक ने कहा—मुझे त्याग है। कचौरी-पकौड़ी खाओ। बालक ने फिर अस्वीकार कर दिया। उसने कहा—मैं बार-बार नहीं खाता। जब भोजन करता हूँ तभी खाता हूँ और उस समय भी एक साथ दस-ग्यारह द्रव्यों से अधिक नहीं खाता। यह मुझे बड़ा आश्चर्य लगा—पचास वर्ष का आदमी एक के बाद दूसरी चीजें खाता चला जा रहा है और चौदह वर्ष का बालक स्वादिष्ट चीजों को अस्वीकार करता चला जा रहा है। व्यक्ति-व्यक्ति में इतना अंतर क्यों? यदि चीन की ऐतिहासिक दीवार आश्चर्य है तो क्या यह मानवीय व्यवहार आश्चर्य नहीं है? इसका कारण क्या है? एक बड़ा है, एक छोटा है। जीभ दोनों के है, खाने की भावना दोनों में है फिर इतना अन्तर क्यों?’

आचार्य ने कहा—‘वत्स! मनुष्य की दो श्रेणियां हैं। कुछ लोग आत्मस्थ होते हैं और कुछ देहस्थ होते हैं। इन दो श्रेणियों में सारे मनुष्य समा जाते हैं। इन दोनों प्रकार के लोगों के आचार और व्यवहार में, आहार और चर्या में अन्तर रहेगा। इसका कारण है—एक आदमी शरीर में बैठा है और एक आदमी आत्मा में बैठा है। जो शरीर में बैठा है, उसका आचार-व्यवहार एक प्रकार का होगा। जो आत्मा में बैठा है, उसका आचार-व्यवहार दूसरे प्रकार का होगा।’

देहस्थाः मानवाः केचित्, केचिदात्मस्थिताः जनाः।
आचारे व्यवहारे च, भेदस्तेषामतो भवेत्॥

जहां हम सबको एक दृष्टि से देखते हैं, वहां समस्या और संकट पैदा होते हैं। जब दो प्रकार के लोगों को दो प्रकार की श्रेणियों में बांट दिया जाता है तब कोई आश्चर्य नहीं होता।

राग : विराग

जब तक विषयों में राग रहेगा, संयम से राग नहीं होगा। संयम से राग का अर्थ है—विषयों से विराग। विषयों में राग का अर्थ है—संयम से विराग। जब तक मृगापुत्र को जातिस्मृति नहीं हुई तब तक उसका विषयों से राग बना रहा। जैसे ही जाति स्मृति हुई, उसकी चेतना बदल गई। जब तक वह शरीर में बैठा था, विषयों के प्रति आकर्षण था। जाति स्मृति ज्ञान हुआ, वह आत्मा में अवस्थित हो गया, उसकी स्थिति बदल गई। उसकी विषयों में आसक्ति नहीं रही, वह संयम में अनुरक्त हो गया। उसने माता-पिता के पास पहुंच कर अपनी भावना अभिव्यक्त की—‘मात-तात! मैंने पांच महाव्रतों को सुना है, मैं मुनि धर्म को जानता हूं। मैं संसार समुद्र से विरक्त हो गया हूं। मैं प्रव्रजित होकर मुनि बनूंगा। आप मुझे अनुज्ञा दें—

सुयाणि मे पंच महव्वयाणि, नरएसु दुक्खं च तिरिक्खजोगिसु।
निव्विण्णकामो मि महण्णवाओ, अणुजाणह पव्वइस्सामि अम्मो॥’

माता-पिता यह सुनकर अवाक् रह गए। उन्होंने सोचा—यह क्या हो गया? इतने दिन कभी यह स्वर नहीं सुना। आज अचानक ऐसे कैसे बोल रहा है? वे कुछ बोल ही नहीं पाए। ऐसा लगा—आशाओं पर तुषारापात हो गया है। पूरे वातावरण में सन्नाटा छा गया।

मृगापुत्र बोला—‘आपको यह सुनकर आश्चर्य हो रहा होगा। मैं संयम क्यों लेना चाहता हूं? आप देखें—हम शरीर में डूबे हुए हैं, यह सबसे बड़ी अविद्या है। जो यह जान लेता है—मैं शरीर नहीं हूं, चैतन्यमय आत्मा हूं, उसे सारी विद्याएं उपलब्ध हो जाती हैं।’

जिस क्षण यह अनुभूति होती है—मैं शरीर नहीं हूं, उसी क्षण अविद्यावान् विद्यावान् बन जाता है। एक क्षण में अनपढ़ आदमी विद्वान् बन जाता है। न बहुत समय तक पढ़ने की जरूरत है, न कुछ और करने की आवश्यकता है। मैं शरीर हूं, यह अनुभूति इस रूप में बदल जाए—मैं शरीर नहीं हूं।

वैराग्य का कारण

मृगापुत्र शरीर से हटकर आत्मा की अनुभूति में उतर चुका था। उसका सारा दृष्टिकोण बदल गया। अपने वैराग्य के कारणों को प्रस्तुत करते हुए मृगापुत्र ने कहा—

१. यह शरीर अनित्य है।
२. यह शरीर अशुचि है।
३. यह शरीर अशुचि से उत्पन्न हुआ है।

४. यह शरीर दुःख और क्लेशों का भाजन है।
५. यह शरीर अशाश्वत है। एक दिन इस शरीर को छोड़कर चले जाना है।
६. यह मनुष्य जीवन असार है। यह व्याधि और रोगों का घर है।
७. यह संसार दुःख बहुल है। जन्म-दुःख है, मरण दुःख है, रोग और बुढ़ापा दुःख है। इस संसार में दुःख ही दुःख है, जिसमें जीव क्लेश पा रहे हैं।
८. मनुष्य, भूमि, घर, पुत्री, स्त्री, बांधव और धन—इन सबको छोड़कर अवश होकर चला जाता है।

जिस संसार की यह स्थिति है, उसमें मुझे क्षण का भी आनन्द नहीं मिल रहा है इसलिए मैं मुनि बनना चाहता हूँ, विराग के पथ पर बढ़ना चाहता हूँ—

इमं शरीरं अणिच्चं, असुइं असुइसंभवं ।
 असासयावासमिणं दुक्खकेसाण भायणं ॥
 असासए शरीरम्मि, रइं नोवलभामहं ।
 पच्छा पुरा व चइयव्वे, फेणबुब्बुयसन्निभे ॥
 नाणुसत्ते असारम्मि वाहीरोगाण आलए ।
 जरामरणघत्थम्मि, खणं पि न रमापहं ॥
 जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य ।
 अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसति जंतवो ॥
 खेत्तं वत्थु हिरण्णं च, पुत्तदारं च बंधवा ।
 चइत्ताणं इमं देहं, गंतव्वमवसस्स मे ॥

शरीर की नश्वरता

मृगापुत्र ने इस सचाई का उद्घाटन कर दिया। यह शरीर क्षणभंगुर है। पानी के बुदबुदे की तरह है। किसी भी क्षण विलीन हो सकता है। यह एक दिन नष्ट होगा। दो वर्ष बाद, पांच वर्ष बाद या दस वर्ष बाद यह शरीर कभी भी छूट सकता है। इसका कोई भरोसा नहीं किया जा सकता। एक युवक ने कहा—‘मेरा भाई बीस वर्ष का था। एक दिन रात को दो बजे उठा। वह एक गिलास पानी पीकर पुनः सो गया और सोया तो ऐसा सोया कि फिर कभी उठा नहीं।’ पानी पिया तब तक जीवित था। सोकर उठने के समय मृत था। जहां शरीर की यह स्थिति है वहां कैसे भरोसा किया जा सकता है? ऐसी घटनाएं प्रतिदिन घटित हो रही हैं—अमुक व्यक्ति का तीस वर्ष की अवस्था में हार्ट फेल हो गया और देखते ही देखते इस संसार से चला गया। शरीर की नश्वरता की जीवन्त साक्ष्य हैं ये घटनाएं।

जब तक व्यक्ति अविद्या में रहता है तब तक वह सोचता है—मुझे शरीर में रति मिले, मुझे शरीर से सुख मिले, शरीर को सुख-सुविधा मिलती रहे। जब तक अविद्या का पर्दा है तब तक वह शरीर से परे की बात सोच ही नहीं सकता। जब अविद्या का पर्दा हटता है, व्यक्ति की चिन्तनधारा बदल जाती

है—मैं शरीर नहीं हूँ, चैतन्यमय आत्मा हूँ। मैंने आत्मा को जान लिया है, अब इस शरीर में कोई रति नहीं है। शरीर में रति नहीं है तो विषयों में भी रति नहीं है। मुझे इस शरीर में नहीं रहना है, इस शरीर का सार निकालना है।

शरीर के तीन स्तर

हमारा यह स्थूल शरीर है औदारिक शरीर। उसके भीतर है सूक्ष्म शरीर—तैजस शरीर। उसके भीतर एक और है सूक्ष्मतर शरीर—कार्मण शरीर। तैजस शरीर विद्युत का शरीर है। शरीर के भीतर विद्यमान विद्युत को पकड़ लिया गया है। आज शरीरशास्त्री बतलाते हैं—हमारे शरीर के भीतर बीस वॉट विद्युत है और उस बिजली से एक छोटी-मोटी फैक्ट्री चलाई जा सकती है। एक है कर्म शरीर। हमने जो सोचा है, देखा है, जाना है, बाहर से जितना लिया है, उन सबका भण्डार भरा है कर्म शरीर में। कर्म शरीर के एक-एक परमाणु को यदि पृथ्वी पर बिछाएं तो पूरा लाडनू शहर ही नहीं, राजस्थान भी छोटा पड़ जाए। हिन्दुस्तान ही नहीं, पूरा विश्व भी भर जाएगा कर्म के परमाणुओं से। आज की दुनिया जैसी असंख्य दुनियां भी भर जाएंगी। इतने परमाणु भरे हैं कार्मण शरीर में। अनन्तानन्त परमाणु है इस शरीर में। वैज्ञानिक कहते हैं—इस शरीर में साठ खरब कोशिकाएं हैं। यह बहुत स्थूल बात है। साठ खरब और छह सौ खरब ही नहीं, अनन्त अनन्त हैं कर्म शरीर के परमाणु। इतने परमाणु हैं कि सारे लोक में भर जाएं तो भी अन्त न आए। लोकाकाश के प्रदेश हैं असंख्य और कर्म परमाणु है अनन्तानन्त। औदारिक शरीर, तैजस शरीर, कार्मण शरीर—इन तीन दीवारों को लांघकर आगे जाएं, चेतना का स्पर्श होगा। आत्मा के भीतर परमात्मा है। वह भी सीधा प्राप्त नहीं होगा। पहले गुण और पर्याय आएगा, मूल आत्मा तो उससे आगे है।

द्रव्य आत्मा : नया अर्थ

तत्त्वार्थभाष्य में एक प्रसंग है—द्रव्य जीव क्या है? कहा गया—गुण-पर्याय रहित जो मूल द्रव्य है, उसका नाम है द्रव्य जीव। यह द्रव्य जीव का एक नया अर्थ है। द्रव्य जीव का एक अर्थ यह भी किया जाता है—पहले जीव था, वह जीव शरीर से मुक्त हो गया या जो जीव पैदा होने वाला है, उसमें भी द्रव्य जीव का आरोपण किया जा सकता है। किन्तु द्रव्य जीव मूल शुद्ध द्रव्य आत्मा है, यह एक नई अवधारणा है। आत्माएं आठ हैं। एक द्रव्य आत्मा है, शेष सारी भाव आत्माएं हैं। पहले हमारा सम्पर्क भाव आत्मा से होगा, हम सीधे मूल तक नहीं पहुंच पाएंगे। वह राजा भीतर बैठा है। उस तक पहुंचने के लिए न जाने कितनी घाटियां पार करनी पड़ेगी। जो उन्हें पार करता है, वह मूल आत्मा को पा लेता है। यह एक सुन्दर परिभाषा है—द्रव्य आत्मा—गुण पर्याय रहित आत्मा।

धारणा बदल गई

मृगापुत्र ने कहा—‘तात! मात! मैं इन सारे शरीरों को पार कर आत्मा में चला गया। अब मेरी सारी धारणा बदल गई है। मुझे न राज्य अच्छा लग रहा है, न राजमहल अच्छा लग रहा है। मेरे मन में एक तड़फ और प्यास जाग गई

है—मैं अतिशीघ्र अपनी स्थिति की प्राप्त करूँ, इन सबको छोड़कर अकेला हो जाऊँ।'

माता-पिता न कुछ कहने की स्थिति में थे और न कुछ सुनने की स्थिति में थे। माता-पिता सोच रहे थे—यह ऐसी बातें कैसे कर रहा है? मृगापुत्र की बात माता-पिता नहीं समझ पा रहे थे और माता-पिता की बात मृगापुत्र नहीं समझ पा रहा था। दोनों की समझ और स्थिति में अन्तर आ गया।

मृगापुत्र ने कहा—'आप चाहे मानें या न मानें, मेरी बात सुनें या न सुनें। आपका मुझ पर कोई असर होने वाला नहीं है। मैं इस बात पर अटल हूँ। मेरी यह निश्चित मान्यता है—इस असार, क्षणभंगुर संसार में यह शरीर जरा और मरण—दोनों से ग्रस्त है। बुढ़ापा और मौत—ये दो राहु मेरे सामने खड़े हैं ग्रसने के लिए। इस शरीर में मेरा आकर्षण नहीं रह गया है। मेरी करबद्ध प्रार्थना है—आप मुझे इस बंधन से मुक्त होने की अनुज्ञा दें, अकेला होने की आज्ञा दें।'

जब शरीर के प्रति एक नई कल्पना बन जाती है, स्थितियाँ बदल जाती हैं। समाजशास्त्रियों और मनोवैज्ञानिकों ने एक सिद्धान्त की परिकल्पना की, उसका नाम है 'बॉडी इमेज'। व्यक्तित्व की व्याख्या का यह महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। प्रत्येक व्यक्ति शरीर के साथ एक अवधारणा लिए चलता है। मृगापुत्र के शरीर की प्रति अब तक यह धारणा थी—शरीर को खूब सजाना है, अत्यन्त साफ एवं स्वच्छ रखना है, उसे हर प्रकार से सुख-सुविधा देना है। व्यक्ति इसी धारणा के अनुरूप सुबह उठते ही सबसे पहले स्नान करता है, शरीर की साज-सज्जा करता है, दर्पण में अपने शरीर का प्रतिबिम्ब देखता है, अपने सौन्दर्य को निखारता है, परखता है, कपड़े और गहने धारण करता है। यह सब शरीर के सौन्दर्य और साज-सज्जा के लिए होता है। इसके पीछे शरीर के प्रति हमारी एक प्रकार की धारणा काम कर रही है। मृगापुत्र की यह धारणा बदल गई। उसके मन में एक नई अवधारणा प्रस्फुटित हुई—शरीर से काम लेना है, शरीर एक नौका है, इसका संसार-सागर पार करने के लिए उपयोग करना है। जैसी ही नदी को पार कर तट पर पहुँच जाएंगे, इस नौका को छोड़ देंगे। हम बॉडी इमेज के सिद्धान्त की व्याख्या करें तो उसमें ये दोनों अवधारणाएँ प्रस्तुत होंगी। जिस धारणा में शरीर केवल साधन मात्र है, उसमें शरीर के प्रति आसक्ति सघन नहीं होती। केवल शरीर की सार-संभाल होती है पर आसक्ति नहीं होती। एक धारणा वह है, जिसमें शरीर से लाभ तो नहीं उठाया जाता किन्तु उसमें भरपूर आसक्ति होती है। एक है लाभ उठाने वाला, उसे नौका मानने वाला और दूसरा है उसे डुबोने वाला, जिसमें वह भी डूब जाता है। इतना डूब जाता है कि वह उसी में फँस जाता है, कुछ भी लाभ नहीं उठा सकता। उसके सामने कभी नदी का दूसरा तट आता ही नहीं है, वह नदी के बीच में ही रह जाता है।

यह एक महत्वपूर्ण तत्त्व है—बॉडी इमेज या बॉडी कन्सेप्ट। हमारा शरीर के प्रति क्या कन्सेप्ट है? बॉडी इमेज क्या है? मृगापुत्र की शरीर के प्रति धारणा

बदल गई। धारणा बदलती है, व्यक्ति बदल जाता है, उसका आचार और व्यवहार बदल जाता है।

सम्मान का अधिकारी कौन?

सुल्तान महमूद गजनबी शेख अब्दुल हसन फुरवान के पास आया। शेख फुरवान प्रसिद्ध संत था। प्राचीन परम्परा रही है—शासक या सम्राट फकीरों संन्यासियों के पास जाया करते थे, उनका आशीर्वाद लेते थे। महमूद गजनबी शेख फुरवान के पास गया, उसे नमस्कार किया। जरूरत थी सुलतान को। सुलतान ने संत को प्रणाम करते हुए अशर्फियों की थैली भेंट की। संत फुरवान मुस्कुराया। उसने थैले से एक रोटी का टुकड़ा निकाला और सुलतान को दिया। सुलतान उसे सूखे और कठोर रोटी के टुकड़े को देखकर अवाक् रह गया। बेचारा सम्राट! अमीरी में पला-पुसा इस सूखे रोटी के टुकड़े को कैसे खा सकता था? पर करता भी क्या? खाने के सिवाय कोई विकल्प ही नहीं था। सम्राट रोटी के टुकड़े को मुंह के पास ले गया, उसे दांतों पर रखा। न वह रोटी को तोड़ पा रहा था और न खा पा रहा था।

संत फुरवान ने कहा—‘सुलतान! रहने दो। यह रोटी तुम्हारे काम की नहीं है और तुमने जो थैली यहां रखी है, वह मेरे काम की नहीं है।’

सुलतान को अपनी भूल का अहसास हुआ। मैंने संत को अशर्फियों की थैली भेंट कर भूल की है।

कुछ क्षण बीते। सुलतान जाने लगा। फकीर अपने आसन से उठा। सुलतान यह देख विस्मित रह गया—मैं आया तब शेख अकड़ कर बैठा था और अब जा रहा हूँ तो सम्मान कर रहा है। सुलतान से रहा नहीं गया, उसने पूछा—‘दीवारप्रवर! यह क्या? मैं आया तब आप बैठे रहे और मैं जा रहा हूँ तब सम्मान में खड़े हो गए।’

‘पहले तुम सम्मान के अधिकारी नहीं थे और अब सम्मान के अधिकारी बन गए हो?’

‘संतवर! इसका रहस्य क्या है? पहले मैं सम्मान का अधिकारी क्यों नहीं था और अब कैसे हूँ?’

‘सुलतान! जब तुम आए तब तुम्हारे सिर पर अशर्फियों का अहंकार सवार था। मैं किसी अहंकारी को सम्मान नहीं देता। अब जब तुम जा रहे हो तब अहंकार का भूत तुम्हारे सिर से नीचे उतर गया है। तुम विनम्र बन गए हो। विनम्रता को सम्मान देना एक फकीर का कर्तव्य है इसलिए मैं तुम्हें सम्मान दे रहा हूँ।’

दो प्रकार की अवधारणाएं, कल्पनाएं, मनोवृत्तियां या दो प्रकार की दुनिया है। एक प्रकार की दुनिया का चिन्तन और कल्पना अलग होती है दूसरे प्रकार की दुनिया की कल्पना और चिन्तन अन्यथा प्रकार का होता है, इसलिए जब दस-पन्द्रह वर्ष का बालक दीक्षा लेता है, तब लोग आश्चर्य करते हैं। दीक्षा लेते हैं एक या दो व्यक्ति और आश्चर्य होता है सब लोगों को। वे कहते हैं—देखो! बेचारा दीक्षा ले रहा है। इसने क्या सुख भोगा? दुनिया में आकर क्या

देखा? सबको छोड़कर जा रहा है! इसके मन में कैसे जाग उठा वैराग्य? ऐसे न जाने कितने प्रकार के बोल लोगों के मुख ये निकलते हैं। लोगों की ये बातें स्वाभाविक हैं। जिस दुनिया में जी रहे हैं, जिस मनोवृत्ति में जी रहे हैं, उसमें आश्चर्य होना स्वाभाविक है। उनकी सारी धारणा बॉडी इमेज से जुड़ी हुई है। उनकी सारी कल्पना शरीर केन्द्रित है इसलिए उससे परे की बात सामने आती है तो उन्हें आश्चर्य होता है। मृगापुत्र को आश्चर्य हो रहा था—माता-पिता वृद्ध होने को आए हैं। उन्हें मेरी बात समझ में क्यों नहीं आ रही है? वे यह क्यों नहीं सोचते—मेरा पुत्र एक अच्छे मार्ग पर जा रहा है। उसको सहारा देना चाहिए। उन्हें यह कहना चाहिए—तुम दीक्षा ले रहे हो, हम भी तुम्हारे साथ चलते हैं। वे मुझे रोकना क्यों चाह रहे हैं?

माता-पिता को मृगापुत्र के आचार-व्यवहार पर आश्चर्य हो रहा था और मृगापुत्र को माता-पिता के आचार-व्यवहार पर। ये दोनों प्रकार के आश्चर्य हमारी दुनिया में चलते हैं।

सन् १९८७ की घटना है। एक मां अपने पुत्र की शिकायत लेकर मेरे पास आई। उसने कहा—‘महाराज! यह बहुत आग्रही है, यह कहता है—यह नहीं खाऊंगा, वह नहीं खाऊंगा। हम सब खाते हैं और यह नहीं खाता। इससे हमें दुःख होता है। आप इसे समझाएं। हम तो अच्छी चीजें खाते हैं और यह सबका त्याग कर देता है।’

मैंने कहा—‘क्या मैं खाने के लिए समझाऊं? त्याग और संयम तो अच्छी बात है।’

मेरे पास बंगाल के संभ्रांत नागरिक दत्ता साहब बैठे थे। वे निःस्पृह साधक हैं। उन्होंने कहा—‘तुम इसके चिन्तन में हस्तक्षेप क्यों करती हो? इसका अपना चिन्तन है, तुम्हारा अपना चिन्तन है। तुम अपने ढंग से जीओ और यह अपने ढंग से जीए। यदि तुम्हें इसकी इतनी ही ज्यादा चिन्ता है तो तुम भी ये चीजें खाना छोड़ दो।’

शाश्वत स्वर

माता-पिता मृगापुत्र को यह समझाना चाहते थे—तुम साधु मत बनो किन्तु उनके मन में यह भावना नहीं जगी—तुम साधु बन रहे हो तो हम भी साधु बनेंगे। ऐसे काम में साथ देना कोई नहीं चाहता। जब तक धारणा नहीं बदलती, व्यक्ति का दृष्टिकोण नहीं बदलता। जब तक व्यक्ति शरीर में बैठा हुआ है तब तक वह आत्मा में रहने वाले का साथ देना भी नहीं चाहता और दे भी नहीं सकता। शरीर की सीमाओं को समझना होगा। जब तक हम शरीर और चेतना के विभिन्न स्तरों को नहीं जानेंगे तब तक सबकी व्याख्या नहीं कर सकेंगे। आज मनोविज्ञान भी बहुत सारी समस्याओं की व्याख्या नहीं कर सकता। वह इसलिए नहीं कर सकता कि उसकी सीमा चेतना के कुछ स्तरों तक जाती है। वह आत्मा के स्तर पर अभी नहीं पहुंचा है। जब तक हम आत्मा के स्तर पर नहीं चले जाते तब तक सारे प्रश्नों का विवेचन और समाधान नहीं कर सकते। सारे प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए देह की सीमा को पार कर आत्मा

की सीमा में प्रवेश करना होता है। एक आदमी के मन में नरम, गरम और मुलायम पदार्थ खाने की लालसा होती है और एक आदमी सब कुछ छोड़ कर अनशन ले लेता है। यह आश्चर्य ही है। ऐसा क्यों होता है? यह देह की सीमा से परे का स्वर है। जब व्यक्ति देह की सीमा को पार कर आत्मा की सीमा में प्रवेश करता है तब सारा चिन्तन का प्रकार, खान-पान और व्यवहार का प्रकार बदल जाता है। ऐसा ही परिवर्तन मृगापुत्र में घटित हुआ। परिवर्तन के क्षणों में निकला वह स्वर शाश्वत स्वर बन गया—मुझे इस संसार में क्षण भर के लिए भी आनंद नहीं मिलता। मैं वहाँ जाना चाहता हूँ, जहाँ आनन्द ही आनन्द है। केवल मृगापुत्र की ही नहीं, आत्मा की झलक पाने वाले प्रत्येक व्यक्ति की भाषा यही होगी। इस भाषा में शाश्वत सुख के अन्वेषण और उपलब्धि की घोषणा है, जिसका अनुभव देह की सीमा से परे जाने वाला कोई भी व्यक्ति कर सकता है।

मोम के दांत और लोहे के चने

मृगापुत्र ने कहा—मैं मुनि बनूंगा। इस प्रस्ताव पर माता-पिता ने चिन्तन किया। उन्होंने सोचा—मनाही नहीं करना है, निषेध नहीं करना है। निषेध किया जाएगा तो विचार और पक्का बन जाएगा। हम निषेध न करें, कोई मनोवैज्ञानिक तरीका अपनाएं।

उत्तराध्ययन का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन करना बहुत जरूरी है। इस दृष्टि से मृगापुत्र अध्ययन बहुत महत्त्वपूर्ण है। माता-पिता ने ऐसा दृष्टिकोण अपनाया, मानसिक दृष्टि से उसके सामने कुछ प्रश्न रखे। यदि कोई कच्चा होता तो मुनि बनने की बात वहीं छोड़ देता, आगे बढ़ता ही नहीं किन्तु मृगापुत्र धीर था, विशिष्ट ज्ञानी था इसलिए वह अविचल बना रहा।

यदि किसी व्यक्ति को लक्ष्य से विचलित करना है तो उसके दो मनोवैज्ञानिक तरीके हैं—भय दिखाना और हीनभावना का निर्माण करना। जो धीर होता है, वह इनसे प्रकंपित नहीं होता।

लक्ष्यं विचलितुं कर्तुं, भयं दर्शयते जनैः ।

हीनभावं च निर्माति, तत्र धीरो न कम्पते ॥

भय और हीनभावना

लक्ष्य से विचलित करने के दो तरीके बतलाए गए हैं—या तो भय दिखाओ या हीनभावना पैदा करो। उसके दुर्बल पक्षों को सामने रखो। हर व्यक्ति में दुर्बल पक्ष होता है। दुर्बलता की इतनी विभीषिका पैदा कर दो कि वह विचलित हो जाए। जब भी कोई पसंद आता है बड़ा काम करने का, तब आदमी सबसे पहले भय दिखाता है—देखो! तुम चले तो हो किन्तु आगे क्या-क्या होगा? क्या तुम्हें पता है, सामने कैसी स्थितियां आएंगी? इस प्रकार एक भय का वातावरण तैयार किया जाए, जिससे व्यक्ति डर जाए और वहीं उसके पैर थम जाएं या फिर हीनभावना पैदा कर दी जाए—तुम काम तो इतना बड़ा करने जा रहे हो और तुम्हारी शक्ति क्या है? अपनी शक्ति को तोली। बिना शक्ति को तोले बड़ा काम करने जा रहे हो। हीनता की भावना और अनुभूति पैदा कर दो, वह वहीं थम जाएगा, आगे नहीं बढ़ेगा। ये दो ऐसे तरीके हैं, जिसमें कहीं निषेध नहीं करना पड़ता। यह अनिषेध होकर भी अपने आप निषेध का काम कर देता है। जिस कार्य के लिए सीधा निषेध किया जाता है, व्यक्ति उस कार्य को करने के लिए कटिबद्ध बन जाता है।

निषेध का परिणाम

फ्रायड अपनी पत्नी के साथ घूम रहे थे। साथ में लड़का भी था। बगीचे में घूमते-घूमते काफी देर हो गई। थोड़ी देर बाद पत्नी ने मुड़कर देखा तब भी वह लड़का दिखाई नहीं दिया। पत्नी घबड़ा गई। उसने फ्रायड से कहा—‘तुम जल्दी करो। लड़का कहां है, खोजो।’

फ्रायड ने कहा—‘घबरा क्यों रही हो? कोई खास बात नहीं है।’

‘नहीं, देखो! इतनी इतनी भीड़ है, कहीं गुम हो जाएगा।’

फ्रायड ने शांत भाव से कहा—‘चिंता की कोई बात नहीं है।’

‘मैं बहुत चिन्तित हूँ।’

‘क्या तुमने उसे कहीं जाने की मनाही की थी?’

‘हां, वह तालाब के पास जाना चाहता था। मैंने उससे कहा—तुम तालाब के पास मत जाना।’

फ्रायड ने कहा—‘लड़का वहीं मिलेगा।’

दोनों उसी मार्ग पर चल पड़े, तालाब के पास पहुंचे, लड़का वहीं खड़ा था।

पत्नी विस्मय भरे स्वर में बोली—‘क्या आपको कोई ज्ञान हो गया? आपको कैसे पता चला कि लड़का वहीं मिलेगा?’

फ्रायड बोला—‘यह मनोविज्ञान का नियम है। जिस काम के लिए बच्चे को मनाही करो, बच्चा वह काम जरूर करेगा। तुमने मनाही की थी तालाब के पास मत जाना और मैंने जान लिया, बच्चा जरूर वहीं गया है।’

फ्रायड ने मनोविज्ञान का एक सामान्य नियम बना दिया और वह नियम बच्चों के लिए ही नहीं, बड़ों के लिए भी लागू होता है—जिस कार्य का निषेध किया जाएगा, उसके प्रति आकर्षण अधिक पैदा होगा। जैन रामायण के प्रसंग में एक कहानी कही जाती है।

एक सेठानी को जिस काम के लिए मनाही करते, वह उस काम को जरूर करती। सेठ ने कहा—‘आज सावण की तीज है। आज मेला लगेगा, तुम्हें वहां नहीं जाना है।’

‘मैं जरूर जाऊंगी।’

‘ठीक है। जाओ तो अकेले मत जाना, बच्चों को साथ लेते जाना।’

‘नहीं! अकेली ही जाऊंगी। क्या मैं निकम्मी हूँ, जो बच्चों को पीछे-पीछे ले जाती रहूँ?’

‘कोई बात नहीं। पर जाओ तो अच्छे कपड़े और गहने पहन कर जाना। नहीं तो अच्छा नहीं लगेगा। लोग कहेंगे—देखो, इतने बड़े सेठ की पत्नी है और सीधे-सादे फटे-पुराने कपड़ों में आई है।’

‘मैं अच्छे वस्त्र नहीं पहनूंगी।’

‘वहां जाओ तो नदी के पास में तो मत जाना।’

‘नदी के पास में ही नहीं, भीतर जाऊंगी।’

सेठ को जो करना था, वह कर लिया। सेठानी फटे-पुराने कपड़े पहन कर मेले में गई, नदी के मध्य चली गई। ऐसे गई कि फिर वापस आई ही नहीं।

यह एक मानवीय दुर्बलता है। मानवीय प्रकृति ही ऐसी है कि निषेध भी एक अभिप्रेरक तत्त्व बन जाता है, प्रेरणा बन जाता है।

मनोविज्ञान का एक विद्या के रूप में इन शताब्दियों में विकास हुआ है किन्तु मनोवैज्ञानिक तथ्य नए विकसित नहीं हुए हैं। न जाने कब से, शाश्वत काल से, मनुष्य में ये वृत्तियाँ रही हैं। जैसा आज हो रहा है, वैसा अतीत में भी होता रहा है। चाहे व्याख्या करना कोई जाने या न जाने।

भय का चित्र

मृगापुत्र के माता-पिता ने मनोवैज्ञानिक तरीके से काम लिया। पिता बोला—‘पुत्र! तुम मुनि बनना चाहते हो पर देखो—तुम कौन हो? तुम बहुत सुकुमार हो और श्रामण्य का आचरण करना कितना कठिन है। तुम यह असंभव बात मत करो। तुम साधु भले बनो, हमें क्या आपत्ति है। तुम्हारी इच्छा है तो हम क्यों रोकें पर पहले वस्तुस्थिति का अंकन तो करो। क्या तुम्हें पता है, यह साधुत्व क्या है? किसने तुम्हारे कान में फूंक मार दी? तुम साधु बनने की बात कर रहे हो पर इस बात को सोचो—साधुपन कितना कठोर होता है। वह मोम के दांत से लोहे के चने चबाने जैसा है। क्या मोम के दांत से लोहे के चने चबाए जा सकते हैं?’

अहिवेगतदिट्ठीए, चरित्ते पुत्त! दुच्चरे।

जवा लोहमया चैव, चावेयव्वा सुदुक्करं॥

माता-पिता ने भय का एक चित्र बना दिया। बिना तूलिका और बिना रंग के इतना भीषण चित्र बनाया, यदि कोई कमजोर होता तो उसे देखकर कांप उठता।

अहं का उद्दीपन

पिता ने कहा—पुत्र! तुम राजकुमार हो, तुम्हें जनता पर शासन करना है। तुम्हारे पर स्वामित्व का भार है। तुम्हारा हाथ दाता जैसा रहेगा किन्तु याचक जैसा नहीं होगा। कौन दाता है और कौन याचक है, यह कहने और पूछने की जरूरत नहीं होती। हाथ की मुद्रा अपने आप सूचित कर देती है। तुम दाता हो पर साधु बनने पर तुम्हें भिक्षा मांगनी पड़ेगी। यह कापोती वृत्ति तुम्हें स्वीकार करनी पड़ेगी। घर-घर भिक्षा के लिए जाना पड़ेगा। क्या तुम्हारे जैसे राजकुमार के लिए यह उचित है?

माता-पिता ने उसके अहं को पकड़ा। अहं बहुत जटिल वृत्ति है। हिंसा, अब्रह्मचर्य, चोरी और परिग्रह की वृत्तियाँ जटिल हैं किन्तु अहंकार की वृत्ति इनसे कम जटिल नहीं है। पता नहीं, इसका महाव्रत क्यों नहीं बना? एक महाव्रत है विनम्रता का, अहंकार विलय का। बहुत सारी बातें छूट जाती हैं पर अहंकार की ग्रन्थि का भेदन नहीं होता। शायद सबसे ज्यादा साधुता में कोई कठिन बात है तो वह है अहंकार की वृत्ति का विलय। बड़े-बड़े त्यागी-तपस्वी ब्रह्मचारी और

अपरिग्रही हो जाते हैं फिर भी अहंकार का नाग समय-समय पर फुफकारने लग जाता है। संप्रदायों में जो बहुत सारे अलगाव आए हैं, जो पद-लोलुपता की समस्या बढ़ी है, उसके पीछे अहंकार ही मुख्य कारण है। विनम्र होना और अहंकार का विसर्जन करना शायद कठिनतम काम है।

माता-पिता ने मृगापुत्र के अहंकार को उभारा—‘तुम कौन हो पुत्र? तुम राजकुमार हो। कितना वैभव है तुम्हारे पास! क्या तुम भीख मांगते फिरोगे?’

मृगापुत्र का उत्तर

मृगापुत्र ने इन बातों को गम्भीरता से सुना। माता-पिता ने सोचा—अंगुली घाव पर टिकी है, कुमार अपना मन बदल लेगा किन्तु कुमार का मन विचलित नहीं हुआ। मृगापुत्र बोला—‘तात! मुझे कोई कठिनाई नहीं है। मैंने सत्य का साक्षात्कार कर लिया है।’

‘क्या इतना सरल है सत्य का साक्षात्कार?’

‘आप कैसी बात कर रहे हैं? आप सिर्फ मुझे देख रहे हैं, राज्य को देख रहे हैं, किन्तु मैं सारे चक्र को देख रहा हूँ।’

‘कौन सा चक्र?’

‘आपको पता है कि मैं पहले जन्म में क्या था? उससे पहले क्या था? और उससे पहले क्या था?’

जब व्यक्ति अपने पूर्वजन्मों का साक्षात्कार करता है, उस समय सारी मनोदशा बदल जाती है। वह व्यक्ति सोच ही नहीं सकता, जिसने अपने पूर्व जन्म का साक्षात्कार नहीं किया है। जब उसके सामने सचाइयां आती हैं तब क्या होता है, कुछ कहा नहीं जा सकता। इन वर्षों में कुछ व्यक्तियों के पूर्व-जन्म के साक्षात्कार की बातें सुनी। व्यक्ति उन्हें सुनकर अवाक् रह जाए। किस प्रकार व्यक्ति अपने जीवन के चक्र में क्या-क्या करता रहता है, कहा नहीं जा सकता, सोचा नहीं जा सकता। ऐसी घटनाएं सामने आई हैं, जिन पर विश्वास भी न किया जा सके और अविश्वास करना भी ठीक नहीं है। वस्तुतः जब जीवन का चक्र चलता है और साक्षात्कार होता है, तब जो स्थितियां बनती हैं, व्यक्ति की दुनिया ही बदल जाती है।

माता-पिता दूसरी दुनिया की बात कर रहे हैं, वे एक दुनिया की बात कर रहे हैं और मृगापुत्र के सामने न जाने कितनी दुनिया के चित्र साक्षात् आ जा रहे हैं।

नीरस है साधुपन

मृगापुत्र बोला—‘मात! तात! आपको बड़ा कष्ट हो रहा है मेरे कारण। आप मुझे समझाने का प्रयत्न कर रहे हैं पर मेरी अक्षमता यह है कि आप चाहे जितना श्रम करें, वह सफल नहीं होगा। अब मैं इस राज्य की भूमिका में नहीं हूँ। मैं दूसरी भूमिका में चला गया हूँ। मेरे लिए न तो भिक्षा मांगना कठिन है, न कुछ और करना कठिन है। अहंकार का वलय टूट चुका है। यह कवच और सांप की केंचुली मेरे लिए कोई काम की नहीं रही है।’

माता-पिता समझ नहीं पाए। एक दिन में ही यह क्या हो गया? एक दिन में ही इतना बदलाव कैसे आ गया? कल तक बात ही नहीं थी, आज सब कुछ बदल गया, हुआ क्या? माता-पिता बोले—‘तुम भिक्षा भी मांग लोगे! अहंकार तुमने छोड़ दिया है पर जरा यह भी सोचो—आदमी को वही करना चाहिए, जिसमें कोई न कोई रस हो। बालु को कोई खाए तो कैसा स्वाद आता है, उसमें कोई स्वाद नहीं होता। एक कण भी कवल् के साथ आ जाए तो उसे धूकना पड़ता है। कितना निःस्वाद है। साधुपन भी ऐसा ही नीरस है। कितना सरस है यह जीवन! इसमें रस ही रस है। परमात्मा क्या है? जो रस है, वही परमात्मा है। यह नीरस जीवन अच्छा नहीं लगता। साधुपन बालू की तरह बिल्कुल नीरस है।’

निराशावाद

पश्चिमी लोग भारतीय दर्शन पर यह आरोप लगाते हैं—भारतीय दर्शन निराशावाद या नीरसवाद है। कहीं सरसता है ही नहीं। जीवन को सुखाओ, जीवन को नीरस बनाओ। कोरा पलायनवाद है। यह आरोप उन्होंने ही नहीं, मृगापुत्र के माता-पिता ने भी लगाया—‘बेटा! यह श्रामण्य बालू खाने की तरह नीरस है। इस नीरस मार्ग को चुनकर तुम क्या करोगे?’

माता-पिता ने अनेक तर्क प्रस्तुत किए—‘देखो! तुम अपने को तोलो। तुम्हारी शक्ति कितनी है! तुम इसमें सफल कैसे बनोगे? हमें कोई कठिनाई नहीं है। तुम भले ही साधु बनो, हम मनाही नहीं करेंगे। पर ऐसा न हो जाए—तुम कल फिर विचलित हो जाओ।’

मुनि बनने वाले व्यक्ति के सामने आज भी यह तर्क आता है—साधु बन रहे हो, हमें कोई कठिनाई नहीं है। यदि भविष्य में साधु जीवन के कष्टों को न सह पाए तो क्या होगा? इस तर्क के पीछे चिन्ता शायद भविष्य की नहीं होती, चिन्ता वर्तमान मूर्च्छा की होती है।

माता-पिता की भी यही चिन्ता थी—आगे क्या होगा? कैसे सफल बनोगे? कितना कठोर मार्ग है! तुम जरा इस पर ध्यान दो। साधुपन में निरन्तर एक दृष्टि से रहना है। सांप एक दृष्टि वाला होता है। सांप में त्राटक की शक्ति बड़ी तेज होती है। अनिमेष दृष्टि सांप में जितनी तेज होती है उतनी साधना शायद आदमी के लिए भी कठिन है। अजगर शिकार के लिए जाता नहीं है, पर उसकी दृष्टि के सामने कोई आ जाता है और यदि वह उसकी ओर दृष्टि फेंक देता है तो व्यक्ति सम्मोहित हो जाता है, उसके लिए शिकार बन जाता है। सांप भी ऐसा ही होता है। वह जिस पर दृष्टि डाल देता है, खतरा बन जाता है। कुछ सर्प ऐसे होते हैं, जिन्हें हम दृष्टिविष सर्प कहते हैं। दृष्टिविष का एक अर्थ यह है—सांप ने अपनी अनिमेष दृष्टि से जिस पर त्राटक कर लिया और वह व्यक्ति उसकी रेंज में चला गया तो आगे नहीं सरक पाएगा, उसे वहीं का वहीं रहना पड़ेगा। जो जानकार लोग होते हैं, वे सांप की सीध में नहीं जाएंगे, टेढ़े-मेढ़े जाएंगे। वे उसकी दृष्टि के सामने नहीं आएंगे। कई सर्प ऐसे होते हैं कि उनकी

दृष्टि के सामने जाने वाले के पैर वहीं धम जाते हैं और फिर सांप जो चाहे, सो कर सकता है।

कठोर कर्म है गृहस्थी चलाना

माता-पिता ने कहा—‘बेटा! तुम जानते हो, एक लक्ष्य रखना, एक दृष्टि रहना, कितना कठोर काम है!’

मृगापुत्र बोला—‘मात-तात! आपने जो कहा, वह बिल्कुल ठीक बात है। मैं जानता हूँ—साधुपन कठोर चर्या है। क्या गृहस्थ जीवन कम कठोर है?’ यह कष्ट की बात साधु जीवन के लिए कही जाती है पर अगर तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो गृहस्थ का जीवन भी कम कठोर नहीं है। कितनी कठोर चर्या है गृहस्थ की। प्रातः उठता है और शाम को सोता है तब तक कोल्हू के बैल की भांति पिसता चला जाता है। यह शिकायत बनी रहती है—एक मिनट का समय मेरे पास नहीं है। उठता हूँ, जल्दी-जल्दी नाश्ता कर दुकान जाता हूँ। रात को आठ बजे आता हूँ और आते ही रोटी खाता हूँ, फिर सो जाता हूँ। बीच में करने को कुछ बचता ही नहीं।

आज के जमाने में गृहस्थी को चलाना तो बहुत कठोर कर्म है। चारों ओर भय का वातावरण, इतनी महंगाई और जटिल आर्थिक समस्याएं! ऐसी स्थिति में गृहस्थ साधु को धन्यवाद दे—आप बहुत कठोर चर्या कर रहे हैं या गृहस्थ साधु को धन्यवाद दे? यह शायद प्रश्न हो सकता है। गृहस्थ की समस्याएं भी कम नहीं हैं फिर भी एक मूर्च्छा ऐसी है, जिससे प्रभावित व्यक्ति यह मानता है—गृहस्थ जीवन सुविधापूर्ण है और साधु जीवन कठोर। समाज चलता है पूर्वाग्रह के कारण। पूर्वाग्रह होता है तो समाज चलता है और पूर्वाग्रह टूट जाए तो शायद समाज भी न चले। चले तो अन्यथा चले। एक मान्यता, धारणा और आग्रह बन गया, उस लीक पर सारे चलते चले जा रहे हैं। जो भी कष्ट आता है, सहते चले जा रहे हैं। अगर पुरानी धारणाएं और पूर्वाग्रह टूट जाएं तो शायद समाज की स्थिति भी अन्यथा बन जाए।

मल्ल का काम : गुरु का काम

मृगापुत्र बोला—‘माता-पिता! आपने मेरी दुर्बलताओं को समझा और मैं भी मानता हूँ कि मैं दुर्बल हूँ। पर जितना आप मानते हैं उतना दुर्बल नहीं हूँ। अब मेरी दुर्बलताएं दूर हो रही हैं। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मैं अपने लक्ष्य में सफल बनूंगा। मैं आपसे एक प्रार्थना करूँ, आप बुरा न मानें। बड़ों का काम छोटों की दुर्बलता को उकसाना, उन्हें दुर्बलता में ले जाना, उनमें हीन भावना पैदा करना है या उनमें उदात्त भावना पैदा करना है? बड़ों का काम क्या है? आपका काम यह है कि आप मुझे सहारा दें, प्रोत्साहन दें। आप यह प्रेरणा दें—बेटा! तुमने बड़ा लक्ष्य चुना है, अच्छा मार्ग चुना है। हम तुम्हारा सहयोग करेंगे, पर आपने ऐसा नहीं किया। आपने मल्ल का काम किया, गुरु का काम नहीं किया। मल्ल का काम होता है पछड़ना और गुरु का काम होता है उठाना। आपने वही काम किया है पर मैं पूरे आत्म-विश्वास के साथ कहता हूँ—मैं अपने लक्ष्य में सफल बनूंगा और अपनी दुर्बलता को छोड़ूंगा। दुर्बलताओं को भी मैंने

साक्षात् देख लिया है। मैं इसीलिए साधु बन रहा हूँ कि उन वृत्तियों को जीतकर दुर्बलताओं को मिटा सकूँ।'

जिस व्यक्ति में यह आत्म-विश्वास जाग जाता है, वह सफल बन जाता है। मृगापुत्र का आत्म-विश्वास जाग गया। यह केवल मृगापुत्र की ही बात नहीं है, दुनिया में सैकड़ों ऐसी घटनाएँ हुई हैं। जहाँ-जहाँ आत्म-विश्वास जगा है, आदमी सफल बना है।

आत्म-विश्वास की निष्पत्ति

बैजामिन फ्रेंकलिन १७ वर्ष की आयु में घर से निकल गया। कारण बना, बड़े भाई का व्यवहार। वह घर से बेघर हो गया। एक भाषा में अनगार हो गया। न्यूयार्क गया और वहाँ प्रेस में नौकरी मिल गई। माता-पिता को बड़ी चिन्ता हुई, खोज शुरू की और पता मिलते ही पत्र लिख दिया। पत्र के उत्तर में बैजामिन ने जो पत्र लिखा, वह बहुत ही मार्मिक था। उसने लिखा—'माता-पिता! आप मेरी चिन्ता न करें, मैं प्रसन्न हूँ। मुझे नौकरी मिल गई है, काम कर रहा हूँ। आपको यह संदेह नहीं होना चाहिए कि मैं सफल होऊँगा या नहीं?' उन्होंने लिखा—'यदि इस दुनिया में ईमानदारी, अध्यवसाय, मितव्ययिता, परिश्रम और मादक द्रव्यों से परहेज करना—ये सफल होंगे, तो निश्चित ही मैं अपने जीवन में सफल बनूँगा और ये सफल नहीं होते हैं तो फिर कोई बात नहीं है।' सचमुच ऐसा ही हुआ। उसने ईमानदारी और दृढ़ अध्यवसाय से काम किया, बुराइयों से बचा रहा, परिणाम यह आया—वह सफल हो गया, दुनिया का एक बड़ा आदमी बन गया।

जिस व्यक्ति में यह आत्म-विश्वास जाग जाता है कि मैं अपने गुणों के कारण अपने जीवन में महान बन सकता हूँ और बड़ा काम कर सकता हूँ, सफल हो सकता हूँ, वह निश्चित ही सफल हो जाता है। मृगापुत्र के मन में यह विश्वास पैदा हो गया—'मैं मुनि बनूँगा और बहुत सफल मुनि बनूँगा।' उसने पूरे आत्म-विश्वास के साथ माता-पिता के सामने अपनी बात रखी, अपना तर्क संगत पक्ष रखा।

जहाँ तर्क चलता है वहाँ जिसका तर्क कमजोर होता है, वह दब जाता है। मृगापुत्र का तर्क बहुत मजबूत था, माता-पिता सचमुच सोचने के लिए विवश बन गए। मृगापुत्र के सामने सत्य एक समुद्र जैसा था। माता-पिता के सामने एक छोटी-सी तलैया थी। राज्य और वैभव एक छोटी तलैया है, जिसमें आदमी डुबकी लगाता है तो पूरा डूब ही नहीं पाता और पूरा ऊपर भी नहीं आ पाता। उस तलैया के नीचे तो दल-दल भरा पड़ा है। मृगापुत्र के सामने सत्य का एक विशाल समुद्र-सा लहरा रहा था, वह उसका साक्षात् कर रहा था। इस स्थिति में उसके तर्क अकाट्य बन गए। माता-पिता ने सोचा—क्या करें? क्या आज्ञा दें? नहीं! नहीं!! एक प्रयत्न फिर करना चाहिए। कोई भी आदमी सीधे हार नहीं मानता। छोटे से छोटा आदमी भी हार स्वीकारना नहीं चाहता। वे माता-पिता थे। माता-पिता होने का गर्व भी होता है। जो स्वयं को बड़ा मानता है, वह छोटे को छोटा ही मानेगा, चाहे वह कितना ही होशियार क्यों न हो?

माता-पिता बोले—‘पुत्र! आज काफी चर्चा की है। एक साथ दिमाग पर ज्यादा भार नहीं डालना चाहिए। तुम्हारी भावना और तर्क हमने सुन लिए हैं पर क्या आज ही निर्णय करना जरूरी है? हमें भी थोड़ा सोचने का अवकाश दो और तुम भी जरा अवकाश लो, ठंडे दिमाग से सोचो। कल फिर बात करेंगे, फिर सोचेंगे। निर्णय बहुत सोच समझकर लेना चाहिए। सहसा जल्दीबाजी में कोई निर्णय नहीं लेना चाहिए। सहसा विदधीत न क्रिया—इस सूक्त पर तुम भी मनन करो, हम भी मनन करेंगे। उस मनन से जो निष्कर्ष निकलेगा, वह विवेकपूर्ण होगा, संपदा की वृष्टि करने वाला होगा।’

पथ और पाथेय

मृगापुत्र और माता-पिता का संवाद चल रहा था। पिता ने कहा—‘पुत्र! तुम मुनि क्यों बनना चाहते हो? तुम्हारे मुनि बनने का प्रयोजन और उद्देश्य क्या है?’

मृगापुत्र बोला—‘माता-पिता! मैं बहुत दीर्घ मार्ग को देख रहा हूँ, महान अध्वा को देख रहा हूँ। उस मार्ग पर चलने के लिए मुझे पाथेय की जरूरत है। उस पाथेय के लिए मैं संयम स्वीकार करना चाहता हूँ।’

‘कहां है लम्बा मार्ग? तुम्हारे लिए वाहन और पाथेय की भी कमी नहीं है।’

‘पिता-माता! यह मार्ग बहुत छोटा है। मैं जिस दीर्घ मार्ग को देख रहा हूँ, उसे पार करने के लिए आपका कोई वाहन काम नहीं कर सकता और वैसा पाथेय दे सके, ऐसा एक भी तत्त्व आपके राज्य में नहीं है।’

पिता ने कहा—‘तुम साफ-साफ बताओ।’

‘पिताजी! मैं आपको व्यवहार की बात बताऊँ। एक व्यक्ति ने जंगल का लम्बा रास्ता ले लिया। वह भयंकर जंगल से गुजर रहा है। साथ में रोटी-पानी नहीं है। वह भूख-प्यास से पीड़ित हो गया। वह कैसे पार पाएगा जंगल को। अनेक बार ऐसी स्थिति में व्यक्ति जंगल का पार नहीं पा सकता, बीच में ही रह जाता है। इसी प्रकार मैंने जिस पथ को देखा है, वह बहुत लम्बा है। उस मार्ग पर धर्म का पाथेय लिए बिना जो व्यक्ति जाता है, वह बहुत पीड़ित होता है। कभी रोग, कभी कष्ट—नाना प्रकार की समस्याओं की पीड़ा झेलनी पड़ती है, वह सुख-शांतिमय जीवन नहीं जी सकता। इसलिए आप कृपा कर अनुमति दें ताकि मैं अपने लिए पाथेय पा सकूँ।’

बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है पथ और पाथेय का। जीवन यात्रा में सफलता के लिए सबसे पहली शर्त है पथ को जान लेना। जिसने पथ को नहीं देखा है, वह व्यक्ति भटक जाता है। पथ को देख लेना और पाथेय को पा लेना महापथ को पार करने के लिए जरूरी है।

पिता ने पूछा—‘पुत्र! इस महापथ के लिए किस पाथेय की जरूरत है?’

‘पीने को दूध भी चाहिए, खाने को दही भी चाहिए, घी भी चाहिए। मैं यह सारा लेना चाहता हूँ।’

‘कहां ले जाओगे?’

‘साथ ले जाऊंगा।’

‘कब ले जाओगे?’

‘जब यहां से जाऊंगा।’

‘तुम भोले हो, कुछ भी साथ नहीं चलेगा।’

‘कैसे नहीं चलेगा? मैं इन सबको ले जाऊंगा। क्या आप जानते हैं—दूध कौन-सा है, दधि और घी कौन-सा है?’

‘तुम किस दूध, दधि और घी की बात कर रहे हो?’

ज्ञान दुग्धं, दधि: श्रद्धा, घृतं तच्चरणं स्मृतम्—ज्ञान मेरा दूध होगा, श्रद्धा दधि और चरित्र होगा घृत।

ज्ञान, दर्शन, चरित्र—तीनों एक ही चीज हैं। ज्ञान को जमाओगे तो गाढ़ी श्रद्धा बन जाती है, उसका सार है—आचरण। व्यवहार में ये हमें विभाजित प्रतीत होते हैं। निश्चय नय का काम है—एक कर देना, द्वैत में अद्वैत स्थापित करना। यदि गोरस कहें तो दूध, दही और घी—तीनों एक शब्द में आ गए।

अल्प वेदना : अल्प कर्म

मृगापुत्र ने कहा—‘नाना प्रकार के जो भाव हैं, वह मेरा भोज्य होगा। आप मुझे स्वीकृति दें, मैं बहुत बड़ा सम्बल साथ लेकर जाऊंगा। मुझे कोई कठिनाई नहीं होगी। मैं जहां जाकर पड़ाव करूंगा, वहां कर्म और वेदना न्यूनतम होगी। पाथेय लेकर जाने वाला व्यक्ति भूख-प्यास से पीड़ित नहीं होता। वह आराम से पथ को काट देता है जैसे ही मैं अगले जन्म में जाकर जहां पड़ाव करूंगा वहां मेरे कर्म भी कम होंगे और वेदना भी कम होगी।’

एवं धम्मं पि काऊण, जो गच्छई परं भवं।

गच्छंतो सो सुही होई, अप्पकम्मे अवेयणे।।

यह जीवन की सफलता का आध्यात्मिक सूत्र है। वह मनुष्य जीवन सफल और आदर्श जीवन माना जा सकता है, जिसमें कर्म अल्प और वेदना अल्प होती है। वह जीवन अच्छा नहीं माना जा सकता, जिसमें कर्म बहुत होते हैं, वेदना बहुत होती है। वे कर्म-संस्कार आदमी को भटकाते हैं।

आज के संदर्भ में हम विचार करें। बहुत अपराध, हिंसा और तनाव—ये क्यों हैं? इसका कारण है—जीवन अल्प कर्म वाला नहीं है। कर्म का मतलब है प्रवृत्ति। कर्म का अर्थ है—अपना किया हुआ अर्जित संस्कार, अपने अर्जित कर्म पुद्गल। दोनों दृष्टियों से विचार करें। जिसके कर्म ज्यादा होते हैं, वह बहुत दुःखी होता है। वह कभी मानसिक तनाव से मुक्ति नहीं पा सकता। जितना कर्म उतनी ही वेदना। अवेदना का जीवन जीने के लिए आवश्यक है कर्म का अल्पीकरण। वेदना में भी कमी तभी संभव है जब जीवन में कर्म कम होंगे, प्रवृत्ति कम होगी।

मृगापुत्र ने कहा—‘माँ! मैं अब धर्म की साधना करना चाहता हूँ। धर्म ही इस दीर्घ यात्रा का एक मात्र संबल है।’

आज धर्म को भी एक ऐसे मिश्रण में मिला दिया कि वह भी शुद्ध नहीं है, कोरा घोल बन गया। कभी राजनीति से जोड़ दिया, कभी परलोक से जोड़ दिया, कभी समाज से जोड़ दिया। धर्म को शुद्ध मूल रूप में बहुत कम समझा जाता है।

जैन साहित्य : चार अनुयोग

जैन साहित्य का वर्गीकरण कर उसे चार भागों में बांटा गया—

- | | |
|-----------------|-----------------|
| १. द्रव्यानुयोग | ३. गणितानुयोग |
| २. चरणकरणानुयोग | ४. धर्मकथानुयोग |

यह एक वैज्ञानिक वर्गीकरण है।

हम द्रव्यानुयोग की दृष्टि से धर्म पर विचार करें। द्रव्यानुयोग दार्शनिक दृष्टिकोण है, तत्व-विद्या का दृष्टिकोण है। धर्म क्या है? धर्म मूल द्रव्य नहीं है। मूल द्रव्य है आत्मा—जीव। धर्म केवल पर्याय है, इसलिए देहधारी आदमी धर्म करता है। जैसे ही वह विदेही बना, धर्म भी समाप्त हो गया। जो मुक्त आत्मा परमात्मा बन गया, उसके लिए कोई धर्म नहीं है, क्योंकि जो पर्याय था, वह समाप्त हो गया।

धर्म पर आचारशास्त्रीय दृष्टि से विचार करें। प्रत्येक व्यक्ति अच्छा जीवन जीना चाहता है। अच्छा जीवन जीने के लिए अपनी मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियों का संयम करना, उनका नियमन करना जरूरी होता है। प्रवृत्तियों का नियंता है धर्म। यह है आचारशास्त्रीय स्वरूप। यह चरणकरणानुयोग है।

गणितानुयोग में धर्म के अनेक रूप बन जाते हैं धर्म का एक प्रकार है—वीतरागता। आत्मा का जो वीतराग परिणमन है, उसका नाम है धर्म। धर्म के दो प्रकार हैं—श्रुत और चारित्र। धर्म के तीन प्रकार हैं—स्वाध्याय, ध्यान और तपस्या। धर्म के चार प्रकार हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप। संख्या के आधार पर धर्म के असंख्य प्रकार किए जा सकते हैं।

धर्मकथानुयोग की दृष्टि से विचार करें। हमारे सामने अर्हन्नक का प्रसंग आएगा। अर्हन्नक व्यापारी था। एक बार वह बहुत से व्यापारियों के साथ समुद्र में यात्रा कर रहा था। एक आकृति आसमान में उभरी। उसने कहा—अर्हन्नक! तुम धर्म को छोड़ दो वर्ना मैं तुम्हारा जहाज डुबो दूंगा। सब लोग कांपने लगे। सबने अर्हन्नक को समझाया—तुम कह दो कि मैं धर्म को छोड़ता हूँ। अर्हन्नक ने कहा—धर्म मेरी आत्मा है, मेरी चेतना है। मैं अपनी चेतना को छोड़ नहीं सकता। धर्म कोई चोला नहीं है, जिसे गर्मी लगी तो उतार कर रख दिया। यह तो शाश्वत चेतना है। मैं अपनी चेतना को कभी छोड़ नहीं सकता। उस आकृति ने जहाज को अधर में उठा लिया। सब लोग कांप गए पर अर्हन्नक शांत बैठा था। देव ने कहा—‘अर्हन्नक! मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ। तुम मेरी यह तुच्छ भेंट—कुण्डल युगल स्वीकार करो।’

जिन्होंने कथाओं के माध्यम से धर्म के स्वरूप को समझा है, वे यह मानते हैं—धर्म कोई बाहरी आरोपण नहीं है, थोपा हुआ नहीं है, कृत नियम नहीं है। धर्म वास्तव में आत्मा का स्वभाव है। एक व्यवस्था होती है और एक धर्म। व्यवस्था का आरोपण होता है पर धर्म का आरोपण नहीं होता। अंगों का आरोपण हो सकता है, आत्मा का आरोपण कभी नहीं हो सकता। शरीर के एक-एक अंग का प्रत्यारोपण किया जा सकता है किन्तु क्या किसी के प्राण का

भी प्रत्यारोपण किया जा सकता है? धर्म कोई प्रत्यारोपण का तत्त्व नहीं है, वह ध्रुव, नियत और शाश्वत है। वह है आत्मा की पवित्रता, वीतरागता। जैन दर्शन में धर्म पर विचार किया गया। पहला बिन्दु धर्म का अन्तिम बिन्दु है, दोनों के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। पहला बिन्दु है एक बूंदी वीतरागता और अन्तिम स्वरूप है पूरा लड्डू वीतरागता। बूंदी का भी वही स्वाद है और लड्डू का भी वही गिठास है। आकार छोटा-बड़ा है पर उसका महत्त्व नहीं है। महत्त्व है स्वरूप का। भगवान महावीर ने जो धर्म का स्वरूप बताया, उसका प्रथम बिन्दु है—वीतरागता और उसका अन्तिम बिन्दु भी है—वीतरागता। मात्रा का भेद तो हो सकता है, स्वरूप में अन्तर नहीं आ सकता।

ये चार वर्गीकरण हमारे सामने हैं—

१. द्रव्यानुयोग — दार्शनिक दृष्टि
२. चरणकरणानुयोग — आचारशास्त्रीय दृष्टि
३. गणितानुयोग — विस्तार दृष्टि
४. धर्मकथानुयोग — घटनापरक दृष्टि, जीवन परक दृष्टिकोण।

इन सारी दृष्टियों की मीमांसा करने पर धर्म का जो निखरा हुआ रूप हमारे सामने आएगा, वह बिल्कुल अलौकिक होगा।

मृगापुत्र ने कहा—‘माता-पिता! अब आप क्यों देरी कर रहे हैं? आपकी कृपा से मुझे जातिस्मृति हो गई है। मैं पूर्व-जन्मों को साक्षात् कर रहा हूँ, मेरी दृष्टि पारदर्शी हो गई है। उसका जो निर्णय है उसे आप बदल नहीं सकते!’ मृगापुत्र का यह स्वर उसके अटल निश्चय को अभिव्यक्त कर रहा था। जब व्यक्ति किसी निश्चय पर पहुँच जाता है तब कोई भी शक्ति उसे विचलित नहीं कर सकती। उसका निश्चय स्पष्ट था, पथ स्पष्ट था और पाथेय उसे प्राप्त था। इस स्थिति में माता-पिता के सामने उसको स्वीकृति देने के सिवाय विकल्प ही नहीं था, लेकिन वे स्वीकृति देने से पूर्व एक परीक्षण और करना चाहते थे। मृगापुत्र उसके लिए भी प्रस्तुत था। उसका जो परिणाम आएगा, वह प्रेय ही नहीं, श्रेय भी होगा।

अचिकित्सा ही चिकित्सा

माता-पिता और मृगापुत्र के बीच संवाद आगे बढ़ा। पिता ने कहा—‘वत्स! तुम्हारा छंद है तो तुम मुनि बनो।’ छंद शब्द मराठी भाषा में बहुत प्रचलित है। आचार्य भिक्षु ने ‘छंद’ शब्द का बहुत प्रयोग किया है। तुम्हारा छंद है, तुम्हारी इच्छा है, तुम मुनि बनो पर इस बात पर ध्यान दो—यह श्रामण्य में जो निष्प्रतिकर्मता है, वह बहुत दुष्कर है। तुम जानते हो—शरीर में कभी बीमारी हो सकती है। जब शरीर में बीमारी होती है, तब कितनी पीड़ा और दर्द होता है! श्रामण्य का यह नियम है—मुनि चिकित्सा न कराए। तुम इतने सुकुमार हो, रोग होने पर चिकित्सा नहीं कराना है। इस स्थिति में तुम बीमारी को कैसे सहन कर पाओगे?’

रोग आए और व्यक्ति चिकित्सा न करे, यह कम संभव है।

मृगापुत्र ने माता-पिता के कथन को अवधानपूर्वक सुना। वह उस स्थिति में पहुंच चुका था, जहां यह बात विभीषिका नहीं बन सकती थी। सामान्य आदमी के लिए रोग भय का कारण बन जाता है पर मृगापुत्र सामान्य भूमिका से परे पहुंच चुका था। मृगापुत्र बोला—‘आपने ठीक कहा, मुनि को चिकित्सा नहीं करानी है। आप इस बात पर भी सोचें—जंगल में कितने पशु हैं, आकाश में कितने पंखी हैं। वे जब बीमार होते हैं तब उनकी चिकित्सा कौन करता है? कौन सा डाक्टर उन्हें दवा देता है? मैं भी इसी प्रकार मृगचर्या करूंगा। मुझे मृगचारिता के लिए प्रस्थान की अनुमति दें। मैं ऐसा ही जीवन जीऊंगा। जब भी कोई बीमारी आएगी, उसे शांत भाव से सहूंगा। बीमारी ठीक होगी तो भिक्षा के लिए जाऊंगा, भिक्षा ग्रहण करूंगा और भोजन कर लूंगा। अन्यथा कुछ भी नहीं खाऊंगा।’

*सो वितम्मापियरो ! एवमेयं जहाफुडं ।
पडिकम्मं को कुणई, अरण्णे मियपक्खिणं ॥
एगभूओ अरण्णे वा, जहा उ चरई मिगो ।
एवं धम्मं चरिस्सामि, संजमेण तवेण य ॥*

प्राकृतिक चिकित्सा : बीज-मंत्र

मृगापुत्र को प्राकृतिक चिकित्सा का बीज-मंत्र मिला गया। यह अचिकित्सा ही चिकित्सा है। यह चिकित्सा का सामान्य बोध है—औषध द्वारा चिकित्सा करना, शल्यक्रिया आदि के द्वारा चिकित्सा करना। प्राकृतिक साधनों के द्वारा चिकित्सा

करना भी चिकित्सा है, पर वह चिकित्सा होते हुए भी अचिकित्सा है। वह चिकित्सा है पर उसे चिकित्सा नहीं माना जाता। वह चिकित्सा है प्राकृतिक।

हम यह देखें—प्राकृतिक चिकित्सा शुरू कैसे हुई? उसका मंत्र कहां से मिला? एक डाक्टर जंगल में गया। उसने देखा—पानी के स्रोत के पास एक हिरणी आई, अपनी टांग को उस स्रोत के जल से सींचने लगी। कुछ देर बाद वह वापस चली गई। डाक्टर ने देखा—हिरणी लंगड़ाती हुई चल रही है, उसके पैर में गहरा जखम है। वह दो दिन तक निरन्तर आती रही, जखमी हिस्से पर जल का सिंचन करती रही। दो दिन में वह बिल्कुल स्वस्थ हो गई। डाक्टर को रहस्य उपलब्ध हो गया। वह जान गया कि हिरणी ने पानी से अपनी चिकित्सा की है। डाक्टर ने पानी की चिकित्सा के प्रयोग शुरू किये और प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति का विकास हो गया।

जर्मनी में इस चिकित्सा पद्धति का विकास हुआ और यह इस शताब्दी की बात है। प्राचीन साहित्य में मिट्टी की चिकित्सा, जल चिकित्सा, उपवास चिकित्सा—इन सबका वर्णन मिलता है। जैन साहित्य में उपवास चिकित्सा का बहुत सुन्दर विवेचन है। आज पाश्चात्य विद्वानों ने उपवास चिकित्सा पर बहुत साहित्य लिखा है, उसका बहुत महत्त्व बताया है। गांधीजी ने भी उपवास चिकित्सा पर बहुत लिखा। उसके प्रयोग किए और कराए। हमें इसका वैचारिक इतिहास खोजना चाहिए। इस विचार का मूल बिन्दु कहां है? प्राचीन जैन साहित्य में उपवास चिकित्सा का वर्णन उपलब्ध है। बृहत्कल्प भाष्य में इसका विस्तृत विवेचन है।

चिकित्सा की पद्धति

प्रश्न है—कोई मुनि बीमार हो जाए तो क्या करें? इसकी दो पद्धतियां रही हैं। एक यह पद्धति रही—चिकित्सा न करे। दूसरी यह पद्धति रही—चिकित्सा करे। एक मुनि बीमारी को सहन कर लेता है और एक मुनि बीमारी को सहन नहीं कर पाता। जो सहन करता है, वह भी चिकित्सा करे। जो सहन न करे, वह भी चिकित्सा करे। चिकित्सा सबके लिए मान्य है। वह चिकित्सा है उपवास की। हजारों वर्ष पुराना विधान रहा—शरीर का शोषण करो, शरीर को सुखाओ। शरीर का शोषण और विशोषण होता है तो तीन रोग सूख जाते हैं—चक्षुरोग, ज्वर और व्रण।

शुष्यतः त्रीणि शुष्यन्ति, चक्षुरोगो ज्वरो व्रणः।

प्रश्न आया—ज्वर आ जाए तो क्या करना चाहिए? कहा गया—ज्वर आने पर कम से कम अष्टम तप (तीन दिन का उपवास)करना चाहिए। हो सके तो ज्यादा करें पर कम से कम इतना तो करना ही चाहिए।

यदि व्यक्ति तेला करने में असमर्थ है तो क्या किया जाए? तेला पूरा न कर पाए, एक दिन उपवास करते ही पारणा कर ले तो क्या करे? उसके लिए विधान किया गया—एक सप्ताह तक थोड़ा गरम पानी और थोड़ा-सा अन्न। दूसरे सप्ताह तक उस मात्रा को कुछ बढ़ाया जाए। इस प्रकार तीन-चार या पांच सप्ताह तक उसे लंघन कराया जाए। केवल गरम पानी और थोड़ा-सा अनाज

धीरे-धीरे अनाज का हिस्सा बढ़ाया जाए। चार-पांच सप्ताह बाद पर्याप्त भोजन दिया जाए।

यह उपवास चिकित्सा की पद्धति, जो प्राचीन काल से चल रही है, बहुत महत्त्वपूर्ण है। आज भी इसका बहुत प्रयोग किया जा रहा है। हैदराबाद, बेंगलूर, गोरखपुर आदि नगरों में प्राकृतिक चिकित्सालय चल रहे हैं। विदेशों में भी ऐसे अनेक केन्द्र हैं जहाँ प्राकृतिक चिकित्सा द्वारा उपचार किया जाता है। प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति का एक रूप है—उपवास। मृगापुत्र के उत्तर में इसका बीज उपलब्ध होता है।

उपवास चिकित्सा

बीमार होने का प्रमुख कारण है—पाचन तंत्र की गड़बड़ी। पश्चिमी जगत में यह कहावत प्रचलित है—बीमारी शुरू होती है पाचन-तंत्र में। बीमारी का पहला बिंदु है—पाचन तंत्र। यह तंत्र ठीक है तो सारी बीमारियाँ अपने आप ठीक हो जाएंगी। उपवास एक उपचार है पाचन तंत्र को सुधारने का। जो आदमी खाता ही चला जाता है, कभी पेट को विश्राम नहीं देता, वह पाचन तंत्र को बीमार बना देता है। जो मोटर निरन्तर चलाई जाती है, पांच-सात घंटे तक लगातार चलती रहती है, उसका इंजन गर्म हो जाता है, समस्या पैदा हो जाती है। मोटर को विश्राम देना होता है। एक घोड़े को निरन्तर दौड़ाया जाए तो वह भी थक जाए। क्या पेट का इंजन गर्म नहीं होता? क्या पाचनतंत्र थकता नहीं है? वह थकता है। कम से कम उसे रिपेयरिंग का अवसर तो मिले, सफाई करने का अवकाश तो मिले। वह मिलता नहीं है तो बीमारी आ टपकती है। लंघन—उपवास एक महत्त्वपूर्ण पद्धति है। जो विजातीय तत्त्व एकत्रित हो गए हैं, वह उनको निकलने का अवसर देती है। विजातीय द्रव्यों के निष्कासन का एक महत्त्वपूर्ण उपाय है—उपवास।

मानसिक चिकित्सा

एक है मानसिक चिकित्सा की पद्धति। आज बड़े-बड़े हॉस्पिटलों में मानसिक चिकित्सा का विभाग जुड़ा हुआ है, लेकिन यह उस मानसिक चिकित्सा की बात है, जो बहुत पुरानी है। यदि कोई मानसिक बीमारी हो जाए तो क्या करें? यह भी प्राकृतिक चिकित्सा का एक अंग है। वह चिकित्सा, जिसमें दवा का प्रयोग न करना पड़े, प्राकृतिक चिकित्सा है। इस दृष्टि से मानसिक चिकित्सा की प्राचीन विधि को देखें। मन की तीन अवस्थाएँ हैं—दृप्त, क्षिप्त और आविष्ट। एक व्यक्ति का मन दृप्त हो गया। उसमें उन्माद पैदा हो गया। प्रश्न आया—दृप्त अवस्था की चिकित्सा कैसे की जाए? कहा गया—दृप्त अवस्था की चिकित्सा अवज्ञा और अपमान से की जाए। जो मानसिक उन्माद से ग्रस्त है, उसकी अवज्ञा की जाए, उसे अपमानित किया जाए तो वह ठीक हो जाएगा। क्षिप्त मानसिक रुग्णता की दूसरी अवस्था है। जो व्यक्ति क्षिप्त है, उसका सम्मान करना चाहिए। सम्मान के द्वारा उसकी चिकित्सा की जा सकती है। एक व्यक्ति आविष्ट है। वह चाहे वायु से आविष्ट है या भूत और यक्ष से आविष्ट है, उसकी चिकित्सा अपमान और सम्मान—दोनों से की जाए।

भाव चिकित्सा

एक है भाव चिकित्सा की पद्धति। बहुत सारी बीमारियां भावना के कारण होती हैं। भाव परिवर्तन के द्वारा उसकी चिकित्सा की जा सकती है। मेडिकल साइन्स का मत है—निषेधात्मक भाव आते हैं तो हमारी जैविक रासायनिक श्रृंखला गड़बड़ा जाती है। हमारी जो प्राण शक्ति है, रोग प्रतिरोधक क्षमता है, वह कमजोर हो जाती है। निषेधात्मक भाव से हमारी रोग प्रतिरोधक प्रणाली, जैविक श्रृंखला गड़बड़ाती है तो वह विधायक भाव से स्वस्थ कैसे नहीं होगी? यह बहुत सीधी सी बात है—यदि क्रोध करने से फोड़ा होता है तो क्षमा करने से वह ठीक कैसे नहीं होगा? मन में घृणा और ईर्ष्या का भाव आया तो पेटिक अल्सर की बीमारी हो गई। मैत्री की भावना से वह ठीक कैसे नहीं होगी? मेडिकल साइन्स आज इस बिन्दु पर पहुँच गया है—कौन से निषेधात्मक भाव से बीमारी पैदा होती है? और वह बीमारी कैसे मिटती है? एक पुस्तक है—‘प्रेक्षाध्यान : अमृत पिटक’। उसमें भावात्मक चिकित्सा के प्रयोग निर्दिष्ट हैं। जापान और अमेरिका में भी इस प्रकार का साहित्य निकल रहा है, जिसमें भाव चिकित्सा के प्रयोगों का विश्लेषण है। यदि अमुक प्रकार के भाव से अमुक प्रकार का रोग उत्पन्न होता है तो अमुक प्रकार के भाव से उस रोग का शमन हो सकता है। यह सुनी सुनाई या किसी धर्म की ही बात नहीं है, आज के चिकित्सा विज्ञान में प्रमाणित तथ्य है।

आसन चिकित्सा

आसन चिकित्सा भी प्राकृतिक चिकित्सा है। बाहर से कोई दवा लेने की जरूरत नहीं पड़ती। आसन के द्वारा बीमारियों का शमन होता है। जो बीमारियां दवाओं के द्वारा साध्य नहीं मानी जाती, वे आसनों से मिट जाती हैं। एक व्यक्ति ने कहा—सुगर की चिकित्सा नहीं हो सकती। सिवाय इंसुलिन के कोई उपाय नहीं है। पेंक्रियाज गड़बड़ा गया तो उसकी ठीक करने का कोई साधन नहीं। आज आसन के द्वारा सुगर की बीमारी का इलाज किया जाता है। अनेक स्थानों पर शिविर लगते हैं और उनमें बहुत रोगी स्वस्थ हो जाते हैं। मद्रास में डाक्टरों ने कई प्रकार के रोगों के समाधान के लिए अनेक शिविर लगाए। उन्होंने प्रमाणित किया—अमुक प्रकार की बीमारियां अमुक-अमुक प्रकार के आसनों से बिल्कुल ठीक हो जाती हैं। डाक्टरों ने सर्वांगासन, विपरीतकरणी आसन, हलासन, शशांकासन आदि अनेक आसनों को रोगों के समाधान में महत्वपूर्ण माना है।

समस्या का हेतु

उपवास चिकित्सा, मानसिक चिकित्सा, भाव चिकित्सा, आसन चिकित्सा—ये ऐसी चिकित्सा विधियां हैं, जिनसे रोगों का इलाज संभव है। प्राणायाम चिकित्सा भी इसी प्रकार की एक चिकित्सा है। सारी प्राकृतिक चिकित्सा की विधियां जिनके पास हैं, उन्हें किसी डाक्टर या वैद्य के पास जाने की जरूरत नहीं पड़ती। यह प्राथमिक चिकित्सा है। यदि इनसे समाधान न मिले तो डाक्टर या वैद्य का परामर्श लिया जा सकता है। मृगापुत्र के मन में यह भावना रही

होगी इसलिए उसने पिता से कहा—आप चिन्ता न करें। मेरी चिकित्सा मैं स्वयं कर लूंगा। इस स्वीकृति के पीछे उसका आत्मविश्वास बोल रहा था। जिस व्यक्ति का आत्म-विश्वास जाग जाता है और यह सूत्र मिल जाता है—मैं अपनी बहुत सारी समस्याओं का समाधान कर सकता हूँ, उस व्यक्ति की समस्याएं सुलझ जाती हैं। समस्याएं वहां उलझती हैं जहां आत्म-विश्वास सो जाता है। जब आत्म-विश्वास की कमी होती है तब व्यक्ति अपने ही प्रतिबिम्बों से लड़ना शुरू कर देता है। आस्था और आत्म-विश्वास की कमी के कारण हम मानसिक प्रतिबिम्ब बनाते हैं और उन प्रतिबिम्बों से ही लड़ना शुरू कर देते हैं। ध्यान और सामायिक का सूत्र यही है—मानसिक प्रतिबिम्ब कम बनाओ या मत बनाओ। मानसिक प्रतिबिम्बों को खड़ा मत करो। मन के खेल मत खेलो। वस्तुतः यथार्थ की समस्याएं हमारे सामने कम होती हैं, अधिकांश समस्याएं मानसिक बिम्बों से उत्पन्न होती हैं।

जादुई टब

एक किसान के खेत में एक जादुई टब निकला। बड़ा विचित्र टब था। टब खाली था। किसान ने उसमें एक चीज डाली। फिर उसे निकाला। वही चीज निकलती चली गई। उस एक ही चीज की इक्यासी आकृतियां निकलती चली गई। किसान ने सोचा—बड़ा विचित्र काम है—एक डालो और इक्यासी प्राप्त करो। किसान का लोभ बढ़ा। उसने अनेक वस्तुएं बनानी प्रारम्भ कर दी। आसपास चर्चा फैलने लगी। चर्चा फैलते-फैलते जमींदार तक पहुंच गई। जमींदार ने सोचा—वह टब मेरी जमीन पर निकला है इसलिए उस पर मेरा अधिकार है। जमींदार ने किसान से वह जादुई टब छीन लिया। जमींदार उस टब से अनेक चीजें बनाने लगा। इस बात का राजा को पता चला। राजा ने टब पर अपना अधिकार जमा लिया। राजा ने अपना भंडार भरना शुरू कर दिया। उसमें एक मोती डाला, इक्यासी मोती निकल आए। एक हीरा और माणक डाला, इक्यासी हीरे और माणक आ गए। राजा ने सोचा—यह चीज गजब की माया है। एक डालो और इक्यासी निकाल लो। आखिर इसमें है क्या? मुझे इसके भीतर जाकर देखना चाहिए। राजा टब के भीतर घुसा। वह बाहर निकला और उसके साथ एक के बाद एक राजा निकलते चले गए। इक्यासी राजाओं की एक फौज खड़ी हो गई। सिंहासन एक था और राजा हो गए इक्यासी। सिंहासन पर कौन बैठे? इस बात को लेकर लड़ाई शुरू हो गई। वह लड़ाई इतनी गहरी हुई कि उसमें सब राजा एक-दूसरे के हाथों मारे गये।

एक आवाज आई—जो जादुई टब से खेलता है, जो अपने मन के प्रतिबिम्बों से लड़ता है, उसकी गति है विनाश।

दो चिकित्सा-सूत्र

आदमी भी अपने प्रतिरूपों से लड़ता है। वह अपने प्रतिरूप बनाता है और उनसे लड़ते-लड़ते समाप्त हो जाता है। इसलिए तन से परे जाना आवश्यक होता है। जिसमें अपना विश्वास नहीं जागता, आत्मविश्वास नहीं जागता, वह केवल प्रतिरूपों से लड़ता है। मृगापुत्र का आत्मविश्वास जाग उठा। उसने पिताजी

से कहा—‘तात! आप चिन्ता न करें। मैं धर्म की साधना करूंगा। मुझे संयम और तप—ये दो साधन मिल गए हैं।’

संयम और तप—ये दो चिकित्सा के सूत्र हैं। जो व्यक्ति संयम और तप के द्वारा अपनी चिकित्सा का सूत्र पा लेता है, वह अनेक मानसिक स्थितियों को सुलझा लेता है, शारीरिक दुविधाओं को मिटा लेता है। असंयम और अतप से अनेक समस्याएं पैदा होती हैं। आज अध्यात्म का समाधान मान्य और प्रतिष्ठित होता चला जा रहा है। आज विज्ञान भी इसी भाषा में बोल रहा है; विज्ञान का क्षेत्र केवल औषध पर निर्भर नहीं है। प्रश्न आया—इतनी तेज दवाइयां दी जा रही हैं, उनसे जीवनी-शक्ति नष्ट हो रही है। दवा की प्रतिक्रिया हो रही है। इस स्थिति में खोज चली—ऐसा भी कोई उपाय है, जिससे रोग भी मिट जाए और इन भयंकर औषधियों से पिण्ड छुड़ाया जा सके। इस संदर्भ में ये सारे विकल्प सुझाए जा रहे हैं। पहले किसी भी हॉस्पिटल में आसन नहीं कराए जाते थे लेकिन आज आसन, प्राणायाम और ध्यान के प्रयोग भी कराए जा रहे हैं। यह सारा विकल्प की खोज का परिणाम है।

हम केवल बाहर ही बाहर न खोजें, अपने भीतर भी खोजें। हमारा क्रम क्या होना चाहिए? हमारी जीवन शैली क्या होनी चाहिए? हम किस भाषा में सोचें? मृगापुत्र की भाषा है—‘पशु या हरिण की तरह जंगल में रहूंगा और बीमार पड़ने पर चिकित्सा नहीं करूंगा।’ प्रत्येक व्यक्ति इस भाषा में नहीं सोच सकता। वह इस भाषा में सोचे या चिकित्सा की भाषा में? सबसे पहला विकल्प यही होना चाहिए—चिकित्सा न कराऊं। यदि यह संभव नहीं है तो फिर दूसरा विकल्प यह होना चाहिए—अपनी चिकित्सा मैं स्वयं करूं। यदि वह आसन, उपवास या लंघन से संभव है तो उसका प्रयोग करूं। जप के द्वारा चिकित्सा करूं। जप भी चिकित्सा की एक प्रणाली है। प्राचीन जैन आचार्यों ने लिखा—‘अर्हम् का जप करने वाला अग्निमांघ, श्वास आदि अनेक बीमारियों का समाधान कर लेता है।’ तीसरा विकल्प है—वैद्य या डाक्टर को दिखाऊं। विधान किया गया—पहले उपवास से चिकित्सा करे। उससे सम्भव न हो तो वैद्य या डाक्टर को दिखाए, दवा ले। यह भी बताया गया—वैद्य के पास कैसे जाएं, कैसे दिखाएं, वैद्य जो औषध बताए, उसका सेवन कैसे करें। दवा में भी हम विवेक का सहारा लें। हम यह सोचें—दवा लेना आवश्यक है पर यदि सामान्य औषध से काम हो जाए तो तेज दवा न लें। यदि आयुर्वेदिक दवा से समाधान होता हो तो तेज डाक्टरी दवा न लें। कुशल योद्धा अन्तिम हथियार का उपयोग कभी पहले क्षण में नहीं करता। हम अन्तिम विकल्प को पहला विकल्प न बनाएं।

संकल्प मृगचर्या का

मृगापुत्र ने अत्यन्त विनम्रता के साथ माता-पिता से निवेदन किया—‘मैं संयम और तप के द्वारा चिकित्सा करूंगा। इसलिए आप मुझे मृगचारिका की अनुमति दें।’ माता-पिता ने सोचा—मृगापुत्र! अपने संकल्प पर दृढ़ है! इसे अनुमति देना ही श्रेयस्कर है। न यह रुकने वाला है और न इसे रोकना चाहिए।

माता-पिता ने सहर्ष अनुमति प्रदान कर दी—‘वत्स! तुम्हारी जैसी इच्छा है, वैसा करो।’

*मिगचारियं चरिस्सामि, एवं पुत्ता! जहासुहं।
अम्मापिऊहिं अणुन्नाओ, जहाय उवहिं तओ ॥*

माता-पिता ने कितनी स्वतन्त्रता दी और मृगापुत्र ने कितनी विनम्रता से स्वीकृति ली। वस्तुतः ये दोनों बातें दिशा-दर्शक हैं। मृगापुत्र का यह प्रसंग दीक्षा देने वाले के लिए, दीक्षा लेने वाले के लिए और दीक्षा की प्रेरणा देने वाले के लिए भी मननीय है। यदि इसका सम्यग् मनन किया जाए तो एक स्वस्थ प्रणाली उपज सकती है।

मृगापुत्र ने मुनि धर्म का जो पालन किया है, वह उसके उदात्त चरित्र का प्रमाण है। मृगापुत्र ममत्व रहित, अहंकार रहित, निर्लेप, गौरव को त्यागने वाला और सब स्थितियों में समभाव की साधना करने वाला बन गया। वह लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, मान-अपमान, जीवन-मरण—सबमें सम बन गया।

*निम्ममो निरहंकारो, निस्संगो चत्तगारवो।
समो य सब्ब भूएसु, तसेसु थावरेसु य ॥
लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो निंदापसंसासु, तहा माणावमाणओ ॥*

बहुत कठिन है इन परिस्थितियों में सम रहना। जिस व्यक्ति की आंतरिक चेतना जाग जाती है, प्रज्ञा जाग जाती है, वही इन स्थितियों में सम रह सकता है। जिसकी प्रज्ञा स्थित हो जाती है, वही इस प्रकार का जीवन जी सकता है।

मृगापुत्र समत्व की उत्कृष्ट भूमिका में चला गया। जातिस्मृति से वैराग्य और समता का प्रारम्भ हुआ और वह पूर्णता की अनुभूति में बदल गया। इसके बीच अनेक उतार-चढ़ाव आए, बाधाएं आईं, भय और प्रलोभन आए लेकिन मृगापुत्र को ये स्थितियां छू ही नहीं पाईं। इसका कारण था—मृगापुत्र ने भावना योग से अपने आपको भावित कर लिया। कोरी एकाग्रता या ध्यान उतना काम का नहीं होता, जितना वह भावना से जुड़कर बनता है। ध्यान शतक में साधक की बहुत सुन्दर अर्हता दी गई है—जो भावना से प्रभावित है, वह ध्यान का अधिकारी है। ज्ञान-भावना, दर्शन-भावना, चरित्र-भावना, वैराग्य-भावना—ये भावनाएं जिसके पुष्ट बन गईं, वस्तुतः ध्यान करने का अधिकारी वही है। मृगापुत्र ने इन भावनाओं से अपने आपको भावित कर लिया और उसने वह उपलब्ध कर लिया, जिसके लिए संकल्पबद्ध बना था—

*एवं नाणेण चरणेण, दंसणेण तवेण य।
भावनाहिं य सुद्धाहिं, सम्मं भावेत्तु अप्पयं ॥*

मृगापुत्र का यह प्रकरण प्रत्येक व्यक्ति के लिए प्रेरक है। यदि हम अतीत में लौटने का प्रयत्न करें तो अतीत और भविष्य—दोनों उज्ज्वल हो सकते हैं। हमारे हाथ में वह सूत्र आ सकता है, जो वर्तमान का मार्ग-दीप बन जाए, भविष्य का आलोक-स्तंभ बन जाए।

संवाद : नाथ और अनाथ के बीच

शिष्य ने जिज्ञासा की—‘भंते! इस दुनिया में संघर्ष क्यों चलता है आरोप और प्रत्यारोप क्यों चलता है? एक कहता है—तू अज्ञानी है। दूसरा कहता है—तू अज्ञानी है। एक कहता है—तू झूठा है। दूसरा कहता है—तुम जानते ही नहीं। इस प्रकार का यह व्यवहार क्यों चलता है। इसका कारण क्या है?’

आचार्य ने कहा—‘वत्स! कारण क्या बताऊँ? प्रकृति को मान्य यही है।’

‘भंते! प्रकृति को यही मान्य क्यों है?’

‘वत्स! आदमी क्या करे? प्रकृति में संघर्ष के बीज छिपे हुए हैं। मनुष्य की रचना ही ऐसी हो गई है कि उसमें संघर्ष, आरोप-प्रत्यारोप के बीज छिपे मिलते हैं। कारण यह है—भाव तो अदृश्य है, दिखाई नहीं देता और भाषा दृश्य है, सामने आती है। आधा तो दिखाई देता है और आधा दिखाई नहीं देता। यह है संघर्ष का बीज, जो प्रकृति में चारों तरफ बिखरा पड़ा है। यह भाषा और भाव का संघर्ष, यह दृष्टिकोण और भाषा का संघर्ष शायद मनुष्य जब से था तब से शुरू हुआ है और जब तक मनुष्य रहेगा तब तक चलेगा।

अदृश्यो वर्तते भावो, दृश्या ततः भाषा स्फुटम् ।

संघर्षबीजमाकीर्णं, प्रकृतौ किं सृजेज्जनः ॥

तुलसीदासजी ने लिखा—वाणी बोलती है उसके आंख नहीं है। आंख देखती है उसके वाणी नहीं है—‘गिरा अनयन नयन बिनु वाणी।’ प्रकृति की रचना में कितना अधूरापन है। जो बोलता, वही देखता और जो देखता, वही बोलता तो शायद संघर्ष की संभावना बहुत कम हो जाती।

कितना जटिल तंत्र है हमारा। हम शब्द को कान से सुनेंगे। कान से सुनने के बाद मन उसको ग्रहण करेगा, पकड़ेगा, उसका संकलन करेगा। सुनने वाला एक है, संकलन करने वाला दूसरा है और निर्णय करने वाला तीसरा है। विवेक या बुद्धि उसका निर्णय करेगी और फिर बोलने वाला चौथा है मुख। ये चार मिल गये—कान से सुना, मन ने उसको ग्रहण किया और विवेक मस्तिष्क ने उसको एक अर्थ-बोध दिया, फिर वाणी ने उसे उच्चरित किया। इतना पूरा तंत्र मिलता है, तब एक कार्य निष्पन्न होता है। जहां एक के हाथ में शासन नहीं होता वहां संघर्ष तो होता ही है। कहा गया—अनेक हाथों में शासन होता है तो संघर्ष होना स्वाभाविक है। यह शायद लोकतंत्र से पहले लिखा गया है, आज की बात नहीं है। आज तो अनेक लोगों का शासन होता है। जहां अनेक हाथों में शासन होता है वहां क्या होता है, यह भी स्पष्ट है। यह हमारा सारा तंत्र है, जिसको कहते हैं संभाग, परस्पर में विनिमय। संभाग होना एक बात है और एक दूसरे तक पहुंचना दूसरी बात है। इसकी इतनी जटिल प्रक्रिया है कि पूरी बात

कभी पकड़ में नहीं आती। व्यक्ति क्या कहना चाहता है, हम कभी पकड़ नहीं पाते इसीलिए किसी व्यक्ति के साथ न्याय नहीं होता। भाषा कभी न्याय नहीं करती। मुनि बुद्धमल्लजी ने भाव और भाषा के द्वन्द्व का यथार्थ चित्रण किया है—भाषा क्या है? भावों का लंगडाता सा अनुवाद।

भाव और भाषा की दूरी

भाषा भावों का कभी पूरा प्रतिनिधित्व कर नहीं सकती और यही संघर्ष का कारण बनता है। वही भाषा जब पत्र में लिखी जाती है तब और अधिक अनर्थ हो जाता है। भाव और भाषा में दूरी होती है और परस्पर पत्राचार चलता है, इसका अर्थ है—लड़ाई का एक गढ़ बनाना, किला खड़ा कर देना। एक व्यक्ति ने पत्र दिया। दूसरे ने उसका उत्तर दिया। फिर तीसरे ने उत्तर दिया और लड़ाई आगे बढ़ती चली गई। कई बार समस्या सुलझने के बजाय उलझ जाती है। यदि पत्राचार को छोड़, आमने-सामने बैठकर बात की जाए तो समाधान निकल आए। जब दो व्यक्ति मिलते हैं, एक-दूसरे की भाषा को ही नहीं, भावों को भी पढ़ते हैं। संघर्ष तब मिटता है, जब व्यक्ति भाव से भाव को पढ़ना सीख जाए। जहां भाषा समाप्त हो जाए, मौन बन जाए, वहां समाधान मिलता है। शायद इसीलिए कहा गया—जहां गुरु बोलता है, वहां संशय का छेद नहीं होता। जहां गुरु मौन होता है, वहां संशय छिन्न हो जाता है—गुरोस्तु मौनमाख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः। भाषा के साथ संघर्ष का बीज जुड़ा रहता है।

सम्राट श्रेणिक उद्यान में क्रीड़ा करने के लिए आया। उसने देखा—एक पेड़ के नीचे युवा मुनि खड़ा है। उसका सौन्दर्य जैसे बाहर झाँक रहा था। श्रेणिक यह देख आश्चर्य से भर गया। यह क्या ? उससे रहा नहीं गया। सम्राट मुनि की सन्निधि में आया, प्रणाम कर बोला—‘भंते! आप तरुण हैं। अभी आप दीक्षित हो गए? अभी तो भोग भोगने की अवस्था है। यह आपने क्या किया?’

मुनि ने ध्यान-मुद्रा को सम्पन्न किया। मुनि बोले—‘भैया! क्या करूं।

‘मैं अनाथ था इसलिए मुनि बन गया।’

‘भंते! ऐसा नहीं लगता कि आप अनाथ हैं। आपका यह यौवन, आपका यह रूप, आपकी यह सम्पदा बतला रही है कि आप बहुत सम्पन्न परिवार के हैं, अनाथ तो नहीं हैं।’

‘राजन ! मैं अनाथ ही हूँ और इसीलिए मैं मुनि बना हूँ।’

राजा ने मुनि की भाषा को सुना पर उसका अर्थ नहीं समझा, भाव नहीं समझा। भाव और भाषा के बीच दूरी रह गई।

सम्राट ने कहा—‘भंते! आज मैं आपका नाथ बनता हूँ। आप अनाथ थे इसलिए मुनि बने, लेकिन अब अनाथ नहीं हैं। आप मेरे महलों में चलें, आराम से रहें। मेरे पास सुख-सम्पदा की कोई कमी नहीं है।’

राजा की यह भाषा मुनि को मान्य नहीं हुई। मुनि बोले—‘भाई! तुम स्वयं अनाथ हो, मेरे नाथ कैसे बनोगे?’

यही है भाव और भाषा का टकराव। यह संघर्ष बहुत चलता है। इस संदर्भ में भाव प्रेक्षा सबसे महत्त्वपूर्ण है। हम भाषा की पृष्ठभूमि को जानने के

लिए भावों को पढ़ने का अभ्यास करें। उसके बिना यह टकराव शायद कभी मिटने वाला नहीं है।

राजा का अहंकार फुफकार उठा। ढाई हजार वर्ष पहले का जमाना और उस समय का सम्राट! इतना वैभव, इतने बड़े राज्य का स्वामी। इस शब्द को कैसे सहन करता? यदि मुनि के स्थान पर कोई और होता तो उसका आक्रोश न जाने क्या परिणाम लाता? राजा ने सोचा—मुनि का कोई दोष नहीं है। मुझे जानता नहीं है। जब तक परिचय न हो भला कौन क्या करे? यह अपरिचित है इसलिए अनाथ बता दिया। अब मुझे परिचय दे देना चाहिए। आज तो अपना परिचय स्वयं देने की पद्धति चल रही है। राजा ने अपना परिचय देना शुरू कर दिया—‘भंते! आप मुनि बन गये पर लगता है आप व्यवहार को नहीं जानते। दुनिया को आपने देखा नहीं है। क्या आपको पता है—मैं कौन हूँ? मेरे पास घोड़े हैं, हाथी हैं, आदमी हैं, यह नगर है। मैं बहुत बड़े राज्य का स्वामी हूँ। बड़े-बड़े प्रासाद हैं, विशाल अन्तःपुर है। इस राज्य का कण-कण मेरी आज्ञा में है। मैं अनाथ कैसे हुआ? भंते! कम से कम इतना झूठ तो न बोलें? आप एक सम्राट को अनाथ बता रहे हैं। इससे बड़ा क्या झूठ होगा?’

अनाथी मुनि ने यह सुना। वे अपने आप में लीन थे। जो व्यक्ति अपने भीतर की आत्म को, परमात्मा को जगा चुका होता है, वह निःस्पृह होता है। उसके स्पृहा नहीं होती, भय भी नहीं होता। मुनि बोले—‘सम्राट श्रेणिक! मैंने तुम्हारा परिचय पा लिया। तुम एक बात ध्यान से सुनो—तुम अभी नाथ का अर्थ नहीं जान रहे हो। बड़े अज्ञानी राजा हो।’

मुनि ने इतने बड़े राजा को अज्ञानी कह दिया, नहले पर दहले जैसा हो गया।

‘कौन होता है नाथ?’ सम्राट श्रेणिक ने जिज्ञासा की।

‘नाथ का अर्थ है—योगक्षेम विधाता। जो योग और क्षेम करने वाला है, वह नाथ है। तुम नाथ का अर्थ भी नहीं जानते और मेरे नाथ बनना चाहते हो। तुमने यह समझ लिया कि मैं गरीब घर का था। रोटियां खाने को नहीं मिलती थीं। घर में कुछ नहीं था। इसलिए मैं साधु बन गया। पर वस्तुतः ऐसा नहीं है।’

आजकल बहुत लोग मिथ्या आरोप लगाते हैं। यह आरोपों की दुनिया है। आरोप से कभी बचा नहीं जा सकता। लोग कह देते हैं—वे बहुत सारी साध्वियां दीक्षित होती हैं। गरीब घरों की होती हैं, इनकी कोई शादी की व्यवस्था नहीं होती। माता-पिता निकाल देते हैं और वे संस्था में भर्ती हो जाती हैं। कैसी विडंबना!

राजा अवाक् रह गया, वह मुनि की तेजस्विता के सामने बोल ही नहीं सका। उसके हाथ जुड़ गये। विनम्र स्वर में प्रार्थना की—‘महाराज! मैं नहीं जानता, कृपया आप बतला दें। मैं आपकी अनाथता का जानना चाहता हूँ।’

गाथा अनाथता की

मुनि ने अपनी सारी कहानी सुना दी। मैं एक धनी सेठ का बेटा हूँ। माता-पिता का बड़ा प्यार दुलार मिला। मेरी शादी भी हो गई। सुन्दर सुशील और प्रिय पत्नी का योग मिला। एक दिन अचानक आंख में पीड़ा हो गई। असह्य पीड़ा से मैं बैचेन हो उठा। इतनी भयंकर वेदना हुई कि मैं सहन नहीं कर सका। उस अवस्था में मेरे पिता ने दूर-दूर से वैद्यों को बुलाया, मेरी चिकित्सा कराई। बहुत धन लगाया।

पिता ने नौलियों का मुंह खोल दिया। मेरी माता, मेरे छोटे-बड़े भाइयों ने, मेरी पत्नी ने जितना करना था, कर लिया। मेरी आंख की पीड़ा समाप्त नहीं हुई। मैं कराहता रहा। वैद्य आए, प्राणाचार्य आए। अनेक प्रकार की चिकित्साएं की। न जाने कितनी दवाइयां कहां-कहां से मंगवाई। यदि हनुमान होता तो संजीवनी बूटी भी मंगवा लेते। पर कुछ भी अर्थ नहीं निकला। राजन! यह मेरी अनाथता थी।

राजन! जीवन में कुछ क्षण ऐसे आते हैं, जब आदमी गहराई में चला आता है। जब व्यक्ति गहराई में जाता है, उसे समाधान मिल जाता है। दुनिया में किसी को समाधान मिला है तो वह भीतर गहराई में डुबकी लगाने के बाद ही मिला है। बाहर-बाहर भटकने वाले को कभी समाधान नहीं मिलता।

मैंने एक संकल्प किया—इस बार इस असह्य चक्षु-वेदना से मुक्त हो जाऊं तो इस विपुल वैभव को छोड़कर मुनि बन जाऊं।

सोते समय जो संकल्प किया जाता है, वह ज्यादा फलित होता है। प्रेक्षाध्यान में यह सुझाया जाता है—सोते-सोते निश्चय—संकल्प को दोहराएँ और संकल्प को दोहराते-दोहराते नींद में चले जाएँ, वह संकल्प अवचेतन मन तक पहुंच जाएगा। जो बात अवचेतन मन के स्तर पर पहुंच जाती है, वह क्रियान्वित हो जाती है।

अनाथी मुनि ने कहा—‘सम्राट! मैं इस संकल्प के साथ सो गया। मुझे कभी नींद नहीं आती थी पर उस दिन नींद आ गई। मुझे अनुभव हुआ—जैसे-जैसे रात बीत रही है वैसे-वैसे वेदना बीतती जा रही है। सम्राट! सुबह उठा तो ऐसा लगा—वेदना समाप्त हो गई है। मैं एकदम स्वस्थ हो गया हूँ।

एक चमत्कार हो गया। मैंने सबको अपना संकल्प बताया—अब मैं नाथ बनूंगा, अनाथ नहीं रहूंगा। राजन! मैं परिवारजनों की अनुमति लेकर मुनि बन गया। अपना ही नहीं, सारे संसार का नाथ बन गया।

मुनि ने कहा—‘राजन! यह मेरी अनाथता थी। दूसरा कोई किसी का नाथ नहीं बन सकता। क्या तुम स्वयं अनाथ नहीं हो?’

सम्राट क्या बोले, कुछ बोलने को शेष नहीं रहा था।

क्यों होता है संघर्ष?

प्रश्न है—शब्दों का संघर्ष क्यों होता है? हम इस पर विचार करें। भगवान महावीर ने दो नयों का प्रतिपादन किया—निश्चय नय और व्यवहार नय। निश्चय नय अपना व्यक्तिगत होता है और हमारा काम चलता है व्यवहार नय

से। व्यवहार है एक ही पदार्थ में निमित्त और संयोग से होने वाले भावों का ग्रहण। व्यवहार नय के दो भेद हैं—

सद्भूत व्यवहार—एक ही द्रव्य में भेद करने वाली दृष्टि।

असद्भूत व्यवहार—अनेक भिन्न द्रव्यों में अभेद दृष्टि।

असद्भूत व्यवहार के दो भेद हैं—उपचरित असद्भूत और अनुपचरित असद्भूत।

हम उपचार से चलते हैं। दो वस्तुएं एक साथ रह रही हैं। दूध अलग है, पानी अलग है। आत्मा अलग है, शरीर अलग है। एक क्षेत्र में दोनों रह रहे हैं। शरीर और आत्मा—दोनों साथ-साथ रह रहे हैं। अगर कहा जाए—शरीर को अलग करो और आत्मा को अलग करो तो बचेगा क्या? इतने मिले हुए हैं ये दो पदार्थ। उनमें यह शरीर मेरा है, इस प्रकार का आरोपण करना, उच्चारण करना असद्भूत अनुपचरित व्यवहार है।

हम दो पदार्थों में, जो बिल्कुल अलग-अलग रह रहे हैं, एकत्व का आरोपण कर देते हैं। मेरा घर, मेरा धन, यह आरोपण हो गया। घर अलग है, धन अलग है और मैं अलग हूँ पर आरोपण कर दोनों को एक मान लिया। यह असद्भूत उपचरित व्यवहार है।

भेद है भूमिका का

अनाथी मुनि जो कह रहे हैं और सम्राट श्रेणिक जो कह रहे हैं, उन दोनों की हम मीमांसा करें। कहां कौन सा नय बोल रहा था। अगर हम नय की दृष्टि से बात को समझें तो सम्राट श्रेणिक और अनाथी मुनि अपने-अपने स्थान पर सही बात कह रहे थे। वे एक-दूसरे को समझ नहीं पा रहे थे क्योंकि उनमें सापेक्षता नहीं थी। राजा कह रहा था—मेरी सेना, मेरा नगर, मेरा महल, मैं उसका मालिक, यह उपचार है असद्भूत व्यवहार नय है। उसके आधार पर मनुष्य ऐसा कहता है किन्तु जब सचाई की दिशा में जाएंगे तो यह बात ठीक नहीं होगी। मुनि सचाई की भूमिका पर खड़े थे और राजा असद्भूत व्यवहार की सीढ़ी पर खड़ा था। दोनों की बात एक कैसे होगी? दोनों की भाषा एक नहीं हो सकती। भाव का भेद तो बहुत गहरी बात है, भाषा भी नहीं मिलती। क्योंकि भाषा और शब्द हमेशा भावों के अनुसार निकलते हैं। जो व्यक्ति जिस अर्थ को जानता है, वह उस भाषा को पकड़ लेगा। वह भाव को जानता नहीं है, इसलिए उसके मन में यह विचार उभरेगा—अमुक व्यक्ति झूठ बोल रहा है, गलत बोल रहा है या अज्ञान पूर्वक बोल रहा है। यह एक जटिल प्रश्न है।

वही है नाथ

हमारे सामने अनेकान्त का व्यापक दृष्टिकोण है। हमने उसे गहराई से समझा नहीं या उसका उपयोग नहीं किया। अगर अनेकान्त का गहरा अध्ययन हो तो शायद संघर्षों को कम करने की स्थिति आ जाए। उपचार की भाषा में राजा कह रहा था और किन्तु मुनि निश्चय की भाषा में बोले रहे थे।

जब दोनों ने एक-दूसरे की बात को समझा, एक-दूसरे की अपेक्षा को समझा, अन्तर समाप्त हो गया। दोनों सहमत हो गए।

राजा मुनि के चरणों में सिर झुकाकर बोला—‘भंते! आपने बहुत कृपा की, बहुत अनुग्रह किया, मुझे एक नया दृष्टिकोण दिया। अनाथ कौन होता है और नाथ कौन होता, मैं यह समझ गया।’ जो व्यक्ति दूसरे पदार्थों पर अपना प्रभुत्व या अधिकार रखता है, वह सही अर्थ में नाथ नहीं होता। नाथ वह होता है जो अपने पर अपना अधिकार रखता है। अपना नाथ धर्हीं हो सकता है, जिसके जीवन में व्रत आ जाता है: नाथ होता है रक्षा करने वाला, योगक्षेम करने वाला। व्रत से अधिक शायद दुनिया में कोई बचाने वाली शक्ति और तत्त्व नहीं है। मुनिवर! मुझे बहुत अच्छा संबोधन दिया।’

दोनों एक बिन्दु पर आ गये, भाव और भाषा की दूरी मिट गई।

स्व और स्वामित्व का प्रश्न

एक बहुत बड़े सत्य का उद्घाटन इस प्रसंग में हुआ है। अध्यात्म का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—जो व्यक्ति नाथ की भूमिका पर पहुंच जाता है, वही व्यक्ति वास्तव में आध्यात्मिक बन सकता है। इस भूमिका पर आए बिना अध्यात्म की बात सोची नहीं जा सकती। बहुत जटिल प्रश्न है—मुनि का धन क्या है? वह उसका स्व है अतः वह उसका स्वामी है। तप उसका ‘स्व’ है इसलिए वह तपस्वी है। योग उनका स्व है इसलिए वह योगी है।

हम अध्यात्म के रहस्यों को समझें तो एक भ्रांति का निरसन हो सकता है। जो हमारा स्व नहीं है, वहां हम अपना स्वामित्व बनाए बैठे हैं और इसीलिए छोटे से भूमि के टुकड़े के लिए बड़े-बड़े संघर्ष और युद्ध हो जाते हैं। भूमि के लिए कहा गया—यह ऐसी कुंवारी कन्या है, जिसकी आज तक शादी हुई ही नहीं, जिसे कोई ब्याह ही नहीं सका और इसके लिए भी लड़ाई होती है। धन किसी का स्व नहीं है पर इसे स्व मान लिया गया। जो स्व नहीं है, उस पर हमने अपने स्वामित्व का आरोपण कर लिया। ज्ञान, दर्शन और चारित्र जो हमारे स्व हैं, उनको हमने जाना नहीं। यह स्व और स्वामित्व का जो अन्तराल है, वह सारे संघर्षों का हेतु बन रहा है। जब तक व्यक्ति स्व और स्वामित्व, नाथ और अनाथ के इस रहस्य को विमर्श पूर्वक स्वीकार नहीं करता, तब तक वह अध्यात्म के क्षेत्र में अपना उन्नयन नहीं कर सकता।

मैं थामे हूँ अपने भाग्य की डोर

मुनि अनाथी ध्यान सम्पन्न कर एक वृक्ष के नीचे खड़े हैं। सम्राट श्रेणिक उपपात में हाथ जोड़कर खड़ा है। उसने पूछा—‘भंते! आप नाथ हो गए पर आपने पाया क्या? घर छोड़ दिया, मुनि बन गए, आपको क्या मिला?’

मुनि बोले—‘मैंने सत्य का साक्षात्कार कर लिया, सत्य को पा लिया। सत्य को केवल सुना-पढ़ा नहीं, स्वयं पा लिया है।’

‘भंते! बतलाएं, आपने जो जाना है, वह सत्य क्या है?’

मुनि ने कहा—‘आत्मा वैतरणी नदी है, कूट शाल्मली वृक्ष है, कामधेनु और नंदनवन है। आत्मा ही सुख-दुःख का कर्ता और विकर्ता है। सत्प्रवृत्ति में लगी हुई आत्मा ही मित्र है और दुष्प्रवृत्ति में लगी हुई आत्मा ही शत्रु है।

अप्पा णई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।

अप्पा कामदुहा थेणु, अप्पा मे नदणं वणं।।

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।

अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्टिय सुपट्टिओ।

इन दो श्लोकों में इतने बड़े सत्य का उद्घाटन हुआ है कि उसकी अनेक दार्शनिक परिक्रमाएं हुई हैं।

तीन निर्णायक सत्य

अनाथी मुनि ने कहा—‘सम्राट! मैंने इस सत्य को पा लिया। मेरे संकल्प की स्वतंत्रता है। हर व्यक्ति अपना संकल्प करने में स्वतंत्र है। संकल्प की शक्ति है इसलिए मुझे अपने नैतिक नियमों के निर्धारण करने का अधिकार है। कर्तव्य और अकर्तव्य का निर्णय करने का मुझे अधिकार है। तीसरी बात है—मैं अपने कृत का स्वयं उत्तरदायी हूँ। इन तीन सत्यों का साक्षात्कार मैंने किया है—संकल्प की स्वतंत्रता, नैतिक नियमन और उत्तरदायित्व।’

जिस व्यक्ति को ये तीन निर्णायक सत्य मिल जाते हैं, उसके जीवन की दिशा बदल जाती है। सबसे बड़ी कठिनाई यह है—हम संकल्प की स्वतंत्रता को स्वीकार नहीं कर रहे हैं। दो धाराओं के बीच हमारा जीवन चल रहा है। कुछ लोग कहते हैं—हमारा भाग्य ईश्वर के हाथ में है। वह जैसे चलाता है, हम चलते हैं। कुछ लोग सोचते हैं—आदमी वही करता है, जैसी परिस्थिति होती है। ईश्वरवाद और परिस्थितिवाद के बीच हमारी संकल्प की स्वतंत्रता खोई हुई है।

मुनि ने कहा—‘मैं इन दोनों से हटकर इस निर्णय पर पहुंच गया हूँ—मेरा संकल्प स्वतंत्र है। मैंने इसका प्रयोग करके देख लिया है। मुझे कोई

पीड़ा से नहीं बचा सका। मेरा अपना संकल्प ही मेरे काम आया, मेरी रक्षा करने वाला बना। मैं इस गहराई में चला गया हूँ—जो स्रोत है, वह अपने भीतर ही है।'

हमारी बाहर की खोज बहुत चलती है। वह इसलिए चलती है कि हम पर से बहुत परिचित हो गये। हम स्व और पर—दोनों को जानते हैं किन्तु हम ज्यादा पर से ही परिचित हैं। हमारे सामने ज्यादा पर ही आता है इसलिए हम स्व की बात समझ नहीं पाते। हमारी साधना के विषय में भी ऐसी ही है। लगता है—स्व की दिशा में चल रहे हैं परन्तु वास्तविकता में हम पर की ओर चले जाते हैं।

कैसा शान्त सहवास?

भगवान बुद्ध ने कुछ स्थविरों को निर्देश दिया—अमुक गांव में चतुर्मास करके आओ। तीस चालीस भिक्षु थे। उन्होंने पहले गोष्ठी कर चिंतन किया—ऐसी व्यवस्था बनाएं ताकि हमारा सहवास शान्त बने। उन्होंने वर्गानुसार संयोजक बना लिए, सबको अपना काम बांटकर समझा दिया। व्यवस्था हो गई। फिर सोचा—कोई कलह नहीं हो उसके लिए और क्या-क्या करना चाहिए। एक सुझाव आया—हमें मौन करना चाहिए। एक भिक्षु ने तर्क प्रस्तुत किया—मौन करने से क्या होगा? वह तो एक या दो घंटा किया जाएगा। बाईस घंटे शेष रह जाते हैं। लड़ाई होनी है तो हो ही जाएगी। तीसरे भिक्षु ने सुझाव दिया—हम सब भिक्षु चार महीनों का मौन कर लें। यह सुझाव सबको अच्छा लगा। सब भिक्षुओं ने मान्य कर लिया। शांत सहवास बीता। झगड़ा, आरोप, प्रत्यारोप, कलह कुछ भी नहीं हुआ। चातुर्मास पूरा हो गया। भिक्षुओं ने सोचा—हम बुद्ध के पास जायेंगे, हमें प्रशंसा मिलेगी। भिक्षु बुद्ध के पास आए। भगवान बुद्ध ने कुशलक्षेम पूछा। भिक्षुओं ने सारी व्यवस्थाओं के बारे में बताया। उन्होंने कहा—'हम सब चार महीने बिलकुल मौन रहे, बड़ा शांत सहवास बीता।' बुद्ध बोले—'भिक्षुओ! यह क्या किया? इससे तो अच्छा रहता कि पशुओं का टोला लाकर खड़ा कर लेते। तुम्हारे खर्च का बोझ तो नहीं बढ़ता। तुम वहां परस्पर बातचीत करते, लोगों को धर्म की बातें बताते, ज्ञान देते, फिर शांत सहवास बिताकर आते तब कुछ श्रेयस्कर कार्य होता। यह तो ठीक वैसा हुआ, जैसे पशुओं का टोला काम करता है।'

जब हम केवल निमित्तों पर ही अटक जाते हैं, भीतर के स्रोत तक नहीं जाते, समस्या का समाधान नहीं होता। शायद इसीलिए स्थविरकल्पी को अधिक महत्त्व दिया गया। स्थविरकल्पी सबके साथ रहकर अपना नियन्त्रण करता है। उस स्थिति में अनुशासित रहकर शांत सहवास करता है, जितेन्द्रिय रहता है। शायद यह बड़ी साधना है। अकेले जंगल में साधना करने से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है शहर में रहकर साधना करना। एक साधक ने बीस-पच्चीस वर्ष हिमालय में रहकर साधना की। उसके बाद आश्रम में आकर बैठा तो लड़ाइयां करने लगा। साधना की कसीटी होती है समुदाय में।

अनाथी मुनि ने कहा—‘मैं वहां पहुंच गया हूँ, जिसे उपादान की भूमिका कहें, निश्चय की भूमिका या आत्मदर्शन की भूमिका कहें। यह वह भूमिका है, जहां आनन्द का स्रोत मिलता है, ज्ञान और शक्ति का स्रोत मिलता है।’

घटना और संवेदन

हम सुख और दुःख का आरोपण भी दूसरों पर कर देते हैं। हमारा सारा ध्यान इसी पर अटका हुआ है। कोई घटना घटती है, तत्काल मन में आता है कि उसने ऐसा कर दिया, उसने ऐसा कह दिया। कोई निमित्त होता ही नहीं है, ऐसी बात नहीं है। अनेकांत को मानने वाला निमित्तों को अस्वीकार नहीं करेगा। निमित्त हो सकते हैं पर निमित्त केवल घटना प्रस्तुत कर सकता है किन्तु सुख-दुःख नहीं दे सकता। सुख-दुःख का संवेदन होना एक बात है और सुख-दुःख की घटना पैदा कर देना बिल्कुल दूसरी बात है। मलेरिया के कीटाणु मलेरिया पैदा कर सकते हैं। यक्ष्मा के कीटाणु यक्ष्मा पैदा कर सकते हैं। ये कीटाणु या वायरस निमित्त बन सकते हैं। हम इस सचाई को समझें—बीमारी का होना एक घटना है और सुख-दुःख भोगना दूसरी बात है। क्या यह सम्भव है—बीमारी हो पर दुःख न हो? यह बात समझ में आ जाए तो महत्त्वपूर्ण सचाई उपलब्ध हो जाए। हमने दोनों को एक मान रखा है। बीमारी होने का मतलब है—दुःख का होना और दुःख होने का मतलब है—विपरीत परिस्थिति का होना। हमने इनको एक मान लिया, यही मिथ्या दृष्टिकोण है।

वस्तुतः दुःख का संवेदन नितान्त आंतरिक है। इसका संबंध केवल कर्म से है। वेदनीय कर्म से इसका सम्बन्ध है या इससे जुड़े मोहनीय कर्म से इसका सम्बन्ध है, किन्तु घटना का किसी से सम्बन्ध नहीं है। उसे कोई भी पैदा कर सकता है। वर्षा बरसती है और ठण्डी हवा चलती है। उससे एक व्यक्ति को सर्दी लगती है, दूसरे व्यक्ति को बहुत अच्छी लगती है। घटना तो एक है पर अनुभूति अलग-अलग। प्रश्न हो सकता है—घटना समान होने पर भी अनुभूति में अन्तर क्यों? शरीर की प्रकृति का अन्तर है या अपने संवेदन का अन्तर? एक घटना होने से एक व्यक्ति तो रोने लग जाता है और इसी घटना से प्रभावित दूसरा व्यक्ति कहता है—कोई बात नहीं, मुझे गहरे में जाना चाहिए। इन बाह्य प्रकोपों से मुक्त रहना चाहिए। एक ही घटना से एक व्यक्ति क्रोधित होता है और एक आदमी अन्तर्मुखी हो जाता है, जागरूक बन जाता है। अगर सारा भार परिस्थितियों और निमित्तों पर डाल दें तो उत्तरदायित्व किसका होगा? क्या उत्तरदायित्व परिस्थिति वहन करती है? वह उत्तरदायित्व का भार नहीं ओढ़ती। सारा उत्तरदायित्व व्यक्ति का है, यह अध्यात्म का बहुत बड़ा सत्य है। इसका जितना-जितना साक्षात्कार होता है उतना ही व्यक्ति सुख-दुःख से परे होता चला जाता है।

अध्यात्म का स्वर

मुनि ने जो बात कही है, वह अध्यात्म का स्वर है। एक पहुंचा हुआ व्यक्ति ही ऐसी अनुभूति की बात कह सकता है। यह कोरा दर्शन का सिद्धांत नहीं है, अनुभूति का सिद्धांत है। मेरी आत्मा ही कर्ता और विकर्ता है। कोई भी

घटना होने पर हम निमित्तों को खोजते हैं, उन पर आरोपण कर देते हैं, इससे क्या होगा? मन का तनाव बढ़ेगा, बुद्धि कुण्ठित होगी और जो कुछ प्राप्त है, वह चला जाएगा। इसका परिणाम यह हुआ—निमित्त पैदा करने वाला सफल हो गया। वह चाहता ही है—अमुक व्यक्ति गिरे। उस स्थिति में हम निमित्तों और परिस्थितियों को सफल न होने दें। हम यह प्रयास करें—ज्ञान जड़ न बने, शक्तियां कुण्ठित न बने, आनन्द विलुप्त न हो जाए। यह सूत्र हाथ लगता है तो भगवान महावीर का, अनाथी मुनि या जैन दर्शन का आत्मकर्तृत्व का सिद्धांत कोरी दार्शनिक भावना नहीं रहेगी किन्तु हमारा अध्यात्म का सूत्र बनेगा।

आज इस सूत्र की बहुत जरूरत है। हमारी दिशा बदले। हम बाहर ही नहीं, भीतर में भी जीएं। अपनी अपूर्णताओं को देखे बिना, अपनी कमियों और कठिनाइयों को देखे बिना, समस्याओं का गहराई से चिन्तन और आत्मालोचन किए बिना हमारा देखने का कोण दूसरा बनेगा। दृष्टिकोण बदलता है तो सारी घटनाएं बदल जाती हैं। इसीलिए भगवान ने ज्यादा बल दिया सम्यक् दृष्टिकोण पर। थोड़ी-सी विपरीत घटना होने पर लोग बालना बंद कर देते हैं, रूठ जाते हैं, भोजन भी बंद कर देते हैं। यह सारा चक्र जो चल रहा है, वह इसीलिए चल रहा है कि हम निमित्त पर अटके हुए हैं।

अनाथी मुनि ने एक सुन्दर दर्शन दिया। यदि हम इन दो श्लोकों को निकाल दें तो अध्यात्म निष्प्राण बन जाएगा। यद्यपि दर्शन पर बहुत चर्चा हुई है। नैयायिक वैशेषिक—ये ईश्वर-कर्तृत्ववादी रहे। जैन-बौद्ध—ये आत्मकर्तृत्ववादी रहे। पर यह सूत्र मूलतः अध्यात्म का है और अध्यात्म में भी निश्चय का है यह सूत्र। व्यवहार में परिस्थिति, वातावरण और निमित्तों को दोष दिया जा सकता है परन्तु अध्यात्म और निश्चय की भाषा में यह समझना चाहिए कि अभी अध्यात्म का क ख ग भी नहीं समझा गया है। कितना बड़ा रहस्य अनाथी मुनि ने बात-बात में प्रस्तुत कर दिया। आज भी हमारे सामने यह श्लोकद्वयी प्रस्तुत है। 'यत् वक्तव्यं तत् निःशेषम्'—जो कहना था, वह इसमें शेष हो गया। इसके अतिरिक्त अध्यात्म का कोई वक्तव्य नहीं है। सारा अध्यात्म इसमें सम्पन्न होता है। ये दोनों श्लोक अत्यन्त मननीय हैं। हम इनका मनन करें। गहराई में जाने पर जो मिलेगा, वह हमारे जीवन के लिए आलोक बन जाएगा।

जब धर्म अफीम बन जाता है

धर्म उत्कृष्ट मंगल है। प्रश्न हुआ—कौनसा धर्म उत्कृष्ट मंगल है? उत्तर दिया गया—अहिंसा, संयम और तपोमय जो धर्म है, वह उत्कृष्ट मंगल है। जहां हिंसा, असंयम और अतप है, वहां धर्म मंगल नहीं है। धर्म मंगल भी है, अमंगल भी है। धर्म के ये दोनों रूप हमारे सामने आते हैं।

हम धर्म की समस्याओं पर विचार करें। धर्म के प्रति आकर्षण बहुत है। प्रश्न होता है—धर्म के प्रति आकर्षण क्यों है? इसका कारण क्या है? प्रत्येक धर्म के साथ एक अविनाशी शाश्वत सत्ता जुड़ी हुई है। कोई भी धर्म ऐसा नहीं है, जिसके साथ परम सत्ता का संबंध न हो। खुदा, महाप्रभु यीशु, परमेश्वर, ब्रह्मा, परमात्मा, सिद्ध—किसी न किसी रूप में कोई परम सत्ता जुड़ी हुई है। अविनश्वर सत्ता के बिना धर्म के प्रति उतना आकर्षण नहीं हो सकता। अज्ञात या अदृश्य के प्रति, शाश्वत शक्ति के प्रति आकर्षण अधिक होता है। प्रत्येक धर्म ने अपने साथ परम सत्ता का सम्बन्ध स्थापित किया है इसीलिए धर्म के प्रति आकर्षण है। शेष सामयिक और तात्कालिक हो सकते हैं लेकिन स्थायी आकर्षण का केन्द्र धर्म ही है। पैसे के प्रति आकर्षण है पर जितना आकर्षण परम सत्ता के प्रति है, उतना पैसे के प्रति नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति जानता है—पैसा पैसा है पर वह यह भी जानता है—आखिर कुछ नहीं है। वह यह मानता है—परम सत्ता ही सब कुछ है इसीलिए धर्म के प्रति बहुत आकर्षण है। यदि हम इस दृष्टि से चिन्तन करें, परम सत्ता की दृष्टि से देखें तो प्रायः सारे धर्म एक बिन्दु पर आ जाते हैं।

जैन दर्शन में जो परमात्मा है, वही परम सत्ता है इसीलिए आचार्य हरिभद्र सूरि ने लिखा—कहा जाता है—जैन लोग ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। इस पर सापेक्ष दृष्टि से सोचें। जैन दर्शन मानता है—आत्मा ही परमात्मा है, आत्मा ही ईश्वर है इसलिए इसमें कोई दोष नहीं आता। इस दृष्टि से जैन दर्शन भी ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार कर लेता है। निष्कर्ष की भाषा यह है—केंचुली ऊपर चढ़ी हुई है, उसे हम हटा दें तो धर्म का शुद्ध रूप मिल जाए। धर्म के केन्द्र में है परम सत्ता। उसकी परिधि में ही सारे धर्म चल रहे हैं। परिधि केन्द्र से जुड़ी हुई है। अन्तर है उपासना का या कुछ सिद्धान्तों की स्वीकृति का। धर्म के उद्देश्य में भी कुछ अन्तर हो सकता है, किन्तु धर्म के मूल रूप में शब्द बहुत निकट आ जाते हैं। उपासना पद्धति, सिद्धान्त या उद्देश्य का जो अंतर है, उससे भी अधिक अन्तर है स्वार्थ का। धर्म के साथ व्यक्ति का स्वार्थ भी जुड़ जाता है। सब लोग समान नहीं होते। वे धर्म के साथ अपने स्वार्थ का संबंध स्थापित कर देते हैं। धर्म को संस्थागत रूप मिला, यह आवश्यक था किन्तु साथ में स्वार्थ का मुलम्मा और चढ़ा दिया गया।

धर्म के दो रूप

धर्म के दो रूप हैं—वैयक्तिक धर्म और संस्थागत धर्म। वैयक्तिक धर्म शुद्ध आध्यात्मिक होता है। संस्थागत धर्म सांप्रदायिक धर्म है। मार्क्स ने धर्म का विरोध नहीं किया। बहुत लोग इस सचाई को नहीं जानते—मार्क्स धर्म का विरोधी नहीं था। साम्यवाद भी धर्म का विरोधी नहीं है। अनेक लोगों की यह धारणा रही—साम्यवाद धर्म को उठाने वाला है। वास्तव में ऐसा नहीं है। न मार्क्स धर्म का विरोधी था और न साम्यवाद धर्म का विरोधी रहा। उसने विरोध किया उस संस्थागत धर्म का, जो सत्ता के साथ जुड़ गया। मार्क्स ने राजनीति, सत्ता और पैसे से जुड़े धर्म का ही प्रखर विरोध किया था।

हम भगवान महावीर की भाषा को पढ़ें। महावीर ने भी सत्ता, धन और विषयों से युक्त धर्म को विनाशकारी कहा है। महावीर की भाषा है—पिया हुआ कालकूट विष, अविधि से पकड़ा हुआ शस्त्र और नियंत्रण में नहीं लाया हुआ चैताल जैसे विनाशकारी होता है, वैसे ही विषयों से युक्त धर्म भी विनाशकारी होता है—

*विसं तु पीयं जह कालकूडं, हणाइ सत्थं जह कुग्गहीयं।
एसो व धम्मो विसओबवन्तो, हणाइ वेयाल इवाविवन्तो।।*

विरोध क्यों होता है?

जिस धर्म का महावीर ने विरोध किया, उस धर्म का मार्क्स ने भी विरोध किया और आज का प्रत्येक प्रबुद्ध एवं चिन्तनशील व्यक्ति उस धर्म का विरोध करेगा। वह सत्ता, राजनीति, धन और विषयों से जुड़े धर्म का विरोध किए बिना नहीं रहेगा। धर्म का जो शुद्ध रूप है अहिंसा, संयम और तप, उसका कोई विरोध नहीं कर सकता। जब धर्म के साथ स्वार्थ जुड़ता है, हिंसा जुड़ती है तब उसका विरोध होता है। धर्म के नाम पर अनेक संप्रदायों ने हिंसा की है। जब यह भावना पैदा हो गई—मेरे धर्म-संप्रदाय को सारा संसार माने। यदि सहजता से न माने तो भय और प्रलोभन से मनवाया जाए, तलवार के बल पर जबरदस्ती मनवाया जाए। जब यह भावना प्रबल बनी, तब अहिंसा के माध्यम से विश्व-शान्ति की बात करने वालों ने हिंसा का सहारा लिया और विश्व में अशान्ति का उद्घोष हो गया। जब सत्ता-लोलुप व्यक्ति धर्म के आसन पर आसीन हो जाते हैं, बलपूर्वक सबको अपने धर्म में दीक्षित करना चाहते हैं तब हिंसा और अशान्ति का साम्राज्य प्रसार पाता है। यह जो स्वार्थ है, जबर्दस्ती अपने धर्म के विस्तार का जो प्रयत्न है, उसका संबंध धर्म के साथ नहीं है। जब-जब यह स्वार्थ बढ़ता है, व्यक्ति अनश्वर से हटकर नश्वर के साथ जुड़ जाता है। व्यक्ति के स्वार्थ के आधार पर ही शायद धर्म की अनेक परिभाषाएं बन गईं।

स्वार्थ के लिए

एक जमाना राजाओं का रहा। उस समय उनका एक-छत्र साम्राज्य चलता था। एक कवि गया राजदरबार में। उसे राजा से कुछ पाना था। राजा को

प्रसन्न किए बिना कुछ मिलता नहीं। अपने स्वार्थ के लिए कवि लोग राजा की विरुदावली करते थे। कभी-कभी उन विरुदावलियों को पढ़कर बहुत आश्चर्य होता है। कवि ने राजा की प्रशंसा में एक श्लोक कहा—

कल्पवृक्षो न जानाति, न ददाति वृहस्पतिः।

अयं तु जगतीजानिः, जानाति च ददाति च॥

राजन! कल्पवृक्ष बहुत बड़ा है। वह व्यक्ति को बहुत कुछ देता है पर वह ज्ञानी नहीं है। वृहस्पति ज्ञानी है पर वह कुछ देता नहीं है। आप ही इस दुनिया में ऐसे महापुरुष हैं, जो जानते भी हैं और देते हैं। आप कल्पवृक्ष से भी बड़े हैं, वृहस्पति से भी बड़े हैं। यह स्वार्थ का परिणाम है—कल्पवृक्ष को भी नीचा दिखा दिया और वृहस्पति को भी। सौ-दौ सौ रुपये पाने के लिए व्यक्ति किस स्तर पर चला जाता है!

यह स्वार्थ की वृत्ति बहुत व्यापक है। धार्मिक लोग भी इससे मुक्त नहीं हो रहे हैं। जब जब धर्म के साथ स्वार्थ जुड़ा, वह प्रबल बना तब तब सचमुच हिंसा का दारुण रूप सामने आया है। धर्म के नाम पर, ईश्वर को जो सृष्टि का निर्माता मानते हैं, पालक और संरक्षक मानते हैं, उस ईश्वर के नाम पर हिंसा हो, यह सोचा भी नहीं जा सकता। लेकिन जब बीच में व्यक्ति का स्वार्थ आड़े आता है तब ये स्थितियां बनती हैं। स्वार्थ की प्रबलता हुई, धर्म की परिभाषाएं बदल गईं। आज धर्म की कितनी परिभाषाएं हैं! इस संसार में सात सौ आठ सौ धर्म माने जाते हैं। इतने धर्म हैं, पर धर्म की परिभाषाएं दो हजार से कम नहीं हैं। जहां स्वार्थ आता है, परिभाषा बदल जाती है, व्यक्ति का रूप बदल जाता है।
धर्म का कार्य

एक व्यक्ति से पूछा गया—‘आपकी उम्र क्या है?’ उत्तर मिला—‘पचास वर्ष।’ फिर पूछा—‘आपको नौकरी करते कितने वर्ष हो गये?’ उस व्यक्ति ने उत्तर दिया—‘पचपन वर्ष।’ व्यक्ति यह सुनकर विस्मित रह गया। उसने कहा—‘अरे भाई! ये दोनों बातें कैसे होंगी?’ व्यक्ति बोला—‘मैंने बहुत ओवरटाईम काम किया है।’

आदमी परिभाषा बदल देता है। आज धर्म की इतनी परिभाषा बदल गई, इतने स्वरूप बदल गए कि उसे मूल रूप से पहचानना भी कठिन है। जो धर्म व्यक्तित्व का निर्माण करने वाला था, जिसका सबसे बड़ा कार्य अहिंसा की स्थापना था, यदि वह धर्म अहिंसा की स्थापना नहीं करता है तो न वह ईश्वरीय धर्म हो सकता है, न ईश्वर के दरबार में न्याय दिलाने वाला हो सकता है। व्यक्तिगत जीवन में अहिंसा, समाज के प्रति व्यवहार में अहिंसा बहुत बड़ा धर्म है। यह इतना बड़ा तत्त्व है, जो जीवन की अपूर्णता को पूर्णता में बदलता है, जीवन के धब्बों को एक चित्र में बदल देता है।

इंग्लैंड के प्रख्यात साहित्यकार जॉन रस्किन एक समारोह में गए; उनके पास बैठी युवती के हाथ में एक सुन्दर रुमाल था। उसे उपहार में मिला था। अकस्मात् उस रुमाल पर कुछ गिरा, रुमाल पर गहरा धब्बा हो गया। रुमाल की यह स्थिति देखकर युवती उदास हो गई। जॉन रस्किन युवती से बोले—‘बहन!

उदास क्यों हो गई?’ उसने कहा—‘महाशय! देखो, मेरे इतने सुंदर रुमाल पर कैसा धब्बा हो गया है?’ जॉन रस्किन ने कहा—‘यह रुमाल मुझे दे दो।’ युवती ने रुमाल जॉन रस्किन को दे दिया। रस्किन जितने बड़े साहित्यकार थे उतने ही बड़े चित्रकार थे। रस्किन कुछ मिनट के लिए एकान्त में गए, उस रुमाल पर एक चित्र बनाया और लौट आए। युवती से कहा—‘बहन! यह लो तुम्हारा रुमाल!’ युवती रुमाल को देखकर बोली—‘यह रुमाल मेरा नहीं है। मेरे रुमाल में धब्बा था। वह धब्बा कहां है? आप मुझे मेरा रुमाल दें। यह किसी और को दें।’ जॉन रस्किन ने मुस्कराते हुए कहा—‘बहिन! यह वही धब्बों वाला रुमाल है। तुम देखो—जिस स्थान पर धब्बा था, उस स्थान पर कितना सुन्दर चित्र है!’ युवती ने देखा—रुमाल पहले से भी अधिक सुन्दर बन गया था। उसका उदास चेहरा खिल उठा। जॉन रस्किन बोले—‘धब्बा चित्र में बदल गया है!’

समाधान है अहिंसा

धर्म का काम है—धब्बे को चित्र में बदल देना। यदि धर्म अहिंसा के द्वारा धब्बों को चित्र में नहीं बदलता है तो वह वास्तव में धर्म नहीं रहता। अहिंसा ही एक ऐसा धर्म है, जो दुनिया के धब्बों को चित्र में बदल सकता है। आज विश्व-शान्ति की समस्या जटिल बनी हुई है। क्या कोई राष्ट्र उसे सुलझा सकेगा? क्या अमेरिका उसे समाधान देगा? या दुनिया की तीसरी-चौथी शक्ति प्रकट होगी और इस समस्या को सुलझाएगी? शस्त्र के बल पर विश्व-शान्ति की समस्या कभी नहीं सुलझेगी। शस्त्रों के सहारे विश्व-शान्ति का सपना न कभी फलित हुआ है, न कभी फलित होगा। विश्वशान्ति की समस्या का एक मात्र समाधान है—अहिंसा। अहिंसा के सिवाय कोई विकल्प नहीं है। आज विश्व की महान् शक्तियों रूस और अमेरिका ने इस सचाई को स्वीकार किया है। आज शस्त्रों के विस्तार की नहीं, परिसीमन की दिशा में चिन्तन चल रहा है। यह स्वर प्रबल बन रहा है—शस्त्रों का परिसीमन हो। हमें यह मानना चाहिए—जाने-अनजाने दुनिया की महान शक्तियों ने अहिंसा के महत्त्व को स्वीकार किया है।

अहिंसा का पहला उपन्यास

वस्तुतः हिंसा अपनी मौत मरती है। हिंसा को कोई दूसरा मार नहीं सकता। झूठ अपनी मौत मरता है, कभी चल नहीं सकता। दुनिया में वही जिन्दा रह सकता है, जिसका आधार होता है। अशाश्वत के सहारे चलने वाला कभी ज्यादा चल नहीं पाता। एक दिन ऐसा आता है, आशाश्वत के घुटने टिक जाते हैं। हिंसा, आक्रमण, शस्त्र—ये सारे नश्वर तंत्र हैं। ये कभी स्थायी नहीं रह सकते। हमें साधुवाद देना चाहिए गोर्वाच्योव को, रीगन और बुश को, जिन्होंने संसार के सामने अहिंसा का प्रथम उपन्यास लिखा। इतना सुन्दर उपन्यास कोई लेखक नहीं लिख सका। अहिंसा के इस उपन्यास का लेखन कोई धार्मिक आदमी भी नहीं कर सकता, क्योंकि सारी शक्ति उनके हाथ में है। जिनके हाथ में हिंसा की शक्ति है, वे अहिंसा की बात सोचें तब कुछ संभव हो सकता है। सारी शक्ति राज्य से जुड़ी हुई है। हिंसा की सारी शक्ति, संहारक शस्त्र उनके

अधिकार में हैं। यदि सत्ता पर बैठे लोग इस दिशा में नहीं सोचते तो स्थिति कुछ दूसरी होती।

यह इस युग की विशेषता माननी चाहिए—इस दुनिया में कुछ ऐसे लोग पैदा हुए हैं, जो अहिंसा की दिशा में सोचने लगे हैं। यह सबसे बड़ा आश्चर्य है—जिस राष्ट्र ने यह माना—साध्य की पूर्ति के लिए चाहे जैसा आलंबन लिया जा सकता है, उस राष्ट्र में अहिंसा का स्वर प्रखर हुआ है। साम्यवाद का यह सिद्धांत रहा—यदि साध्य ठीक है तो उसकी पूर्ति के लिए हिंसा पर विचार करना कोई जरूरी नहीं है। साध्य पूरा होना चाहिए, चाहे वह कैसे भी हो, हिंसा का आलंबन लेने में कोई बाधा नहीं है। यह आस्था जिस राष्ट्र में थी, उसका स्वर बदला है, वह अहिंसा की भाषा में सोचने लगा है। यह कम आश्चर्य की बात नहीं है।

अणुव्रत की भूमिका

आज अहिंसा को बल मिला है। प्रश्न है—उसे बल क्यों मिला? हम इस प्रश्न पर कुछ विचार करें। क्या उसमें अहिंसा के क्षेत्र में काम करने वाले व्यक्तियों का योग है? अहिंसक समाज रचना के संकल्पित आंदोलनों की कोई भूमिका है? हम अणुव्रत आंदोलन का संदर्भ लें। उसकी क्या भूमिका रही है? प्रश्न हो सकता है—अणुव्रत आंदोलन उन तक पहुंचा या नहीं? यदि हम वैचारिक दृष्टि से सोचें तो यह मानने में कोई कटिनाई नहीं होती कि अणुव्रत के विचार ने एक शक्तिशाली वातावरण का निर्माण किया है। हमारा विचार का जगत बहुत शक्तिशाली होता है। एक आदमी हिमालय की गुफा में बैठा निरंतर एक विचार करता है, अपने विचार की तरंगों को दुनिया में छोड़ता है। वे विचार के प्रकंपन इतने शक्तिशाली बनते हैं और न जाने दुनिया में किन-किन मस्तिष्कों को प्रभावित करते हैं। बहुत विचित्र है विचारों का संक्रमण और चंक्रमण। विचार अज्ञात रूप में दुनिया के मस्तिष्क को इतना बदल देते हैं, जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। एक व्यक्ति ने दो वर्ष पहले कोई बात सोची और बहुत शक्तिशाली संकल्प के साथ सोची। हो सकता है—दो सौ वर्ष के बाद वे विचार के परमाणु, जो आकाशीय रेकार्ड में विद्यमान हैं, दुनिया में कहीं से कहीं जाकर किसी मस्तिष्क से टकरा जाएं और उसके मस्तिष्क को प्रभावित कर दें, उसके विचारों की धुलाई कर दें।

अणुव्रत आंदोलन अहिंसा के शक्तिशाली वातावरण के निर्माण का अभियान है। यह वैचारिक दृष्टि से बहुत फैला। कुछ इस भाषा में सोचते हैं—केवल विचार से क्या होगा? वे लोग इस सच्चाई को नहीं जानते—स्थूल कार्य में जो शक्ति नहीं होती, वह शक्ति विचार में होती है। ढाई हजार वर्ष पूर्व भगवान महावीर ने जो विचार दिए, उस समय शायद उनकी उपयोगिता और मूल्य नहीं समझा गया पर वे आज अनायास साकार हो रहे हैं। हम निःशस्त्रीकरण का विचार लें। यह निःशस्त्रीकरण शब्द किसके द्वारा प्रयुक्त है? महावीर ने सबसे पहले प्रयोग किया शस्त्र परिज्ञा का। मैंने आज से चालीस वर्ष पहले 'विजय यात्रा' लिखी, उसमें शस्त्र-परिज्ञा का अनुवाद किया—निःशस्त्रीकरण।

समन्वय के विकास का विचार हो या एक मंच पर दो विरोधी राष्ट्रों या दो विरोधी समाजों के मिलन का विचार. ये सारे विचार महावीर ने दिए पर उस समय इनका मूल्य नहीं आंका गया। यह सचाई है—कोई भी अच्छा विचार कभी निष्फल नहीं होता। हर विचार फलवान बनता है, पुत्रवान बनता है। उसकी संतति चलती है। चालीस वर्ष पूर्व अणुव्रत आंदोलन का सूत्रपात हुआ। एक संशय के वातावरण में प्रारम्भ हुआ यह आन्दोलन आज वैचारिक दृष्टि से अत्यन्त शक्तिशाली बन गया है इसलिए वह दूसरों को प्रभावित करने में सक्षम है। जब तक विचार शक्तिशाली नहीं बनता है, पकता नहीं है, अपना कवच नहीं बना लेता है तब तक वह प्रभावित नहीं कर पाता। हमें यह मानना चाहिए—अहिंसा का जो विचार चला है, चल रहा है, उसने अज्ञात रूप में दुनिया की महान शक्तियों को प्रभावित किया है

धर्म का मंगल स्वरूप

धर्म एक शक्तिशाली चिन्तन है। दुनिया में जितने चिन्तन हुए हैं, उनमें सबसे शक्तिशाली जो चिन्तन है, वह धर्म का चिन्तन है। धर्म के क्षेत्र में सबसे बड़ा अवदान है अहिंसा का, करुणा, मैत्री और संवेदनशीलता का। हम प्रतिदिन यह मंगल भावना करें—शिवसंकल्पमस्तु मे मनः। यह चिन्तन जीवन निर्माण के लिए सबसे शक्तिशाली चिन्तन है। व्यक्ति के मन में यह चिन्तन प्रबल बने—‘मेत्ति मे सब्भूएसु’—सब प्राणियों के प्रति मेरी मैत्री है। इससे बड़ा कोई मंगल कार्य हो नहीं सकता। अहिंसा शक्तिशाली बने, धर्म मंगल व कल्याणकारी बने, वह अफीम या नशा न बने। इसके लिए आध्यात्मिकता का विकास जरूरी है। हम अपने जीवन को आध्यात्मिक बनाएं, संस्थागत धर्म को हिंसा से मुक्त रखें तो धर्म कल्याणकारी बन जाएगा। वह कभी अफीम या नशा नहीं होगा। यह दुर्भाग्य की बात है—धर्म के साथ भी हिंसा जुड़ गई। इसमें धर्म का कोई दोष नहीं है, धर्म के प्रवर्तकों का कोई दोष नहीं है। हम महावीर, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, जरस्थु आदि धर्म प्रवर्तकों के जीवन को पढ़ें। वे कितने साधक व्यक्ति थे। उनमें कितनी सहिष्णुता और करुणा थी। सब कुछ विराट था पर जैसे-जैसे स्वार्थ की बातें जुड़ती चली गई, धर्म के साथ हिंसा जुड़ गई, उसे अफीम, या नशे के रूप में देखा जाने लगा। हम धर्म के मंगल स्वरूप को समझें, अहिंसा, संयम और तप का जीवन जीएं, हमें अनुभव होगा—धर्म अफीम या नशा नहीं है, वह जीवन की पवित्रता का पथ है

चौर्य से अचौर्य की प्रेरणा

एक पवित्र चेतना ने पवित्र आत्मा की स्तुति की। प्रार्थना के स्वर में कहा—‘सिद्ध! मुझे आरोग्य दें, बोधि-लाभ दें, समाधि दें।’

आरोग्य बोहिलाभं समाहिवरमुत्तमं दिन्तु।

एक ओर इस स्वर की स्वीकृति, दूसरी ओर सिद्ध के कर्तव्य या अधिकार का प्रश्न। विरोधाभास जैसी बात प्रतीत होती है। वस्तुतः तत्त्व की गंभीरता इतनी होती है कि बाहरी सतह पर विरोधाभास जैसा प्रतीत होता है, किन्तु आंतरिक स्तर पर पहुंच जाएं तो पूर्ण सामंजस्य प्रतीत होता है।

कारण की मीमांसा में सहकारी कारण का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। हम इस सचाई को जानते हैं—सिद्ध कुछ करेंगे नहीं किन्तु वे सहकारी कारण तो बनते हैं। यह प्रार्थना निमित्त या सहकारी कारण की प्रार्थना है। सिद्ध हमारे लिए सहकारी हैं, हमारा सहकार करते हैं। सिद्ध की भक्ति में जो आत्मा परिणत है, उस आत्मा के लिए सिद्ध भी सहकारी बनते हैं। सिद्ध की स्तुति निमित्त-कारण की स्तुति है। हम दोनों कारणों को सार्थक मानकर चलें। उपादान और निमित्त के अनेक विकल्प और अंग बन जाते हैं। ये दोनों विकल्पों के कारण ही जटिल बनते हैं इसलिए इनके लिए कोई एक नियम बनाना मुश्किल है। फिर भी यह निश्चित तथ्य है—जो उपादान में नहीं है, उसके लिए निमित्त कुछ नहीं कर सकता। जो उपादान में है, निमित्त में वह करने की शक्ति नहीं है। यदि निमित्त ऐसा करने लग जाएं तो सारी व्यवस्थाएं गड़बड़ा जाएं। उपादान अपना काम करता है, पर कभी-कभी उसे निमित्त की जरूरत होती है, किन्तु निमित्त की कोई अनिवार्यता नहीं है। यह एक सामान्य नियम है। उपादान यदि सापेक्ष है तो निमित्त सहकारी बन सकता है। उपादान यदि निरपेक्ष है तो निमित्त अकिंचित्कर बन जाएगा।

सापेक्षे सत्युपादाने, निमित्तं सहकारकम्।

निरपेक्षे ह्युपादाने, तदकिंचित्करं भवेत्॥

उपादान और ज्योतिष

अधिकांश लोग जन्मकुंडली बनवाते हैं। बच्चा जन्म लेता है, उसकी कुण्डली बनाई जाती है। बहुत बार पूछा जाता है—क्या आप ज्योतिष में विश्वास करते हैं? ऐसा कौन है, जो जैन धर्म के तत्त्व को जानता है और ज्योतिष में विश्वास नहीं करता। जिसने जैन आगम सूर्य-प्रज्ञप्ति को पढ़ा है, वह यह नहीं कह सकता—मेरा ज्योतिष में विश्वास नहीं है। जिसने महावीर को पढ़ा है, द्रव्य,

क्षेत्र, काल और भाव को पढ़ा है, वह ज्योतिष में अविश्वास नहीं कर सकता। सौरमण्डल के विकिरण हमें प्रभावित करते हैं। उपादान सापेक्ष है इसलिए हम उनसे प्रभावित होते हैं। यदि उपादान निरपेक्ष हो जाए तो ज्योतिष कोई काम नहीं करेगा। हम नियम को अनिवार्य या एकांगी न मानें। नियम सापेक्ष है। ज्योतिष का उपयोग है भी और नहीं भी।

शनि ने शिव से कहा—‘महाराज! मैं तो सब पर आता हूँ आप पर भी आऊँगा। अब मेरी साढ़े साती आने वाली है, आप सावधान रहें।’ शंकर बोले—‘ठीक है, कोई बात नहीं।’ शंकर एक गुफा में ध्यान लगाकर बैठ गए। सोचा—शनि मेरा क्या करेगा? वे एक दिन नहीं, एक वर्ष नहीं, पूरे साढ़े सात वर्ष ध्यान की मुद्रा में बैठे रहे। साढ़े सात वर्ष पूरे हुए। शनि शंकर के पास आया। शंकर को प्रणाम करते हुए शनि ने कहा—‘महाराज! मैं अब जा रहा हूँ।’ शंकर ने कहा—‘अरे! तुम तो कह रहे थे, मैं आऊँगा। तुमने मेरा क्या बिगाड़ा?’ शनि बोला—‘महाराज! आप साढ़े सात वर्ष तक पत्थर की मूर्ति बने बैठे रहे और मैं क्या करता?’

शंकर ने अपना उपादान ऐसा बना लिया, शनि कुछ नहीं कर सका।

उपादान को बलवान बनाएं

जैन परम्परा के एक आचार्य बहुत बार कहते हैं—‘मैं अपने वर्ष भर का जन्म फल दिखा लेता हूँ। जब-जब यह लगता है—मेरा यह समय ठीक नहीं है, तब मैं न बाहर जाता हूँ, न व्याख्यान देता हूँ। उस समय मैं एकांत में रहता हूँ जप, तप, ध्यान आदि करता हूँ, मेरा वह समय ठीक चला जाता है।’ यह उपादान को बलवान बनाने का उपक्रम है। हम उपादान को बलवान बनाएं। उपादान बलवान है तो कुछ नहीं होगा।

ज्योतिषी ने एक व्यक्ति को बताया—तुम्हारे शनि की साढ़े साती आने वाली है। व्यक्ति घबरा गया। उसने पूछा—‘महाराज! मैं क्या करूँ?’

ज्योतिषी ने उपाय बताया—‘तुम दान करो।’

‘किसका दान करूँ?’

‘काली भैंस का।’

‘भैंस तो मेरे पास नहीं है।’

‘कोई बात नहीं। तुम तिल का दान कर लो।’

‘वह भी नहीं है।’

‘एक काली कंबल दान में दे दो।’

‘कंबल भी मैं नहीं दे सकता।’

‘तो तुम एक बोरी कोयले का दान कर दो।’

‘मेरा उतना सामर्थ्य भी नहीं है।’

ज्योतिषी ने झिड़कते हुए कहा—‘चले जाओ यहां से। शनि तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ेगा। जो तुम्हारे पीछे निरन्तर लगा हुआ है, वह क्या बिगाड़ेगा?’

निमित्त मूल नहीं है

हम ध्यान दें उपादान कैसा है? निमित्त लंगड़ाता-सा है, वह बहुत थोड़ा काम करता है। हम निमित्त पर न अटकें। उपादान को शक्तिशाली बनाएं। एक प्रश्न है—साधना का प्रयोजन क्या है? साधना क्यों की जाती है? साधना है उपादान को शक्तिशाली बनाने के लिए। हमारा मन, हमारी चेतना और आत्मा शक्तिशाली बने, जिससे निमित्त को ग्रहण ही कम करे। यदि उपादान को शक्तिशाली नहीं बनाया, निमित्त पर ही अटके रहे तो अनन्तकाल तक भी समस्याओं के चक्र से छुटकारा नहीं मिलेगा। हम न निमित्त की उपेक्षा करें और न उन्हें सर्वशक्तिमान मानें। वे सब कुछ नहीं हैं। हमें द्रव्य और क्षेत्र प्रभावित करते हैं, काल और भाव प्रभावित करते हैं। ये सब हमें प्रभावित करते हैं किन्तु सिद्ध आत्मा को ये प्रभावित नहीं करते। जहां मुक्त आत्मा है, वहां क्या हवा नहीं है? पृथ्वी और पानी के जीव नहीं हैं? पुद्गल नहीं है? वहां भी ये सब हो सकते हैं। पूरा आकाश-प्रदेश पुद्गलों से भरा पड़ा है। एक भी आकाश-प्रदेश ऐसा नहीं है, जहां पुद्गल न हों पर मुक्त आत्मा इन सबसे प्रभावित नहीं होती। इसका कारण यही है—उपादान निरपेक्ष बन गया, इसलिए वहां निमित्त अकिंचित्कर बन जाते हैं, निमित्त की शक्ति क्षीण हो जाती है। वस्तुतः निमित्त कोई बनता ही नहीं है। द्रव्य द्रव्य है, क्षेत्र क्षेत्र है, काल काल है और भाव भाव है। जिसमें उपादान की क्षमता जाग गई, उसके लिए ये निमित्त बनते ही नहीं हैं। जहां उपादान प्रबल नहीं होता, वहां निमित्त प्रभावी बन जाते हैं। निमित्त मूल नहीं है, मूल है उपादान।

आदमी ने देखा—उद्यान में एक ओर वृक्ष हरे-भरे हैं, दूसरी ओर सूखे हैं। उसने माली से पूछा—‘भाई! क्या बात है? एक ओर पेड़-पौधे हरे-भरे हैं, फल-फूल से लदे हुए हैं, दूसरी ओर बिल्कुल शुष्क पड़ा है। क्या तुमने इस ओर ध्यान नहीं दिया?’

‘महाशय! मैंने ध्यान तो दिया पर क्या करूं? एक दुर्घटना घट गई।’

‘क्या दुर्घटना घटी?’

‘मुझे किसी कारणवश बाहर जाना पड़ा। मैंने छोटे लड़के से कहा—‘तुम बगीचे का पूरा ध्यान रखना। वह उसमें प्रतिदिन पानी सींचने लगा। एक दिन उसके मन में विकल्प उठा—ये पौधे छोटे हैं और ये पौधे बड़े हैं। सब पौधों की ऊंचाई समान नहीं है और मैं सबको बराबर पानी दे रहा हूँ। सबको समाने देने का मतलब क्या है? मुझे यह बेवकूफी नहीं करनी चाहिए। जिसकी जड़ जितनी बड़ी है, उसको उतना ही पानी देना चाहिए। उसने सोचा—पेड़ों की जड़ का पता लगाना होगा। उसने जड़ की खुदाई शुरू कर दी, जड़ को नापना शुरू कर दिया। खुदाई कर उसने सारे पेड़ों को उखाड़ दिया, सबकी जड़ें नाप ली। एक चार्ट बना लिया—इस पौधे की इतनी बड़ी जड़ है और इस पौधे की इतनी बड़ी है। उसने उस चार्ट के हिसाब से पौधों को पानी देना शुरू किया किन्तु पौधे सूखते ही चले गए। उसकी बुद्धिमत्ता और विवेक से मूल उपादान ही नष्ट हो गया।’

जब तक उपादान है, तब तक पानी और खाद का महत्त्व है। यदि उपादान ही नहीं हैं तो कोई कार्य बनता ही नहीं है। ये सब निमित्त हैं और उपादान के होने पर ही सहायक बनते हैं।

समुद्रपाल का निदर्शन

उत्तराध्ययन का इक्कीसवां अध्ययन है, 'समुद्रपालीय'। उसका एक प्रसंग है। वणिक-पुत्र समुद्रपाल अपने प्रासाद के झरोखे में बैठा नगर की सुषमा को देख रहा था। उस समय उसने एक चोर को देखा। चोर को वध के लिए ले जाया जा रहा था। उसे देख उसका मन वैराग्य से भर गया। उसका मन बोल उठा—अहो! यह अशुभ कर्मों का दुःखद अवसान है—

*तं पासिऊण संविग्गो, समुद्रपालो इणमब्बवी।
अहोऽसुभाण कम्मणं, निज्जाणं पावगं इमं॥*

इस घटना ने उसके मन पर गहरा असर किया। वह संसार से विरक्त हो मुनि बन गया। उसे एक चोर से अचौर्य की प्रेरणा मिल गई।

चोर का निमित्त मिला, समुद्रपाल प्रतिबुद्ध हो गया। प्रश्न हो सकता है—पुलिस प्रतिदिन न जाने कितने चोरों को पकड़ती है। उसमें क्या वैराग्य जागता है? वह चोरों को देखती ही नहीं है, मारती-पीटती भी है। न जाने उनके साथ कैसा-कैसा व्यवहार करती है फिर भी उसमें कभी वैराग्य नहीं आता। न्यायाधीश के सामने चोरों को कितनी बार पेश किया जाता है पर न्यायाधीश को वैराग्य नहीं आता।

न्यायाधीश ने चोर से कहा—'मैंने तुम्हें कितनी बार फटकारा है। तुम मेरे सामने क्यों आते हो?' चोर ने जवाब दिया—'महाशय! मैं क्या करूँ? मैंने पुलिस वालों से कहा—आप मुझे वहाँ मत ले जाइए, न्यायाधीश महोदय ने मनाही की है। फिर भी वे मुझे यहाँ ले आते हैं।'

न्यायाधीश चोर को दण्ड देता है, फांसी की सजा सुना देता है। क्या कभी कोई न्यायाधीश वैरागी बना? चोर को देखकर समुद्रपाल वैरागी क्यों बना? हम इस बिन्दु पर चिन्तन करें, यथार्थ का पता चलेगा। निमित्त का अपना स्थान होता है। वह तब कारण बनता है, जब उपादान जाग जाता है। यदि उपादान न जागे, तो निमित्त निमित्त बनता ही नहीं है। एक ही घटना, एक ही तथ्य और सत्य किसी के लिए अच्छाई का निमित्त बन जाता है किसी के लिए बुराई का। बदलता है परिणाम

एक व्यक्ति ने कहा—'अमुक व्यक्ति की कुण्डली में ये नक्षत्र हैं और उसका यह परिणाम है, किन्तु यदि वह चाहे, अपने आपको बहुत शक्तिशाली बना ले तो यह परिणाम नहीं होगा।'

परिणाम को बदला जा सकता है। वह नियत नहीं है, परिवर्तनीय है। यह संभव है उपादान के द्वारा। साधना की सारी पद्धति उपादान को बलवान बनाने की पद्धति है। शब्द, गंध, रस और स्पर्श—सर्वत्र हैं। वे वीतराग को कभी प्रभावित नहीं करते। वे क्यों नहीं प्रभावित कर पाते? यदि वे निमित्त हैं तो सबके लिए समान होने चाहिए। एक वीतराग भी उनसे प्रभावित होना चाहिए पर वह

नहीं होता। उसका उपादान इतना शक्तिशाली बन गया कि उसके लिए वह निमित्त बनता ही नहीं है। वीतराग को कोई गाली दे। क्या वीतराग को क्रोध आएगा? एक साधारण आदमी को गाली दें तो क्या होगा? वह फुफकारेगा ही नहीं, काटने भी आ जाएगा। क्योंकि उसका उपादान बहुत कमजोर है।

यह एक बहुत बड़ा विवेक है—निमित्त को सर्वथा गौण न मानें किन्तु निमित्त को उतना महत्त्व भी न दें, जितना उपादान का है। निमित्त को महत्त्व देते हुए भी उपादान को शक्तिशाली बनाना है। अवीतरागता से वीतरागता की ओर, अप्रमाद से प्रमाद की ओर, मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की ओर वही व्यक्ति प्रस्थान कर सकता है, जो उपादान को जानता है। उपादान है आत्मा। जिसने आत्मा को नहीं पकड़ा, परमात्मा को नहीं पकड़ा, अपने प्रभु की शरण नहीं ली, वह निमित्तों से बहुत प्रभावित हो जाता है। जो अपने प्रभु की शरण में चला जाता है, वह बहुत बच जाता है। हमारे भक्त-संतों ने बार-बार शरणागति की बात कही। उसका अर्थ यही है—अपना प्रभु शक्तिशाली बनता चला जाए, बाहर का प्रमाद कम होता चला जाए। यंत्रशास्त्र में कवच निर्माण का सिद्धांत प्रतिपादित है—जो कवच का निर्माण करना नहीं जानता, वह मंत्र की साधना ठीक प्रकार से नहीं कर सकता। कवच में व्यक्ति सुरक्षित हो जाता है। उस कवच को छेदकर कोई दुष्ट शक्ति प्रवेश नहीं कर सकती। बाहर निमित्त प्रस्तुत हैं पर वे कवच को भेद कर भीतर प्रवेश नहीं कर सकते। हम रामायण में पढ़ते हैं—लक्ष्मण ने एक रेखा खींच दी, रावण उसे भेद नहीं सका। अंजना ने रेखा खींच दी, शेर भीतर प्रवेश नहीं कर पाया। यह एक प्रकार का रक्षाकवच है। साधना करते समय वज्रपंजर का निर्माण भी इसलिए किया जाता है। साधना का मूल सूत्र है—उपादान को शक्तिशाली बनाकर निमित्त की शक्ति को कम कर देना।

हम व्यवहार के क्षेत्र में देखें। प्रत्येक व्यक्ति जब चाहे बीमार बन सकता है। एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं है, जिसके शरीर में अनेक बीमारियों के कीटाणु न हों। हमारे शरीर में सैकड़ों-सैकड़ों बीमारियों के कीटाणु भरे पड़े हैं। हमारे शरीर में जितने जर्म्स हैं, उनका लेखा-जोखा करना मुश्किल है। फिर भी आदमी सहज ही बीमार नहीं बनता। जब उपादान कमजोर हो जाता है तब वह बीमार बनता है। जिसका नाडीतंत्र कमजोर हो गया, रोग-निरोधक क्षमता या शक्ति कमजोर हो गई, वह बीमार बनता है।

समुद्रपाल को वैराग्य हुआ। उसके मन में चोर को देखकर अचौर्य की प्रेरणा जाग गई। एक आकर्षक निमित्त बन गया चोर। मूलतः समुद्रपाल का उपादान बहुत शक्तिशाली था, वह फूटना ही चाहता था। चोर का निमित्त मिला और वह प्रगट हो गया। व्यक्ति कुछ होना चाहता है और कोई निमित्त मिल जाता है तो व्यक्ति की चेतना जाग जाती है। कोई गुरु या मार्गदर्शक का योग मिलता है, व्यक्ति के भीतर की चाह आकार ले लेती है।

छह माह के लिए

आचार्य भिक्षु सिरियारी से कुशलपुर की ओर जा रहे थे। मार्ग में अच्छे शुकून नहीं हुए। आचार्य भिक्षु ने कुशलपुर न जाकर नीमली की ओर जाने का निश्चय कर लिया। वे उस मार्ग को छोड़ नीमली की ओर जाने वाले मार्ग पर आ गए। श्रावक हेमराजजी सिरियारी से नीमली की ओर जा रहे थे। वे वैरागी थे। आचार्य भिक्षु ने कहा—‘हेमड़ा! हम आ रहे हैं।’

हेमराजजी बोले—‘स्वामीजी! आपने तो कुशलपुर की ओर विहार किया था। फिर इधर कैसे?’

‘यही समझ ले कि आज हम तेरे लिए आए हैं।’

‘आपने बड़ी कृपा की।’

‘तू लगभग तीन वर्ष से कह रहा है—मेरी दीक्षा लेने की भावना है, पर यह बता—तू तेरे जीते जी दीक्षा लेगा या मरने के बाद?’

‘आप ऐसी बात क्या करते हैं? यदि आपको शंका हो तो नौ वर्ष बाद अब्रह्मचर्य सेवन का त्याग करा दें।’

आचार्य भिक्षु ने त्याग करवा दिया। स्वामीजी ने कहा—‘लगता है तुमने ये नौ वर्ष विवाह करने की इच्छा से रखे हैं। पर तुम यह तो जानते हो—एक वर्ष विवाह होते-होते लग जाएगा।’

‘हां महाराज! इतना तो लग ही जाएगा।’

‘यहां की प्रथा के अनुसार विवाह के बाद एक वर्ष तक स्त्री पीहर में रहेगी। इस प्रकार तुम्हारे पास केवल सात वर्ष का समय रहेगा।’

‘हां महाराज!’

‘तुम्हें दिन में अब्रह्मचर्य सेवन का त्याग है इसलिए साढ़े तीन वर्ष ही रहेंगे।’

हेमराजजी ने स्वीकृति सूचक सिर हिलाया।

‘तुम्हें पांच तिथियों में भी अब्रह्मचर्य सेवन का त्याग है।’

‘हां महाराज!’

‘दो वर्ष चार मास का समय ही बचता है। उसमें सारा समय भोग कार्य में नहीं लगता। प्रतिदिन घड़ी भर का समय गिनो तो लगभग छह माह का समय ही रहता है।’

‘हां महाराज!’

‘तुम सोचो—छह माह के भोग के लिए नौ वर्ष का संयम खो देना कौन-सी बुद्धिमानी है? तुम यह भी सोचो—यदि एक-दो संतान हो जाए तब फिर व्यक्ति मोह में उलझ जाता है। उस स्थिति में संयम लेना कितना कठिन हो जाता है।’

आचार्य भिक्षु का यह लेखा-जोखा हेमराजजी के दिल को छू गया। उनकी वैराग्य भावना को आकार मिल गया।

आचार्य भिक्षु की प्रेरणा और तर्कपूर्ण संबोध मिला, हेमराजजी श्रावकत्व से साधुत्व की भूमिका में पहुंच गए। प्रश्न है—यह प्रेरणा हेमराजजी में ही क्यों

जगी? सैकड़ों लोग विवाह करने जाते हैं, आचार्य भिक्षु उन सबको नहीं समझा पाए। जिस व्यक्ति की उपादान चेतना प्रबल होती है, क्षयोपशम शक्तिशाली होता है, वह जाग जाता है। बीज को अंकुर बनना है, उसे मिट्टी, पानी और खाद का योग मिला, वह फूट पड़ा। बीज में उपादान शक्ति है। निमित्त मिला और अंकुरित हो गया।

अनेकान्त दृष्टि को मानने वाला किसी एक बात के आधार पर निर्णय नहीं करता। निर्णय करते समय सावधानी बरतने की जरूरत है। हम केवल बाहर में ही न उलझ जाएं। जो व्यक्ति आत्म-निरीक्षण नहीं करता, अपनी अपूर्णताओं को नहीं देखता, अपनी आत्मा पर आए आवरणों पर ध्यान केन्द्रित नहीं करता या अपाय-विचय नहीं करता, वह शुक्ल ध्यान में, साधना की उच्च श्रेणी में जाने का अधिकारी नहीं बनता। शुक्ल ध्यान में वही व्यक्ति जा सकता है, जिसने अपाय विचय और विपाक विचय किया है।

महामंत्र शांतिपूर्ण जीवन का

‘पर से हट कर अपने आपको देखें’ इससे बड़ा अध्यात्म का सूत्र नहीं है। किसी पर आरोपण मत करो। ‘उसने मेरा यह कर दिया, मेरा काम बिगाड़ दिया,’ यह बुद्धि जब तक रहेगी, मिथ्या दृष्टिकोण बना रहेगा। चाहे हम नव पदार्थ जान लें, आचार के क्षेत्र में सम्यग् दर्शन नहीं आएगा। हमारे भीतर यह चेतना जागे—निमित्त निमित्त है, वह कुछ भी कर सकता है, पर मैं अपने उपादान पर ध्यान दूं। यदि उपादान शक्तिशाली है तो निमित्त मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकता। यह सम्यग् दर्शन जितना स्पष्ट और शक्तिशाली बनेगा, साधना की बात समझ में आएगी, आनन्द प्रगटेगा, अखंड सुख और अखंड ज्योति का उद्भव होगा। यदि हम दूसरों के भंवर में उलझे रहे तो सुख, शान्ति और आनन्द की उपलब्धि नहीं होगी। यह ऐसा भंवर और आवर्त है, जिसका न आर है और न पार। समुद्रपाल के निदर्शन का बोध पाठ यही है—हम अपने उपादान को शक्तिशाली बनाएं। यह बोधपाठ सफल और शांतिपूर्ण जीवन के लिए महामंत्र का काम कर सकता है।

असहयोग का नया प्रयोग

हम प्रातःकाल जैन विश्व भारती परिसर में गमन योग कर रहे थे। एक स्थान पर कुछ देर रुके। मैंने देखा—चिड़िया बहुत तेजी से आ रही है और फुदक-फुदक कर वापस जा रही है। ध्यान दिया तो पता चला—मक्खी जैसे जीव वहां घूम रहे थे। चिड़िया उन्हें चट करती जा रही थी। वह उन्हें बहुत फुर्ती के साथ चट कर रही थी। बचाव का कोई विकल्प उन जीवों के सामने नहीं था।

मन में प्रश्न उभरा—इस दुनिया में शक्ति का सिद्धान्त है। जिसके पास शक्ति है, वह कुछ भी कर लेता है। उन जीवों ने चिड़िया का क्या बिगाड़ा? प्रश्न यह नहीं है कि उन जीवों ने क्या बिगाड़ा या क्या नहीं बिगाड़ा? प्रश्न है शक्ति का। शक्ति किसके पास है। इस शक्ति के सिद्धान्त के आधार पर यह स्वर उच्चरित हुआ—जीवो जीवस्य जीवनम्। मात्स्यन्याय का अर्थ यही है—बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है। यह सिद्धान्त दुनिया के इस छोर से उस छोर तक व्यापक बना हुआ है। बड़े जीव छोटे जीवों को निगलते जा रहे हैं, खाए जा रहे हैं। शायद प्रकृति के इस नियम के साथ ही मांसाहार चलता है। उसको कैसे स्वाभाविक माना जाए? बेचारे मूक पशु हैं। उनमें सामर्थ्य नहीं है इसीलिए शिकार भी चल रहा है। कितने निरीह प्राणी मारे जा रहे हैं! प्रसाधन सामग्री के लिए न जाने कितने पशुओं का वध किया जा रहा है। मनुष्य के कोरा प्रसाधन होता है और हजारों प्राणी मौत के मुंह में चले जाते हैं। आदमी मुलायम जूते पहनता है, मुलायम बेग रखता है। वे मुलायम कैसे बनते हैं? बछड़ा जन्मता है। थोड़ा बड़ा होते ही उसको पीट-पीट कर चमड़ी को मुलायम कर दिया जाता है। उस जीवित बछड़े की चमड़ी से बनते हैं ये मुलायम जूते और मुलायम बेग। यह क्रूरता का निदर्शन है।

शक्ति और क्रूरता

ऐसा लगता है—शक्ति और क्रूरता जुड़ी हुई है। क्रूरता और शक्ति को अलग-अलग नहीं किया जा सकता। दोनों साथ-साथ चलते हैं। लोगों को मखमली टोपियां अच्छी लगती हैं। कैसे बनती हैं ये टोपियां? न जाने कितनी निरीह प्राणियों को सताया और मारा जाता है तब इन चीजों का उत्पादन सम्भव बनता है। आदमी इन प्राणियों की करुण आह से बने पदार्थों को सुख और सुविधा का कारण मानता है। यह कहना चाहिए—शक्ति का सिद्धान्त सार्वभौम है तो क्रूरता का सिद्धान्त भी सार्वभौम है। कुछ पशु मांसाहारी हैं। उनके लिए क्रूरता कहें या न कहें किन्तु शक्ति का सिद्धान्त स्पष्ट है। उनका यह स्वभाव

बन गया—दूसरों को मारना और अपना जीवन चलाना। शेर, चीता, बाघ—ये मांसाहारी हैं। प्राणियों को मार कर खाते हैं। इसे हम क्रूरता कहें या प्रकृति का नियम, पर यह सिद्धान्त अवश्य लागू होता है—समर्थ असमर्थ को खाकर अपना जीवन चलाता है।

मनुष्य के साथ शक्ति और क्रूरता—ये दोनों बातें जुड़ जाती हैं। मनुष्य में केवल शक्ति की बात भी नहीं है और अनिवार्यता की बात भी नहीं है। वह अपने बड़प्पन के लिए, अपनी सुख-सुविधा या आराम के लिए भी ऐसा करता है इसलिए उसके साथ क्रूरता भी पनप गई। प्राचीनकाल में गायों को इतने क्रूर तरीके से दुहा जाता था, जिससे पूरा दूध निकल जाए। आजकल लोग पूरा दूध निकालने के लिए इंजेक्शन लगाते हैं। आदमी में लोभ होता है। शक्ति, क्रूरता और लोभ का ऐसा गठबन्धन है, जिसके कारण अनेक निरीह पशु मारे जाते हैं। वह आदमी धन्य होता है, जो इससे बच पाता है। पशुओं में चिन्तन नहीं है। वे पहले जैसे थे, आज भी वैसे ही हैं। मनुष्य में चिन्तन का विकास हुआ है इसलिए उसने शक्ति को सीमित करने का सिद्धान्त भी बनाया।

दो चिन्तनधाराएं

शक्ति है पर शक्ति का संयम भी करना चाहिए। जिस दिन यह स्वर निकला, उस दिन दुनिया में एक महान सत्य की उद्घोषणा हुई। जिसने यह अनुभव किया—‘सब जीव समान हैं, प्राणी मात्र मेरे मित्र हैं’, उसने सबसे बड़े विज्ञान और सत्य की खोज की। कितना उदात्त सिद्धान्त है—सबको अपने समान समझ लेना, किसी को सताने की बात मन में न आना। जब यह विचार उपजा, मनुष्य समाज में दो प्रकार की चिन्तनधाराएं चल पड़ीं। एक वह चिन्तनधारा, जो शक्ति और क्रूरता में विश्वास करने वाली है। एक वह चिन्तनधारा, जो करुणा, अहिंसा और मैत्री में विश्वास करने वाली है।

करुणा का निदर्शन

श्रीमद् राजचंद्र की घटना को हम जानते हैं। राजचंद्र ने सौदा किया, उसमें उसे पचास हजार का लाभ हो रहा था। उस समय पचास हजार की कीमत भी बहुत थी। जिसके साथ सौदा किया, वह बहुत मुसीबत में फंस गया। राजचन्द्र ने उस एग्रीमेंट के पत्र को मंगाया और यह कहते हुए फाड़ दिया—राजचन्द्र दूध पी सकता है लेकिन किसी का खून नहीं पी सकता।

यह है मनुष्य में करुणा के विकास का निदर्शन। कहां से कहां तक पहुंचा दिया प्रकृति के नियम को। शक्ति के सिद्धान्त को अतिक्रान्त कर श्रीमद् राजचन्द्र ने अहिंसा का जीवंत रूप प्रस्तुत कर दिया।

बीदासर के संघात श्रावक हुए हैं श्री उत्तमचंद्र जी बैंगानी। उनके युवा पुत्र का देहावसान हो गया। पता चला—यह जो हीरे की अंगूठी है, जिसे आपका पुत्र पहनता था, वह अच्छी नहीं है। रत्नों की यह प्रकृति है—यदि वह अच्छा आता है तो निहाल कर देता है और बुरा आता है तो घर को बरबाद कर देता है। मित्रों ने सलाह दी—इस अंगूठी को बेच दें। उत्तमचंद्र जी ने कहा—मैं इसे बेचूंगा नहीं। इसे कुएं में डाल दो। उस अंगूठी में बहुत कीमती हीरा था। मित्रों

ने रोकने की कोशिश की—इतना कीमती हीरा कुए में क्यों डाल रहे हो? इसे किसी को बेच दो। हीरे खरीदने वाले बहुत मिल जाएंगे। उत्तमचंदजी ने भावपूर्ण शब्दों में कहा—मैं इस हीरे के कारण किसी पिता को पुत्र-वियोग से पीड़ित देखना नहीं चाहता। हीरे के कारण मेरा पुत्र चला गया, उसकी पीड़ा मैंने भोगी है। मैं नहीं चाहता, किसी पिता को पुत्र-वियोग से पीड़ित होना पड़े। बैंगार्नाजी ने वह अंगूठी कुए में डलवा दी।

अरिष्टनेमि की जिज्ञासा

यह है मानवीय चेतना का विकास। जिसमें करुणा का इतना विकास होता है, वह किसी को दुःख देने की बात सोच ही नहीं सकता। इन सारे संदर्भों में अरिष्टनेमी द्वारा विवाह के अस्वीकार की बात को पढ़ते हैं तो कोई आश्चर्य नहीं होता। ये तीर्थकर होने वाले थे, उनकी अतीन्द्रिय चेतना जागृत थी, करुणा और अहिंसा विकसित थी। उनके जीवन का वह घटना प्रसंग सचमुच उदात्त करुणा का निदर्शन है।

राजा वसुदेव के पुत्र अरिष्टनेमि का विवाह राजा उग्रसेन की पुत्री राजीमती से होने वाला था। अरिष्टनेमि की वर-यात्रा प्रारंभ हुई। वह विवाह मंडप के पास आई। उस समय अरिष्टनेमि करुण शब्दों को सुनकर द्रवित हो उठे। अरिष्टनेमि ने सारथी से पूछा—भाई! यह क्या है? सुख की चाह रखने वाले ये निरीह प्राणी इन बाड़ों और पिंजरो में क्यों रोके हुए हैं—

कस्स अट्ठा इमे पाणा, एए सब्बे सुहेसिणो।

वाडेहिं पंजरेहिं च, सन्निरुद्धा य अच्छहिं ?

सारथी ने कहा—श्रामन्! ये भद्र प्राणी आपके विवाह में आए हुए बहुत लोगों को खिलाने के लिए यहां रोके हुए हैं।

यह बात सुन अरिष्टनेमि के मन पर गहरी चोट लगी। उनके मन में घोर वेदना हुई। ऐसा लगा, जैसे रथय को बांधा गया है। अरिष्टनेमि ने सोचा—यदि मेरे निमित्त से इन निरीह जीवों का वध होता है तो यह मेरे लिए श्रेयस्कर नहीं है।

हिंसा मनोरंजन के लिए

जब तक सही अर्थ में करुणा या अहिंसा का विकास नहीं होता तब तक दूसरों के साथ तादात्म्य भाव नहीं जुड़ता। दुनिया में ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है, जो दूसरों को दुःखी देखकर खुश होते हैं। समाचार पत्रों में पढ़ा—मनोरंजन के लिए खरगोशों को दौड़ाया जाता है, उसके पीछे कुत्तों को छोड़ दिया जाता है। जैसे जैसे वे कुत्ते खरगोशों को खाते हैं, उनको कष्ट होता है और लोग तालियों की गड़गड़ाहट से आकाश को गुंजा देते हैं। छोटे छोटे बच्चे मेंढकों को उछालते हैं, मारते हैं। वे मरते हैं तब बच्चों को बहुत मजा आता है। दूसरों को दुःख देने में, सताने और मारने में शायद बहुत लोगों को खुशी होती है। ऐसे लोग विरल हैं, जिनमें अहिंसा की निर्मल चेतना जाग जाती है। 'सब प्राणी समान हैं, जैसा मैं हूँ वैसे ही दूसरे जीव हैं'—इस चेतना का जागना बहुत कठिन है। धार्मिक लोगों में यह चेतना जग गई, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

महावीर के समय में भी धार्मिक लोग हिंसा करते थे इसलिए महावीर को समझाना पड़ा—अंगारा अपनी हथेली पर रखो, हथेली जल जाएगी। तुम सोचो—जिस प्रकार अंगारे से तुम्हारे हाथ जलते हैं, वैसे ही दूसरों के जलते हैं। प्राचीन काल में ऐसी क्रूरता चलती थी—व्यक्ति के कान में गर्म गर्म सीसा डाल दिया जाता, अंग भंग कर दिया जाता। महावीर को इन सारे संदर्भों में अहिंसा के लिए बहुत संघर्ष करना पड़ा। उन्होंने अहिंसा के क्षेत्र में कई नई दृष्टियाँ दीं। कैसे मनुष्य की चेतना उदात्त बने और जो क्रूरता के बीज हैं, वे नष्ट हो जाएं। यह अभियान महावीर के समय ही नहीं चला, उससे बहुत पहले प्रारंभ हो चुका था। अरिष्टनेमि का प्रसंग इसका स्वयंभू साक्ष्य है। अरिष्टनेमि ने उस समय जो कार्य किया, उसे आज की भाषा में सविनय अवज्ञा आंदोलन या सविनय असहयोग कहा जा सकता है। अरिष्टनेमि ने कहा—मैं विवाह नहीं करूंगा।

सत्याग्रह : असहयोग

अरिष्टनेमि विवाह करने के लिए गए थे और विवाह करने से अस्वीकार कर दिया। यह असहयोग आंदोलन का उदात्त रूप था। प्राचीन काल में ऐसी अनेक घटनाएँ घटी हैं, जिनमें उद्वण्डता के साथ नहीं किन्तु सविनय असहयोग किया गया। वे उस घटना के साथ नहीं जुड़ते, जिससे सहमत नहीं होते। मैं यह नहीं करूंगा, यह निश्चय कर लेते। उनमें अस्वीकार की शक्ति प्रबल थी। जो व्यक्ति जीना जानता है, अकेला रहना जानता है, स्वयं में आनन्द की खोज कर लेता है, उसे असहयोग करने में कोई कठिनाई नहीं होती। जिसके मन में कोई चाह और आकांक्षा नहीं होती, जो अपने आप में सन्तुष्ट है, वह असहयोग कर सकता है। अरिष्टनेमि ने सचमुच असहयोग किया। दूसरे शब्दों में इसे सत्याग्रह कहा जा सकता है। सत्याग्रह और असहयोग—ये दो गांधीयुग के विशेष शब्द हैं, पर इनका प्रयोग अतीत में भी हो चुका है।

अरिष्टनेमि ने रथ को मोड़ने का आदेश किया। रथ विवाह मण्डप की ओर न जाकर दूसरी दिशा में मुड़ गया। यह देख सब अवाकू रह गए। अनेक लोगों ने अरिष्टनेमि से कहा—‘आप इस प्रकार न मुड़ें। ऐसा करना ठीक नहीं है।’ अरिष्टनेमि अपने निश्चय पर अटल रहे। श्रीकृष्ण, वासुदेव आदि के आग्रह को भी अरिष्टनेमि ने अस्वीकार कर दिया। राजीमती की चीख भी उनके निश्चय को नहीं बदल सकी।

अरिष्टनेमि ने पुनः मुड़कर नहीं देखा। उनके मन में यह भाव जाग गया—मेरे कारण कितने प्राणी पीड़ित और दुःखी हो रहे हैं। मैं किसी को सताना नहीं चाहता, दुःखी और पीड़ित करना नहीं चाहता। मैं यह सब नहीं देख सकता। मुझे अपने आप में रहना है, अकेले में रहना है। वे सचमुच अकेले बन गए। जो व्यक्ति अहिंसा में विश्वास करता है, उसे अकेला रहना या चलना स्वीकार करना होता है। महावीर हो, अरिष्टनेमि या गांधी, अहिंसा की आस्था वाले व्यक्ति को अकेले चलना होता है। जो बहुमत की बात देखेगा, वह कभी ऐसा नहीं कर पाएगा। वह सोचेगा—अमुक व्यक्ति क्या कर रहा है? शायद इसीलिए गांधीजी ने कहा था—बहुमत का अर्थ है नास्तिकता। अल्पमत में होना

कोई बुरी बात नहीं है। जो सत्य में चलेगा, उसे सदा अल्पमत में चलना पड़ेगा। सत्य के साथ कभी बहुमत जुड़ता नहीं है। शायद यही कारण रहा—महावीर के साथ बहुत लोग नहीं जुड़े, दूसरों के साथ जुड़ गए।

अरिष्टनेमि ने जो प्रयोग किया, वह सत्याग्रह या असहयोग का नया प्रयोग था। इस प्रयोग की किसी ने किसी रूप में व्याख्या की और किसी ने किसी रूप में। इसकी सामयिक और शाश्वत—दोनों सन्दर्भों में व्याख्या की जा सकती है। वह एक महान प्रयोग था। विवाह का स्वीकार या अस्वीकार बहुत छोटी बात है। बहुत लोग विवाह नहीं करते। विवाह को टुकराने वाले भी बहुत हैं। कुछ लोग अहंकारी होते हैं। वे अपने अहंकार के कारण विवाह को छोड़कर चले जाते हैं। कुछ लोग लोभी होते हैं, वे दहेज के कारण विवाह को छोड़कर चले जाते हैं। क्या विवाह का अस्वीकार बड़ी बात है? समाचार पत्रों में ऐसी घटनाएं पढ़ने को मिलती रहती हैं—दहेज पूरा नहीं मिला, विवाह करने से इंकार कर दिया। वर और वधु पक्ष के बीच इतना तनाव और झगड़ा हो जाता है कि विवाह के लिए आई बारात को बैरंग लौटना पड़ता है। यह विवाह का अस्वीकार है पर कोई बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात है वह सिद्धांत, जो अस्वीकार की पृष्ठभूमि में छिपा है।

नेम-राजुल

वस्तुतः इस घटना से अहिंसा का विराट सिद्धांत, सत्याग्रह या सविनय असहयोग का जो सिद्धांत फलित हो रहा है, वह बहुत महत्वपूर्ण है। अरिष्टनेमि चले गए, राजीमती से विवाह नहीं हुआ। राजीमती अरिष्टनेमि की प्रतीक्षा करती रह गई। यह घटना घटित हो गई और इससे उपजा सिद्धांत शेष रह गया। इस घटना प्रसंग को आधार बनाकर जैन आचार्यों ने बहुत कुछ लिखा। नेम-राजुल पर काव्य लिखे गए। गीत, नाटिकाएं, लोच आदि अनेक विधाओं में इस प्रसंग को उकेरा गया। आज के साहित्यकार मानते हैं—जैनों में श्रृंगार का कोई विषय बचा है तो वह नेम-राजुल का प्रसंग बचा है। कालिदास ने मेघदूत लिखा। ऐसा घटना प्रसंग कोई जैन कवि नहीं लिख सका इसीलिए राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर कहते थे—‘जैन मुनि कभी कवि नहीं हो सकता! काव्य के लिए श्रृंगार और रौद्र—ये दो रस चाहिए। जैन दोनों से नफरत करते हैं। ऐसा काव्य, जैसा मेघदूत है, जैन कवि कभी नहीं रच सकता। यदि जैन मुनि ऐसा काव्य लिख दे तो शायद जैन समाज उसे मानने के लिए तैयार ही न हो। इस स्थिति में जैन कवि क्या करते? एक कहावत चल पड़ी—यदि शिव-पार्वती न होते तो वैष्णव कवि क्या करते और यदि अरिष्टनेमि-राजीमती न होते तो जैन कवि क्या करते? इस विषय पर विशाल साहित्य रचा गया है। उसमें बहुत कुछ अनजाना रहा। कुछ विद्वानों के प्रयत्न से उस साहित्य की सूचियां बन गईं और वह साहित्य प्रकाश में भी आया।

यह बहुत विशिष्ट प्रसंग है—अरिष्टनेमि चले गए, उस समय राजीमती की स्थिति का जो चित्रण किया गया है, वह मेघदूत की अनुकृति सा बन जाता है। यक्ष ने अपना संदेश मेघ के माध्यम से प्रेषित किया और राजीमती ने न

जाने किन किन का आश्रय लिया। इस पर एक सुन्दर काव्य लिखा जा सकता है और जिसमें अनेक तत्त्वों का हृदयस्पर्शी चित्रण किया जा सकता है। जैन परम्परा की साहित्य विधा में यह एक अनूठा प्रयोग है। इस सचाई से इन्कार नहीं किया जा सकता—तब तक कोरा सिद्धांत ग्राह्य नहीं बनता, गले नहीं उतरता, जब तक उसके साथ साहित्यिक सरसता का योग नहीं होता। सरसता बहुत महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। एक प्रकार से अहिंसा और करुणा का व्यावहारिक रूप है सरसता। काव्य को सरस बना दिया जाए, उसमें कठोरता न रहे। क्रूरता का व्यावहारिक रूप है कठोरता। महाभारत लिखा गया किन्तु इतनी सरसता के साथ कि पढ़ने में रस आता है, बात सीधी गले उतर जाती है। यदि वही बात धमाके के साथ कही जाए तो ऐसा लगेगा—खीर में मूसल डाल दिया गया है। व्यक्ति बात सुनते ही चमक जाता है, गले उतरने की बात कहीं रह जाती है।

आदर्श हैं अरिष्टनेमि

उत्तराध्ययन सूत्र की यह विशेषता है कि इसमें तथ्य को सरसता से समझाया गया है। यह कथा-सृजन का भी आधार सूत्र है। इसके आधार पर अनेक काव्यों का सृजन और प्रणयन किया जा सकता है। दस से अधिक काव्य बनाने की वस्तु-सामग्री उत्तराध्ययन में विद्यमान है। अपेक्षा है कथावस्तु को हृदयंगम करने की, उसे काव्यात्मक रूप देने की और सरसता के ढांचे में ढालने की। इस सन्दर्भ में अरिष्टनेमि का प्रसंग बहुत मार्मिक और हृदयग्राही है। इस कथावस्तु में इतने घुमाव हैं कि उसके आधार पर अनेक तथ्यों की सरस अभिव्यक्ति सम्भव बन सकती है।

हमारे लिए अरिष्टनेमि एक आदर्श हैं। उनके जीवन प्रसंग से हम अधिक सीख सकें या नहीं, पर कुछ अवश्य सीखें। अस्वीकार की शक्ति, असहयोग की शक्ति, प्राणी मात्र के प्रति करुणा और अहिंसा का विकास—ये बातें जीवन में आंशिक रूप से उतरनी शुरू हो जाए, क्रूरता धुल जाए, प्राणिमात्र के प्रति करुणा जागे। मनसा वाचा कर्मणा में किसी को दुःखी बनाने का निमित्त न बनुं, यह भावना बलवती बने, इतना कुछ घटित कर सकें तो अरिष्टनेमि की स्मृति हमारे लिए बहुत कल्याणकारी और वरदायी सिद्ध होगी।

रूपान्तरण

एक राजा समर्थ और स्वतंत्र चिन्तन का धनी था। वह विद्वानों, कवियों और साहित्यकारों को बहुत प्रोत्साहन देता, खुले हाथ दान देता। विद्वानों को कभी अपनी गरीबी का अहसास कराने की जरूरत नहीं होती। जब इस प्रकार राज्य लक्ष्मी दूसरों के पास जाने लगी तब अधिकारी चिन्तित हो उठे। एक अधिकारी ने राजा से निवेदन किया—‘राजन! आपके पुरखों—पूर्वजों ने बहुत धन संचित किया है, खजाना भरा है। आप उसे खुले हाथ लुटा रहे हैं, खजाना खाली हो जाएगा। क्या आपको ऐसा करना चाहिए? कुछ चिन्तन करें।’

राजा ने बहुत मार्मिक उत्तर दिया—‘मैं चौकीदार नहीं हूँ। मैं राजा हूँ। चौकीदार का काम है रखवाली करना। जो खजाना भरा हुआ है, उसकी रखवाली करना। अगर मेरे पिता ने मुझे चौकीदार बनाया होता तो मैं एक पैसा भी खर्च नहीं होने देता, चोरी भी नहीं होने देता, पर मैं चौकीदार नहीं हूँ। मैं मालिक हूँ। मैं खजाने को भर भी सकता हूँ और खाली भी कर सकता हूँ।’

मालिक होना बहुत मुश्किल है। अधिकांश लोग चौकीदारी का काम करते हैं। ईश्वर होना या मालिक होना प्रत्येक व्यक्ति के लिए संभव नहीं है।

साध्वी राजीमती ने देखा—रथनेमि अब चौकीदार बन रहा है। उसका ईश्वरपना छूट रहा है। राजीमती ने रथनेमि को संबोधित करते हुए कहा—‘मुनिवर! एक दिन आप साधुत्व के मालिक बने थे, ईश्वर बने थे। अब ऐसा लगता है—आप ईश्वर को छोड़कर चौकीदार बन रहे हैं। जिस खजाने के आप मालिक हैं, उसका मालिकपन समाप्त हो रहा है—

*गोवालो भंडवालो वा जहा तदव्वणिस्सरो।
एवं अणिस्सरो तं पि, सामण्णस्स भविस्ससि।।*

रथनेमि का प्रस्ताव

घटना प्रसंग इस प्रकार बना—अरिष्टनेमि राजीमती को छोड़कर प्रव्रजित हो गए। राजीमती के मन पर गहरा आघात लगा। इस प्रकार छोड़कर चले जाना उसके लिए असह्य बन गया। अरिष्टनेमि के भाई रथनेमि इसे अवसर समझ कर राजीमती के पास आने-जाने लगे। रथनेमि ने राजीमती को आश्वस्त करते हुए कहा—‘देवी! विषाद मत करो। अरिष्टनेमि वीतराग हैं। वे विषयानुबंध नहीं करते। तुम मुझे स्वीकार करो। मैं जीवन भर तुम्हारी आज्ञा मानूंगा।’

राजीमती का मन काम-भोगों से विरक्त हो चुका था। उसे रथनेमि का प्रस्ताव उचित नहीं लगा। एक बार राजीमती ने मधु-घृत-संयुक्त पेय पीया। जब रथनेमि आए, राजीमती ने मदन फल खा उल्टी की। राजीमती ने कहा—‘आप इसे पीएं।’

‘वमन किये गये पेय को कैसे पीऊं?’

‘क्या तुम यह जानते हो?’

‘यह बात तो छोटा बालक भी जानता है।’

‘यदि यह बात है तो मैं भी अरिष्टनेमि द्वारा वान्त हूँ। मुझे ग्रहण करना क्यों चाहते हो? धिक्कार है तुम्हें, जो वान्त को पीने की इच्छा करते हैं! इससे तुम्हारा मरना श्रेयस्कर है—

धिरत्थु ते जसोकामी, जो तं जीवियकारणा।

वतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे॥

फिर फिसल गए

राजीमती के संबोधन से रथनेमि आसक्ति से उपरत हो गए। अरिष्टनेमि केवली बन गए। रथनेमि भी प्रव्रजित हुए। राजीमती भी अनेक राजकन्याओं के साथ प्रव्रजित हो गई। एक बार अरिष्टनेमि रैवतक पर्वत पर समवसृत थे। साध्वी राजीमती आदि साध्वियां उनकी वन्दना के लिए जा रही थीं। अचानक वर्षा प्रारम्भ हो गई। सभी साध्वियां इधर-उधर गुफा में चली गईं। राजीमती जिस गुफा में गई, मुनि रथनेमि उसमें पहले से ही साधनारत थे। राजीमती को यह ज्ञात नहीं था। राजीमती ने अपने कपड़े सुखाने के लिए वस्त्रों को फैलाया। राजीमती को यथाजात (नग्न) देख रथनेमि का मन विचलित हो गया। अचानक राजीमती ने भी रथनेमि को देख लिया। वह शीघ्र ही अपनी बांहों से अपने आपको ढंकती हुई बैठ गई।

उस समय मुनि रथनेमि ने साध्वी राजीमती से कहा—‘भद्रे! मैं रथनेमि हूँ। सुरूपे! चारुभाषिणी! तुम मुझे स्वीकार करो। तुम्हें कोई पीड़ा नहीं होगी। हम भोग भोगें। निश्चित ही मनुष्य जीवन दुर्लभ है। हम भुक्त-भोगी हो फिर जिनमार्ग पर चलेंगे—

रथनेमि अहं भदे! सुरुवे! चारुभाषिणी!

मम भयाहि सुयगू! न ते पीला भविस्सई॥

एहि ता भुंजिमो भोए, माणुस्सं सुदुल्लहं।

भुत्तभोगा तओ पच्छ, जिणमग्गं चिरिस्सिमो॥

रथनेमि की इस प्रार्थना पर राजीमती ने जो तर्कपूर्ण संबोधन दिया, उसने रथनेमि के पतन को उत्थान में बदल दिया।

हम केवल कथा को न पढ़ें। साध्वी राजीमती ने जो तर्क दिए हैं, उनका अनुशीलन भी करें। वे बहुत मार्मिक तर्क थे। शायद इसीलिए राजीमती को शीलवर्ती के साथ-साथ बहुश्रुत भी कहा गया है। उसने जो तर्क प्रस्तुत किए हैं, उन्हें पढ़कर ऐसा लगता है—सचमुच वह बहुश्रुत साध्वी थी। उसके तर्क इतने वेधक थे, रथनेमि को चिन्तन के लिए बाध्य होना पड़ा। वे चौकीदारी से हटकर पुनः श्रामण्य के मार्ग पर प्रस्थित हो गए।

राजीमती ने कहा—‘मुनिवर! आप चिन्तन करें। आप ग्वाले को जानते हैं। चरवाहा सैंकड़ों गायों का झुण्ड लेकर जंगल में जाता है। वह गायों को चराता है, उनकी रखवाली करता है। शाम का समय होता है, वह गायों को

लेकर लौट आता है। गायों को कुएं पर पानी पिला देता है और गाएं अपने-अपने घरों की ओर चली जाती है। शाम को ग्वाले से पूछा जाए—तुम्हारे पास कितनी गाएं हैं। वह कहेगा—एक भी नहीं है। यदि उसे दूध की जरूरत पड़ जाए तो कहीं से खरीद कर या मांग कर लाना पड़ता है। उसके पास दूध भी नहीं है। वह गोपाल कहलाता है किन्तु उसे गायों की रखवाली करने का अधिकार है। वह उनका मालिक नहीं है।’

राजा के खजांची होता है। उसके पास खजाने की चाबी होती है। वह अरबों-खरबों रुपये के धन और जेवरात की सुरक्षा करता है किन्तु यदि उसे पचास रुपये की जरूरत हो तो कहीं से मांग कर व्यवस्था करता है। खजाना उसके लिए कुछ भी नहीं है। उस पर उसका कोई अधिकार नहीं है। यदि वह चोरी कर ले तो मुसीबत पैदा हो जाए।

ग्वालों का गायों पर अधिकार नहीं है और खजांची का खजाने पर अधिकार नहीं है। मुनिवर! क्या आपका श्रामण्य पर अधिकार है? आपने उस पर अपना अधिकार खो दिया है। अब आप ईश्वर नहीं रहे, केवल चौकीदार बन गए हैं।’

मुनि रथनेमि के मानस पर चोट लगी। उन्होंने सोचा—कितनी सही बात कही जा रही है—मैं अपना ईश्वर नहीं रहा।

जो व्यक्ति ईश्वर नहीं होता, वह कहीं का नहीं होता, केवल बिचौला होता है। न इधर का रहता है और न उधर का। हम ग्वाले को देखें। वह सारे दिन जंगल में भटकता है, सर्दी-गर्मी को सहता है, भूख-प्यास को सहता है। उसको मिलता क्या है? गायों के दूध पर भी उसका अधिकार नहीं है। दूध पर अधिकार है गायों के अधिपति का। यह स्थिति तब बनती है, जब व्यक्ति का अपने श्रामण्य पर अधिकार नहीं होता, वह अपने श्रामण्य का ईश्वर नहीं होता।

बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है—ईश्वर कौन हो सकता है? श्रामण्य का ईश्वर वही हो सकता है, जिसने अपनी स्वतंत्र चेतना से श्रामण्य का स्पर्श किया है। जो दूसरों के द्वारा संचालित बना, उसका ईश्वरत्व समाप्त हो गया। बहुत सारे काम ऐसे होते हैं, जो दूसरों के द्वारा संचालित होते हैं, पर अपने द्वारा संचालित हुए विना उसमें जो ईश्वरत्व प्रकट होना चाहिए, वह नहीं हो पाता।

किसके कहने पर

आगम साहित्य के व्याख्या ग्रन्थों का एक कथा प्रसंग है। एक राजा ने कोई निर्णय लिया। वह निर्णय प्रजा के अनुकूल नहीं था। राजा ने अपना निर्णय मंत्री को बताया। वह केवल मंत्री ही नहीं था, राजा का मित्र भी था। यदि केवल मंत्री होता तो राजा के निर्णय को स्वीकार कर लेता लेकिन उसकी स्थिति मंत्री से भी महत्त्वपूर्ण थी।

मंत्री ने कहा—‘राजन! आपने जो निर्णय लिया है, वह प्रजा के हित में नहीं है। आप क्षमा करें—ऐसा लगता है, आपने यह निर्णय महारानी के कहने से लिया है।’

राजा को यह बात कैसे मान्य हो सकती थी। उसने कहा—‘तुम गलत कहते हो। मैं ऐसा नहीं हूँ, जो पत्नी के कहने से निर्णय लूँ।’

‘आप क्या, सारी दुनिया ही स्त्रियों के कहने पर चलती है।’

‘दुनिया क्या करती है, मुझे पता नहीं पर मैं अपने स्वतंत्र दिमाग से निर्णय लेता हूँ। मुझे जो उचित लगता है, वही काम करता हूँ।’

‘महाराज! आप विवाद न करें। यह सारी दुनिया का नियम है, आप इसके अपवाद नहीं हो सकते।’

‘तुम इसे प्रमाणित करो। यदि प्रमाणित हो जाएगी तो मैं मान लूँगा।’

‘मैं जल्दी प्रमाणित कर दूँगा इस तथ्य को।’

एक सप्ताह बाद मंत्री ने एक राजाज्ञा प्रसारित की—‘आज नगर के बाहर सब नागरिकों को आना है। वहाँ पूर्व और पश्चिम में दो खेमे बनाए गए हैं। जो लोग अपनी स्त्रियों के कहे अनुसार चलते हैं, उन्हें पूर्व के खेमे में जाना है। जो लोग अपनी इच्छा से चलते हैं, स्त्रियों का कहना नहीं मानते, उन्हें पश्चिम के खेमे में जाना है।’

राजाज्ञा की घोषणा हो गई। उस समय राजाज्ञा का उल्लंघन करना असंभव सा कार्य था। शाम को सब लोग आने लगे। पूरा नगर पुरुषों से खाली हो गया। राजा और मंत्री भी वहाँ पहुँच गए। राजा ने देखा—पूर्व का खेमा खचाखच भरता जा रहा है और पश्चिम का खेमा एकदम खाली पड़ा है। राजा का चेहरा उदास हो गया। उसने सोचा—क्या मेरा कथन असत्य होगा? सब पूर्व के खेमे की ओर ही जा रहे हैं। मंत्री की बात सही होगी?

राजा गंभीर हो गया। मंत्री मन ही मन मुस्करा रहा था। कुछ क्षण बीते, एक व्यक्ति पश्चिम के खेमे में गया। राजा बोला—‘मंत्री! तुम सही हो पर एकदम गलत में भी नहीं हूँ। देखो! एक व्यक्ति पश्चिम के खेमे में भी गया है। वह बहुत समझदार और स्वतंत्र चिन्तन वाला है।’

‘महाराज! आप जरा ठहरें। अभी पता चल जाएगा—वह स्वतंत्र चिन्तन का परिणाम है या नहीं।’

‘क्या इसमें संशय है?’

‘हां महाराज!’ यह कहकर मंत्री ने कर्मचारियों को आदेश दिया—‘जो व्यक्ति पश्चिम के खेमे में गया है, उसे बुलाओ।’

कर्मचारी उसे बुला लाए। वह राजा के सामने हाथ जोड़े खड़ा था। मंत्री ने पूछा—‘भई! सब लोग पूर्व के खेमें में गए, तुम उधर क्यों नहीं गए।’ उस व्यक्ति ने जवाब दिया—‘महाराज! जब मैं घर से चला तब पत्नी ने कहा था—भीड़भाड़ में मत फँस जाना। पूर्व के खेमे की ओर बहुत भीड़ थी इसलिए मैं वहाँ नहीं गया।’

राजा यह सुनकर अवाक रह गया।

यह कथा बहुत मार्मिक है। कौन व्यक्ति ऐसा है, जो अपनी वृत्तियों और वासनाओं के द्वारा संचालित नहीं है। यह संभव है—बहुत सारे व्यक्ति ऐसे मिल सकते हैं, जो स्त्रियों के द्वारा संचालित न हों किन्तु अपनी वृत्तियों और

वासनाओं से संचालित न हो, ऐसे व्यक्ति का मिलना कठिन है। वही व्यक्ति ईश्वर हो सकता है, जो इनके द्वारा संचालित नहीं है।

राजीमती की दृढ़ता

राजीमती ने कहा—‘आप इस प्रकार का आचरण करेंगे तो श्रामण्य के ईश्वर नहीं रहेंगे। जब श्रामण्य के ईश्वर नहीं हैं तब श्रामण्य का वोझ ढोने की जरूरत क्या है?’

राजीमती के इस तर्क से रथनेमि की चेतना प्रकम्पित हो उठी। वे संभल गए। संभले ही नहीं, कैवल्य को उपलब्ध हो गए।

राजीमती के तर्क बहुश्रुतता के परिचायक थे। बहुश्रुतता के साथ राजीमती का जो संकल्प था, वह भी बहुत विलक्षण था।

रथनेमि ने राजीमती से कहा—‘चलो! हम फिर राज्य में चलें, गृहस्थी में रहें, मनोरम भोगों को भोगें। कालान्तर में फिर मुनि बन जाएंगे। तुम देखो—कैसा वैभव है! कैसा ऐश्वर्य है! पहले उसका उपभोग कर लें।’

इस स्थिति में राजीमती ने जिस धृति और दृढ़ता का परिचय दिया, वह सचमुच प्रेरक है। राजीमती ने कहा—‘मुनिवर! आप क्या कह रहे हैं, क्या आप रूपवान होने के कारण ऐसा कह रहे हैं? यदि आप रूप से वैश्रमण्य हैं तो भी मुझे आपकी आवश्यकता नहीं है। मैं आपकी स्वप्न में भी इच्छा पूरी नहीं कर सकती। यदि आप साक्षात् इन्द्र हैं तब भी आप मेरे लिए कोई काम के नहीं हैं—

जइ सि रुवेणवेसमणो, तल्लिएण नलकूबरो।

तहा वि ते न इच्छामि, जइ सि सक्खं पुरंदरो ॥

राजीमती के संकल्प और मनोबल का निदर्शन है ये वाक्य। कौन कहता है—नारी कमजोर होती है, दुर्बल और अवला होती है? वह दुर्बल नहीं है। बल सबमें है, पराक्रम और पुरुषार्थ सबमें है। प्रश्न है जागरण का। हम केवल शरीरशास्त्रीय दृष्टि से ही विचार न करें। योग के प्राचीन आचार्यों ने जो चिन्तन दिया है, अर्द्धनारीश्वर की जो कल्पना की है, वह बहुत रहस्यपूर्ण है। दक्षिणांग और वामांग की स्वीकृति बहुत महत्त्वपूर्ण है। स्त्री और पुरुष में अन्तर इतना ही है कि स्त्री की शक्ति का स्रोत है बायां अंग और पुरुष की शक्ति का स्रोत है दक्षिण अंग। अगर स्त्री अपनी वामांग शक्ति को पहचान सके तो वह पुरुष से कम नहीं है। यदि पुरुष अपने दक्षिण अंग की शक्ति को पहचान सके तो वह स्त्री से कम नहीं है। पुरुष भी स्त्री बन जाता है और स्त्री भी पुरुष बन जाती है। सवाल है अपनी-अपनी शक्ति को पहचानने का। प्रकृति की रचना ऐसी ही है कि दक्षिण और वाम—दोनों अंग समान नहीं मिलते। व्यक्ति को अपनी ही दोनों आंखों से समान दिखाई नहीं देता। दोनों एक साथ खुलती है तो पता नहीं चलता। यदि एक आंख को बन्द कर देखें तो ऐसा लगता है—सामने अंधेरा ही अंधेरा है। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिन्हें दोनों कानों से बराबर सुनाई नहीं देता। एक कान ठीक काम करता है, दूसरा नहीं। दोनों अंग समान काम करें, यह सबके लिए कठिन है किन्तु एक का काम दूसरा कर देता है।

शरीरशास्त्र का नियम है—एक अंग जख्मी हो जाए तो दूसरा अंग तत्काल उसकी सहायता में निकल पड़ता है। शरीर की ऐसी व्यवस्था है—एक अंग खराब होता है तो दूसरा उसका पूरा प्रतिनिधित्व करता है। दो गुर्दे काम करते हैं। यदि एक बेकार हो जाता है तो दूसरा उसका पूरा सहयोग करता है। एक आंख दूसरी आंख का, एक कान दूसरे कान का पूरा कार्य संभाल लेता है। दोनों समान नहीं होते। प्रकृति की ऐसी विचित्र रचना है—बायां अंग स्त्री को शक्तिशाली मिला और दायां अंग पुरुष को शक्तिशाली मिला। यदि वह जाग जाए तो व्यक्ति कुछ भी कर सकता है। हम इतिहास को पढ़ें—समय-समय पर स्त्रियों ने अद्भुत कार्य किए हैं। जिसका चैतन्य जाग गया, वह विलक्षण बन गई। राजीमती का चैतन्य जाग उठा। जब अरिष्टनेमि का रथ मुड़ा, राजीमती के मन पर गहरी चोट लगी, उसका चैतन्य जागृत हो गया।

भाग्य खुल गया

दुःख आना बुरी बात नहीं है। कभी-कभी वह दुःख अभ्युदय का कारण बन जाता है। यदि राजीमती के मन को आघात और चोट नहीं लगती, उसका मन दुःख से नहीं भरता तो राजीमती राजीमती नहीं बन पाती, इतनी प्रबुद्ध और बहुश्रुत साध्वी नहीं बन पाती। चोट लगी और चैतन्य जागृत हो गया। जब अरिष्टनेमि वापिस चले गए तब उसकी व्यथा का कोई अंत नहीं था। ऐसा राजकुमार, जो दुनिया में ढूँढ़ने पर भी न मिले, घर के द्वार तक आकर लौट जाए। चोट में कोई कमी नहीं थी। कभी-कभी ऐसी चोट लगती है, अतीन्द्रिय चेतना स्वयं जाग उठती है। समाचार पत्रों में पढ़ा—एक व्यक्ति गिरा, चोट लगी और उस स्थान पर चोट लगी, अतीन्द्रिय चेतना खुल गई। उस व्यक्ति की भविष्यवाणियों से संसार चकित रह गया। तिब्बत में तीसरा नेत्र खोलने के लिए आपरेशन किया जाता है। अमुक स्थान पर चोट लगती है, भाग्य खुल जाता है।

सचमुच राजीमती का भाग्य खुल गया और ऐसा भाग्य खुला, वह विलक्षण साध्वी बन गई। उसका चरित्र आज भी उदात्त, महान् और विलक्षण बना हुआ है।

राजीमती ने उस समय जो तर्क प्रस्तुत किए, वे आज भी मानव-मन के अंधकार को चीरने वाले बने हुए हैं। राजीमती ने कहा—‘आप कौन हैं! आपका वंश क्या है? उसकी ओर भी ध्यान दें। हमारा वह कुल है, जिसमें व्यक्ति संकल्प लेकर चल पड़ता है तो पीछे मुड़कर नहीं देखता। आपके पैर पीछे हट रहे हैं। ऐसे कुल में पैदा होकर आप क्या कर रहे हैं?’

‘मैं भोजराज की पुत्री हूँ और आप अंधकवृष्णि के पुत्र। ये दोनों महान् वंश हैं इस दुनिया में, जिनकी शक्ति और प्रभुत्व का दुनिया लोहा मानती है। हमने कभी पीछे हटना नहीं सीखा। इस कुल में पैदा होकर आप पीछे हट रहे हैं? यह आपके लिए अच्छा नहीं है। हम अपने कुल में गंधन सर्प की तरह न बनें। संयम में स्थिर रहना ही हमारे लिए श्रेयस्कर है। यदि आप स्त्रियों को देख कर इस प्रकार का भाव लाएंगे तो अस्थितात्मा बन जाएंगे।

अहं च भोयरायस्स तं च सि अंधगवण्हिणी।
 मा कुले गंधणा होमो, सजमं निहुओ चर।।
 जइ तं काहिसि भावं, जा जा दच्छसि नारिओ।
 वायाविद्धो व्व हडो, अट्टिअप्या भविस्ससि।।

गिरे नहीं, संभल गए

राजीमती का प्रतिबोध बुद्धिमानी से परिपूर्ण था। बुद्धिमान व्यक्ति समझाता है तो बात गले उतर जाती है। जो बात हजार बार कहने से समझ में नहीं आती, वह एक बुद्धिमान द्वारा समझाने पर समझ में आ जाती है।

एक सेठ को शराब का व्यसन था। अनेक लोगों ने इसे छोड़ने की प्रेरणा दी पर सेठ ने आदत नहीं छोड़ी। एक दिन एक व्यक्ति ने नौकरी की प्रार्थना की। सेठ ने कहा—‘मुझे नौकर की जरूरत है पर निकम्मे नौकर की जरूरत नहीं है। तुम अगर काम पूरा कर सको तो तुम्हें नौकरी पर रख सकता हूँ।’ नौकर ने पूछा—‘आपका काम क्या करना है?’ सेठ ने कहा—‘मैं जो काम कहूँ, उसे पूरा करना है। कुछ ऐसे नौकर आते हैं वे पूरा काम कर नहीं करते। मुझे वह नौकर अच्छा लगता है, जिसे एक साथ काम के लिए कहता हूँ तो वह उससे जुड़े सारे काम एक साथ कर देता है।’ नौकर बुद्धिमान था। उसने विनम्रता से कहा—‘आप मुझे सेवा का अवसर दें। मैं ऐसा प्रयत्न करूँगा।’ सेठ ने उसे नौकरी पर रख लिया। शाम का समय हुआ। सेठ ने कहा—‘जाओ, शराब की बोतल ले आओ।’ वह कुछ देर बाजार में घूमकर वापस आ गया। उसने शराब की बोतल सामने रख दी। एक दवाइयों का बक्सा भी रख दिया। साथ-साथ डाक्टर को भी ले आया। कफन लाकर भी रख दिया। एक गाड़ी में चंदन की लकड़ियाँ भी आ गईं। घर के बाहर अनेक लोग एकत्रित हो गए। सेठ यह सब देख अवाक रह गया। उसने कहा—‘यह क्या धंधा है? तुमने यह सब क्या किया है?’

नौकर बोला—‘सेठजी! आपने ही तो कहा था—अधूरा काम नहीं करना है, पूरा काम करना है। मैंने वही किया है। आपने शराब मंगाई। शराब पीने वाला निश्चित ही बीमार होता है इसलिए दवा का बक्सा भी ले आया। बीमार को दवा डाक्टर की सलाह से देनी चाहिए इसलिए डाक्टर को भी बुला लाया। शराब पीने वाला जल्दी मरता है इसलिए कफन और लकड़ी भी ले आया। मैंने लोगों को भी कह दिया है सेठ की शवयात्रा में आने के लिए। आस-पास के सारे लोग इधर ही आ रहे हैं।’

यह बात सेठ के मन को तीर जैसे चुभ गई। उसने शराब की बोतल फेंक दी। नौकर से बोला—‘आज से शराब छोड़ता हूँ। तुम सबको यहां से विदा करो।’

जो समझदार और बुद्धिमान होता है, वह ऐसी बात कहता है कि तत्काल काम हो जाता है। राजीमती ऐसी ही महिला थी। उसके तर्कपूर्ण संबोधन ने रथनेमि की मूर्च्छा को तोड़ दिया। वे गिरे नहीं, संभल गए। उनका रूपान्तरण हो गया। रथनेमि को राजीमती ने उबार। वे भोगों से विरत हो, उग्र तप तप कर पुरुषोत्तम बन गए और उनका घटनाक्रम प्रत्येक व्यक्ति के लिए प्रेरक इतिहास बन गया।

मिलन चांद और सूरज का

इस दुनिया में निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। प्रकृति का नियम है संघर्ष। कभी दो व्यक्तियों में टकराव हो जाता है, कभी दो वस्तुओं में टकराव हो जाता है। दो बसें टकरा जाती हैं, कार और ट्रेन टकरा जाती हैं। विचार और परम्पराओं का भी संघर्ष होता है।

ढाई हजार वर्ष पहले ऐसा ही एक संघर्ष का रूप सामने आया। वह संघर्ष दो परम्पराओं में परिलक्षित भिन्नताओं से उत्पन्न था।

श्रावस्ती में भगवान महावीर के शिष्य गणधर गौतम पधारे और उसी ग्राम में भगवान् पार्श्व की परम्परा के आचार्य केशी कुमारश्रमण आए। दोनों सैकड़ों शिष्यों के समूह से परिवृत थे। भिक्षाटन के लिए नगर में घूमते हुए दोनों परम्परा में दीक्षित मुनि परस्पर मिले। पार्श्व की परम्परा के मुनियों के मन में विकल्प उभरा—ये कौन हैं? ये कैसे साधु हैं? ये केवल श्वेत वस्त्रधारी हैं? महावीर के शिष्यों के न में भी यही प्रश्न उठा—ये कौन हैं? ये कैसे साधु हैं? ये बहुमूल्य विविध रंग वाले वस्त्र पहने हुए हैं। दोनों परम्पराओं के शिष्यों के मन में तीव्र उद्वेलन हुआ। जिज्ञासा का स्रोत फूट पड़ा। केशीकुमार के शिष्यों ने गौतम के शिष्यों से पूछा—‘आप कौन हैं?’

गौतम के शिष्य बोले—‘हम साधु हैं?’

‘आप क्या करते हैं?’

‘पांच महाव्रतों का पालन करते हैं।’

‘आपने श्वेत वस्त्र क्यों पहने हैं?’

‘साधु के वस्त्र श्वेत ही होने चाहिए।’

‘आपका लक्ष्य क्या है?’

‘मोक्ष।’

यही प्रश्न गौतम के शिष्यों ने केशी कुमारश्रमण के शिष्यों से पूछा—‘आप कौन हैं?’

‘हम साधु हैं।’

‘आप क्या करते हैं?’

‘हम चातुर्याम धर्म का पालन करते हैं।’

‘आपने यह रंग-बिरंगा वेश क्यों धारण किया है?’

‘हमारी परम्परा के साधु ऐसे ही वस्त्र पहनते हैं।’

‘आपका लक्ष्य क्या है?’

‘मोक्ष।’

लक्ष्य एक है, पर न वेश एक है और न महाव्रत समान हैं। प्रश्न खड़ा हो गया—एक लक्ष्य के लिए चलने वालों में यह भिन्नता क्यों?

पार्श्व के शिष्य आपस में मिले। एक शिष्य ने कहा—मैंने आज एक ऐसा मुनि देखा है, जो श्वेत वस्त्र पहनता है, पांच महाव्रतों का पालन करता है।

भगवान् महावीर के शिष्यों में यह चर्चा होने लगी—आज नगर में ऐसे साधु आए हैं, जो रंग विरंगे कपड़े पहनते हैं, चातुर्याम धर्म का पालन करते हैं। मिलन गौतम और केशी का

शिष्यों के मन में एक हलचल पैदा हो गई। यह प्रश्न उन्हें आन्दोलित करने लगा—हमारा प्रयोजन एक है, फिर साधना की पद्धति और वेश अलग-अलग क्यों है? कौन-सा मार्ग सही है? यह बात गणधर गौतम और केशी कुमारश्रमण तक पहुंची। शिष्यों में तर्क वितर्क हुआ, ऊहापोह हुआ, फिर बात आगे पहुंची। यह सच है—शिखर तक पहुंचने में समय लगता है। तलहटी तक व्यक्ति पहले ही पहुंच जाता है, चोटी तक पहुंचना समय-साध्य होता है। शिष्यों में बढ़ता ऊहापोह केशी कुमारश्रमण और गणधर गौतम को ज्ञात हुआ। दोनों ने शिष्यों की जिज्ञासा को समाहित करने का निश्चय किया। केशी के मन में गौतम से मिलने की भावना पैदा हो गई और गौतम के मन में केशी से मिलने की। मिलन स्थान और दिन निश्चित हो गया। केशी कुमारश्रमण पार्श्व की परम्परा के थे इसलिए वे गौतम से ज्येष्ठ थे। गौतम ने केशी कुमारश्रमण के स्थान पर जाने का निर्णय किया। अपने शिष्यों से परिवृत गौतम कोष्टक उद्यान पहुंचे। आचार्य केशी ने आसन देकर गौतम का सत्कार किया। आचार्य केशी और गणधर गौतम दोनों पट्ट पर आसीन थे। उनके दोनों ओर शिष्य समुदाय उपस्थित था। अनेक मतायलम्बी भी इस दृश्य को देखने के लिए आए थे। सूत्रकार ने केशी और गौतम की स्थिति का सुन्दर चित्रण किया है—केशी कुमारश्रमण और गौतम सूर्य और चन्द्रमा की शोभा के समान शोभित हो रहे थे।

केशीकुमारसमणे, गोयमे य महायसे।

उभओ निसण्णा सोहंति, चंदसूरसमप्पभा।।

बातचीत शुरू हुई। प्रश्न करने वाले थे केशी कुमारश्रमण और उत्तर देने वाले थे गणधर गौतम। आचार्य केशी ने पूछा—‘गौतम! जो चातुर्याम धर्म है, उसका प्रतिपादन महामुनि पार्श्व ने किया है। जो पंच शिखात्मक धर्म है, उसका प्रतिपादन वर्धमान महामुनि ने किया है। एक ही उद्देश्य के लिए हम चले हैं तो फिर भेद का कारण क्या है? धर्म के इन दो प्रकारों में तुम्हें संदेह कैसे नहीं होता?’

चाउज्जामो य जो धम्मो, जो इमो पंच सिक्खओ।

देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महामुणी।।

एगकज्जपवन्नाणं, विसेसे किं नु कारणं।

धम्मे दुविहे मेहावि! कहं विप्पच्चओ न ते।।

गौतम ने कहा—धर्म के परम अर्थ की, जिसमें तत्त्वों का विनिश्चय होता है, समीक्षा से प्रज्ञा होती है—*पन्ना समिक्खए धम्मं, तत्तं तत्तविणिच्छयं।*

यह महत्त्वपूर्ण बात है—धर्म का निश्चय प्रज्ञा से होता है। शाश्वत सत्य और सामयिक सत्य के टकराव को कभी रोका नहीं जा सकता। वेशभूषा, महाव्रत के प्रकार—ये सारे सामयिक सत्य हैं। वीतरागता, निर्वाण—ये सारे शाश्वत सत्य हैं। इन दोनों सत्यों में टकराव चलता रहा है और उसका समाधान भी किया गया है। शाश्वत और सामयिक के इस संघर्ष को प्रज्ञा के द्वारा ही समाप्त किया जा सकता है।

प्रज्ञा है आंतरिक शक्ति

प्रश्न है—प्रज्ञा क्या है? तीन तत्त्व हैं—मन, बुद्धि और प्रज्ञा। मन का काम है—सोचना, चिन्तन करना। बुद्धि का काम है—विवेक करना, निर्णय करना। प्रज्ञा का काम है—साक्षात्कार करना, अनुभूति करना। प्रज्ञा की परिभाषा की गई है—जीव की वह शक्ति, जो ज्ञान का हेतु बनती है।

ज्ञान है कार्य, प्रज्ञा है कारण। प्रज्ञा जागती है पर प्रज्ञा है जीव की शक्ति। इसमें किसी के उपदेश या शास्त्र के अध्ययन की अपेक्षा नहीं होती। यह इन सबसे निरपेक्ष है, जो अपने भीतर से जागती है भीतर का जो स्रोत है, वह आंतरिक शक्ति है और उसका बाह्य प्रयोग है ज्ञान।

बहुत दुर्लभ है प्रज्ञा का जागरण। मन की शक्ति भी बहुत दुर्लभ है। स्मृति, चिन्तन और कल्पना शक्ति—ये मन के तीन प्रमुख कार्य हैं। इनका विकास भी बहुत कम लोगों में होता है। ऐसे व्यक्ति बहुत कम हैं, जो सही ढंग से चिन्तन और कल्पना करते हैं। इन्द्रियों का विकास हमारा सामान्य विकास है। उससे अगला स्तर है मानसिक विकास। इससे भी दुर्लभ है बुद्धि का विकास। विवेक और निर्णय की शक्ति बहुत कम लोगों में विकसित होती है। प्रज्ञा का विकास सर्वाधिक दुर्लभ है। हम पूरे वैचारिक साहित्य को देखें, तो कुछ-कुछ व्यक्ति ऐसे आते हैं, जिन्हें मनस्वी, बुद्धिमान् और प्रज्ञावान कहा जा सकता है। सब जन्मना बुद्धिमान और मनस्वी नहीं होते।

हम कालिदास के जीवन का देखें। एक समय था—वह न मनस्वी था और न बुद्धिमान, प्रज्ञा की तो बात ही नहीं थी। वह रोज जंगल जाता, लकड़ियों काटता और उन्हें बेचकर अपनी आजीविका चलाता। एक दिन वह पेड़ पर बैठा डाली को काट रहा था और उस डाली को काट रहा था जिस पर वह बैठा था। मंत्रीपुत्र ने उसे देखा। वह खोज रहा था किसी बुद्धू आदमी को। उसने कालिदास को देखा और सोचा—काम बन गया। जिसकी खोज थी, वह मिल गया। इससे अधिक मूर्ख और कौन होगा? जो जिस डाली पर बैठा था उसे ही काट रहा हो।

मंत्रीपुत्र के मन में प्रतिशोध की आग जल रही थी। वह राजकुमारी से बदला लेना चाहता था। राजकुमारी के साथ कुछ ऐसा घटित हुआ, जिससे उसकी प्रतिशोध की आग भड़क उठी। उस आग को शांत करने का अवसर मिल गया। मंत्रीपुत्र ने ऐसा षड्यंत्र रचा, जिसके कारण कालिदास का विवाह राजकुमारी के साथ करा दिया। इस दुनियां में ऐसे अनहोने षड्यंत्र भी सफल हो जाते हैं। एक राजकुमार की अनपढ़ लकड़हारे के साथ शादी होना भी ऐसी ही घटना थी।

शादी के बाद राजकुमारी ने पता लगाया—मेरा पति कैसा है? कितना बुद्धिमान है! राजकुमारी ने उससे बातचीत की। वह ठोठ भट्टारक निकला। राजकुमारी के दिल को आघात लगा। उसने सोचा—ऐसे सधवा जीवन से तो वैधव्य का जीवन ही श्रेयस्कर है। किस मूर्ख आदमी से मेरा पाला पड़ा है। मुझे कहां फंसा दिया! मुझे नहीं चाहिए ऐसा पति।

राजप्रासाद का झरोखा। कालिदास राजकुमारी के पास खड़ा था। वह उसकी ओर देख रहा था। सहसा राजकुमारी ने उसे धक्का दिया। कालिदास संभल नहीं सका। वह झरोखे से नीचे गिर गया।

कालिदास अनपढ़ था, सब कुछ था पर काली का बड़ा भक्त था। जो व्यक्ति एक शक्ति को पकड़ लेता है, वह कहीं से कहीं चला जाता है। जैसे ही राजकुमारी ने उसे नीचे गिराया, वह 'काली' की रट लगाने लगा। वह सीधा काली मंदिर में जा गिरा। वह 'काली' 'काली' का जप करने लगा। ऐसा कोई योग मिला—काली का वरदान मिल गया। न कोई हड्डी टूटी और न कहीं चोट लगी। दिमाग को कुछ ऐसा झटका लगा कि स्रोत खुल गया। कालिदास का रूप बदल गया। वह खड़ा हुआ। अपने अंतःपुर में पहुंचा। दरवाजा खटखटाया। राजकुमारी ने सोचा—कौन आ गया? वह अज्ञात आशंका से आशंकित हो उठी। उसने पूछा—'कौन है?'

कालिदास ने संस्कृत भाषा में कहा—कपाटमुद्घाटय—दरवाजा खोलो।

उसके मुख से सहज ही ये शब्द फूट पड़े—'अस्ति कश्चित् वाग्विशेषः—यह कोई विद्वान व्यक्ति है।'

राजकन्या ने सोचा—यह कौन है? इसका बोलने का ढंग भी बदल गया है। यह कोई विद्वान व्यक्ति लगता है। यह कोई मूर्ख नहीं है। कम से कम मेरा पति तो नहीं है। राजकुमारी को डर था—कहीं मेरा पति मरकर भूत तो नहीं बन गया है? यदि वह भूत बनकर आ गया तो क्या होगा? यदि कोई विद्वान है तो वह बिना सूचना कैसे आया? कहीं इस घटना का पता तो नहीं लग गया है? महाराजा को यदि सब ज्ञात हो गया तो समस्या खड़ी हो जाएगी।

कालिदास ने चिन्तित राजकन्या को संबोधित करते हुए कहा—'कपाटमुद्घाटय शुभ्रनेत्रे, समागतोऽहं कविकालिदासः'—कपाट खोलो, मैं कवि कालिदास आ गया हूँ।

अरे! यह तो मेरे पति का नाम है। यह वापस कैसे आ गया? यह कवि कब से बन गया? कैसे बन गया? चिन्तनमग्न राजकुमारी ने कपाट के छिद्रों से देखा—वही कालिदास है। कपाट खोलने के सिवाय विकल्प ही नहीं था।

राजकुमारी ने कपाट खोल दिए। दोनों ने एक-दूसरे को देखा। राजकुमारी के हाथ जुड़ गए। उसने विनम्रता से पूछा—'पतिदेव! आप गिर गए थे। कहीं चोट तो नहीं लगी?'

'नहीं! मैं एकदम स्वस्थ और प्रसन्न हूँ।'

'आप कहां चले गए थे?'

'देवी! मैं कहीं नहीं गया था, अपने आपमें खो गया था।'

‘फिर क्या हुआ?’

‘मां काली की कृपा हो गई।’

‘ऐसा लगता है—आपकी वाणी जाग गई है।’

कालिदास ने कहा—‘हां, यह मां की कृपा का प्रसाद है।’

राजकन्या का मन पश्चात्ताप से भर उठा तो साथ-साथ उल्लास से भी। गिरने का पश्चात्ताप था तो पति को इस रूप में पाने का उल्लास भी था।

निरक्षर कालिदास में बुद्धि जाग गई, यह एक विरल घटना है। उसी कालिदास ने इन तीन पदों—अस्ति^१ कश्चित्^२ वाग्विशेषः^३—पर दो महाकाव्य बनाए और एक महाकाव्य जैसा उत्कृष्ट खण्ड काव्य बनाया। उनके द्वारा रचित ‘कुमारसंभव’ और ‘मेघदूत’ आज भी संस्कृत साहित्य के गौरव ग्रन्थ बने हुए हैं।

व्यक्ति में मनस्विता जागती है। मन और बुद्धि का विकास किया जा सकता है, प्रज्ञा को जगाया जा सकता है। जहां प्रज्ञा का विकास है, वहां पढ़ने की जरूरत नहीं है। भगवान् महावीर कब पढ़ें? कबीर और आचार्य भिक्षु कब पढ़ें? समाचार पत्र में पढ़ा—बच्चों के लालन-पालन की अपेक्षा पढ़ाना बहुत भारी है। बच्चों के भरण-पोषण पर जितना खर्च नहीं होता, उससे अधिक पढ़ाने में खर्च होता है। एक गरीब आदमी के लिए अपने लड़कों को पढ़ाना भी एक समस्या है। आचार्य भिक्षु की पढ़ाई में एक रुपया भी नहीं लगा होगा। मुनिश्री मगनलालजी तेरापंथ धर्मसंघ के मंत्री के रूप में प्रतिष्ठित थे। उनकी प्रतिभा का प्रत्येक व्यक्ति लोहा मानता था। उनका विवेक जागृत था। मंत्री मुनि की पढ़ाई में केवल बारह आना खर्च हुआ। वे मनस्वी बन गए। इसी प्रकार आचार्य भिक्षु की प्रज्ञा जाग गई। उनके जीवन की घटनाएं इसका निदर्शन हैं।

प्रज्ञा भिक्षु की

एक व्यक्ति ने आचार्य भिक्षु से पूछा—‘महाराज! घोड़े के कितने पैर होते हैं?’

आचार्य भिक्षु कुछ क्षण तक मौन रहे। चिन्तन की मुद्रा में गिनती करते हुए कहा—‘एक.....दो.....तीन.....चार। घोड़े के चार पैर होते हैं।’

व्यक्ति बोला—‘भीखणजी! मैंने सुना था—आप बहुत बुद्धिमान हैं। इस प्रश्न का उत्तर तो एक छोटा बच्चा भी आपसे जल्दी दे देता है।’

आचार्य भिक्षु ने कहा—‘तुम्हारी बात ठीक है। यदि मैं यह सीधा कह देता—घोड़े के चार पैर होते हैं, तो तुम्हारा अगला प्रश्न होता—कनखजूरे के कितने पैर होते हैं? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए मुझे सोचना पड़ता। जब मैं सोचता तब तुम्हें यह कहने का अवसर मिल जाता—पहले तो तत्काल बता दिया, अब बताओ तो पता चले।’

‘महाराज! मैं सोचकर तो यही आया था। आपको कैसे पता चला?’

१. अस्ति—कुमारसंभव महाकाव्य।

२. कश्चित्—मेघदूत।

३. वाग्विशेषः—रघुवंश।

यह पता चलता है प्रज्ञा से। जिसकी प्रज्ञा जाग जाती है, वह विशिष्ट बन जाता है। दिग्म्बर साहित्य का एक शब्द है—प्रज्ञाश्रमण। जिसे प्रज्ञाश्रमण की लब्धि प्राप्त होती है, उसका महत्त्व है। कहा गया—चतुदर्शपूर्वी जिस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकता, उस प्रश्न का उत्तर प्रज्ञाश्रमण दे देता है। प्रश्न पूछने वाला है चतुदर्शपूर्वी और उत्तर देने वाला है प्रज्ञाश्रमण। वह पढ़ा-लिखा नहीं है पर जब प्रज्ञा जाग जाती है तब वह उत्तर देने की अर्हता उपलब्ध कर लेता है। उसका ज्ञान बहुत विशिष्ट बन जाता है।

वैज्ञानिक सत्य

बहुत विचित्र है प्रज्ञा का कार्य। जैन आचार्यों ने ज्ञान मीमांसा में जिस सूक्ष्मता का परिचय दिया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। कहा गया—मनःपर्यव ज्ञानी अचिंतित, चिन्त्यमान और चिन्तित—तीनों को जान लेता है। प्रश्न आया—वह अचिन्तित को कैसे जानेगा? चिन्तित और चिन्त्यमान को जाना जा सकता है, पर जो सोचा ही नहीं गया है, उसे कैसे जाना जा सकता है? इस संदर्भ में नंदीसूत्र का प्रकरण देखें तो एक समाधान मिल जाता है। यह महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक सत्य है—काल की अपेक्षा से मनःपर्यवज्ञानी अतीत को भी जान लेता है, वर्तमान को भी जान लेता है और अनागत को भी जान लेता है। आज से लाख वर्ष बाद कोई व्यक्ति क्या चिन्तन करेगा, इसे भी वह जान सकता है। इतनी क्षमता मनःपर्यवज्ञानी में जाग जाती है। चिन्तनवर्गणा के पुद्गल किस रूप में बदलेंगे, इस तथ्य के आधार पर वह लाखों-करोड़ों वर्ष बाद होने वाली बात को जान लेता है। आज वैज्ञानिक इस खोज में लगे हैं, पर वे अभी वहां तक नहीं पहुंच पाए हैं। जैन ज्ञान-मीमांसा में जिस सूक्ष्मता से विचार हुआ है, वे उससे अभी बहुत दूर हैं।

प्रज्ञा की भूमिका पर

प्रज्ञा के संदर्भ में जैन ज्ञान-मीमांसा में अत्यंत सूक्ष्मता से चिन्तन हुआ है। मनस्विता, बौद्धिकता और प्रज्ञा—ये तीन भूमिकाएं हैं। गौतम ने केशी कुमारश्रमण से जो कहा, वह प्रज्ञा की भूमिका पर कहा। गौतम का यह कथन कितना मार्मिक है—पंच महाव्रत या चार महाव्रत, सचेलक या अचेलक, श्वेताम्बार या विविध रंगी वस्त्र—ये सारे देश काल की उपयुक्तता से जुड़े हुए हैं। जैसा आचार्य उचित समझते हैं वैसा ही विधान कर देते हैं किन्तु मूल तत्त्व का निर्णय, वीतरागता और धर्म का निर्णय—यह सारा प्रज्ञा के द्वारा होता है। यह प्रज्ञा एक ऐसा बिन्दु है, जो कुछ सोचने के लिए अवकाश देता है। बहुत सारे लोग छोटी-छोटी बातों में उलझ जाते हैं। जहां प्रज्ञा का काम है, वहां बुद्धि और तर्क का बहुत उपयोग नहीं है।

हम इस प्रज्ञा को जगाने का प्रयत्न करें, गहराई में जाएं। इन दो सचाइयों को मानकर चलें—शाश्वत सत्य और सामयिक सत्य। शाश्वत सत्य कभी नहीं बदलता, उसे कोई नहीं बदल सकता। न उसे ऋषभ बदल सकते हैं, न पार्श्व और महावीर बदल सकते हैं। जो सामयिक सत्य है, उसे भी हर कोई नहीं बदल सकता। जिसके मन में जो आया, बदल दिया, ऐसा नहीं हो सकता। कोई

अधिकृत व्यक्ति ही सामयिक सत्य में परिवर्तन कर सकता है, किन्तु शाश्वत सत्य में परिवर्तन का अधिकार उसे भी नहीं है। अणुव्रत पांच भी किए जा सकते हैं, आठ और बारह भी किए जा सकते हैं। चौरासी भी किए जा सकते हैं। जब अणुव्रत आंदोलन प्रारंभ हुआ, तब चौरासी व्रतों की सूची बनी। पांच के स्थान पर चौरासी व्रत बन गए। उन्हें कम किया गया तो चालीस शेष रहे। संकोच होता चला गया, ग्यारह व्रत बन गए। पांच से चौरासी और चौरासी से ग्यारह। एक आचार्य के जीवनकाल में इतना बड़ा परिवर्तन हो सकता है, तो हजारों वर्षों के अंतराल में कितना परिवर्तन हो सकता है? सूचियां कभी लंबी हो सकती हैं, आकाश को छू सकती हैं और कभी एक पन्ने में सिकुड़ जाती हैं। सूची का छोटा या लंबा होना, वर्गीकरण का होना—ये सारी सामयिक बातें हैं। मूल बात कभी नहीं बदलती। शाश्वत और केन्द्रीय तत्त्व कभी नहीं बदलता। यह दृष्टिकोण स्पष्ट रहता है तो उलझन जैसी बात नहीं लगती।

सामयिक सत्य परिवर्तन सापेक्ष होता है। जब-जब जिस प्रकार की आवश्यकता होती है, परिवर्तन होते चले जाते हैं। वह परिवर्तन सुविधा या सार्थकता के आधार पर होता है। शाश्वत और सामयिक—दोनों सत्यों को समझने के लिए हम अनेकान्त का प्रयोग करें। मेरा यह निश्चित विश्वास है—जो सिद्धांत और जीवन-व्यवहार में अनेकांत का प्रयोग नहीं करता, उसे परमात्मा भी दुःखों से उबार नहीं सकता। अनेकांत का दृष्टिकोण केवल सिद्धांत नहीं है, जीवन जीने की कला है, सब झंझटों से मुक्त होने की कला है। यदि कोई प्रज्ञा को जगाना चाहता है, उसके लिए सबसे ज्यादा सरल और सहज उपाय है अनेकांत।

मिलन दो परम्पराओं का

केशीकुमार श्रमण और गणधर गौतम दोनों अनेकांत की छाया में पले थे। यह माना जाता है—एक मुख्य सूत्र का प्रवर्तन किया भगवान पार्श्व ने, उसे विस्तार दिया भगवान महावीर ने। अनेकांत की छाया उन्हें प्राप्त थी इसलिए कोई समस्या नहीं रही। शिष्यों के सारे तर्क समाहित हो गए। चांद और सूरज—दोनों एक हो गए। अलगाव रहा ही नहीं। शरीर-शास्त्र की भाषा में कहा जाता है—अनुकंपी और परानुकंपी—दोनों नाड़ी-संस्थान मिलकर शरीर का संचालन करते हैं। इन दोनों के योग का अर्थ है—चांद और सूरज का मिलन। इस योग का अर्थ है—जीवन, हमारी सारी प्रवृत्तियों का संचालन। गौतम और केशी के मिलन से एक ऐसा वातावरण बना, जिसे देख सब विमुग्ध हो गए। कहा जाता है कि उस मिलन को देखने के लिए मनुष्य ही नहीं, भूत, यक्ष और राक्षस भी आए थे। उन सबकी उपस्थिति में जो वातावरण बना, वह अनेकांत की विजय का प्रतीक है। वह गौतम और केशी का नहीं, भगवान महावीर और पार्श्व की परम्पराओं का मिलन था। उस मिलन की जो निष्पत्ति रही, वह जैन शासन के लिए अविस्मरणीय बन गई।

शासन-भेद की समस्या

हमारी आंख उसे देखती है, जो सामने है। पीठ पीछे क्या होता है, यह उसे दिखाई नहीं देता। जहां बहुत ज्यादा दूरी हो, दीवारें हो, प्रलंब काल का अंतराल हो, वहां सही अर्थ को पकड़ना बहुत मुश्किल होता है पर कितना ही कठिन क्यों न हो, मनुष्य हार नहीं मानता। उसने ऐसे साधन-स्रोतों का विकास किया है, जिनसे वह परोक्ष को भी साक्षात् करने का प्रयत्न करता है। भगवान पार्श्वनाथ का शासन सुदूर अतीत से जुड़ा है। भगवान महावीर को ढाई हजार वर्ष से अधिक समय बीत गया है। पार्श्वनाथ और महावीर के मध्य दो शताब्दियों का अन्तराल है। उसे समझने के लिए एक साधन है इतिहास। इतिहास के आधार पर हम कुछ बातों को पकड़ सकते हैं।

नई दृष्टि का विकास

पश्चिमी लोगों ने एक नई दृष्टि का विकास किया। वह दृष्टि पहले यहां विकसित नहीं थी इसलिए जहां भी भेद आया, उसे विरोध मान लिया गया। वस्तुतः भेद का मतलब विरोध नहीं है। दो सौ वर्ष पहले आचार्य भिक्षु ने जो बातें कही, वे आज बदल गई हैं लेकिन इसका अर्थ विरोध नहीं है। यह एक स्वाभाविक तत्त्व है। काल प्रवाह का स्वभाव है। सौ वर्ष बाद इतना परिवर्तन हो सकता है, जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। इस स्थिति में दो हजार वर्ष बाद कितना कुछ बदल जाता है। हो सकता है—सब कुछ बदल जाए। बदलाव स्वभाव है। समस्या यह हुई, हमने कालक्रम के अनुसार अध्ययन नहीं किया इसलिए प्रत्येक बात में प्रस्तुत भेद को विरोध मान लिया। यदि कालक्रम के साथ अध्ययन किया जाता तो भेद में विरोध की प्रतीति नहीं होती। कालक्रम के साथ विचारों के विकास का अध्ययन करने से, आचार के विकास का अध्ययन करने से भेद को नए दृष्टिकोण से देखने का अवसर मिलता है और दो हजार वर्ष पूर्व जो विचार और आचार था, वह दो हजार वर्ष बाद कहां तक पहुंच गया है, वह आज किस रूप में अवस्थित है—इसकी सही समझ प्राप्त हो जाती है।

कालक्रम से अध्ययन की दृष्टि विकसित होनी चाहिए। जहां इस दृष्टि का विकास है, वहां भेद होगा, किन्तु विरोध का कारण नहीं बनेगा। एक बात पहले थी, बाद में दूसरी बात सामने आ गई, उसमें विरोध दिखाई नहीं देगा। भगवान पार्श्व ने चार और भगवान महावीर ने पांच महाव्रतों का प्रतिपादन किया। यह विकास का क्रम है, सापेक्ष सत्य है। विचार का विकास सदा सापेक्ष होता है। किस समय क्या अपेक्षा है? इस आधार पर बहुत सारे निर्णय लिए जाते हैं। अपेक्षा के आधार पर नियमों का सृजन और विलयन होता है। पुराने

नियमों की अपेक्षा नहीं होती है तो उनका विलयन हो जाता है। नए नियमों की अपेक्षा होती है तो उनका सृजन हो जाता है।

मानस : तीन स्तर

गीतम और केशी का मिलन इस सचाई को समझने की दृष्टि देता है। उन्होंने सारा चिन्तन विचार-विकास के आधार पर किया। केशी कुमारश्रमण ने पूछा—‘भगवान पार्श्व ने चार महाव्रत बताए और भगवान महावीर ने पांच। इसका कारण क्या है? रहस्य क्या है?’

गीतम ने कहा—‘इसका कारण यह है कि पहले तीर्थंकर के समय के साधु ऋजुजड़ होते हैं, अन्तिम तीर्थंकर के समय के साधु वक्रजड़ होते हैं। मध्यवर्ती तीर्थंकरों के समय के साधु ऋजुप्राज्ञ होते हैं इसलिए धर्म के ये दो प्रकार किए गए हैं—

पुरिमा उज्जुजड़ा य, वक्रजड़ा य पच्छिमा ।

मज्झिमा उज्जुपण्णा य, तेण धम्मे दुहा कए ॥

धर्म को दो भागों में बांटने का कारण है बुद्धि और प्रज्ञा। धर्म को पालने वाले जो मुनि हैं, उनका मानस कैसा है? मति कैसी है? इस आधार पर धर्म को विभाजित किया गया। धर्म में कोई फर्क नहीं है। उसकी व्याख्या में अन्तर है। उस अन्तर का कारण है प्रज्ञा का तारतम्य।

कहा गया—ऋषभ के शिष्य ऋजुजड़ थे, महावीर के शिष्य वक्रजड़ हैं और पार्श्व के शिष्य ऋजुप्राज्ञ हैं। वक्रजड़ शब्द अप्रिय-सा है। प्राज्ञ यह प्रिय शब्द है। महावीर के शिष्यों में ऋजुता भी नहीं है, प्रज्ञा भी नहीं है।

मानस के तीन स्तर हो गए—ऋजुजड़, वक्रजड़, ऋजुप्राज्ञ। ऋजुजड़ वह है, जो प्रज्ञावान नहीं है, किन्तु सरल है। ऋजुप्राज्ञ वह है, जो ऋजु भी है और प्रज्ञावान भी है। वक्रजड़ वह है, जो न ऋजु है न प्रज्ञावान है। प्रज्ञा का अर्थ है अन्तर्दृष्टि या अतीन्द्रिय चेतना। बुद्धिमान व्यक्तियों की आज भी कमी नहीं है पर प्रज्ञावान बहुत विरल हैं।

ऋजुजड़ का चित्र

भगवान ऋषभ के साधुओं का एक चित्र प्रस्तुत किया गया, वह ऋजुजड़ का निदर्शन है। कहा जाता है—मुनि भिक्षा के लिए गए। वापस देरी से आए। ऋषभ ने पूछा—‘वत्स! इतनी देरी क्यों की? क्या भिक्षा देरी से मिली थी?’

‘भंते ! भिक्षा तो समय पर मिल गई थी।’

‘फिर देरी से क्यों आए?’

‘भंते ! मार्ग में नटनियाँ नाच रही थीं। मैं उन्हें देखने लग गया इसलिए देरी हो गई।’

‘वत्स! साधु को नटनियों का नाच देखना नहीं है।’

‘भंते ! आज से मैं ऐसा नहीं करूँगा।’

दूसरा दिन। शिष्य फिर विलम्ब से आया। ऋषभ ने पूछा—‘वत्स! आज क्यों विलम्ब से आए? क्या समय पर भिक्षा नहीं मिली?’

‘भन्ते! भिक्षा तो समय पर ही मिली।’

‘फेर आज विलम्ब क्यों हुआ?’

‘भन्ते! बाजार में नाटक हो रहा था। मेरा मन उस ओर खिंच गया। मैं नाटक देखने में लीन हो गया, इसलिए देरी हो गई।’

‘वत्स! कल तुम्हें नाटक देखने के लिए मना किया था।’

‘भन्ते! आपने नटनियों का नाच देखने की मनाही की थी। आज तो नट नाच रहे थे। नटों का नृत्य देखने का निषेध कहाँ किया था आपने?’

यह ऋजुजड़ की बात है। सरलता है पर प्रज्ञा नहीं है। यदि प्रज्ञा जागृत होती तो एक इशारे में सारी बात समझ में आ जाती। यह एक प्रकार का मानस स्तर है, जिसमें सरलता तो है पर चिन्तन का जितना विकास होना चाहिए, उतना नहीं है।

दूसरी भूमिका है ऋजु प्राज्ञ की। प्रज्ञा भी जागृत है और सरलता भी है। ऐसे व्यक्ति को एक बात कही जाए, थोड़ा-सा संकेत दिया जाए तो भी वह पूरी बात को ग्रहण कर लेगा। यह अतीन्द्रिय चेतना की भूमिका है।

तीसरी भूमिका है वक्रजड़ की। सरलता समाप्त हो गई और वक्रता अधिक विकसित हो गई। ऐसी मनोवृत्ति का व्यक्ति छिपाव बहुत करता है, प्रत्येक बात को टेढ़ा-मेढ़ा करके कहता है, सीधी बात नहीं कहता। जहाँ वक्रता है, वहाँ जड़ता का होना जरूरी है। वक्रता के बिना जड़ता का काम चलता नहीं है। टेढ़ापन तब चलेगा जब साथ में तर्क हो। तर्क भी है, जड़ता भी है, तब छिपाव की मनोवृत्ति प्रबल बनती है।

विधान का हेतु

हम मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें। क्या सबके लिए नियम समान होंगे? यह कभी संभव नहीं है। ऋजुप्राज्ञ के लिए एक प्रकार के नियम होंगे ऋजुजड़ के लिए दूसरे प्रकार के नियम होंगे। वक्रजड़ के लिए अलग प्रकार के नियम होंगे। यह संभव है कि इनमें कुछ नियम मिल जाएं पर सब नियम समान नहीं हो सकते। तीनों की आचार-संहिता एक समान नहीं हो सकती। यह भ्रांति नहीं होनी चाहिए कि सब साधुओं के नियम समान होते हैं। हम कालक्रम की दृष्टि को नहीं जानते, विकास के क्रम को नहीं जानते इसलिए उलझ जाते हैं। कालभेद और अवस्थाभेद के आधार पर नियमों में अन्तर होता रहा है।

आचार्यश्री दक्षिण भारत की यात्रा पर थे। वहाँ की परम्परा है—जो लोग मंदिर में जाते हैं, वे खुले बदन जाते हैं। नीचे धोती रहती है और शेष शरीर खुला रहता है। एक व्यक्ति ने महन्त से पूछा—‘यह क्या परम्परा है?’ महन्त ने जबाब दिया—‘भाई! हमारे यहाँ गर्मी बहुत पड़ती है इसलिए लोग खुले बदन रहते हैं।’ एक देश विशेष के कारण यह नियम बन गया—मंदिरों में खुले बदन जाना चाहिए। यही कारण है—यह क्षेत्र दिगम्बर मुनियों के लिए अनुकूल रहा है। वहाँ पर रहने वाले लोगों का आधा शरीर तो नंगा ही रहता है। दक्षिण का कोई भी व्यक्ति, चाहे वह वकील है, न्यायाधीश या मंत्री है, बाहर घूमने जाएगा तो धोती पहनकर ही जाएगा। यदि हम लोग कश्मीर में जन्मे होते तो शायद यह विधान किया जाता—मन्दिर में जाएं तो खुले बदन न जाएं, जूते पहनकर जाएं।

अलग-अलग देश और काल की स्थितियां होती हैं। जहां भयंकर सर्दी पड़ती है, वहां लोग खुले बदन कैसे जा पाएंगे। अनेक लोग वैष्णोदेवी जाते हैं क्या वहां खुले बदन जाना हर किसी के लिए संभव है?

सापेक्ष हैं नियम

सारे विधान देश-काल-सापेक्ष होते हैं। देश, काल, बुद्धि और मानस—सबका विवेक अपेक्षित होता है। यह बहुत मार्मिक कथन है—इस भूमिका-भेद को समझो—देश, काल, बुद्धि और मानस की अपेक्षा से देखो। गौतम के इस कथन का समर्थन स्थानांग में किया गया—पहले और चौबीसवें तीर्थंकर के जो साधु हैं, उनके लिए पांच बातें दुर्गम हैं और बाईस तीर्थंकरों के जो साधु हैं, उनके लिए वे पांच बातें सुगम हैं। वे पांच स्थान ये हैं—

१. धर्म तत्त्व का आख्यान।
२. तत्त्व का अपेक्षा दृष्टि से विभाग।
३. तत्त्व का युक्तिपूर्वक निदर्शन।
४. उत्पन्न परीषद्ओं को सहन करना।
५. धर्म का आचरण करना।

जो बात एक युग में सुगम है, वही दूसरे युग में दुर्गम बन जाती है। जिन बातों का आज आचरण करना आसान नहीं है, उनका कभी आचरण करना बहुत सहज रहा है। इसका कारण है भूमिका का भेद। किस युग में आदमी की मनोदशा कैसी होती है? मति और बुद्धि कैसी होती है? हर युग में आदमी की मति और बुद्धि समान नहीं होती। सहिष्णुता आदि की मनोवृत्ति का अन्तर होता है। यह सारा भूमिका का भेद है। एक ओर विधान कठिन और कठिनतर है, दूसरी ओर सुगम और सुगमतर है। यह कोई विरोध नहीं है, साधुत्व का अन्तर नहीं है। यह है भूमिका का भेद—शिष्यों की बुद्धि का भेद, विवेक का भेद। एक के लिए कहा गया—‘करेमि भंते! सामाइयं सब्बं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि।’ इतना कहना ही पर्याप्त हो गया। दूसरे व्यक्ति को उसका विस्तृत प्रत्याख्यान कराया गया, प्राणातिपात आदि अटारह पापों का विश्लेषण-पूर्वक प्रत्याख्यान कराया गया। प्रश्न हो सकता है—आपने कब कहा था ऐसा करने के लिए। तर्क को रोका नहीं जा सकता। तर्क में से प्रतितर्क निकल आता है।

एक महिला के बाएं घुटने में दर्द हो गया। डॉक्टर को दिखाया। डॉक्टर ने कहा—‘यह बुढ़ापे का दर्द है।’ महिला को बुढ़ापा शब्द प्रिय नहीं लगा। उसने डॉक्टर के कथन का प्रतिवाद किया—‘अगर बुढ़ापे का दर्द है तो बाएं घुटने में ही क्यों है? दाएं घुटने में क्यों नहीं है? यदि बुढ़ापा है तो बाएं भाग में भी आएगा, दाएं भाग में भी आएगा। दोनों घुटने साथ-साथ जन्मे हैं।’

इस तर्क का क्या उत्तर दिया जा सकता है? वस्तुतः सचाई के साथ तर्क चल नहीं सकता। बहुत सारे तर्क ऐसे ही होते हैं, जो लंगड़ाते से चलते हैं। जहां उबड़-खाबड़ स्थान आता है, वहां हालात और अधिक खराब हो जाते हैं। गौतम ने जो भेद बतलाया, वह बहुत वैज्ञानिक लगता है, सत्य प्रतीत होता है। एक

प्रकार की मनोदशा होती है, व्यक्ति सहन कर लेगा। मनोदशा बदल गई, व्यक्ति सहन नहीं कर पाएगा। जहां तितिक्षा की कमी होती है वहां नया मार्ग और नया विकल्प खोजा जाता है। इस स्थिति में नियम प्रभावित होते हैं। सबकी तितिक्षा समान नहीं होती। इन्द्रों को सहन करने की क्षमता है तितिक्षा। इसमें अन्तर आता रहता है। व्यक्ति की तितिक्षा में बहुत तारतम्य होता है।

हम हजार वर्ष पूर्व की बात छोड़ दें। आचार्य भिक्षु दो सौ वर्ष पूर्व हुए। उनका अन्तिम चातुर्मास सिरियारी में था। जिस स्थान पर उन्होंने चातुर्मास किया, वह आज भी विद्यमान है। एक पक्की हाट (दुकान) थी। शायद आठ-दस फुट का कक्ष है। उसमें न जाली है, न खिड़की है और न झरोखा। हवा और प्रकाश के लिए कोई अवकाश नहीं। दरवाजा इतना छोटा कि झुके बिना अन्दर प्रवेश ही नहीं किया जा सकता। आचार्य भिक्षु ने ऐसे स्थान में चातुर्मास किया। यदि आज उस स्थान में चार महीने रहना पड़े तो शायद बहुत सोचना पड़े। वह कोई युग था, जिसमें तितिक्षा अधिक थी। उस समय के लोग भी सहिष्णु थे। आज तितिक्षा की वह स्थिति नहीं है। आज कोई आदमी कष्ट सहन करना नहीं चाहता।

क्षमता के भेद से भी आचार में अन्तर आता है। समय समय पर नानारूपता घटित होती रहती है किन्तु आचार का मूल एक रहता है। वह मूल बिन्दु है वीतरागता। रागद्वेष को स्थान न मिले, अहिंसा और अपरिग्रह केन्द्र में रहे। यह मूल तत्त्व नहीं बदलता, अन्य बातें बदलती रहती हैं। गणधर गौतम ने भूमिका भेद के आधार पर शासन भेद की समस्या को अभिव्यक्त किया। पार्श्व के शिष्यों का समाधान हो गया और महावीर के शिष्यों का भी समाधान हो गया। उनके मन में जो शंका पैदा हुई थी—ये कैसे साधु हैं? वह विलीन हो गई। यही प्रश्न गोशालक के मन में उठा था। उसने पार्श्व के शिष्यों को देखकर महावीर से कहा था—‘भंते ! आज मैंने सारम्भी, सपरिग्रही साधुओं को देखा है। ये कैसे साधु हैं?’

वस्तुतः यह सारा प्रज्ञा भेद और तितिक्षा भेद का निदर्शन है। इस भेद के आधार पर धर्म के दो रूप बन गए—चातुर्याम धर्म और पंच महाव्रत धर्म। वास्तव में धर्म एक ही होता है। उसमें कोई द्विरूपता नहीं होती। हम अपनी मति को सरल और सापेक्ष बनाएं। हर बात को समझने का प्रयत्न करें। कौन बदलता है, क्या बदलता है? कब और कैसे बदलता है? किस आधार पर बदलता है? किस भूमिका भेद के कारण बदलता है? इस बात को ठीक समझते चले जाएं तो कोई उलझन नहीं होगी। यह सचाई सामने बनी रहे—केन्द्र एक है, वह कभी नहीं बदलता। परिधि में बहुत-सी बातें बदलती रहती हैं—इस संदर्भ में गौतम और केशी का संवाद मार्गदर्शक है।

दुष्ट घोड़े पर नियंत्रण कैसे?

हवा चले और पेड़ का पत्ता न हिले, क्या संभव है? हवा बंद होती है तो पेड़ का पत्ता भी स्थिर हो जाता है। लेकिन यह संभव नहीं है कि हवा चले और पत्ता स्थिर हो जाए। हम उपाय यह करते हैं—हवा भी चले और पत्ता भी न हिले, पर यह संभव नहीं होता।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को साम्ययोग का उपदेश दिया। अर्जुन ने कहा—‘आपने साम्ययोग की बात बताई है, पर मैं चंचलता के कारण मन की स्थिर स्थिति नहीं देख रहा हूँ। मन पवन की भांति चंचल है। मन की चंचलता को पकड़ना हवा को पकड़ने जैसा है। इसकी चंचलता को कैसे रोका जा सकता है?’

*योयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन!
एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात् स्थितिं स्थिराम् ॥
चंचलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये, वायोरिव सुदुष्करम् ॥*

हम जैन दर्शन की भाषा को पढ़ें। मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति होती रहती है। इसकी चंचलता का निरोध कैसे किया जा सकता है? मन की चंचलता को रोका नहीं जा सकता। मन होगा तो चंचल होगा, अन्यथा मन ही नहीं होगा। या तो मन होगा या वह अमन हो जाएगा। मन होगा तो चंचल ही होगा। यही स्थिति वाणी की है।

वाणी होगी तो चंचलता होगी, अन्यथा व्यक्ति अवाक हो जाएगा। जहां मन और वाणी है वहां चंचलता निश्चित है। शरीर की स्थिति कुछ भिन्न प्रकार की है। शरीर को रोका भी जा सकता है पर वाणी और मन—ये दोनों चंचलता के झूले में झूलने वाले हैं। इनका अस्तित्व रहेगा तो चंचलता रहेगी। जब इनका अस्तित्व नहीं होगा, चंचलता भी नहीं होगी।

श्रीकृष्ण ने कहा—‘अर्जुन! तुम ठीक कहते हो। यह मन ऐसा ही है पर इसका निरोध नहीं, स्थिरीकरण नहीं, किन्तु निग्रह संभव है। उसके दो साधन हैं—अभ्यास और वैराग्य—‘अभ्यासेन च कौन्तेय वैराग्येण व गृह्यते।’

यह प्रश्न अनेक बार चर्चित हुआ है। केशी कुमारश्रमण ने भी यही प्रश्न गौतम से पूछा—‘गौतम! यह साहसिक भयंकर और दुष्ट अश्व दीड़ रहा है। तुम उस पर चढ़े हुए हो। वह तुम्हें उन्मार्ग में कैसे नहीं ले जाता?’

गौतम ने कहा—कुमारश्रमण! मैंने उसे श्रुत की लगाम से थाम रखा है। जब वह उन्मार्ग की ओर जाने लगता है तब मैं वल्गा खींच लेता हूँ। वह फिर रास्ते पर आ जाता है।

‘गौतम! अश्व किसे कहा गया है?’

‘कुमारश्रमण! वह अश्व मन है। उसे मैं भलीभाँति अपने अधीन रखता हूँ। धर्मशिक्षा के द्वारा यह उत्तम जाति का अश्व हो गया है।’

मन को चलने दें, रोकें नहीं

यह एक बहुत बड़े सत्य का निदर्शन है। हम इस तथ्य को हृदयंगम करें—जब-जब घोड़ा उन्मार्ग पर जाने लगे, वल्गा को खींच लें। उसे मार्ग पर ले आएँ। उसे चलने दें, रोकें नहीं, पर उन्मार्ग पर न जाने दें। हम उसे रोक भी कैसे पाएँगे? वह रुकने वाला तत्त्व नहीं है। समस्या यह है—जिसको रोकना चाहिए, उस पर ध्यान नहीं देते और जिसे नहीं रोकना है, उस पर सारी शक्ति लगा देते हैं। जब वह रुकता नहीं है तब हमें निराशा ही हाथ लगती है। अनेक लोग कहते हैं—बहुत अभ्यास किया, मन को रोकने का बहुत प्रयत्न किया पर मन वैसा का वैसा चंचल बना हुआ है। ऐसा प्रयत्न हजार वर्ष तक करते चले जाएँ तब भी सफल नहीं होंगे। मन को पकड़ने का प्रयत्न, वायु को पकड़ने का प्रयत्न कैसे सफल होगा? हमें दिशा बदलनी होगी, सचाई को समझना होगा।

एक बहुत कंजूस आदमी था। एक बार कुछ मित्रों ने कहा—‘मित्र! तुम भी कभी भोजन कराओ। मित्रता का लक्षण है खाना और खिलाना। तुम केवल खाते ही खाते हो, दूसरों को भी खिलाओ।’ कंजूस मुसीबत में फँस गया। रविवार को कुछ मित्रों को भोजन पर आमंत्रित करना पड़ा। रविवार का दिन। मित्र यथासमय उपस्थित हो गए। भोजन का समय। उसने मित्रों को श्रेष्ठ भोजन और पक्वान्न परोसे। मित्र उसका आतिथ्य देख भावविभोर हो उठे। एक मित्र ने कहा—‘अरे भाई! आज तुमने गजब कर दिया, सारी कंजूसी समाप्त कर दी। कितना सुन्दर खाना खिलाया है।’

उसने कहा—‘इसमें मेरा कुछ नहीं, आपके ही चरणों का प्रसाद है।’

भोजन समाप्त हो गया। सब खाना खाकर जाने लगे। मित्र को साधुवाद दिया—‘आज तुमने दिल खोलकर आतिथ्य किया है। ऐसा सुन्दर भोजन कराया है कि बहुत दिनों तक याद रहेगा।’

‘यह सब आपके चरणों का ही प्रसाद है।’ उसने फिर वही बात दुहरा दी। सब मित्र दरवाजे से बाहर आए। यह देख अवाक रह गए—सबकी चप्पलें गायब हैं। उन्होंने इधर-उधर देखा, जूते दिखाई नहीं दिए। वे बोले—‘अरे! जूते कहां गए? कौन ले गया इतने सारे जूते?’

एक व्यक्ति ने कहा—‘आपके जूते सामने वाली हलवाई की दुकान में हैं।’

सब हलवाई की दुकान पर पहुंचे, बोले—‘हमारे जूते कहां हैं?’

जूतों की ओर इशारा करते हुए हलवाई ने कहा—‘ये रहे आपके जूते। ये सब गिरवी रखे हुए हैं। पैसा लाइए और जूते ले जाइए।’

सब मित्र स्तब्ध रह गए। अब उनकी समझ में आया 'चरणों के प्रसाद का रहस्य।'

मन चंचल क्यों है?

हम यह सोचें—मन चंचल क्यों बन रहा है? किसका प्रसाद उसे चंचल बना रहा है। यह प्रसाद है भाव का। जितने निषेधात्मक भाव हैं, मन को चंचल बनाने वाले हैं। हिंसा का भाव आए और मन चंचल न बने, यह कभी संभव नहीं है। परिग्रह एवं कामवासना का भाव हो और मन चंचल न बने, यह कैसे संभव है? क्रोध, निन्दा, ईर्ष्या, घृणा, चुगली, अहं—ये सब चेतना में हैं फिर मन चंचल क्यों नहीं होगा? चंचल बनाने वाले परदे के पीछे बैठे हैं, बेचारा मन सामने आ जाता है। एक राजस्थानी कहावत है—धणी बिगाड़े, ढांडा पीटे। पशुओं के मालिक ने कहीं बिगाड़ किया। उसका अहित करने की शक्ति नहीं होती है तब व्यक्ति उसके पशुओं को पीटकर बदला लेने की सोचता है। हम भी ऐसा ही कर रहे हैं। मन को जो चंचल बनाते हैं, वे भाव भीतर बैठे हैं। हम उन तक पहुंचते ही नहीं हैं। मन सामने आता है, उसे ही कोसने लग जाते हैं। संतों ने मन को कितनी गालियां दी हैं—

मन लोभी मन लालची, मन चंचल मन चोर।

मन के मतै न चालिए, पलक पलक मन ओर।।

मन ने आखिर क्या बिगाड़ा? उसका दोष क्या है? बिगाड़ने वाला तो भीतर बैठा है। कभी-कभी ऐसा होता है—दो-चार होशियार आदमी और एक भोला आदमी मिलकर काम करते हैं। जब मारपीट का प्रसंग आता है, होशियार आदमी खिसक जाते हैं और भोला आदमी पिट जाता है। ठीक वही दशा हो रही है मन की। वह तो अपना काम करता है। दोष करने वाले भीतर बैठे हैं।

भाव और इन्द्रियों के विषय

हमारे भाव मन को पैदा करते हैं। हमने भावों की उपेक्षा कर दी और मन की चंचलता को मिटाने में सारी शक्ति लगा दी। वास्तव में हमें शोधन करना चाहिए वृत्तियों का, भावों का। गौतम का यह कथन महत्त्वपूर्ण है—मेरा अश्व जब-जब उन्मार्ग पर जाता है, मैं श्रुत की वल्गा के द्वारा उसे खींच लेता हूं। जब-जब मन उन्मार्ग पर जाने लगे, हम भावों को बदल दें। इस बात पर ध्यान केन्द्रित करें—भाव शुद्धि कैसे बनी रहे? जितनी भाव शुद्धि बढ़ेगी, मन अपने आप नहीं भटकेगा, उन्मार्ग पर नहीं जाएगा। चरक आयुर्वेद का मुख्य ग्रंथ है। उसमें मन के विषय और कर्म की बहुत सुन्दर मीमांसा की गई है। चिन्तन करना, विचार और तर्क करना, ध्यान और संकल्प करना, मन का विषय है। मन का काम है इन्द्रियों का अभिग्रह या निग्रह करना। उसका काम उन्मार्ग में जाना नहीं है। इन्द्रियों के विषय और भाव—दो ऐसे तत्त्व हैं, जो उन्मार्ग की ओर ले जाते हैं। भाव हमारे खजाने में जमा है और इन्द्रियों के विषय बाहर से आ रहे हैं। एक ओर उसे भाव चंचल बना रहे हैं दूसरी ओर इन्द्रियों के विषय। इन दोनों से बंधा मन चंचल क्यों नहीं होगा?

इस स्थिति में हम क्या करें। हम मन को पकड़ें या संचालक को पकड़ें? मन को संचालित कर रहा है भाव। पतंजलि ने इस बात को पकड़ा इसीलिए लिखा—चित्तवृत्तिनिरोधो योगः—चित्तवृत्ति का निरोध करना योग है, मन का निरोध करना नहीं। इसके लिए श्रुत का मार्ग बतलाया गया है। आचार्यश्री तुलसी की एक कृति है मनोनुशासनम्। मन की अवस्थाओं को जानने-समझने का द्रष्टव्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। जैन दर्शन के पारिभाषिक शब्द हैं—अशुभ योग और शुभ योग, शुभ भाव और अशुभ भाव, शुभ परिणाम और अशुभ परिणाम, प्रशस्त लेश्या और अप्रशस्त लेश्या। हमें ध्यान देना चाहिए लेश्या पर, आभामण्डलीय भावों पर। हमारा जैसा आभामण्डल होगा, जिस प्रकार की भावधारा होगी, मन उसी प्रकार से चलेगा। यदि हमारा ध्यान किसी ओर दिशा में है तो हम भटक जाएंगे।

हम उलझन में न जाएं, भटकाव को मिटाएं। वह तब मिट सकता है जब हम मन के साथ-साथ भावधारा को भी समझें। मानसिक अवस्था और भावात्मक अवस्था—दोनों को एक साथ समझना है, यदि हम केवल मन पर अटक गए तो कहीं नहीं पहुंच पाएंगे। भाव कहां पैदा होता है? इस शरीर को कैसे प्रभावित करता है? इस तथ्य को समझे बिना मन की समस्या सुलझेगी नहीं। मन की स्थिति क्या है? वह तो चंचल ही है। कवि ने कितना अच्छा चित्रण किया है—हम मन को एक बंदर मान लें। बंदर स्थिर होगा या चंचल? उसने शराब की प्याली पी ली। फिर बिच्छू काट गया और भूत का प्रवेश भी हो गया। इस स्थिति में क्या होगा। यह भगवान ही जान सकते हैं।

मर्कटस्य सुरापानं, तत्र वृश्चिकदंशनम्।

तत्रापि भूतसंचारो, यद्वा तद्वा भविष्यति।।

मन एक बंदर है। उसे कभी शराब की प्याली मिल जाती है। कभी उसे अहंकार का बिच्छू काट लेता है, कभी मूर्च्छा का भूत प्रभावित कर देता है। मन का बंदर अपने आप में बुरा नहीं है। उसे शराब न मिल जाए, अहं का बिच्छू न काट जाए, मूर्च्छा का भूत न लग जाए। यह ध्यान रखा जाए तो मन समस्या नहीं बनेगा। बंदर बंदर है। वह मनोरंजन भी करता है किन्तु वह उत्पथ पर न जाए, यह जरूरी है। इसका सबसे बड़ा उपाय है स्वाध्याय और ध्यान। हम स्वाध्याय और ध्यान की साधना करें, मन कभी समस्या नहीं बन जाएगा।

भटकाने वाले चौराहे

मनुष्य गतिशील है। वह गतिशील है इसलिए उसने गंतव्य और मार्ग—दोनों का चुनाव किया है। जो बैठा हुआ है, उसके लिए मार्ग की जरूरत नहीं होती, उसके सामने कोई गंतव्य भी नहीं होता। जिसे कहीं पहुंचना है, उसे मार्ग पर ध्यान देना होगा। सही मार्ग का चुनाव एक समस्या है। पता नहीं, कब विपरीत दिशा की ओर ले जाने वाली पगडंडी मिल जाए, समस्या अधिक उलझ जाए। आजकल सड़कें बहुत बन गई हैं, पर जहां चौराहे हैं, वहां यह समस्या उभर आती है। व्यक्ति जाना कहीं चाहता है, पर वह चला कहीं जाता है। जीवन में भी ऐसी समस्याएं आती हैं। अनेक मार्ग व्यक्ति के सामने आते हैं। वह किसका चुनाव करे? किसे छोड़े? व्यक्ति को यह प्रश्न आंदोलित करता है—अनेक मार्ग हैं, किस मार्ग पर चलूँ?

एक मार्ग है—खाओ, पीओ, मौज करो। दूसरा मार्ग है—तपस्या करो, कष्ट को सहन करो। तीसरा मध्यम मार्ग है—न ज्यादा कष्ट सहन करो, न ज्यादा काम करो, और भी न जाने कितने मार्ग हैं। चुनाव करना कठिन हो जाता है मनुष्य के लिए। इसी समस्या को केशी कुमारश्रमण ने प्रस्तुत करते हुए कहा—‘बहुत उत्पथ—कुमार्ग हैं, मनुष्य को भटका देते हैं। क्या आप कभी भटकते नहीं हैं?’

कुप्पहा बहवो लोए, जेहिं नासति जंतवो।

अद्धाणे कह वट्टन्ते, तं न नस्ससि गोयमा॥

गौतम बोले—‘कुमारश्रमण! मैं कभी नहीं भटकता हूँ।’

‘कैसे नहीं भटकते हैं आप?’

‘कुमारश्रमण! जो मार्ग पर चल रहे हैं और जो उन्मार्ग पर चल रहे हैं, उन सबको मैं जानता हूँ, इसलिए मैं भटकता नहीं हूँ—

जे य मग्गेण गच्छंति, जे य उम्मग्गपट्टिया।

ते सव्वे बिइया मज्झं, तं न नस्सामहं मुणी॥

जो जान लेता है, वह भटकता नहीं है। जो नहीं जानता है, वह सचमुच भटक जाता है। महत्त्वपूर्ण तत्त्व है जान लेना। दुनिया में अटकाने वाले बहुत हैं, भटकाने वाले बहुत हैं और पछाड़ने वाले भी बहुत हैं, किन्तु जो जानता है, वह न भटकता है, न अटकता है।

राजा भोज एक संस्कृत विद्वान पर बहुत प्रसन्न हो गया। उसने प्रसन्न स्वर में कहा—‘जाओ, कोष से एक लाख मुद्राएं ले लो।’

विद्वान कोषाध्यक्ष के पास पहुंचा। कोषाध्यक्ष ने सोचा—यह क्या बला है? राजा प्रतिदिन खुले हाथ बांट रहा है। खजाना कितने दिन चलेगा? उसने विद्वान को लाख मुद्राएं देने से इन्कार कर दिया।

विद्वान ने कहा—‘यह राजा का आदेश है।’

‘राजा का आदेश! एक लाख मुद्राएं! तुम इस योग्य ही नहीं हो!’ कोषाध्यक्ष उस ब्राह्मण को भटकाना चाहता था, टालना चाहता था। विद्वान उदास हो गया। वह पुनः राजा के पास पहुंचा। राजा ने पूछा—‘पण्डितजी! कैसे आए?’

पण्डितजी ने निराशा भरे शब्दों में कहा—‘राजन्! आपको क्या कहूं? आप बड़े महान् हैं, आप ऐसे मेघ हैं, जो धाराप्रवाह बरस रहे हैं। इसके बरसने पर सारे वृक्ष हरे-भरे हो जाते हैं किन्तु आप जानते हैं—इस दुनिया में कोई आक भी होता है। उसके पत्ते ‘पाले’ में पीले पड़ने लग जाते हैं और एक दिन नष्ट हो जाते हैं।’

राजा विद्वान की व्यथा समझ गया। उसने अधिकारी को लिखित आदेश दिया—‘इस विद्वान को दो लाख मुद्राएं तत्काल दी जाएं। कोषाध्यक्ष के पास अब कोई विकल्प नहीं रहा। उसे दो लाख मुद्राएं देनी पड़ी।’

व्यक्ति भटकाता है पर जो भटकाव को जानता है, वह मार्ग निकाल लेता है। भटकाने वाला सफल नहीं हो पाता।

गौतम ने कहा—‘मैं सन्मार्ग और कुमार्ग—दोनों को जानता हूँ। उस मार्ग को भी जानता हूँ, जो लक्ष्य से भटकाता है और उस मार्ग को भी जानता हूँ, जो लक्ष्य तक पहुंचता है।’

केशी कुमारश्रमण बोले—‘वह कौन-सा मार्ग है, जिस पर चलते हुए आप भटक नहीं रहे हैं?’

गौतम ने उत्तर दिया—‘जो ‘जिन’ द्वारा आख्यात है, वह सन्मार्ग है। मैं उस पर चल रहा हूँ इसलिए भटकाव का प्रश्न ही नहीं है।’

यह एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है—जो व्यक्ति जिन है, सर्वज्ञ है, वीतराग है, उसके द्वारा बताया मार्ग सन्मार्ग है।

प्रामाण्य : पहली शर्त

प्रामाण्य की पहली शर्त है—वीतरागता। जो वीतराग नहीं है, उसके द्वारा प्ररूपित मार्ग सही नहीं हो सकता। जिसमें राग और द्वेष नहीं है, पक्षपात नहीं है, वही सही मार्ग बता सकता है। अवीतराग व्यक्ति में बहुत झुकाव और पक्षपात होता है। वह कभी इधर झुक जाता है और कभी उधर झुक जाता है। वीतराग तटस्थ होता है। उसका मार्ग पक्षपात रहित होता है।

महावीर ने अनेकान्त का महत्त्वपूर्ण दर्शन दिया। अनेकान्त का सबसे बड़ा लक्षण है अनाग्रह। आग्रह और अभिनिवेश का न होना, प्रत्येक बात को सापेक्षदृष्टि से देखना और समझीता करना, देश-काल को समझना—यह अपक्षपात होने का लक्षण है।

मुल्ला नसरुद्दीन बाजार से सब्जी लेकर आया। पत्नी से बोला—‘आज तो छन्ना खाने का मन हो रहा है।’

‘क्या छन्ना स्वास्थ्य के लिए अच्छा होता है?’

‘हां, बहुत पौष्टिक होता है। उसमें प्रोटीन बहुत होता है। वह शक्ति और ताकत देता है।’

‘आप बात तो ठीक कहते हैं, पर छन्ना घर में नहीं है, तब कहां से लाऊं? आप इतने पैसे भी नहीं कमा कर लाते हैं कि छन्ना बन सके।’

‘कोई बात नहीं है। छन्ना बहुत लाभदायी है तो बहुत खतरनाक भी होता है। ज्यादा पौष्टिक भोजन भी अच्छा नहीं रहता। ज्यादा प्रोटीन भी काम का नहीं है, रक्त में अवरोध पैदा करता है, हृदय के लिए अच्छा नहीं है।’

‘आप बड़े विचित्र आदमी हो। पहले तो छन्ने को अच्छा बता रहे थे और अब बुरा बताने लग गए। मैं कौनसी बात मानूं?’

‘यदि घर में छन्ना है तो पहली मान लो। यदि नहीं है तो दूसरी मान लो।’

जहां आग्रह नहीं होता, पकड़ नहीं होती वहां सामंजस्य और समझौता संभव बनता है। जहां एकांगी दृष्टिकोण बन जाता है वहां सामंजस्य और समझौते की संभावना क्षीण हो जाती है।

जिनवाणी का पहला अर्थ है—वीतराग की वाणी, जहां कोई पक्षपात नहीं, किसी के प्रति झुकाव नहीं, पूर्णतः तटस्थता। प्राचीन योग ग्रंथों में सुषुम्ना को महापथ कहा गया है। वह नाड़ी न इधर झुकती है, न उधर। उसमें आने वाला व्यक्ति मध्यस्थ बन जाता है। समाधि की अवस्था मध्यस्थता की अवस्था है। समाधि में वही व्यक्ति होता है, जिसकी चेतना सुषुम्ना में चली जाती है। फिर वह दाएं-बाएं नहीं रहता, इधर-उधर नहीं झुकता। तटस्थता जिनवाणी का पहला-सूत्र है।

सर्वज्ञता

जिनवाणी का दूसरा पहलू है—सर्वज्ञता। व्यक्ति बहुत तटस्थ है, वीतराग जैसा है या वीतराग है पर सर्वज्ञ नहीं है तो भी काम नहीं चलता। दोनों बातें होनी चाहिए—सर्वज्ञता और तटस्थता। आचार्य उमास्वाति ने बहुत सुन्दर लिखा—कैवल्य तब होता है, जब ज्ञानवरण, दर्शनावरण तथा अंतराय के साथ मोह कर्म क्षीण होता है। केवलज्ञान के साथ केवल ज्ञानावरण और दर्शनावरण के क्षय की शर्त नहीं है। पहली शर्त है—मोह का क्षय होना चाहिए, वीतरागता आनी चाहिए। वीतरागता और सर्वज्ञता—ये दोनों जिसमें होते हैं, वह जिन होता है। उसके द्वारा प्ररूपित मार्ग ही सही होता है।

कोरा ज्ञानवाद और कोरा क्रियावाद—दोनों मान्य नहीं हैं। केवल पढ़ते जाओ, पुस्तक के पन्ने पलटने जाओ और राग-द्वेष बढ़ता रहे—यह एक खतरनाक मार्ग है। ज्ञान के बिना भी केवल क्रिया बहुत सार्थक नहीं होती। जहां वीतरागता है, वहां ज्ञान उसके साथ जुड़ा हुआ है। जहां ज्ञान है, वहां वीतरागता जुड़ी होनी चाहिए। अन्यथा ज्ञान भी अज्ञान बन जाएगा।

समन्वय का पथ

जिन मार्ग है—ज्ञान और क्रिया का योग—ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः। हमारा गंतव्य है मोक्ष। उसका साधन है—सम्यग् ज्ञान और क्रिया का योग। मोक्ष की प्राप्ति केवल ज्ञान या केवल क्रिया से संभव नहीं है। गौतम ने भगवान महावीर से पूछा—भंते! क्या जीव कोरे ज्ञान से सिद्ध होते हैं?

‘गौतम! नहीं’

‘भंते! क्या केवल चारित्र से सिद्ध होते हैं।’

‘गौतम! नहीं।’

‘भंते! जीव ज्ञान से भी सिद्ध नहीं होता और चारित्र से भी सिद्ध नहीं होता तो फिर वह सिद्ध किससे होता है?’

‘गौतम! जीव केवल ज्ञान और केवल चारित्र से सिद्ध नहीं होता, किन्तु उन दोनों के योग से जीव सिद्ध होता है।’

कोरे ज्ञानवाद का समर्थन और आचरण का खंडन, यह भी कुमार्ग है। कोरे आचरण का समर्थन और ज्ञानवाद का खंडन, यह भी कुमार्ग है। आचार्य ने ठीक लिखा—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः—मोक्ष का मार्ग एक है और वह त्रिपदी के योग से बना हुआ है—सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र। मार्ग तीन नहीं है, एक है, किन्तु उसमें तीनों का योग है। हम सड़क का उदाहरण लें। क्या वह केवल कंकरीट से बनी है? केवल तारकोल से बनी है? कंकरीट, तारकोल आदि के योग से बनती हैं सड़कें। सड़क बनती है और एक मार्ग बन जाता है।

यह निष्कर्ष सही होगा

भगवान महावीर ने जो मार्ग बताया, वह अनेकान्त का मार्ग है। उसमें किसी तत्त्व का एकांत आग्रह नहीं है। उसमें ज्ञान और क्रिया का योग है, स्वाध्याय, ध्यान और तपस्या का योग है। एक ऐसा मार्ग भी रहा, जिसमें तपस्या का खंडन किया गया। कहा गया—तपस्या व्यर्थ है, उससे कोई लाभ नहीं है। तुम्हें कुछ पाना है तो ध्यान करो। दूसरी ओर यह भी कहा गया—ध्यान निकम्मे व्यक्तियों का काम है। आंख मूंद कर बैठना पाखंड है। तप तपो तब कुछ उपलब्ध होगा। एक ऐसी मनोवृत्ति बन गई—जो अपने को रुचिकर नहीं लगा, उसका खण्डन कर दिया और जो रुचिकर लगा, उसका मंडन कर दिया। यह मनोवृत्ति एकांगी दृष्टिकोण को जन्म देती है। इसे मानवीय दुर्बलता ही कहा जाना चाहिए। समन्वय का मार्ग उसकी समझ में नहीं आता। वह यह नहीं सोच पाता—सहचिन्तन, सहविमर्श से जो निष्कर्ष निकलेगा, वह सही होगा। किसी एक बात को पकड़कर जो निष्कर्ष निकलेगा, वह सही नहीं होगा।

अनेकान्त का हृदय

समस्या यह है कि समन्वय की मनोवृत्ति कम मिलती है। प्राकृतिक धिकित्सक इस बिन्दु पर पहुंच गए—सार-प्रधान फल खाना ही स्वास्थ्य के लिए ठीक है, शेष सारा भोजन गलत है। इस बात पर इतना बल दे दिया, यह

धारणा बन गई—सार-प्रधान फलों के अतिरिक्त कुछ भी खाना बीमारी का घर है। पौष्टिक भोजन का महत्त्व देने वाले लोगों ने कहा—पौष्टिक भोजन ही सार है। फलों में क्या रखा है? उनमें केवल पानी है। अनेकान्त का मार्ग यह नहीं है। वह समन्वय का पथ है। उसका हृदय है—वस्तु में अनन्त विरोधी धर्म होते हैं, उन सबको मिलाकर कोई निर्णय निकालो। जिन वह होता है जो वस्तु के अनन्त धर्मों को जानता है। हम सब द्रव्यों को जानते हैं, पर सब पर्यायों को नहीं। जिन वह है, जो सब द्रव्यों और सब पर्यायों को साक्षात् जानता है इसलिए वह किसी एक पर्याय पर अटक कर नहीं रह जाता। मनुष्य की दुर्बलता है—वह सब पर्यायों को नहीं जानता और जिस पर्याय को जानता है, उसे ही सब कुछ मान लेता है। हम न सारे अतीत के पर्याय जानते हैं, न वर्तमान और भविष्य के पर्याय जानते हैं। इस स्थिति में कुछेक पर्यायों को सब कुछ मान लेना उचित नहीं है। यह बात समझ में आ जाए तो भटकाव के प्रसंग न आए। अनन्त पर्यायों को जान सकें, यह व्यक्ति की क्षमता सापेक्ष है किन्तु यदि हम अनेक अवस्थाओं और अनेक पर्यायों को जानने की दिशा में आगे बढ़ें तो वह सही मार्ग हाथ आ सकता है, जो जिन के द्वारा आख्यात है, जो सब धर्मों का समाहार करता है, वस्तु को अनन्त विरोधी युगलात्मक मानता है।

आचार्यश्री दिल्ली में विराज रहे थे। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ० राजा रमन्ना ने आचार्यवर से कहा—‘आचार्यजी! बहुत वर्षों से मेरी तमन्ना है कि मैं अनेकान्त के बारे में कुछ जानूँ। आचार्यश्री के आदेश से मैंने डॉ० रमन्ना को अनेकान्त के बारे में विस्तार से बताया।’

राजा रमन्ना डेढ़ घंटे तक तन्मय होकर सुनते रहे। वार्तालाप के प्रारम्भ में मैंने कहा—‘अनेकान्त के अनुसार प्रत्येक वस्तु में अनन्त विरोधी युगल होते हैं। केवल धर्म ही नहीं, विरोधी धर्म होते हैं।’

राजा रमन्ना ने भावपूर्ण स्वरों में कहा—‘मुनिजी! यह बहुत वैज्ञानिक बात है—It is very scientific।’ विज्ञान के अलोक में उन्होंने अनेकान्त को परखा और वे उसके वैज्ञानिक धरातल से बहुत प्रभावित हुए।

अनेकान्त वह दर्शन है, जो वैज्ञानिक सत्य है। इस पर चलने वाला कभी भटकता नहीं है, कभी अटकता नहीं है। जिन द्वारा प्ररूपित यह दृष्टिकोण हमारे जीवन का आलोक-दीप है, जिसकी रोशनी में हमारा मार्ग स्पष्ट और प्रकाशमय बन जाता है।

शरीर एक नौका है

हमारा शरीर एक महाग्रन्थ है। इस पर न जाने कितनी व्याख्याएं लिखी गईं किन्तु अभी तक भी उसके सारे रहस्य अनावृत नहीं हुए हैं। इसके बारे में जितना कहा गया उतना ही उलझन भरा कहा गया। इसमें इतने रहस्य हैं कि वे सुलझाए ही नहीं जा सके। दुनिया में कोई सबसे गूढ़ और जटिल पहेली बनेगी तो वह हमारा शरीर है। जो स्थूल शरीर है वह हमें दिखाई नहीं देता। एक शरीरशास्त्री भी उसके अन्तस्थल को नहीं जानता, उसमें छिपे रहस्यों को नहीं जानता। जो प्राण-शरीर है, उसको कोई डाक्टर नहीं जानता किन्तु कोई योगी उसके रहस्यों को पकड़ने में सक्षम बन जाता है। उस प्राण-शरीर के भीतर कुछ और है, जिसे योगी भी नहीं जानता। हमारे सूक्ष्म शरीर और तैजस शरीर के रहस्य भी अनगिन हैं। उसके भीतर है सूक्ष्मतर शरीर—कर्म-शरीर। वह रहस्यों का पिटारा है। उसे समझना बहुत जटिल बात है। विशिष्ट अतीन्द्रियज्ञानी भी उसे पूरा समझ नहीं पाता। उससे भी गहरे में जाएं तो चैतन्य और आत्मा का स्तर आता है। वहां तक पहुंचना कितना मुश्किल है?

प्रश्न होता है—आत्मा कहां है? वह कोई आकाश में लटक रहा है या आकाश से टपक रहा है? क्या हमने कभी सोचा है इस विषय में? हम आत्मा की बहुत चर्चा करते हैं पर वह है कहां? हिन्दुस्तान में है या अमेरिका में? भारतवर्ष में है या जंबूद्वीप में? वह आत्मा कहीं बाहर नहीं है, इस शरीर में ही है। इसके भीतर आत्मा भी है, परमात्मा भी है। जब आत्मा शरीर के भीतर है तब हम आत्मा को क्या मानें? वह पवित्र पावन मंदिर ही होगा, जहां आत्मा निवास करती है, चैतन्य निवास करता है। यह शरीर को देखने का एक कोण है। वस्तु को देखने के अनेक कोण होते हैं, एक घटना की व्याख्या के अनेक कोण होते हैं। जितने लोग, जितनी दृष्टियां, उतने ही कोण हो जाते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो आदमी को ठीक समझ लिया जाता। एक घटना के संदर्भ में एक आदमी स्नेह की दृष्टि से देखता है, दूसरा घृणा की दृष्टि से देखता है, तीसरा यथार्थ की दृष्टि से देखता है। यदि पचास आदमी हैं तो पचास कोण बन जाएंगे। यदि व्यक्ति यह चाहे—दूसरा व्यक्ति मुझे अच्छा माने तो उसकी यह चाह कभी पूरी नहीं होगी। जिस व्यक्ति ने अपने लिए दूसरों को तराजू या मानदण्ड लिया गया, वह सुख एवं शांति का जीवन नहीं जी पाएगा। दृष्टिकोण की विभिन्नता का परिणाम है—बहुत गलत आदमी को अच्छा समझ लिया जाता है और बहुत अच्छे आदमी को गलत समझ लिया जाता है। अपना-अपना चिन्तन होता है। हम किसे महत्त्व दें।

इन्द्रिय चेतना के स्तर पर

शरीर के बारे में भी न जाने कितने दृष्टिकोण हैं। जो दृष्टिकोण बनता है, उसके पीछे कोई-न-कोई कारण होता है। अपने-अपने कोण से शरीर को देखा गया। हमारी चेतना का एक स्तर है—इन्द्रिय चेतना। इन्द्रियों के स्तर पर जब शरीर को देखा गया तब ऐसा लगा—शरीर बहुत काम का नहीं है। यह बहुत सताता है, कष्ट देता है। इसमें राग होता है और मनुष्य फंस जाता है। यह अध्यात्म की दृष्टि से उपजा चिन्तन है। लौकिक दृष्टि से देखने वाले लोगों ने सोचा— इन्द्रियों की पूर्ति का साधन है भोग और भोग का साधन है शरीर। इसलिए शरीर का खूब पालन-पोषण करना चाहिए, उसे आराम और विश्राम देना चाहिए। उनके लिए शरीर इच्छाओं/कामनाओं की पूर्ति का केन्द्र बन गया। जिसमें त्याग और वैराग्य का भाव जागा, उसने सोचा—शरीर और इन्द्रियां मनुष्य को भटकाती हैं। इनके प्रति विरक्ति का भाव जगाना चाहिए। लौकिक व्यक्ति ने शरीर के प्रति रति पैदा करने का प्रयत्न किया और आध्यात्मिक व्यक्तियों ने उसके प्रति अरति पैदा करने का प्रयत्न किया।

बौद्ध धर्म में शरीर के संदर्भ में बड़े-बड़े प्रयोग किए गए। कहा गया—साधक को श्मशान में ले जाओ, मुर्दा दिखाओ और शरीर के प्रति घृणा पैदा करो। यह देखो—शरीर के भीतर क्या है? वह हाड़-मांस और रक्त का पुतला है, अशुचि का पुतला है। शरीर के प्रति अरुचि पैदा करने के लिए बहुत ग्रन्थ लिखे गए, मार्मिक पद्य और गीतिकाएं लिखी गईं। शरीर को बहुत कोसा गया। उसके प्रति विरक्ति पैदा करने का यह दृष्टिकोण गलत नहीं है।

उत्तराध्ययन का दृष्टिकोण

जैन आगम उत्तराध्ययन में शरीर के प्रति एक दूसरा दृष्टिकोण मिलता है, वह बहुत महत्त्व का है। उपनिषद् में कहा गया—शरीर एक रथ है, आत्मा सारथी है। उत्तराध्ययन में कहा गया—शरीर एक नौका है और आत्मा नाविक है। केशी कुमारश्रमण ने गणधर गौतम से पूछा—‘महाप्रवाह वाले समुद्र में नौका तीव्र गति से चली जा रही है। गौतम! तुम उसमें आरूढ़ हो। उस पार कैसे पहुंच पाओगे? समुद्र इतना विशाल है और नौका छोटी है। वह पार कैसे ले जाएगी?’

अण्णवंसि महोहंसि, नावा विप्परिधावई।

जंसि गोयममारूढो, कंहं पारं गमिस्ससि?

गौतम ने कहा—‘जो छेद वाली नौका है, वह उस पार नहीं जा सकती। मेरी नौका छोटी है, पर उसमें छेद नहीं है। नौका में छेद होता है तो चिन्ता होती है और वह निश्छिद्र होती है तो चिन्ता की कोई बात नहीं होती। समुद्र विशाल है, यह मेरे लिए समस्या नहीं है। नौका छोटी है, यह चिन्ता का कारण नहीं है। निश्छिद्र नौका निश्चित ही उस पार पहुंचा देती है’—

जा उ अस्साविणी नावा, न सा पारस्सगामिणी।

जा उ निस्साविणी नावा सा उ पारस्सगामिणी।।

एक विधवा महिला सदा प्रसन्न रहती। उसका पति मर गया और लड़का भी नहीं था। आर्थिक स्थिति भी अच्छी नहीं थी किन्तु उसकी प्रसन्नता सदा वृद्धिगत बनी रही। पड़ोसियों ने पूछा—‘तुम इतनी कठिनाइयों के बीच इतनी प्रसन्न कैसे रह लेती हो? क्या तुम्हें कभी कष्ट नहीं होता? हमने तुम्हें कभी उदास नहीं देखा। तुम्हारी प्रसन्नता का रहस्य क्या है?’ उस महिला ने बहुत मार्मिक उत्तर दिया। उसने कहा—‘मैंने सचाई को समझ लिया—समुद्र में जहाज चलता है। उस जहाज को समुद्र कभी नहीं डुबो सकता। जहाज डूबते हैं किन्तु समुद्र उसे नहीं डुबोता, किन्तु वह पानी डुबोता है, जो उसके भीतर घुस जाता है।’

यह कितनी मर्म की बात है। जहाज को समुद्र नहीं डुबोता किन्तु उसके भीतर घुसने वाला पानी डुबोता है। समुद्र में अथाह पानी भरा है पर वह किसी के डूबने का कारण नहीं है। डूबने का कारण है जहाज के छिद्रों में से प्रविष्ट होने वाला पानी।

महिला ने कहा—‘मैंने उन छिद्रों को बन्द कर दिया, जिनसे पानी भीतर आता है। मैंने अपने जहाज के सारे छिद्र रोक दिए। अब समुद्र के बीच चल रहा है मेरा जहाज, दुःखों के बीच चल रहा है मेरा जीवन पर ये मुझे कभी नहीं सताते। ये मेरे जहाज के भीतर नहीं आ सकते।’

विधवा महिला ने बहुत गहरी बात प्रस्तुत कर दी। इसे समझने में कठिनाई हो सकती है पर वह यह सत्य और मार्मिक है। जहाज के आस-पास अथाह पानी लहरा रहा है पर उसे डुबोता नहीं है। डुबोता वही है, जो उसके भीतर घुस जाता है। यह अध्यात्म का गहरा तत्त्व है। मनुष्य को बाहर का कोई नहीं डुबोता। डुबोता वही है, जो उसके भीतर जाता है। महावीर ने इस सत्य को उद्घोषित किया—‘तुम इन छिद्रों को बन्द करो। ये छिद्र (आस्रव) ही डुबोने वाले हैं। यदि आश्रव नहीं हैं, छिद्र नहीं हैं तो दुनिया का कोई ताकत तुम्हें नहीं डुबो सकती।’

वैज्ञानिक एनोरबिन का मत

व्यक्ति दुःख स्वयं भोगता है। वह बाहर से नहीं आता। अध्यात्म द्वारा प्रस्तुत यह सचाई विज्ञान द्वारा समर्थित सचाई बन रही है। रूस के प्रसिद्ध वैज्ञानिक एनोरबिन ने अनेक प्रयोग किए। उन्होंने उन प्रयोगों से सिद्ध किया—सुख-दुःख पैदा करने वाले रसायन हमारे मस्तिष्क में ही पैदा होते हैं और वे मस्तिष्क से ही स्रवित होते हैं। वे हमारे रक्त में मिलकर हमें सुखी या दुःखी बनाते हैं। प्रश्न आया—उनका स्राव कैसे होता है? एनोरबिन ने प्रमाणित किया—उनका स्राव हमारे ही अच्छे-बुरे विचारों एवं भावों के द्वारा होता है। यह धर्म की बात नहीं है, विज्ञान की बात है, किन्तु विज्ञान वही बात कह रहा है, जो हजारों वर्ष पहले धर्म ने कही। इस स्थिति में धर्म और विज्ञान अलग कहां हैं?

हम महावीर की वाणी को पढ़ें। प्रश्न आया—सात वेदनीय का बंध कब होता है? कहा गया—प्राणी, भूत, जीव और सत्व के प्रति तुम्हारे मन में करुणा

का भाव है, अनुकम्पा का भाव है, उनके प्रति संवेदनशीलता है, मैत्री का भाव है तो सात वेदनीय का बंध होगा। जब यह सात वेदनीय कर्म विपाक में आएगा, सुख देगा। तुम अच्छे विचार करो, अच्छा सोचो, अच्छा स्राव होगा और वह तुम्हें सुख देगा। जैन साहित्य में एक अनूठी बात आती है। दो क्रियाएं मानी गई—ईर्यापथिकी और सांपरायिकी। ईर्यापथिकी क्रिया वीतराग में होती है। वीतराग वह अवस्था है, जहां बुरा विचार आता ही नहीं है, बुरा भाव पैदा ही नहीं होता। न राग, न द्वेष, केवल पवित्र मनोभाव, आत्मा की अनुभूति। कहा गया—ईर्यापथिकी क्रिया में जो पुद्गल आते हैं, भीतर में जो रसायन बनते हैं, वे इतना सुख देते हैं, जिसकी कल्पना नहीं की जा सकती। जैन साहित्य में सर्वाधिक सुख सर्वार्थसिद्ध के देवताओं का माना जाता है किन्तु ईर्यापथिकी क्रिया वाला मुनि सर्वार्थसिद्ध के देवताओं से भी ज्यादा सुख का अनुभव करता है। प्रश्न होता है—वह सुख आया कहां से? कौन है सुख देने वाला? वह सुख कहीं बाहर से नहीं आया, किन्तु अपने भीतर से ही उपजा है। अपनी आत्मा की पवित्रता से उसने ऐसे रसायनों को निर्माण किया, जिससे सुख का स्रोत फूट पड़ा।

भीतर से उपजता है सुख

श्री मज्जयाचार्य का एक अध्यात्म अनुप्राणित पद्य है—*जेहवो सुख नहीं सुर इन्द्रा ने, नहि चक्री वर राया*। एक वर्ष के दीक्षित मुनि को इतना सुख मिल जाता है जितना किसी चक्रवर्ती या देवता को भी नहीं मिलता। यह सुख कहीं बाहर से आता नहीं है, अपने भीतर से उपजता है। यह कोरी कल्पना नहीं है, वैज्ञानिक सचाई है। यदि हमारा मन शान्त है, भावनाएं पवित्र हैं, विचार विधायक हैं तो सुख का स्रोत फूट जाएगा। किसी के प्रति बुरा विचार, बुरा चिन्तन और बुरी भावना नहीं है तो दुःख कहां से आएगा? आत्मलीनता की अवस्था में जो सुख मिलता है, वीतराग को जो सुख मिलता है, वह अनाबाध होता है। वीतरागता का मतलब है पवित्र भावना का सुख, पवित्र विचारों का सुख। वह हमारे भीतर है पर हम उसे जान नहीं पा रहे हैं। कस्तूरी की गंध भीतर से आ रही है और बेचारा हिरण उसकी खोज में चारों ओर चक्कर लगाता रहता है। चक्कर लगाते लगाते उसके घुटने टिक जाते हैं, कभी-कभी वह मर भी जाता है पर उसे वह सुगन्ध का स्रोत उपलब्ध नहीं हो पाता। जो भीतर है, वह बाहर चक्कर लगाने से मिल भी कैसे सकता है?

नौका, नाविक और समुद्र

हमारी भी यह दशा हो रही है। हमारे शरीर के भीतर कितना सुख है, इसे हम नहीं जान पा रहे हैं। जब तक शरीर की नौका निश्छिद्र नहीं बनेगी, सुख का स्रोत फूटेगा नहीं। हम इस सचाई को जानें—छेद वाली नौका कभी पार नहीं पहुंचा पाएगी। हम इस शरीर रूपी नौका को छेद रहित बनाएं। केशी कुमारश्रमण ने यही प्रश्न गीतम से पूछा—‘गीतम! नौका किसे कहा गया है, उससे कैसे संसार समुद्र को तरा जा सकता है?’ गीतम बोले—‘शरीर को नौका,

जीव को नाविक और संसार को समुद्र कहा गया है। महान मोक्ष की एषणा करने वाले जीव इस नौका से संसार-समुद्र को तर जाते हैं—

शरीरमाहु नावत्ति, जीवो बुच्चइ नाविओ ।

ससारो अण्णवो वुत्तो, जं तरति महेसिणो ॥

शरीर का कितना महत्त्व है। हम उसे अशुचि, मल-मूत्र का भंडार मानकर रुक न जाएं, हाड़-मोस का पुतला मानकर भटक न जाएं। यह एक कोण है, किन्तु उसे दूसरे कोण से भी देखें। इसी शरीर में शिव की उपलब्धि का सामर्थ्य विद्यमान है। उपाध्याय विनयविजयजी का यह श्लोक कितना मार्मिक है—

केवलमलयमपुद्गलनिचये, अशुचीकृतशुचिभोजनसिचये ।

वपुषि विचिन्तय परमिह सारं, शिवसाधनसामर्थ्यमुदारम् ॥

यदि हमें समुद्र के पार जाना है तो नौका का सहारा लेना होगा। हम इस शरीर रूपी नौका का संसार सागर को तरने के लिए उपयोग करें। इसका कितना महत्त्व है, इसे समझें। प्रेक्षाध्यान के संदर्भ में शरीर को समझने का नया दृष्टिकोण विकसित हुआ है। प्रश्न है—हम शरीर का लाभ कैसे उठाएं? उसका दुरुपयोग होता है पर सदुपयोग कैसे करें? पांच इन्द्रियां हैं। उनका दुरुपयोग है तो सदुपयोग भी है। जिस आंख के द्वारा हम विकार की स्थिति में जा सकते हैं, उस आंख के द्वारा हम निर्विकार चेतना की स्थिति में भी जा सकते हैं। एक प्रयोग बतलाया गया अलक्ष्य योग का। भीतर में यह लक्ष्य बनाया जाए कि मुझे कुछ नहीं देखना है। इस स्थिति में आंख खुली है, आप सबको देख रहे हैं, फिर भी कुछ दिखाई नहीं देगा। यह अलक्ष्य योग का प्रयोग है—सब कुछ आंख में आ रहा है, पर दिखाई कुछ भी नहीं दे रहा है। अनिमेषप्रेक्षा का प्रयोग भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। खुली आंख से ध्यान करें। लक्ष्य को भीतर से जोड़ लें और बाहर खुला रहे, देखने वाला देखे, पर कुछ भी पता नहीं चलेगा। ये कान कितना भटकाते हैं। मनुष्य रेडियो और टी.वी. के गाने सुनने का कितना अभ्यस्त है। हम कान को अन्तर्नाद में लगा दें, भीतर की आवाज सुनने लग जाएं, बाहर का कोई भी शब्द सुनाई नहीं देगा।

अन्तर से जुड़ें

बहुत सारे लोग पूछते हैं—‘आप इतने लोगों से घिरे रहते हैं। निरन्तर कोई न कोई आता रहता है। आप काम कैसे कर पाते हैं? हजारों आदमियों के बीच गंभीर से गंभीर विषय पर लिखा जा रहा है। यह कैसे संभव होता है, क्या चिन्तन का क्रम टूटता नहीं है?’ मैंने कहा—‘चिन्तन तब टूटता है जब उसे जोड़ा जाए। कोई जोड़े तो टूटने का प्रसंग आए। जो सहज अन्तर से जुड़ गया, उसके लिए बाह्य परिवेश कभी व्यवधान नहीं बनता।’

ये इन्द्रियां, यह शरीर—भटकाते भी हैं और तारते भी हैं। वे ही इन्द्रियां पार पहुंचाने वाली हैं और वे ही इन्द्रियां डुबोने वाली हैं। तारने वाला और डुबोने वाला अलग नहीं है। प्रश्न यह है—हम किस स्विच को ऑफ करें और कितने ऑन करें। इतनी-सी बात समझ में आ जाए तो नियंत्रण का सूत्र हाथ लग जाए। वैज्ञानिकों ने चूहों पर प्रयोग किए, उन्हें प्रशिक्षित किया, उनके रसायन

निकाले। उन रसायनों को अनाड़ी चूहों में प्रविष्ट किया। वे अनाड़ी चूहे प्रशिक्षित जैसा व्यवहार करने लग गए। वैज्ञानिकों ने कहा—मस्तिष्क को नियंत्रण करने वाला सूत्र हाथ लग गया। मनुष्य का मस्तिष्क इतना जटिल है कि उसका सूत्र कब हाथ लगेगा, कहा नहीं जा सकता। धर्म और अध्यात्म के लोगों ने उन सूत्रों को खोजा, जिनसे मस्तिष्क का नियंत्रण किया जा सकता है। इस संदर्भ में शरीर के एक अवयव की चर्चा बहुत महत्त्वपूर्ण है। उपस्थ—जननेन्द्रिय को काम-विकार का साधन माना जाता है किन्तु यही साधना का बहुत बड़ा सूत्र भी है। आज के शरीरशास्त्री मानते हैं—आदिम मस्तिष्क, जिसमें पाशविक वृत्तियाँ संचित हैं, उसका संचालन उपस्थ या स्वास्थ्य केन्द्र के द्वारा होता है। इन दोनों का अन्तःसंबंध है। यदि उस पर प्रयोग किया जाए, नीले रंग का ध्यान किया जाए तो वह विकास का स्रोत बन सकता है। हमारी धारणा उसके प्रति दूसरे प्रकार की है। यदि वह बदल जाए तो चेतना के बहुत सारे स्रोत खुल जाएं।

इक्कीसवीं शताब्दी में

शरीर के रहस्यों को सुलझाना बड़ा मुश्किल है। शरीर के एक प्रकरण को पढ़ना भी आसान नहीं है। हरिभद्रसूरि ने चौदह सौ चम्मालीस प्रकरण लिखे, जयाचार्य ने तीन लाख पद्य लिखे, हेमचन्द्र ने विशाल साहित्य रचा, पर वह उतना है, जितना शरीर के एक अंगूठे के बारे में कहा जाए। हर कोशिका का अपना विजलीघर है, अपना मस्तिष्क है। हर कोशिका अपना रसायन पैदा करती है। इन संदर्भों में शरीर को देखने का एक नया दृष्टिकोण विकसित करना होगा, धर्म को नया रूप देना होगा। आज धर्म को नए संदर्भ में व्याख्यायित किया जा रहा है। यदि पुरानी बातें पुराने संदर्भों में बताई जाती तो आज का युवा सोचता—सतरहवीं शताब्दी की बातें बताई जा रही हैं। धर्म के आधुनिकीकरण से हमने कुछ खोया नहीं है किन्तु मूल ज्यादा अभिव्यक्त हुआ है। यह दृष्टिकोण विकसित नहीं होता तो शरीर को नौका समझना मुश्किल होता, उसे गंदगी और अशुचि का ढेर मानना ही पर्याप्त होता। बदली हुई परिस्थितियों में धर्म ने शरीर को नए संदर्भ दिए हैं, उससे वह सतरहवीं-अठारहवीं शताब्दी के लिए नहीं, इक्कीसवीं शताब्दी के लिए भी महान उपयोगी बना हुआ है। आज उस धर्म के साथ हम जी रहे हैं, जिसके साथ सुरभि है, नया उच्छ्वास है, नया जीवन और ताजगी है। 'शरीर एक नौका है' इसकी नए संदर्भ में प्रस्तुति उसका एक निदर्शन है।

प्रवचन माता

शिष्य के मन में प्रश्न उभरा और वह तत्काल गुरु की सन्निधि में पहुंच गया। गुरु को वंदना कर पूछा—‘भते! धर्म क्या है?’

सत्यं धर्मस्य किं नाम, जिज्ञासितमिदं मम।

गुरु बोले—‘अशुभ के साथ शुभ का जो संघर्ष चल रहा है, वह धर्म है।’

अशुभेन शुभस्याऽयं, संघर्षः धर्म उच्यते ॥

अशुभ और शुभ—ये दो तत्त्व हैं। भारतीय दर्शन में इनकी मीमांसा हुई है। पश्चिमी दर्शनों ने भी इसकी काफी मीमांसा की है कि अशुभ आया कहां से? किसने इसे पैदा किया? क्या यह ईश्वर की देन है? ईश्वर ने अशुभ को पैदा किया, यह बात समझ में नहीं आती। क्योंकि ईश्वर शुभ की ओर ले जाना चाहता है, फिर अशुभ को पैदा ही क्यों करेगा? यदि अशुभ पहले से था तो ईश्वर का क्या? यह बहुत लंबी दार्शनिक चर्चा है।

हमारे मानसिक और भावनात्मक स्तर पर भी शुभ और अशुभ—ये दोनों वृत्तियां सक्रिय हैं। शरीर, मन और वाणी के स्तर पर ये चल रही हैं। शुभ और अशुभ का संघर्ष निरंतर चल रहा है। हम अशुभ को अस्वीकार नहीं कर सकते। उसका अस्तित्व है, पर वह शाश्वत नहीं है। यदि अशुभ शाश्वत होता तो धर्म और दर्शन की आवश्यकता ही नहीं होती। यदि अशुभ शाश्वत होता तो दर्शन निराशावादी हो जाता। एक स्वीकार है कि अशुभ है और दूसरा स्वीकार है कि वह शाश्वत नहीं है। तीसरा स्वीकार है कि मनुष्य में अशुभ को निरस्त करने की क्षमता है इसीलिए अशुभ के साथ सतत संघर्ष चल रहा है। मनुष्य अशुभ को खत्म करना चाहता है। अशुभ के साथ निरंतर युद्ध—यही है धर्म की कहानी।

चार स्तर

हम चार स्तरों पर शुभ और अशुभ की मीमांसा करें। काया का अशुभ, वाणी का अशुभ, मन का अशुभ और भावना का अशुभ। शरीर का शुभ और अशुभ। शरीर का अशुभ है शरीर के साथ मूर्च्छा का होना, प्रमाद का होना। जहां-जहां शरीर का प्रमाद है वह अशुभ है और जहां-जहां शरीर का अप्रमाद है वह शुभ है। इसीलिए कहा गया है कि हाथ का संयम करो, पैर का संयम करो, इन्द्रियों का संयम करो। संयम की बात इसलिए कही कि हाथ के द्वारा भी अशुभ होता है। क्रोध आया, हाथ उठा, यह हाथ का अशुभ है। बाहुबली के पैर अहंकार के साथ खड़े थे। अशुभ घटित हो रहा था। अहंकार मिटा, पैर उठे,

शुभ हो गया। हाथ, पैर, सिर, इन्द्रियां, आंखें—इन सबके साथ अशुभ भी जुड़ हुआ है और शुभ भी। जब-जब ये प्रमाद से जुड़े, अशुभ बन गए और जब-जब ये सब अप्रमाद से जुड़े, शुभ बन गए।

इसी प्रकार वाणी का अशुभ भी है और शुभ भी। वाणी तो वाणी है। बोलना स्वरयंत्र का काम है। जब वाणी के साथ आवेश और आवेग जुड़ता है तब अशुभ ही होता है। कभी वाणी में अहंकार, कभी माया और कपट, कभी प्रवंचना और अप्रामाणिकता—ये सब वाणी को अशुभ बना डालते हैं। वाणी असत्य बन जाती है। प्रश्न होता है कि वाणी का सत्य क्या है? यह प्रश्न बहुत जटिल है। किस वाणी को सत्य मानें और किसे असत्य? बात यथार्थ कही जा रही है पर यदि उसके साथ लोभ जुड़ता है, क्रोध और माया जुड़ती है तो वह सत्य होने पर भी असत्य बन जाती है। जब कोई भी विकृति वाणी के साथ जुड़ती है तो वह असत्य बन जाती है। कोई भी विकार शुभ को अशुभ बना डालता है। वाणी को अशुभ बनाने वाले घटक तत्त्व हैं—भय, झूठ, हास्य, मजाक, वाचालता आदि। जो व्यक्ति वाचाल होता है, वह वाणी के असत्य का पोषक होता है। अधिक बोलना अशुभ को निमंत्रण देना है। आगमों में 'मितभाषण' पर बहुत बल दिया गया है। सर्वथा न बोलना व्यक्ति के लिए असंभव है। चौबीसी घंटे मौन करना संभव नहीं होता। इसीलिए कहा गया—वाणी का संयम करो। परिमित बोलो। मित बोलोगे तो काम की बात निकलेगी। अधिक बोलागे तो निकम्मी बातें करनी होंगी। इसीलिए कहा गया—'मौख्यं लाघवकरं'—वाचालता लघुता पैदा करती है, आदमी को तुच्छ बनाती है। ज्यादा बोलने वाला विवेक में नहीं रह पाता।

झरती है जबान

एक बूढ़ा आदमी यात्रा पर था। गर्मी का मौसम। लंबा मार्ग। वह थक गया। एक गांव में गया। एक बहिन घर के बाहर खड़ी थी। उसने पूछा—'बहिन! कुछ देर विश्राम करना चाहता हूँ। क्या कोई स्थान है?' बहिन ने पेड़ की ओर इशारा करते हुए कहा—'वहां सघन पेड़ है, बैठ जाओ।' वह बैठ गया। मौन था। बाड़े में एक भैंस बंधी थी। बहिन गोबर को साफ कर रही थी। वह तपाक से बोल पड़ा—'बहिन! तुम्हारे इस बाड़े का दरवाजा बहुत छोटा है, और यह भैंस बहुत मोटी है। यदि भैंस मर जाए तो बाहर कैसे निकालोगे?' बहिन बोली—'मूर्ख! ऐसी बात करता है? बूढ़ा हुआ है, बोलना ही नहीं जानता।' काफी बुरा-भला कहा। कुछ देर बाद वह पुनः बोला—'बहिन! तुम्हारा चूड़ा तो कीमती है पर जब तुम विधवा हो जाओगी तो खोलना पड़ेगा।' यह सुनते ही बहिन आवेश में आ गई और चूल्हें पर जो खीचड़ी पक रही थी, उसे उठाकर बूढ़े के सिर पर उड़ेल दी। सिर जल गया। वह भागा। लोगों ने पूछा—'अरे! क्या हुआ? क्या झर रहा है? बूढ़ा बोला—'जबान झर रही है।'

वाचालता वाणी का दोष है। वह वाणी को अशुभ बना देती है। जैसे वाणी का अशुभ है, वैसे ही मन का भी अशुभ है। ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं मिलेगा, जिसके मन में अशुभ का संकल्प न होता हो। व्यक्ति कभी सोचता है,

आत्महत्या कर लूँ। कभी सोचता है—उसको मार दूँ। कभी सोचता है, आग लग जाएगी तो क्या होगा? व्यक्ति अकारण ही ऐसे बुरे संकल्पों से आक्रान्त रहता है।

यह सारा भावों का प्रतिबिम्ब है। शरीर के अशुभ, वाणी और मन के अशुभ पर भावों की छाया पड़ रही है। हमारे भीतर अशुभ भाव विद्यमान हैं। वे भाव सबको प्रभावित कर रहे हैं।

धार्मिक कौन?

धर्म है अशुभ के साथ संघर्ष करना। धार्मिक वह है जिसमें कभी कोई अशुभ न आए। ऐसा धार्मिक आज खोजने पर भी नहीं मिलेगा। धार्मिक का लक्षण है—जिसने अशुभ के साथ संघर्ष करना प्रारंभ कर दिया है। वह उस पर विजय पाने के लिए उत्सुक है। वह केवल अध्यात्म में, शुभ में चला जाना चाहता है। अध्यात्म का अर्थ है—द्रव्य आत्मा। वहाँ क्वेल शुभ है, अशुभ है ही नहीं। ईश्वरवादी की भाषा में कहें तो ईश्वरीय सत्ता में चले जाना, इसका नाम है शुभ में चले जाना। कहना तो यह चाहिए कि वहाँ शुभ और अशुभ का कोई प्रत्यय ही नहीं है। दोनों समाप्त हो जाते हैं किन्तु जब तक जीवन है तब तक ये दोनों चलते हैं।

धार्मिक वह होता है, जो अशुभ से लड़ना जानता है, उसको परास्त कर आगे बढ़ना जानता है। अशुभ से निवर्तन और अशुभ से संघर्ष, यह है गुप्ति। मन, वचन और काया की गुप्ति। इसका अर्थ है—मन के साथ, वचन और काया के साथ सुरक्षा को जोड़ देना।

आगे बढ़ने का सबसे बड़ा सूत्र है—अपने सामर्थ्य का अनुभव करना। मैं अशुभ से लड़ सकता हूँ, उस पर विजय प्राप्त कर सकता हूँ, इस शक्ति का अहसास होना—यह है प्रवचन माला का सूत्र।

जीवन क्या है?

प्रश्न होता है कि बातें तो छोटी-छोटी बताई गई हैं कि संयम से चलो, संयम से बोलो, संयम से आहार करो, संयम से वस्तुओं का व्यवहार करो और संयम से उत्सर्ग करो। इतनी छोटी बातें और कह दिया कि सारा प्रवचन इसमें समा गया। विरोधाभास जैसा प्रतीत होता है।

अब इसे हम उलट कर देखें। जीवन और है क्या? क्या शरीर, मन और वाणी के अतिरिक्त है जीवन? सारा ज्ञान इस शरीरगत मस्तिष्क में समाया हुआ है। मस्तिष्क के आगे सूक्ष्म शरीर में और उससे भी आगे आत्मा में—सारा ज्ञान समाया हुआ है। समूचे ज्ञान की अभिव्यक्ति वाणी से होती है। सारे ज्ञान का संयोजन शरीर से होता है, मन से होता है। शरीर वाणी और मन—इनमें पूरा ज्ञान नहीं समायेगा तो कहां समायेगा? आकाश इतना बड़ा नहीं है कि पूरा ज्ञान समा जाए, शरीर के सामने आकाश छोटा है।

प्रश्न था सबसे बड़ा क्या? एक ने कहा—‘पृथ्वी।’ दूसरा बोला—‘नहीं, पृथ्वी से बड़ा समुद्र है, जिसमें पृथ्वी समाई हुई है।’ तीसरा बोला—‘सबसे बड़ा है आकाश।’ चौथा बोला—‘नहीं, आकाश से बड़ा है परमात्मा जो समूचे आकाश

में समाया हुआ है।' पांचवां बोला—'परमात्मा से बड़ा है भक्त, जिसके हृदय (मस्तिष्क) में भगवान् समाया हुआ है।'

सबसे बड़ा है हमारा मस्तिष्क। हमारे मस्तिष्क में, शरीर में सारा ज्ञान समाया हुआ है।

कायसिद्धि, वाक्सिद्धि और मन-सिद्धि—इन तीनों में सारी सिद्धियां आ जाती हैं। अणिमा आदि आठ सिद्धियां तथा अन्यान्य सिद्धियां भी इनमें समाहित हो जाती हैं।

आठ प्रवचन-माताएं

दूसरों शब्दों में कहें तो आठ प्रवचन माताओं को साध लेने का अर्थ है—सब कुछ साध लेना। यही जीवन का मूल है। यह भी कहा जा सकता है कि आठ प्रवचन-माताएं शरीर में समाहित हैं। एक शरीर को साध लो, सब कुछ सिद्ध हो जाएगा। शरीर को ऐसा साधो कि चलते समय यह लगे—कोई सिद्धपुरुष चल रहा है। बोलो तो ऐसे बोलो कि कोई सिद्धपुरुष बोल रहा है। सोचो तो ऐसे सोचो कि कोई सिद्धपुरुष सोच रहा है। ये तीनों सिद्धियों को लाने वाले हैं। मनुष्य सिद्धियों के लिए बाहर भटकता है। सिद्धियां हमारे शरीर के भीतर हैं। हमारा मन, हमारा संकल्प सबसे बड़ी सिद्धि है। हमारी काया और वाणी सबसे बड़ी सिद्धि है।

हम प्रवचन-माताओं को केवल रूढ़ अर्थ में न लें। उनमें जो रहस्य छिपा है, उसको खोजें। पतंजलि का अष्टांग योग, बौद्ध दर्शन का अष्टांग मार्ग, हठयोग की आठ सिद्धियां और जैन दर्शन की आठ प्रवचन-माताएं—ये साधना की दीपशिखाएं हैं। यदि हम उनका यथार्थ आकलन करें और उनके साथ तादात्म्य जोड़ें तो सिद्धि जैसा जीवन जीया जा सकता है। सिद्धि हमारे द्वार पर दस्तक देती हुई प्रतीत होगी।

ब्राह्मण वह होता है

भारतीय शब्दकोश में दस-बीस शब्द ऐसे हैं, जो बहुत प्रतिष्ठित हैं। उनमें एक शब्द है—ब्राह्मण। यह शब्द इतना प्रतिष्ठित हो गया कि धर्म की सभी परंपराओं ने इसे अपनाया। जैन, बौद्ध और वैदिक परंपरा—तीनों में इसका वर्णन प्राप्त है। उत्तराध्ययन जैन आगम है। उसमें 'तं वयं ब्रूम माहणं'—अनेक श्लोकों का यह चतुर्थ चरण है। धम्मपद में 'तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं' और महाभारत में 'तं देवा ब्राह्मणं विदुः' ऐसा उल्लेख है। जो शब्द ज्यादा प्रतिष्ठित होता है, उसको सभी अपना लेते हैं।

भारतीय समाज व्यवस्था में ब्राह्मण एक प्रतिष्ठित व्यक्ति रहा है। उसे प्रथम कोटि का नागरिक माना गया। उसे 'भूदेव' कहा गया। इसका अर्थ है—पृथ्वी का देवता। उसकी उत्पत्ति के विषय में कहा गया कि ब्राह्मण ब्रह्मा के मुंह से उत्पन्न हुआ है। शरीर में मुंह का अपना विशिष्ट स्थान है। इस आधार पर ब्राह्मण शब्द में एक विशेष अर्थ की संयोजना हो गई। जो ब्रह्म से संबंध रखता है, जो ब्रह्मविद्या से सम्बन्ध रखता है या विराट से संबंध रखता है, वह होता है ब्राह्मण। ब्रह्म शब्द 'बृहण्' धातु से बना है। इसका अर्थ है—बढ़ने वाला, विराट होने वाला। ब्रह्म में रमण करने वाला जो विराट है वह ब्राह्मण कहलाता है।

हम समाज-व्यवस्था की दृष्टि से विचार करें। वैदिक वर्ण-व्यवस्था में चार वर्णों की व्यवस्था थी। उसमें सबसे पहला स्थान ब्राह्मण का है। ब्राह्मण वह व्यक्ति है, जो विद्या-संपन्न है, आचार-संपन्न है। ब्राह्मण विद्या का बोध कराता है और आचार का मार्ग दर्शन करता है, सबको आचारवान बनने की प्रेरणा देता है। इस अर्थ में ब्राह्मण शब्द का उद्भव हुआ। समाज में अनेक समायोजनाओं की जरूरत होती हैं। जहां पराक्रम की आवश्यकता है वहां बुद्धि और विद्या की भी आवश्यकता है। सबसे अधिक जरूरत है बुद्धि और चरित्र की। विद्या, बुद्धि और आचरण—इनके लिए ब्राह्मण को प्रतिष्ठा दी गई। समाज का वह एक ऐसा स्रोत है कि जहां से ज्ञान स्रवित होता है, विद्या के स्रोत फूटते हैं, आचार की धाराएं प्रवाहित होती हैं। इनके आधार पर 'ब्राह्मण' शब्द प्रतिष्ठित हो गया।

सभी परंपराओं में ब्राह्मण शब्द की व्याख्या अपने-अपने ढंग से की गई। महाभारत धम्मपद और उत्तराध्ययन में ब्राह्मण की व्याख्या अपने-अपने ढंग से की गई है। इसमें कोई दो मत नहीं है कि ब्राह्मण भारतीय समाज में बहुत ससम्माननीय रहा है पर आज उसमें कुछ अन्तर आया है। हम प्रकृति के नियम को जानते हैं कि जो धारा गंगोत्री से चलती है वह प्रयाग पहुंचते-पहुंचते उतनी

निर्मल नहीं रह पाती। स्रोत जितना निर्मल होता है, विस्तार उतना निर्मल नहीं रह पाता।

उस समय कुछ ब्राह्मण निर्मल रहे होंगे। अब जब ब्राह्मण एक जाति बन गई, उसका विस्तार हो गया, तब उतनी निर्मलता की बात हम कैसे सोच सकते हैं? इस प्रकृति के नियम का हम अतिक्रमण न करें। इस सचाई को मानकर चलें।

ब्राह्मण : भयातीत

उत्तराध्ययन सूत्र में ब्राह्मण की व्याख्या में एक मार्मिक उल्लेख है कि ब्राह्मण जातरूप स्वर्ण की भांति होता है। स्वर्ण को आग में तपाकर साफ कर दिया जाता है। उसका मैल धुल जाता है, वह निर्मल हो जाता है। उसी प्रकार जिसके मन में राग, द्वेष और भय नहीं होता, वह ब्राह्मण होता है। राग-द्वेष मलिनता पैदा करते हैं। इनसे दूर होना निर्मल होना है। राग और द्वेष के साथ भय से अतीत होना, ब्राह्मण का लक्षण है। विराट वह होता है, ब्राह्मण वह होता है जो अभय है, भय से अतीत है। जहां भय है वहां सीमा है। भय का अर्थ ही है—स्वयं को सीमित कर लेना। जो सीमित है वह भय के घेरे में है। जो व्यापक है, विराट है वह भयातीत है। उपनिषद् में बहुत सुन्दर कहा गया—‘द्वितीयाद् वै भयम्।’ जहां दूसरा है वहां भय है। यदि दूसरा नहीं है तो कोई भय नहीं है। अकेला किससे डरेगा? क्यों डरेगा? वहां डरने का कोई कारण ही नहीं है। जहां दूसरा आया वहां डर प्रवेश कर गया।

जब कोरा ब्रह्म नहीं रहा तब भय पैदा हो गया। जब भय है तो ब्राह्मण कहां रहा?

संयुति : भय और परिग्रह की

विजयघोष और जयघोष—दोनों भाई-भाई थे। एक जैन मुनि बन गया और दूसरा यज्ञ का अनुष्ठान करने लगा। दोनों मिले, बातचीत हुई। दोनों के बीच संवाद चला। जयघोष बोला—‘ओ मुनि! तुम यहां भिक्षा लेने आए हो, पर क्या तुम नहीं जानते कि यह भिक्षा उसी को मिलेगी जो द्विजोत्तम है, श्रेष्ठ ब्राह्मण है, जो अपना और पर का उद्धार करने में समर्थ है। हम ब्राह्मण यज्ञ-याग के द्वारा स्वयं का और पर का उद्धार करते हैं। तुम क्या करते हो? तुम्हें भिक्षा नहीं मिलेगी।’ विजयघोष बोला—‘तुम अभी जानते ही नहीं कि कौन होता है उद्धार करने वाला। न तुम ब्राह्मण के स्वरूप को ही जानते हो। तुम भय से घिरे हुए हो।’ जहां परिग्रह है वहां भय है। परिग्रह और भय—ये दो शब्द हैं, पर इनका अर्थ एक ही है। कोशग्रन्थों में ये पर्यायवाची नहीं माने गए, पर इनको पर्यायवाची मानने में कोई बाधा नहीं है। जहां परिग्रह है वहां भय है और जहां भय है वहां परिग्रह है। यह व्याप्ति है। क्या कोई ऐसा व्यक्ति है जो परिग्रही तो है, पर भयातीत है? क्या ऐसा कोई है, जो परिग्रह से मुक्त है और भयातीत है? नहीं मिलेगा ऐसा व्यक्ति। जिस व्यक्ति के मन में न शरीर का परिग्रह है, न संस्कारों और विचारों का परिग्रह है और न पदार्थ का परिग्रह है, वह भयातीत होता है।

सबसे बड़ा परिग्रह है शरीर और यही सबसे बड़ा भयस्थान है। आदमी सोचता है, कहीं शरीर छूट न जाए? एक संन्यासी ने एक व्यक्ति से कहा—‘तुम सात दिनों के भीतर मर जाओगे!’ व्यक्ति ने सुना। सात दिन कैसे निकलते? वह तो उसी क्षण मरने लगा और सात दिन आते-आते मरणासन्न हो गया। मृत्यु का भय, शरीर के छूटने का भय सबसे बड़ा होता है।

दूसरा बड़ा भय है—अपने संस्कारों का, विचारों का। आदमी सोचता है, मेरे विचार छूट न जाएं। पिता ने पुत्र से कहा—‘चलो, आचार्यश्री के पास।’ पुत्र बोला—‘वहां तो नहीं जाऊंगा, क्योंकि वहां जाने पर मेरे विचार बदल जाएंगे, संस्कार बदल जाएंगे। जिन विचारों को मैंने वर्षों तक पाला-पोसा है, वे छूट जाएंगे। यह उचित नहीं है।’

भय से अतीत होना बहुत कठिन है। वास्तव में ब्राह्मण वह होता है, जो भय से मुक्त हो जाता है।

ब्राह्मण : पहले और आज

विन्टरनिट्ज ने भारतीय साहित्य के इतिहास में लिखा है—ब्राह्मण जाति बहुत उदार रही है और उसने अनेकविध सत्त्यों को अपनाया है। भगवान महावीर को कोई क्षत्रिय गणधर नहीं मिला। सभी गणधर ब्राह्मण थे।

आज कुछ अन्तर आ गया है। ब्राह्मण इतने उदार नहीं हैं। आज मात्र एक जाति रह गई है। आज वह ब्राह्मण नहीं रहा, जो ब्रह्म से जुड़ा हुआ हो, विराट से जुड़ा हुआ हो। जहां भी विस्तार होता है, वहां परिवर्तन आ ही जाता है। समस्याएं आती हैं, उनका समाधान होता है और स्रोत छूट जाता है। सभी की एक ही कहानी है। आज क्षत्रिय वह क्षत्रिय नहीं रहा, जो उत्पत्ति काल में था। उसका काम था प्रजा का रक्षण पर इतिहास साक्षी है कि क्षत्रियों ने प्रजा का कितना शोषण किया, कितना संताप दिया और कितनी क्रूरता बरती। उद्भवकालीन जो निर्मलता होती है, गुण-गरिमा होती है, वह विस्तारकाल में नहीं रह सकती। यह वैश्विक नियम है। इसका कोई अपवाद नहीं होता। प्रारम्भ में गुणवत्ता होती है। विस्तार होने पर, जाति बन जाने पर वह गुणवत्ता विलीन हो जाती है।

हम मूल पर विचार करें। ब्राह्मण की कल्पना बहुत बुद्धिमत्ता पूर्वक की गई कल्पना है। माना गया कि समाज में ब्राह्मण अवश्य ही होना चाहिए। वह समाज अच्छा समाज नहीं होता, जिसमें ब्राह्मण नहीं होता।

मुनि : ब्राह्मण

जैन परंपरा में ब्राह्मण को मुनि का स्थान प्राप्त हो गया। जो पांच महाव्रतों का पालन करता है वह मुनि होता है। उसे ब्राह्मण बता दिया। जो हिंसा नहीं करता, झूठ नहीं बोलता, चोरी नहीं करता, ब्रह्मचर्य का पालन करता है, अपरिग्रही होता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ—यह जैन आगम का कथन है। इस प्रकार मुनि को ब्राह्मण मान लिया और ब्राह्मण को मुनि मान लिया। ब्राह्मण त्याग और विद्या का प्रतीक माना गया। जिस समाज में त्याग और विद्या का प्रतीक नहीं होता, वह समाज भटक जाता है। प्रत्येक व्यक्ति या समाज को आगे बढ़ने

के लिए कोई आदर्श या प्रतीक चाहिए। यदि ध्यान करते समय भी कोई इष्ट, आदर्श या प्रतीक नहीं होता है तो ध्यान की विधि भी भटका देती है।

जैनों के सामने अपना इष्ट है—णमो अरहंताणं। यदि यह इष्ट नहीं है तो जैन भटक जाएगा। प्रत्येक धर्म-दर्शन के समक्ष अपना इष्ट होता है, आदर्श होता है।

मैं मानता हूँ कि ब्राह्मण एक आदर्श का नाम है। समाज के सामने एक ऐसा आदर्श चाहिए, जो त्याग और विद्या का, ज्ञान का प्रतीक हो। उसे समाज में प्रधानता और अग्रगामिता प्राप्त हो। जो भोगप्रधान और अविद्याप्रधान होगा, वह स्वयं भटकेगा और दूसरों को भी भटका देगा। वह आदर्श नहीं बन सकता। उसकी दिशा में समाज का प्रस्थान नहीं हो सकता। यदि प्रस्थान होगा तो वह भोग की अंधेरी गलियों में भटक जाएगा। उसका उद्धार संभव नहीं होगा। वह अज्ञान और विद्या की तमिस्र में ऐसा खो जाएगा कि रास्ता मिलना दुर्लभ हो जाएगा।

ब्राह्मण के रूप में जिस प्रकाश-स्तंभ और ज्योति-स्तंभ की स्थापना की गई, वह यथार्थ में अत्यंत बुद्धिमत्ता का कार्य था और इस बुद्धिमत्ता ने एक ऐसे व्यक्ति को प्रतिष्ठित किया, जिसकी समाज में निरंतर उपेक्षा रही। यदि ब्राह्मण जाति अपने इस गौरव के प्रति जागरूक बने तो इस प्रतिष्ठित शब्द की गरिमा पुनः स्थापित हो सकती है।

भोगी भटकता है

एक साधक बहुत वर्षों से साधना कर रहा था। एक दिन वह गुरु के पास जाकर बोला—‘गुरुदेव! लंबे समय से साधनारत हूँ, पर अभी तक मैं कहीं हुई, सुनी हुई, पढ़ी हुई बात ही दोहरा रहा हूँ। अनुभव अभी तक नहीं जागा है। वह कब जागेगा?’

गुरु बोले—‘देखो, केवल रूढिगत साधना करते रहने से अनुभव नहीं जागता। उसको जगाने की एक पूर्ण प्रक्रिया है। जब तक साधक इस प्रक्रिया से नहीं गुजरता, उस प्रक्रिया को पूरा नहीं जीता, तब तक अनुभव नहीं जागता।’

‘गुरुदेव ! वह प्रक्रिया क्या है?’

‘वत्स ! अनुभव तब जागता है जब ये तीन बातें क्रियान्वित होती हैं। पहली है—अकरण का संकल्प। भोग न भोगना एक बात है परंतु भोग न भोगने का संकल्प करना, अकरण का संकल्प करना दूसरी बात है। एक आदमी मिठाई नहीं खाता क्योंकि वह सुगर का मरीज है और डॉक्टर ने मिठाई खाने का वर्जन किया है। उसने मिठाई का भोग छोड़ दिया। यह व्यवहार की बात है। अध्यात्म उससे आगे है। व्यवहार शरीर से जुड़ी प्रक्रिया है। जब उसके साथ संकल्प की कड़ी जुड़ती है तब वह अध्यात्म बन जाती है। जब भोग के साथ आंतरिक संकल्प जुड़ जाता है कि मुझे यह नहीं करना है, तब वह व्यावहारिक न रहकर आध्यात्मिक प्रक्रिया बन जाती है।

भोग न भोगना—इसका भी अपना एक मूल्य है, पर वह छोटा। जब उसके साथ संकल्प जुड़ जाता है, अकरण की बात जुड़ जाती है, तब वह अत्यन्त मूल्यवान हो जाता है। यही अध्यात्म है।

बीमारी के लिए छोड़ना, एक बात है, पर आत्मशुद्धि के लिए ‘अकरण’ करना दूसरी बात है। यह उदात्तीकरण की प्रक्रिया है। संकल्प को जोड़ने से क्रिया का स्वरूप बदल जाएगा।

दो व्यक्ति हैं। एक धर्म को समझता है और दूसरा धर्म को नहीं समझता। दोनों आसन, प्राणायाम करते हैं, परंतु दोनों के लक्ष्य की भिन्नता है। धर्म को नहीं जानने वाला आसन-प्राणायाम शारीरिक स्वास्थ्य के लिए करता है और धर्म को जानने वाला कर्म-निर्जरा के लिए, संस्कारों के परिष्कार के लिए आसन-प्राणायाम करता है। क्रिया दोनों एक ही करते हैं, पर लक्ष्य की भिन्नता के कारण क्रिया की परिणति भिन्न-भिन्न हो जाती है।

आचार्य भिक्षु ने एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उन्होंने कहा—‘पुण्य के लिए कोई साधना मत करो। आत्मशुद्धि के लिए धर्म की

आराधना करो।' लौकिक उदाहरण देते हुए उन्होंने समझाया—'तूड़ी और पलाल पैदा करने के लिए कोई खेती नहीं करता। खेती की जाती है अनाज के लिए। साथ-साथ तूड़ी और पलाल तो होगा ही। यही व्यावहारिक और आध्यात्मिक सोच का अंतर है।'

जिसका दृष्टिकोण केवल व्यावहारिक होता है, वह स्थूल भोग को छोड़ देता है, पर उसके साथ-साथ संकल्प को नहीं जोड़ता। जब तक संकल्प को नहीं जोड़ा जाता तब तक जो परिणाम होना चाहिए वह नहीं होता। संकल्प उसी क्रिया को और अधिक तेजस्वी बना डालता है।

अनुभव को जगाने का पहला सूत्र है—न करने का संकल्प। इतने मात्र से काम नहीं बनता। संकल्प ग्रहण कर लिया, पर भाव कहीं दूसरी ओर जा रहा है। 'मिटाई नहीं खाऊंगा'—यह संकल्प ग्रहण कर लिया, परन्तु भीतर का भाव कहता है—रोज मत खाओ, पर कभी-कभी खाने में क्या हर्ज है। अच्छी चीज बार-बार नहीं मिलती। इससे मन ललचा जाता है। भाव के साथ मन भी बह जाता है। वह भी वैसा ही बन जाता है। अब भाव और संकल्प में संघर्ष होता है। भाव दूसरी दिशा में जाता है और मन दूसरी दिशा में। दोनों में टकराहट होती है। इस स्थिति में अनुभव नहीं जागेगा।

ठाकुर ने आलू का प्रत्याख्यान कर लिया। तीर्थयात्रा पर गया। एक स्थान पर जीमनवार था। वहां वह भोजन करने बैठा। वहां आलू की सब्जी बनी थी। परोसने वाले से कह—'आलू नहीं, केवल झोल आने दो।' उसने वैसा ही किया परन्तु चम्मच में एक आलू भी आ गया और उसने उसे ठाकुर की थाली में परोसा। ठाकुर उसे खाने लगा तब पास में बैठे एक भाई ने उसे प्रत्याख्यान की स्मृति दिलाई। ठाकुर बोला—'यह आलू नहीं, 'लुढकन' है। लुढकते-लुढकते आ गया। मैं क्या करूँ ?'

ठाकुर ने संकल्प लिया, पर मन का भाव नहीं बदला। संकल्प के साथ मन का भाव भी बदलना चाहिए, तब अनुभव को जगाने की बात प्राप्त होती है।

इन दो सूत्रों के साथ तीसरा सूत्र भी परम आवश्यक है। जब तक परम आत्मा के साथ तादात्म्य नहीं जुड़ता, तब तक अनुभव नहीं जागता। बहुत बड़ी बात है परमात्मा के साथ, अर्हम् और अर्हत् के साथ तादात्म्य होना। जब तक अर्हत् की दशा का अनुभव करने का अभ्यास नहीं होता तब तक अनुभव नहीं जगता।

आचारांग में कहा गया है—जो परम को देख लेता है, वह उससे एकात्म हो जाता है।

अनुभव जागरण के तीन सूत्र

अनुभव की जागृति के ये तीन साधन हैं—१. अकरण का संकल्प २. वैसा ही भाव और मन ३. परम आत्मा के साथ तादात्म्य।

अकरणस्य संकल्पः, भावो मनोऽपि तद्गतम् ।

परात्मना च तादात्म्यं, प्रस्फुटोऽनुभवस्तदा ॥

गुरु से शिष्य से पूछा—‘क्या तूने तीनों का अभ्यास किया है?’ शिष्य बोला—‘नहीं। मैंने केवल ‘अकरण’ का संकल्प मात्र लिया है। वर्षों से उसे निभा रहा हूँ, पर अनुभव शून्य हूँ।’

गुरु बोले—‘भाव शुद्धि के बिना कुछ नहीं हो सकता। यह नितांत आंतरिक पक्ष है। दूसरा व्यक्ति केवल बाह्य को पकड़ता है, पकड़ सकता है। अन्तर को वह जान नहीं सकता। व्यक्ति स्वयं ही उसे जान पाता है।’ भाव शुद्धि का प्रश्न नितांत वैयक्तिक है। कालसौकरिक बड़ा कसाई था। वह प्रतिदिन पांच सौ भैसों मारता था। उसे कुएं में डाल दिया गया। माना गया कि वहां भैस कैसे मारेगा? कए में भैस कहां? कालसौकरिक के ‘अकरण’ तो हो गया, पर मन में भाव हिंसा का ना चल रहा था। उसने मिट्टी के भैसे बनाना प्रारंभ किया और एक-एक कर पांच सौ भैसों को मार डाला। भावना से उसने अपना काम कर डाला। इसे कौन रोक सकता है? सत्ता, राज्य और दंड की शक्ति भी वहां नाकामयाब होती है। सत्ता, राज्य और दंड की शक्ति शरीर पर काबू कर सकती है, भावना पर नहीं। यही तो लौकिक और अलौकिक, व्यावहारिक और आध्यात्मिक की भेदरेखा है। शरीर को रोकना जा सके, यह है लौकिक या व्यावहारिक। जो भावों पर नियंत्रण कर सके, वह है अलौकिक या आध्यात्मिक। धर्म या अध्यात्म के सिवाय कोई शक्ति भावों को नहीं बदल सकती, रोक नहीं सकती। यदि यह बात हृदयंगम हो जाए तो व्यक्ति धर्म और अध्यात्म का सही मूल्य आंक सकता है।

आज धर्म का मूल्य भी बाहरी बना दिया गया है। सारा मूल्यांकन व्यावहारिक बातों से होने लगा है कि वह कितनी सामायिक करता है? क्या-क्या उपासनाएं करता है? कौन कौन से क्रियाकांड करता है? आदि-आदि। ये सारे धर्म तक पहुंचने के माध्यम हैं पर मूल है भावशुद्धि। यहीं से परिवर्तन प्रारंभ होता है।

तीसरा तत्त्व, जो अनुभव को जगाता है, वह है परमात्मा के साथ तादात्म्य जोड़ लेना। प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति का अपना इष्ट होता है, आदर्श होता है। उसके साथ तदात्म हो जाना, तन्मय हो जाना, यह अपेक्षित है।

‘अर्हम्’ का कोरा जप नहीं करना है। ‘णमो अरहंताणं’ बोलते समय अपने आपको अर्हत् के रूप में अनुभव करना है। यह है तदात्म होने की प्रक्रिया।

गुरु ने शिष्य से कहा—‘तुम ‘अकरण’ के साथ इन दोनों बातों—भावशुद्धि और इष्ट के साथ तादात्म्य को जोड़ दो। फिर देखो कि जो होना है, वह घटित होता है या नहीं?’ पूर्ण प्रक्रिया को जाने बिना, पूरी बात को समझे बिना कार्य होता नहीं है।

अधूरी बात

एक विद्यार्थी के पास दो पेंसिलें थीं—एक घरवाली और एक स्कूलवाली। वह दोनों पेंसिलें लाया था कक्षा में। एक गुम हो गई। वह कक्षा में उदास बैठा रहा। अध्यापक ने पूछा—‘अरे! उदास क्यों हो? क्या हो गया?’ विद्यार्थी ने

कहा—‘सर! घरवाली खो गई!’ कक्षा के सारे विद्यार्थी हंस पड़े। अध्यापक भी हंसने लगा। वह बेचारा हैरान था कि इसमें हंसने जैसा क्या था। उसने कहा—‘सर! मेरी तो घरवाली खो गई और आप सब हंस रहे हैं?’ अध्यापक बोला—‘अरे! अभी तो तुम कुंआरे हो, घरवाली कहां से आ टपकी?’ उसने कहा—‘मेरी घरवाली पेंसिल खो गई है!’ बात स्पष्ट हो गई।

अधूरी बात से उपहास का पात्र बनना ही होता है।

धार्मिक लोग भी प्रक्रिया को पूर्ण नहीं करते। अधूरी प्रक्रिया कहीं नहीं पहुंचाती।

जिन व्यक्तियों ने इन तीनों सूत्रों का अभ्यास किया है, उनका अनुभव जगा है और आज भी जाग सकता है।

भोग और त्याग—ये दो बातें हैं। भोग जितना लुभावना है, त्याग उतना लुभावना नहीं है। त्याग कहें या वैराग्य, एक ही बात है। भोग से त्याग या वैराग्य की ओर जाना इतना सरल नहीं है। इसमें वैचारिक द्वन्द्व भी है, दर्शन भी स्पष्ट नहीं है।

भोग : दो प्रक्रियाएं

साधना के क्षेत्र में दो प्रक्रियाएं हैं—राजयोग की प्रक्रिया और हठयोग की प्रक्रिया। दोनों भिन्न हैं। राजयोग का प्रारंभ होता है वैराग्य से। चाहे पतंजलि का अष्टांग योग हो, चाहे जैनों का संवरयोग या तपोयोग हो और चाहे बौद्धों का शीलयोग हो—सभी का आधार वैराग्य है। इन सबमें कहा गया है कि जब तक साधक यम, नियम और शील की आराधना नहीं करता, महाव्रत या व्रत की आराधना नहीं करता, त्याग की दिशा में जा नहीं सकता। हठयोग का पहला तत्त्व है आसन। वहां यम, नियम नहीं है, वैराग्य की बात नहीं है। इसमें यम, नियम को छोड़कर छह अंग माने गए हैं और राजयोग में आठ अंग। हठयोग के मार्ग में ही तंत्रयोग का विकास हुआ। यह मार्ग सर्वथा भिन्न हो गया। यह निश्चित है कि जिस साधना पद्धति के साथ वैराग्य की बात नहीं जुड़ती, वह पद्धति बहुत काम की नहीं होती। उसमें भोग की वृद्धि भी हो जाती है। वह मानसिक और भावनात्मक स्तर पर बहुत हानि पहुंचाती है। शारीरिक दृष्टि से भी हानि कर होती है।

योग का मार्ग अध्यात्म का मार्ग है, पवित्र मार्ग है। इसमें अलौकिकता की बात समाविष्ट थी पर इसमें भी लौकिक बातों का समावेश हो गया है। इसको नितान्त लौकिक बना दिया गया, शरीर पर अटका दिया गया। आज का ‘योगा’ सौन्दर्य और शारीरिक स्वास्थ्य तक सीमित हो गया। उसमें अध्यात्म की बात नहीं है। जब योग जैसी पवित्र वस्तु को इस भूमिका पर ला दिया गया तो फिर ‘योगा’ और ‘अयोगा’ में अन्तर ही क्या रहा?

आज सचमुच दृष्टिकोण को बदलने की जरूरत है। विजयघोष ने कहा—‘केवल पदार्थ को ही मत छोड़ो। भोग केवल पदार्थ ही नहीं है।’ यह तथ्य धार्मिक लोगों को भी समझना है कि केवल पदार्थ को काम में लेना ही भोग नहीं है। पदार्थ को काम में लेना भोग है तो उसके प्रति भावना को जोड़ना भी भोग

है और वैसा मन होना भी भोग है। अयोग का अर्थ केवल 'अकरण' ही नहीं है। पदार्थ छोड़ दिया, भोगा नहीं, पदार्थ से दूर रहा—इतना ही नहीं है।

एक भीत पर मिट्टी के दो गोले फेंके गए। एक गोला गीला था और एक सूखा। जो गीला था, वह भीत पर चिपक गया और जो सूखा था, वह जमीन पर गिर गया। गीलेपन से लेप होता है, सूखेपन से नहीं। क्रियाएं दोनों में समान हैं, पर परिणाम में अन्तर है। जब भावशुद्धि होती है, अनासक्त भाव विकसित होता है तब लेप नहीं होता, गीलापन मिट जाता है।

द्रष्टा : अद्रष्टा

साधु और गृहस्थ में अन्तर कहां आता है। खाना, पीना, सोना, चलना आदि सारी क्रियाएं दोनों की समान हैं। इन क्रियाओं के आधार पर एक को ऊंचा और एक को नीचा नहीं माना जा सकता। भाव के स्तर पर ऊंचाई का बोध होता है। साधु खाता है, पर खाने का भाव दूसरा होता है गृहस्थ से। जब भाव को नहीं जोड़ेंगे तो ऊंचाई की बात नहीं लगेगी। भाव जोड़ने पर लगेगा कि कहां साधु और कहां गृहस्थ? कहां बिन्दु और कहां सिन्धु?

द्रष्टा और अद्रष्टा की क्रियाओं में रात-दिन का अन्तर होता है। जब अद्रष्टा द्रष्टा बनता है तब उसका चलना, बोलना, पहनना, खाना आदि सारी क्रियाएं बदल जाती हैं। वह 'अण्णहा णं पासह' का मूर्त रूप बन जाता है। जिसने आत्मा को नहीं देखा, उसके दृष्टि की भ्रान्ति मिटेगी नहीं। साधु वह होता है, जिसने आत्मा को देखा है। उसकी दृष्टि की भ्रान्ति निवृत्त हो जाती है। यह भूमिका-भेद है। इसी में भाव-विशुद्धि घटित होती है। यही है अनुभव की भूमिका जब अनुभव जाग जाता है, तब उस व्यक्ति के लिए सारे शास्त्र कृतकृत्य हो जाते हैं। शास्त्र तब तक काम देते हैं। जब तक अनुभव नहीं जागता। अनुभव जागते ही व्यक्ति आप्तपुरुष बन जाता है। यह आगमपुरुष की भूमिका है, यह अयोग की भूमिका है, अभ्रमण की भूमिका है। इस भूमिका का साधक अनुभव से आप्लावित होता है और इस दिशा में निरन्तर आगे बढ़ता जाता है।

सामाचारी संतों की

हवा के दो रूप हैं—व्यक्तिगत और सामुदायिक। जब हवा व्यक्तिगत रूप में रहती है तब ठीक लगती है और जब सामुदायिक रूप ले लेती है तब बड़ी विचित्र बन जाती है। मुनि के जीवन के भी दो रूप हैं—व्यक्तिगत और सामुदायिक। कोरे व्यक्तिगत रूप से भी काम नहीं चलता और कोरे सामुदायिक रूप से भी काम नहीं चलता। उसका व्यक्तिगत रूप है कि वह अपने आराध्य से जुड़ा रहे। 'नमो अरहंताणं' यह उसका आराध्य है। वह अर्हत् से जुड़ा रहे। यदि यह होता है तो आगे का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। दूसरा रूप है सामुदायिक अर्थात् समुदाय के साथ जुड़ा रहना।

हमारी चर्या दो प्रकार की बन जाती है—व्यक्तिगत चर्या और समुदाय चर्या। व्यक्तिगत आचार और सामुदायगत आचार। व्यक्तिगत आचार स्वयं तक सीमित रहता है। मैं जानता हूँ कि मैं कैसा हूँ? किससे जुड़ा हुआ हूँ? कितना आध्यात्मिक हूँ? दूसरा कोई नहीं जान सकता। यह नितान्त आत्मगत बात है, पर यह जिसे उपलब्ध होता है, वह अपने आपको बहुत तृप्त और आनन्ददायक अनुभव करता है। यह है पदार्थ-विहीन तृप्ति और पदार्थ-निरपेक्ष आनन्द। इसका अनुभव वही व्यक्ति कर सकता है, जो भीतर में रहना जानता है।

दूसरा पक्ष है—सामुदायिक पक्ष अथवा व्यवहार पक्ष। व्यक्तिगत जीवन जीना एक कला है। सामुदायिक जीवन जीना उससे भी बड़ी कला है। मुनियों को सामुदायिक जीवन कैसे जीना है—इसके लिए एक सामाचारी बनाई गई। वह आज की नहीं, बहुत पुरानी है। इसके पारिभाषिक अर्थ अनेक किए गए हैं परंतु इसका सम्यक् अर्थ है—सामूहिक आचार। यह सामूहिक आचार-संहिता है। इसके सूत्र सामूहिक जीवन जीने के मंत्र-सूत्र हैं। अकेला रहना कठिन है, पर अति कठिन है समुदाय के साथ रहना। अनेक व्यक्ति अकेले रहते हैं, अपने आपमें रहते हैं, रह सकते हैं पर समुदाय के साथ रहना अत्यंत कठिन है। समुदाय में नाना रुचियां, नाना विचार, नाना इच्छाएं, नाना कल्पनाएं, नाना मनोभाव, नाना मनोदशाएं, नाना मूढ़ताएं होती हैं। इन सबके बीच सफल जीवन जीना जीवन की महान कसौटी है। सबके साथ सामंजस्य स्थापित कर शांति के साथ जीना, एक महान कला है।

सामुदायिक जीवन-संहिता

भगवान महावीर ने, बहुश्रुत आचार्यों ने, मुनि के लिए एक आचार-संहिता बनाई कि वह सामुदायिक जीवन कैसे जीए? उसका पहला सूत्र है—प्रवृत्ति का विवेक। मुनि को प्रवृत्ति करनी होती है। वह गमन-आगमन करता

है, चलता है, बैठता है, सोता है, खाता है। उसे ईर्यापथ करना होता है। यह वह कैसे संपन्न करे? समूह का प्रश्न है। एक मुनि बाहर जा रहा है। इतने में दूसरा मुनि उसे टोकते हुए कहेगा—कहां जा रहे हो? क्यों घूम रहे हो? इसलिए प्रवृत्ति का विवेक देते हुए बताया गया कि जब तुम बाहर जाओ तब 'आवस्सही' शब्द का उच्चारण करो। सामने वाला समझ जाएगा कि तुम बाहर किसी प्रयोजन विशेष से जा रहे हो, बिना मतलब नहीं। फिर न टोका-टोकी होगी और न तुम्हें मनस्ताप होगा। ऐसी स्थिति में तुम अनावश्यक घूमोगे ही नहीं। आवश्यकता का विवेक प्रवृत्ति के साथ जोड़ दिया।

जब प्रयोजन पूरा हो जाए, बाहर से स्थान पर लौटे तो 'निस्सही' का उच्चारण करे। इसका तात्पर्य है कि मैं किसी प्रयोजनवश बाहर गया था, अब उसे संपन्न कर लौट आया हूँ। यह आने की सूचना है, ताकि कोई यह न सोचे, अमुक मुनि तब बाहर गया था, अभी तक लौटा क्यों नहीं? अनेक भ्रान्तियां पैदा हो जाती हैं। यह शब्द इन भ्रान्तियों को निरस्त कर देता है। यह दूसरा नियम है सामाचारी का।

आपृच्छा : प्रतिपृच्छा

तीसरा नियम है—आपृच्छा—निर्देश। अन्यान्य सभी कार्यों के लिए मुनि गुरु का निर्देश प्राप्त करे। मुनि कर्म करे, पर ऐसा कर्म न करे, जो निकम्मा हो, अप्रयोजनीय हो। कर्म उतना ही जितना प्रयोजन हो। लोग कर्म या धर्म को अतिरिक्त मूल्य देते हैं। कर्म का मूल्य अवश्य है, पर उसे अतिरिक्त मूल्य देना भ्रान्ति है। कर्म साध्य नहीं है, वह साधन है किन्तु जब उसे साध्य मान लिया गया, तब भ्रान्ति पैदा हो गई। कर्म के साथ आदर्श का योग होना चाहिए। मुनि के लिए अनेक बार कायोत्सर्ग करने का विधान है। जो कर्म करता है और अकर्म करना नहीं जानता, उसे कर्म भटका देता है। हर कर्म के साथ अकर्म जुड़ा रहे। आगम बाणी है—कर्म से कर्म-जाल को नहीं तोड़ा जा सकता। अकर्म से कर्म को तोड़ा जा सकता है।

चौथा नियम है—प्रतिपृच्छा। एक कार्य के लिए निर्देश लिया, अब उसके अन्तर्गत अन्यन्व्य कार्य करने हों तो 'प्रतिपृच्छा'—पुनः निर्देश लें और अपना कार्य संपन्न करें।

सामुदायिक जीवन में जब ये नियम व्यवहृत होते हैं तब जीवन रसमय बन जाता है। अन्यथा गड़बड़ी हो जाती है। आपृच्छा और प्रतिपृच्छा के बिना जिसके मन में जो आया, वह करेगा।

एक मुनि रोगी है। उसको पूछने, परिचर्या करने दस मुनि आ खड़े होते हैं। जब दूसरा मुनि बीमार होता है तब बुलाने पर भी एक भी नहीं आता। यहां निर्देश की बात आती है। गुरु का निर्देश संपूर्ण व्यवस्थाएं देता है। उस निर्देश से अनावश्यक कुछ नहीं होता और आवश्यक सब सम्पन्न होता है।

पांचवीं सामाचारी है—छंदणा। इसका तात्पर्य है—समविभाग की चेतना का विकास। सामुदायिक जीवन का यह आधार-तत्त्व है आज समाज में यदि यह चेतना जाग जाए तो विषमता अपनी मौत मर जाए। एक बार जयप्रकाश बाबू ने

कहा—‘आचार्यजी! आपके संघ में सवा सोलह आना समाजवाद है। मैं चाहता हूँ कि वह नीचे उतरे, समाज में व्यवहृत हो, केवल साधु-समाज तक ही सीमित न रहे।’ समविभाग की चेतना का तात्पर्य है कि मुनि जो कुछ याचना कर लाए, उसका उपभोग अकेला न करे। अपने सभी साथियों के साथ करे। उसकी भाषा होगी—‘साहू होज्जामि तारिओ—आप सब मुनि मेरे द्वारा याचित या लाई हुई चीज में हिस्सा बंटाएं। मैं धन्य हो जाऊंगा, निहाल हो जाऊंगा। आप मेरे पर अनुग्रह करें। आप मेरी वस्तु को काम में लें।’ यह है सामुदायिक जीवन की विशेषता।

आदमी बड़ा विचित्र है। जहां उसे वैयक्तिक होना चाहिए, वहां वह समाजवादी बन जाता है और जहां समाजवादी होना चाहिए, वहां वह वैयक्तिक हो जाता है। कोई कहे—भाई! तुम प्रामाणिक बनो, धार्मिक बनो, ईमानदार बनो। बुराईया मत करो। दूसरों को मत ठगों।’ वह कहेगा, क्या कहा? सारा संसार कर रहा तो भला मैं अकेला कैसे बचू? मैं तो सबके साथ रहूंगा, अकेला नहीं।

दूसरा पक्ष है, जब वह विवाह में लाखों रुपये खर्च करता है, मकान आदि के अलंकरण में पैसे को पानी की तरह बहाता है, तब उसे कहा जाए—यह कैसा व्यवहार? इतनी फिजूलखर्ची क्यों?। वह कहता है—मैं पुण्यकर्म करके आया हूँ, सुख-संवेदना भोगता हूँ। दूसरे के पास नहीं है तो मैं क्या करूँ?

ऐसा मनोभाव तब तक टिक सकता है, जब तक व्यक्ति में समविभाग की चेतना नहीं जागती। जिसमें सम्यग्दर्शन का अवतरण हो गया, उसमें समविभाग की चेतना अवश्य जागेगी। समविभाग की चेतना का अर्थ है—करुणाई होना।

इच्छाकार

सामाचारी का छट्टा तत्त्व है—इच्छाकार। यह है स्वतंत्रता का मूल्य करने वाला तत्त्व। जैन परंपरा में स्वतंत्रता को बहुत मूल्य दिया गया। जहां क्षमता है वहां स्वतंत्रता का मूल्य होता है। जहां क्षमता नहीं होती, वहां स्वतंत्रता का विशेष मूल्य नहीं होता। संक्षेप में यह रहस्य है कि अकरणीय का वर्जन और करणीय में पूरी स्वतंत्रता। वर्जना केवल अकरणीय की है। करणीय की वर्जना नहीं, करने की स्वतंत्रता है। ‘इच्छाकार’ का अर्थ है—अपनी इच्छा हो, मर्जी हो तो यह कार्य करो। पूरी स्वतंत्रता है इस विधि में। यह स्वतंत्रता का सम्मान, मूल्य है। सामाचारी में इसको पूरा स्थान प्राप्त है। आगम के व्याख्याकारों ने लिखा—‘जहां आपवादिक स्थिति हो, वहां आज्ञा का प्रयोग किया जाए, अन्यथा सर्वत्र इच्छाकार—स्वतंत्रता का प्रयोग हो।’ यदि धर्म के क्षेत्र में स्वतंत्रता न हो तो अन्य क्षेत्रों में स्वतंत्रता संभव नहीं है।

लोकतंत्र आया पर स्वतंत्रता कहां मिली? जब तक समाज की व्यवस्था समतामूलक नहीं होती, तब तक स्वतंत्रता नहीं होती। स्वतंत्रता की आधारभूमि है समता। समता होती है तो स्वतंत्रता संभव होती है। तेरापंथ में इतने साधु-साध्वियाँ हैं। सबका काम चलता है। कहीं कोई अव्यवस्था नहीं होती। इसका मूल कारण है कि धर्म संघ में समतामूलक व्यवस्था का प्रचलन है। सभी

कार्य बारी-बारी से सबको करने होते हैं। सभी करते हैं। किसी के मन में कोई हीनभावना नहीं आती। यह समतामूलक व्यवस्था का ही प्रभाव है।

इसका फलितार्थ है कि जहां समतामूलक व्यवस्था है वहां पूरी स्वतंत्रता है। व्यक्ति का कर्तव्य स्वयं बोलता है। समतामूलक समाज में ही स्वतंत्रता का अनुभव हो सकता है। जहां विषमता है, वहां कैसी स्वतंत्रता?

मिच्छाकार : तथाकार

समाचारी का सातवां तत्त्व है—मिच्छाकार। स्वतंत्र व्यक्ति ही मिच्छाकार का प्रयोग कर सकता है। परतंत्र व्यक्ति कभी नहीं कर सकता। मिच्छाकार का अर्थ है—अपनी भूल का सहर्ष स्वीकार। जिस व्यक्ति में समता है, स्वतंत्रता की चेतना जागृत है, वह अपनी भूल का अनुभव तत्काल कर लेता है। वह सोचता है मुझे ऐसा नहीं करना चाहिए था। वह भूल को स्वीकार कर लेगा।

समाचारी का आठवां तत्त्व है—तथाकार। जब गुरु सूत्र पढ़ाएं, समाचारी आदि का उपदेश दें अथवा कोई बात कहें तो मुनि तथाकार का प्रयोग करे—‘आप जो कह रहे हैं, वह अविद्य है, सच है, वैसा ही है।’ यह स्वीकार अहं-विलय से उत्पन्न स्वीकार है। ‘विनयेन आयाति विद्या’ का सूचक है।

सामाचारी में ऐसे तत्त्व समाहित किए गए हैं, जिनसे व्यक्ति की चेतना उदात्त बने। ‘इच्छाकार’ और ‘मिच्छाकार’ ये दोनों तत्त्व व्यक्ति की उदारता के द्योतक हैं। जो व्यक्ति स्वतंत्र चेतना का धनी है, वही इन्हें स्वीकार करता है और यह भी कहा जा सकता है कि जो इनकी साधना करता है, वह उदात्त चेतना का धनी बन जाता है।

सामाचारी का नौवां तत्त्व है—अभ्युत्थान। यह शिष्टाचार का सूचक शब्द है। इसका तात्पर्य है—बड़ों का सम्मान करना, गुरु की पूजा करना। यह भी महान चेतना का कार्य है। व्यक्ति स्वयं सम्मान पाना चाहता है पर दूसरों को सम्मान देना नहीं चाहता। अहंकार इसमें बाधक बनता है। जब विनय की बात आती है, झुकने की बात आती है, तब अहंकार सामने आकर खड़ा हो जाता है। झुकना सरल नहीं होता, कठिन होता है। झुकने को आज गुलामी माना जाने लगा है। इस धारणा ने व्यक्ति में अकड़न पैदा की है। अन्यथा विनम्र होना, शिष्ट होना, बड़ों का सम्मान करना—ये सारे महानता के लक्षण हैं।

उपसंपदा

सामाचारी का दसवां या अंतिम तत्त्व है—उपसंपदा। इसका तात्पर्य है विशिष्ट उपलब्धि के लिए समर्पित हो जाना। एक गण को छोड़कर दूसरे गण में जाना उपसंपदा है। इस अभिक्रमण का हेतु है—ज्ञान, दर्शन और चरित्र की विशेष उपलब्धि। इन कारणों के सिवाय मुनि एक व्यवस्था को छोड़कर दूसरी व्यवस्था स्वीकार नहीं कर सकता। उपसंपदा ग्रहण करना, यह औत्सर्गिक विधि नहीं है, आपवादिक विधि है। जब मुनि यह सोचें कि वर्तमान में वह जिस गण की व्यवस्था में रह रहा है, वहां ज्ञान, दर्शन और चरित्र की विशेष उपलब्धि कराने वाले बहुश्रुत मुनि नहीं हैं तब वह गुरु की स्वीकृति लेता है और दूसरे गण में जाकर वहां के आचार्य के प्रति पूर्ण समर्पित हो जाता है।

मुनि ज्ञान की पुनरावृत्ति करने, त्रुटित ज्ञान को पूर्ण करने और नया ज्ञान प्राप्त करने के लिए ज्ञानार्थ उपसंपदा स्वीकार करता है। इसी प्रकार दर्शन के स्थिरीकरण और संधान के लिए तथा दर्शन विषयक शास्त्रों के ग्रहण के लिए दर्शनार्थ उपसंपदा स्वीकार की जाती है। वैयावृत्य और तपस्या की विशिष्ट साधना के लिए चारित्र्यार्थ उपसंपदा स्वीकार की जाती है।'

सामाचारी के ये दस अंग हैं। इनको व्यापक दृष्टिकोण से समझने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनमें जो प्रेरणाएं हैं, वे महानता की दिशा में ले जाने वाली हैं।

चर्या : प्राचीन और अर्वाचीन

सामाचारी के ये तत्त्व मुनि की दिनचर्या के अनिवार्य अंग हैं। दिनचर्या के मौलिक तत्त्व सदा एक-से रहे हैं, किन्तु व्यवस्थागत तत्त्व द्रव्य, क्षेत्र और काल के अनुसार बदलते रहे हैं। प्राचीन काल के मुनियों की जो दिनचर्या थी, वह आज से कुछ भिन्न थी। उसकी तुलना नहीं की जा सकती।

प्राचीन काल में मुनियों ने दिन रात के आठ प्रहरों में शरीर के लिए केवल दो प्रहर रखे, शेष छह प्रहर अध्यात्म के लिए, परम के लिए रखे थे। उनके छह प्रहर परमार्थ के लिए या ईश्वरार्पण के लिए थे। दिन का तीसरा प्रहर और रात्रि का तीसरा प्रहर शरीर के लिए। उस समय चार प्रहर ध्यान और दो प्रहर स्वाध्याय, एक प्रहर भिक्षाचर्या और एक प्रहर निद्रायोग—यह विभाजन था। यह थी दिनचर्या। यह सारा इसलिए किया जाता था कि श्रुत की परम्परा को अविच्छिन्न रखना था। वह ध्यान और स्वाध्याय के बिना संभव नहीं था। आज भी हमें यह सोचना है—जो ज्ञान की परंपरा हमें भगवान महावीर से लेकर आचार्य भिक्षु या आचार्य तुलसी तक प्राप्त हुई है, उसे कैसे सुरक्षित रखा जाए? उसकी अविच्छिन्नता कैसे रह सकती है? यह हमारा दायित्व है। पूर्वजों ने जो ज्ञानराशि दी, उसकी संभाल रखनी है। उन्होंने ज्ञान-दर्शन और चारित्र्य की संपदा से जैन परंपरा को समृद्ध किया, उसको अधिक समृद्ध करना हमारा दायित्व है। इसकी क्रियान्विति के लिए हमें वर्तमान की दिनचर्या में परिवर्तन करना होगा। एक अभीप्सा जगानी होगी।

अभीप्सा लिंकन की

राष्ट्रपति लिंकन गरीब घर के थे। उनके मन में कानून की पुस्तकें पढ़ने की ललक जागी। पुस्तकें कहां से मिलें? कौन दे? स्वयं के पास पैसा नहीं कि खरीद सके। उन्होंने सुना—अमुक गांव में एक रिटायर्ड जज है। उसके पास पुस्तकों का भंडार है। मन का संकल्प उभरा और उस गांव की दिशा में चल पड़ा। रास्ते में एक तूफानी नदी पड़ती थी। वर्षा का मौसम था। एक नाव ली और अकेला चल पड़ा। तूफान के कारण नाव ड़ांवा-डोल होने लगी और एक बर्फ की चट्टान से टकरा कर टूट गई। अब वह यों ही पानी में तैर कर नदी पार कर गया। न्यायाधीश के पास पहुंचा और अपनी जिज्ञासा बताई। संयोग ऐसा मिला—न्यायाधीश का जो नौकर था, वह चला गया था। न्यायाधीश को नौकर की प्रतीक्षा थी। उसने उसे अपने पास रख लिया। लिंकन पानी भरता,

लकड़ियां लाता, रसोई बनाता, बर्तन मांजता। जज खुश था। उसने कहा—‘अरे! तुम पारिश्रमिक क्या लोगे?’ लिंकन बोला—‘कुछ नहीं। केवल आप अपनी कानूनी पुस्तकें मुझे पढ़ने के लिए देते रहें।’

इस प्रकार उसने कानून का ज्ञान किया। वह महान् विधिवेत्ता बन गया।

गंभीर ज्ञान के लिए श्रम और गंभीर अध्ययन करना होता है। छिछले ज्ञान से परंपरा का निर्वाह नहीं हो सकता। गंभीर ज्ञान से ही ज्ञान की परंपरा अविच्छिन्न रह सकती है।

प्राचीन मुनि चार प्रहर ध्यान या स्वाध्याय करते थे। आज इतना तो हो कि प्रत्येक मुनि चार घंटे ध्यान-स्वाध्याय में बिताए। ध्यान और स्वाध्याय के अभाव में हमने श्रुतराशि को गंवाया है। हम अतीत से प्रेरणा लें। अतीत हमारे लिए प्रेरणा बन सकता है, पर कर्तव्य वर्तमान में प्राप्त होता है।

उत्तराध्ययन का ‘सामाचारी अध्ययन’ मुनि की दिनचर्या का दर्पण है। ऐसा ही आज एक दर्पण हो, जो योगक्षेम वर्ष की स्मृति को चिरजीवी बना दे। जैसे दो हजार वर्ष पूर्व लिखा गया उत्तराध्ययन का यह छब्बीसवां अध्ययन हमारे लिए प्रेरक है, वैसे ही योगक्षेम वर्ष में लिखा गया एक अध्ययन दो हजार वर्ष बाद तक प्रेरक बने और उस समय के साधु-साधियों को यह लगे कि दो हजार वर्ष पूर्व योगक्षेम वर्ष में विद्यमान मुनियों की दिनचर्या यह थी।

परम पौरुष एक आचार्य का

हमारे सामने दो स्वर उभर रहे हैं—‘मैं सबके साथ चलूंगा।’ और ‘एकला चलो रे।’ इतिहासकाल में अनेक घटनाएं ऐसी घटित हुईं कि इन दोनों स्वरों को एक आकार मिला। अकेला चलना बहुत कठिन कार्य है। इसमें परम पौरुष की आवश्यकता होती है। जिसमें पौरुष नहीं होता, वह अकेला चलने की बात भी नहीं सोच सकता।

‘एकला चलो रे’ में तीन बातें हैं—स्वतंत्रता की मनोवृत्ति, अपने पौरुष पर निर्भरता तथा अपने भुजबल पर विश्वास। आज भारतीय जीवन पद्धति में ‘एकला चलो रे’ में कम विश्वास है और सबके साथ चलने में अधिक विश्वास है। अपने पौरुष पर हमें कम विश्वास है और अपने पिता की संपदा पर अधिक विश्वास है।

पश्चिम के कुछेक देशों में ऐसी मनोवृत्ति है कि पुत्र पिता की संपत्ति लेना नहीं चाहता, उस संपत्ति पर भरोसा नहीं करता। वह अपने श्रम से अर्जित संपत्ति पर भरोसा करता है और उसी से जीवन चलाना चाहता है। भारतीय मनोवृत्ति में अन्तर है। पिता की संपत्ति का बंटवारा करते समय भाई-भाई कुछ कम-अधिक के लिए आकाश-पाताल एक कर देते हैं। उन्हें स्वयं के अर्जन पर भरोसा नहीं है, अपने हाथों पर भरोसा नहीं है। उन्हें पत्नी की संपत्ति पर कितना भरोसा है? थोड़ा सा दहेज कम आते ही पत्नी को जलाना, मार डालना, सामान्य बात-सी हो रही है। कहां है पौरुष पर विश्वास? जब मनुष्य में अपने पौरुष पर विश्वास नहीं रहता तब इस प्रकार की हीनता आ रही है। आज प्रति वर्ष दहेज की बलिवेदी पर सैकड़ों कन्याओं की हत्याएं हो रही हैं। इसका कारण है, व्यक्ति को अपने आप पर आस्था नहीं है, अपनी शक्तियों पर विश्वास नहीं है। ‘एकला चलो रे’ की बात तो दूर, उसे अपने पौरुष पर भरोसा नहीं है। जहां मुफ्तखोरी आती है वहां पौरुष का देवता सो जाता है। जब पौरुष का देवता जागता है तब मुफ्तखोरी सो जाती है। दोनों साथ में नहीं रह सकते। अपने आप पर भरोसा होना, असाधारण बात है।

पौरुष के देवता आचार्य गर्ग

धार्मिक क्षेत्र में भी इस प्रकार की घटनाएं घटित हुई हैं। जब पौरुष का देवता जागता है तब ‘एकला चलो रे’ की बात सामने आती है। गर्गाचार्य योग के आचार्य थे। वे समाधि का संधान कर रहे थे, साधना कर रहे थे, योग का वहन कर रहे थे। जब उन्होंने देखा—उनके सभी शिष्य प्रमादी और अनुशासनहीन हो गए हैं, श्रम से जी चुराने लगे हैं तब उनका चिन्तन मुड़ा। जब प्रमाद और

अनुशासनहीनता के कीटाणु प्रसार पाते हैं। तब अन्यान्य बीमारियां भी सहज आने लगती हैं। एक प्रमाद ही सभी रोगों को निमंत्रण दे देता है। जब उसके साथ अनुशासनहीनता आती है, तब फिर कुछ भी स्वस्थ नहीं रह पाता। गर्गाचार्य ने शिष्यों को परखा, उनकी कसौटी की। किसी शिष्य से कहा, 'जाओ अमुक घर से अमुक वस्तु मांगकर ले जाओ।' उसने तत्काल कहा—'गुरुदेव! आपका कहना ठीक है, परंतु उस घर की मालकिन घर में मिलती ही नहीं। सदा बाहर घूमती रहती है।' दूसरे शिष्य से कहा—'तुम जाओ।' वह बोला—'जाने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है, पर वह मुझे वह वस्तु नहीं देगी। आप और किसी को भेजें।' तीसरे ने कहा—'गुरुदेव! आपकी आज्ञा शिरोधार्य है पर एक कठिनाई है कि उस घर की मालकिन मुझे पहचानती नहीं है।' चौथे ने कहा—'आपकों मैं ही दीख रहा हूं, दूसरों को क्यों नहीं भेज देते?'

आचार्य ने सोचा, बहुत विचित्र बात है। इतना आलस्य! एक ओर परम पौरुष की साधना, परमार्थ की साधना, परमात्मा की साधना, जिसमें पौरुष की सतत लौ जलनी चाहिए, यहां तो दीप ही बुझा हुआ है, लौ की बात ही क्या?

सारे के सारे शिष्य अविनीत, प्रमादी और अनुशासनहीन हो गए। कभी-कभी ऐसा होता है कि सारे के सारे एक से हो जाते हैं।

सोलह हजार देवता सुबोध चक्रवर्ती के विमान को कंधों पर उठाकर ले जा रहे थे। समुद्र को पार करना था। एक देवता के मन में यह भाव उठा, सोलह हजार देवता विमान को उड़ाए हुए हैं, एक मैं यदि छोड़ देता हूं तो क्या अंतर आएगा? उसने विमान से कंधा हटा लिया। सभी देवताओं के मन में उस क्षण यही विचार आया और सभी ने अपना सहारा छोड़ दिया। विमान समुद्र में जा गिरा।

यह क्लेक्विटव माइंड का प्रभाव है। सबका मस्तिष्क एक साथ बदल जाता है। सबके मन में एक ही सोच रहता है।

गर्गाचार्य ने इस स्थिति में एक निर्णय किया। वह निर्णय विचित्र था। यदि उनमें पौरुष नहीं होता, तो वे 'एकला चलो रे' की बात नहीं सोचते। पौरुष के साथ विवेक और साहस का होना अनिवार्य है। विवेक है, विचार है पर यदि साहस नहीं है तो कदम उठेगा नहीं, विचार की क्रियान्विति नहीं होगी।

उन्होंने शिष्यों को एकत्रित कर कहा—'मैं योगवहन कर रहा हूं, समाधि की साधना में संलग्न हूं। तुम सभी उस योग्य नहीं हो। तुम्हारे में समाधि की पात्रता नहीं है। मैं तुमसे अलग होकर 'एकला चलो रे' की भावना को क्रियान्वित करता हूं।' गर्गाचार्य अकेले ही अपने स्थान से चल दिए।

यह इतिहास की विरल घटना है।

आचार्य मंगु

एक घटना है आचार्य मंगु की। वे उत्तर मथुरा में गए और वहां के उपासकों की भक्ति से रीझ गए। वहां की सुख-सुविधाओं ने उनके मन में स्थान के प्रति व्यामोह पैदा कर दिया। बहुत दिन बीते, महीने बीत गए, पर वे वहां से

विहार करने की बात ही सोचने के लिए तैयार नहीं हुए। शिष्यों ने देखा, उनका पौरुष जागा और वे आचार्य को अकेला छोड़ अन्यत्र चले गए।

पहली घटना में आचार्य के पौरुष से फलित हुआ 'एकला चलो रे' और दूसरी घटना में शिष्यों के पौरुष से घटित हुआ—'एकला चलो रे।'

जब हम आचार्य भिक्षु के जीवन को देखते हैं तब पौरुष और पराक्रम की बात सहसा सामने आ जाती है। प्रारंभ में तेरह मुनि अलग हुए। उनमें सात चले गए। यह सिलसिला चलता रहा। परंतु आचार्य भिक्षु के पराक्रम की लौ इतनी प्रबल थी कि वे 'एकला चलो' के पावन प्रतीक बन गए। जाने वाले जाए, वे अपने पथ से विचलित नहीं हुए। वे अपने सिद्धांत के आधार पर चले। जो सिद्धांत और दर्शन के आधार पर चलता है, उसका मार्ग भिन्न होता है और जो भीड़ के साथ चलने वाला होता है, उसका मार्ग भिन्न होता है।

एक है भीड़ का दर्शन और एक है आत्मा का दर्शन। दोनों भिन्न हैं। आज राजनीतिक दल भीड़-तंत्र बनकर रह गए हैं। उनका सिद्धान्त-तंत्र टूट गया है। वहां केवल अवसरवाद पनप गया है। उनके सामने केवल लक्ष्य है सत्ता का, कुर्सी का, चुनाव का। उसके पीछे कोई सिद्धान्त नहीं है। सिद्धान्तहीन राजनीति, सिद्धांतहीन तर्क या सत्ता देश और समाज को कहां ले जाएगी, कुछ नहीं कहा जा सकता। उसी प्रकार सिद्धांतहीन धर्म का मार्ग भी कहीं नहीं पहुंचाता। आचार्य भिक्षु के सामने एक लक्ष्य था, वह परोक्षतः इस दोहे से स्पष्ट हो जाता है—

कहो साधु किसका सगा, तड़के तोड़े नेह।

आचारी स्यूं हिलमिले, अपाचारी ने छेह।।

उनके सामने सिद्धांत था आचार का। इसी के आधार पर एक त्रिपदी बनी—एक आचार, एक विचार और एक आचार्य। जहां आचार की एकता, विचार की एकता और अनुशासन की एकता होती है वहां संगठन खड़ा हो जाता है। संगठन होना या संघ होना अपने आप में कोई साध्य नहीं है। यदि संगठन साध्य बनता है तो अनर्थ घटित होता है। वहां पर संघ को टिकाए रखने के लिए सब कुछ किया जाएगा। संगठन मात्र एक साधन है, सुविधा का साधन है, व्यवस्था का सूत्र है। मूल साध्य है—जीवन की पवित्रता, जीवन की समता, परम सत्ता का साक्षात्कार। उसकी प्राप्ति के अनेक साधन हैं। संगठन भी एक साधन है। आचार्य भिक्षु ने संगठन को कभी पहला स्थान नहीं दिया।

आचार्य भिक्षु

आचार्य भिक्षु 'एकला चलो रे' के जीवन्त उदाहरण थे। उन्होंने इस सिद्धांत को मूर्तिमान किया, एक आकार दिया। प्रारंभ में आचार्य भिक्षु के संगठन में तीन ही तीर्थ थे, साध्वियां नहीं थीं। एक बार तीन बहिनें दीक्षा के लिए प्रस्तुत हुईं। आचार्य भिक्षु ने कहा—मैं एक शर्त पर दीक्षा दे सकता हूं कि यदि एक बहिन का स्वर्गवास हो जाए तो श्रेष्ठ को संथारा (आमरण अनशन) स्वीकार करना पड़ेगा। ऐसी शर्त वही व्यक्ति रख सकता है, जो परम पौरुष का प्रतीक हो, जिसका पौरुष में परम विश्वास हो।

प्राचीन मान्यता के अनुसार जो ईश्वर को नहीं मानता, आत्मा को नहीं मानता, वह नास्तिक होता है। गांधी ने कहा—बहुमत का अर्थ है नास्तिक, भीड़तंत्र का अर्थ है—नास्तिक।

एक गांव में एक सरपंच था। अन्यान्य पंच उससे बिगड़ गए। स्वार्थी का टकराव मित्रता रहने नहीं देता। उन पंचों ने गांव में एक बात प्रचारित की कि सरपंच मर गया। सारे गांव में यह बात फैल गई। दो चार व्यक्ति सरपंच के घर आए और बोले—‘सरपंच को दफनाना है।’ सरपंच बोला—‘मैं जिन्दा बैठा हूं। क्या जिन्दे को दफनाओगे?’ इतने में भीड़ इक्की हो गई, सभी का एक ही स्वर था, सरपंच को दफनाना है, वह मर गया। सरपंच प्रधान के पास गया और अपनी नाजुक स्थिति रखी। प्रधान बोला—‘जब सारा गांव कह रहा है तो मैं क्या कर सकता हूं।’ सरपंच बोला—‘क्या आप मुझे बचा नहीं सकते?’, प्रधान बोले—‘मैं बचा तो नहीं सकता। क्योंकि मुझे इन्हीं से तो वोट लेने हैं। मैं जनता के विरुद्ध नहीं जा सकता।’ यह है बहुमत की बात।

लौकिकता : अलौकिकता

बहुत बड़ा सिद्धांत है—अकेले चलने का। अकेले चलने के पीछे कितना पौरुष चाहिए? कितना न्याय और ज्ञान की शक्ति चाहिए? कितना आत्मवल और मनोबल चाहिए? जब ये सारी बातें मिलती हैं, तब व्यक्ति ‘एकला चलो रे’ के योग्य होता है। गंगाचार्य उन्हीं व्यक्तियों में से एक थे।

आचार्य श्री तुलसी के जीवन-प्रसंग में भी ऐसा हुआ था एक बार। गंगापुर में जो घटा, वह कम भयानक नहीं था। बहुत बड़ा खतरा सामने आया। अनेक संत संघ से पृथक् हो गए। दबाव बढ़ता ही गया। बात वही थी कि जो भी निर्णय होता है, उसकी पृष्ठभूमि में एक नीति, एक सिद्धान्त, एक विचार होता है। सबको उसके साथ चलना है। कौन चलेगा और कितने चलेंगे—यह बात दूसरे नंबर पर है। पहले नंबर की बात है, निर्णीत बात को यथावत् मानना। जहां पहले नंबर की बात दूसरे नंबर पर और दूसरे नंबर की बात पहले नंबर पर आ जाती है वहां धर्म की तेजस्विता, संघ का अनुशासन गौण हो जाता है। वहां लौकिकता प्रधान बन जाती है। लौकिकता को साथ लिए चलना है पर अलौकिकता को विस्मृत कर नहीं। केवल लौकिकता के प्रवाह में प्रवाहित होना लाभप्रद नहीं होता।

मोक्षमार्ग

‘आत्मा है और परमात्मा है’—इस घोषणा ने आध्यात्मिक जगत के विकास को नया आयाम दिया है। आत्मा और परमात्मा की स्वीकृति एक अलौकिक जगत की स्वीकृति है। यदि ये तत्त्व न हों तो धर्म और सामाजिक कानून या नियम भिन्न हैं, ऐसा नहीं माना जाता। लौकिक और अलौकिक, धर्म और समाज के बीच में एक भेदरेखा है आत्मा और परमात्मा। आत्मा परमात्मा हो सकती है, यह महावीर की महान घोषणाओं में एक उद्घोषणा है। सहज प्रश्न होता है—आत्मा परमात्मा कैसे हो सकता है? उसका साधन क्या है? महावीर ने कहा—आत्मा बंधनयुक्त है। बंधन से मुक्त होने के लिए एक मार्ग का चुनाव जरूरी है, मार्ग को अपनाना आवश्यक है और वह मार्ग बहुत प्रशस्त राजमार्ग होना चाहिए।

क्या बन्धन-मुक्त होने के लिए ज्ञानी होना जरूरी है? यह एक प्रश्न है। क्या आचारवान होना जरूरी है? यह दूसरा प्रश्न है। क्या भक्त होना जरूरी है? यह तीसरा प्रश्न है। क्या तपस्वी होना जरूरी है? यह चौथा प्रश्न है। इनका उत्तर देना बड़ा कठिन है।

चार दृष्टिकोण

- १ एक आदमी से पूछा गया—‘तुम दिल्ली में रहते हो?’
‘हां, दिल्ली में रहता हूं।’
‘तुम कलकत्ता गए या नहीं गए?’
‘मैं जानता ही नहीं कि कलकत्ता कहां है? मैं कलकत्ता कैसे जा सकता हूं।’
- २ दूसरे व्यक्ति से पूछा गया—‘तुम कलकत्ता गए या नहीं गए?’
‘नहीं गया’
‘क्या तुम्हें पता है कि कलकत्ता कहां है?’
‘हां, मैं यह भी जानता हूं कि वह कितनी दूर है। पर वहां गया नहीं।’
‘क्यों नहीं गए?’
‘मैं ट्रेन पर चढ़ा ही नहीं हूं।’
- ३ तीसरे से पूछा गया—‘तुम कलकत्ता गए या नहीं गए?’
‘नहीं गया।’
‘क्या तुम जानते हो—कलकत्ता कहां है?’
‘हां जानता हूं।’
‘क्या तुम रेलयात्रा करते हो?’

‘मैं रेल पर चढा भी हूँ, और चढता भी हूँ।’

‘फिर क्यों नहीं गए कलकत्ता?’

‘मेरे मन में कलकत्ता के प्रति आकर्षण ही नहीं है। मैं क्यों जाऊँ।’

४ चौथे से पूछा गया—‘तुम कलकत्ता गए या नहीं गए?’

‘नहीं गया।’

‘कलकत्ता जानते हो?’

‘हां।’

‘क्या तुम यात्रा नहीं करते?’

‘मैं ट्रेन और बस से बहुत यात्राएं करता हूँ।’

‘क्या तुम्हारा कलकत्ता के प्रति आकर्षण नहीं है।’

‘उसके प्रति आकर्षण भी है।’

‘तुम कलकत्ता क्यों नहीं गए?’

‘मैंने सुना है—कलकत्ता का रास्ता बड़ा टेढ़ा है। वहां जाने में बहुत कठिनाइयां हैं, बड़ा खतरा है। वहां नक्सलवादी बहुत हैं, प्रदूषण की समस्या भी बहुत है। मैं इस प्रकार का खतरा मोल लेना नहीं चाहता। वहां जाने वाले को बहुत तपना पड़ता है। यह तपना मेरे वश की बात नहीं है।’

चार दृष्टिकोण बन गए। कलकत्ता एक और दृष्टिकोण चार। एक भी व्यक्ति कलकत्ता नहीं पहुंच पाया। कलकत्ता कौन पहुंच पाएगा। पहली बात है? कलकत्ता को जानना। दूसरी बात है कलकत्ता जाने की रुचि का होना, आकर्षण का होना। तीसरी बात है—गति करना, उस ओर प्रस्थित होना, उसकी यात्रा पर चल पड़ना। चाहे वाहन से यात्रा करें या पैदल यात्रा करें। चौथी बात है—खतरों को मोल लेने का सामर्थ्य होना। यदि ये चारों बातें मिल जाती हैं तो कलकत्ता पहुंचा जा सकता है, बम्बई पहुंचा जा सकता है, मास्को या वाशिंगटन पहुंचा जा सकता है।

दर्शन के क्षेत्र में भी अलग-अलग दृष्टिकोण रहे हैं। बहुत प्रसिद्ध शब्द है—ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग। कुछ लोगों का विश्वास रहा—ज्ञान ही सब कुछ है। कुछ लोगों की यह धारणा रही—आचरण ही सब कुछ है। कितना ही जानो पर आचरण के बिना कुछ नहीं होता।

एक व्यक्ति बहुत अच्छा तैरना जानता है किन्तु यदि वह नदी के तेज बहाव में कूदेगा तो डूब जाएगा। एक व्यक्ति कहता है—मैं तैरना जानता हूँ पर पैर नहीं हिलाऊंगा, वह भी डूब जाएगा। कुछ लोग कहते हैं—ज्ञान ही प्रधान है और कुछ लोग कहते हैं—ज्ञान की बात छोड़ो, आचरण ही सब कुछ है। कुछ कहते हैं—ज्ञान और आचरण—दोनों को छोड़ो। भक्ति ही श्रेष्ठ है। हम प्रभु की भक्ति करें और सर्वात्मना कहें—प्रभो! हम आपकी शरण में हैं। एक शक्तिशाली व्यक्ति की शरण में जाने के बाद कुछ करने की जरूरत क्या है? भगवान भरोसे होगा सारा काम। यह भी एक दृष्टिकोण है।

एकांगी और सापेक्ष दृष्टिकोण का परिणाम

ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग—तीनों प्रकार के दृष्टिकोण मिलते हैं। महावीर ने किसी एक दृष्टिकोण को मान्य नहीं किया। उन्होंने कहा—तीनों बातें सही हैं पर अधूरी हैं। पूरा सत्य तब बनेगा जब ये तीनों दृष्टिकोण एक साथ मिल जाएंगे। महावीर की भाषा में—क्रियाशून्य ज्ञान और ज्ञानशून्य क्रिया—दोनों अपर्याप्त हैं, व्यर्थ हैं। उदाहरण की भाषा में बताया गया—दो आदमी थे। एक अंधा था और एक पंगु। दोनों आदमी जंगल में बैठे थे। जंगल में आग लग गई। पंगु बोला—‘अरे भैया! आग लग गई है, अब क्या करें?’ अंधे ने कहा—‘तू तो चल नहीं सकता। यहीं बैठा रह। मैं दौड़ता हूँ।’ अंधे को कुछ दिखाई नहीं पड़ा। वह आग की ओर दौड़ पड़ा और आग में गिरकर जल गया। जिसे दिख रहा था, चल नहीं सकता था। आग बढ़ती-बढ़ती उसके पास आ गई। वह भी जल गया। देखने वाला भी जल गया और चलने वाला भी जल गया।

यह एकांगी दृष्टिकोण का परिणाम है। जहां कोरी आंख और कोरा पैर होता है वहां काम ठीक नहीं बनता। काम सही तब बनता है जब दोनों का योग मिल जाए, आंख और पैर—दोनों एक साथ मिल जाएं।

इस उदाहरण को दूसरे संदर्भ में देखें। अंधा और पंगु—दोनों जंगल में बैठे हैं। संयोगवश जंगल में आग लग गई। पंगु ने कहा—‘भैया! आग लग गई है, हम बचें हैं और सारे साथी चले गए।’ अंधा बोला—‘मुझे दिखाई नहीं देता।’ पंगु बोला—‘मुझसे चला नहीं जाता।’ तत्काल दोनों ने समझौता किया। अंधे ने पंगु को पीठ पर बिठा लिया। पंगु का दिशा-निर्देश और अंधे की गति। पंगु मार्ग बताता चला गया और अंधा दौड़ता चला गया। वे दोनों जंगल को पार कर गए, आग से बच गए।

एक चक्के से कभी रथ नहीं चलता। रथ को चलाने के लिए दो पहिए चाहिए। दोनों मिलते हैं तब बात पूरी बनती है। कोरा ज्ञान और कोरा आचार बंधन से मुक्त नहीं कर सकता। बंधन-मुक्ति के लिए, आत्मा से परमात्मा बनने के लिए ज्ञान और आचार—दोनों का योग जरूरी है।

मार्ग एक : साधन चार

मुक्ति का मार्ग एक है और उस मार्ग-प्राप्ति के साधन चार हैं—ज्ञान, श्रद्धा, निग्रह और शोधन। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है—ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और तप। पहला साधन है—जानो। ज्ञान के बिना काम नहीं बनेगा। दूसरा साधन है—श्रद्धा। केवल जानो ही नहीं, उसके प्रति श्रद्धा करो, उसके साथ तादात्म्य जोड़ो, एकात्मकता साधो।

जिसके प्रति श्रद्धा नहीं होती, उसके प्रति आकर्षण नहीं होता। कोरा ज्ञान काम का नहीं होता। वह बहुत बार समस्या पैदा कर देता है। ज्ञान के साथ श्रद्धा का होना जरूरी है। श्रद्धा का मतलब है अपने इष्ट के प्रति, लक्ष्य के प्रति पूरा समर्पण।

हम इस सन्दर्भ में एक घटना को देखें। भगवान ऋषभ मुनि बन गए। उन्होंने मुनि बनने से पहले सारे राज्य का वितरण कर दिया। भरत को अयोध्या

का राज्य दिया, बाहुबली को तक्षशिला का राज्य दिया। शेष अट्टानवें पुत्रों को अलग-अलग राज्य दे दिए। भगवान ऋषभ के दो पालित पुत्र थे नमि और विनमि। वे उन्हें कोई राज्य नहीं दे सके। वे कहीं बाहर प्रवास पर थे। जब वे दोनों भाई वापस अयोध्या आए तब ऋषभ वहां नहीं थे। उन्होंने भरत से पूछा—‘भगवान ऋषभ कहां है?’

भरत ने कहा—‘ऋषभ मुनि बन गए।’

‘भगवान ऋषभ ने क्या किया?’

‘सब भाइयों में राज्य बांट दिया।’

‘हमें क्या मिला?’

‘तुम्हें कुछ नहीं दिया।’

‘हम भगवान के पुत्र हैं और हमें कुछ भी नहीं दिया! हमारे पिता कच्छ और महाकच्छ भी साधु बन गए!’ वे सीधे भगवान के पास आए। उन्होंने ऋषभ को वन्दना कर निवेदन किया—‘प्रभो! हमें हमारा राज्य दो।’

भगवान ऋषभ सब कुछ छोड़ चुके थे, वे अकिंचन और अपरिग्रही बन चुके थे। उनके पास कुछ भी नहीं था। वे क्या देते?

एक दिन बीता। दो दिन बीते। कई दिन बीत गए। प्रतिदिन वे अपनी मांग दोहराते—‘हमें हमारे हिस्से का राज्य दो।’ उन्होंने अपनी इस मांग के लिए सब कुछ समर्पित कर दिया।

लोगों ने कहा—‘भगवान संन्यासी बन गए, मुनि बन गए। इन्होंने सब कुछ छोड़ दिया। इनके पास कुछ भी नहीं है। अब ये तुम्हें राज्य नहीं देंगे।’

नमि, विनमि ने कहा—‘हम भगवान को छोड़कर नहीं जाएंगे। या तो देना पड़ेगा अन्यथा यहीं मरेंगे, यही खपेंगे।’

इसका नाम है समर्पण। इसका नाम है श्रद्धा। करिष्यामि वा मरिष्यामि—करूंगा या मरूंगा, इसके सिवाय तीसरा विकल्प नहीं। भगवान बुद्ध ने संकल्प किया—जब तक बोधि प्राप्त नहीं होगी, तब तक मैं इस आसन को नहीं छोड़ूंगा, चाहे चमड़ी-मांस सब कुछ सूख जाये। बुद्ध का संकल्प दृढ़ था। बोधि को आना पड़ा। आखिर नमि, विनमि को भी राज्य देना पड़ा।

कहा जाता है—नागकुमार का अधिपित धरणेन्द्र आया। उसने देखा—ये मानने वाले नहीं है। धरणेन्द्र ने नमि, विनमि से कहा—‘तुम भरत के पास जाओ। भरत तुम्हें राज्य देगा।’

नमि, विनमि बोले—‘भरत कौन होता है राज्य देने वाला? जैसे हम है वैसा ही भरत है। भरत द्वारा दिया गया राज्य हमें स्वीकार्य नहीं है। राज्य देंगे तो ऋषभदेव देंगे। यदि नहीं देंगे तो हम यहीं प्राण त्याग देंगे।’ उन्होंने देवता की बात को भी अस्वीकार कर दिया। अन्त में ऋषभ के मुंह से एक ध्वनि की गई—‘जाओ! तुम्हें वैताद्वय का राज्य दिया जाता है।’

वैताद्वय हिमालय का एक भाग है। वहां नमि और विनमि ने उत्तर श्रेणी और दक्षिण श्रेणी में अपने नगर बसाए। आज की भाषा में कहें तो जो तिब्बत है, वह वैताद्वय रहा होगा। तिब्बत ऋषभ से बहुत संबन्धित रहा है।

नमि और दिनमि का समर्पण एक निदर्शन है। वे ऋषभ के साथ तदात्म हो गए। श्रद्धा का अर्थ है—तादात्म्य का स्थापित होना, लक्ष्य से जुड़ जाना।

निग्रह और शोधन

तीसरा साधन है—निग्रह। जिसमें अपना निग्रह करने की क्षमता नहीं है, संयमन की क्षमता नहीं है, वह आत्मा से परमात्मा नहीं बन सकता। परमात्मा बनने के लिए निग्रह का होना भी जरूरी है।

चौथा साधन है—शोधन, संस्कारों की शुद्धि। जितने संस्कार बने हुए हैं, उनका शोधन और निर्जरण जरूरी है। इसके बिना परमात्मा बनने का मार्ग प्रशस्त नहीं होता।

ज्ञान, श्रद्धा, निग्रह और शोधन—ये चार साधन जब समवेत होते हैं तब एक मार्ग बनता है, मोक्ष का मार्ग प्रस्तुत होता है।

एक आदमी अन्धा है। यदि उसके सामने पचास दीप जला दिए जाएं तो क्या होगा? दीप जले, अन्धकार मिट गया किन्तु अंधे व्यक्ति के लिए उसका कोई अर्थ नहीं है। पहले अपना प्रकाश चाहिए। जब अपना प्रकाश होता है, अपनी आंख होती है तब प्रकाश की सार्थकता हो सकती है। अन्धे आदमी के लिए दिन और रात बराबर हैं, दीप का जलना और न जलना बराबर है। पहली शर्त है अपना प्रकाश। अगर अपना प्रकाश है तो एक दीया काफी है, पचास दीए जलाने की कोई जरूरत नहीं है। एक बल्ब जला, प्रकाश उपलब्ध हो जाएगा। व्यक्ति का अपना प्रकाश काम आता है, उधार या मांग-मांग कर लाया हुआ प्रकाश काम नहीं देता।

संस्कृत का एक न्याय है—याचितमण्डनकम्। एक व्यक्ति बहुत सुन्दर और मूल्यवान आभूषणों से लदा हुआ था। किसी व्यक्ति ने पूछ लिया—‘अरे भाई! इतने सुन्दर गहने कब लाए?’ पास खड़ा व्यक्ति बोल उठा—‘सारा मांगा हुआ है। अपना एक भी नहीं है। घर जाते ही सारे गहने चले जाएंगे। इसके पास कुछ भी नहीं रहने वाला है।’

दूसरे का गहना मांगकर पहनने से कब तक काम चलेगा। काम देंगे अपने आभूषण।

जो अपना है, वही काम देता है। जब तक अपना प्रकाश नहीं जागता, बन्धनमुक्ति की बात सम्भव नहीं बनती। दूसरी बात है अपना कर्तृत्व। जैसे व्यक्ति का अपना प्रकाश होता है वैसे ही उसका अपना कर्तृत्व होता है। तीसरी बात है अपना समर्पण। बाहरी वातावरण और आकर्षण समर्पण में बहुत बड़ी बाधा है। व्यक्ति का आकर्षण एक दिशा में केन्द्रित नहीं है। कभी किसी मंत्र-तंत्र के प्रति आकर्षण है और कभी किसी देवतंत्र के प्रति आकर्षण है। आकर्षण का कोई केन्द्र-बिन्दु नहीं है। वह बंटा हुआ है इसलिए एक भी काम पूरा नहीं हो पा रहा है। जब तक आस्था केन्द्रित नहीं होती, व्यक्ति एक बिन्दु पर नहीं टिकता तब तक कुछ नहीं होता। यह बिखराववादी मनोवृत्ति व्यक्ति को लक्ष्य से दूर ले जा रही है। यदि व्यक्ति एक बिन्दु पर टिक जाए, एक शब्द पर गहराई से टिक जाए तो वह एक शब्द भी आदमी को तार सकता है। हजार शब्द जिस

समस्या को हल नहीं कर सकते, एक शब्द उस समस्या को हल कर देता है। आज जो बिखराव पैदा हुआ है, वह सबसे बड़ा खतरा है। लक्ष्य की प्राप्ति के लिए समर्पण अनिवार्य है। कर्तृत्व और समर्पण के साथ तप तपना भी जरूरी है। कठिनाइयों को झेला जाए, सब कुछ सहा जाए। जब इन चारों का योग मिलता है, ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और तप का समन्वित मार्ग उपलब्ध होता है तब परमात्मा बनने का मार्ग हाथ में आ जाता है। देखो, चलो, समर्पित रहो और तप तपो, परमात्मा की दिशा में प्रस्थान हो जाएगा।

आत्मदर्शन की प्रक्रिया

हम इस सचाई को कथा से समझें। एक दार्शनिक आत्मा पर प्रवचन कर रहा था।

एक युवक ने कहा—‘महाशय! आप परमात्मा के बारे में बता रहे हैं, आत्मा की चर्चा कर रहे हैं। मैं प्रत्यक्ष में विश्वास करता हूँ। यदि आप आत्मा को हाथ में लेकर दिखा दें तो मैं मानूंगा—आत्मा है अन्यथा नहीं।’

दार्शनिक पहुंचा हुआ था। उसने कहा—‘युवक! मुझे बोलते बहुत देर हो गई। मैं थोड़ा थक गया हूँ। तुम्हारे प्रश्न का उत्तर देने में कुछ समय लगेगा। तुम पहले एक गिलास दूध ले आओ, दूध पिला दो।’

युवक एक गिलास दूध ले आया। उसने गिलास दार्शनिक के हाथ में धमा दी। दार्शनिक गिलास के भीतर गहराई में झांकने लगा। वह बहुत देर तक उसे एकटक देखता रहा। युवक ने कहा—‘महाशय! आप क्या देख रहे हैं? आप जल्दी दूध पीएं और मेरे प्रश्न का उत्तर दें।’

‘मैं तुम्हारे प्रश्न का ही उत्तर दे रहा हूँ।’

‘आप दूध नहीं पीएंगे।’

‘नहीं।’

‘आप इसके भीतर क्या देख रहे हैं?’

‘मैंने सुना है—दूध में घी होता है। मैं देख रहा हूँ, इस दूध में घी कहां है?’

‘वाह! अच्छे दार्शनिक हुए। तुम समझदार ही नहीं हो।’

‘क्या दूध में घी नहीं होता?’

‘होता तो है पर ऐसे नहीं मिलता।’

‘कैसे मिलता है?’

‘दार्शनिक कहलाते हो और इतनी सी बात भी नहीं जानते। पहले दूध को तपाना होता है। फिर उसको जामन देकर जमाना होता है। उसके बाद बिलौना पड़ता है, मथना पड़ता है। जब इतनी प्रक्रिया से गुजरा जाता है तब घी मिलता है।’

‘तुमने अपने प्रश्न का उत्तर स्वयं दे दिया है।’

‘कैसे? मैं समझा नहीं।’

‘तुम पहले मन को तपाओ फिर उसे जमाओ। तुम्हारा मन चंचल है, भटक रहा है। उसे जमाओ। उसके बाद उसे बिलोओ, मथो, तब आत्मा दिखेगी। तुम सीधे आत्मा और परमात्मा को देखना चाहते हो, यह कैसे संभव है?’

दूध से घी निकालने की एक प्रक्रिया है। दूध में घी है किन्तु उसे देखने और पाने के लिए एक प्रक्रिया से गुजरना होता है। हमारे भीतर आत्मा है। उसे देखने के लिए, आत्मा से परमात्मा बनने के लिए एक प्रक्रिया से गुजरना आवश्यक है। उस प्रक्रिया से गुजरे बिना न आत्मा को देखा जा सकता है, न परमात्मा बना जा सकता है। आत्मदर्शन की प्रक्रिया है—जानो, श्रद्धा करो, आचरण करो और तपो। यह मार्ग आत्मा से परमात्मा बनने का मार्ग है और इसे ही मोक्ष मार्ग कहा गया है।

अस्तित्वाद

व्याकरण की दृष्टि से 'मैं हूँ' यह कहना सच है। किन्तु सत्य की दृष्टि से 'मैं है' यह कहना सच है। 'मैं हूँ' यह एक अवस्था है। 'मैं है' यह एक सचाई है। 'है' सचाई है, 'हूँ' सामयिक सचाई हो सकती है। मैं अभी हूँ, नहीं भी हूँ। मैं कभी किसी रूप में हूँ, और कभी किसी रूप में हूँ। अवस्था के साथ जुड़ना समय के साथ जुड़ना है, परिवर्तन के साथ जुड़ना है। जहां तक अस्तित्व का प्रश्न है वह परिवर्तन से आगे की बात है। सत्य त्रैकालिक होता है। 'है' यह त्रैकालिक सत्य है। जो देखने वाला है, वह सापेक्ष है। सत्य मूलतः निरपेक्ष है। हम जानें तो भी वह सत्य है, उसका अस्तित्व है। हम न जानें तो भी वह सत्य है, उसका अस्तित्व है। 'मैं है' उसका होना या न होना हमारे ज्ञान पर निर्भर नहीं है।

एक पुस्तक है। प्रश्न होता है—क्या वह मूल द्रव्य है, अस्तित्व है? उसे मूल द्रव्य नहीं कहा जा सकता। यदि पुस्तक मूल द्रव्य है तो सदा पुस्तक ही रहेगी। वह आज पुस्तक है। पचास वर्ष बाद वह क्या रूप लेगी, कहा नहीं जा सकता। इसलिए उसे मूल द्रव्य नहीं माना जा सकता। एक मनुष्य है। क्या वह मूल द्रव्य है? वह आज मनुष्य है किन्तु वह पचास वर्ष बाद क्या होगा, इसका पता नहीं है। इसलिए मनुष्य मूल द्रव्य नहीं है। जितना दृश्य जगत है, उसकी मीमांसा करें—क्या वह मूल द्रव्य है? अस्तित्व है? आज एक पेड़ है, एक पत्थर है, एक पशु है और एक मनुष्य है। कुछ समय बाद ये अपने रूप को छोड़ देंगे, दूसरे रूप में चले जाएंगे। इन्हें मूल द्रव्य नहीं कहा जा सकता।

जरूरी है मूल द्रव्य की खोज

हमारे सामने जितना दृश्य जगत् है वह सारा का सारा पर्याय का जगत है, विकृति का जगत है। विकार का अर्थ है—पर्याय। सारे विकार हैं, पर्याय हैं। प्रश्न होता है—मूल क्या है? क्या दही मूल है? पहले दही कहाँ था—पहले वह दूध था। क्या दूध मूल है? दूध मूल नहीं है। गाय ने घास खाई, और कुछ पदार्थ खाए, दूध पैदा हो गया। क्या घास मूल है? पहले घास कहाँ थी? वह भी बाद में पैदा हुई है।

प्रश्न फिर वही आता है—मूल क्या है? यह मूल्य द्रव्य की खोज अस्तित्व की खोज है। आज के वैज्ञानिक मूल कण की खोज में लगे हुए हैं। मूल को खोजना अस्तित्व को खोजना है। हम लोग पर्याय जगत को जान रहे हैं। मूल द्रव्य की ओर ध्यान केन्द्रित नहीं है। मूल द्रव्य की खोज बहुत जरूरी है। यद्यपि मूल द्रव्य निरपेक्ष है, पर उसे समझना जरूरी है। मूल को समझने के लिए

दृष्टिकोण भी दूसरे प्रकार का होना चाहिए। हमारा दृष्टिकोण पर्याय को देखने वाला दृष्टिकोण है। अनेक प्रकार के रूप हमारे सामने हैं। हम नाना रूपों को देखते हैं पर मूल रूप को नहीं देख पा रहे हैं। मूल रूप को देखने वाली आंख चाहिए, उसे समझने वाला दृष्टिकोण चाहिए जिससे हम अस्तित्व को जान सकें, सत्य को जान सकें, 'है' को जान सकें। जो है, उसे जान सकें। उसे देखने के लिए असली आंख की जरूरत है।

जेठानी ने देवरानी के गले में हार देखा और ईर्ष्या जाग गई। उसने सोचा—मेरे घर हार ही नहीं है और इसने इतना सुन्दर हार पहन लिया। इस हार को जैसे तैसे विकृत बना देना चाहिए। वह देवरानी से बोली—'आज तुम्हें बढ़िया हार मिला है। यह हार कहां से आया?' देवरानी ने कहा—'ऐसे ही सहजता से आ गया।' जेठानी ने कहा—'क्या यह असली है। मोती बहुत चमक रहे हैं, पर नकली तो नहीं हैं? असली हार काफी कीमती होता है। इतना पैसा कहां से आया? लगता है—हार नकली है। मेरे देवर को जौहरी ने ठग लिया है। लाओ! मैं इस हार की परीक्षा करूं।' देवरानी ने पूछ लिया—'कैसे परीक्षा करोगी?' जेठानी ने कहा—'हार खोलकर मुझे दो। मैं मोती को दांत से दबाऊंगी। असली मोती होंगे तो दांत से खराब नहीं होंगे और नकली मोती होंगे तो दांत से खराब हो जाएंगे।' देवरानी जेठानी की बात के पीछे छिपी दुर्भावना जान गई। उसने कहा—'आप बात तो सच कह रही हैं पर असली मोती की परीक्षा के लिए दांत भी असली चाहिए। आपके इन नकली दांतों से असली मोती की परीक्षा नहीं हो सकेगी।'

नई दृष्टि विकसित हो

अस्तित्व को जानने के लिए हमारी दृष्टि असली चाहिए। हमारी दृष्टि नकली बन चुकी है। उस नकली आंख से हम पर्याय, परिवर्तन और रूपान्तरण को देख सकते हैं, अस्तित्व को नहीं जान सकते। अस्तित्व को जानने के लिए, सत्य को जानने के लिए, 'है' को जानने के लिए एक नई दृष्टि चाहिए। वह नई दृष्टि उद्भव हो तो अस्तित्व को जानने की दिशा में प्रस्थान हो सकता है।

हमारे सामने दो जगत हैं—अव्यक्त जगत और व्यक्त जगत, दृश्य जगत और अदृश्य जगत। व्यक्त जगत हमारे सामने है। हमने उसको ही सब कुछ मान लिया। एक भ्रांति पैदा हो गई। वस्तुतः व्यक्त जगत बहुत छोटा है, अव्यक्त जगत बहुत बड़ा है। व्यक्त जगत एक बिन्दु जितना है और अव्यक्त जगत महासिन्धु जितना है। दृश्य जगत से बहुत बड़ा है अदृश्य जगत। अस्तित्व को जानने के लिए उस दृष्टि की जरूरत है जो व्यक्त को पार कर अव्यक्त तक पहुंच सके, जो दृश्य जगत को पारकर अदृश्य जगत तक पहुंच सके। यदि वह आंख प्राप्त होती है, वह दृष्टि उपलब्ध होती है तो अस्तित्व को जाना जा सकता है।

छद्मस्थ और केवली

जैन आगमों के दो प्रसिद्ध शब्द हैं—छद्मस्थ और केवली। छद्मस्थ की आंख पर्याय तक जाने वाली आंख है। छद्मस्थ की आंख अस्तित्व तक जाती है

पर सीधी नहीं जाती, टेढ़े-मेढ़े मार्ग से जाती है। जिन या केवली की आंख सीधे अस्तित्व तक पहुंचती है। उसकी दृष्टि पर्याय को पार कर मूल द्रव्य तक पहुंचती है, अव्यक्त और अदृश्य जगत तक पहुंचती है। कहा गया—

*जया सव्वत्तंगं नाणं, दंसणं चाभिगच्छई।
तया लोगमलोगं च, जिणी जाणइ केवली।।*

जो सर्वत्रय ज्ञान और दर्शन को प्राप्त कर लेता है, वह केवली लोक और अलोक—दोनों को जान लेता है।

केवली दृश्य लोक को भी देखता है अदृश्य लोक को भी देखता है, अलोक को भी देखता है। जो दिखता है, उसे भी जान लेता है। जहां आकाश के सिवाय कुछ भी नहीं है, उसे भी जान लेता है।

आधार और आधेय

हम इस संसार में रह रहे हैं। रहने के लिए कोई आधार चाहिए। घड़े में पानी रहता है। पानी आधेय है, घड़ा आधार है। यह तर्कशास्त्र का एक नियम बन गया, आधेय और आधार का सिद्धान्त निर्मित हो गया। एक तर्कशास्त्री पात्र में घी लिए जा रहा था। उसके मन में प्रश्न उठा—घी का आधार पात्र है या पात्र का आधार घृत—घृताधारं पात्रं वा पात्राधारं घृतं? उसने परीक्षा करने के लिए पात्र को उलटा किया। घी नीचे गिर गया। निश्चय हो गया—घी का आधार पात्र है। घी आधेय है, पात्र आधार है।

हमारे मन में भी प्रश्न उठ सकता है—हम कहां रह रहे हैं? आधार क्या है? इस प्रश्न की गहराई में जाकर एक अस्तित्व को खोजा गया। उसका नाम है आकाश। आकाश एक ऐसा तत्त्व है, जिसमें देने की क्षमता है। वह एक ऐसा अस्तिकाय है, अस्तित्व है, जिसमें सारा संसार समाया हुआ है। भारतीय दर्शनों ने आकाश के बारे में व्यापक विमर्श किया और उसे मान्यता दी।

आधार तत्त्व है आकाश

जैन दर्शन ने इससे आगे एक बात प्रस्तुत की। उसने लोक और अलोक की व्यवस्था दी। एक आकाश ऐसा है, जहां सब कुछ है और एक आकाश ऐसा है, जहां कुछ भी नहीं है, केवल आकाश है। लोकाकाश में हम रह सकते हैं। वह सबको समा सकता है किन्तु उसका अस्तित्व बना रहेगा। उसका अस्तित्व किसी की अपेक्षा से नहीं है। उसका अस्तित्व निरपेक्ष होता है। आकाश का अस्तित्व दूसरे पर आधारित नहीं है। उसका अपने आप में अस्तित्व है, दूसरा कोई है या नहीं। लोकाकाश वह आकाश है, जहां आकाश भी है, दूसरे पदार्थ भी हैं। जहां केवल आकाश है, और कोई पदार्थ नहीं है, वह अलोकाकाश है। हम अनुमान के द्वारा आकाश की कल्पना कर रहे हैं। आकाश हमें दिखाई नहीं दे रहा है। हमें जितना जगत दिखाई दे रहा है, वह आकाश में है किन्तु आकाश चर्मचक्षु का विषय नहीं बनता। उसको हम तर्क के बल पर स्वीकार किए हुए हैं। सम्पूर्ण जगत का कोई आधार तत्त्व है और वह आकाश है।

गति तत्त्व : स्थिति तत्त्व

जैन दर्शन ने गतित्त्व को भी स्वीकार किया। एक ऐसा तत्त्व है, जो गति में सहयोग कर रहा है, गति में सहयोगी हो रहा है। स्थूल जगत में करना अलग होता है, होना अलग होता है। सूक्ष्म जगत में करना और होना—दोनों एक बन जाते हैं। उसमें बीग—होना और डूङ्ग—करना में अन्तर नहीं रहता। सब कुछ अस्तित्त्व में चला जाता है। हमें गति तत्त्व का सतत सहयोग मिल रहा है। गति तत्त्व के सहयोग के बिना हाथ नहीं हिल सकता, आंख की पलकें नहीं झपक सकतीं, श्वास नहीं लिया जा सकता, रक्त-संचरण नहीं हो सकता, सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्पंदन का होना भी संभव नहीं बनता। जिस गति-तत्त्व के सहयोग से सारी क्रियाएं निष्पन्न हो रही हैं, उसी गति-तत्त्व का नाम है, धर्मास्तिकाय। एक ऐसा तत्त्व है, जो स्थिति में सहयोग कर रहा है। अगर केवल गति-तत्त्व होता, स्थिति तत्त्व नहीं होता तो सारा जगत गतिशील ही बना रहता, उसमें कहीं स्थायित्व नहीं होता। गति-तत्त्व के साथ-साथ स्थिति-तत्त्व भी काम कर रहा है। स्थिति-तत्त्व है—अधर्मास्तिकाय।

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय—ये दोनों तत्त्व विश्व की व्यवस्था को बनाए हुए हैं। गतिशीलता और स्थितिशीलता—दोनों प्रत्येक व्यक्ति के साथ जुड़े हुए हैं।

विश्व-व्यवस्था के मूलभूत तत्त्व

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय—ये तीन हमारी विश्वव्यवस्था के मूलभूत तत्त्व हैं, किन्तु अव्यक्त हैं। अदृश्य हैं और एकरूप हैं। जो अनेकरूपता दिखाई दे रही है, जगत में जो नानात्व है, उसमें इनका कोई हिस्सा नहीं है। जो नानात्व दिखाई दे रहा है, जो विश्व का रंगमंच है, उसके अभिनेता हैं जीव और पुद्गल। ये दो तत्त्व ऐसे हैं, जो संसार को व्यक्त बनाते हैं। एक शक्ति है व्यंजना की शक्ति। वह नाना रूपों का निर्माण करती है, अनेक रूपों को प्रकट करती है। आज के वैज्ञानिक नाना रूप बनाने में लगे हुए हैं। एक वनस्पति जगत् के अनेक रूप बन रहे हैं। सब जानते हैं—अमरूद में बीज होते हैं। पुराने लोगों ने नियम बनाया—बिना बीज का अमरूद नहीं खाना चाहिए। बीज को निकालकर कोरा अमरूद खाना अच्छा नहीं है। किन्तु आज कृषि वैज्ञानिकों ने ऐसा अमरूद तैयार किया है, जिसमें बीज नहीं हैं। ऐसे अंगूर पैदा किए जा रहे हैं, जिनमें बीज नहीं हैं। नई-नई कलमें लग रही हैं और नए-नए रूप पैदा होते जा रहे हैं।

नानात्व का कारण

जीव नाना रूपों का निर्माण कर रहा है। यह सोचना भ्रान्ति है कि जगत के नानात्व का कारण मनुष्य है। केवल मनुष्य ही नहीं, छोटे-छोटे जीव भी नाना रूपों का निर्माण करते हैं। पोधा किसने बनाया? पेड़ किसने बनाया? पत्थर किसने बनाया? पानी और मिट्टी को किसने बनाया? हीरा और मोती किसने बनाया? छोटे-छोटे जीव मिलकर हीरा बना देते हैं। एक छोटा-सा जीव, छोटा-सा

बीज बरगद का पेड़ बना देता है। दुनिया में जितना निर्माण दिखाई दे रहा है, वह सारा का सारा जीव का निर्माण है। उसने सृष्टि को बहुविध बना दिया। एक के बाद एक नई प्रजातियां नष्ट हो गईं और कितनी नई जातियां और प्रजातियां पैदा हो गईं। जीव और पुद्गल का ऐसा योग मिल गया, उनमें ऐसा समझौता हो गया किया कि वे नए-नए रूप बनाते ही चले जा रहे हैं। जैन दर्शन के अनुसार जितना दृश्य जगत है, वह सारा का सारा जीव के द्वारा बनाया हुआ है।

मेरे हाथ में एक पुस्तक है। प्रश्न हुआ—यह पुस्तक किससे बनी?’

उत्तर दिया गया—‘कागज से बनी।’

‘कागज किससे बना?’

‘पेड़ से बना।’

‘पेड़ को किसने बनाया?’

‘जीव ने।’

हम पारिभाषिक शब्दावली में कह सकते हैं—पत्थर पृथ्वीकाय के जीवों का शरीर है, पुस्तक वनस्पतिकाय के जीवों का शरीर है। जो कुछ भी दिखाई दे रहा है वह जीव का शरीर है। ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है, जो दिखाई दे रहा है किन्तु जीव का शरीर नहीं है। हमने अनेक पदार्थ देखे हैं, खाए हैं, हम अनेक पदार्थों को पहनते हैं, ओढ़ते हैं। क्या उनमें ऐसा एक भी पदार्थ है, जो जीव का शरीर नहीं है? प्रत्येक दृश्य पदार्थ या जीवित शरीर है या जीव-त्यक्त शरीर है। दो शब्द प्रसिद्ध हैं—बन्धेलगा और मुक्केलगा। कुछ पदार्थ ऐसे हैं, जो अभी जीव से जुड़े हुए नहीं हैं। यानी कुछ पदार्थ जीव के प्रयोग से परिणत हैं और कुछ प्रयोग से मुक्त हैं।

स्थूल सृष्टि का निर्माता है जीव

हमारे दो जगत् हैं—सूक्ष्म जगत् और स्थूल जगत्। जितना भी सूक्ष्म से स्थूल हुआ है, अव्यक्त से व्यक्त बना है वह सारा जीव के शरीर द्वारा हुआ है। जीव एक बड़ा शिल्पी है। वह सूक्ष्म परमाणुओं को लेता है, अदृश्य परमाणुओं को ग्रहण करता है और उन्हें अपना शरीर बनाकर स्थूल बना लेता है फिर उन्हें छोड़कर दुनिया को भर देता है। जो अनन्त-अनन्त वर्गणाएं हैं वे अपने आप स्थूल नहीं बनेगी। दृश्य जितना भी होगा, वह स्थूल ही होगा। सारा का सारा दृश्य जगत् जीव का शरीर होकर ही दृश्य बनेगा। एक भी ऐसा परमाणु नहीं है जो जीव का शरीर नहीं बना और दृश्य बन गया, स्थूल बन गया। यह दृश्य जगत् की बात है, स्थूल जगत् की बात है। अदृश्य जगत् की बात अलग है। यहां प्रश्न देखने का नहीं है। स्थूल जगत् और दृश्य जगत् के होने का है, सूक्ष्म की स्थूल परिणति का है। स्थूल सृष्टि का निर्माण है जीव। स्थूल जगत् में स्थूल बात का ही मूल्य होता है।

सृष्टि-निर्माण के दो घटक

नाना रूपों को अभिव्यक्त करने वाली शक्ति है व्यंजन शक्ति। जीव और पुद्गल—इन दो द्रव्यों में व्यंजन शक्ति है। व्यंजन पर्याय या व्यंजन शक्ति का निर्माण इन दो द्रव्यों के योग में है। अकेला पुद्गल भी रूपों का निर्माण नहीं

कर सकता और अकेला जीव भी नाना रूपों की सृष्टि नहीं कर सकता। सृष्टि के नानात्व में दो घटक तत्त्व हैं—जीव की शक्ति और पुद्गल की शक्ति। दोनों का योग मिला और नाना रूप बन गए। मनुष्य का शरीर, हाथी का शरीर, चींटी का शरीर और वनस्पति का जगत—सब कुछ इन दोनों शक्तियों के योग से बना है।

जैन दर्शन का अस्तित्ववाद

प्रश्न होता है रूपान्तरण और परिवर्तन का कारण कौन है? हमारे अस्तित्व में दो शक्तियाँ काम करती हैं—प्राकृतिक शक्ति और प्रजनन शक्ति। नैसर्गिक शक्ति निरन्तर क्रियाशील रहती है, घूमती रहती है, अस्तित्व अपना काम करता रहता है। यह प्राकृतिक शक्ति है। इसके द्वारा किसी नए रूप का निर्माण नहीं होता किन्तु भीतर में परिवर्तन होता रहता है। केवल आंतरिक परिवर्तन होता है, बाहरी परिवर्तन से उसका कोई लेना-देना नहीं होता। दूसरी शक्ति है प्रजनन की शक्ति। यह एक से दो का निर्माण कर देती है। एक कोशिका टूटती है तो यह दूसरी कोशिका का निर्माण कर देती है। प्रत्येक कोशिका में प्रजनन की शक्ति है, नए रूप के निर्माण की शक्ति है। इस प्रजनन की शक्ति का नाम है—व्यंजन पर्याय, व्यंजन की शक्ति, अभिव्यक्ति की शक्ति। अभिव्यक्ति का जगत बहुत बड़ा है। हम उस जगत की बात कर रहे हैं, जिसमें हम जी रहे हैं। हम जिसमें हैं, केवल हैं और इसे ही समझना है। इससे न आगे जाना है और न पीछे जाना है। इतनी बात समझ में आ जाए तो जैन दर्शन का अस्तित्ववाद समझ में आ जाए।

उपयोगितावाद

व्यक्ति है और उसे कुछ होना है। 'है' हमारा ज्ञेयवाद है, पदार्थवाद है। 'होना' परिवर्तनवाद है, उपयोगितावाद है। जंगल में एक पेड़ है। उस पर फूल लगे हुए हैं, फल लगे हुए हैं। उनका मात्र अस्तित्व है। एक आदमी गया। उसने फूल को सूंघा, फल को चखा। उसकी उपयोगिता प्रस्तुत हो गई। कहा जाता है—अरण्यकुसुम—जंगल का फूल किस काम का? काम न आए तो वह कोरा 'है'। यदि वह काम में आ गया तो उसका 'होना' हो गया, उपयोगिता हो गई।

प्रश्न होता है—हम श्रेय को क्यों जाने? उसे जानने का प्रयोजन क्या है? हमारा प्रयोजन है—बंधन, समस्या और दुःख से मुक्ति। इसके लिए पहले जानना होता है। जानने के बाद बदलाव घटित होता है। जाने बिना कोई व्यक्ति बदलता नहीं है। बंधन-मुक्ति के लिए बंधन को जानना जरूरी है।

मिलावटी व्यक्तित्व

हमारे सामने दो तत्त्व स्पष्ट है—चेतन और अचेतन। स्वरूप की दृष्टि से चेतन है अचेतन है। यह एक सार्वभौम सचाई है—चेतन कभी अचेतन नहीं बनता और अचेतन कभी चेतन नहीं बनता। दोनों अपने-अपने रूप में बने रहते हैं। किन्तु हमारी दुनिया का एक नियम है—मिलना, मिश्रण करना, मिलावट करना। हमारा जीव स्वयं मिला हुआ है। मनुष्य का व्यक्तित्व भी मिला हुआ है। अगर मनुष्य का व्यक्तित्व शुद्ध होता तो वह कभी मिलावट कर ही नहीं सकता। किन्तु उसका व्यक्तित्व मिलावटी है इसलिए वह मिलावट कैसे नहीं करेगा? जब तक मिलावटी व्यक्तित्व विद्यमान रहेगा, मिलावट चलती रहेगी।

मिलावट प्रकृति का स्वभाव जैसा बना हुआ है। सोने और मिट्टी में क्या संबंध है? किन्तु किसी भी खान से कभी भी शुद्ध सोना नहीं निकलता। वह हमेशा मिट्टी के साथ निकला है। हीरे-पन्ने भी शुद्ध नहीं निकलते। वे भी मिलावट के साथ निकलते हैं। खान से कोई भी धातु शुद्ध नहीं निकलती, उसे शुद्ध करना होता है। जमीन से खनिज तेल निकलता है। उसमें भी मिश्रण होता है। उसे भी शुद्ध किया जाता है।

मिलावट प्रकृति का नियम है। जो प्रकृति का नियम है, वह चेतना का नियम बना हुआ है। चेतना के साथ कुछ मिला हुआ है। उस मिलावट का नाम है बंधन। चेतन के साथ दूसरा मिल गया, अचेतन मिल गया। इसका अर्थ है बंधन। इसका अर्थ है समस्या और दुःख। बहुत लोग सोचते हैं—जीवन में समस्या बहुत है, दुःख बहुत है। जब समस्या का कारण मौजूद है तो समस्या क्यों नहीं होगी? समस्या, दुःख और बंधन का कारण यह मिलावट है, चेतन

और अचेतन का मिश्रण है। चेतन और अचेतन—दोनों का साथ में एक योग बना हुआ है। जिस दिन व्यक्ति में एक चेतना जागती है और उसे यह अनुभव होता है—हमारा व्यक्तित्व मिलावटी है, उसे शुद्ध बनाना है। जब शुद्ध व्यक्तित्व की खोज में व्यक्ति प्रस्थान करता है, तब उसकी शैली बदल जाती है।

अस्तित्व की अभिव्यक्ति है व्यक्तित्व

शुद्ध चेतना की खोज, शुद्ध पदार्थ की खोज बहुत कठिन है। बाजारों में पट्ट पर लिखा होता है—‘शुद्ध देशी घी की मिठाइयां’ और बिकती है वनस्पति घी की मिठाइयां या खराब चीजों से बनी मिठाइयां। पहले यह निर्णय करना ही कठिन हो जाता है—शुद्ध घी की मिठाई है कहां? प्रश्न होता है—शुद्ध व्यक्तित्व है कहां? जब इसका पता लगाते हैं तब व्यक्ति दो भागों में बंट जाता है—अशुद्ध व्यक्तित्व और शुद्ध व्यक्तित्व।

व्यक्तित्व अस्तित्व की अभिव्यक्ति है। इस दृष्टि से उसके तीन विभाग हो जाते हैं—अस्तित्व, अशुद्ध व्यक्तित्व और शुद्ध व्यक्तित्व। बंधा हुआ व्यक्तित्व अशुद्ध व्यक्तित्व है। बंधन-मुक्त व्यक्तित्व विशुद्ध व्यक्तित्व है और एक व्यक्ति का अपना अस्तित्व है। अस्तित्व की ओर जाने में सबसे बड़ी बाधा है मिलावटी व्यक्तित्व। जहां भी मिलावट आएगी, गड़बड़ी पैदा हो जाएगी। दूसरे को धोखा देना है तो सबसे पहले झूठ का सहारा लेना होता है, मिथ्या दृष्टिकोण का निर्माण होता है।

एक बच्चा डिब्बों पर लेबल चिपका रहा था। जो नमक का डिब्बा था, उस पर उसने चीनी का और जो चीनी का डिब्बा था, उस पर नमक का लेबल चिपका दिया। मां ने पूछा—‘तुमने चीनी पर नमक का और नमक पर चीनी का लेबल क्यों लगाया?’ लड़के ने जवाब दिया—‘मां! चीटियों को धोखा देने के लिए।’

दूसरों को धोखा देने के लिए झूठ का, मिथ्या दृष्टिकोण का सहारा लेना होता है।

जीव और अजीव, चेतन और अचेतन का योग हुआ। उसने सबसे पहले मिथ्या दृष्टिकोण का निर्माण किया। मिथ्या दृष्टिकोण के बिना मिलावट चल नहीं सकती। यह योग तभी कायम रह सकता है जब मिथ्या दृष्टिकोण बना रहे। तब तक आत्मा अपने आपको अचेतन मानता रहेगा, जब तक यह मिश्रण चलता रहेगा। जिस दिन चेतन स्वयं को चेतन मानना शुरू कर देगा, उस दिन यह मिश्रण, मिलावट समाप्त होनी शुरू हो जाएगी।

अविरति और आकांक्षा

बन्धन, दुःख और समस्या का सबसे पहला कारण है—मिथ्या दृष्टिकोण। मिथ्या दृष्टिकोण दृष्टि को विपरीत बना देता है। जब तक मिथ्या दृष्टिकोण नहीं बदलेगा, तब तक दुःख, समस्या और बन्धन में व्यक्ति जकड़ा रहेगा। दुःख और बन्धन-मुक्ति का पहला उपाय है—सम्यक् दृष्टिकोण का निर्माण।

जब व्यक्ति में मिथ्यात्व की चेतना जागती है, उसके मन में आकांक्षाएं उभर जाती हैं। दृष्टिकोण गलत बना और आकांक्षा शुरू हो जाएगी। जो इच्छा

नहीं है, आकांक्षा नहीं है, उसकी चाह शुरू हो जाती है। जीव में पुद्गल की कोई चाह या आकांक्षा नहीं होती किन्तु मिथ्या दृष्टिकोण उसमें इस चाह जगा देता है। चाह का कहीं अन्त ही नहीं होता। अनन्त चाह और आकांक्षा पैदा हो जाती है। उसका परिणाम है प्रमाद। व्यक्ति अपने स्वरूप को भुला देता है। उसे अपनी विस्मृति हो जाती है। चेतन को बहुत बार यह याद ही नहीं रहता कि मैं चेतन हूँ। उसे अपने चैतन्य की विस्मृति हो जाती है।

मेरे सामने एक प्रश्न है—हमारा चौबीस घण्टों में आत्मा के साथ कितना संपर्क जुड़ता है और पदार्थ के साथ कितना सम्पर्क जुड़ता है? यदि हम इसका विश्लेषण करें तो हमें हमारी वास्तविक स्थिति का बोध हो सकता है। एक व्यक्ति सुबह उठता है। आजकल व्यक्ति बिस्तर पर ही बेड-टी लेना पसन्द करता है। पहला सम्पर्क चाय से जुड़ता है। वह उठने के बाद कुल्ला करता है। उसका दूसरा संबंध दूधपेस्ट के साथ जुड़ जाता है। उसके बाद वह स्नान करता है, उसका सम्पर्क साबुन और पानी से होता है। उसके बाद उसका सम्बन्ध कपड़ों से जुड़ता है। स्नान के बाद वह दर्पण के सामने खड़ा होता है, तेल लगाता है, इत्र लगाता है, कंधी करता है, कपड़े पहनकर तैयार होता है। और भी न जाने कितने प्रकार के पुद्गलों से सम्पर्क जोड़ लेता है। इतना होने के बाद वह नाश्ता करता है। नाश्ते में उसका सम्बन्ध चाय, दूध, बिस्कुट, पापड़ आदि न जाने कितने पुद्गल द्रव्यों से हो जाता है। आजकल शहरी लोग हेवी नाश्ता करते हैं। परांटें, सब्जियाँ, ब्रेड, टोस्ट आदि कितने ही पदार्थ एक दिन के नाश्ते में चाहिए। नाश्ते के बाद वह बाहर आता है, दूसरों से मिलता है, बातचीत शुरू होती है, हंसी-मजाक व मनोरंजन शुरू होता है। टी.वी., रेडियो और आफिस के साथ सम्पर्क जुड़ता है। ग्राहकों के साथ, अतिथि और अधिकारियों के साथ सम्पर्क होता है।

पदार्थ जगत के साथ सम्पर्क की एक शृंखला है। एक व्यक्ति दिन में न जाने कितने व्यक्तियों और पदार्थों से जुड़ता है। व्यक्ति एक दिन में हजारों हजारों व्यक्तियों से सम्पर्क साध लेता है। पदार्थ जगत से सम्पर्क की शृंखला का कोई अन्त नहीं है। सम्पर्क जोड़ने वाला जीव है और जिसके साथ सम्पर्क कर रहा है, वह अजीव है। यह दृष्टिकोण का विपर्यास है। 'मैं जीव हूँ' इस सत्य की स्मृति दिन में दो बार भी नहीं होती। सारा सम्पर्क अजीव के साथ जुड़ा हुआ है। वह अजीव को देखता है, अजीव से सम्पर्क करता है, अजीव के साथ रहता है। उसके चारों ओर अजीव का एक जाल-सा बिछा हुआ है और वह उसमें फंसता चला जाता है। ऐसा लगता है—उसका व्यवहार अजीवमय बन गया है। इस स्थिति में चैतन्य की स्मृति कैसे हो सकती है?

बंधन : पांच हेतु

प्रत्येक व्यक्ति के सामने प्रश्न है—दृष्टिकोण का यह विपर्यास कैसे मिटे? यह बन्धन की पहली आधारशिला है। उसका दूसरा कारण है आकांक्षा। विपरीत दृष्टि वाला व्यक्ति अविरति में डूबता चला जाता है। उसकी चाह की कहीं कोई सीमा नहीं होती। उसे जितना भी मिलता है, वह अपर्याप्त ही रहता है। तीसरा

कारण है प्रमाद। आकांक्षा और चाह में डूबा आदमी अपने चैतन्य की विस्मृति कर देता है। चौथा कारण है—आवेश। जहां विस्मृति है, वहां आवेश न आए, यह कभी संभव नहीं है। प्रमाद की स्थिति में आवेश आएगा, कषाय की खुलकर खेलने का अवसर मिल जाएगा, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि से व्यक्ति घिर जाएगा। पांचवां कारण है चंचलता। आवेग और आवेश व्यक्ति को चंचलता से भर देता है।

अस्तित्व का अंकुर फूटे

बन्धा हुआ व्यक्तित्व, असंतुलित व्यक्तित्व पांच भागों में बंट जाता है—मिथ्या दृष्टिकोण का व्यक्तित्व, आकांक्षा का व्यक्तित्व, प्रमाद का व्यक्तित्व, कषाय का व्यक्तित्व और चंचलता का व्यक्तित्व। इस सन्दर्भ में अस्तित्व की बात, आत्मा को देखने और समझने की बात कितनी सार्थक है? पचास बार कहा जाए—आत्मा को देखो। क्या उस ओर प्रस्थान हो जाएगा? पत्थर पर पानी की बूंदें गिरती हैं पत्थर कभी पसीजता नहीं। यदि मिट्टी पर पानी की बूंदें गिरती हैं तो मिट्टी पसीज जाती है, गीली हो जाती है, अंकुर फूट पड़ता है। मिथ्या दृष्टिकोण ने हमारे व्यक्तित्व को पत्थर की भांति कठोर बना दिया है। उस पार पानी की बूंदें गिरती हैं, लुढ़क कर नीचे चली जाती हैं। हमारा व्यक्तित्व पसीजता नहीं है, अस्तित्व का अंकुर फूटता नहीं है। लोहे के गर्म तवे पर पानी की बूंद गिरती है, एक आवाज होती है और उसका कहीं पता ही नहीं चलता।

हमारे व्यक्तित्व की यह एक विचित्र स्थिति बनी हुई है। इस स्थिति में बन्धन के सघन चक्रव्यूह को तोड़ना बहुत कठिन है, पर यह निराश होने की बात नहीं है। अज्ञान से आदमी ज्ञान की दिशा में आता है, स्थिति बदल जाती है। बन्धन का एक मार्ग है तो मुक्ति का भी एक मार्ग है। मुक्ति का मार्ग है—निरोध और विशोधन। इनके द्वारा बन्धन के चक्रव्यूह को तोड़ा जा सकता है। दो दृष्टिकोण प्रस्तुत हो गए—मिथ्या दृष्टिकोण का निरोध किया जा सकता है, उसका विशोधन अथवा क्षय किया जा सकता है। इसका अर्थ है—मुक्ति की दिशा में प्रस्थान।

तीन धाराएं

बन्धन का एक कारण है अज्ञान। ज्ञान के बिना कुछ नहीं हो सकता। सबसे पहले ज्ञान की चेतना जागे। जब वह जाग जाती है, बन्धन शिथिल होने लग जाता है। चाहे पुण्य का बंध हो या पाप का बंध, अनुकूल परिस्थिति हो या प्रतिकूल परिस्थिति, सुख हो या दुःख—दोनों स्थितियां भटकाने वाली बन जाती हैं। अध्यात्म के आचार्यों ने सुखवाद का भी विरोध किया है। इस स्थिति के सन्दर्भ में तीन धाराएं प्रस्तुत हो गई—पुण्यवाद, पापवाद और पुण्य-पापातीतवाद—पुण्य और पाप—दोनों से अतीत होना। जब व्यक्ति पुण्य और पाप से अतीत होता है, सारी स्थितियां बदल जाती हैं। जीवन में कभी एक क्षण ऐसा आता है, अन्तर्ज्ञान का प्रकाश फूटता है, आदमी बदल जाता है।

रूपान्तरण का क्षण

कौशल नरेश बहुत दयालु था, कृपालु था। वह प्रजा के साथ अच्छा व्यवहार करता था। प्रजा को सुखी बनाए रखने का प्रयत्न करता रहता था। काशी नरेश प्रजा के प्रति बहुत क्रूर था। उसमें करुणा नहीं थी। जो करुणाशाली होता है, दयालु होता है, उसका यश फैलता चला जाता है। काशी नरेश ने सोचा—कौशल नरेश की कितनी ख्याति है, कितनी महिमा है, मुझे कोई पूछता ही नहीं है। मन में ईर्ष्या जाग गई। उससे रहा नहीं गया। सेना को इकट्ठा किया और कौशल पर आक्रमण कर दिया। काशी नरेश पूरी तैयारी के साथ युद्ध के लिए आया था। कौशल नरेश सजा हुआ नहीं था। उसके कोई तैयारी नहीं थी। आकस्मिक आक्रमण हुआ था। उसने सोचा—मैं जीतने में समर्थ नहीं हूँ। सैनिक मरेंगे, मेरी प्रजा का संहार होगा। ऐसा होना अच्छा नहीं है। उसने एक निर्णय लिया और राज्य छोड़कर जंगल में चला गया।

काशी नरेश कौशल का अधिपति बन गया। उसने राज्य पर अपना प्रभुत्व जमा लिया पर जनता के दिलों पर उसका राज नहीं बन सका। जनता कौशल नरेश को ही याद करती, उसका ही यश और महिमा बखानती। काशी नरेश ने सोचा—मैं राजा बन गया फिर भी जनता मुझे नहीं चाह रही है। मुझे क्या करना चाहिए, जिससे जनता मुझे चाहने लगे। उसने अनेक उपाय किए पर वह जनता के दिल से कौशल नरेश का स्थान हटा नहीं सका।

उसने सोचा—जब तक कौशल नरेश जीवित रहेगा, जनता मुझे नहीं चाहेगी। अच्छा यही है—मैं कौशल नरेश को मरा दूँ। काशी नरेश ने राजसभा में घोषणा कर दी—जो व्यक्ति कौशल नरेश को जीवित या मृत मेरे सामने प्रस्तुत करेगा, उसे सौ स्वर्ण मुद्राएं पुरस्कार में दी जाएगी।

शासक लोग विचित्र होते हैं। उनका अपना एक अलग ही दृष्टिकोण होता है। इसी वर्ष (सन् १६८६) चीन के शासकों ने आजादी की मांग कर रहे सैकड़ों छात्रों को भून डाला। उनके शांतिपूर्ण अभियान को हिंसा से कुचल दिया। सत्तासीन व्यक्तियों का दृष्टिकोण उनकी क्रूरता से उपजता है।

लोग चारों तरफ दीड़ पड़े। धन के लिए आदमी सब कुछ करने के लिए तैयार हो जाता है। जैसे-तैसे कौशल नरेश को पकड़ें और पुरस्कार जीतें। कौशल नरेश जंगल में घूम रहे थे। उनका आकार-प्रकार—सब कुछ बदला हुआ था। इस स्थिति में उन्हें पहचानना मुश्किल था। कौशल नरेश बदले हुए देश में घूम रहे थे। उधर एक परदेसी व्यक्ति आया। उसने कौशल को नमस्कार कर पूछा—‘भाई! मुझे कौशल नगर जाना है। मैं कौशल की राजधानी का रास्ता नहीं जानता। क्या तुम मेरा सहयोग करोगें?’

कौशल नरेश ने कहा—‘बता दूंगा।’ दोनों साथ हो लिए। बातें चल पड़ीं। परदेशी बोल—‘भैया! क्या बताऊँ? मैं बड़ा दुःखी हूँ। मैं व्यापारी था। अपने देश से जहाज में सामान लेकर व्यापार के लिए चला। मार्ग में तूफान आया। जहाजें टूट गईं, नौकाएं टूट गईं, सारा धन चला गया।’

कौशल नरेश ने पूछा—‘भाई! तुम कौशल क्यों जा रहे हो?’

‘मैंने सुना है, कौशल देश का राजा बड़ा दयालु है। वहाँ मुझे अवश्य कुछ सहायता मिलेगी। इस आशा से मैं कौशल जा रहा हूँ।’

कौशल नरेश ने रास्ता ही नहीं बतलाया, स्वयं उसके साथ चल पड़ा। कौशल नरेश और परदेशी—दोनों काशी नरेश की सभा में पहुँचे। सभा में पहुँचकर कौशल नरेश बोला—‘महाराज! आप जिसकी खोज में है, वह मैं (कौशल नरेश) आपके सामने प्रस्तुत हूँ। आपने घोषणा की है—जो व्यक्ति कौशल नरेश को जीवित या मृत अवस्था में मेरे सामने प्रस्तुत करेगा, उसे सौ स्वर्ण मुद्राएं दी जाएगी। आप इस व्यापारी को सौ स्वर्ण मुद्राएं दें और मेरा सिर काट डालें। इस भाई को रुपयों की सख्त जरूरत है। यह बड़ी आशा लेकर आया है। आप उसकी आशा को पूर्ण करें।’

काशी नरेश यह सुनकर अवाक रह गया। उसे सहसा विश्वास ही नहीं हुआ। क्या कभी ऐसा हो सकता है? क्या यह सम्भव है? किन्तु प्रत्यक्ष को नकारने का साहस उसमें नहीं था। इस घटना से उसका मन रूपान्तरित हो गया। काशी नरेश सिंहासन से नीचे उतरा, उसने कौशल नरेश को प्रणाम किया और उन्हें कौशल के सिंहासन पर बिठा दिया।

काशी नरेश ने कहा—‘यह लें अपना राज्य। मैं इसे सदा के लिए छोड़ रहा हूँ।’

आदमी बदलता है। एक कोण ऐसा आता है, व्यक्ति बदल जाता है। कौशल नरेश का एक ऐसा व्यवहार सामने आया, काशी नरेश का हृदय बदल गया। जीवन में भी बदलने का कोई ऐसा कोण आता है, व्यक्ति में बदलाव घटित होने लग जाता है। जब बदलाव शुरू होता है, तब पुराने बंधन टूटने लगते हैं। जब बंधन टूटता है, दृष्टिकोण बदल जाता है, आकांक्षा की स्थिति बदल जाती है, विस्मृति भी टूटने लगती है। आदमी को बार-बार अपनी स्मृति हो आती है। ‘मैं कौन हूँ’ यह प्रश्न उसके मानस को कुरेदने लगता है, आवेश कम हो जाता है, धंचलता भी मंद होती जाती है। बन्धन का मार्ग पीछे रह जाता है, मुक्ति का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

जीव बंधन से चला और मुक्ति के निकट पहुँच गया। दो छोर हैं—एक ओर बंधा हुआ जीव तो दूसरी ओर अपना शुद्ध अस्तित्व—इन दोनों के बीच है उपयोगितावादी दृष्टिकोण। जिस व्यक्ति ने इस रहस्य को पकड़ा है, उसने सचमुच अन्धकार से प्रकाश की ओर, बंधन से मुक्ति की ओर, मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की ओर प्रस्थान किया है।

बिम्ब एक : प्रतिबिम्ब अनेक

सर्दी का मौसम था। दो मित्र घूमने निकले। किसी बगीचे में पहुंचे। एक धूप में जाकर बैठ गया और दूसरा पेड़ की छाया में। किसी व्यक्ति ने पूछा—‘तुम दोनों साथ आए। तुम धूप में बैठे हो और वह पेड़ के नीचे बैठा है, ऐसा क्यों?’ उसने कहा—‘मुझे पेड़ के नीचे बैठने में बड़ा सुख मिलता है।’ दूसरे से पूछा—‘तुम पेड़ के नीचे क्यों नहीं बैठे?’ उसने कहा—‘मुझे धूप में बड़ा सुख मिलता है।’

प्रतिबिम्ब दो हो गए और बिम्ब एक हो गया। मूल बात है—सुख मिलना। यह जरूरी नहीं है कि जिस बात से एक को सुख मिलता है, उसी से दूसरे को भी सुख मिले। किसी को शीतल छाया सुख देती है और किसी को धूप-सेवन। किसी को ठंडे पानी से नहाना अच्छा लगता है और किसी को गर्म पानी से स्नान करना। कुछ व्यक्ति सर्दी के दिनों में भी ठण्डे पानी से स्नान करते हैं। अधिकांश लोग सर्दी के मौसम में गरम पानी से स्नान करना पसन्द करते हैं। किसी व्यक्ति को मिठाई खाने में सुख मिलता है और किसी को नमकीन खाना रुचिकर लगता है। कोई व्यक्ति ठण्डा पेय पीना पसंद करता है और कोई व्यक्ति गर्म पेय पीना। इसलिए आधुनिक होटलों में ठण्डा और गर्म—दोनों प्रकार के पेय पदार्थों की व्यवस्था रहती है। हम कितनी ही घटनाएं लें, सबका निष्कर्ष एक ही है। आदमी वही काम करता है, जिसके प्रति उसकी रुचि होती है, रुझान होता है, आकर्षण होता है। उसे जिस कार्य में सुख मिलता है वह उस कार्य में व्यापृत होता है।

रुचि-निर्माण के घटक तत्त्व

आवश्यकता और लाभ—ये दो तत्त्व व्यक्ति की रुचि को सहारा देते हैं। व्यक्ति में पहले यह अनुभूति जागती है कि यह कार्य करना मेरे लिए जरूरी है। मुझे यह कार्य करना चाहिए, अवश्य करना चाहिए। वह यह सोचता है—इस कार्य में मुझे लाभ होगा। आवश्यकता की अनुभूति और लाभ की संभावना—ये दो तत्त्व रुचि का निर्माण करते हैं।

दो आदमी लड़ रहे हैं। तीसरा आदमी आया, वह वहीं खड़ा हो गया और लड़ाई देखने लगा। वे दोनों व्यक्ति बहुत देर तक लड़ते रहे, वह खड़ा खड़ा उन्हें देखता रहा। भीड़ जमा होती चली गई। जितनी देर तक लड़ाई चली, लोग उसे देखते रहे, उसमें रस लेते रहे। प्रश्न हो सकता है—उसमें कौन सी आवश्यकता की पूर्ति हो रही थी और कौन सा लाभ हो रहा था? उसमें आवश्यकता और लाभ—ये दोनों नहीं हैं। मानना चाहिए, रस भी रुचि के

निर्माण का एक महत्त्वपूर्ण घटक है। व्यक्ति को लड़ाई करने में जितना रस है, लड़ाई देखने में जितना रस है, उतना रस लड़ाई न करने में नहीं है। गाली देने में जो रस है, वह गाली न देने में नहीं है। क्रोध करने में जो रस है, वह क्षमा करने में नहीं है।

हमारा रस किसी दूसरे स्थान से बंधा हुआ है। यदि किसी व्यक्ति से कहा जाए—‘तुम एक घंटा तक आत्मा के बारे में चर्चा करो, आत्मा के विषय पर विमर्श करो!’ वह इस प्रस्ताव को मानने के लिए तैयार नहीं होगा। यदि सुनने के लिए तैयार हो भी जाए तो वह ध्यान से नहीं सुनेगा, आधी नींद के साथ सुनेगा। उस व्यक्ति से कहा जाए—‘आज टी.वी. पर ऐसा दृश्य आने वाला है, जिसमें मुद्ध का वर्णन है, लड़ाई के रोमांचक दृश्य हैं।’ वह व्यक्ति इस बात को ध्यान से सुनेगा, टी.वी. पर आने वाले उस कार्यक्रम को बहुत गौर से देखेगा। उस समय उसे ऐसा अनुभव होता है कि दुनिया में नींद नाम की कोई चीज ही नहीं है। टी.वी. देखते समय या सिनेमा देखते समय कौन व्यक्ति नींद लेता है? उस समय आती हुई नींद भी उड़ जाती है। ऐसी स्थिति में कोई व्यक्ति नींद ले, यह अपवाद ही हो सकता है।

राजलदेसर के एक तत्त्वज्ञ श्रावक हुए हैं श्री चांदमलजी बैद। वे तत्त्व-चर्चा में सारी रात जगा देते, उन्हें नींद नहीं आती। सिनेमा देखना उनकी रुचि का विषय नहीं था। वे उसे निकम्मा कार्य समझते थे। वे प्रायः सिनेमाघर नहीं जाते थे। कभी कोई व्यक्ति उन्हें आग्रह करके सिनेमाघर में ले जाता तो वे नींद लेकर अपना समय पूरा करते। इधर फिल्म चलती रहती उधर वे नींद लेते रहते।

एक व्यक्ति धर्म की बात सुनते हुए नींद लेता है और एक व्यक्ति फिल्म देखते हुए नींद लेता है। इसका मतलब है—व्यक्ति का कार्य रुचि से जुड़ा होता है। जहां रुचि होती है, वहां नींद नहीं आती। जहां रुचि नहीं होती, वहां नींद आती है। यदि धर्मकथा सुनने में नींद आती है तो मान लेना चाहिए, धर्म की रुचि अभी जागृत नहीं हुई है। उपाध्याय यशोविजयजी ने बहुत अच्छा लिखा है—

चतुरशीतावहो! योनिलक्षेष्ण्यं, क्व त्वयाऽऽकर्णिता धर्मवार्ता।

प्रायशो जगति जनता मिथो विवदते, ऋद्धिरससातगुरुगौरवार्ता।

आश्चर्य है! इस चौरासी लाख परिमित जीवयोनि में तूने धर्मवार्ता कहां सुनी? इस जगत् में प्रायः जनता ऋद्धि, रस और सुख के गुरु-गौरव से पीड़ित बनी हुई परस्पर विवाद कर रही है।

चर्चा के मुख्य विषय

ऋद्धि, रस और सात—इन तीन विषयों में मनुष्य का रस है, आकर्षण है। ऋद्धि की चर्चा, धन की चर्चा चारों ओर है। व्यक्ति बाजार में चला जाए, पंचायत में चला जाए, कहीं भी चला जाए, धन चर्चा का विषय बन जाएगा। एक व्यक्ति कहता है—अमुक व्यक्ति लखपति है। दूसरा व्यक्ति कहेगा—नहीं, उसके पास इतना नहीं है। एक व्यक्ति कहेगा—तुम्हें पता नहीं, अमुक व्यक्ति के दिवाला

निकला हुआ है। अमुक व्यक्ति ने इतना धन कमा लिया, अमुक व्यक्ति ने इतना धन गंवा दिया। चर्चा का एक मुख्य केन्द्र बिन्दु बना हुआ है, ऋद्धि या वैभव।

चर्चा का एक विषय बनता है भोजन। एक व्यक्ति कहता है—आज मैं अमुक बारात में गया था। वहाँ इतनी मिठाइयाँ बनी थीं, इतना बढ़िया भोजन बना था। दूसरा व्यक्ति कहता है—मैं जिस बारात में गया था वहाँ बहुत कम मिठाइयाँ परोसी गईं। भोजन भी अच्छा नहीं था और आतिथ्य भी अच्छा नहीं था। भोजन की चर्चा में सारा समय व्यर्थ चला जाता है। चर्चा का एक विषय बनता है—सुख, प्रिय संवेदन। व्यक्ति अपने सुख में बीते हुए क्षणों को याद करता रहता है। वह उनकी स्मृति और चर्चा करता रहता है।

व्यक्ति का आकर्षण इन तीन बिन्दुओं पर केन्द्रित है। ऐसी स्थिति में धर्म की बात कैसे अच्छी लगे? धर्म में न खाने की बात है, न पीने की बात है और न कोई आकर्षण पैदा करने वाला तत्त्व है। शायद इसीलिए धर्म के लोगों ने प्रभावना या प्रसाद बांटना शुरू किया होगा? वैष्णव धर्म में कहा जाता है प्रसाद और जैन-धर्म में लोग कहते हैं प्रभावना। जो लोग धर्म की बात सुनने नहीं आते हैं, प्रभावना या प्रसाद का आकर्षण उन्हें खींच लाता है। प्रसाद या प्रभावना में लड्डू बांटे जाते हैं। उनके आकर्षण से बच्चे इकट्ठे हो जाते हैं, बड़े लोग भी आने लग जाते हैं। किन्तु आकर्षण से मूल रुचि को नहीं जगाया जा सकता।

आज तत्त्व के प्रति आकर्षण सघन नहीं है। जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष—ये नवतत्त्व कहलाते हैं। प्रश्न है—इनके प्रति रुचि कैसे जागे? जब तक आवश्यकता और लाभ की अनुभूति नहीं होती तब तक इनके प्रति रुचि पैदा नहीं हो सकती। वस्तुतः धर्म के प्रति नैसर्गिक रुचि बहुत कम होती है। वह जगाने पर ही जागती है। आचार्य का, धर्मगुरु का काम होता है रुचि को जगाना। रुचि के साथ चलना आसान है किन्तु नई रुचि पैदा करना बहुत कठिन काम है। अगर आवश्यकता की अनुभूति करा दी जाए, उसके परिणाम की अनुभूति करा दी जाए तो नई रुचि की जागृति संभव बन जाती है।

धर्म की आवश्यकता : एक बिन्दु

मैंने एक युवक से पूछा—‘भाई! कभी अपने बारे में सोचते हो? धर्म में समय लगाते हो? धार्मिक अनुष्ठान करते हो?’

‘बिल्कुल नहीं करता!’

‘क्यों नहीं करते?’

‘उसके प्रति मेरा कोई आकर्षण ही नहीं है।’

एक युवक के मन में धर्म के प्रति आकर्षण कम होता है। उसका आकर्षण पढ़ने में होता है, व्यापार करने और सुख-सुविधा जुटाने में होता है। धन और मनोरंजन में उसका आकर्षण है। उनकी इन सब बातों में रुचि है। जहाँ रुचि होती है, वहाँ प्रीति होती है, आकर्षण होता है। धर्म के प्रति रुचि नहीं है इसलिए उसके प्रति प्रीति भी नहीं होती, आकर्षण भी नहीं होता।

मैंने पूछा—‘तुम माला जपते हो?’

‘महाराज! जब भी हम आपके पास आते हैं, आप कहते हैं—माला गिनो। कल मैं एक साध्वी के पास गया था, उन्होंने कहा—माला जपा करो। आज एक मुनिजी ने भी यही बात कही। आप भी यही बात कह रहे हैं। मैं। कितनी मालाएं गिनुं? क्यों जप करूं? मुझे उससे क्या मिलना है?’

‘तुम्हारा शरीर कैसा है?’

‘एकदम स्वस्थ है।’

‘शरीर के सिवाय तुम्हारे पास और कुछ भी है? क्या मन नहीं है?’

‘हां! मन तो है।’

‘और भावना?’

‘उसके सहारे ही सारा जीवन जीता हूं।’

‘शरीर, मन और भावना—इन तीनों में शक्तिशाली कौन है? तुम्हारा शरीर स्वस्थ और मजबूत लग रहा है। यह शरीर शक्तिशाली है या मन?’

‘मन शक्तिशाली ज्यादा है। अगर मन थोड़ा कमजोर हो जाए, दुर्बल हो जाए तो घुटने टिक जाते हैं। मन की शक्ति के सामने शरीर की शक्ति कुछ भी नहीं है।’

‘तुम मानते हो—शरीर से भी मन ज्यादा शक्तिशाली है। अब यह बताओ—तुम शरीर को अच्छा बनाने के लिए कितना समय लगाते हो?’

‘शरीर के लिए तो बहुत समय लगता है।’

‘क्या मन के लिए जरूरी नहीं है?’

‘करना तो चाहिए।’

‘क्या तुम जानते हो, मन कैसे मजबूत रह सकता है?’

‘मैं नहीं जानता, उसका साधन क्या है?’

‘उसका साधन है धर्म। वह मन और भाव—दोनों को पवित्र तथा शक्तिशाली बनाता है।’

यह एक बिन्दु है, जिस पर पहुंच कर व्यक्ति धर्म की आवश्यकता की अनुभूति करता है। व्यक्ति शरीर के प्रति निरन्तर सजग रहता है किन्तु मन के प्रति नहीं। इसका कारण है—उसे अभी तक आवश्यकता की अनुभूति नहीं हुई।

एक मालिक ने अपने नौकर से कहा—‘भाई! इतने दिन मेरी नौकरी अच्छी जगह लगी हुई थी। मुझे खूब पैसा मिलता था। हमारे यहां बहुत बढ़िया भोजन बनता था। किन्तु आज मेरी नौकरी छूट गई है, इसलिए रूखा-सूखा खाना बनाना, बहुत ज्यादा घी का प्रयोग मत करना। उसने रसोई बनाई। मालिक को रूखे-सूखे—बिना चुपड़े फुलके परोस दिए। मालिक ने खाना खा लिया। मालिक को खाना खिलाकर वह स्वयं खाना खाने बैठा। उसने अपने लिए फुलके चुपड़े। वह घी से बने मसालेदार साग के साथ उन्हें खाने लगा। मालिक बोला—यह क्या कर रहे हो? मैंने तुम्हें घी के लिए मना किया था। नौकर ने कहा—मालिक! मेरी तो नौकरी लगी हुई है। आपकी नौकरी छूटी है। आप

रूखा-सूखा खाना खाएं, मैं क्यों खाऊँ? मुझे रूखा-सूखा भोजन करने की आवश्यकता क्या है?’

रुचि की जागृति आवश्यकता से जुड़ी हुई है। मन को बलवान बनाना, भावनाओं को स्वस्थ बनाना अच्छा जीवन जीने के लिए जरूरी है। जब तक यह बात समझ में नहीं आती, धर्म के प्रति रुचि जागृत नहीं होती। जब यह बात समझ में आती है, व्यक्ति की रुचि बदल जाती है।

रुचि के दस प्रकार

जीवन में कुछ क्षण ऐसे आते हैं, कुछ मोड़ ऐसे आते हैं, जीवन की दिशा बदल जाती है। व्यवहार और आचरण में परिवर्तन श्रद्धा या रुचि के बदलने पर ही संभव बनता है। जब तक रुचि नहीं बदलेगी, श्रद्धा नहीं बदलेगी तब तक मान्यता और धारणा नहीं बदलेगी, व्यवहार और आचरण नहीं बदलेगा। भगवान महावीर ने इस तथ्य पर सर्वाधिक बल दिया। उन्होंने बहुत स्पष्टता से कहा—सबसे पहले श्रद्धा या रुचि पर ध्यान दो। चारित्र और व्यवहार के परिवर्तन की बात उसके बाद में है। पहले यह देखना जरूरी है कि व्यक्ति की रुचि किससे जुड़ी हुई है। यदि उसकी रुचि पदार्थ से जुड़ी हुई है तो वह अपदार्थ की बात कैसे समझ पाएगा? पहले अपदार्थ के प्रति, आत्मा के प्रति रुचि पैदा होना आवश्यक है।

आगम में रुचि के दस प्रकार बतलाए गए हैं—

निसर्गुवएसरुई आणारुइ सुत्तबीयरुइमेव ।

अभिगमवित्थाररुई किरियासंखेवधम्मरुई ॥

- | | |
|----------------|-----------------|
| १. निसर्ग-रुचि | ६. अभिगम-रुचि |
| २. उपदेश-रुचि | ७. विस्तार-रुचि |
| ३. आज्ञा-रुचि | ८. क्रिया-रुचि |
| ४. सूत्र-रुचि | ९. संक्षेप-रुचि |
| ५. बीज-रुचि | १०. धर्म-रुचि |

निसर्ग-रुचि : उपदेश-रुचि

रुचि का एक प्रकार है निसर्ग-रुचि। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिनमें सहज रुचि होती है। उनके मन में अपने आप तत्त्व के प्रति रुचि जाग जाती है, आत्मा के प्रति श्रद्धा जाग जाती है। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिनमें सहज रुचि नहीं होती। उनमें रुचि को पैदा किया जाता है। प्रयत्न से रुचि पैदा हो जाती है। इसलिए सामान्यतः रुचि दो भागों में बंट जाती है—निसर्ग-रुचि और उपदेश-रुचि।

कुछ लोग सहज शांत रुचि लेने वाले होते हैं। वे लड़ाई में रस नहीं लेते, बातों में रस नहीं लेते, निन्दा-चुगली में रस नहीं लेते। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिनमें रुचि को जगाना पड़ता है। स्वाध्याय, उपदेश, प्रवचन, धर्मकथा—ये सब रुचि को जगाने के प्रयत्न हैं। यदि सारे व्यक्ति निसर्ग-रुचि बन जाएं तो उपदेश देने की कोई जरूरत नहीं है। रुचि को जगाने के लिए प्रयत्न करना होता है। कुछ दिनों से आगम स्वाध्याय का एक क्रम चल रहा है। अनेक व्यक्तियों की

उसमें रुचि नहीं थी। आगम स्वाध्याय चलता रहा, आगम के प्रति रुचि जगाने का प्रयत्न चलता रहा। अनेक व्यक्तियों ने अनुभव किया—आगम का स्वाध्याय आवश्यक है। उससे बहुत लाभ होने की संभावना है। आगम के प्रति रुचि जाग गई।

रुचि बदलने का सूत्र है—एक आवश्यक कार्य के सामने उससे अधिक आवश्यक कार्य का प्रस्तुत होना। व्यक्ति को यह अनुभूति हो, अमुक कार्य मेरे लिए ज्यादा आवश्यक है। वह उस कार्य को अपनी रुचि का विषय बना लेता है। यह अनुभूति हो, उसके कार्य में अधिक लाभ है तो व्यक्ति की रुचि बदल जाएगी।

एक प्रसिद्ध कथा है—देवी ने प्रसन्न होकर एक ब्राह्मण की दक्षिणावर्त शंख प्रदान किया। दक्षिणावर्त शंख से जो मांगा जाता है, वह मिल जाता है। एक बार ब्राह्मण किसी यात्रा पर निकला। दक्षिणावर्त शंख साथ में था। मार्ग में एक ब्राह्मण के घर ठहरा, रात्रि विश्राम किया। वह सुबह चार बजे उठा। दक्षिणावर्त शंख की पूजा कर ब्राह्मण ने कहा—‘दो दस रुपये।’ दक्षिणावर्त शंख ने दस रुपये देते हुए कहा—‘लो दस रुपये।’ यह देख गृहस्वामी ब्राह्मण का मन ललचा गया। थोड़ी देर बाद अतिथि ब्राह्मण किसी कार्य के लिए इधर-उधर गया। पीछे से उस गृहस्वामी ब्राह्मण ने दक्षिणावर्त शंख उठा लिया, उसके स्थान पर दूसरा शंख रख दिया। ब्राह्मण ने अपना थैला लेकर प्रस्थान किया। दूसरा दिन उगा। प्रातः शंख की पूजा कर रुपये मांगे। उसे कुछ नहीं मिला। ब्राह्मण ने सोचा—धोखा हो गया। उस ब्राह्मण ने शंख बदल दिया। अब मैं क्या करूं?

ब्राह्मण पुनः देवी के पास पहुंचा। उसने देवी से प्रार्थना की—‘मां! मुझे बचाओ।’ देवी ने कहा—‘कोई बात नहीं। मैं तुम्हें दूसरा शंख देती हूँ।’ उसकी सारी विधि भी ब्राह्मण को समझा दी। ब्राह्मण शंख लेकर चला। वापस उसी ब्राह्मण के घर अतिथि बना। दूसरे दिन सुबह उठा। शंख की पूजा कर बोला—‘आज मुझे सौ रुपये की जरूरत है।’ शंख ने कहा—‘सौ क्यों, दो सौ रुपये लो।’ ब्राह्मण ने कहा—‘अभी नहीं बाद में ले लूंगा।’ उस गृहस्वामी ने सोचा—यह गजब का शंख है। दक्षिणावर्त शंख तो उतना ही देता है, जितना मांगते हैं। यह उससे दुगुना देता है। अतिथि ब्राह्मण इधर-उधर गया। घरवाले ब्राह्मण ने दक्षिणावर्त शंख उसकी झोली में डाल दिया और दूसरे शंख को उठा लिया। ब्राह्मण का काम बन गया। वह वहां से अपना थैला उठा कर चल पड़ा। दूसरे दिन ब्राह्मण ने उस नए शंख की पूजा की और सौ रुपये मांगे। उस शंख ने कहा—‘लो दो सौ रुपये।’ ब्राह्मण ने कहा—‘लाओ दो सौ।’ शंख ने कहा—‘मैं डफोर-शंख हूँ, केवल बोलता हूँ, देता कुछ नहीं। तुम बोलते चले जाओ, मैं भी बोलता चला जाऊंगा। लेना-देना कुछ नहीं।’

लक्षं लक्षं पुनर्लक्षं, कोटिरयुतमेव च।

अहं डफोरशंखोस्मि, वदामि न ददाम्यहं॥

हम कथा का निष्कर्ष निकालें। ब्राह्मण ने दक्षिणावर्त शंख को छोड़कर डफोरशंख क्यों लिया? इसका कारण था—उसे डफोरशंख में अधिक लाभ दिखाई

दिया। मनुष्य की रुचि वहीं जाती है जहां लाभ अधिक दिखाई देता है। शरीर बलवान बनाने की अपेक्षा मन को बलवान बनाना अधिक लाभप्रद है। मन को बलवान की अपेक्षा भावनाओं को बलवान बनाना अधिक लाभकारी है, अधिक आवश्यक है। यदि अधिक आवश्यकता और अधिक लाभ की अनुभूति हो जाए तो व्यक्ति के लिए धर्म करना अनिवार्य बन जाए। इस स्थिति में व्यक्ति का मानस बोलता है—मैं रोटी खाऊं या न खाऊं किन्तु माला जपना नहीं छोड़ूंगा, सामायिक करना नहीं छोड़ूंगा, प्रवचन सुनना नहीं छोड़ूंगा। यह अनिवार्यता की अनुभूति रुचि में बदलाव का महत्त्वपूर्ण कारण बनती है।

आवश्यकता की अनुभूति हो

बहुत कठिन है रुचि को मोड़ना। क्रिकेट की कोमेन्ट्री सुनने में जो आकर्षण है, रुचि है, धर्म की बात सुनने में वैसा आकर्षण कहां है? आज के युग में टी०वी०, सिनेमा देखने वाले, क्रिकेट की कोमेन्ट्री सुनने वाले उसे छोड़कर धर्म स्थान में आते हैं, धर्म-वर्चा में रस लेते हैं तो यह एक आश्चर्य की बात हो सकती है। आज स्थिति यह है कि जब रेडियो पर कोमेन्ट्री आती है, व्यक्ति खाना-पीना भूल जाता है। मां रोटी खाने के लिए कहती-कहती थक जाती है। जो कोमेन्ट्री में रस है, वह खाने में नहीं मिलता। सम्भव है, उस समय यदि चोर आ जाए, सामने से कोई चीज उठाकर ले जाए तो उस पर भी ध्यान नहीं जाए। इस स्थिति में यदि हम धर्म की आवश्यकता का अनुभव करा सकें, धर्म कितना आवश्यक है, इस तथ्य को समझा सकें तो व्यक्ति की रुचि बदल जाएगी, आकर्षण बदल जाएगा, उसके जीवन में एक नया मोड़ आ जाएगा।

वर्तमान युग को एक मोड़ देने की आवश्यकता है। अगर इस भौतिकवादी और सुविधावादी युग में, विज्ञापनों और गलत आकर्षणों के युग में मोड़ न ला सकें तो आने वाली पीढ़ी दायित्वहीन, बौद्धिक दृष्टि से कमजोर और विद्या की दृष्टि से शून्य होगी। दायित्व-बोध और गंभीरता जैसे तत्त्व विरल बन जाएंगे। इसलिए उपदेश-रुचि पर अधिक से अधिक ध्यान केन्द्रित होना चाहिए। हम उपदेश-रुचि के प्रयोग द्वारा जनता में नव तत्त्वों के प्रति, सत्य और धर्म के प्रति एक अनिवार्यता की अनुभूति जगाएं, यह अपेक्षित है। यह अनुभूति कराना हमारा सामाजिक दायित्व है, राष्ट्रीय दायित्व है और आत्मिक दायित्व है। उपदेश-रुचि का होना इन तीनों दृष्टियों से बहुत महत्त्वपूर्ण है। ऐसा करने वाला व्यक्ति युग को मोड़ने वाला है और वह युग प्रवर्तन में अपनी समुचित भूमिका निभाता है। युग के प्रवाह में न चलकर उसके प्रतिकूल चलने वाला व्यक्ति आकर्षण की दिशा को बदल सकता है। अभिभावकों का, माता-पिता का, यह दायित्व है कि वे बच्चों की रुचि के साथ न चलें किन्तु उनकी रुचि को मोड़ने में अपना योग दें। यदि ऐसा होता है तो महावीर की उपदेश-रुचि वाली बात हमारे लिए बहुत सार्थक और प्रासंगिक बन जाएगी।

दर्शन नहीं तो कुछ भी नहीं

एक आदमी की आंख स्वस्थ है। वह प्रत्येक वस्तु को साफ-साफ देखता है। एक आदमी के आंख नहीं है। उसे कुछ भी दिखाई नहीं देता। एक आदमी की आंख में जाला है। वह देखता है पर उसे साफ दिखाई नहीं देता। तीन अवस्थाएं हैं—आंख का ठीक होना, आंख का न होना और आंख का विकृत होना। किसी को पीलिया की बीमारी है, उसे सब कुछ पीला ही दिखाई देता है। कोई व्यक्ति काच-कामल का रोगी है तो उसे प्रत्येक वस्तु दो दिखाई देगी। वह चन्द्रमा को देखेगा तो उसे दो चन्द्रमा दिखाई देंगे और यदि अपनी एक अंगुली को देखेगा तो वे भी दो दिखाई देंगी। आंख की स्वच्छता, आंख का विकास और आंख का अभाव—ये तीन स्थितियां होती हैं।

जैसी दृष्टि : वैसी सृष्टि

बहुत बार समझाने का प्रयत्न किया—आखिर यह ज्ञान और दर्शन क्या है? आगम में कहा गया—नादंसणिस्स नाणं—दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता। पहले दर्शन और फिर ज्ञान। दर्शन मिथ्या है तो ज्ञान मिथ्या है। दर्शन सम्यक् है तो ज्ञान सम्यक् है। इसका अर्थ है—ज्ञान दर्शन पर निर्भर है। पर दर्शन क्या है?

एक वह शक्ति है, जिसके आधार पर हमारी धारणाएं बनती हैं, मान्यताएं बनती हैं और एक वह शक्ति है, जिससे हम मानते हैं, जानते हैं। पहले धारणा फिर मानना या जानना। जैसी धारणा वैसा जानना या मानना। हमारे सामने एक सूत्र प्रस्तुत हो जाता है—जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि। यह तथ्य एक ऐतिहासिक घटना से अधिक स्पष्ट हो पाएगा।

क्वणिक ने अपने पिता सम्राट श्रेणिक को कारागार में कैद कर दिया। यह राजतन्त्र का पुराना इतिहास है, कोई नई घटना नहीं है। राजाओं में ऐसा होता आया है। जिस पुत्र के मन में राज्य हथियाने की बात आ जाती, वह अपने पिता को कैद कर कारागार में डाल देता। क्वणिक के इस कार्य का विरोध भी बहुत हुआ। महारानी खेलना को इस बात का पता चला। उसने पुत्र से कहा—‘तुझे पता नहीं’ तुम्हारे पिता ने तुम्हारे पर कितना उपकार किया था। जब तुम गर्भ में थे तब मुझे दोहद उत्पन्न हुआ। मेरे मन में तुम्हारे पिता के कलेजे का मांस खाने की इच्छा पैदा हुई। मैं उस इच्छा को बताना नहीं चाहती थी। उनके बार-बार आग्रह करने पर मैंने अपने दोहद की बात उन्हें बताई। उन्होंने मेरी इस इच्छा को पूरा किया। जब तुमने जन्म लिया तब मैंने सोचा—जो लड़का गर्भ में ही पिता के कलेजे का मांस खाने की इच्छा करता है, न जाने वह आगे जाकर क्या करेगा? मैंने यह चिन्तन कर तुम्हें बाहर अकूरड़ी (कूड़े का ढेर) पर

फिंकवा दिया। तुम्हारे पिता को इस बात का पता चला। उन्होंने तुम्हारी खोज कराई। वे तुम्हें पुनः राजमहल में ले आए। तुम्हारे शरीर के अंगूठे को पक्षियों ने नोच लिया था। तुम पीड़ा से चिल्ला रहे थे। तुम्हारे पिता ने पीप और लहू से भरे अंगूठे को अपने मुँह से चूस-चूस कर ठीक कर दिया।' चेलना ने आगे कहा—'जिस पिता ने तुम्हारे पर इतना उपकार किया है उसको तुमने कारवास में डाला है। तुमने उपकार का यह बदला चुकाया है?'

यह बात सुनकर कोणिक की आंखें खुल गईं। उसने सोचा—मैं अभी जाता हूँ और पिता को कारागार से मुक्त करता हूँ। वह स्वयं हाथ में हथियार लेकर पिताजी के बंधन काटने चल पड़ा।

मां ने पूछा—'अब किसलिए जा रहा है?'

कोणिक ने कहा—'पिताजी को मुक्त करने के लिए!'

वह पिता के हित के लिए चल पड़ा। किन्तु श्रेणिक के मन में एक धारणा जम चुकी थी—कोणिक मेरा अहित ही करेगा। श्रेणिक ने कोणिक को हथियार लेकर आते हुए देखा। उन्होंने सोचा—इसे कारागार में डालने पर भी संतोष नहीं हुआ। वह हथियार लेकर मुझे मारने के लिए आ रहा है। इसके हाथ से मरने की अपेक्षा अपने आप मरना अच्छा है। उन्होंने अपने हाथ से अंगूठी निकाली। उसमें तालपुट विष था। उसे मुँह में डाला। दो क्षण में ही श्रेणिक की जीवन लीला समाप्त हो गई।

यह है ज्ञान और दर्शन का अन्तर। जैसी धारणा बन जाती है, जैसा अभिनवेश हो जाता है आदमी वैसी ही बात सोचता है, वैसा ही चिन्तन करता है।

एक और प्रसंग

नन्दवंश का साम्राज्य बहुत प्रसिद्ध रहा है। उसका प्रधानमंत्री था शकडाल। वह बहुत बुद्धिमान था। उसके दो पुत्र थे—स्थूलभद्र और श्रीयक। श्रीयक के विवाह का प्रसंग था। महामंत्री ने सोचा—श्रीयक के विवाह पर मैं राजा को आमन्त्रित करूँगा। उस समय मुझे सम्राट को कुछ उपहार देना होगा। उन्हें क्षत्रियोचित उपहार देना ज्यादा उचित रहेगा। यह सोचकर उसने छत्र, चामर, कृपाण, त्रिशूल आदि अनेक प्रकार के शस्त्र और राजचिह्न बनवाने शुरू किए। शकडाल के विरोधियों को मौका मिल गया। वे महाराजा नन्द के पास पहुंचे। उन्होंने कहा—'महाराज! आज हम आपके पास एक विशेष प्रयोजन से आए हैं। जिस बात को लेकर आए हैं, उसे आप नहीं मानेंगे इसलिए हमारे में उसे कहने का साहस नहीं है। यदि उस बात को न कहें तो हम हरामखोर बनेंगे, आपके प्रति गद्दार बनेंगे। आपके साथ जो अन्याय हो रहा है, उसने हमें यहां तक पहुंचाया है।'

सम्राट यह सुनकर चौकन्ना हो गया। उसने पूछा—'क्या बात है?' उन्होंने कहा—'शकडाल अपने पुत्र के विवाह को निमित्त बनाकर विविध प्रकार के शस्त्रास्त्रों का निर्माण करा रहा है। वह उनके द्वारा आपको सत्ताच्युत कर अपने पुत्र को राजगद्दी पर बिठाने की तैयारी कर रहा है। वह दिन दूर नहीं है, जिस

दिन उनका बेटा श्रीयक आपकी राजगद्दी पर आसीन होगा। यह बात आपको अविश्वसनीय लग सकती है किन्तु यथार्थ है। आप अपने विश्वासपात्र व्यक्तियों से जांच कराकर देख लें।'

ज्ञान और दर्शन : अन्तर का निदर्शन

विरोधी व्यक्तियों की इस बात में सम्राट को तथ्य दिखाई दिया। उसके मन में इस बात के प्रति विश्वास जम गया। सम्राट का एक दृष्टिकोण बन गया, धारणा बन गई। अब शडकाल जो भी कार्य करता, सम्राट को लगता—यह राज्य उखाड़ने का प्रयत्न कर रहा है, मेरा राज्य छीनने का प्रयास कर रहा है। उसके हर कार्य के प्रति राजा संदिग्ध हो उठा।

राजा ने जांच करने का निर्णय लिया और उस जांच के सारे निष्कर्ष उस धारणा के आधार पर निकाले गए। शस्त्रास्त्रों के निर्माण आदि की अवगति पाने के बाद राजा ने निर्णय लिया—'उचित समय पर शडकाल के पूरे वंश का उच्छेद करना है।'

महामात्य शडकाल को राजा का यह निर्णय ज्ञात हो गया। उसने सोचा—सम्राट ने कुपित होकर अन्याय करने का निश्चय किया है, मेरे वंश के नाश का अभिक्रम किया है। मुझे अपना बलिदान देकर राजा को अन्याय से और वंश को विनाश से बचाना है। उसने अपने पुत्र श्रीयक को बुलाकर कहा—'तुम मेरे पुत्र हो, सम्राट के अंगरक्षक हो। यह लो तलवार। इसके वार से राजसभा में मेरा गला काट देना।'

सम्राट को अन्याय का भान हो, कल्पक वंश की ज्योति अखण्ड बनी रहे, इसीलिए शडकाल ने अपने पुत्र के हाथों अपना गला कटवाया।

अभिनिवेश : दो प्रकार

यह ज्ञान और दर्शन के अन्तर का निदर्शन है। व्यक्ति के दृष्टिकोण का जैसा निर्माण हो जाता है, वह उसके आधार पर ही सारी जानकारियां एकत्र करता है। उसका सारा ज्ञान, चिन्तन और निर्णय उसके दृष्टिकोण और धारणा से प्रभावित होता है।

चरक में रोग का एक प्रकार बतलाया गया है—अतत्त्वाभिनिवेश। चरक के सिवाय किसी भी आयुर्वेदिक ग्रन्थ में इसकी चर्चा प्राप्त नहीं है। चरक में अतत्त्वाभिनिवेश को बौद्धिक बीमारी माना गया है—

विषमाभिनिवेशो यो, नित्यानित्ये हिताऽहिते ।

त्रैयः स बुद्धिविभ्रंशः, समं बुद्धिर्हि पश्यति ॥

नित्य और अनित्य, हित और अहित में जो विषम अभिनिवेश है, वह बुद्धि का विभ्रंश है। वस्तुतः बुद्धि सम्यक् देखती है। अध्यात्म में कहा गया—सम्यक् दर्शन और मिथ्या दर्शन। चरक में कहा गया—विषमाभिनिवेश और समाभिनिवेश।

अपस्मार और अतत्त्वाभिनिवेश

दो प्रकार की बीमारियाँ हैं—अतत्त्वाभिनिवेश और अपस्मार। अपस्मार का अर्थ है—स्मृति का विपर्यय। स्मृति का विपर्यय होना एक बीमारी है। जिस व्यक्ति में स्मृति का विपर्यय होता है, वह विपरीत दिशा में गति करता है। किसी से कहा जाए—‘तुम्हें कल बम्बई जाना है।’ वह इस बात को याद रखेगा और जाएगा भी लेकिन वह बम्बई के स्थान पर दिल्ली की ओर चला जाएगा। स्मृति का विपर्यय होने पर व्यक्ति की ऐसी स्थिति बन जाती है।

अतत्त्वाभिनिवेश में बुद्धि विपरीत बन जाती है। अतत्त्वाभिनिवेश से ग्रस्त व्यक्ति अनित्य को नित्य मान लेता है, नित्य को अनित्य मान लेता है, अहित को हित और हित को अहित मान लेता है। हित करने वाले व्यक्ति को अहित करने वाला समझ लेता है।

चरक के अच्छे टीकाकार हुए हैं चक्रपाणी दल्हन। उन्होंने इसकी व्याख्या में लिखा है—*अतत्त्वाभिनिवेशो मानसो विकारः स च सर्वसंसारदुःखहेतुतया गद इत्युच्यते।*

यह अतत्त्वाभिनिवेश एक मानस विकार है, बुद्धि का विकार है, जिससे सारी बुद्धि विपरीत बन जाती है, दृष्टिकोण गलत बन जाता है। यह अतत्त्वाभिनिवेश हमारे भीतर विपरीत बात का आग्रह पैदा कर देता है। इससे ग्रस्त व्यक्ति किसी भी बात को सम्यक ग्रहण नहीं करता।

प्रसिद्ध कहानी है। शीतला मंदिर पर एक कौआ बैठ गया। उसने मंदिर पर बीट कर दी। देवी ने कहा—‘आज तो तुमने बड़ी ठंडी बीट की।’ कौआ बोला—‘जा तू उसे रख, जो गर्म बीट करे। मैं यहाँ नहीं रहना चाहता।’

जिसमें अतत्त्व का अभिनिवेश होता है, वह हर बात को विपरीत ही लेता है। व्यक्ति का जिसके प्रति गलत दृष्टिकोण बन जाता है, उसकी अच्छी से अच्छी बात भी गलत लगती है। जिसके प्रति दृष्टिकोण अच्छा बना हुआ है, उसकी गलत बात भी अच्छी लगती है।

असत्य की पकड़

मिथ्या अभिनिवेश का अर्थ है—असत्य की पकड़। आयुर्वेद की दृष्टि से यह एक रोग है। कर्मशास्त्रीय दृष्टि से यह एक मूर्च्छा है मूर्च्छा दर्शन को विकृत बना देती है। ज्ञान का काम है जानना। अज्ञान का काम है न जानना। अज्ञान एक आवरण है, एक पर्दा है। दर्शन का संबंध मूढता से है। मूर्च्छा व्यक्ति की चेतना को विकृत बना देती है। हम विकृत चेतना से जो जानेंगे, वह ज्ञान का आवरण हटने पर भी सही नहीं होगा। सूरज उगा हुआ है, आंखें साफ हैं पर धुंधलका छाया हुआ है। कुछ भी सम्यक् दिखाई नहीं देगा। राजस्थान में कभी-कभी भयंकर आंधी आती है। उसे काली-पीली आंधी कहा जाता है। सारा आकाश धूलमय बन जाता है। वह आंधी इतनी सघन होती है कि पांच मीटर की दूरी पर स्थित पदार्थ भी दिखाई नहीं देता। दिन रात जैसा दिखाई देने लग जाता है। ऐसी स्थिति में आंख और सूरज का प्रकाश—दोनों के होने पर भी पदार्थ का सम्यग अवरोध नहीं होता। वातावरण में एक विकार पैदा हो जाता है।

मूर्च्छा का अभाव : आवरण का अभाव

जब आदमी को तेज गुस्सा आता है तब कहा जाता है—अमुक व्यक्ति लाल-पीला हो गया। गुस्से में आकृति बदल जाती है। वह गहरी लाल हो जाती है और उसमें कुछ पीलापन भी आता है। जब व्यक्ति लाल-पीला हो जाता है, गुस्से से भर जाता है तब उसे सचाई का बोध नहीं होता। उसके सामने विकार का एक ऐसा घेरा बन जाता है, जिसे छोड़कर वह सचाई को पकड़ नहीं पाता। व्यक्ति में ज्ञान है, आंख साफ है किन्तु बीच में मूर्च्छा का एक ऐसा पर्दा आता है, जो चेतना को विकृत बना देता है।

हम कर्मशास्त्रीय दृष्टि से विचार करें। ज्ञानावरण और दर्शनावरण के क्षयोपशम का काम है—आंख के सामने कोई वस्तु आए, उसे जान लेना, देख लेना। उसे देखने-जानने में जो बाधाएं आती हैं, विकार आते हैं, वे मूर्च्छा से पैदा होते हैं। जानने का सम्बन्ध ज्ञानावरण के क्षयोपशम से है किन्तु सही जानने में, सत्य का ज्ञान करने में केवल ज्ञानावरण का क्षयोपशम ही काम नहीं देता। उसमें दो कर्मों का क्षयोपशम होना चाहिए—ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम और मोह कर्म का क्षयोपशम। मूर्च्छा का अभाव और आवरण का अभाव—दोनों होते हैं तो सम्यक ज्ञान संभव बनता है। इसलिए यह कथन संगत प्रतीत होता है—दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता। ज्ञान के बिना चरित्र नहीं होता, चरित्र के बिना मोक्ष नहीं होता और मोक्ष के बिना निर्वाण नहीं होता—

नादंसगिस्स नाणं, नाणेण विणा ण हुंति चरणगुणा।

अचरित्तस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि निव्वाणं ॥

मिथ्यत्व के दस प्रकार

यह निर्वाण का एक समग्र क्रम है—सम्यग दर्शन, सम्यग ज्ञान और सम्यग चारित्र। सम्यग दर्शन का, सम्यक दृष्टिकोण का निर्माण करना बहुत कठिन है। जैन आगमों में मिथ्या अभिनिवेश के दस प्रकार बतलाए गए हैं—

- | | |
|----------------------------|-----------------------------|
| १. धर्म में अधर्म संज्ञा | ६. जीव में अजीव संज्ञा |
| २. अधर्म में धर्म संज्ञा | ७. असाधु में साधु संज्ञा |
| ३. अमार्ग में मार्ग संज्ञा | ८. साधु में असाधु संज्ञा |
| ४. मार्ग में अमार्ग संज्ञा | ९. अमुक्त में मुक्त संज्ञा |
| ५. अजीव में जीव संज्ञा | १०. मुक्त में अमुक्त संज्ञा |

मदिरा बैठी बिकाय

मिथ्या अभिनिवेश के कारण व्यक्ति धर्म को अधर्म मान लेता है, अधर्म को धर्म मान लेता है। उसमें असत्य की पकड़ हो जाती है; आग्रह हो जाता है। उस आग्रह के कारण वह वही देखता है, जो उसकी बुद्धि में समाया हुआ है। व्यक्ति में एक प्रकार का जो बुद्धि का विभ्रंश, बुद्धि का विपर्यय हो जाता है, उसे मिटाना बहुत आवश्यक है। जब तक बुद्धि का विपर्यय नहीं मिटेगा, हमारा ज्ञान सम्यग नहीं होगा। निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है—ज्ञान को पाने से पहले दृष्टिकोण को साफ करने का प्रयत्न अधिक होना चाहिए। हम पढ़ें-लिखें,

यह दूसरे नम्बर की बात है। पहले नम्बर की बात है—हम दृष्टि को साफ करें। ऐसा लगता है—आदमी का दृष्टिकोण सही नहीं है। सत्य के प्रति अनाग्रह का जो भाव विकसित होना चाहिए, वह नहीं हो रहा है। मूर्च्छा की सघनता के कारण असत्य के प्रति झुकाव जल्दी हो जाता है, सत्य के प्रति नहीं होता। आज के प्रातः काल एक ही दोहा सुना था—

सत पतियाए ना पते, असत से पतियाय।

गली गली गोरस फिरे, मदिरा बैठी विकाय।।

असत्य से आदमी को जल्दी प्रतीति हो जाती है। सत्य के प्रति विश्वास नहीं होता, प्रतीति नहीं होती। *इणमेव निग्गंथं पावयणं सच्चं*—यह स्वर कहीं-कहीं फूटता होगा किन्तु यह स्वर आम बना हुआ है—*इणमेव असच्चं सदहामि पतियामि।*

कवि ने बहुत सुन्दर उदाहरण दिया—ग्वाला ग्राम से दूध लेकर आता है। वह गली-गली में घूमता है, फेरी लगाता है। वह जोर-जोर से आवाज देता हुआ चलता है—दूध लो, दूध लो। उसको पांच-दस किलो दूध बेचने में भी बहुत विज्ञापन करना पड़ता है। शराब का टेकेदार कभी फेरी नहीं लगाता, कहीं विज्ञापन नहीं करता। वह एक स्थान पर शराब का टेका लगा लेता है। चाहे टेका कितनी ही दूर हो, पीने वाला भटकता-भटकता वहां पहुंच जाता है। वह बिना बुलाए शराब की दुकान पर आ टपकता है। उसका न प्रचार होता है, न विज्ञापन। किन्तु शराब की दुकानों पर भीड़ लगी रहती है।

विरल हैं दृढ़ सम्यक्त्वी

प्रश्न होता है—ऐसा क्यों? इसका कारण है—व्यक्ति के भीतर सहज ही सघन मूर्च्छा बनी हुई है। वह उसके दृष्टिकोण के सम्यक होने में बड़ी बाधा है। जब तक कषाय का अनुबंध शिथिल नहीं होता तब तक दृष्टिकोण के सम्यक होने की कल्पना नहीं की जा सकती। जब तक अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ विद्यमान हैं तब तक मूर्च्छा का एकछत्र साम्राज्य बना रहता है। सत्य उसके नीचे दब जाता है। व्यक्ति का ध्यान सीधा असत्य की ओर जाता है।

अनंतानुबंधी कषाय—तीव्रतम क्रोध मान, माया और लोभ व्यक्ति को मूर्च्छा की ओर, सत्य से असत्य की ओर ले जा रहा है। जब तक अनंतानुबंधी कषाय चतुष्क क्षीण नहीं होता तब तक सम्यग दर्शन प्राप्त नहीं होता। जब तक आत्मनिरीक्षण, आत्म-मंथन की चेतना नहीं जागेगी, सम्यग दर्शन की दिशा में प्रस्थान नहीं हो पाएगा। इसीलिए आचार्य भिक्षु ने कहा था—दृढ़ समकितधर थोड़ला।

ऐसे व्यक्ति विरल हैं, जो दृढ़ सम्यक्त्वी हैं। जिनकी दृष्टि विशुद्ध हो, केवल सत्यान्वेषी हो, वैसे व्यक्ति कितने हैं। अधिकांश व्यक्ति सम्यग दर्शन की प्राप्ति के लिए हाथ मलते ही रह जाते हैं।

बादशाह ने बीरबल से पूछा—‘मेरी हथेली पर बाल क्यों नहीं हैं?’

बीरबल ने कहा—‘हुजूर! दान देते देते आपकी हथेली के बाल घिस गए।’

‘तुम्हारी हथेली पर बाल क्यों नहीं हैं?’

‘दान लेते लेते मेरी हथेली के बाल घिस गए।’

‘इन संभासदों की हथेली पर बाल क्यों नहीं हैं?’

‘हुजूर! आप देते हैं और मैं लेता हूँ। इनको कुछ भी नहीं मिलता। ये बेचारे हाथ मलते रहते हैं। इनके बाल हाथ मलते मलते घिस गए।’

कषाय का अभाव : सम्यग्दर्शन

ऐसा लगता है—व्यक्ति के हाथ मलते-मलते घिस गए पर उसका दृष्टिकोण सम्यग नहीं बना। दृष्टिकोण का सम्यग होना तभी संभव है जब कषाय कम हो। नादंसणिस्स नाणं—दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता, इस सचाई को समझने से पहले इस सचाई को समझना होगा—णो कसायिस्स दंसणं—कषायी को सम्यग दर्शन उपलब्ध नहीं होता। जब तक अनंतानुबंधी कषाय को क्षीण नहीं कर पाएंगे तब सम्यग दर्शन की प्राप्ति दुर्लभ बनी रहेगी। इसका अर्थ है—मोक्ष तक पहुँचने के लिए सम्यग दर्शन, सम्यग ज्ञान और सम्यग चारित्र को समझना है किन्तु इन सबसे पहले इनकी पृष्ठभूमि में छिपे हुए कषाय को समझना है, सम्यग दर्शन नहीं हो सकता। सम्यग दर्शन नहीं है तो सम्यग ज्ञान नहीं हो सकता। सम्यग ज्ञान नहीं है तो सम्यग दर्शन नहीं हो सकता। सम्यग दर्शन नहीं है तो सम्यग ज्ञान नहीं हो सकता। सम्यग ज्ञान नहीं है तो सम्यग चारित्र नहीं हो सकता। मोक्ष की साधना के लिए इस समग्र क्रम को जानना आवश्यक है। यदि यह क्रम समझ में आ जाता है तो मोक्ष की साधना का, अध्ययन और सम्यग दर्शन का गुर हमारे हाथ में आ जाता है। इसके द्वारा हम अपने मार्ग को बहुत प्रशस्त कर सकते हैं, सचाइयों को देखने और समझने का मार्ग निर्बाध बन सकता है।

संवेग से बढ़ती है धर्मश्रद्धा

स्वतन्त्रता और परतन्त्रता का संघर्ष शाश्वत है, अनादिकालीन है। व्यक्ति और समाज के स्तर पर आज भी सारे संसार में स्वतंत्रता की एक लहर चल रही है, स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष चल रहा है। दुनिया का बहुत बड़ा भाग लोकतन्त्र की छाया में हैं। जहां लोकतन्त्र नहीं है, फासिज्मवाद है, अधिनायकवाद हैं वहां भी लोकतंत्र की एक प्यास जग गई है। उसी प्यास का एक प्रतिफलन चीन और सोवियत संघ के घटनाक्रम में हम सबने देखा है, पढ़ा है। चीन जैसे साम्यवादी देश में कड़े प्रतिबंधों के उपरान्त भी स्वतन्त्रता की एक प्यास जगी है। उसने पूरे विश्व के मानस को आन्दोलित किया है। सामाजिक स्तर पर स्वतन्त्रता को पाने का यह अभिक्रम हमारे सामने है।

व्यक्तिगत स्तर पर भी स्वतन्त्रता और परतन्त्रता का संघर्ष निरन्तर चल रहा है। हमारा एक भाव है पारिणामिक भाव, जो जीव को बिलकुल स्वतन्त्र बनाए रखने के पक्ष में है, निरन्तर स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष कर रहा है। वह एक क्षण भी प्रमाद नहीं करता, एक क्षण भी नींद नहीं लेता। वह प्रतिक्षण और प्रतिसमय स्वतंत्रता की एक अखण्ड ज्योति जलाए बैठा है। एक है हमारा औदयिक भाव। कर्म का उदय स्वतन्त्रता को बाधित करता है। वह जीव को निरन्तर परतन्त्र बनाए रखना चाहता है। पारिणामिक भाव और औदयिक भाव—दोनों का संघर्ष निरन्तर चलता रहता है। हम सोते हैं तो भी दोनों में संघर्ष चलता है और हम जागते हैं तो भी संघर्ष चलता है। इस संघर्ष में हमारी चेतना भी खण्डित हो गई, उसके तीन रूप बन गए—कर्म चेतना, कर्मफल चेतना और ज्ञान चेतना।

कर्म करने का अर्थ

एक ही चेतना के तीन आकार बन गए। कभी-कभी ऐसा होता है—घर का आदमी भी शत्रु से जा मिलता है। चेतना भी अपने शत्रु के साथ मिल गई, चेतना का एक स्तर कर्म के साथ मिल गया। उसने विजातीय तत्त्व से समझौता कर लिया। यदि कमजोर व्यक्ति मोर्चे पर आ जाता है तो वह शत्रु सेना से समझौता कर लेता है, समर्पण भी कर देता है। अगर बलवान सैनिक आगे होते हैं तो कभी ऐसा नहीं करते। हमारी ज्ञान चेतना ने कर्म चेतना से समझौता कर लिया। ज्ञान चेतना जो पीछे थी, अपनी शत्रु कर्म चेतना से जुड़ गई, एक समझौता हो गया—कर्म करो, काम करो।

कर्म करने का अर्थ है बंधन। कर्म और बंधन, क्रिया और बंधन—दोनों जुड़े हुए हैं। कर्म और चेतना या आत्मा का योग मिला, व्यक्ति सामाजिक बन गया। आत्मा का लोक अलग है और समाज का लोक अलग है। समाज का अर्थ है—कर्म। आत्मा है अकर्म। आत्मा का अर्थ है—कर्म मत करो, अपने आप में रहो। इन दोनों में दूरी बहुत है। एक ओर कहा गया—कर्म करो । करना शुरू कर दिया और अपने आपको बांध लिया। अपने आपको बांधे बिना कोई व्यक्ति परतंत्र नहीं बनता। व्यक्ति परतंत्र तब बनता है जब वह कर्म से बन्ध जाता है।

हमारी दूसरी चेतना है—कर्म फल की चेतना। जो कर्म बंध गया, उसका फल भुगतना होता है। व्यक्ति कर्म करता है तो उसे कर्मफल को भोगना होता है।

जीवन में कोई क्षण ऐसा आता है, एक नई स्थिति पैदा हो जाती है। जब पारिणामिक भाव या ज्ञान चेतना एक धक्का लगाती है तब एक नया प्रस्थान शुरू होता है। उसी का नाम है संवेग। एक ऐसा वेग या धक्का आता है, जिससे कर्म और कर्मफल की चेतना कमजोर बन जाती है। जिस क्षण में वह धक्का लगता है, उस समय पूरी तैयारी के साथ एक नया आक्रमण होता है। शत्रु की सेना उस आक्रमण से हड़बड़ा जाती है। यह हड़बड़ाहट पैदा करना कर्म और कर्मफल की चेतना को कमजोर करना है। जिस क्षण यह धक्का लगता है, उस क्षण एक नई शक्ति जागती है। उसका नाम है धर्म श्रद्धा । धर्म के प्रति श्रद्धा जागती है, धर्म के प्रति आकर्षण पैदा होता है। जब व्यक्ति कर्म और कर्मफल की चेतना में उलझा रहता है तब धर्म की श्रद्धा नहीं जागती । वह धर्म को जान लेता है किन्तु उसके प्रति श्रद्धा का भाव नहीं जागता।

जन्मना धार्मिक : कर्मणा धार्मिक

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने कहा—‘मुनिवर! मैं धर्म को जानता हूँ पर उसके प्रति मेरी श्रद्धा नहीं है। मेरे मन में यह अभिलाषा ही नहीं है कि मैं धर्म करूँ। दुनिया में ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जो धर्म का नाम सुनते हैं, अपने आपको धर्म का अनुयायी कहते हैं किन्तु उनके मन में धर्म के प्रति श्रद्धा—आकर्षण नहीं है। वे जीवन में धर्म का आचरण नहीं करते। वे जीवन भर धर्म के अनुयायी बने रहेंगे किन्तु स्वयं धार्मिक नहीं बनेंगे। एक बच्चा एक धार्मिक परिवार में जन्मा, एक जैन घर में जन्मा, वह जैन बन गया। जो वैष्णव घर में जन्मा, वह वैष्णव बन गया। जो ईसाई घर में जन्मा, वह ईसाई बन गया। जो मुसलमान के घर में जन्मा, वह मुसलमान हो गया। वह जीवन भर जैन, वैष्णव, ईसाई और मुसलमान बना रहेगा। वह अपने आपको जैन, वैष्णव, ईसाई, मुसलमान आदि कहता रहेगा किन्तु धर्म का आचरण करेगा, यह नहीं कहा जा सकता।

इस संदर्भ में धर्म के दो भेद बन जाते हैं—जन्मना धर्म और कर्मणा धर्म। जन्मना धर्म वह है, जो जन्म के साथ प्राप्त होता है। जैसे बपौती से धन मिलता है वैसे बपौती में धर्म मिल गया। जन्म से ही धर्म का एक लेबल लग गया। धर्म से नहीं, धर्म के लेबल से धार्मिक बनने वाला जन्मना धार्मिक है। कर्मणा धार्मिक वह है, जो कर्म से धार्मिक बनता है। जब तक व्यक्ति कर्मणा धार्मिक नहीं बनता तब तक वह सच्चा धार्मिक नहीं होता। तब व्यक्ति कर्मणा

धार्मिक होता है, जब धर्म की श्रद्धा जागती है और धर्म श्रद्धा तब जागती है जब व्यक्ति में संवेग उत्पन्न हो जाता है। संवेग जीवन का एक ऐसा मोड़ है, जो जीवन की दिशा को बदल लेता है।

काल-लब्धि

मौसम में भी अनेक मोड़ आते हैं। राजस्थान में वैशाख और जेठ के महीने में भयंकर लूएं चलती हैं। मौसम में एक मोड़ आता है, कुछ वर्षा होती है। लू के स्थान पर ठंडी हवा चलने लग जाती है। जून के महीने में मानसूनी बादल केरल, कर्नाटक, बम्बई, पंजाब, दिल्ली होते हुए राजस्थान में प्रवेश करते हैं, वर्षा का मौसम शुरू हो जाता है। ग्रीष्मकाल बदला, वर्षा का काल आ गया। जैसे प्रकृति में मोड़ आता है, वैसे ही मनुष्य की चेतना में मोड़ आता है। मोड़ का कारण क्या है? मौसम बदलने का कारण क्या है? परिवर्तन का एक प्रमुख कारण है—काल-लब्धि। काल-लब्धि निरन्तर अपना काम कर रही है। विश्व में जितना परिवर्तन होता है, उसमें एक मुख्य निमित्त बनता है काल। हम चाहें कितना ही पुरुषार्थ करें, जब तक काल-लब्धि का योग नहीं मिलता है तब तक बात बनती नहीं है।

केशी स्वामी से पूछा गया—‘अगर आप सब आत्माओं को समान मानते हैं तो एक छोटा बच्चा बाण क्यों नहीं छोड़ सकता? यदि आत्मा समान है तो जैसे एक जवान आदमी बाण छोड़ सकता है, वैसे एक बालक और वृद्ध भी बाण छोड़ने में समर्थ होना चाहिए।’ केशी स्वामी ने कहा—‘इसमें काल-लब्धि का योग होता है। बच्चे का काल अभी पका नहीं है। जो बच्चा आज जन्मा, वह आज ही नहीं पक जाएगा।’ छोटा बच्चा बड़ा होता है तो भी आश्चर्य होता है। कुछ दिन पहले आचार्यश्री दर्शन देने पधारे। हॉस्पिटल में एक तीन दिन के शिशु को देखा। आचार्यश्री ने आश्चर्य से कहा—बच्चा तीन दिन में इतना बड़ा हो जाता है। गर्भ का एक काल होता है और विकास का एक काल होता है। यह नहीं हो सकता कि तीन दिन का बच्चा पचास वर्ष जितना बन जाए। विकास का एक कारण है काल-लब्धि। वह अपना काम करती है। व्यक्ति धीरे-धीरे बढ़ता है और लगभग बीस-बाईस वर्ष तक बढ़ता चला जाता है। उसके बाद वृद्धि रुक जाती है।

काल-लब्धि का योग हर विषय में अपेक्षित रहता है। हम आज जो बीज बोते हैं, वह आज ही पेड़ नहीं बनता। काल का परिपाक आता है, बीज पेड़ का आकार ले लेता है। कहीं-कहीं काल-लब्धि का दूसरा प्रयोग भी होता है। चक्रवर्ती की खेती अलग प्रकार की होती है। वहां सुबह बीज बोया जाता है और शाम को फसल काट ली जाती है। विज्ञान भी अभी यहां तक नहीं पहुंच पाया है कि सुबह बोया जाए और शाम को पका कर खा लिया जाए किन्तु उसमें भी काल लगता है। कभी-कभी जीवन में काल का ऐसा परिपाक आता है, काल-लब्धि अभिव्यक्त होती है, संवेग जाग जाता है, धर्म की श्रद्धा जाग जाती है।

क्या है धर्मश्रद्धा?

प्रश्न होता है—धर्म की श्रद्धा क्या है? कर्म और कर्मफल की चेतना के प्रति जागरूकता का बढ़ जाना धर्म-श्रद्धा है। समस्या यह है—व्यक्ति को कर्म करते समय भान नहीं रहता कि मैं बन्धन बांध रहा हूँ, स्वयं को बंधन में जकड़ रहा हूँ। यह बोध कर्म में प्रवृत्त व्यक्ति नहीं करता। व्यक्ति को कर्म करना पड़ता है। वह कर्म से सर्वथा बच नहीं सकता। जिस व्यक्ति में धार्मिक श्रद्धा जाग जाती है, उसमें यह विवेक चेतना जागेगी—कहीं ऐसा न हो, इस कार्य से तीव्र बंधन बंध जाए, बंधन चिकना हो जाए। मैं जो कर्म करता हूँ, उसे मुझे ही भुगतना पड़ेगा। कर्म के प्रति यह जागरूकता धर्म श्रद्धा से ही जागती है।

भरत का निदर्शन

चक्रवर्ती भरत छह खण्ड का अधिपति था। उसके पास विशाल सेना थी, विशाल अन्तःपुर था। उसके अन्तःपुर में रानियों की भरमार थी। भरत चक्रवर्ती की रसोई का जो वर्णन मिलता है, वह भी कम आश्चर्यजनक नहीं है। दो-चार नगरों में जितना खाना पकाया जाता है, उससे भी अधिक खाना भरत की रसोई में पकता था। एक ओर इतना सब चल रहा है, दूसरी ओर चक्रवर्ती भरत अपने महल में है। भरत स्नान कर शीशमहल में, शीशे में अपने आपको देख रहा है और वह देखते-देखते स्वयं केवली बन गया।

भगवान ऋषभ से किसी व्यक्ति ने पूछा—‘इस सभा में मोक्ष पाने वाला कौन है?’ भगवान ने कहा—‘भरत।’ भरत का नाम सुनते ही वह व्यक्ति तिलमिला उठा। वह सभा में ही बोलने लगा—‘मैंने समझा था, दुनिया में एक स्थान ऐसा है, जहाँ कोई पक्षपात नहीं होता। दुनिया में सब जगह पक्षपात चलता है, भाई-भतीजावाद चलता है। किन्तु भगवान के घर में भी पक्षपात चलता है। ऐसी स्थिति में हम किसको कहे?’ उसने बहुत अनर्गल प्रलाप किया।

आदमी की प्रकृति बहुत विचित्र है। जब भी उसके प्रतिकूल बात आती है, वह बौखला जाता है। वह यह नहीं देखता कि सामने कौन है?

‘भरत उसी सभा में था। वह सभा की मर्यादा के कारण शांत रहा। उसने अपने अधिकारियों को निर्देश दिया—जब यह व्यक्ति बाहर जाए तब इसे गिरफ्तार कर लिया जाए। अधिकारियों ने भरत की आज्ञा का पालन किया। उसे बंदी बना कर राज्यसभा में भरत के सामने प्रस्तुत किया। भरत ने कहा—‘तुमने भगवान की सभा की मर्यादा को भंग किया है। तुम्हें कम-से-कम वहाँ तो मौन रहना चाहिए था। कहां बोलना चाहिए और कहां नहीं बोलना चाहिए, इसका विवेक भी नहीं है। तुमने भगवान की सभा में अनर्गल प्रलाप कर जघन्य अपराध किया है।’

वह व्यक्ति प्रकंपित हो उठा। उसने कहा—‘महाराज! मैंने बड़ा अपराध किया है। आप मुझे माफ करें। मैं भविष्य में ऐसा अपराध नहीं करूंगा।’

‘तुम्हें मुक्त नहीं किया जा सकता। तुम्हारे अपराध की सजा है—मौत’

मृत्यु की सजा को सुनकर वह घबरा उठा। उसने गिड़गड़ाते हुए प्रार्थना की—‘मैं अब ऐसा कभी नहीं करूंगा। आप मौत की सजा न दें।’

‘मैं तुम्हें एक शर्त पर छोड़ सकता हूँ। तुम पूरी अयोध्या के चक्कर लगाओ। तुम्हारे हाथ में तेल से भरा हुआ कटोरा रहेगा। अगर उससे एक बूंद भी नीचे न गिरे तो तुम्हें मुक्त कर दिया जाएगा। यदि एक बूंद भी नीचे गिर गई तो तुम्हारे साथ चलने वाले आरक्षक तुम्हारा सिर काट लेंगे।’

भरता क्या नहीं करता? उसे इस शर्त को स्वीकार करना पड़ा। सारे नगर में एक उत्सव का-सा माहौल बना दिया गया। बाजार के चौराहों पर मनोरम नाटक हो रहे थे। गली के नुक्कड़ों पर बाजे बज रहे थे, गीत गाये जा रहे थे। चारों ओर आकर्षण के केन्द्र बनने वाले कार्यक्रम आयोजित हो रहे थे। इन्द्रियों को आकर्षित करने वाले सारे दृश्य उस समय अयोध्या में समायोजित थे।

वह व्यक्ति हाथ में तेल से लबालब भरा हुआ कटोरा लिए चल रहा था। उसके दोनों और नंगी तलवारे लिए प्रहरी चल रहे थे। उसका ध्यान कटोरे में नाच रही मौत पर केन्द्रित था। उसका ध्यान न नाटक की ओर था, न गीत-संगीत की ओर था। मात्र कटोरे पर अनिमेष ध्यान चल रहा था। मानो त्राटक सध गया हो। वह सारे शहर में घूमकर आ गया। एक बूंद भी तेल नहीं गिरा। वह राज्यसभा में पहुंचा। तेल का कटोरा भरत के सामने रखा। उसका मन प्रसन्नता से भर उठा। उसने सुख की सांस लेते हुए इस भाषा में सोचा—अमर भए न मरेंगे अब हम। भरत से निवेदन किया—‘महाराज! मैंने आपकी आज्ञा का पालन किया है। अब आप मुझे मुक्ति प्रदान करें।’

‘अब कोई दंड नहीं है। तुम जा सकते हो पर एक बात बताओ—तुम नगर में इतना घूमे, तुमने नगर में क्या-क्या देखा।’

‘महाराज! मैंने न कुछ देखा, न ही कुछ सुना।’

‘नगर में इतने बढ़िया नाटक हो रहे थे। कलाकार और गायक अपनी सर्वोत्तम कला को प्रस्तुत कर रहे थे। तुमने कुछ तो सुना होगा? किसका गाना पसंद आया? कौनसा नाटक पसंद आया?’

‘महाराज! मैंने कोई दृश्य नहीं देखा, एक भी शब्द नहीं सुना। मैं ऐसा योगी बन गया, तो जन्म भर योग की साधना करता रहा हो। मैंने कान, आंख और इन्द्रियों का प्रत्याहार कर लिया। पूरा योगी बन गया।’

‘क्यों नहीं देखा?’

‘महाराज! मुझे तो यह कटोरा और कटोरे में नाच रही मौत दिखाई दे रही थी। और कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा था।’

‘अब तो तुम समझ गए। मैं सम्यक्दृष्टि हूँ। मैं किसी को मारना नहीं चाहता। मैं राज्य कर रहा हूँ, सब-कुछ चल रहा है पर पता नहीं है, वह कैसे चल रहा है। जैसे तेरे तेल के कटोरे में मौत नाच रही थी वैसे ही मेरे सामने निरन्तर यह सत्य नाचता रहता है—मैं ऐसा कार्य न करूँ, जिससे कर्म का बन्धन हो जाए, मैं बंध जाऊँ। हर कार्य में बंधन की चेतना निरन्तर मेरे सामने प्रस्तुत रहती है।’

उसे अपनी भूल महसूस हुई और यह सत्यापित हो गया कि भारत क्यों मोक्षगामी है।

कर्म विपाक का सन्दर्भ

धर्म श्रद्धा का परिणाम है, कर्म-फल के प्रति जागरूक होना। आदमी जो कार्य करता है, उससे बन्धन बंधता है। उसका फल भोगना होता है। जब कर्म का विपाक आता है तब दो स्थितियां बनती हैं। हम उदाहरण के द्वारा इस बात को समझें। मान लीजिए—पुण्य कर्म का विपाक आया। पुण्य कर्म के विपाक से सुविधा मिलती है, सुख मिलता है, प्रिय संवेदन होता है। धर्म श्रद्धा से सम्पन्न व्यक्ति सोचता है—मैं पुण्य को ऐसे भोगू, जिससे आगे वह पाप का कारण न बन पाए, मेरा पुण्य का भोग पाप के बंध का निमित्त न बने।

गांधीजी से एक लड़के ने कहा—‘बापू! आप ऐसे कपड़े क्यों पहनते हैं? घुटने तक ऊंची धोती पहनते हैं। क्या आपके घर में कपड़ा नहीं है? क्या आपके कोई कपड़ा सीने वाला नहीं है? अगर नहीं है तो मेरी मां से आपके लिए एक ड्रेस सिलवा दूंगा।’

गांधीजी बोले—‘एक से क्या होगा?’

‘नहीं, मैं दो बनवा दूंगा।’

‘दो से क्या होगा?’

‘मैं पांच बनवा दूंगा।’

‘पांच से क्या होगा? मेरे लिए बीस करोड़ चाहिए।’

उस समय हिन्दुस्तान की आबादी बीस करोड़ थी। लड़का गांधीजी की तरफ देखता ही रह गया।

गांधीजी चाहते तो उन्हें सुन्दर से सुन्दर विदेशी कपड़ा मिल सकता था, किन्तु उन्होंने कभी उसकी आकांक्षा नहीं की।

पुण्य के फल को न भोगना उसके प्रति जागरूक रहना है। जागरूक व्यक्ति सोचता है—मैं समर्थ हूँ, पुण्यवान हूँ, मुझे सारी सुविधाएं प्राप्त हैं, सारे भोग मिल सकते हैं पर मुझे उन्हें नहीं भोगना है। यह चिन्तन कर्मफल के प्रति जागरूकता से उपजा हुआ चिन्तन है। जिस व्यक्ति में धर्मश्रद्धा जागती है, वह व्यक्ति इस प्रकार का चिन्तन करता है।

दूसरा उदाहरण है पाप के विपाक का। जब व्यक्ति के जीवन में दुःख आता है, कठिन परिस्थितियां आती हैं, उस समय आदमी बेहाल हो जाता है। जिस व्यक्ति में धर्मश्रद्धा जागृत है वह ऐसी विकट स्थिति में भी जागरूक रहता है। वह सोचता है—मैंने कोई अशुभ कर्म किया था, उसका यह फल है। ऐसा नहीं हो, इसको भोगने में फिर नए कर्मों का बंधन हो जाए। कर्मफल की चेतना के प्रति जागरूक होने वाला व्यक्ति ऐसा चिन्तन कर दुःख की स्थिति को समभाव से सह लेता है।

धर्म का परिणाम

ऐसे अनेक व्यक्ति आते हैं, जो किसी दुर्घटना से प्रभावित होते हैं। अनेक युवतियां छोटी अवस्था में विधवा हो जाती हैं। वे अपने वियोग को हल्का

करने के लिए, धार्मिक संबल पाने के लिए धर्मगुरु के चरणों में सपरिवार प्रस्तुत होती हैं। मैंने उनसे पूछा—‘तुम्हारे मन की क्या स्थिति रही?’ उनका उत्तर बहुत ही मर्म को छूने वाला था। उन्होंने कहा—‘हम जानती हैं कि कोई अशुभ कर्म का उदय आया इसलिए ऐसी दुर्घटना घटी, पति का देहावसान हो गया। यह हमारे लिए बहुत दुःखद स्थिति है किन्तु इसे सहन करने के सिवाय कोई रास्ता नहीं है। यदि हम इसे रोकर सहेंगी तो कर्मों का प्रगाढ़ अर्जन होगा और वियोग के क्षण अधिक दुःखदायी बनेंगे। यदि हम शांति के साथ सहन करेंगी तो कम से कम नए कर्म नहीं बंधेंगे। हमारा जीवन भी शांतिमय बना रहेगा।’

यह है कर्मफल के प्रति जागरूकता। वर्तमान युग के चिन्तन में बहुत परिवर्तन आया है। बहुत कठिन होता है ऐसी स्थिति को सहन करना किन्तु आज इस सन्दर्भ में सहिष्णुता बढ़ी है। ऐसा मानना चाहिए—यह धर्म का ही परिणाम है। अगर यह आलम्बन न हो तो दुर्घटना को भुला पाना संभव नहीं है।

धर्मश्रद्धा के दो परिणाम हैं—ज्ञान चेतना जागे, कर्म चेतना और कर्मफल की चेतना के प्रति जागरूकता बढ़े। जब ज्ञान की चेतना जागती है, हम कर्म के प्रति जागरूक बनते हैं, कर्मफल की चेतना के प्रति भी जागरूक बन जाते हैं। कर्म को कैसे भोगना, यह एक कला है। इसका मूल्य आंके, कर्मफल को भोगने का विवेक जगाए। यह निश्चित है—जो किया है उसे भुगतना है। ‘कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि’—कृत कर्मों से छुटकारा नहीं होता, उन्हें भुगतना ही होता है किन्तु कैसे भुगतें? यह एक कला है। जो व्यक्ति इस कला को समझ लेता है, वह धर्म की कला को समझ लेता है।

रोटी बनाना एक कला है। चतुर महिलाएं या पाककला में दक्ष रसोइया बहुत कलापूर्ण ढंग से रोटी बनाता है किन्तु जो रसोइया कुशल नहीं होता, वह रोटी के साथ साथ हाथ का पूरा मैल भी उसमें डाल देता है। जो व्यक्ति फूहड़ होता है, वह कुशल रसोइया नहीं होता। जो व्यक्ति कर्मफल भोगने में जागरूक होता है, वह जीवन को सुन्दर बना लेता है किन्तु जो व्यक्ति कर्मफल भोगने में फूहड़ होता है, वह उसे भोगते समय नए कर्मों का संचय कर लेता है, अपने आपको बंधन में जकड़ लेता है। वही व्यक्ति कर्मफल भोगने की कला को जानता है, जिसमें धर्म की श्रद्धा जाग जाती है और जिस व्यक्ति में धर्म की श्रद्धा जाग जाती है, वह व्यक्ति अच्छा कलापूर्ण जीवन जी सकता है। जीवन जीना एक बात है और कलापूर्ण जीवन जीना बिलकुल दूसरी बात है। जीवन सभी प्राणी जीते हैं पर कलापूर्ण जीवन वही जी सकता है जिसमें सही अर्थ में धर्म की श्रद्धा जाग जाए। धर्म की श्रद्धा संवेग का परिणाम है, यह तथ्य आत्मसात हो जाए तो सही जीवन जीने की दिशा उद्घाटित हो जाए।

ढक्कन व्रत के छेदों का

आधुनिक वैज्ञानिक मानते हैं—तीन लाख वर्ष पूर्व इस आकाश में ओजोन की छतरी बनी। तब से इस पृथ्वी पर जीवों का अस्तित्व सामने आने लगा। यह पृथ्वी जीवों के रहने योग्य बनी। उससे पहले पृथ्वी इतनी गर्म थी कि उस पर रहा नहीं जा सकता था। सूर्य की पराबैंगनी किरणें आतीं और उससे धरती गरमा जाती। जब ओजोन की छतरी बन गई तब सूर्य की पराबैंगनी किरणें छनकर आने लगी। पृथ्वी का तापमान संतुलित रहने लगा और पृथ्वी रहने लायक बन गई, किन्तु एक दिन पता चला कि अण्टार्कटिका महाद्वीप पर ओजोन की छतरी में छेद हो गया है और वह छेद भी अमेरिका जितना बड़ा है। सारे वैज्ञानिक घबरा उठे। उनका कहना है—इसका परिणाम बहुत भयावह होगा। कुछ ही वर्षों में तापमान बहुत बढ़ जाएगा। बर्फ पिघलने लगेगी। हिमालय पिघलने लगेगा। समुद्रों का जलस्तर बढ़ जाएगा, बड़े-बड़े नगर डूब जाएंगे। आज जहां चवालिस-पैंतालिस डिग्री तापमान है, वहां चौवन-पचपन डिग्री तापमान हो जाएगा। पृथ्वी पर रहना मुश्किल हो जाएगा।

प्रश्न होता है—इसका कारण क्या है? ओजोन की छतरी में छेद क्यों हुआ? इसके कारणों पर भी ध्यान दिया गया। आज नाइट्रोजन आक्साईड बहुत फेंका जा रहा है। वातावरण में कार्बन की मात्रा बहुत बढ़ रही है। प्रतिवर्ष लगभग ३,६२००० टन क्लोरोफ्लोराइड कार्बन आकाश में प्रक्षिप्त हो रहा है। इस स्थिति में छतरी कैसे नहीं टूटेगी? उसके टूटने के सभी कारण मानव की सुविधावादी और पदार्थवादी मनोवृत्ति से उपजे हैं। आधुनिक लोग समझते हैं—घर में रेफ्रीजरेटर है, सब चीजें ठंडी और ताजा रहती हैं, किन्तु यही रेफ्रीजरेटर बहुत बड़ा कारण बनता है ओजोन की छतरी के टूटने का। एक ओर चीजें ठंडी रहती हैं तो दूसरी ओर पृथ्वी इतनी गरमा रही है कि आदमी का रहना मुश्किल हो जाएगा।

जीवाणुओं और कीटाणुओं को मारने के लिए स्प्रे किया जाता है। इससे ओजोन की छतरी को बड़ा खतरा पैदा होता है। आजकल सुपरसोनिक विमानों की संख्या बढ़ती जा रही है। ये आकाश में धुआं उगलते चले जा रहे हैं। उनकी आवाज कहीं होती है और धुआं कहीं दिखता है। ये भी ओजोन की छतरी को हानि पहुंचाते हैं। इस सुविधावादी और भोगवादी संस्कृति में इतने पदार्थ बन गए कि ओजोन की छतरी को खतरा ही खतरा हो रहा है। समुद्र में एक प्रकार की मछलियां होती हैं और मछलियों से एक प्रकार का तेल निकलता है। वह पदार्थ उस ओजोन की परत को सुरक्षित रखता है। उन मछलियों को भी बेतहाशा मारा

जा रहा है। ओजोन को इससे भी एक नया खतरा पैदा हो रहा है। यदि ओजोन की छतरी का खतरा इसी रफ्तार से बढ़ता रहा और छतरी में छेद बहुत बढ़ गया तो पृथ्वी की स्थिति बहुत भयवाह हो जाएगी।

भगवती सूत्र में पांचवें आरे का जो वर्णन मिलता है, उसमें कहा गया है—पांचवें आरे की समाप्ति पर यह पृथ्वी गर्म अंगारे जैसी बन जाएगी। इस पर कोई आदमी रह नहीं सकेगा, केवल थोड़े लोग बचेंगे और वे लोग भी गुफाओं में रहेंगे। दिन में बाहर निकल नहीं सकेंगे और रात में भी बाहर निकलना आसान नहीं होगा। वे लोग जैसे-तैसे अपना काम चलाएंगे। आज वही स्थिति बनती जा रही है।

पृथ्वी की सुरक्षा : जीवन की सुरक्षा

ओजोन की छतरी में छेद हुआ और खतरा पैदा हो गया। हम बहुत दूर आकाश की बात पर चले गए। धरती की बात करें। एक आदमी अपनी सुरक्षा के लिए व्रत स्वीकार करता है। व्रत और ओजोन की छतरी एक ही समान है। हम तुलना करें—पृथ्वी की सुरक्षा के लिए ओजोन की छतरी है और जीवन की सुरक्षा के लिए व्रत है। व्रत का अर्थ ही है छाता। संस्कृत की 'वृत्त संवरणे' धातु से व्रत शब्द बना है। उसका अर्थ है ढांक देना, एक छाता लगा देना। व्रत के स्वीकरण का मतलब है—अपने पर ऐसी छतरी बना देना, जिससे पराबैंगनी किरणें ताप पैदा न कर सके। जिसके जीवन में व्रत नहीं होता, उसके जीवन में शरीर का ताप और भावना का ताप बना रहता है। वह संताप भोगता है, उसके जीवन में व्रत नहीं आता। जब आदमी यह महसूस करता है—जीवन में ताप न हो, ताप से मुझे बचना है, तब वह ओजोन की छतरी बना लेता है, अपने पर एक ऐसा छाता तान लेता है, जिससे वह पराबैंगनी किरणों के बाहरी प्रभाव से स्वयं को बचाता रहता है।

ओजोन की छतरी को खतरा पैदा होता है तो व्रत की छतरी को भी खतरा पैदा होता है और वह खतरा पैदा करता है व्यक्ति का अपना प्रमाद, अपना कषाय, अपनी अविरति और अपनी आकांक्षा। ये सारे इस छतरी को खतरा पैदा करते हैं और इसमें छेद हो जाता है। ओजोन की छतरी में अभी अमेरिका जितना बड़ा छेद हुआ है। व्रत की छतरी में भी कभी छोटा, कभी बड़ा और कभी अमेरिका जितना बड़ा छेद भी हो जाता है, कभी-कभी उससे बड़ा छेद भी हो जाता है। जैसे ही इस बात का पता चला—ओजोन की छतरी में छेद हो गया है। दुनिया भर में वैज्ञानिक इस चिंता में लग गए कि इस छेद को कैसे रोका जाए? कैसे भरा जाए? यदि हमें इस पृथ्वी पर जीना है, तो उस छेद को भरना होगा। यदि वह छेद नहीं भरा जाएगा, तो हमारा जीवन नहीं चलेगा। यह पृथ्वी प्राणीविहीन बन जाएगी। सारे वैज्ञानिक चौकन्ने हो गए। विश्व-भर में विनाश से बचने के उपाय खोजे जा रहे हैं। कैसे इन कारणों को मिटाया जाए? यह स्वर उभर रहा है—उन वस्तुओं के निर्माण को रोका जाए, जो ओजोन की छतरी में छेद पैदा कर रहे हैं। इसी प्रकार जब व्यक्ति को यह पता लगे कि व्रत की छतरी में छेद हो गया है तो उसे भी चौकन्ना हो जाना चाहिए।

छेद कैसे रोकें?

ओजोन की छतरी को भरने के लिए अनेक उपाय खोजे जा रहे हैं। व्रत की छतरी के छेद को रोकने का उपाय बहुत ही पहले खोज लिया गया। उस उपाय का नाम है प्रतिक्रमण। यह एक ऐसा उपाय है, जिससे इस छेद को भरा जा सकता है।

गौतम ने पूछा—‘भंते! व्रत में जो छेद हो जाता है, उसे कैसे रोका जा सकता है?’ भगवान ने उत्तर दिया—‘प्रतिक्रमण के द्वारा व्रत के छेदों को रोक दिया जाता है, भर दिया जाता है, व्रत की छतरी पूरी बन जाती है।’ प्रतिक्रमण जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। अनेक बार यह प्रश्न उभरता है—प्रतिक्रमण क्या है? उसे हम रोज क्यों कर रहे हैं? मुनि के लिए दो बार प्रतिक्रमण करना अनिवार्य है—सूर्यास्त के बाद और सूर्योदय से पूर्व श्रावक भी प्रतिक्रमण करते हैं। प्रतिक्रमण का विधान उनके लिए है, जिन्होंने व्रत की छतरी बनाई है। प्रतिक्रमण उस छतरी की सुरक्षा के लिए है। ओजोन की परत बने, छतरी बने और टूट जाए, तो उसे रोकने के उपाय किये जाते हैं पर जब व्रत की छतरी ही नहीं बनाई गई, तो उसमें छेद ही कहा होगा?

एक मित्र अपने मित्र से बोला—‘लाओ, वह छाता लाओ, जिसको मैंने पांच दिन पहले तुम्हें दिया था।’

‘अभी क्या जल्दी है?’

‘जिससे मैं छाता मांगकर लाया था, वह मांग रहा है।’

‘तुम उसे समझा दो, वह तो अपना मित्र है।’

‘नहीं ! वह छाता उसका भी नहीं है। वह किसी दूसरे से मांग कर लाया है। जिसने उसे छाता दिया था, वह छाते की मांग कर रहा है।’

एक को छाता दिया गया किन्तु वह उसका नहीं है, जिसने दिया, उसका नहीं है और जिससे मांगकर लाया, उसका भी नहीं है। किसी का अपना छाता है ही नहीं, पराया ही पराया है। जब छतरी ही नहीं है तो छतरी के टूटने का खतरा ही कहा है? जब छतरी बनाई ही नहीं पर कारी लगाए ही कहा? मूल ही नहीं है, तो शाखा कहा से होगी? किसी से पूछा—‘अरे! बांझ का पुत्र कैसा है? गोरा है या काला?’ उसने जबाब दिया—‘तुम मूर्ख हो। बांझ के बेटा होता ही नहीं है।’ गोरे और काले का प्रश्न ही कहा है? यदि बेटा हो तो फिर बांझ क्यों? जब छतरी ही नहीं है तो फिर छेद का प्रश्न ही कहा है और छेद को रोकने की बात भी कहा है? आज कहा जाता है—संताप बहुत है, मानसिक तनाव बहुत है लेकिन तनाव क्यों है? कोई व्यक्ति अपने जीवन में छाता ही नहीं बनाता है तो उसे ताप सहना ही पड़ेगा।

गर्मी का मौसम नहीं था, फिर भी एक महाशय छाता लिए जा रहे थे। मन में आया—इतना थोड़ा ताप है फिर भी छाता लिए जा रहे हैं? ताप को सहन करना नहीं चाहते, ताप में जाना नहीं चाहते। समस्या यह है—धूप से बचने के लिए छाता ताना जा रहा है, किन्तु जीवन में जो ताप आ रहा है, उसके लिए छाता नहीं ताना जा रहा है।

छाता है प्रतिक्रमण

जीवन के तप को रोकने का छाता है व्रत और व्रत के छिद्रों को रोकने का छाता है प्रतिक्रमण। प्रतिक्रमण का मतलब है—अईयं पडिक्कमामि—अतीत का प्रतिक्रमण करना। हमारे तीन काल हैं—अतीत, वर्तमान और भविष्य। आज मन का कोई भाव बना, अच्छा बना या बुरा, शुभ भाव आया या अशुभ, विधायक भाव आया या निषेधात्मक, उस समय यह प्रश्न उभरना चाहिए—यह भाव क्यों आया? किस कर्म का विपाक है? क्या यह मोहनीय कर्म का विपाक है? कषाय का विपाक है? नो कषाय का विपाक है? दर्शन मोह का विपाक है? चारित्र मोह का विपाक है?

वर्तमान भाव के पीछे अतीत का किया हुआ कर्म रहता है। जब उस कर्म का विपाक आता है तब हमारे भाव बनते हैं। अगर मोहनीय कर्म का क्षयोपशम कारण बना है तो भाव अच्छा आएगा। अगर मोहनीय कर्म का उदय कारण बना है, तो भाव विकृत और निषेधात्मक आएगा, घृणा, अहंकार, लोभ, भय, वासना आदि का भाव आएगा। विपाक के कारण की खोज करना प्रतिक्रमण है। हम पीछे चले जाएं, अतीत में चले जाएं, वहां जाकर यह खोजें—यह भाव क्यों जागा? क्यों आया?

कारण की खोज

एक मुनि ने भोजन किया। भोजन करने के कुछ समय बाद उसके मन में चोरी का भाव जाग उठा। घर की मालकिन का हार बाहर पड़ा था। मुनि ने हार उठाया और उसे अपने पास रख लिया। बड़ी विचित्र बात हो गई। एक त्यागी और वैरागी साधु ऐसा कर सकता है, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। हार लेकर मुनि अपने स्थान पर चला गया। संयोग ऐसा मिला—लगभग दो घंटे बाद वमन हुई। मुनि स्वस्थ हुआ और उस पात्र को देख आश्चर्य में पड़ गया। उसने सोचा—‘अरे! यह क्या? यह हार कैसे आया।’ जब कोई गहरी मूर्च्छा आ जाती है, तब व्यक्ति को कुछ भी पता नहीं चलता। मुनि की मूर्च्छा टूटी। वह अतीत में लौटा। उसने ध्यान दिया—जिस कमरे में खड़ा था, उस कमरे से यह लेकर आया हूँ। वह वापस उस महिला के घर आया। उसने घर की मालकिन से कहा—‘लो, यह तुम्हारा हार।’ उसने पूछा—‘महाराज! यह आपके पास कैसे आया?’

मुनि ने कहा—‘पहले यह बताओ कि आज भोजन में क्या था?’ महिला ने कहा—‘आपको भोजन देते समय मेरे मन में विकार था। मैंने शुद्ध भोजन नहीं दिया, अशुद्ध भोजन दिया और विकृत भावों से दिया।’

मुनि बोले—‘यह उस भोजन का परिणाम है। भोजन करने के बाद मेरे मन में चोरी करने की बात जाग गई। मुझे हार से कोई मतलब नहीं था। अकारण ही चोरी करने की बात मन में आ गई और मैं हार उठाकर चल पड़ा। अभी कुछ समय पूर्व वमन हुई, तुम्हारे घर का सारा खाया-पीया निकला, मेरा भाव बदल गया।’

अतीत में लौटें

अतीत में लौटना बहुत महत्त्वपूर्ण है। हमारे वर्तमान कार्यक्रम के पीछे अतीत के कौन-से कर्म का विपाक काम कर रहा है? उस अवस्था तक पहुंच जाने का नाम है प्रतिक्रमण। कार्य को आधार बना कर कारण की खोज करना प्रतिक्रमण है। एक दिन में न जाने कितने भाव आते हैं। उन सारे भावों के कारण की खोज करना प्रतिक्रमण है। जिस समय जो भाव आया उसका तत्काल प्रतिक्रमण करें। यह भाव क्यों पैदा हुआ? प्रत्येक साधक सोचे—मैं साधना कर रहा हूँ, साधु हूँ, श्रावक हूँ, धर्म को मैंने समझा है, मेरे मन में क्रोध का भाव क्यों आया? मेरे मन में चोरी का भाव क्यों आया? इसका क्या कारण है? उस कारण को खोज में चले जाना अतीत का प्रतिक्रमण है।

अतीत का प्रतिक्रमण होता है। एक स्थूल अर्थ में कहा जाता है—अशुभ योग से शुभ योग में चले जाना प्रतिक्रमण है। यह ठीक बात है परन्तु हम अगर गहरे में जाएं तो प्रतिक्रमण का अर्थ इतना ही नहीं है। प्रतिक्रमण का अर्थ है—कारण की खोज में चले जाना और कारण के निवारण के लिए प्रयत्न करना। यह है अतीत का प्रतिक्रमण। भूतकालीन कर्म का विश्लेषण और निराकरण प्रतिक्रमण है। इसका बहुत सुन्दर वर्णन मिलता है। अगर ज्ञानावरण कर्म का कोई उदय है तो हम प्रतिक्रमण कर सकते हैं। किन कारणों से ज्ञानावरण कर्म बंधता है, यह जानें और सोचें—क्या वैसा मैंने कोई कार्य किया है? इस अनुभूति में चले जाना, उस स्थिति तक पहुंच जाना, अतीत का प्रतिक्रमण है। अगर मोहनीय कर्म का विपाक है तो जिन कारणों से मोहनीय कर्म का बंध होता है, उन कारणों की खोज में चले जाएं। कभी-कभी अतीत की खोज में डूबे व्यक्ति को अनुभव हो जाता है—मैंने ऐसा किया था इसलिए ऐसा हो रहा है।

एक व्यक्ति ने कहा—‘मेरे मन में अमुक प्रकार के वासना के भाव बहुत जागते हैं।’ उसने बताया—‘मैंने ध्यान बहुत दिया तो मैं उस स्थिति तक चला गया, उसका कारण उपलब्ध हो गया। मैंने जान लिया—मैं पूर्व में क्या था और मैंने क्या किया था? मैं क्या धंधा करता था? मेरा धंधा था लड़कियों को फंसाना और वेश्यावृत्ति में लगाना। मेरी जो वर्तमान वासनात्मक स्थिति है, यह उसी का परिणाम है।’

प्रतिक्रमण एक महान उपाय है अतीत में लौटने का, वर्तमान कार्य की पृष्ठभूमि तक पहुंचने का और व्रत के छेदों को भरने का। जो व्रत के छेदों को भर देता है, वह आश्रवों को रोक देता है, चरित्र के धब्बों को मिटा देता है।

निदर्शन हैं रत्नाकर सूरि

रत्नाकर सूरि प्रसिद्ध जैनाचार्य हुए हैं। उनकी एक बहुत प्रसिद्ध रचना है—रत्नाकर पंचविंशति। उसमें उन्होंने आत्मनिंदा बहुत की है। कभी-कभी ऐसा लगता है—व्यक्ति को इतनी आत्मनिंदा नहीं करनी चाहिए, इतनी भावना में नही जाना चाहिए किन्तु आत्मनिंदा का क्या कारण रहा? उसे जानना महत्त्वपूर्ण है। वे एक शहर में गए। उन्हें उस शहर में पूजा, प्रतिष्ठा और सम्मान बहुत मिला,

वस्तुएं भी बहुत मिलीं। द्वेष से जितना खतरा नहीं होता, उससे अधिक रागात्मक भाव से खतरा पैदा हो जाता है। पूजा-प्रतिष्ठा, सम्मान और पदार्थों का योग—ये बहुत खतरा पैदा करते हैं। आचार्य के मन में कुछ संग्रह करने की भावना जाग गई। उस शहर में एक प्रमुख श्रावक था। उसका नाम था कुण्डली। बड़ा होशियार श्रावक था। उसने देखा—आचार्य के मन में लोभ जाग गया है, पदार्थों को इकट्ठा कर रहे हैं और यहाँ से जाने का नाम ही नहीं ले रहे हैं। यह अच्छा नहीं है। उन्हें कुछ कहना चाहिए पर कहीं कैसे?

कहने का भी एक तरीका होता है। अगर सीधा जाकर खीर में मूसल डाले तो मानने वाली बात भी नहीं मानी जाती है। कोई बात कैसे कहनी चाहिए, इस बात को जो नहीं जानता है, वह अर्थ के स्थान पर अनर्थ कर देता है।

कुण्डली श्रावक एक दिन आचार्य के पास आया, वंदना कर बोला—‘महाराज! मैंने गौतम को नहीं देखा, सुधर्मा स्वामी को भी नहीं देखा, जम्बू स्वामी को भी नहीं देखा, प्रभव को भी नहीं देखा। अनेक युगप्रधान आचार्य हुए हैं, उन्हें भी नहीं देखा पर जब आपको देखता हूँ तो ऐसा लगता है, मैंने सबको देख लिया है। आप कितने तेजस्वी हैं, कितने यशस्वी हैं, कितने ज्ञानी हैं।’ प्रशंसा भरे शब्दों से आचार्य को प्रसन्न कर दिया।

उससे आगे कहा—‘महाराज! आप ज्ञानी हैं। मैं आपसे एक गाथा का अर्थ पूछना चाहता हूँ। आप उस गाथा का अर्थ बताएं।’

आचार्य ने कहा—‘बोलो!’

कुण्डली श्रावक बोला—

दोसमयं मूलजालं प्रवररिसिविवज्जियं महादोसं ।

अत्थं वहसि अणत्थं, कीस अणत्थं तवं वरसि ॥

आचार्य ने सोचा—इसका मूल अर्थ बताऊंगा तो बड़ा अनर्थ हो जाएगा। आचार्य ने उसका अर्थ बदल दिया, दूसरा अर्थ बता दिया।

कुण्डली श्रावक उस समय कुछ नहीं बोला। पांच-दस दिन बीते। कुण्डली श्रावक ने आचार्य से निवेदन किया—‘महाराज! आपने उस दिन अर्थ फरमाया था पर वह मेरी समझ में नहीं आया। कृपा कर आप पुनः अर्थ बताएं।’

आचार्य ने पुनः दूसरा अर्थ बता दिया। वे बुद्धिमान थे, शब्दों को अर्थ के सांचे में ढालना जानते थे। एक श्लोक के अनेक अर्थ हो जाते हैं, दस, बीस और पचास अर्थ हो जाते हैं। एक आचार्य ने महाकाव्य बनाया—सप्तानुसंधान महाकाव्य—रामायण उससे पढ़ लो, महाभारत उससे पढ़ लो और तीर्थंकर का चारित्र भी उसी में से पढ़ लो। उसके एक श्लोक के सात अर्थ निकलते हैं, उसमें सात व्यक्तियों का जीवन चरित्र एक साथ चलता है।

श्रावक कुण्डली ने नए अर्थ को सुना, किन्तु बोला कुछ नहीं। कुछ दिन बाद उसने कहा—‘महाराज! आप तो बड़े ज्ञानी हैं! आपने बड़ी कृपा की, अर्थ भी बताया पर मेरे गले नहीं उतरा। कोई बात मुश्किल से गले उतरती है।’

आचार्य ने फिर एक अर्थ बता दिया।

कहा जाता है छह महीने तक श्रावक इस श्लोक का अर्थ पूछता रहा और आचार्य रत्नाकर सूरि उसके नए-नए अर्थ बताते रहे। कुण्डली श्रावक ने धैर्य नहीं खोया। वह बार-बार पूछता रहता—‘महाराज! आप बड़े ज्ञानी हैं पर मैं तो अनपढ़ हूँ, आप मुझे पुनः समझाएं।’

ऐसा करते-करते छह मास बीत गए। एक दिन आचार्य ने सोचा—मैं अर्थ क्या बताऊँ? अनर्थ तो मैं स्वयं कर रहा हूँ। सही अर्थ बताऊँ कैसे? एकदम जागृति आई। उन्होंने निर्णय लिया—मुझे प्रतिक्रमण करना है। मैंने व्रत में छेद किया है। आचार्य के मन में यह भाव जागा और उन्होंने सही अर्थ बता दिया—‘अनर्थ का मूल है अर्थ और जब तू अर्थ का संग्रह कर रहा है तो फालतू ही तप क्यों रहा है? साधना क्यों कर रहा है?’

उसने कहा—‘हां महाराज! आज आपने ठीक अर्थ बताया है, सही अर्थ बताया है। मैं कृतार्थ हो गया, धन्य हो गया।’

जो केवल प्रातःकाल और सांयकाल किया जाता है, वही प्रतिक्रमण नहीं है। जब-जब ऐसा भाव आए तब-तब प्रतिक्रमण करें। बाईस तीर्थंकरों के समय प्रतिक्रमण का जो नियम था, वह कम महत्त्वपूर्ण नहीं था। दो बार प्रतिक्रमण करें। यह एक समयबद्ध और काल-प्रतिबद्ध विधान है किन्तु जब भी मन में असद्भाव आए, कोई बुरा भाव आए तो तत्काल प्रतिक्रमण करें—यह भाव क्यों आया? ऐसा भाव मेरे मन में क्यों पैदा हुआ? कई लोग आते हैं, अच्छे-अच्छे श्रावक आते हैं और कहते हैं—‘महाराज! सामने बताने जैसी बात नहीं है किन्तु मेरे मन में बार-बार आत्महत्या करने की बात आती है। यह विचार क्यों आता है?’ कुछ व्यक्ति कहते हैं—‘अमुक को मारने की बात मन में बार-बार आती है। आत्महत्या या परहत्या का विचार क्यों आता है?’ सम्यक्त्व दीक्षा के समय यह त्याग कराया जाता है—मैं आवेशवश न आत्महत्या करूंगा और न परहत्या करूंगा। पर यह भाव क्यों आता है? यह भाव साधु के मन में भी आ सकता है। उसके कारण की खोज में चलना, अतीत में चले जाना, प्रतिक्रमण है। केवल वर्तमान से कार्य नहीं चलेगा। वर्तमान की पृष्ठभूमि में जो अतीत छिपा है, उसे खोजना होगा। अतीत की विशुद्धि से हमारा वर्तमान प्रभावित होता है, भविष्य प्रभावित होता है। एक भूत वह होता है, जिससे लोग डरते हैं। अतीत को भूत कहा गया है। अतीत का एक नाम भूत है। क्या इससे लोग कम डरते हैं?

व्रत की छतरी की सुरक्षा का महत्त्वपूर्ण उपाय है—अतीत का प्रतिक्रमण।

संताप से बचने का और ताप से मुक्त रहने का यह महत्त्वपूर्ण सूत्र है। कहा जा सकता है—महावीर के साधना-सूत्रों में जो बहुत महत्त्वपूर्ण सूत्र है, उनमें एक सूत्र है प्रतिक्रमण।

पढ़ें अपने आपको भी

आज तक जितना विकास हुआ है वह क्रिया से हुआ है। क्रिया के बिना कोई विकास संभव नहीं है। जितनी क्रिया हुई है वह ज्ञान के द्वारा हुई है। विकास का मूल है—कर्म और कर्म का मूल है—ज्ञान। ज्ञान भीतर से भी फूटता है और बाहर से भी आता है। ऐसे लोग बहुत कम होते हैं जिनकी भीतर की आंख खुल जाए। ऐसे लोग भी कम हैं जो स्वयं अपनी भीतर की आंख खोल लें। चक्षुष्मान् होने के लिए पढ़ना जरूरी है।

दो शब्द हैं—अध्ययन और स्वाध्याय। वर्तमान की जो पढ़ाई है, उसे अध्ययन कहा जाता है। स्वाध्याय उससे भिन्न है। यह शब्द गरिमापूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति देता है। प्राचीन आचार्यों ने स्वाध्याय के साथ आत्मा को जोड़ दिया। लौकिक विद्या पढ़ना अध्ययन है और आध्यात्मिक चेतना को जगाना स्वाध्याय है।

कुछ बातें पढ़ने से आती हैं। कुछ बातें कर्मजा बुद्धि से आती हैं, कुलजात परंपरा से आती हैं। फिर भी विधिवत ज्ञान करना, पढ़ना जरूरी है। चाहे लौकिक विद्या हो या आध्यात्मिक विद्या उसके विकास के लिए विधिवत ज्ञान करना आवश्यक है। इससे ही विकास की नई संभावनाएं उभरती हैं।

आज विद्या की जितनी शाखाएं हैं, उतनी शाखाएं प्राचीन काल में नहीं थीं। प्राचीन साहित्य में सप्तभूमि—सप्तमंजिल मकानों का विवरण प्राप्त होता है। परन्तु आज तो सैकड़ों मंजिल के मकान निर्मित हो रहे हैं। यह विकास अध्ययन के आधार पर हुआ है।

आज अध्ययन बहुत बढ़ा है, स्वाध्याय घटा है। इसका कारण है कि विद्या का लक्ष्य बन गया भौतिक पदार्थ का विकास। आज की विद्या शरीर और पदार्थ की परिक्रमा कर रही है। स्वाध्याय का अर्थ है—लौकिक विद्या के साथ-साथ अपने आपको पढ़ना। जो पढ़ने वाला है, उसके विषय में कोई नहीं जानता और जो पढ़ा जाता है, उसके विषय में बहुत कुछ ज्ञात है। दूसरे शब्दों में कहें तो ज्ञेय के विषय में जानकारी है, परन्तु ज्ञाता के विषय में कुछ भी जानकारी नहीं है। यह विचित्र अलगाव हो गया।

आज यह अत्यन्त आवश्यक है कि प्रतिभा और प्रत्युत्पन्न मति का विकास हो। एक है पढ़ाई का ज्ञान, दूसरा है भीतर से फूटने वाला ज्ञान अर्थात् प्रत्युत्पन्न मति। तीसरा है अध्यात्म का ज्ञान। यही है स्वाध्याय। यही है अपने आपको पढ़ना, ज्ञाता को जानना, जहां से ज्ञान की सारी रश्मियां निकलती हैं।

आज की शिक्षा की सबसे बड़ी विडंबना यही है कि उसमें ज्ञाता के विषय में कुछ नहीं बताया जाता। इसी का परिणाम है कि वर्तमान में हिंसा और आतंकवाद बढ़ता जा रहा है। यह ज्ञाता को विस्मृत कर देने की फलश्रुति है।

गणधर गौतम ने भगवान महावीर से पूछा—‘भंते! स्वाध्याय से क्या लाभ होता है?’ भगवान ने कहा—‘गौतम! स्वाध्याय से ज्ञान का आवरण हटता है।’

ऐसा प्रतीत होता है कि लौकिक विद्या के विकास के लिए बायां मस्तिष्क उत्तरदायी है और अपने आपको पढ़ने के लिए दायां मस्तिष्क उत्तरदायी है। आज कठिनाई यह है कि एक आवरण तो हट गया, परंतु दूसरा आवरण नहीं हटा है। दायां ओर का आवरण वैसा का वैसा है। इसीलिए सहिष्णुता, सौहार्द और अनुशासन का विकास नहीं हो रहा है।

स्वाध्याय का अर्थ है—इस आवरण को हटाकर संतुलन को कायम करना। स्वाध्याय करने वाले इस बात पर ध्यान दें कि वे सामायिक करते हैं, सूत्र पढ़ते हैं, जाप करते हैं, ध्यान करते हैं, पर अनुप्रेक्षा नहीं करते। स्वाध्याय के तीन अंग हैं—वाचना, पृच्छना और अनुप्रेक्षा। अनुप्रेक्षा में मनन, निदिध्यासन आदि सब आते हैं। भगवान से पूछा गया—अनुप्रेक्षा से क्या लाभ होता है? भगवान ने कहा—अनुप्रेक्षा करने वाला आयुष्य कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों को प्रकंपित कर देता है। वह मोहनीय और अशुभ कर्मों को झकझोर देता है। अनुप्रेक्षा से अर्थ सहस्र-गुणित ज्ञात होता चला जाता है।

माना गया है कि एक अक्षर के अनन्त पर्याय होते हैं। जो व्यक्ति वर्णमाला पढ़ जाए और उस पर निरंतर अनुप्रेक्षा करता रहे तो सरस्वती का सारा भंडार उसके लिए खुल जाता है।

जैनाचार्यों ने मंत्र का विधान किया। उसमें एक मंत्र है वर्णमाला का। उसमें विधान किया गया है कि सोलह स्वरों की स्थापना अमुक स्थान पर करो, व्यंजनों की स्थापना अमुक स्थान पर करो और आठ अक्षरों की स्थापना मुंह पर करो। फिर उस पर ध्यान करो। यह सरस्वती का बहुत बड़ा मंत्र है। ‘अर्हम्’ बहुत बड़ा मंत्र है। इसमें सारा ज्ञान समाविष्ट है। यदि अर्हम् की अनुप्रेक्षा की जाए तो ‘अ’ और ‘ह’ के अतिरिक्त विश्व का और ज्ञान है क्या? सारा ज्ञान ‘अ’ और ‘ह’ का मध्यवर्ती है।

हम पढ़ें, अध्ययन करें और फिर स्वाध्याय करें। हम ज्ञाता और ज्ञेय—दोनों को जानें। यह सामंजस्य परिपूर्णता की ओर ले जाएगा। स्वाध्याय के जो पांच प्रकार हैं, वे अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। स्वाध्याय वाचना से प्रारंभ होता है और अन्त में आती है धर्मकथा। जब वाचना आदि चारों परिपुष्ट हो जाते हैं तब धर्मकथा अर्थात् दूसरों को ज्ञान कराने का अधिकार प्राप्त होता है।

उत्तराध्ययन सूत्र में स्वाध्याय का सर्वांगीण क्रम प्रतिपादित है। उस पर मनन करें। बीच में कहीं अटकें नहीं। अटकने का अर्थ है कहीं का न रहना। इस क्रम पर अनुप्रेक्षा करें। यदि ऐसा किया जाता है तो स्वाध्याय जीवन-विकास के लिए बहुत मूल्यवान अवदान सिद्ध हो सकता है।

किसने कहा मन चंचल है?

शिष्य आचार्य की सन्निधि में उपस्थित हुआ। उसने विनम्र प्रणाम कर निवेदन किया—‘गुरुदेव! यह सुना जा रहा है—मन के हारे हार है, मन के जीते जीत। क्या यह सच है? क्या एक मन को जीतने से सब कुछ जीत लिया जाएगा? क्या मन इतना शक्तिशाली है, इतना स्वतंत्र है? क्या वह ईश्वर है? क्या वह सब कुछ करने में समर्थ है?’

आचार्य ने कहा—‘वत्स! जो कहा जा रहा है, उसे असत्य कैसे कहा जा सकता है? पर वह पूरी सचाई नहीं है। मन स्वतंत्र नहीं है, वह चलाने वाला नहीं है। मन स्वयं दूसरे के द्वारा संचालित है।’

आचार्य ने अपनी बात को स्पष्ट करते हुए कहा—‘जैसा कर्म का विपाक होता है, वैसा भाव होता है और जैसा भाव होता है वैसा मन होता है। मन भाव के अधीन है। वह भाव के अनुसार चलता है।’—

विपाकः कर्मणो यादृग्, यादृग् भावः समाश्रितः।

मनः प्रवर्तते तादृग्, भावाधीनं मनो यतः।

मन को चलाने वाले कारण अनेक हैं। कर्मशास्त्र की दृष्टि से कर्म का विपाक मन को चलाता है। जैसा कर्म का विपाक होगा वैसा मन बन जाएगा। यदि मोहनीय कर्म का विपाक आया है तो मन क्रोध अथवा अहंकर से भरेगा, भय या घृणा करेगा। वह कभी उछलने लग जाएगा, कभी एकदम नीचे बैठ जाएगा। कभी उत्कर्ष कभी अपकर्ष, कभी उच्चता कभी हीनता। इन सबका कारण है कर्म का विपाक।

त्रिदोष और मन

आयुर्वेद की दृष्टि से विचार करें। शरीर में तीन दोष माने जाते हैं—वात, पित्त और कफ। जब शरीर में वायु का प्रकोप होगा तब मन में जड़ता व्याप्त हो जाएगी, मन अस्थिर हो जाएगा, चंचल बन जाएगा। यदि मन चंचल अधिक हो तो समझ लेना चाहिए—शरीर में वायु कुपित हो गई है। वायु का प्रकोप बढ़ेगा तो व्यक्ति डरने लग जाएगा, उसे अकारण भय सताएगा। जब शरीर में पित्त का प्रकोप होता है तब व्यक्ति को क्रोध सताने लगता है, चंचलता और काम-वासना बढ़ जाती है। जब कफ का प्रकोप होता है, स्नेह का भाव प्रबल बन जाएगा, हंसी बहुत आने लग जाएगी, मूढ़ता और शोक की स्थिति भी तीव्र बनेगी। जिस समय, जिस ऋतु में जिसका प्रकोप अधिक होता है, मन उसके साथ काम करने लग जाता है। शरीर में तीनों प्रकार के दोष निरन्तर रहते हैं। किस ऋतु में कफ का प्रकोप ज्यादा होता है, किस ऋतु में वायु और

पित्त का प्रकोप ज्यादा होता है। शरीर के किस भाग में वायु, पित्त या कफ का प्रकोप ज्यादा होता है। यदि यह जान लिया जाए तो मन को पकड़ने में बहुत सुविधा हो जाती है।

यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है—ये तीनों दोष सम कैसे रहें? इन पर नियन्त्रण कैसे किया जाए? आयुर्वेद का सिद्धांत है—दोषाणां साम्यं आरोग्यम्—दोषों की समता का नाम है आरोग्य और विषमता का नाम है रोग। शरीर में दोष रहेंगे। यदि दोष नहीं रहेंगे तो शरीर भी नहीं रहेगा। ध्यान यही देना चाहिए—दोष का असंतुलन न हो। दिन का अन्तिम हिस्सा वायु-प्रधान माना जाता है, मध्यकाल को पित्तप्रधान और प्रातःकाल को कफप्रधान माना जाता है। किस समय में क्या करना चाहिए और किस समय मन की गति कैसी रहती है? यदि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—इन सारी बातों को सूक्ष्म मनीषा से समझा जाए तो मन की एकाग्रता को साधने में शीघ्र सफलता मिल जाती है।

त्रिदोष और कर्म

उपाध्याय मेघविजयजी ने इस विषय में एक और संगति को प्रस्तुत किया है—वायु-प्रकोप का संबंध है ज्ञानावरण कर्म के उदय से। जब वायु ज्यादा कुपित होता है तब वह शून्यता ला देता है, स्तब्धता और जड़ता ला देता है, ज्ञान के आवरण का हेतु बन जाता है। इसलिए जो व्यक्ति साठ से ऊपर चला जाता है, उसे बहुत सावधान रहना चाहिए—कहीं वायु का प्रकोप बढ़ न जाए, अन्यथा जड़ता, शून्यता, बुद्धि की मंदता, विस्मृति—इनका होना बहुत स्वाभाविक है। आयुर्वेद का यह विधान भी है—साठ वर्ष के बाद व्यक्ति को हमेशा सतर्क रहना चाहिए, वायु-शामक औषधियों का प्रयोग करना चाहिए, जिससे वायु उच्छृंखल न बने, ज्यादा कुपित न हो, नियंत्रण में रहे।

आयुष्य कर्म का संबंध पित्त के साथ जोड़ा गया। जब तक व्यक्ति का पित्त ठीक काम करता है तब तक जीवन है। जब पित्त ने काम करना बन्द कर दिया, जीवन की गति भी समाप्त होने लग जाती है। कफ का संबंध है नाम कर्म की प्रकृतियों के साथ। शरीर, यश, रूप आदि के साथ कफ की प्रकृति का योग माना गया है। जब वात, पित्त और कफ—तीनों का प्राबल्य होता है तब सन्निपात की सी स्थिति बनती है। इसका संबंध अन्तराय कर्म के साथ है। सारी शक्ति क्षीण हो जाती है ऐसी स्थिति में। जब तीनों ही प्रबल बन जाते हैं तब शक्ति कौनसी बच् पाएगी? क्या सन्निपात में शक्तिशून्य नहीं हो जाता है आदमी? उस स्थिति में आदमी सोया रहता है, जीवन के दिन गिनता रहता है, मौत उसके सामने मंडराती रहती है। यह शरीर के दोष और कर्म के संबंध की एक महत्त्वपूर्ण अवधारणा है।

कार्य किसी का, श्रेय किसी को

शरीर के दोष, दिन और रात्रि का समय, कर्म का विपाक, कर्म विपाक से होने वाले भाव—ये सारे तत्त्व हैं, जो मन को प्रभावित करते हैं। हम इन सबका भार मन पर डाल देते हैं। इन सबके स्थान पर मन को बिटा देते हैं। उत्तरदायी कोई दूसरा है और वजन किसी दूसरे पर डालें तो काम कैसे चलेगा?

पुत्र ने पिता से कहा—‘पिताजी! आज मैं ऊंट पर जा रहा था तब अचानक उसकी नकेल टूट गई। मेरे साथ पड़ौसी का लड़का भी था। हम दोनों मृसीवत में फंस गए। हमारे पास दूसरी नकेल नहीं थी। मैंने उससे कहा—तुम अपनी जनेऊ दे दो। इससे नकेल बांध देंगे। एक बार काम चल जाएगा। पिताजी! वह लड़का इतना जिद्दी था कि दो घंटे के लिए भी जनेऊ देने के लिए तैयार नहीं हुआ।’

पिता ने कहा—‘यह क्या, इसका पिता भी ऐसा है। एक बार मेरा इसके पिता से काम पड़ा था। बात यह थी—तेरी बहन की शादी का प्रसंग था। ऐसा योग मिला—वह अकरस्मात् बीमार हो गई। दूल्हा मंडप में पहुंच गया। मैंने उससे कहा—मेरी लड़की बीमार है। तुम एक बार उसके स्थान पर अपनी लड़की को बिठा दो। जब फेरे हो जाएंगे। तब वह वापस आ जाएगी। उसने मेरे इस कथन को सर्वथा अस्वीकार कर दिया।’

पुत्र बोला—‘पिताजी! फिर शादी कैसे हुई।’

‘बेटा! क्या करता? शादी तो करनी ही थी। फिर तुम्हारी बहन के स्थान पर तुम्हारी मां को बिठा दिया।’

ऐसी ही कहानी राजस्थान में बहुत प्रसिद्ध है। पुराने जमाने में छोटी-छोटी लड़कियों की बहुत शादियां होती थीं। एक छोटी कन्या की शादी थी। फेरे का समय था रात्रि के एक बजे। कन्या को नींद आ गई। मां उसे उठाने के लिए आई। बेटी को कई बार झकझोरा। पर नींद नहीं टूटी। मां ने बहुत प्रयत्न से उठाया। बेटी ने पूछा—‘मां! मुझे क्यों जगाया? मां ने कहा—‘बेटी! तुम्हें फेरे खिलाने हैं।’ बेटी बोली—‘मां! मुझे नींद आ रही है। फेरे तू ही खा ले।’

मनुष्य भी ऐसा ही कुछ करता चलता जा रहा है। जहां शरीर का दोष कारण है वहां पर भी मन का आरोपण कर देता है, जहां कर्म विपाक या भाव कारण है वहां भी मन पर दोष डाल देता है। एक लड़की नहीं उठ रही है तो उसके स्थान पर मां को बिठा दिया, दूसरी लड़की नहीं आ रही है तो मां को फेरे दिला दिए। यही मन के साथ हो रहा है। हम कर्म पर ध्यान नहीं देते, कर्म विपाक पर ध्यान नहीं देते, शरीर के दोषों पर, काल और ऋतुचक्र पर ध्यान नहीं देते। हम इन सबका उत्तरदायित्व केवल मन पर थोप देते हैं। हम कह देते हैं—मन ऐसा करता है, मन वैसा करता है। हम उसे उतना ही उत्तरदायी ठहराएं, जितना वह है। म. प्रकृति से चंचल है, यह सच है, इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता। शरीर स्थिर हो सकता है, मन और वाणी नहीं। मन एकाग्र हो सकता है, उसे किसी एक बिंदु पर टिकाया जा सकता है।

मन को टिकाना या निरोध?

गणधर गौतम ने भगवान महावीर से पूछा—‘भंते! मन को एक स्थान पर टिकाने से जीव क्या प्राप्त करता है।’

यह एक वास्तविक प्रश्न है। यह नहीं पूछा गया—मन का निरोध कैसे होता है? मन को एक आलंबन पर टिकाया जा सकता है। वह इतना चंचल अवश्य रहेगा। हम देखते हैं—गाय के बछड़े को खूंटे पर बांध दिया जाता है।

बछड़ा चक्कर लगा रहा है, खूटे के चारों ओर दौड़ रहा है। वह स्थिर नहीं हुआ पर जो बछड़ा चारों ओर दौड़ रहा था, उसे एक खूटे से बांध दिया गया। वह उसकी परिधि में ही चक्कर लगाएगा। मन को एकाग्र करने का अर्थ है—जो मन विभिन्न विषयों पर उछल-कूद मचा रहा है, उसे एक बिन्दु पर टिका दिया।

मन की दो अवस्थाएँ हैं—अनेकाग्र मन और एकाग्र मन। वह शुभ भी होता है और अशुभ भी। मन की शुभ अवस्था महत्त्व की बात है। मन को एक शुभ आलंबन पर टिकाने का फल है—चित्तवृत्ति का निरोध। जितनी चित्तवृत्तियाँ हैं, वे निरुद्ध होने लग जाएंगी। प्रेक्षाध्यान का प्रयोजन क्या है? स्वाध्याय और ध्यान का प्रयोजन क्या है? इनका प्रयोजन यही है—मन को एक अच्छे आलंबन पर टिका दें। स्वाध्याय में कुछ अधिक प्रवृत्ति है, ध्यान में ऐसे भी कम प्रवृत्ति हो जाती है। प्रश्न हो सकता है, निवृत्ति की बात कब संभव बनेगी? वह तब आएगी जब मन नहीं रहेगा। मन का होना कोई जरूरी नहीं है। मन की एक स्थिति है अमन। जहाँ अमन है वहाँ चैन है। बहुत सुन्दर शब्द है अमन-चैन। जब चित्तवृत्ति का निरोध होता है, तब मन होता ही नहीं है। इसका अर्थ है—हम मन को जब चाहें पैदा करें और जब चाहे समाप्त कर दें। मन को पैदा करना और समाप्त करना एक कला है। जो यह कला सीख लेता है, वह अनेक समस्याओं का समाधान पा लेता है।

सबसे बड़ी बात है एक आलंबन पर टिकना। मन इतना तरल और चंचल है कि एक आलंबन पर टिकता ही नहीं है। वह पानी की भाँति तरल है। पानी में गंदगी डालो, वह गंदला हो जाएगा। उस पानी की बर्फ जमा दो, फिर गंदगी डालो, गंदगी उसे गंदला नहीं बना पाएगी। वह उस पर गिरेगी और लुढ़क कर नीचे उतर जाएगी। बर्फ साफ एवं स्वच्छ बनी रहेगी। यदि पानी में गंदगी मिला दें तो उसे साफ करना आसान नहीं है। मन जितना ज्यादा तरल और चंचल रहेगा, उतनी ही ज्यादा गंदगी को ग्रहण करेगा, बाहरी प्रभावों में बह जाएगा। यदि मन को जमा दिया जाए, बर्फ की शिला जैसा बना दिया जाए तो गंदगी उसे गंदला नहीं बना पाएगी, वह प्रभावों से अप्रभावित बना रहेगा।

प्रश्न आलंबन का

प्रश्न वही आता है—मन को कैसे जमाएँ? सूत्रकार भी यही कहते हैं—एक अग्र पर मन का सन्निवेश करो। उसे एक आलंबन पर कैसे स्थापित करें? मन अनेकाग्र क्यों होता है? तत्त्वार्थभाष्य की टीका में इस प्रश्न पर सुन्दर विचार किया गया है। एक व्यक्ति ने संकल्प किया—मैं दस मिनट केवल अहं पर ध्यान करूँगा। दो मिनट भी नहीं बीते, ध्यान भटक गया और भटकता ही चला गया। कभी व्यापार याद आ गया, कभी परिवार याद आ गया और कभी कुछ याद आ गया। न जाने कितनी बातें याद आ गईं। ऐसा क्यों होता है?

आचार्य ने इस प्रश्न को समाहित किया एक दृष्टांत के द्वारा। आग जल रही है, ऊपर दूध का बर्तन रखा हुआ है। दूध का क्या होगा? वह उफनने लग जाएगा। जब तक आग जलती रहेगी, व्यक्ति के चाहने पर भी दूध का उफान शांत नहीं होगा। यही समस्या मन के साथ जुड़ी हुई है। हमारी आत्मा के प्रदेश

पर ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोह और अंतराय कर्म के परमाणु चिपके हुए हैं। उनकी एक आग जल रही है। उसका उत्ताप भयंकर है। कर्म-विपाक निरंतर उदय में आ रहा है। कभी ज्ञानावरणीय की आंच, कभी मोहनीय कर्म की आंच प्रबल बन जाती है। इस पर मन का दूध भाव के बर्तन में रखा हुआ है। क्या वह उफनेगा नहीं? वह बर्तन को छोड़कर भागना शुरू कर देगा। तब तक भीतर की आग, कर्म विपाक भट्टी जल रही हैं, तब तक भाव के बर्तन में अवस्थित मन का दूध शान्त नहीं होगा। यदि हम कर्म विपाक को समझ लें, भावों को संतुलित रखना जान लें, भाव शुद्धि का अभ्यास कर लें तो यह वछड़ा हमेशा खूंदी पर बंधा रहेगा। यदि इन सब बातों को न समझें तो यह मन रूपी वछड़ा रस्सी तुड़ाकर जंगल में भाग जाएगा। स्थिति यह बनेगी—आगे-आगे वछड़ा दौड़ेगा और पीछे पीछे उसका मालिक। इस परिस्थिति में ही मन समस्या बनता है।

हम मन को एक आलम्बन पर टिकाने का अभ्यास करें। उसका एक साधन है श्वास प्रेक्षा। श्वास को देखना कोई धर्म की बात नहीं है पर वह धर्म की बात बन जाती है। इसका कारण यह है—श्वास को देखने का मतलब है ज्ञाता-द्रष्टा होना। न राग, न द्वेष, केवल श्वास की प्रेक्षा। हम श्वास का आलम्बन लें, अहंम् का आलंबन लें और इन पर मन को टिकाने का अभ्यास करें। ये ऐसे पवित्र आलंबन हैं जिन पर मन को टिकाना चंचलता की समस्या को मिटाना है। मैं यह मानता हूँ—जो व्यक्ति बीस मिनट तक एक आलंबन पर टिकने लग जाता है, उसका ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोह और अंतराय कर्म अपने आप श्लथ होना शुरू हो जाता है। जरूरी है पवित्र आलंबन और अभ्यास। जिसने अभ्यास नहीं किया, वह तीन जन्म में भी शायद मन को टिका नहीं पाएगा। जिसने मन को टिकाने के लिए पवित्र आलंबन का अभ्यास किया है, वह तीन दिन में ही मन को एक बिन्दु पर टिकाने में सफल हो जाएगा और इस भाषा में बोलेंगा—मन चंचल नहीं है। 'किसने कहा मन चंचल है'—यह सचाई साक्षात् हो जाएगी।

खोए सो पाए

प्रश्न उपस्थित हुआ—समर्थ कौन है? समर्थ किसे माना जाए? क्या समर्थ वह है, जिसके पास संपत्ति है या वह है जिसके पास सत्ता है, शस्त्रों का अंवार है? यदि धन-संपदा से व्यक्ति समर्थ होता तो एक राज्य कर्मचारी के पीछे-पीछे चक्कर नहीं लगाता। सत्ता पर बैठा व्यक्ति धन के पीछे चक्कर लगा रहा है। यदि शस्त्रयुक्त व्यक्ति संपन्न होता तो शस्त्रों को छोड़ने की बात क्यों आती? क्या मध्यम दूरी तक मार करने वाले शस्त्रों को समुद्र में डुबोने की नौबत आती? यह बात इसीलिए आई है कि ये सब समर्थ नहीं हैं, त्राण देने वाले नहीं हैं। वस्तुतः दुनिया में समर्थ वह है, जिसमें प्रत्याख्यान की चेतना जागृत है। वह असमर्थ है, जो प्रत्याख्यान विवर्जित है।

स समर्थोस्ति यस्मिन् स्यात् प्रत्याख्यानस्य चेतना।

सोऽसमर्थो जनो योस्ति, प्रत्याख्यानविवर्जितः॥

समर्थ गुरु रामदास हाथ में झोली लिए भिक्षा लेने जा रहे थे। वे छत्रपति शिवाजी के गुरु थे। शिवाजी ने देखा—गुरुदेव हाथ में भिक्षापात्र लिए घूम रहे हैं, नगर में चक्कर लगा रहे हैं। शिवाजी ने सोचा—यह क्या? मैं इतना बड़ा राजा और ये मेरे गुरु! मैं राजप्रसाद में आनंद से रह रहा हूँ और ये भिक्षा के लिए भटक रहे हैं! शिवाजी तत्काल नीचे आए। गुरु रामदास को प्रणाम कर निवेदन किया—‘आप कहां जा रहे हैं?’

‘शिवा! मैं भिक्षा के लिए जा रहा हूँ।’

‘क्या आप मेरे घर नहीं आएंगे?’

‘शिवा! चलो, तुम्हारे घर भी चलेंगे।’

गुरु रामदास शिवाजी के साथ महल में आए। शिवाजी ने एक कागज पर कुछ लिखा और उसे गुरु रामदास के पात्र में डाल दिया।

रामदास बोले—‘शिवा! यह क्या दिया?’

‘भिक्षा दी है।’

‘शिवा! कुछ आटा देते तो रोटी बनाकर खा लेता। मैं इस कागज का क्या करूंगा?’

‘महाराज! पहले आप कागज को पढ़ें।’

गुरु रामदास ने पढ़ा—‘मेरा राज्य आपके चरणों में समर्पित है।’ पत्र पढ़कर रामदास ने विस्फारित नेत्रों से शिवाजी को निहारते हुए कहा—‘शिवा! तुमने पूरा राज्य मुझे दे दिया। अब क्या करोगे?’

‘महाराज! जो आप आदेश देंगे वही करूंगा। आप मेरे स्वामी है, मैं आपका सेवक हूँ।’

‘शिवा! जाओ! तुम हाथ में झोली ले लो, हम गांव में भिक्षा मांगने के लिए जाएं।’

शिवाजी स्वाभिमानी व्यक्ति थे। पर आज गुरु के आदेश पर झोली लेकर चल पड़े। भिक्षा लेकर वापस नदी तट पर आए। गुरु रामदास ने कहा—‘शिवा! यह राज्य मेरे किस काम का है। मैं संन्यासी हूँ, साधक हूँ। मुझे इससे क्या? इसमें तुम्हीं संभालो।’

‘महाराज! मैंने इसे आपके चरणों में समर्पित कर दिया है। मैं इसे कैसे संभालूँ? यह मेरा है ही नहीं।’

शिवाजी राज्य लेना नहीं चाहते हैं और रामदास देना चाहते हैं। दोनों अपने आग्रह पर डटे रहे, समस्या सुलझी नहीं।

रामदास ने अपनी झोली फाड़ी और एक डंडे पर उसे बांधकर शिवाजी को देते हुए कहा—‘शिवा! तुम इस ध्वज को ले जाओ और मेरे प्रतिनिधि के रूप में राज्य का शासन संभालो।’

त्याग है बड़ी शक्ति

यह त्याग की शक्ति बताने वाला प्रसंग है। त्याग में जो शक्ति है, वह भोग में कभी नहीं आ सकती। जितनी प्रतिक्रियाएं हैं, वे भोग से जुड़ी हुई हैं। भोगी बटोरता है और त्यागी छोड़ता है। व्यक्ति कितना ही बड़ा भोगी बन जाए, वह बटोरता चला जाएगा। एक व्यक्ति करोड़पति बन जाए तो अरबपति बनने की सोचेगा और अरबपति खरबपति बनने के सपने देखेगा। बटोरने की कोई सीमा ही नहीं है। व्यक्ति इकट्ठा करता चला जाता है। दुनिया के जितने बड़े लोग हैं, वे प्रायः उतना ही भ्रष्टाचार करने वाले हैं। उनके पास अपार संपत्ति है। वे इतने बड़े भ्रष्टाचार में लिप्त हैं कि छोटा आदमी तो कल्पना भी नहीं कर सकता। समाचार पत्रों में पढ़ा—शस्त्रों की दलाली करने वाले, शस्त्रों के सौदागर बड़े बड़े धनपति बने हुए हैं। उन्होंने कितने काले कारनामों किए हैं, कितनी धोखाधड़ी और कितना अन्याय किया है। सब कुछ इसलिए किया कि प्रत्याख्यान की चेतना जागृत नहीं थी। बड़े से बड़ा अन्याय, भ्रष्टाचार, धोखाधड़ी वही कर सकता है, जिसने त्याग का महत्त्व नहीं समझा है। जब त्याग की चेतना जागती है, प्रत्याख्यान करने की शक्ति आ आती है।

यदि पूछा जाए—दुनिया में सबसे बड़ी शक्ति कौन-सी है? तो उत्तर होगा—त्याग की शक्ति। त्याग की शक्ति के सामने कोई शक्ति जीत नहीं सकती। जहां त्याग की शक्ति जाग जाती है, वहां सबको झुकना पड़ता है।

संस्कृत साहित्य की कथा है। एक कवि राजमहल के नीचे से जा रहा था। राजा ने झरोखे से नीचे झांक कर पूछा—‘को भवान्—आप कौन हैं?’

विद्वान ने कहा—‘घटोऽहं—मैं घड़ा हूँ।’

राजा ने सोचा—यह बहुत अभिमानी व्यक्ति है। यह बताना चाहता है—जैसे घड़े में सब समा जाता है वैसे ही मुझमें सब विद्याएं समाई हुई हैं।

राजा को इस चिन्तन ने दर्द से भर दिया। राजा का अहं फुफकार उठा। वह बोला—‘आप घट हैं तो मैं मुद्गर हूँ।’

विद्वान् त्यागी था। उसे राजा का दर्द कैसे सहन होता? पंडित ने तत्काल जबाब दिया—‘आप मुद्गर हैं तो मैं आग हूँ। आग मुद्गर को शीघ्र ही जला देती है।’

राजा बोला—‘आप आग हैं तो मैं मेघ हूँ।’

जब बादल बरसता है, आग बुझ जाती है।

‘आप मेघ हैं तो मैं पवन हूँ।’

जब हवा चलती है, पानी से भरे सघन बादल भी बिखर जाते हैं।

राजा यह सुन अवाक रह गया। संवाद आगे चला। उसका समापन इस प्रकार हुआ। राजा बोला—‘मैं चंद्रमा हूँ।’

‘आप चन्द्रमा है तो मैं राहु हूँ।’

राहु चंद्रमा को ग्रस जाता है।

आप राहु हैं तो मैं दानी हूँ। दान दूंगा, राहु का दोष मिटा दूंगा।

पंडित ने दोनों हाथ बगल में दबाते हुए कहा—‘मैं संतोष हूँ।’

राजा मौन हो गया। अब क्या उत्तर दे। जहां संतोष है, वहां दूसरी शक्तियां कमजोर हो जाती हैं। यह त्याग की शक्ति, संतोष की शक्ति कभी हारती नहीं है। जहां त्याग की शक्ति है, छोड़ने की शक्ति है, कुछ लेना देना नहीं है वहां सारी शक्तियां समाप्त हो जाती हैं। भोगी को हर कोई परास्त कर सकता है। कितना डरना पड़ता है एक भोगी को। हम प्रशासन की छोटी से छोटी ईकाई को लें। एक बड़ा सेठ भी नगरपालिका के कर्मचारियों से डरता है, तहसीलदार और थानेदार से डरता है, कलक्टर और एस. पी. से डरता है। ऊपर से नीचे तक भय ही भय है। जिसमें त्याग की शक्ति जागृत है, उसे डराने की ताकत किसी में नहीं है।

भयद्वार हैं आश्रवद्वार

गौतम ने महावीर से पूछा—‘भंते! जीव प्रत्याख्यान से क्या प्राप्त करता है?’

महावीर ने कहा—‘गौतम! प्रत्याख्यान से जीव आश्रवद्वारों का निरोध कर देता है।’

आश्रवद्वारों को रोकने का अर्थ है—भय आने के दरवाजों को बंद कर देना। दुर्बलता के दरवाजों को बंद करने का सूत्र है प्रत्याख्यान चेतना की जागृति। जिसमें प्रत्याख्यान चेतना जाग जाती है वह अपने आपमें बहुत संतुष्ट और आनंदमय जीवन जीता है। समस्या यह है—जितना भोग और संग्रह की शक्ति में विश्वास है उतना त्याग और प्रत्याख्यान की शक्ति में नहीं है इसीलिए व्यक्ति दुर्बल बनता जा रहा है। आज चारों ओर भय का वातावरण है। आज भय से उत्पन्न होने वाली बीमारियां भी बहुत बढ़ गई हैं। हृदय की दुर्बलता, मानसिक दुर्बलता, अवसाद (डिप्रेशन) ये सारी भयजनित बीमारियां हैं। वर्तमान युग इससे बहुत आक्रांत है। व्यक्ति का मन इतना दुर्बल बन गया है कि वह

छोड़ने की शक्ति को, अस्वीकार की शक्ति को अपना नहीं पा रहा है। जब तक वह इसे नहीं अपनाएगा, समस्या से मुक्ति नहीं मिलेगी।

क्या छोड़ें?

व्यक्ति सब कुछ छोड़ दे, यह अति-कल्पना है। इसे संभव भी नहीं माना जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति के सामने यह प्रश्न है—वह क्या छोड़े? भगवान महावीर की भाषा में इसके कुछ सूत्र ये हैं—

- 1 आलस्य का प्रत्याख्यान
- 2 चंचलता का प्रत्याख्यान
- 3 साहाय्य का प्रत्याख्यान
- 4 कषाय का प्रत्याख्यान
- 5 आहार का प्रत्याख्यान।

प्रगति की पहली बाधा है आलस्य। हम स्वयं सोचें—चौबीस घंटे में कितना समय निकम्मी बातों में जाता है और कितना सार्थक बीतता है। हंसी, मजाक और मनोरंजन में ही सारा समय व्यय हो जाता है या अपने विकास में भी समय का नियोजन करते हैं। जब तक आलस्य और विकथा का परित्याग नहीं होता तब तक अच्छी चेतना जागती नहीं है। जीवन में गंभीरता और बड़प्पन नहीं आ पाता। आलस्य का जीवन जीने वाले कभी महान नहीं बन पाते। वे सदा छोटे बने रहते हैं। ताड़ना सहना, किसी के नियंत्रण में रहना उनकी नियति बन जाती है।

दूसरी बात है चंचलता का प्रत्याख्यान। चंचलता को छोड़ना भी सीखना चाहिए। चंचलता को एक सीमा तक ही उचित माना जा सकता है। एक छोटा बच्चा चंचल होता है। यदि वह बीस-पच्चीस वर्ष का हो जाए और चंचलता में कमी न आए तो उसके लिए यह हितकर नहीं होता। यदि वह बचपन जैसा युवा और प्रौढ़ अवस्था में चंचल रहता है तो उसे उसका बचकानापन ही मानना चाहिए। चंचलता को छोड़े बिना विकास के सोपानों को नहीं छुआ जा सकता।

कषाय को कम करना, छोड़ना जीवन की शांति और पवित्रता के लिए बहुत आवश्यक है। कषाय को त्यागे बिना शांति मिलती नहीं है। जो मानसिक अशांति की समस्या से ग्रस्त हैं, उनके लिए कषाय का परित्याग एक समाधान बन सकता है। यदि व्यक्ति आधा घंटा कायोत्सर्ग करे, दीर्घश्वास और समवृत्ति श्वासप्रेक्षा करे तो कषाय की उत्तेजना विलीन हो जाए, मन की शान्ति उपलब्ध हो जाए।

प्रत्येक व्यक्ति स्वास्थ्य चाहता है। स्वास्थ्य का संबंध खान-पान से है। यदि आहार परित्याग का विवेक जाग जाए तो शारीरिक, मानसिक और भावात्मक स्वास्थ्य की कुंजी मिल जाए। आहार का संयम कितना कठिन है! स्वादिष्ट वस्तु सामने आ जाए, मनोज्ञ और मनोरम वस्तु सामने आ जाए तो क्या व्यक्ति कम खाएगा? इस स्थिति में 'खोए तो पाए' की बात विस्मृत हो जाती है। यदि यह तत्त्व स्मृति में रहे तो मनुष्य खाकर कभी बीमार नहीं हो सकता। प्रश्न हो सकता है—आहार का प्रत्याख्यान क्यों करें? जिसे मन से श्रेष्ठ कार्य करना है,

वृद्धि का सम्यग् उपयोग करना है, उसे आहार का संयम करना होगा। पेट और दिमाग—दोनों एक साथ काम नहीं कर सकते। या तो आदमी पेटू बनेगा या दिमागी बनेगा। यदि पेटू बनना है तो दिमाग को ताला लगा देना चाहिए। यदि दिमाग को काम में लेना है तो ख़ाद्य संयम को अपनाना चाहिए।

एक प्रत्याख्यान होता है सहयोग का। यह बहुत बड़ी घटना है। हम सहयोग का जीवन जीते हैं। एक आदमी दूसरे का सहयोग लेता है, सहारा लेता है। जीवन के लिए यह आवश्यक है किन्तु एक धार्मिक व्यक्ति के मन में यह भाव होना चाहिए—मैं कहीं अनावश्यक या अनपेक्षित सेवा तो नहीं ले रहा हूँ। यदि यह विवेक नहीं है तो आदमी दुर्बल बन जाएगा। वह इतना विवश भी हो जाता है कि उसे वैसे ही चलना पड़ता है जैसे सेवा देने वाला चलाता है। उसका पूरा जीवन सेवक के भरोसे ही चलेगा। किसी से सेवा लेना एक प्रकार का ऋण है। जिसकी सेवा ली जाती है, उसका ऋण व्यक्ति के सिर पर चढ़ता जाता है, उसे कभी न कभी चुकाना पड़ता है। बिना चुकाए उस कर्ज से मुक्ति नहीं मिलती।

गौतम ने महावीर से पूछा—‘भंते! सहाय-प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है?’ महावीर ने कहा—‘गौतम! सहाय-प्रत्याख्यान से जीव एकीभाव को प्राप्त होता है।’

जहाँ सहायक पर भरोसा होता है वहाँ मनुष्य बहुत विवश हो जाता है। आज की स्थिति देखें। पर-निर्भरता ने कितनी समस्याएँ पैदा की हैं। एक मंत्री अपने सहायकों पर निर्भर है। एक सेठ अपने मुनीम पर निर्भर है। अधिकारी अपने अधीनस्थ कर्मचारी पर निर्भर है। इस दुनिया में सहायक कैसे होते हैं, इसे कौन नहीं जानता।

पैसा कहाँ जाता है?

एक राजा के मन में प्रश्न उभरा—‘प्रजा से मुझे इतना ‘कर’ मिलता है पर खजाने में बहुत कम पहुँचता है। बात क्या है? पैसा जाता कहाँ है? राजा इस समस्या के समाधान के लिए सेवानिवृत्त वृद्ध मंत्री को बुलाया। राजा ने कहा—‘मंत्रीवर! प्रजा बहुत कर चुकाती है पर खजाना कभी भरता ही नहीं है। वह सदा रिक्त बना रहता है। कर खजाने में कम पहुँचता है। वह कहाँ जाता है?’

मंत्री ने कहा—‘महाराज! मैं इस प्रश्न का उत्तर कल राजसभा में दूंगा।’

दूसरे दिन राजसभा जुड़ी। उसमें सब मंत्री और सहायक आमंत्रित थे। मंत्री ने कहा—‘राजन! मैं आज एक प्रयोग करना चाहता हूँ। उसमें सब मंत्री मेरा सहयोग करेंगे।’

राजा ने मंत्री के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। मंत्री ने दो किलो बर्फ की शिला मंगवाई। उसे पंक्ति में सबसे अंत में बैठे मंत्री को पकड़ते हुए कहा—‘आप इसे हाथ में लें और आगे वाले मंत्री के हाथों में थमा दें। दूसरा उसे हाथ में ले और तीसरे के हाथ में थमा दे। इस प्रकार बर्फ की शिला को आगे से आगे सरकाते चलें।’

राजा का मंत्रीमंडल विशाल था। पचास-साठ हाथों से गुजरते गुजरते वह बर्फ राजा के हाथ में पहुंची। राजा ने देखा—‘दो किलो बर्फ रसगुल्ले जितनी रह गई है।’

मंत्री ने राजा से निवदेन किया—‘राजन! मैंने आपके प्रश्न का उत्तर दे दिया है।

राजा ने विस्मय भरे स्वर में कहा—‘मंत्रीवर! मैं कुछ नहीं समझ पाया।’

‘राजन! पहले मंत्री के हाथ में शिला आई, वह दो किलो थी। वह आगे से आगे चलती गई, पिघलती गई और पिघलते पिघलते बर्फ की छोटी सी डाली रह गई। राजन! प्रजा से धन आता है। वह पहले एक मंत्री के पास पहुंचता है, फिर दूसरे-तीसरे के पास पहुंचता है। उनके हाथों से गुजरते गुजरते वह बर्फ की डली जितना ही खजाने में पहुंच पाता है।’

ऐसा क्यों होता है? जहां सहाय-सापेक्षता होती है, सहायकों पर निर्भरता होती है, वहां यही स्थिति बनती है। सहाय लेना जीवन की अनिवार्यता है, उसके बिना काम चलता नहीं है पर यह विवेक जरूरी है—अनिवार्य सहाय ही लें, उसका अधिक से अधिक प्रत्याख्यान करें। यह स्वावलंबन का महत्त्वपूर्ण सूत्र है। कहा गया—सहाय-प्रत्याख्यान से जीव अकेला होता है। अकेले का मतलब है समर्थ होना। जो समर्थ होता है वह अकेला रहना जानता है। केवलज्ञान निरपेक्ष होता है। उसे किसी सहाय्य की अपेक्षा नहीं होती। शेष चारों ज्ञान सापेक्ष होते हैं। केवल केवलज्ञान ही ऐसा है, जो सहाय्य निरपेक्ष होता है। यह शक्ति-संवर्धन का मूल्यवान सूत्र है। समस्या यह है—त्याग का मूल्य आंका नहीं गया। यदि प्रत्याख्यान का मूल्य आंका जाए तो समस्या के मूल का उच्छेद हो जाए। आंतरिक शक्ति को बढ़ाने वाला त्याग से बड़ा कोई दैनिक नहीं है। लोग बहुत दैनिक लेते हैं, वे शरीर-शक्ति को बढ़ाते हैं। आंतरिक शक्ति को जगाने वाला दैनिक यही है। हम इस सचाई को समझें—जिसमें छोड़ने की शक्ति नहीं है, प्रत्याख्यान की शक्ति नहीं है, वह दुनिया का सबसे दुर्बल और कमजोर आदमी है। शक्तिशाली और समर्थ वह है, जिसे छोड़ने की शक्ति, प्रत्याख्यान की शक्ति प्राप्त है।

धागे में पिरोई हुई सूई

प्रधानाचार्य के पास एक अभिभावक आया। उसने कहा—‘अध्यापकजी! मैं अपना लड़का आपको सौंपता हूँ। उसे पढ़ाना है। समस्या यह है—लड़का जल्दी पढ़ना चाहता है। आप परीक्षा लेते हैं। उसमें बहुत लंबा समय लग जाता है। आप मेरे लड़के को कम समय में पढ़ा दें, क्योंकि वह जल्दी ही कुछ होना चाहता है।’

प्रधानाचार्य ने कहा—‘पहले आप यह निश्चय कर लें कि आपका लड़का क्या चाहता है? वह आम का पेड़ बनना चाहता है या बाजरी का पौधा? यदि बाजरी का पौधा बनना चाहता है तो तीन माह लगेंगे। यदि आम का पेड़ बनना चाहता है तो बारह बरस लगेंगे।’

प्रश्न है निर्णय का—हम क्या बनना चाहते हैं? कुछ लोग बहुत जल्दबाजी करते हैं। हमारा पुरुषार्थ काल-सापेक्ष है। बाजरी बनना है तो कोई कठिनाई नहीं है। बाजरी जेठ या आषाढ़ माह में बोई जाती है और भादवा-आसोज में काट ली जाती है। अधिक से अधिक तीन या चार महीना लगता है, फसल तैयार हो जाती है। यदि आम बनना है तो समय का नियोजन अधिक करना पड़ेगा। तीन चार माह से काम नहीं चलेगा। पुरुषार्थ काल-सापेक्ष है, यह एक नियम है। इस नियम को जानकर ही कुछ होने की बात सफल हो सकती है।

सत्य का अर्थ है नियमों का ज्ञान। लोग उसे चमत्कार मान लेते हैं, जिसका नियम नहीं जानते। यदि नियम जान लें तो कोई चमत्कार नहीं है। हाथ में रेशम का कपड़ा है। उसके नीचे मूंगा रखा हुआ है। उसके ऊपर जलता हुआ अंगारा रखा जाए तो कपड़ा नहीं जलेगा। सामान्य आदमी सोचता है—कपड़े पर जलता हुआ अंगारा रखा पर कपड़ा जला नहीं। यह कितना बड़ा चमत्कार है। वस्तुतः चमत्कार कुछ नहीं है। यह एक नियम है—जब मूंगा नीचे है तो कपड़ा जलेगा नहीं, ऊष्मा को खींच लेगा। ऐसे कितने नियम हैं, जो अज्ञात बने हुए हैं। मनुष्य के अपने सार्वभौम नियम है, प्राणी और पदार्थ के अपने सार्वभौम नियम हैं। जो नियम को नहीं जानता, उसके लिए वे समस्या और चमत्कार है। जो नियम को जानता है, उसके लिए न कोई समस्या है और न कोई चमत्कार। माईक चल रहा था। अचानक खराब हो गया। यदि कहा जाए—किसी किसान को बुलाकर इसे ठीक करवा लो। क्या किसान उसे ठीक कर पाएगा? कार चल रही है। इंजन खराब हो गया। क्या एक वस्त्र-व्यापारी उसकी खराबी दूर कर

सकता है? वह ऐसा नहीं कर पाएगा क्योंकि वह कार के नियम को जानता नहीं है।

ग्रामीण किसान कार्यवश शहर गया। रात्रि विश्राम के लिए एक होटल में ठहरा। रात गहराने लगी। सोने का समय हो गया। किसान ने सोचा—रात भर दीया जलता रहे, यह अच्छा नहीं है। वह बल्ब के पास गया और फूंक मारी। दिया बुझा नहीं। उसने दूसरी बार कुछ जोर से फूंक मारी फिर भी दिया जलता रहा। होटल का बैरा यह सब देख रहा था। उसने पूछा—‘भाई साहब! क्या कर रहे हैं?’

‘दिया बुझा रहा हूँ पर बुझता ही नहीं है। शहर के दीये बड़े जिद्दी हो जाते हैं। गांव का दीया एक बार फूंक मारते ही बुझ जाता है पर यह दीया इतनी बार तेज फूंक मारने पर भी नहीं बुझा’—ग्रामीण किसान ने निराशा भरे स्वर में कहा।

होटल का बैरा स्विच बटन के पास गया। बटन को दबाते हुए उसने कहा—‘महाशय! यह दीया फूंक मारने से नहीं, बटन दबाने से बुझता है।’

नियम को जानने वाला एक क्षण में बल्ब बुझा देता है। जो बल्ब को दिया समझकर फूंक मारता रहता है, वह उसे कभी बुझा नहीं सकता।

नियम का बोध

समस्या के समाधान का पहला चरण है—सत्य की खोज, नियम की खोज। जिसे सत्य के नियम का ज्ञान नहीं है, वह समस्या का समाधान नहीं कर सकता। व्यक्ति बीमार हो गया। बीमारी को कैसे मिटाया जाए? बीमारी को मिटाने से पहले यह जानना होता है—बीमारी क्या है? उसके लिए डाक्टर को बुलाया जाता है। कोई भी व्यक्ति अपनी बीमारी के लिए स्वास्थ्य मंत्री को नहीं बुलाता। स्वास्थ्य मंत्री डॉक्टर से ज्यादा शक्तिशाली हो सकता है पर बीमारी के नियम का ज्ञान उसे हो, यह जरूरी नहीं है। किसी हॉस्पिटल का उद्घाटन कराना है तो स्वास्थ्य मंत्री को बुलाया जाता है पर किसी बीमार की चिकित्सा के लिए डॉक्टर को बुलाना पड़ता है। मंत्री के दिमाग में तो किसी के उद्घाटन की बात ही घूम सकती है और वह उसका स्नायुगत संस्कार जैसा बन जाता है।

किसी विवाह समारोह में मंत्री महोदय को आमंत्रित किया। विवाह का आयोजन लंबे समय तक चलता रहा। मंत्री महोदय को इपकिया आने लगी। संयोजक ने कहा—‘अब मंत्री महोदय वर-वधु को आर्शीवाद देने।’ मंत्री हड़बड़ाकर उठे। उन्होंने कहा—‘कैची लाइए।’ पास ही खड़े लोग यह सुनकर अवाक रह गए। उन्होंने कहा—‘मंत्री महोदय! यह उद्घाटन समारोह नहीं है। विवाह का प्रसंग है। आपको वर-वधु को आर्शीवाद देना है।’

जो व्यक्ति जिस कार्य के नियम को जानता है, वही उसके लिए प्रयोजनीय बनता है। हम इस बात से अभिन्न हैं कि कौन व्यक्ति किस नियम को जानता है। हम उस काम के लिए, उस काम में आने वाली समस्या को सुलझाने के लिए उसी व्यक्ति को बुलाते हैं, जो उसके नियम को जानता है। यह है समस्या के समाधान का पहला सूत्र—नियम का बोध।

पुरुषार्थ

समस्या के समाधान का दूसरा सूत्र है—पुरुषार्थ। नियम या सत्य को जान लेने मात्र से ही समस्या नहीं सुलझती और केवल पुरुषार्थ से भी समस्या समाहित नहीं होती। नियम-सापेक्ष है पुरुषार्थ। पुरुषार्थ होना चाहिए नियम के आधार पर। यदि नियम को छोड़कर पुरुषार्थ करेंगे तो वह सफल नहीं होगा।

एक आदमी को कुएं से पानी निकालना था। उसने पानी भरने के लिए बाल्टी को अंदर डाला। बाल्टी में पानी भरता पर ऊपर पहुंचते-पहुंचते वह खाली हो जाता। उसने सोचा—क्या बात है? पानी ऊपर क्यों नहीं आ रहा है? उसने देखा—जिस बाल्टी से वह पानी निकाल रहा है, उसके पैदे में छेद ही छेद हैं। वह इस सचाई को भूल गया—जिस बाल्टी में छेद होंगे, उसमें कैसे पानी टिकेगा?

यह नियम का अज्ञान पुरुषार्थ को सफल नहीं होने देता। नियम का अतिक्रमण कर जो पुरुषार्थ किया जाता है, वह विफल हो जाता है। नियमों से जुड़ा पुरुषार्थ ही कार्यकारी बनता है। ज्ञानहीन या विवेकहीन पुरुषार्थ छेद वाली बाल्टी से पानी निकालने जैसा होता है। समस्या के समाधान के लिए इस सचाई का बोध आवश्यक है—पुरुषार्थ नियम-सापेक्ष होना चाहिए।

भाग्य

समस्या के समाधान का तीसरा सूत्र है—भाग्य। पुरुषार्थ-सापेक्ष है भाग्य। बहुत लोग भाग्य के भरोसे बैठे रहते हैं। यह भरोसा अच्छा नहीं है। भाग्य जागता है पुरुषार्थ के द्वारा। पुरुषार्थ के बिना भाग्य भी काम नहीं करता, चाहे वह कितना ही अच्छा लिखा हुआ हो। ज्योतिषी ने बताया—‘तुम्हारे ग्रह नक्षत्र बहुत अच्छे हैं। तुम्हारा भाग्य प्रबल है।’ यदि व्यक्ति यह जानकर पुरुषार्थ न करे तो भाग्य निकम्मा चला जाएगा।

हम कर्मशास्त्रीय दृष्टि से विचार करें। हमारा क्षयोपशम भाव निरन्तर पुरुषार्थ के साथ चलता है। पुरुषार्थ बंद हो जाता है तो क्षयोपशम भी बंद हो जाएगा। इस सचाई को एक सुन्दर उदाहरण से समझाया गया है कर्मशास्त्र में। एक आदमी नदी में तैरने के लिए गया। उसने नदी में गहरी डुबकी लगाई। बहुत नीचे चला गया। उसने ऊपर की ओर देखा तो आकाश दिखाई नहीं दिया। बीच में चारों ओर शैवाल छाई हुई थी। वह कुछ ऊपर आया, उसने अपने हाथ से शैवाल को हटाया, आकाश दिखने लगा। जब तक हाथ हिलाकर शैवाल को दूर हटाता रहा तब तक आकाश दिखाई देता रहा। जैसे ही उसने हाथ हिलाना बंद किया, शैवाल फिर छा गई। उसे आकाश दिखना बंद हो गया। शैवाल की परत इतनी मोटी होती है कि उसके छा जाने पर कुछ भी दिखाई नहीं देता।

यदि आकाश को देखना है तो हाथ को हिलाते रहना होगा। हाथों को हिलाते चले जाएं, शैवाल को हटाते चले जाएं, आकाश दिखाई देता रहेगा। जैसे ही हाथों को हिलाना बंद करेंगे, आकाश दिखाई देना बंद हो जाएगा। यही स्थिति क्षयोपशम की है। यदि हम पुरुषार्थ करते रहेंगे तो क्षयोपशम काम देता रहेगा। कहा जाता है—क्षयोपशम अपने आप में ढीला-ढाला है। उसे हम काम लेंगे तो

काम आएगा अन्यथा ऐसे ही पड़ा रह जाएगा। भाग्य की भी यही बात है। यदि हम पुरुषार्थ करेंगे तो भाग्य जाग जाएगा। अन्यथा सोया का सोया रह जाएगा। भाग्य उसी व्यक्ति का जागता है, जो पुरुषार्थ करता है। ज्ञान, भाग्य और पुरुषार्थ—तीनों एक शृंखला से जुड़े हुए हैं।

एक राजा ने घोषणा की—‘मैं प्रधानमंत्री की नियुक्ति करना चाहता हूँ। वह व्यक्ति प्रधानमंत्री बन जाएगा, जो मेरी परीक्षा में उत्तीर्ण होगा। परीक्षा यह है—जो व्यक्ति प्रधानमंत्री बनना चाहता है उसे एक कमरे में बंद कर बाहर ताला लगा दिया जाएगा। जो उस ताले को खोलकर बाहर आ जाएगा, वह प्रधानमंत्री बनेगा।’ प्रधानमंत्री बनने की बात सुन अनेक लोगों का मन ललचाया पर परीक्षा की बात सामने आते ही यह चाह मिट गई। अनेक लोगों ने कहा—यह असंभव शर्त है? क्या सब मानतुंगाचार्य हैं? आचार्य मानतुंग को अड़चास तालों के भीतर बन्द कर दिया गया। एक-एक श्लोक बोलते गए और एक-एक ताला दूटता चला गया। आज ऐसा कौन मानतुंग है, जो एक श्लोक पढ़े और ताले को तोड़ कर बाहर आ जाए। कौन मंत्रविद् है, कौन भक्तामर जैसे का रचयिता है, जो इस परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाए, यह असंभव बात है प्रत्येक व्यक्ति के लिए। कैसे संभव होगा इस शर्त को पूरा करना? अनेक लोगों के मन में ऐसे विकल्प उठे और वे शर्त सुनकर ही प्रतियोगिता से बाहर हो गए। चार व्यक्तियों ने इस घोषणा को स्वीकार करते हुए कहा—‘हम इस शर्त को स्वीकार करते हैं।’

राजा ने पूछा—‘क्या तुमने अच्छी तरह से सोच लिया है।’ चारों उम्मीदवारों ने स्वीकृति सूचक सिर हिलाया। राजा ने चारों व्यक्तियों को चार कमरों में बंद कर ताला लगा दिया। तीन व्यक्तियों ने सोचा—हम फंस गए। हमने मूर्खता की है। जब-जब हम लालच में जाते हैं, मूर्खता कर बैठते हैं। क्या यह संभव है? चौथा व्यक्ति बहुत समझदार और चिन्तनशील था। वह नियम को जानने वाला था, ज्ञानी था। जो ज्ञानी होता है, वह कभी निराश नहीं होता। उसने सोचा—राजा इतना मूर्ख नहीं है, जो इस प्रकार के असंभव कार्य की घोषणा करे। उसने केवल हमारी परीक्षा के लिए ही घोषणा की है। न ताला होगा और न अर्गला होगी, केवल दरवाजा बंद होगा।

उसी समय घोषणा हुई—सब लोग दरवाजे को खोल कर बाहर आए। चारों ने घोषणा सुनी। तीनों निराश हो चुके थे। वे हाथ पर हाथ धर कर बैठे रहे। चौथा व्यक्ति खड़ा हुआ, आगे बढ़ा और दरवाजे को जोरदार धक्का दिया। दूसरे ही क्षण दरवाजा खुल गया। राजा स्वागत के लिए तैयार खड़ा था। उसने उस व्यक्ति को प्रधानमंत्री पद पर नियुक्त कर दिया।

ज्ञान, भाग्य और पुरुषार्थ

हम इस सचाई को समझें—नियम-सापेक्ष है पुरुषार्थ और पुरुषार्थ-सापेक्ष है भाग्य। समस्या के समाधान के लिए, जीवन की सफलता के लिए ज्ञान, पुरुषार्थ और भाग्य—तीनों का होना बहुत आवश्यक है। भाग्य है, पुरुषार्थ नहीं है तो कुछ भी नहीं बनेगा। भाग्य भी है, पुरुषार्थ भी है और ज्ञान नहीं है तो भी कुछ भी संभव नहीं बनेगा। आज जितना टेक्नालॉजी का विकास हुआ है,

वायुयान और स्पुतनिक बने हैं, अणुबम और परमाणु पनडुब्बियां बनी हैं, इन सबका विकास किसके आधार पर हुआ है? यदि नियम का ज्ञान नहीं होता तो आदमी अणुबम से ही नहीं, बिजली से भी मर जाता। बिजली के ऊपर खोल नहीं होता है तो वह भी व्यक्ति के लिए खतरा बन जाती है। अनेक लोग तार को छूकर करंट से मर गए। यह सारा नियमों के ज्ञान से हुआ है।

जोधपुर में प्रेक्षाध्यान का शिविर था। कलकत्ता से दो व्यक्ति उस शिविर में आए। उन्होंने शिविर के पहले दिन कहा—‘महाराज! हमारा मन इतना चंचल और विकिप्त है कि एक क्षण भी टिकता नहीं है। हम इस चंचलता की समस्या से बहुत परेशान हैं। हम मन को एकाग्र करने के लिए आपकी शरण में आए हैं।’ उन्होंने दस दिन प्रेक्षाध्यान का निष्ठा से अभ्यास किया। शिविर पूरा हो गया। जाते समय वे भावविभोर हो उठे—‘महाराज! हमारी समस्या समाहित हो गई। चंचलता क्यों होती है, यह प्रश्न दस दिन के शिविर से समाहित हो गया है। हमारा मन बर्फ की भांति जम गया है, उसमें कहीं कोई तरलता नहीं रही।’

एक व्यक्ति कहता है—मेरा मन अत्यधिक चंचल है। वही व्यक्ति दस दिन बाद कहता है—मेरा मन चंचल नहीं है। इसका कारण क्या है? मन एकाग्र कैसे हो गया? इसका रहस्य है नियमों का ज्ञान। जिसने नियम को जान लिया, उसका मन एकाग्र हो गया। जिसने नियम को नहीं जाना, उसका मन एकाग्र नहीं होता। मन को एकाग्र करने और पवित्र बनाने के नियम हैं। वे सारे अध्यात्म से जुड़े नियम हैं। हम उनको जानें, पुरुषार्थ करें, मन एकाग्र हो जाएगा।

धर्म का क्षेत्र हो या कर्म का क्षेत्र, सबके अपने-अपने नियम हैं। सबसे पहले नियमों का ज्ञान जरूरी है, ज्ञान संपन्न होना जरूरी है। महावीर से गौतम ने पूछा—‘भते! जीव ज्ञान-संपन्नता से क्या प्राप्त करता है?’ भगवान ने कहा—‘गौतम ! ज्ञान-संपन्नता से जीव सब पदार्थों को जान लेता है। ज्ञान-संपन्न जीव चार गति रूप चार अंतो वाली संसार अटवी में विनष्ट नहीं होता। ज्ञान-संपन्न जीव अवधि आदि विशिष्ट ज्ञान, विनय, तप और चरित्र के योगों को प्राप्त करता है तथा स्व-समय और पर-समय की व्याख्या या तुलना के लिए प्रामाणिक पुरुष माना जाता है।’

सूई और धागा

भगवान महावीर ने इस सचाई को सूई और धागे के दृष्टांत द्वारा प्रस्तुत किया। जिस प्रकार सूत्र—धागे में पिरोई हुई सूई गिरने पर भी गुम नहीं होती, उसी प्रकार ससूत्र—श्रुत-संपन्न जीव संसार में रहने पर भी विनष्ट नहीं होता—

जहा सुई ससुत्ता, पडिया वि न विणस्सइ।

तहा जीवे ससुत्ते, संसारे न विणस्सइ।।

ज्ञान-संपन्नता के बिना केवल क्रिया करें तो शायद वह भी नहीं मिलेगा, जो मिलना चाहिए। जैन दर्शन की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि उसने केवल क्रिया को मूल्य नहीं दिया। वह क्रिया, जो ज्ञान रहित है, समस्या भी बन सकती है। समाचार पत्र में पढ़ा—एक छोटी-सी लड़की है, सिर पर कई घड़े रख लेती

है और फिर काले नागों से खेलती है। सांपो को कैसे पकड़ा जाता है, यह नियम उसने जान लिया। काले नाग को पकड़ना बहुत खतरनाक है पर उसके लिए नहीं है, जो नियम को जानता है। वह सांपों को पकड़ती है, उनसे खेलती है, लोगों का मनोरंजन करती है। यह सब संभव होता है नियमों के ज्ञान से।

भाग्य का निर्माता कौन ?

योगक्षेम वर्ष का एक उद्देश्य रहा—ज्ञान-संपन्न व्यक्तियों का निर्माण। यदि हम ज्ञान-संपन्न हो गए, नियम और वास्तविकता को जान लिया, जीवन की सचाइयों और रहस्यों को जान लिया तो हमारा पचास प्रतिशत कार्य पूरा हो गया। शेष बचता है पचास प्रतिशत। उसमें से पच्चीस प्रतिशत पुरुषार्थ को दे दें और पच्चीस प्रतिशत भाग्य को। यदि नियम के साथ पुरुषार्थ नहीं जुड़ेगा तो कार्य पूर्ण नहीं होगा। यदि हम नियमों को जान लें, संकल्प और पुरुषार्थ प्रबल हो तो भाग्य अपने आप साथ देगा। यदि भाग्य नहीं है तो भी उसका निर्माण होता चला जाएगा। आदमी अपने भाग्य का निर्माण स्वयं करता है। ऐसा नहीं है कि सब व्यक्ति अपना भाग्य साथ लेकर ही आते हैं। मनुष्य भाग्य साथ लेकर भी आता है और उसका निर्माण भी करता है। जैन दर्शन आत्म-कर्तृत्ववादी है। उसे मानने वाला अपने पुरुषार्थ पर भरोसा करता है।

पुरुषार्थ और भाग्य में अंतर कहाँ है, हम यह भी जान लें। वर्तमान का पुरुषार्थ पुरुषार्थ कहलाता है और अतीत का पुरुषार्थ भाग्य। भाग्य हमारे पुरुषार्थ का ही रूप है। यदि हमने अच्छा पुरुषार्थ किया है तो हमारा भाग्य बन गया और गलत पुरुषार्थ किया है तो वह हमारा दुर्भाग्य बन गया। भाग्य या दुर्भाग्य बनता है हमारा ही पुरुषार्थ। भाग्य का उत्पादन करता है पुरुषार्थ। यदि ज्ञान, पुरुषार्थ और भाग्य—ये तीनों मिल जाएं तो जीवन का अभ्युदय निश्चित है।

सूई में धागा

उत्तराध्ययन सूत्र में ज्ञान के बारे में कितना मार्मिक दृष्टांत दिया है धागे और सूई का। सूई में धागा कैसे पिरोया? हम जानते हैं—जिस वैज्ञानिक ने सिलाई मशीन बनाई, उसने इस समस्या को कैसे सुलझाया होगा—सूई में धागा कहाँ पिरोया जाए? उसे इस उलझन का समाधान मिला सपने में। प्रश्न है—जिसने यह मार्ग निकाला, वह कितना ज्ञानी रहा होगा। यदि यह नियम ज्ञान न होता तो सूई अलग रहती और धागा अलग। क्या कभी सिलाई होती? क्या कभी वस्त्र सिला जाता? वह व्यक्ति निश्चित ही ज्ञानी रहा है, जिसने सूई और धागे की कल्पना को आकार दिया। सूई में छेद किया और उसमें धागा पिरोया। बिना धागे सूई का कितना मूल्य है? धागे में पिरोई हुई सूई ही काम आती है।

सूत्र के दो अर्थ होते हैं। उसका एक अर्थ है धागा और दूसरा अर्थ है—ज्ञान। जिसने ज्ञान को अपने मन में पिरो लिया, अपने जीवन में पिरो लिया, वह अपने जीवन में उतना ही सफल होता है, उतनी ही तेज गति से चलता है जितनी तेज गति से सूई चलती है। शर्त यही है कि उपयोग ठीक होना चाहिए।

सूई भी चलती है और कैंची भी चलती है। सूई चलती है तो सांधती चली जाती है और कैंची चलती है तो काटती चली जाती है। सूई सरल होती है और कैंची वक्र। हम ज्ञान को धागे में पिरोई हुई सूई की तरह उपयोग करें, सरलता से चलें, सांधते और जोड़ते चले जाएं, किसी को कैंची की तरह तोड़ें या काटें नहीं। यदि ऐसा कर पाएं तो ज्ञान-संपन्नता हमारे जीवन के लिए वरदान बन जाएगी।

जीतो इन्द्रियों को

खेती अंगूरों की और बाड़ कांटों की। यह दृश्य एक युवा श्रेष्ठी को बहुत अटपटा लगा। एक ओर अंगूर की बेलों को देखकर उसने सोचा—कितना मनोरम दृश्य है। दूसरी ओर कांटों की बाड़ को देखकर सोचा—ये कांटे इसकी मनोरमता का विनाश कर रहे हैं। युवा श्रेष्ठी ने अपने कर्मकरों से कहा—‘यह क्या? एक ओर इतने कोमल, मधुर और सुगंध से भरपूर अंगूरों के गुच्छे लटक रहे हैं तो दूसरी ओर कांटे ही कांटे हैं। यह अच्छा नहीं लगता। तुम इस कांटों की बाड़ को हटाओ।’

कर्मकर बोले—‘मालिक! आप नए नए आए हैं। आपको इसका अनुभव नहीं है। यदि कांटे नहीं रहेंगे तो अंगूर भी नहीं रहेंगे।’

श्रेष्ठी ने कहा—‘अंगूरों के आस-पास यह कांटों की बाड़ बहुत खराब लगती है। इससे उद्यान की रमणीयता नष्ट हो रही है। तुम इसे हटाओ।’

कर्मकर क्या करते, उन्होंने बाड़ को हटा दिया। बाड़ हटी और दो चार दिन में अंगूर भी हट गए। बाग खुला पड़ा था। जो भी आया, अंगूर तोड़कर चलता बना। बाग उजड़ गया।

एक व्यक्ति ने अंगूरों का बाग लगाया और सारा ध्यान सुरक्षा पर केन्द्रित कर दिया। उसने सोचा—दीवार इतनी मजबूत बननी चाहिए कि उसमें कोई भी प्रवेश न कर सके। उसने बहुत ऊंची और सुदृढ़ दीवार बना दी किन्तु अंगूरों की सिंचाई पर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया। उद्यान सुरक्षित हो गया, उसके भीतर न कोई मनुष्य घुस सका और न कोई पशु। पर पर्याप्त सिंचाई के अभाव में अंगूर लगे ही नहीं।

ये दोनों घटनाएं सामने हैं। इसका निष्कर्ष है—मूल पर ध्यान और बाड़ पर ध्यान—दोनों एकांगी दृष्टिकोण हैं। केवल सिंचाई पर केन्द्रित दृष्टिकोण भी अधूरा है और केवल बाहरी सुरक्षा पर केन्द्रित दृष्टिकोण भी अधूरा है। परिपूर्ण दृष्टिकोण यह है—भीतर की सिंचाई चले और बाह्य बाड़ भी मजबूत रहे। ये दोनों बातें होती हैं तब निष्पत्ति प्राप्त होती है।

इन्द्रिय-विजय का सूत्र

जहां इन्द्रिय विजय का प्रश्न है, वहां भी इन दोनों बातों पर ध्यान देना होगा। मूल ध्यान देना है निग्रह पर। इन्द्रियां अपने आप में जटिल समस्या है। ये ही ज्ञान के स्रोत हैं और ये ही राग-द्वेष के निमित्त हैं। एक ही आंख से हमें देखना है। देखने का एक रूप है संविज्ञान चेतना। उसका दूसरा रूप है संवेदन चेतना। संविज्ञान और संवेदन—दोनों चेतनाओं का दरवाजा एक है। दरवाजा

खुला है तो उसमें से आदमी भी आ सकता है, गधा भी आ सकता है। एक ही खिड़की है। खिड़की को बन्द करो तो प्रकाश और हवा नहीं आएगी। यदि उसे खोल दें तो आंधी भी आएगी, रेत भी आएगी। क्या ऐसा कोई विकल्प है, जिससे प्रकाश और हवा आए पर आंधी न आए, रेत न आए। क्या ऐसा कोई ढक्कन है?

अध्यात्म के आचार्यों ने एक उपाय निकाला मनोज्ञ और अमनोज्ञ के निग्रह का। आंख को बंद करने की जरूरत नहीं है। कान और जीभ को भी बन्द करने की जरूरत नहीं है। हम इन्द्रियों से काम लेंगे क्योंकि हमारे ज्ञान के वे ही स्रोत हैं। हमारा ज्ञान आता कहां से है? बाह्य जगत को जानने का, उसके साथ सम्पर्क स्थापित करने का पहला माध्यम है इन्द्रिय चेतना। यदि इन्द्रियां न हो तो जगत का क्या अर्थ रह जाएगा? एक आदमी को सुनाई नहीं देता। उसके लिए प्रवचन का कोई अर्थ है? जिसे सुनाई नहीं देता, उसके लिए जगत का एक हिस्सा कट गया। जो गूंगा और बहरा—दोनों होता है, उसके लिए जगत का एक बहुत बड़ा हिस्सा कट जाता है। एक बहरा आदमी कैसी-कैसी कल्पनाएं करता होगा? उसके लिए कहा कुछ जाता है और वह उसका अर्थ कुछ निकाल लेता है। आंख है देखने का माध्यम, कान है सुनने का माध्यम और जीभ है बोलने का माध्यम। जिसके ये तीनों नहीं हैं, उसके लिए जगत् का होना न होने जैसा हो जाता है।

इन्द्रिय-विजय क्यों?

प्रश्न हो सकता है—इन्द्रियों को जीतने की बात क्यों सोचें? उनके विकास की बात सोचनी चाहिए। इन्द्रियों के संदर्भ में दो शब्द प्रयुक्त होते हैं—पटुता और अपटुता। जिसमें इन्द्रिय-पटुता होती है, वह बहुत ज्ञानी बन जाता है। संभिन्नस्रोतोलब्धि इन्द्रिय पाटव का ही विकास है। जिसने इन्द्रिय का इतना विकास कर लिया, वह हजार कोस दूर की चीज देख लेता है, इतनी दूरी की आवाज सुन लेता है। जिस इन्द्रिय में इतना पाटव है, उसका द्वार रोकने की जरूरत ही नहीं है। हम इन्द्रिय-विजय की बात को समझें, उसका हृदय समझें, जिससे इन्द्रियों को कोसने की जरूरत न पड़े।

बादशाह ने बीरबल से कहा—‘जिसके आगे वान शब्द लगता है वह बड़ा निकम्मा और अड़ियल होता है। जैसे गाड़ीवान, धनवान—ये सब अड़ियल प्रकृति के होते हैं। तुम दीवान हो, तुम्हारे आगे भी वान लगता है इसलिए तुम भी वैसे ही हो।’

बीरबल ले तपाक से उत्तर दिया—‘मेहरवान! आप ठीक फरमा रहे हैं।’

बीरबल यह कहकर बादशाह को अपनी कोटि में ले आया। बादशाह यह सुन अवाक रह गया। जब हम बिना सोचे समझे कोई बात कहते हैं तब ऐसा ही होता है।

इन्द्रिय-विजय क्या है? इस संदर्भ में उत्तराध्ययन सूत्रकार ने एक महत्त्वपूर्ण सूचना दी है—‘श्रोत्र आदि इन्द्रियों के निग्रह से जीव मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द आदि विषयों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। वह

तत्संबन्धी—राग-द्वेष के निमित्त से होने वाला कर्म-बंधन नहीं करता तथा पूर्वबद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।' यह एक बिल्कुल नई बात है। वे ही इन्द्रियां कर्म-बंधन की हेतु भी हैं और उनके निर्जरण का हेतु भी। इस संदर्भ में हम संविज्ञान चेतना और संवेदन चेतना को अलग-अलग समझें। हमने आंख से देखा, केवल देखा। यह संविज्ञान चेतना है—ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय कर्म का क्षयोपशम है। यदि हमने उसके साथ संवेदन की चेतना को जोड़ दिया, प्रियता और अप्रियता की चेतना को जोड़ दिया तो मोहनीय कर्म जुड़ गया। इस स्थिति में संविज्ञान चेतना गौण हो गई और संवेदन की चेतना प्रधान। इसका अर्थ यह हुआ—आवरणीय कर्म के साथ-साथ मोहनीय कर्म का बंध हो गया। इससे न तन्निमित्तक कर्म का बंध रुकता है और तन्निमित्तक पूर्वकृत कर्म का बंध क्षीण होता है। जो व्यक्ति आंख से केवल देखता है, संविज्ञान करता है, किन्तु उसके साथ संवेदना की चेतना को नहीं जोड़ता, वह चक्षु से संबंधित नए कर्म का अर्जन नहीं करता और पूर्व बद्ध चक्षु से संबंधित कर्म को क्षीण कर देता है।

जितेन्द्रियता में बाधा

हम मूल बात को समझें—प्रिय-अप्रिय, मनोज्ञ-अमनोज्ञ से कैसे दूर रह सकें? इन्द्रिय-विजय में बाधा है मनोज्ञ-अमनोज्ञ की चेतना। जब तक व्यक्ति की यह चेतना जागृत है, इन्द्रिय-विजय संभव नहीं हो सकती। हम साधना कहां से शुरू करें। हम उसके लिए बाड़, दीवार या कांटें लगाएं पर ध्यान केवल उसी पर केन्द्रित न रहे। ध्यान इस पर केन्द्रित होना चाहिए—अंगूरी के बाग की सिंचाई ठीक हो रही है या नहीं? मनोज्ञता या अमनोज्ञता का भाव कम हो रहा है या नहीं? हमें उस भाव का निग्रह करना है। यह नहीं बताया गया, आंख का निग्रह करो, कान एवं जीभ का निग्रह करो। यह भी नहीं बताया गया, रूप का निग्रह करो। किन्तु यह कहा गया, राग-द्वेष का निग्रह करो, प्रिय-अप्रिय एवं मनोज्ञ-अमनोज्ञ भाव का निग्रह करो। हमारी साधना का बिन्दु यह है। यदि इस बिन्दु को नहीं पकड़ा और केवल सुरक्षा में अटके रहे तो शायद उलझ जाएंगे।

महामात्य कौटिल्य ने लिखा 'अवश्येन्द्रियः चातुरन्तोऽपि राजा सद्यो विनश्यति—जिसकी इन्द्रियां वश में नहीं हैं, वह चातुरन्त राजा भी सद्य विनाश को प्राप्त होता है। चक्रवर्ती कहलाता है चातुरन्त राजा। इतना शक्तिशाली राजा भी इन्द्रियों का वशवर्ती होने पर नष्ट हो सकता है। एक राजा के लिए इन्द्रिय जय बहुत जरूरी है। प्रश्न आया—इन्द्रियजय किसे माना जाए? कौटिल्य अर्थशास्त्र में कहा गया—इन्द्रियजयः कामक्रोधमानमदहर्षत्यागात् कार्यः—काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष—इन छह का त्याग कर इन्द्रियों को विजित किया जा सकता है। कौटिल्य ने छह घटनाओं के निदर्शन भी प्रस्तुत किए हैं। कौन सम्राट काम के कारण नष्ट हो गया? कौन लोभ और मद के कारण नष्ट हो गया? कौटिल्य ने इसे विस्तार से प्रस्तुति दी है।

काम और प्रसक्ति

धारणा यह है—काम स्पर्शन इन्द्रिय का विषय है। चिन्तन करने पर लगता है, काम स्पर्शन इन्द्रिय का विषय नहीं है। स्पर्शन का कार्य दूसरा है। हवा ठण्डी लगी और मनोज्ञ भाव आया तो स्पर्शन इन्द्रिय का राग हो गया। हवा गर्म लगी, लू लगी तो अमनोज्ञ भाव आ गया। इसका विषय है—स्पर्श का अनुकूल तथा प्रतिकूल संवेदन। काम है कर्मेन्द्रिय से संबन्धित। हमारी पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं और पांच कर्मेन्द्रियां। उपस्थ, पाणि, मुख, पैर, मन—ये कर्मेन्द्रियां हैं। काम के कारण इन्द्रिय की प्रसक्ति बनती है। किन्तु काम अलग है और प्रसक्ति अलग है। प्रसक्ति का एक कारण है काम। दूसरा कारण है क्रोध। क्रोध के कारण इन्द्रियों की प्रसक्ति बढ़ती है, द्वेषात्मक प्रवृत्ति जन्म लेती है। किसी चीज को देखा और घृणा उभर आई। कभी-कभी ऐसी घृणा भी व्यक्ति के मन में उभर आती है कि उसे खाना तक अच्छा नहीं लगता। इसीलिए अघोरी साधना में इस बात पर बल दिया गया—किसी चीज से घृणा मत करो। कलकत्ता में हमने एक अघोरी साधक को देखा। उनको यह साधना कराई जाती है—इस दुनिया में अभक्ष्य कोई चीज नहीं है, घृणा करने योग्य कोई पदार्थ नहीं है। यह एक साधना का तत्त्व रहा—घृणा करने जैसा कुछ भी नहीं है। तुम किसी से घृणा मत करो।

यह भी कहा गया—राग करने जैसा कुछ भी नहीं है। तुम किस पर राग करते हो? बौद्ध दर्शन में शव-दर्शन का प्रयोग रहा है। साधक को श्मशान में ले जाया जाता है, उसे मृत प्राणियों के कलेवर दिखाए जाते हैं। कहा जाता है तुम मुर्दे के एक-एक अवयव को देखो! वास्तव में यह है क्या? इस प्रकार के भाव पैदा करो, जिससे राग वर्जित हो जाए।

इन्द्रिय-निग्रह

एक है राग पर विजय का प्रयोग और एक है घृणा पर विजय का प्रयोग। महावीर ने दोनों बातों को गौण किया। न ओषड़ साधना वाली बात पर बल दिया और न श्मशान साधना वाली बात पर। महावीर ने इस सूत्र को पकड़ा—यदि आध्यात्मिक बनना है, आध्यात्मिक चेतना को जगाना है तो केवल इन निमित्तों के आधार पर मत चलो। महावीर ने ज्यादा बल दिया उपादान पर। उन्होंने गौण को भी स्थान दिया पर ज्यादा ध्यान केन्द्रित किया जड़ पर, मूल उपादान पर। महावीर ने कहा—‘कोई घृणा पैदा करने वाली वस्तु हो सकती है और कोई प्रियता पैदा करने वाली वस्तु। तुम्हें उससे क्या लेना है? तुम ध्यान दो अपने मनोज्ञ और अमनोज्ञ भाव पर। तुम इस भाव का निग्रह करो। तुम्हें मनोज्ञ पर राग नहीं करना है और अमनोज्ञ पर द्वेष नहीं करना है। तुम ऐसा करोगे तो इन्द्रिय का निग्रह हो जाएगा।’

हम कौटिल्य की भाषा को पढ़ें—‘काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष—ये सब इन्द्रिय की आसक्ति को पैदा करते हैं। इनका निग्रह करो, इन्द्रिय-विजय हो जाएगी।’ महावीर ने कहा—‘राग-द्वेष का निग्रह करो, इन्द्रिय-विजय हो जाएगी। हम दोनों की भाषा को मिलाएं, कहां अंतर है? इन्द्रिय-विजय तभी संभव है, जब राग-द्वेष को जीतें, काम-क्रोध आदि को जीतें।’

प्रश्न हो सकता है—राग-द्वेष बहुत सघन है। कोई आदमी एक दिन में राग-द्वेष पर कैसे विजय पायेगा? यही जानने का बिन्दु है। राग-द्वेष पर विजय का मतलब यह नहीं है कि हम वीतराग बन जायेंगे, किन्तु हम राग की बांट लें। उसके हजारों प्रकार हैं। हम पहले एक इन्द्रिय को पकड़ें, आंख को पकड़ें। आंख से जुड़ी है राग की एक प्रणाली। हम संकल्प करें—चक्षु संबंधी राग पर नियंत्रण करना है। इस संकल्प की एक पद्धति है। हमने यह एक धारणा बना ली, एक मार्ग निश्चित कर लिया। चक्षु-इन्द्रिय निग्रह के लिए हम संकल्प का प्रयोग करें। कायोत्सर्ग की मुद्रा में बैठ जाएं, प्रतिदिन संकल्प को बढ़ाते चले जाएं। एक दिन, दो दिन...दस दिन यह प्रयोग चले। एक दिन स्थिति यह आएगी—संकल्प प्रबल बनता चला जाएगा। संविज्ञान की शक्ति बढ़ती चली जाएगी। जैसे-जैसे संविज्ञान बढ़ेगा, संवेदना स्वतः कम होती चली जाएगी।

कौन लेता है स्वाद?

प्रत्येक आदमी स्वादिष्ट चीज खाना चाहता है। सबसे स्वादिष्ट चीज किसे माना जाए? किसी के लिए घेवर स्वादिष्ट हो सकता है तो किसी के लिए जलेबी। एक आदमी को भोज में बुलाया गया। उसे जलेबी परोसी गई। जलेबी देखते ही उसकी भूख तीव्र हो गई। किसी ने पूछ लिया—‘कितनी जलेबी खाओगे?’ उसने कहा—‘मैं दस मण जलेबी खा सकता हूँ।’

आ तो म्हारे आंकल बांकल, ई मैं पूरो रस।

खल खाऊं छह मण तो, आ खाऊ मण दस।

आज रसगुल्ला, रसमलाई आदि को स्वादिष्ट माना जाता होगा। क्या एक साधक व्यक्ति, इन्द्रिय विजयी, रसगुल्ला न खाए? स्वादिष्ट पदार्थ न खाए? कुछ लोग यह तर्क भी देते हैं—आप यह नहीं खाते, वह नहीं खाते। उस चीज ने आपका क्या बिगाड़ा है? उन्हें क्यों नहीं खाना चाहिए? क्या उन्हें खाने में दोष है? खाने में कोई आपत्ति नहीं है पर खाने की दृष्टि में अंतर रहता है। एक प्रधुर राग वाला व्यक्ति रसगुल्ला खा रहा है और स्वादविजय वाला व्यक्ति रसगुल्ला खा रहा है। घटना समान है, पर परिणाम भिन्न भिन्न होगा। स्वाद में डूबने वाला व्यक्ति सोचेगा, अहा! कैसा स्वाद है! वह स्वादानुभूति में इतना डूब जाएगा कि पूरा स्वाद ले ही नहीं पाएगा। उसे पदार्थ का स्वाद नहीं आएगा? केवल आसक्ति का स्पर्श होगा। सही अर्थ में पदार्थ का स्वाद वह ले सकता है, जिसमें आसक्ति नहीं है, जो अनासक्त भाव से खा रहा है। जो आसक्ति से खाता है, वह खाता ही चला जाता है। वह न स्वाद पर ध्यान देता है और न मात्रा पर। एक व्यक्ति ने बताया—‘हम बारात में गए। बारातियों को परोसे गए राजभोग। दो व्यक्ति राजभोग पर टूट पड़े। उन दो व्यक्तियों ने छह सौ राजभोग खा लिए।’ क्या एक समय में इतने राजभोग खाए जा सकते हैं? वस्तुतः वह खाना नहीं खा रहा है, आसक्ति को खा रहा है। एक साधक सीमित मात्रा में खाएगा, आवश्यकता से अधिक नहीं खाएगा, स्वाद की दृष्टि से नहीं खाएगा। वह स्वास्थ्य, साधना और संयम की दृष्टि से खाएगा।

सामान्य आदमी भी इन्द्रियों से काम लेता है और साधक भी। एक द्रष्टा है और एक अद्रष्टा। एक भोगी है और एक त्यागी। एक खाता है शरीर को चलाने के लिए और एक खाता है आसक्ति की तृप्ति के लिए, भोग के लिए। यह अंतर आता है दृष्टिकोण से। महावीर ने इसी सूत्र को प्रस्तुत किया—वस्तु के प्रति होने वाली आसक्ति का त्याग, प्रिय-अप्रिय संवेदन का त्याग—हम इस बात को महत्त्व दें। दोनों बातें हमारे सामने हैं—अंगूरों की सुरक्षा और बाड़ की सुरक्षा। निमित्त की सुरक्षा और उपादान की सुरक्षा। यह बात समझ में आए तो इन्द्रिय-विजय का रहस्य समझ में आ सकता है। उसके लिए बहुत सारे आंतरिक और बाह्य प्रयोग निर्दिष्ट हैं। इन प्रयोगों को जाना जा सकता है, इनका आलंबन लिया जा सकता है। इनका आलम्बन लेने वाला ही इन्द्रिय-विजय के क्षेत्र में, केवल संविज्ञान चेतना के क्षेत्र में अपने चरण आगे बढ़ा सकता है।

बहिरंग योग

सामान्य आदमी एक आयाम में जीता है। धार्मिक व्यक्ति दो आयामों में जीता है। उसे भीतर का जीवन जीना होता है और बाहर का जीवन भी जीना होता है। धर्म को जानने वाला व्यक्ति, धर्म की आराधना करने वाला व्यक्ति इन दो आयामों में जीयेगा। जो इन दो आयामों में जीता है, उसे बहुत सावधान रहना होता है।

प्रश्न हुआ—साधक बाहर में कैसे रहे? इस प्रश्न पर अध्यात्म के आचार्यों ने बहुत सूक्ष्मदृष्टि से चिंतन किया और उसकी कुछ सीमाएं निर्धारित कीं। जैन आचार्यों ने साधना के दो आयाम प्रस्तुत किए—बहिरंग तपोयोग और अंतरंग तपोयोग। पंतजलि ने अपना साधना मार्ग अष्टांग योग बतलाया। उसका प्रारम्भ होता है यम से। यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार—इन पांचों का एक वर्ग है। यह बहिरंग योग है। धारणा, ध्यान और समाधि—यह अंतरंग योग है। पंतजलि ने यद्यपि बहिरंग शब्द का प्रयोग नहीं किया है किन्तु त्रयमन्तरंगे—इस प्रयोग से बहिरंग शब्द स्वतः निर्णीत हो जाता है। तीन योग अंतरंग हैं, शेष पांच बहिरंग हैं। जैन साधना पद्धति में बहिरंग तपोयोग के छह प्रकार किए गए हैं। यदि इन दोनों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो कुछ नई बातें सामने आ सकती हैं।

साधना का पहला बिन्दु : आहार-शुद्धि

पंतजलि की साधना पद्धति में योग का प्रारम्भ यम से होता है। महावीर की दृष्टि में साधना का प्रारम्भ आहार शुद्धि से होता है। आहार शुद्धि बहुत महत्त्व की बात है। यम, नियम और आसन से भी पहले आहार-शुद्धि का मूल्य है। जब तक आहार शुद्धि का विवेक नहीं होगा तब तक न यम सधेगा, न नियम सधेगा और न आसन सध पाएगा। प्रत्याहार की तो बात ही नहीं। जितने साधना के वर्गीकरण मिलते हैं, उनमें आहार पर बहुत कम ध्यान दिया गया है। इस वैज्ञानिक युग में आहार-शुद्धि को बहुत महत्त्व दिया जा रहा है किन्तु उस जमाने में साधना की दृष्टि से आहार-शुद्धि पर ध्यान दिया गया, यह विचित्र बात है।

आहार-शुद्धि के दो पहलू हैं—एक स्वास्थ्य का पहलू है और दूसरा साधना का। स्वास्थ्य की दृष्टि से आयुर्वेद में बहुत विचार किया गया है, मित-भोजन पर काफी बल दिया गया है। सीमित खाना चाहिए, अधिक नहीं खाना चाहिए। महावीर की साधना पद्धति में साधना का पहला सूत्र है—आहार-शुद्धि। यदि पूछा जाए, साधना कहां से शुरू करें। महावीर

कहेंगे—अनशन से शुरू करी, मत खाओ। टॉलस्टाय ने भी इस बात पर बल दिया। उन्होंने कहा—साधना का प्रारम्भ उपवास से होता है।

उपवास या अनशन साधना का प्रथम बिन्दु है किन्तु व्यक्ति खाए बिना रह नहीं सकता। इस स्थिति में साधना में कौन आएगा? यह प्रश्न सहज हो सकता है किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। वास्तविकता यह है—खाना छोड़े बिना साधना हो नहीं सकती। आयुर्वेद के आचार्य बतलाएंगे कि स्वास्थ्य के लिए उपवास करना जरूरी है। एक जैन आचार्य कहेगा—अपने आपको साधने के लिए उपवास करना जरूरी है। एक ओर नीरोगता, है, दूसरी ओर आंतरिक स्वास्थ्य है। मूलाराधना में बाह्यतप के पैंतीस परिणाम बतलाए गए हैं। उनमें एक परिणाम है—भित भोजन करने से नीरोगता आती है। आचारांग सूत्र में बतलाया गया—महावीर बीमार भी नहीं थे, रुग्ण भी नहीं थे फिर भी पूरा भोजन नहीं करते थे, इसका अर्थ है—कम खाना स्वास्थ्य का ही नहीं, साधना का भी महत्वपूर्ण अंग है। अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी और रसपरित्याग—निर्जरा के ये चारों भेद आहार-शुद्धि से जुड़े हुए हैं।

कायसिद्धि

जैन साधना पद्धति का दूसरा सूत्र है—कायसिद्धि। जब तक शरीर की सिद्धि नहीं होती, साधना के मार्ग में आगे नहीं बढ़ा जा सकता। सोना आंच में तपकर शुद्ध और पक्का बनता है। जब तक वह तपता नहीं है, कुन्दन नहीं बनता, मिट्टी के कणों के साथ मिला रहता है। इस शरीर को भी तपाना जरूरी है। इसे तपाए बिना साधना के क्षेत्र में आगे नहीं बढ़ा जा सकता। साधना के मार्ग में बहुत बाधाएं हैं। आलस्य शरीर से चिपटा हुआ महाशत्रु है। शरीर से चिपटा हुआ दूसरा शत्रु है नींद। नींद बहुत सयानी होती है। जहां निकम्मी बात आएगी, फिजूल गप्पें हांकी जाएंगी, वहां नींद नहीं आएगी। किन्तु जहां काम की बात आएगी, वहां नींद सताने लग जाएगी। साधना में एक बाधा है—द्वन्द्व। सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास—ये सारे द्वन्द्व साधना में बाधक बनते हैं। इन बाधाओं को पार किए बिना साधना की बात कैसे सोची जा सकती है?

बहिरंग योग का एक प्रकार बन गया—काय-क्लेश, काय-सिद्धि। जब तक कायसिद्धि नहीं होगी, बाधाओं का पार नहीं पाया जा सकेगा। जो व्यक्ति बद्ध-पद्मासन करेगा, उसे नींद कैसे सता पाएगी? बद्ध-पद्मासन के सध जाने पर नींद आने की सम्भावना ही नहीं रह पाएगी। जब व्यक्ति मयूरासन या सर्वांगासन करेगा तो नींद कहां से आएगी? केवल नींद का ही प्रश्न नहीं है, आसन करने से शरीर सधता है, साथ ही द्वन्द्वों को सहन करने की क्षमता उद्भूत हो जाती है। पतंजलि ने लिखा—आसन से द्वन्द्वों को सहन करने की क्षमता विकसित हो जाती है। पता नहीं क्यों, आसनों का जितना मूल्य आंका जाना चाहिए था उतना मूल्य नहीं आंका गया। आहार-शुद्धि के बाद आसन-सिद्धि का मूल्य है। अशन और आसन—दोनों का स्वास्थ्य और साधना की दृष्टि से बहुत मूल्य है।

विज्ञान ने आसन के संदर्भ में कुछ नए निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं। विज्ञान ने यह प्रमाणित किया है—किस आसन के द्वारा नाडीतन्त्र के किस भाग पर

नियंत्रण किया जा सकता है। हमारा सारा जीवन नाड़ीतंत्र पर टिका हुआ है। अनुकम्पी नाड़ीतंत्र, परानुकम्पी नाड़ीतंत्र और केन्द्रीय नाड़ीतंत्र—नाड़ीतंत्र के ये तीन विभाग हैं। इन्हें प्रभावित करने वाले आसनों का पता चल गया है। आसन अन्तःस्नायी ग्रन्थियों को भी प्रभावित करते हैं। आसन से ग्रन्थितंत्र को प्रभावित कर बहुत लाभ उठाया जा सकता है। यदि थाइरायड को प्रभावित करना चाहते हैं, थाइरायड की समस्या से बचना चाहते हैं तो सर्वांगासन से कोई उत्तम आसन नहीं है। थाइरायड के लिए दवा ली जाती है किंतु सर्वांगासन किसी प्रतिक्रिया को जन्म दिए बिना उसे लाभ पहुंचाने वाली औषध है। यदि एड्रीनल ग्रन्थि पर नियंत्रण करना है तो शशांकासन उसके लिए महत्त्वपूर्ण है। महावीर जैसे बड़े साधक की साधना का विश्लेषण करें तो वे वीरासन, वज्रासन आदि—आदि आसन—मुद्राओं में ध्यानस्थ मिलते हैं। हम यह बात न भूलें—पाचनतंत्र, नाड़ीतंत्र और ग्रन्थितंत्र—इन सबको संतुलित करने के लिए आसनों की अनिवार्यता है। इनका संतुलन आसनों के साथ जुड़ा हुआ है। इनका संतुलन साधने वाला आसनों को छोड़ नहीं सकता।

नाड़ियां शुद्ध हों

साधना के लिए आहार-शुद्धि और आसन-सिद्धि—दोनों का होना जरूरी है। जब तक यह शुद्धि और सिद्धि की बात नहीं आएगी तब तक शुद्ध साधना संभव नहीं बन पाएगी। कोई व्यक्ति ध्यान करना चाहे और आहार-शुद्धि तथा आसन-सिद्धि का ध्यान न रखे तो उसके लिए ध्यान भी बीमारी बढ़ाने वाला बन जाएगा। ध्यान करने वाले व्यक्ति की ऊर्जा जागती है, विद्युत जागती है। जब ऊर्जा और विद्युत जागती है तब भयंकर समस्या पैदा हो जाती है। जब ध्यान से पैदा होने वाली विद्युत या ऊर्जा ऊपर की ओर जाती है और शरीर शुद्ध तथा सिद्ध नहीं होता है तो भयानक स्थिति निर्मित हो जाती है। आदमी उसे संभाल नहीं पाता। ध्यान की पहली शर्त है—नाड़ियां शुद्ध हों। नाड़ियों का मतलब नाड़ीतंत्र नहीं है। उसका अर्थ है—प्राण के प्रवाह का पथ। हमारे शरीर में प्राण-प्रवाह के हजारों पथ बने हुए हैं। जब तक नाड़ियां शुद्ध नहीं हैं, प्राण-प्रवाह के पथ शुद्ध नहीं हैं तब तक ध्यान का सम्यक् परिणाम नहीं आता। यदि शहर की गंदे पानी की नालियां शुद्ध नहीं हैं तो उनमें गंदी पानी जमता चला जाएगा और वह एक दिन पानी के प्रवाह को ही बंद कर देगा। नाड़ियों के शुद्ध न होने की स्थिति में ध्यान की भी यही परिणति होती है।

ध्यान करने वाला व्यक्ति, साधना करने वाला व्यक्ति, सबसे पहले इस बात पर ध्यान केन्द्रित करे—आहार और शरीर को शुद्ध करना है। यह शुद्धि हजार बार पानी में गोता लगाने से नहीं होगी। इसे आसन और अशन के द्वारा ही पाया जा सकता है। जब आसनों के द्वारा संचित मल निकलता है तब काया शुद्ध बनती है।

इन्द्रिय-शुद्धि

साधना के लिए इन्द्रियों को पवित्र बनाए रखना जरूरी है। इन्द्रियां हमारे जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग हैं। सारा जीवन इन्द्रियों की शक्ति के आधार पर मापा

जाता है। इन्द्रिय-शक्ति के क्षीण होने का अर्थ है शरीर की शक्ति का क्षीण होना। आयुर्वेद में और वर्तमान आयुर्विज्ञान में जीवन का सारा माप-जोख इन्द्रियों की क्षमता और शक्ति के आधार पर होता है। कहा जाता है—आंख की शक्ति, कान की शक्ति कम होने लग गई, इसका अर्थ है—जीवनशक्ति का ह्रास होने लग गया।

कान : एक महत्त्वपूर्ण अवयव

आयुर्वेद में तीन प्रकार के बल माने गए हैं—प्रथम कोटी का बल, द्वितीय कोटी का बल और तृतीय कोटी का बल। किसी व्यक्ति में किस कोटी का बल है, इसका सारा माप इन्द्रियों की शक्ति पर निर्भर है। वैद्य सबसे पहले नाड़ी देखेगा, नख देखेगा, आंख देखेगा। कान के आधार पर भी अनेक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। हमने कान पर बहुत कम ध्यान दिया है, किन्तु यह बहुत शक्तिशाली केन्द्र है। एक प्रकार से कान सारे शरीर को चलाने वाला, विचार और बुद्धि पर नियन्त्रण करने वाला है। कुछ दिन पहले एक लेख देखा, जिसका शीर्षक था—कान खिंचाए, बुद्धि बढ़ाए। प्राचीनकाल में गुरु अपने शिष्यों का कान खींचते थे। वह कोई निकम्मी बात नहीं थी। कान संवेगों का नियन्त्रण करने वाला है, वासना और वृत्तियों का नियन्त्रण करने वाला है।

साधना के क्षेत्र में इन्द्रिय-शुद्धि का बहुत मूल्य है। इन्द्रिय-शुद्धि का अर्थ है—प्रतिसंलीनता। पतंजलि ने अष्टांग योग में प्रत्याहार का जो स्थान है, वह जैन साधना पद्धति में प्रतिसंलीनता का है। प्रत्याहार का अर्थ है—अपनी इन्द्रियों की शक्ति को भीतर रखना। व्यक्ति आंख से देखता है पर ध्यान करने वाला आंखों को देखेगा। सामान्य व्यक्ति कान से सुनता है किन्तु ध्यान करने वाला व्यक्ति कान में सुनेगा। इन्द्रियों के भीतर देखना प्रतिसंलीनता है। इन्द्रियों की दिशा को बदल देना, उसके मार्ग को बदल देना ही प्रतिसंलीनता है।

प्रतिसंलीनता अन्तरंग योग में प्रवेश करने का दरवाजा है। इन्द्रियों को भीतर की ओर मोड़ो, आयाम बदल जाएगा। जब तक इन्द्रियां बाहर की ओर दीड़ेंगी, आयाम बाहर का रहेगा। जब उन्हें मोड़ मिलेगा, भीतरी आयाम खुल जाएगा।

बहिरंग तपोयोग के छह प्रकारों को हम इन तीन सूत्रों में समेट सकते हैं—आहार-शुद्धि, काय-सिद्धि और इन्द्रिय-शुद्धि। जो व्यक्ति इन तीन तत्त्वों को अपनाए बिना आनन्द को पाना चाहता है वह आनन्द पाने में सफल नहीं होता। जो व्यक्ति यह कहता है—जब तक तैरना नहीं सीखूंगा तब तक नदी में नहीं उतरूंगा, वह व्यक्ति कभी तैरना नहीं सीख पाता। अन्तरंग योग में प्रवेश पाने के लिए, के क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिए इस क्रम से चलना जरूरी है। जो व्यक्ति अपने साहस और संकल्प को बटोर कर बहिरंग योग को जी लेता है, इस पहले आयाम को पार कर लेता है, वह अन्तरंग योग में प्रवेश पा लेता है। उसके जीवन में नए-नए उन्मेष आने लग जाते हैं, उसका जीवन अधिक आनन्दमय और अधिक सुखमय बन जाता है। बहिरंग तपोयोग को जीने का अर्थ है—जीवन के समग्र रहस्यों को जानने की दिशा का उद्घाटन।

अंतरंग योग

अंतरंग योग है अहंकार और ममकार का विसर्जन। सेवा और प्रायश्चित्त—ये अहंकार और ममकार विसर्जन के प्रयोग हैं। जब तक अहंकार नहीं टूटता, आदमी विनम्र नहीं हो सकता। गुरुस्थानीय व्यक्ति को हाथ जोड़ना, उसके सामने जाना, उसे सम्मान देना—यह लोकोपचार विनय है। प्रश्न होता है—इसे अंतरंग कैसे माना गया? उत्तराध्ययन में अभ्युत्थान को अंतरंग माना गया है। स्थानांग सूत्र में इसे लोकोपचार कहा गया है। क्या लोकोपचार के पीछे अंतरंगता नहीं होती? लोकोपचार के पीछे छिपी होती है अंतरंगता। इस लोकोपचार की पृष्ठभूमि में अहंकार का विसर्जन है।

अंतरंग योग का अर्थ है—कषाय का विसर्जन। जैन साधना पद्धति में कषाय के विसर्जन को अंतरंग योग माना गया। एक प्रकार से वह साधक का साध्य होता है। उसके उपचारों और प्रयोगों को बहिरंग योग माना गया। बहिरंग और अंतरंग कितना सापेक्ष है! जिसमें अहंकार प्रबल है वह कभी प्रायश्चित्त नहीं कर सकता। आदमी सामाजिक कसौटियों के साथ जीता है। वह सामाजिक मूल्यों और मानदंडों के आधार पर अपना व्यवहार निर्धारित करता है। उसमें अहंकार और माया का होना सहज सम्भव है। इनको छोड़कर अन्तर्जगत् में जाना उसके लिए बहुत कठिन होता है। व्यक्ति सोचता है—जब समाज में जीना है, समाज में रहना है तब समाज को जैसा, जीना अच्छा लगे वैसा जीना ही सार्थक है। व्यक्ति भीतर में कितना ही अच्छा है, किन्तु समाज की दृष्टि में वह अच्छा नहीं है तो उसे लोग अच्छा नहीं मानेंगे।

लौकिक जगत अथवा समाज के जगत से बिलकुल अलग है अंतरंग जगत। अंतरंग जगत में व्यक्ति अपने अध्यवसाय के साथ जीता है। एक व्यक्ति मन में किसी की हत्या का षड्यंत्र बना रहा है, समाज उसे कुछ नहीं कहेगा। वह हाथ में बंदूक थाम लेता है तो भी समाज कुछ नहीं कहता। यदि उसने गोली चला दी तो वह समाज की दृष्टि में अपराधी माना जाएगा। उसने गोली चलाई किन्तु कोई मरा नहीं, इस स्थिति में कानून उसे बचा देगा। बाहरी जगत में कानून से बच सकता है। अंतरंग जगत में उसका कोई हस्तक्षेप नहीं होता।

जरूरी है समन्वय

अध्यवसाय का जगत अंतरंग जगत है। सारी घटनाएं और प्रवृत्तियां बहिरंग जगत है। धर्म का केन्द्र-बिन्दु है अध्यवसाय। समाज और कानून का केन्द्र-बिन्दु है घटना या प्रवृत्ति। धर्म, समाज तथा कानून की भिन्न-भिन्न दिशाएं हैं। इन दोनों में संबंध खोजना बहुत मुश्किल है। समाज या कानून का व्यक्ति

अध्यवसाय जगत या अंतरंग जगत तक नहीं पहुंच पाता। धार्मिक व्यक्ति घटना या प्रवृत्ति को अध्यवसाय के संदर्भों में देखता है। एक धार्मिक आदमी सोचेगा—मेरा अध्यवसाय पवित्र रहे, भाव पवित्र रहे किन्तु व्यवहार जगत की बात भिन्न होती है। व्यवहार जगत में यह नहीं देखा जाएगा—व्यक्ति का अध्यवसाय कैसा है? उसमें घटना या प्रवृत्ति के आधार पर ही निर्णय किया जा सकता है। जिस व्यक्ति को व्यवहार में जीना है और अंतरंग में भी जीना है, उसके लिए अंतरंग और बहिरंग दोनों का विवेक जरूरी है। जिस व्यक्ति में बहिरंग और अंतरंग का विवेक जाग जाता है, वह व्यक्ति सोचता है, मुझे व्यवहार में जीना है इसलिए मेरी बहिरंग साधना भी अच्छी होनी चाहिए। ऐसा न हो कि मेरा व्यवहार लोगों में उपहास का कारण बने। वास्तव में मुझे अंतरंग में जीना है, उसे पवित्र और विशुद्ध बनाना है। जिसकी यह दृष्टि बन जाती है, उसके सामने ये दोनों आयाम सदा स्पष्ट रहते हैं। वह अधिक से अधिक भीतर में जाने का प्रयत्न करते हुए भी व्यवहार की उपेक्षा नहीं करता। यह संभव है, जैसे-जैसे व्यक्ति भीतर में प्रवेश करता है वैसे-वैसे वह व्यवहार की कसौटियों पर ध्यान कम देने लग जाता है। उसका मनोबल इतना बढ़ जाता है कि वह व्यवहार की उपेक्षा कर देता है। एक सामान्य साधक के लिए यह जरूरी होता है कि वह अंतरंग और बहिरंग—दोनों का समन्वय करके चले।

बल, बुद्धि और विवेक

हम इसे रूपक की भाषा में समझें। कहा जाता है—एक बार बल और बुद्धि—दोनों में विवाद हो गया। बल ने कहा—‘मैं बड़ा हूँ। मेरे बिना कुछ भी नहीं होता।’ बुद्धि ने कहा—‘तुम किसी काम के नहीं हो। मैं बड़ी हूँ। मेरे बिना तुम्हारी उपयोगिता ही क्या है?’ दोनों इस विषय को लेकर उलझ गए। अपने इस विवाद का निपटारा करने के लिए वे विवेक के पास पहुंचे। बल और बुद्धि—दोनों ने अपनी-अपनी श्रेष्ठता बतलाते हुए न्याय करने की प्रार्थना की। विवेक ने अपने हाथ में एक हथौड़ा लिया और एक लोहे की कील ली। वह कील मुड़ी हुई थी, टेढ़ी थी। विवेक उन दोनों को साथ लेकर चल पड़ा। वे तीनों एक वृद्ध व्यक्ति के पास पहुंचे। विवेक बोला—‘महाशय! आप समझदार हैं, बुद्धिमान हैं और अनुभवी हैं। आप हमारा एक छोटा-सा काम कर दें।’

‘आपका क्या काम है?’

‘यह लोहे की कील टेढ़ी हो गई। आप इसे सीधी कर दें।’

‘हां, कर दूंगा।’

विवेक ने वृद्ध व्यक्ति के हाथ में हथौड़ा थमा दिया। वृद्ध व्यक्ति ने हथौड़ा चलाना चाहा किन्तु वह उसे चला नहीं सका। उसका शरीर जर्जर था। उसके हाथ इस कार्य को करने में असमर्थ थे। उसने हथौड़ा लौटाते हुए कहा—‘भाई! यह कार्य संभव नहीं है।’

विवेक ने बुद्धि से कहा—‘देखो! बुद्धिमान होते हुए भी यह वृद्ध व्यक्ति इस छोटे से कार्य को नहीं कर सका।’

बुद्धि, बल और विवेक तीनों आगे बढ़े। विवेक ने देखा—एक हट्टा-कट्टा जवान आदमी खेत में काम कर रहा है। वह शक्तिशाली था किन्तु बुद्धिमान नहीं था। तीनों उस जवान के पास पहुंचे। विवेक ने कहा—‘भैया! तुम बहुत शक्तिशाली हो। क्या तुम हमारा एक काम कर दोगे?’

‘हां! अभी कर दूंगा।’

‘यह लोहे की कील टेढ़ी हो गई है। इसे सीधा करना है। हम कमजोर आदमी हैं। आप इस हथौड़े से इसे सीधा बना दें।’

जवान ने हथौड़ा हाथ में लिया। कील को रेतीले टीले पर रखा और उस पर हथौड़े से एक जोरदार प्रहार किया। उस तेज प्रहार से रेत उड़ी और वह सबकी आंखों में भर गई। कील भूमि के अंदर तक चली गई।

विवेक ने बल से कहा—‘जब बल होता है बुद्धि नहीं होती तब यह स्थिति बनती है।’

बल और बुद्धि दोनों का अहंकार आहत हो उठा।

तीनों वहा से आगे बढ़े।

विवेक ने देखा, एक आदमी खड़ा है। वह जवान है और चेहरे से बुद्धि-संपन्न होने की सूचना मिल रही है। विवेक ने उससे कील को सीधा करने का अनुरोध किया और उसके हाथ में हथौड़ा थमा दिया। उस व्यक्ति ने कील को एक पत्थर पर रखा और हथौड़े से उस पर प्रहार किया। कील सीधी हो गई। उसमें बल भी था और बुद्धि भी थी।

विवेक ने बल और बुद्धि से कहा—‘तुम झगड़ो मत! तुम यह मानो—अकेला कोई बलवान नहीं है। जब दोनों मिलते हैं तब व्यक्ति बलवान बनता है। बलवान वही है, जिसमें बल और बुद्धि—दोनों का समन्वय है।’

अंतरंग : बहिरंग

हम बहिरंग और अंतरंग में भेदरेखा न खींचें। यदि बिल्कुल भेदरेखा खींच दी जाएगी तो न कील सीधी होगी और न काम बनेगा। बहिरंग और अंतरंग योग—यह एक स्थूल भेदरेखा है। वस्तुतः ये दोनों साथ-साथ चलते हैं। बहिरंग योग के बिना अंतरंग योग और अंतरंग योग के बिना बहिरंग योग सार्थक नहीं होता। दोनों की सार्थकता दोनों के समन्वय में है। स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग को अंतरंग योग माना गया। वस्तुतः अंतरंग योग है आत्मानुभूति। जीवन में आत्मानुभूति का जो क्षण है, जिस क्षण में आत्मा विजातीय द्रव्यों से हटकर अपने स्वरूप में जीती है, उस क्षण में अंतरंग तपोयोग होता है। मानना चाहिए—जब आत्मा अपने पारिणामिक भाव में रहती है तब अंतरंग योग घटित होता है। शेष सारे उसके साधन हैं, उस तक पहुंचने वाले माध्यम हैं। व्यक्ति कितना ही पढ़-लिख ले किन्तु जब तक आत्मानुभूति का क्षण नहीं जागता, वह अहंकार और ममकार से मुक्त नहीं होता।

विद्वत्ता और अहंकार

उपाध्याय यशोविजयजी जैन परम्परा के प्रसिद्ध सन्त हुए हैं। वे लघु हरिभद्र सूरि की उपाधि से विभूषित हुए थे। उन्होंने अपने पाटव से काशी के

विद्वानों को चमत्कृत कर दिया। उन्होंने काशी के विद्वानों के सामने आठ अवधान प्रस्तुत किए। उनमें एक था श्रुति-पाटव कला। एक ही आकार-प्रकार की पीतल की पचास कटोरियां रखी गईं। एक विद्वान आता, एक कटोरी के डंडा मारता। यशोविजयजी डंडे से होने वाली आवाज को अपने मानस में केन्द्रित कर लेते। उसके बाद एक-एक विद्वान खड़ा होकर एक-एक कटोरी को डंडा मारता। यशोविजयजी बता देते—यह पच्चीसवीं कटोरी की आवाज है, यह चालीसवीं कटोरी की आवाज है। इस प्रकार केवल ध्वनि के आधार पर वे कटोरी को पहचान लेते।

कितनी विचित्र बात है! दसवीं कटोरी की ध्वनि कैसी है, पचासवीं कटोरी की ध्वनि कैसी है, इसे पहचानना कितना कठिन है! ऐसे व्यक्ति की मेधा कितनी सूक्ष्म होती है। श्रुति-पाटव कितना विलक्षण होता है। ग्रहणशक्ति कितनी तीव्र होती है।

वे बहुत विद्वान थे। उत्तराध्ययन के एक चरण—संजोगाविष्पमुक्कस्स पर चार मास तक प्रतिदिन व्याख्यान देते रहे। एक पंक्ति का चार मास तक विश्लेषण करना अद्भुत पांडित्य का परिचायक है।

एक बार एक श्राविका ने अनुरोध किया—‘महाराज! आपको आनन्दघनजी से मिलना चाहिए।’ वह श्राविका जानती थी—मेरे गुरु विद्वान बहुत हैं पर साधक नहीं हैं। इनका अहंकार छूटा नहीं है। इन्हें अपने ज्ञान का, अपनी उत्कृष्टता का बहुत अहंकार है। इसका कारण है—इनमें साधना का भाव नहीं जागा है, अध्यात्म का अनुराग पैदा नहीं हुआ है। यशोविजयजी ने श्राविका की बात मान ली। वे आनन्दघनजी से मिले। उनका अहंकार प्रबल बना हुआ था। उन्होंने कहा—‘आनन्दघनजी महाराज! मैं आपको कुछ सुनाना चाहता हूँ।’

आनन्दघनजी बोले—‘बोलिए! क्या कहना चाहते हैं?’

यशोविजयजी ने ‘धम्मो मंगलमुक्कट्टं’—इस पद्य के पचास अर्थ प्रस्तुत किए।

आनन्दघनजी ने देखा—यह पढ़ा लिखा है, विद्वान है, जैन मुनि है पर साधक नहीं है, अध्यात्मयोगी नहीं है। इसके भीतर अध्यात्म नहीं जागा है, अहंकार का विमोचन नहीं हुआ है। आनन्दघनजी तपे हुए साधक थे, अध्यात्म योगी थे। उनकी प्रज्ञा जागृत थी। वे बोले—‘यशोविजयजी! इतना अहंकार है! पचास अर्थ करके अहंकार करते हो!’ आनन्दघनजी ने धम्मो मंगलमुक्कट्टं इस पद्य के अर्थ करने शुरू किए और वे उसके अर्थ करते ही चले गए। यशोविजयजी उनके सामने ताकते रह गए। उनका सिर झुक गया। वे आनन्दघनजी के चरणों में गिर पड़े। उन्होंने कहा—‘महाराज! मुझे क्षमा करें। मेरा अहंकार चूर-चूर हो गया है। आप जिस स्थिति तक पहुंचे हुए हैं, मैं उसकी कल्पना भी नहीं कर सकता। आपने मेरी आंखें खोल दीं।’

यशोविजयजी का जीवन बदल गया। उन्होंने अध्यात्म की दिशा में प्रस्थान किया, अध्यात्म योगी बने। उन्होंने अध्यात्म के अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ

लिखें—अध्यात्मोपनिषद्, अध्यात्म योग समुच्चय आदि-आदि। उनके अध्यात्म संबंधी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ आज भी योग साहित्य में अपनी गरिमा बनाए हुए हैं।

विद्वान के साथ योगी होना जरूरी है। बहिरंग योग के साथ अंतरंग योग का होना जरूरी है। केवल एक से काम नहीं चलता। इसीलिए कहा गया—तपस्या करो, आसन करो, इन्द्रिय-संयम करो। किन्तु इसके साथ-साथ आत्मानुभूति में भी जीओ। जब तक आत्मानुभूति है, तब तक इन सबकी सार्थकता है। वह नहीं है तो कुछ भी नहीं होगा। जब तक आत्मानुभूति नहीं जागेगी, आत्मीयभाव नहीं जागेगा तब तक जीवन में रस नहीं आएगा।

अंतरंग साधना की निष्पत्ति है—व्युत्सर्ग। निर्जरा का अन्तिम प्रकार है—व्युत्सर्ग। वह निष्पत्ति का क्षण है। जब तक व्युत्सर्ग समझ में नहीं आता तब तक साधना का अर्थ समझ में नहीं आता।

कठिन है स्वार्थ का विसर्जन

एक प्रश्न होता है—अंतरंग योग में सेवा को स्थान क्यों दिया गया? सेवा को इतना महत्त्व क्यों दिया गया? इसका क्या कारण है? कहा गया—‘सेवा करने वाला महानिर्जरा और महापर्यवसान वाला होता है।’ इसका रहस्य क्या है? सेवा में स्वार्थ का कितना व्युत्सर्ग करना होता है! स्वार्थ विसर्जित होने पर ही सेवा अंतरंग योग में परिणत होती है। जब सब कुछ व्युत्सर्ग किया जाता है तब सेवा संभव बनती है। एक व्यापक तत्त्व है व्युत्सर्ग। जैन साधना पद्धति का महान सूत्र है—व्युत्सर्ग—अपने आपको छोड़ते चले जाना। भीतर जो भरा हुआ है, उसे छोड़ते चलना जाना, उसका विसर्जन करते चले जाना किन्तु यह बात बहुत कम समझ में आती है। बहुत कठिन है स्वार्थ का विसर्जन।

पति मर गया। पत्नी रो रही थी। पति के बहुत सारे मित्र इकट्ठे हो गए, परिवार के लोग इकट्ठे हो गए। पत्नी रोती जा रही थी और बोलती जा रही थी—‘हे पतिदेव! तुम चले गए। अब तुम्हारी इतनी बढ़िया तेज दौड़ने वाली घोड़ी पर कौन सवार होगा?’

पास ही एक मित्र बैठा था। उसने कहा—‘चिन्ता मत करो! मैं चढ़ूंगा।’

रोते हुए उसका गीत जारी था—‘तुम्हारा इतना सुन्दर हार पड़ा है। इसे कौन पहनेगा?’

‘चिन्ता मत करो। उसे भी मैं पहन लूंगा।’

उसका विलाप थमा नहीं—‘पतिदेव! चले गए। इतना बड़ा कारोबार, इतनी दुकानें, इन्हें कौन संभालेगा? इनका मालिक कौन होगा?’

‘मैं संभाल लूंगा। मैं मालिक बन जाऊंगा।’

उसने आगे कहा—‘दस हजार का कर्ज चुकाना बाकी रह गया है, उसे कौन चुकाएगा?’

इस बार कोई नहीं बोला। सब चुप रह गए।

आखिर उस मित्र ने कहा—‘इतने सारे काम मैंने ओढ़ लिए। इस काम को तो कोई और ओढ़े। क्या मैं अकेला ही सारे काम ओढ़ता रहूंगा?’

आदमी स्वार्थ का विसर्जन नहीं कर पाता। उसमें अहंकार और ममकार प्रबल बना हुआ है। वह स्वार्थ चेतना को पैदा करता है। सेवा का अर्थ इतना ही नहीं है कि किसी को पानी की जरूरत है, पानी पिला दें। किसी को बुखार है, उसे दवा दिला दें, उसका कोई शारीरिक काम कर दें। ये सारी स्थूल बातें हैं। सेवा का अर्थ है—उस चेतना का जागरण, जिसमें अपनी सुख-सुविधा और अपने स्वार्थ का विसर्जन हो जाए, हम दूसरों के लिए समर्पित हो जाएं। सेवा में अंतरंगता का भाव तब जागता है, जब उसके साथ व्युत्सर्ग जुड़ता है। व्युत्सर्ग के बिना सेवा की कोई सार्थक निष्पत्ति संभव नहीं है।

प्रायश्चित्त के साथ व्युत्सर्ग जुड़ा हुआ है। विनय के साथ व्युत्सर्ग जुड़ा हुआ है। स्वाध्याय के साथ व्युत्सर्ग जुड़ा हुआ है।
अन्तरंग तपोयोग कब?

हर कोई व्यक्ति स्वाध्याय नहीं कर सकता। प्रत्येक व्यक्ति आराम चाहता है। आराम और आलस्य स्वाध्याय में बड़ी बाधाएं हैं। व्यक्ति का ज्यादा रस प्रमाद में है, विकथा में है। व्यक्ति इधर-उधर की बात करता है, बड़ा रस आता है। वह समझता है—मैं कृतार्थ हो गया, मेरा जीवन धन्य हो गया। एक पुस्तक लेकर बैठने में उसे सार्थकता नहीं लगती। जब तक प्रमाद और आलस्य का विसर्जन नहीं होता, विकथा—स्त्री कथा, देश कथा, राज कथा आदि-आदि का व्युत्सर्ग नहीं होता, निन्दा, चुगली, पर-परिवाद का परिहार नहीं होता तब तक स्वाध्याय हो नहीं सकता। जब इन सबका व्युत्सर्ग होता है तब स्वाध्याय के प्रति रुचि जागती है, आकर्षण पैदा होता है। अन्यथा तत्त्वज्ञान इतना रूखा है, जिसके प्रति रस पैदा होना मुश्किल है। कालूगणी कहा करते थे—व्याकरण पढ़ना अलूणी शिला को चाटना है। व्याकरण पढ़ने में कोई रस नहीं है, स्वाद नहीं है। व्याकरण पढ़ने में पहले कोई रस पैदा नहीं होता। आचार्यश्री ने प्रमाणनयतत्त्वलोकालंकार ग्रन्थ का अध्ययन शुरू किया। आचार्यश्री ने मुझे कहा—तुम भी इसे सुना करो। चार मास तक उसका पाठ चला होगा। मैं भी चार मास तक सुनता रहा। यदि हमसे चार मास बाद कोई पूछता—इन चार महिनों में क्या समझा तो हमारा उत्तर होता—कुछ भी नहीं। जब तक व्यक्ति का रस दूसरी चीजों में अटका रहता है, हंसी-मजाक, कुतूहल, उत्सुकता आदि-आदि के साथ जुड़ा रहता है तब तक व्यक्ति के लिए स्वाध्याय भी नीरस विषय होता है। इन सबका व्युत्सर्ग करें तो स्वाध्याय में रस आएगा, वह अंतरंग तपोयोग बन जाएगा।

अन्तरंग तपोयोग : मूल अर्थ

व्युत्सर्ग के बिना ध्यान भी संभव नहीं है। जो व्यक्ति सोचता है—ध्यान का अर्थ है—निकम्मा और निठल्ला बैठना, उसका ध्यान करने में रस नहीं है। उसका चिन्तन होता है—आंख मूंदने में कौन-सा रस है? क्या आंख मूंदने के लिए मिली है? आंख जगत को देखने के लिए है। कितने सुन्दर मकान हैं! कितने सुन्दर पेड़ हैं! कितने मनोहर पदार्थ हैं! उन्हें देखने में कितना रस है! जब तक इन बाह्य पदार्थों के प्रति आकर्षण का विसर्जन नहीं होता तब तक

ध्यान के प्रति आकर्षण नहीं, जागता। जब बाह्य आकर्षण से मुक्ति पा लेते हैं तब अंतरंग योग बनता है।

जब प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय और ध्यान अंतरंग बनते हैं, इनकी पृष्ठभूमि में छिपी हुई वृत्तियों का रेचन होता है तब शरीर का व्युत्सर्ग संभव बनता है। जब शरीर का व्युत्सर्ग होता है, भेद-विज्ञान की चेतना जागती है, तब अंतरंग योग प्रबल बनता है। अंतरंग तपोयोग का मूल अर्थ है—भेद-विज्ञान की चेतना का जागरण।

‘मैं आत्मा हूँ’ ‘पदार्थ मैं नहीं हूँ’—जब यह अनुभूति प्रखर बनती है, तब व्यक्ति अपने अस्तित्व की तलाश में आगे बढ़ता है। ‘मैं हूँ’ इसकी अनुभूति स्पष्ट होती चली जाती है। सुप्रसिद्ध दार्शनिक देकार्त ने कहा—‘मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ’ इस तर्क को बहुत मूल्य दिया गया। किन्तु अस्तित्ववादी दार्शनिकों ने इस तर्क को उलट कर प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा—‘मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ,’ यह तर्क सही नहीं है। तर्क यह होना चाहिए—‘मैं हूँ इसलिए मैं सोचता हूँ।’ कितना अंतर आ गया! मैं हूँ इसलिए मैं सोचता हूँ—इसमें अस्तित्व प्रधान है और सोचना गौण है। मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ—इसमें सोचना प्रधान है और अस्तित्व गौण है। मुख्य होना चाहिए अस्तित्व। अंतरंग तपोयोग का अर्थ है—अपने अस्तित्व को तलाशना, अपने अस्तित्व तक पहुंच जाना। यह कहना चाहिए—मैं हूँ इसलिए मैं सोचता हूँ, यह अंतरंग तपोयोग है। मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ, यह बहिरंग तपोयोग है। इन दोनों का समन्वय कर चलें तो साधना की परिपूर्ण पद्धति फलित होगी।

वह अपने देश में चला जाता है

आज प्रातःकाल मैंने अनेक संतों से एक प्रश्न पूछा—‘क्या आप मोक्ष जाना चाहते हैं? क्या मोक्ष में जाने की चाह बहुत समझदारी की चाह है?’ अनेक व्यक्ति सोचते हैं—जब तक शरीर है तब तक सब कुछ है। व्यक्ति का मन थोड़ा-सा ऊब गया। वह अपने मित्र के पास चला गया। बातचीत की और मन हल्का हो गया। भूख लगी खाना, खा लिया, तृप्ति हो गई। प्यास लगी, ठंडा पानी मिला, प्यास बुझ गई, सुख का अनुभव हुआ। नींद आने लगी, सो गया, आराम की अनुभूति हुई। खाना-पीना, बातचीत करना, मित्रों के साथ गप्पें मारना—ये सब शरीर के साथ जुड़े हुए हैं। यदि शरीर नहीं होता तो ये सब निरर्थक हो जाते। व्यक्ति का जब मन होता है, वह टी.वी. देख लेता है, रेडियो सुन लेता है, मनोरंजन केन्द्र में चला जाता है। इस शरीर से आदमी क्या-क्या नहीं करता! न्याय दर्शन में शरीर की परिभाषा की गई—भोगस्य साधनं शरीरम्—जो भोग का साधन है, वह शरीर है। जितना भोग भोगा जाता है, वह शरीर के द्वारा भोगा जाता है। इस स्थिति में जिसने अशरीर की कल्पना की, वह बहुत साहसी रहा होगा? सारे भोग के साधन को छोड़कर केवल आत्मा बन जाना क्या साहस का काम नहीं है? अशरीर का सिद्धांत सचमुच एक साहस का सिद्धांत है। क्या हम इस बात को भूल जाएं—शरीर नहीं तो कुछ भी नहीं? जब शरीर अस्वस्थ होता है तब भी यही कहा जाता है—शरीर स्वस्थ नहीं है, क्या करें, कुछ भी नहीं होता। ये सारे सुख स्वस्थ शरीर से जुड़े हुए हैं। क्या हम अशरीर बनकर इन सचाइयों को भुलाना चाहेंगे?

मोक्ष : एक अवधारणा

बहुत वर्ष पहले की बात है। आचार्यवर सुजानगढ़ में विराज रहे थे। बीदासर का एक व्यक्ति मेरे पास आया। मेरे पास और भी अनेक लोग बैठे थे। उसने कहा—‘महाराज! सब लोग मोक्ष जाना चाहते हैं किन्तु मैं मोक्ष जाना नहीं चाहता।’ मैं उस व्यक्ति से परिचित था इसलिए सुनकर भी मौन रहा। पास बैठे लोगों को उसका यह कथन अजीब लगा। उन्होंने पूछा—‘तुम मोक्ष जाना क्यों नहीं चाहते?’ उसने तपाक से जवाब दिया—‘मोक्ष जाकर चमचेड़ (चमगादड़) की तरह लटक जाने में क्या फायदा है? मोक्ष में जाने वाला व्यक्ति लोकाग्र में स्थित हो जाता है। वहां न कोई धर्म है और न कोई कर्म। कोई कार्य नहीं, कोई संबंध नहीं। ऐसा निकम्मा जीवन जीने में क्या आनन्द है? इसलिए मैं इस संसार में ही रहना चाहता हूँ, संसार में रहते हुए नरक मिले तो भी चिन्ता नहीं है।’

यह चिन्तन स्वाभाविक चिन्तन है। प्रत्येक आदमी ऐसा सोच सकता है। मोक्ष में जाना अशरीर होना है और सदा वहीं बने रहना है। मोक्ष जाने वाला व्यक्ति इस दुनिया के बीच में कभी नहीं आता। मोक्ष में जाने का अर्थ है—न दुनिया में आना, न मित्रों, सगे-संबंधियों से मिलना, न पुराने परिचितों से मिलना। वहां ऊब जाए तो कोई बात करने वाला नहीं। वहां न कोई सुख-दुःख की बात करने वाला है और न किसी से कुछ पूछने का अवकाश है। मरुदेवा ने भरत से कहा—‘भरत! तुम राज्य में मुग्ध हो गये। तुम्हें पता ही नहीं है कि तुम्हारे पिता ऋषभ कहां हैं? वे सुख में हैं या दुःख में हैं? उन्हें खाने को रोटी मिलती है या नहीं? उन्हें सोने को स्थान मिलता है या नहीं? तुम्हें अपने पिता की कोई सुध-बुध नहीं है।’ राज्य में मुग्ध बना व्यक्ति सबको भूल जाता है। मोक्ष में भी ऐसा ही होता है। वहां कोई किसी की सुध-बुध लेने वाला नहीं है। इन सारे संदर्भों में हम सोचें—क्या अशरीर होना समस्या नहीं है?

त्याग से जुड़ा है मोक्ष

दर्शन के क्षेत्र में दो धाराएं रही हैं—निर्वाणवादी धारा और स्वर्गवादी धारा। स्वर्गवादी धारा के सामने यह समस्या नहीं है। व्यक्ति स्वर्ग में चला जाता है। वेदों में कहीं भी मोक्ष का जिक्र नहीं है, संन्यास की भी चर्चा नहीं है। अगर मोक्ष नहीं है तो संन्यास की जरूरत नहीं है। स्वर्ग जाने के अनेक मार्ग हैं। यज्ञ के द्वारा भी स्वर्ग में जाया जा सकता है। उसके लिए संन्यास लेना अनिवार्य नहीं है। निर्वाणवादी धारा में संन्यास का मूल्य बढ़ा, त्याग का मूल्य बढ़ा। मोक्ष के लिए त्याग का होना जरूरी है।

निर्वाण क्यों? हम इस प्रश्न पर थोड़ा विमर्श करें। व्यक्ति सोचता है—मैं मनुष्य नहीं रहूंगा, लोगों के बीच में नहीं रहूंगा, समाज में नहीं जी सकूंगा। इस उठापटक और राग-द्वेष की दुनिया से विच्छिन्न हो जाऊंगा, कट जाऊंगा। वह सोचता है—राग-द्वेष के बिना जीवन में कोई आनन्द है? जीवन का आनन्द राग-द्वेष में ही है। अगर राग-द्वेष नहीं होता, ये लड़ाई झगड़े नहीं होते तो इतना लम्बा दिन कैसे बीतता? उसे जीने का कोई उपाय नहीं है। जब तक राग-द्वेष है, पूरा दिन मजे से बीत जाता है। लड़ाई में कितना समय गुजर जाता है, व्यक्ति को पता ही नहीं चलता। बाजार में तेज लड़ाई हो रही है। व्यक्ति दो घंटा खड़ा रह जाएगा। यदि उससे कहा जाए—तुम दस मिनट खड़े-खड़े ध्यान करो। उसका उत्तर होगा—मैं दस मिनट खड़ा नहीं रह सकता। लड़ाई देखने में बीता हुआ दो घंटा उसे दस मिनट जितना लगता है और ध्यान में बीते दस मिनट उसे दो घंटे जितने लगते हैं। क्या इस स्थिति में वीतरागता की बात की जाए? व्यक्ति सोचता है—वीतरागता की बात कितनी नीरस है। कैसे चौबीस घंटा बीतेगा? वह इसे सुनते-सुनते ऊब जाता है। इस स्थिति में, व्यक्ति की इस मनःस्थिति के परिप्रेक्ष्य में निर्वाण की चर्चा कहां तक सार्थक हो सकती है, यह एक गंभीर प्रश्न है।

दुनिया का नियम : अपना नियम

हम केवल मानवीय जीवन के नियमों के आधार पर सारी सचाइयों को तोलना चाहते हैं। हमारे सामने वही एक तराजू है, वे ही नियत बटखरे हैं और हम उनसे इस विराट विश्व को तोलना चाहते हैं। यही समस्या है। हम दुनिया के नियमों को नहीं जानते किन्तु उसे अपने नियमों के संदर्भ में जानना चाहते हैं। विश्व विराट है और उसके ऐसे अनेक नियम हैं, जिनसे हम परिचित नहीं है, हमें जिनकी स्मृति ही नहीं है।

एक व्यक्ति मर गया। परिवार के लोग और मित्र उसकी पत्नी को सान्त्वना देने उसके घर इकट्ठे हुए। उन्होंने पूछा—‘मरने का क्या कारण बना? क्या कोई बीमारी थी?’ पत्नी ने कहा—‘नहीं, वे बीमार नहीं थे।’ लोग पुनः बोले—‘फिर अचानक यह दुर्घटना कैसे हो गई।’ पत्नी बोली—‘वे बहुत भुलक्कड़ थे। मुझे लगता है—वे सांस लेना भूल गए, इसलिए मर गए।’

हम जानते हुए भी सचाइयों को भूल जाते हैं। अगर मोक्ष में जाकर चमचेड़ (चमगादड़) की तरह लटक जाना है और सदा उस स्थिति में बने रहना है तो निगोद में जाकर क्या करना है? हम सोचें—एक व्यक्ति निगोद में चला गया। वह पत्थर की भांति अनंतकाल तक जड़ जैसा जीवन जीता रहा। वह किससे बात करेगा? कहां मनोरंजन केन्द्र में जाएगा। कहां टी.वी. देखेगा? कहां ताश, चौपड़ और शतरंज खेलेगा? वहां न बोलना है न चलना है। स्थावर जीवों का जीवन कैसा जीवन है? पांच-दस वर्ष तक नहीं, सौ वर्ष तक नहीं, किन्तु अनंत काल तक केवल मूर्च्छा का जीवन जीना है। अनन्त काल तक निगोद में पड़े रहना, जन्म-मरण के चक्र में परिभ्रमण करना, एकदम मूर्च्छा का जीवन जीना, कष्टमय जीवन जीना जड़ जैसा जीवन जीना मान्य है किन्तु अशरीर होना मान्य नहीं है। यह कैसी विचित्र बात है?

देखें संसार-चक्र

व्यक्ति यह नहीं सोचता—कब-कब मनुष्य समाज का अंग बन पाता है? इस पूरे संसार चक्र में कभी-कभी ऐसा समय आता है, व्यक्ति आदमी बनता है। इसीलिए कहा गया—माणुसे खलु दुल्लहे—मनुष्य का जन्म मिलना बहुत दुर्लभ है। मनुष्य का एक समाज है किन्तु पशुओं का कौनसा समाज है? क्या गाय-भैंसों ने अपना समाज बनाया है? क्या वे अपने दुःख सुख की बातें करते हैं? क्या उन्हें भी मनोरंजन के साधन सुलभ हैं? भैंसे और गधे जीवन भर भार ढोते रहते हैं। कभी मिट्टी ढोते हैं, कभी पत्थर ढोते हैं और कभी कुछ ढोते हैं। कोल्हू का बैल कभी उससे मुक्त हो पाता है? हम पूरे संसार चक्र को देखें। इस संसार चक्र में व्यक्ति अनन्त-अनन्त बार जन्म लेता है, मरता है। उसे कुछेक बार मनुष्य का जन्म प्राप्त होता है। वह कभी-कभी देवता बन जाना होगा किन्तु अनन्त काल तक निम्न गतियों में भटकना पड़ता है। जहां न आनन्द होता है, न मनोरंजन के साधन, कुछ भी नहीं होता।

सुख का स्रोत

यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है—हमें ऐसे संसार चक्र में रहते हुए, दुःखपूर्ण जीवन जीते हुए कोई कठिनाई नहीं होती और मोक्ष जाने में, अशरीरी अवस्था में रहने में कठिनाई होती है। हम इस तर्क के परिप्रेक्ष्य में संसार और मोक्ष की तुलना करें तो हमारा दृष्टिकोण बदल जाएगा। हमारा कथन होगा—निगोद और नरक में जाने की अपेक्षा, तिर्यञ्च, मनुष्य आदि योनियों में भटकते रहने की अपेक्षा मोक्ष में रहना अच्छा है।

दिगम्बर परम्परा में मान्यता है—भगवान ऋषभ छह माह तक कायोत्सर्ग की मुद्रा में खड़े रहे। बाहुबली एक वर्ष तक कायोत्सर्ग की मुद्रा में प्रतिमा की भांति खड़े रहे। उनका शरीर लताओं से घिर गया, पंछियों ने शरीर पर घोंसले डाल दिए। आगमों में कहा गया—साठ हजार वर्ष तक खड़े-खड़े कायोत्सर्ग किया जा सकता है। यह कायोत्सर्ग की उत्कृष्ट स्थिति है। इस कालचक्र के लगभग दो काल खण्ड—पांचवें, छठे आरे तक व्यक्ति इस स्थिति में रह सकता है। साठ हजार वर्ष तक शरीर में रहते हुए भी अशरीर की भांति रहा जा सकता है। प्रश्न होता है—क्या व्यक्ति को ऊब नहीं आती? समाधि में बैठा हुआ आदमी ऊबता नहीं है। उसके भीतर सुख का अथाह सागर लहराने लगता है। सुख का एक स्रोत फूट पड़ता है। ऊबने का प्रसंग ही प्रस्तुत नहीं होता। समाधिस्थ व्यक्ति को साठ हजार वर्ष साठ हजार मिनट जितने भी नहीं लगते।

हम मोक्ष के सुख की कल्पना करें। सारे संसार के सुख को मिला दें, उन्हें एक जगह पिण्डीभूति कर लें और उसे तराजू के एक पल्ले में रखें। तराजू के दूसरे पल्ले में मोक्ष के सुख को रखें। सारे संसार का सुख एक तरफ और मोक्ष का सुख दूसरी तरफ। इस उपमा के द्वारा कहा गया—इस स्थिति में भी मोक्ष के सुख का पलड़ा बहुत भारी रहेगा। दुनिया के सारे सुखों से अनन्त गुना ज्यादा है मोक्ष का सुख। जिस आत्मा को इतना सुख मिल गया है वह क्यों ऊबेगी? उसे मनोरंजन में जाने की अपेक्षा ही क्यों होगी? वह व्यक्ति मनोरंजन करना चाहता है, जो दुःख का जीवन जीता है। वह व्यक्ति टी.वी. और सिनेमा देखना चाहता है, जो तनाव का जीवन जीता है। जहां व्यक्ति आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक—इन तीनों तापों से मुक्त रहता है, निरन्तर आत्मानुभूति और अनन्त सुख में लीन रहता है, वहां थकान या ऊब का प्रश्न ही कहां प्रस्तुत होगा?

विदेश है संसार

प्रत्येक व्यक्ति मोक्ष में जाना चाहता है किन्तु मोक्ष का दर्शन बहुत जटिल है, बहुत कठिन है। अशरीर होने की बात को समझ पाना बहुत मुश्किल है। व्यक्ति का शरीर से इतना परिचय है कि वह उसे छोड़ने की बात से ही कंपित हो जाता है। आदमी मौत से डरता है। इस डर का कारण है शरीर की आसक्ति। अनेक व्यक्ति मरते दम तक रोते रहते हैं। शरीर के साथ इतना मोह हो जाता है कि उसे छोड़ना बहुत कष्टदायी लगता है।

हम शरीर के साथ घुल मिल गए, उसे ही सब कुछ मान लिया। एक व्यक्ति अमेरिका या इंग्लैण्ड चला गया। वह विदेश में रहने लगा। उसने वहीं शादी कर ली। वह वहां का नागरिक बन गया, वहीं रच-पच गया। वह पूरा विदेशी बन गया। उसने स्वदेश को भुला दिया। विदेश जाने के साथ बंधन भी जुड़े हुए हैं। विदेश जाने से पूर्व वीसा का होना जरूरी है। एक वीसा के लिए न जाने कितने कार्यालयों के चक्कर लगाने पड़ते हैं। अनेक तरह के प्रतिबंध वीसा के साथ जुड़े हुए होते हैं। जितने दिन का वीसा है, वह उससे ज्यादा रह नहीं सकता।

हम भी विदेशी हैं, अपने देश को भूले हुए हैं। अनेको बंधनों से हम बंधे हुए हैं। असंयम का बंधन है, राग और द्वेष का बंधन है, मनोदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड का बंधन है, माया शल्य, निदान शल्य और मिथ्यादर्शन का बंधन है। हम जितने बंधनों से घिरे हुए हैं उतने बंधन सरकार भी शायद नहीं लगाती। इतने बंधनों के मध्य जीना क्या जीना है ? जिस दिन यह अनुभूति व्यक्ति के भीतर जागती है, वह संसार में रहना पसंद नहीं करता, विदेश में रहना पसंद नहीं करता, वह अपने देश में लौट आता है। जब तक यह अनुभूति नहीं जागती, व्यक्ति विदेश में रचा-पचा रहता है। जब यह ज्ञात हो जाता है—विदेश—संसार बंधनों का घर है, उसमें बंधन ही बंधन हैं, चारों ओर नाशपाश ही नागपाश हैं, तब व्यक्ति संसार—विदेश में रहना नहीं चाहता।

सम्यग् दर्शन : एक परिभाषा

धार्मिक आदमी का चिन्तन तभी बदलता है जब उसके सामने मोक्ष की धारणा स्पष्ट हो जाती है। जब तक मोक्ष की धारणा स्पष्ट नहीं होती, व्यक्ति का चिन्तन नहीं बदलता! सम्यक् दृष्टिकोण की अनेक परिभाषाएं की गईं। उसकी एक परिभाषा की जा सकती है—मोक्ष को समझ लेने का नाम है सम्यग् दर्शन। जब तक मोक्ष को सम्यग् रूप नहीं समझा जाता तब तक पूरा सम्यग् दर्शन नहीं आता। धर्म को अधर्म समझना, मार्ग को अमार्ग समझना मिथ्यात्व है किन्तु यह साधना के साथ जुड़ा हुआ है। मोक्ष साध्य है। मोक्ष को अमोक्ष समझना और अमोक्ष को मोक्ष समझना भी मिथ्यात्व है और वह साध्य के संदर्भ में है।

आत्मा कहां है?

मोक्ष को समझने का मतलब है आत्मा को समझना। आत्मा और मोक्ष—दो बात नहीं हैं, एक ही बात है। जो मोक्ष है, वह आत्मा है। जो आत्मा है, वह मोक्ष है। हम सभी मिलावटी जीवन जी रहे हैं। उसमें पुद्गल का भाग ज्यादा है, आत्मा का भाग कम है। हमारे शरीर में आत्मा का स्थान बहुत थोड़ा है। सारा स्थान पुद्गल ने घेर रखा है। उसका अधिकार बना हुआ है। दर्शन के क्षेत्र में यह प्रश्न बहुत चर्चित रहा—आत्मा कहां है? आत्मा का स्थान कहां है? इस प्रश्न के संदर्भ में अनेक विचार प्रस्तुत हुए। जैन दर्शन ने आत्मा को शरीर परिमाण—शरीरव्यापी माना। किसी दर्शन ने उसे व्यापक माना और किसी दर्शन ने उसे अंगुष्ठ जितना माना। जैन दर्शन ने जो शरीर-परिमाण की स्वीकृति दी, वह दूसरे दर्शनों में प्राप्त नहीं है।

आत्मा सारे शरीर में व्याप्त है किन्तु शरीर में भी वह कहां है, इस प्रश्न को समझना है। चमड़ी में आत्मा नहीं है, खून में आत्मा नहीं है। हमारे शरीर में सात धातुएं हैं। रक्त, रस, मज्जा, मांस, चर्बी, शुक्र और हड्डी—इनमें से किसी में भी आत्मा नहीं है। आत्मा केवल नाडीतंत्र में है। जहां-जहां नाडीतंत्र है, वहां-वहां चेतना का अधिष्ठान है, आत्मा है। केवल नाडीतंत्र में ही आत्मा का निवास है। सारी चेतना नाडीतंत्र में है। जहां नाड़ियां फैली हुई हैं वहां चेतना की अनुभूतियां हैं। नाडीतंत्र पूरे शरीर में फैला हुआ है इसलिए आत्मा भी पूरे शरीर में फैली हुई है। हमारे पैर में कांटा चुभता है, सूई चुभती है और कष्ट का अनुभव होता है। प्रश्न है—ऐसा क्यों होता है? क्या मांस को कष्ट का अनुभव होता है? अगर नाडीतंत्र का स्पर्श नहीं है तो कांटा चुभने पर भी कोई कष्ट का अनुभव नहीं होगा। सारी अनुभूति नाडीतंत्र के द्वारा हो रही है और उससे आत्मा जुड़ी हुई है।

आत्मा की खोज : सबसे बड़ी खोज

शरीर में नाडीतंत्र का स्थान बहुत थोड़ा है। फैलाव चर्बी का है। जितनी ज्यादा चर्बी है उतना ही ज्यादा आदमी का फैलाव है। जितना मांस होता है, उतना आदमी फैल जाता है। हड्डियों का ढांचा बना, व्यक्ति फैल गया। हम यह देखें—हमारे भीतर पोल कितनी है। यदि हम अपने मुंह को खोलकर भीतर देखेंगे तो सारी पोल ही पोल दिखाई देगी। शरीर का ठोस भाग बहुत थोड़ा है। सारा फैलाव है। आत्मा का स्थान तो बहुत कम है और जो है, वह भी अदृश्य है, अमूर्त है। उसे पकड़ना बहुत मुश्किल है।

आत्मा की खोज, मोक्ष की खोज दुनियां की सबसे बड़ी खोज है। जिसने आत्मा को खोज लिया, मोक्ष को खोज लिया, उसने चेतना को खोज लिया, जानने वाले को खोज लिया, ज्ञाता को खोज लिया। जब इस खोज की दिशा का उद्घाटन होता है, तब व्यक्ति संसार में नहीं रहता, वह इस नकली जीवन में नहीं रहता, असली जीवन में चला जाता है।

एक लड़के को गंभीर स्थिति में हॉस्पिटल में भर्ती कराया गया। डॉक्टर का इलाज शुरू हुआ। मां ने पूछा—‘स्थिति क्या है?’ डॉक्टर बोला—‘ऑक्सीजन दी जा रही है।’ मां ने पूछा—‘ऑक्सीजन.....?’ डॉक्टर ने सीधी भाषा में कहा—‘उसे नकली सांस दी जा रही है।’ मां बोली—‘मेरे लड़के को नकली सांस क्यों? मेरे पास पैसों की कमी नहीं है। आप उसे असली सांस दीजिए।’

डॉक्टर असली सांस नहीं दे सकता। वह व्यक्ति के अपने पास है। हम अपने आपको भूल गए हैं, अपनी सांस को भूल गए हैं। जिस दिन अपनी सांस वाली बात समझ में आएगी, व्यक्ति विदेश में नहीं रहेगा, वह अपने देश—मोक्ष में लौट आएगा। जिस दिन यह अपने देश—मोक्ष में जाने की बात समझ में आएगी, उस दिन जीवन जीने का रहस्य समझ में आ जाएगा।

यह रास्ता है दुःख के अलविदा का

हम अभी जैन विश्व भारती में हैं। यहां से दिल्ली लगभग साढ़े तीन सौ किलोमीटर है और कलकत्ता हजार किलोमीटर से भी ज्यादा है। लाडनू का आदमी दिल्ली या कलकत्ता जा भी सकता है और नहीं भी जा सकता। यदि मार्ग है तो वह जा सकता है, यदि मार्ग नहीं है तो वह नहीं जा सकता। मार्ग के अभाव में दिल्ली और कलकत्ता ही नहीं, कहीं भी नहीं जाया जा सकता। प्रश्न होता है—लक्ष्य का मूल्य ज्यादा है या मार्ग का? लक्ष्य सामने है और मार्ग नहीं है तो व्यक्ति उस तक पहुंच नहीं पाएगा। मूल्य है मार्ग का, मूल्य है साधन का। यदि हमारे सामने मार्ग स्पष्ट नहीं है तो साध्य की बात अधूरी रह जाएगी। लक्ष्य तक पहुंचने के लिए मार्ग का चुनाव करना होता है। मार्ग की खोज बहुत बड़ी खोज है। जिसने मार्ग को खोजा है, साधन को खोजा है, वह लक्ष्य तक पहुंचा है। जिसने मार्ग को नहीं खोजा, वह बीच में ही अटक गया, लक्ष्य तक नहीं पहुंच पाया। मार्ग की खोज का प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है।

दुनिया में बहुत सारे दुःख हैं, समस्याएं हैं, तनाव हैं, संताप हैं आदमी उनसे मुक्त होना चाहता है। धर्म के लोगों ने आश्वासन दिया—‘तुम धर्म करो, तुम्हारे सब दुःख मिट जाएंगे।’ राजनीति के लोग भी आश्वासन देते हैं—‘आप हमारा सहयोग करें, हम आपके सब दुःखों को मिटा देंगे, सारी समस्याओं को सुलझा देंगे।’ सब दुःखों से मुक्ति का आश्वासन बहुत बड़ा आश्वासन है। एक-दो दुःखों को मिटाना भी मुश्किल है। उस स्थिति में सारे दुःखों को समाप्त करने का आश्वासन कितना बड़ा आश्वासन है। इतना बड़ा आश्वासन देना सचमुच साहस का काम है। धर्म के क्षेत्र में दुःख-मुक्ति का आश्वासन ही नहीं दिया गया, उनका मार्ग भी सुझाया गया।

गुरु-सेवा

दुःख-मुक्ति का पहला मार्ग है—गुरु-सेवा। गुरु की सेवा का कितना मूल्य है! शिष्य अपने गुरु की सेवा में अपनी सारी शक्ति नियोजित कर देता है।

शिष्य ने गुरु से निवेदन किया—‘गुरुदेव! मैं कुछ पाना चाहता हूँ, साधना करना चाहता हूँ, आप मार्ग बताएं।’ गुरु ने कहा—‘आओ! यहां रहो।’ वह गुरु के पास रह गया। गुरु बोले—‘जाओ! जंगल से लकड़ियां काटकर लाओ! वह लकड़ियां काटकर ले आया।’ उसने पूछा—‘साधना का मार्ग? गुरु ने कहा—अभी नहीं! मैं जो कहता हूँ, करते चले जाओ। मकान साफ करो, पानी लाओ, रसोई बनाओ!’ शिष्य एक दिन नहीं, दो दिन नहीं, बारह वर्ष तक ये सब कार्य करता चला गया। शिष्य ने पूछा—‘गुरुदेव! कब बताएंगे साधना का

मार्ग?’ गुरु बोले—‘जाओ! तुम्हारी साधना हो चुकी।’ शिष्य विस्मित रह गया—आपने कुछ बताया नहीं और साधना हो गई? गुरु ने कहा—‘हां! तुम जा सकते हो। तुमने बहुत अप्रमाद से सारे कार्य संपादित किए। इस अप्रमाद की दृष्टि को बढ़ाते रहना। यही साधना है।’ इस एक शब्द ने उसकी चेतना को जगा दिया। वह सचमुच बड़ा साधक बन गया।

गुरु भी बड़े विचित्र हुए हैं और शिष्य भी बड़े विचित्र हुए हैं। शिष्यों ने मार्ग की खोज में अपना सब कुछ समर्पित कर दिया। गुरु ने कहा, वही किया और वे साध्य को पा गए। गुरु की खोज, गुरु की सेवा और गुरु का मिलना बहुत मुश्किल है। अच्छा गुरु मिल जाए, सही मार्गदर्शक मिल जाए, सही मार्ग बताने वाला मिल जाए तो बहुत बड़ी उपलब्धि हो जाती है। ऐसा वैसा गुरु कोई काम का नहीं होता। कहा जाता है—बिल्ली ने अच्छा रूप देखकर बगुले को गुरु बना लिया। किन्तु बना कुछ भी नहीं। दोनों एक समान थे। बिल्ली की दृष्टि घूहों पर थी और बगुले की दृष्टि मछलियों पर। एक कवि ने इस दृष्टांत को बहुत सुन्दर अभिव्यक्ति दी है—

*बिल्ली गुरु बगुली कर्यो, वरण उजलो देख।
पार किस विध उतरै, दोनों री गत एक॥*

वृद्ध-सेवा का महत्त्व

दुःख-मुक्ति का दूसरा उपाय है—वृद्धों की सेवा। वृद्ध के वचनों से लाभ उठाना दुःख-मुक्ति का एक मार्ग है। संस्कृत साहित्य में ऐसी कथाएं भरी पड़ी हैं—वृद्ध वानर की बात नहीं मानने से वानरों को कष्ट उठाना पड़ा। बूढ़े हंस की बात युवक हंसों ने नहीं मानी, हंस आपत्ति में फंस गए। वृद्ध कबूतर की बात युवा कबूतरों ने नहीं मानी, उन्हें गम्भीर विपत्ति का सामना करना पड़ा। संस्कृत साहित्य में ऐसी कथाएं प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती हैं। उनका निष्कर्ष है—वृद्ध अनुभवी व्यक्ति के वचन का आदर करना चाहिए।

बहुत कठिन है वृद्ध-सेवा। आजकल वृद्धों की सेवा की नहीं किन्तु उन्हें छोड़ने की भावना विस्तार पा रही है। हिन्दुस्तान में अभी भी वृद्धों का बहुत सम्मान है किन्तु जहां शिक्षा बहुत बढ़ गई है, सुख-सुविधा बहुत बढ़ गई है, धन बहुत बढ़ गया है, स्वतंत्र चिन्तन बढ़ गया है वहां वृद्धों की स्थिति बहुत चिन्तनीय है। उन्हें अकेले में छोड़ दिया जाता है, भाग्य-भरोसे छोड़ दिया जाता है। सरकार उनकी व्यवस्था करे या वृद्ध आदमी स्वयं अपनी व्यवस्था करे। घरवालों का उनसे कोई लेना-देना नहीं होता। वे कभी-कभार उनसे मिलने चले आते हैं। हिन्दुस्तान अभी इस स्थिति से बचा हुआ है। यदि वृद्धों की सेवा के संस्कार बने रहे तो हिन्दुस्तान अपनी गरिमा को बनाए रख सकेगा।

बाल कौन?

दुःख-मुक्ति का तीसरा उपाय है—बाल से बचना। अवस्था से ही व्यक्ति बाल नहीं होता। जिनकी बुद्धि परिपक्व नहीं है, जिनमें समझ नहीं है, वे भी बाल हैं। उनका सम्पर्क दुःख का कारण बनता है। कहा गया—बालादपि सुभाषितम् अच्छी बात बालक से भी सीख लेनी चाहिए। धर्मशास्त्र—में बाल उसे

कहा गया, जिसमें त्याग नहीं है। जो छोड़ना नहीं चाहता, वह बाल है। जिसने त्याग करना नहीं सीखा, जिसकी व्रत-चेतना और विवेक-चेतना नहीं जागी, वह अध्यात्म दृष्टि में बाल है। उससे बचना चाहिए, दूर रहना चाहिए।

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया—खुड़डेहिं सह संसर्गिं—क्षुद्रों के साथ संसर्ग मत करो, उनकी संगत में मत रहो। सत्संग पर बहुत बल दिया गया। क्षुद्रजनों की संगति से कोई ऐसी बात पकड़ में आ सकती है, जिससे सारा जीवन गड़बड़ा जाए। क्षुद्र व्यक्ति एक ऐसा शब्द कह देता है, जिससे सारा चिन्तन अस्त-व्यस्त हो जाता है। वह अवसर पर ऐसी बात कहता है, जिससे व्यक्ति असंतुलित बन सकता है। इस विवेक का होना बहुत आवश्यक है—व्यक्ति किसके साथ रहे और किसके साथ न रहे।

श्रीमज्जयाचार्य ने भी इस बात पर बहुत बल दिया। दो प्रसिद्ध शब्द हैं—विनीत और अविनीत। जयाचार्य ने कहा—विनीत से संपर्क करो, अविनीत से संपर्क मत करो। अविनीत बाल होता है। संपर्क केवल विनीत व्यक्ति से ही करना चाहिए। अविनीत के संसर्ग की क्या परिणति होती है, इस सचाई को आचार्य भिक्षु ने एक मार्मिक कथानक से स्पष्ट किया है।

परिणाम परामर्श

दो बैल थे। एक मामा था और दूसरा भानजा। दोनों बैलगाड़ी से जुते हुए थे, गाड़ी चल रही थी। जंगल में मालिक ने गाड़ी को रोका, बैलों को विश्राम दिया। उधर से एक बुटकना गधा गुजरा। वह बहुत अड़ियल था, आलसी था। उसके मालिक ने परेशान होकर उसका कान काटकर जंगल में छोड़ दिया था। वह स्वच्छंद था, चालाक भी था। वह जंगल में घूमता, घास चरता। उसके और कोई काम था ही नहीं। शरीर में मोटा-ताजा बन गया। उसने देखा—दो बैल खड़े हैं। वह उनके पास आया। उसने कहा—‘अरे! तुम कितने मूर्ख हो? तुम पर कितना भार लदता है! ऊपर से चाबुक पड़ते हैं। ऐसा क्यों करते हो?’

बैल बोले—‘हम क्या करें? यही हमारी नियति है। हम जिस योनि में जन्में हैं, उसमें भार तो ढोना ही होगा।’

गधा बोला—‘तुम समझदार नहीं हो। यदि तुम मेरी बात मानो तो एकदम मुक्त हो जाओगे।’

‘क्या तुम मुक्ति का उपाय जानते हो?’

‘हां।’

‘वह क्या है?’

‘जब चलो तब चलते-चलते बैठ जाना। एक बार मार पड़ेगी। पुनः उठकर कुछ दूर चलना और फिर भूमि पर पसर जाना। ऐसे तुम दो चार बार करोगे तो मालिक परेशान होगा। वह तुम्हें छोड़ देगा। तुम सदा-सदा के लिए मुक्त हो जाओगे। जंगल में हम सब साथ रहेंगे। हरी-हरी घास चरेंगे, ठंडा-ठंडा पानी पिएंगे, स्वच्छंदता से घूमेंगे, भार नहीं ढोना होगा, आनन्द का जीवन होगा।’

गधे का प्रस्ताव बहुत मनभावन था। भानजा बैल समझदार था, मामा समझदार नहीं था। मामा बोला—‘तुमने बहुत अच्छी बात कही है।’

भानजा बोला—‘मामा! फंसना मत। यह बहुत खोटी सीख दे रहा है। एक बार फंस गए तो बहुत मार पड़ेगी, मरना पड़ेगा। कहीं ऐसा न हो जाए, लेने के देने न पड़ जाए।’

मामा बोला—‘इसने बहुत अच्छी सलाह दी है। आराम का जीवन जिएंगे, कोई कठिनाई नहीं होगी।’

गधा सीख देकर चलता बना। गाड़ीवान ने रसोई बनाई। खाना खाया। गाड़ी को जोता। बैल चलने लगे। वे मुश्किल से दस-बीस कदम चले होंगे। मामा बैल ने पैर नीचे टिका दिए, जीभ निकाल दी। गाड़ीवान ने चाबुक मारी। बैल उठा, कुछ दूर चला और फिर नीचे गिर गया। गाड़ीवान ने देखा—बैल बहुत गम्भीर स्थिति में है। यदि यह मर गया तो शरीर (मिट्टी) भी काम नहीं आएगा। उसने तलवार निकाली और बैल का काम तमाम कर दिया। वह सदा के लिए आराम की नींद में सो गया। गाड़ीवान ने सोचा—समस्या हो गई, एक बैल से गाड़ी कैसे चले? उसने जंगल में इधर-उधर देखा। वह ताजा-मोटा बुटकना गधा दिखाई दिया। गाड़ीवान ने उसे पकड़ कर गाड़ी में जोत दिया, वह गधा सरपट दौड़ने लगा। भानजा बैल यह देख बोल उठा—

विद्धकर्ण! दुराचारिन्! मातुलो मम घातितः।

चलसि वायुवेगेन, कौटिल्यं न करोसि किम्॥

हे दुराचारी गधे! तुमने मेरे मामा को मरवा दिया और अब वायुवेग से दौड़ रहे हो। अब तुम कुटिलता क्यों नहीं करते हो?

गधा बोला—

कौटिल्यं तत्र कर्तव्यं, यत्र धर्मः प्रवर्तते।

सार्धवाहो महादुष्टः कंठच्छेदं करोति मे॥

कुटिलता वहां करनी चाहिए जहां धर्म का प्रवर्तन हो। यह गाड़ीवान महादुष्ट है। यदि यहां कुटिलता करूंगा तो तुम्हारे मामा जैसी गति मेरी होगी।

बालजनों का वर्जन बहुत आवश्यक है। गुरुसेवा, वृद्धसेवा, बालसंग का वर्जन—ये तीनों व्यावहारिक भी हैं, वास्तविक भी हैं।

स्वाध्याय : एकांतवास

दुःख-मुक्ति का चौथा उपाय है—स्वाध्याय। जब तक इन तीनों में गति नहीं होती तब तक स्वाध्याय भी बहुत काम का नहीं होता। स्वाध्याय के लिए अच्छा वातावरण बनना चाहिए, पृष्ठभूमि बननी चाहिए, उपयुक्त वातावरण बनना चाहिए। उसमें ये तीनों तत्त्व बहुत सहायक होते हैं।

दुःख-मुक्ति का पांचवां उपाय है—एकांतवास। एकांतवास का मतलब जंगल में जाकर रहना नहीं है। व्यक्ति निरन्तर कोलाहल में रहता है, विचार, चिन्तन और भावों की भीड़ में रहता है। उनसे बचना भी एकांतवास है। एकांतवास में रहना बहुत आवश्यक है। यदि प्रतिदिन एक या दो घंटा बिलकुल एकांत में बिताया जाए तो जंगल में जाने की जरूरत ही न रहे। एक व्यक्ति ध्यान में बैठ गया, निर्विकल्प समाधि की अवस्था में चला गया, विचार की दुनिया से अलग हो गया, वह एकांतवास है। ऐसे एकांत में रहना बहुत जरूरी है।

प्रज्ञा को जगाने के लिए, अन्तर्दृष्टि को जगाने के लिए, एकांत में रहना आवश्यक है। निरन्तर चिन्तन और निरन्तर प्रवृत्ति अनेकांत है, एकांत नहीं है। एकांत है निवृत्ति। जब हमारे जीवन में प्रवृत्ति और निवृत्ति का सन्तुलन होता है तब प्रज्ञा जागती है। मेधा जागती है। जब प्रज्ञा जागृत होती है तब अनेक सचाइयां प्राप्त होती हैं, नई दृष्टि और नया ज्ञान प्राप्त होता है। अन्तर्दृष्टि जागने पर जिन सचाइयों का पता चलता है, उन सचाइयों का पता बाह्य दृष्टि में नहीं चलता। जिसने एकांतवास में रहना सीखा है, उसने प्रज्ञा जागरण के सूत्र को सीखा है। भीड़ आदमियों और पशुओं की नहीं होती, विचारों की भी बहुत भीड़ होती है। जिस दिन हम विचारों की भीड़ से मुक्ति पा लेते हैं, एकांतवास को साध लेते हैं, उस दिन सचमुच अन्तर्ज्ञान, आत्मदृष्टि और अन्तर्बोध जाग जाता है।

दुःख-मुक्ति के सूत्र

दुःख से मुक्ति पाने का यह मार्ग मोक्ष का मार्ग है और उसके अनेक सूत्र हैं—

तस्सेस मग्गो गुरुविद्धसेवा, विवज्जणा बालजणस्स दूरा।

सस्झायएगंतनिसेवणा य, सुत्तत्थसंचितणया धिई य।।

गुरु और वृद्धों की सेवा करना, अज्ञानीजनों का दूर से ही वर्जन करना, स्वाध्याय करना, एकांतवास करना, सूत्र और अर्थ का चिंतन करना तथा धैर्य रखना—यह मोक्ष का मार्ग है। इस मार्ग पर चलने वाला मनुष्य दुःख को पा लेता है, अपनी मंजिल को पा लेता है।

पहले कौन?

यह संसार एक वलय है। पूछा जाए—‘इसका आदि बिन्दु कहां है? वृत्त या गोलाकार पदार्थ का प्रारम्भ कहां है?’ इस प्रश्न को समाहित नहीं किया जा सकता। पुराने दार्शनिकों ने इस प्रश्न का उत्तर गोलमटोल भाषा में दिया है। यह प्रश्न न जाने कब से पूछा जाता रहा है—पहले कौन? आज भी यह अज्ञात है। पहला कवि कौन? पहला दार्शनिक कौन? पहला लेखक कौन? पहला धार्मिक कौन? किसी को इसका पता नहीं है। उपनिषद् के ऋषियों ने सृष्टि के बारे में बहुत खोज की। उन्होंने इस प्रश्न का हल ढूँढना चाहा। समाधान की यात्रा में अनेक मत प्रस्तुत हुए। किसी ने कहा—‘पहले जल था।’ किसी ने कहा—‘पहले अग्नि थी।’ महावीर ने इस प्रश्न का विचित्र उत्तर दिया। उन्होंने पहले और बाद में—इन दोनों बिन्दुओं को नहीं पकड़ा। एक नया सूत्र देते हुए महावीर ने कहा—‘अपश्चानुपूर्वी—न पहले और न बाद में!’ वलय में पहले-पीछे होता ही नहीं है।

एक प्रश्न है—पहले बीज बना या वृक्ष? यदि कहा जाए—‘पहले बीज पैदा हुआ तो प्रश्न होगा—बीज आया कहां से? यदि कहा जाए—‘पहले वृक्ष बना तो प्रश्न होगा—बीज के बिना वृक्ष कैसे पैदा हुआ? यह एक वलय है, एक चक्र है। बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज पैदा होते रहते हैं। ये दोनों युगपत् हैं, पहले भी हैं, पीछे भी हैं। दो शब्द हैं—क्रम और युगपत्। एक वस्तु क्रम से होती है और एक अक्रम से होती है। जिसमें कोई क्रम नहीं होता, जो एक साथ होता है, वह युगपत् कहलाता है। चाहे बीज या वृक्ष को लें, मुर्गी या अण्डे को लें, जीव या कर्म को लें। क्रम की बात संगत प्रतीत नहीं होती। कहा जाए—कर्म पहले था तो प्रश्न होगा—आया कहां से? कहा जाए—जीव पहले था तो प्रश्न होगा—वह कर्म से बन्धा कैसे? इस प्रश्न का कोई समाधान नहीं हो सकता।

जीव और कर्म—दोनों का एक वलय है। इसका मुंह कभी खोजा नहीं जा सकता, इसका प्रारम्भ कभी बताया नहीं जा सकता। एक लम्बी वस्तु का पहला सिरा भी होता है और अन्तिम सिरा भी, किन्तु वलय का न पहला सिरा होता है और न अन्तिम सिरा। एक प्रश्न था—दुःख आया कहां से? पहले दुःख पैदा हुआ या दुःख को पैदा करने वाला पैदा हुआ। क्या वह धरती से निकला है? उत्तर की भाषा में कहा गया—अत्तकड़े दुःखे—दुःख मनुष्य ने पैदा किया है। कोई भी समझदार आदमी दुःख को क्यों पैदा करेगा?

उत्तराध्ययन सूत्र में दुःख एवं दुःख-मुक्ति का महत्त्वपूर्ण सूत्र प्राप्त होता है—

रागो य दोसो वि य कम्मबीयं, कम्मं च मोहप्पभवं वयंति ।
 कम्मं च जाईमरणस्स मूलं, दुक्खं च जाईमरणं वयंति ।।
 दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो, मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा ।
 तण्हा हया जस्स न होइ लोहो, लोहो हओ जस्स न किंचणाइं ।।

राग और द्वेष कर्म के बीज हैं। कर्म मोह से उत्पन्न होता है और वह जन्म-मरण का मूल है। जन्म-मरण को दुःख का मूल कहा गया है।

जिसके मोह नहीं है, उसने दुःख का नाश कर दिया। जिसके तृष्णा नहीं है, उसने मोह का नाश कर दिया। जिसके लोभ नहीं है, उसने तृष्णा का नाश कर दिया। जिसके पास कुछ नहीं है, उसने लोभ का नाश कर दिया।

दुःख का चक्र

एक शिरा है दुःख का और दूसरा शिरा है लोभ का। दोनों को पकड़े, दुःख का कारण उपलब्ध हो जाएगा।

प्रश्न हुआ—‘लोभ कहां से पैदा हुआ?’

‘तृष्णा ने लोभ को पैदा किया है।’

‘तृष्णा को किसने पैदा किया है?’

‘मोह ने तृष्णा को जन्म दिया है।’

‘मोह का जन्म किससे हुआ है?’

‘दुःख से।’

‘दुःख का मूल कारण क्या है?’

‘जन्म-मरण।’

‘जन्म-मरण का कारण क्या है?’

‘मोह।’

यह एक पूरा चक्र बन गया।

तृष्णा और मोह

मोह और तृष्णा, तृष्णा और मोह—दोनों जुड़े हुए हैं। एक प्रश्न और प्रस्तुत हुआ—पहले मोह या पहले तृष्णा? इसका कोई समाधान नहीं दिया जा सकता। जैसे बलाका अण्डे से उत्पन्न होती है और बलाका से अण्डा उत्पन्न होता है। उसी प्रकार तृष्णा से मोह और मोह से तृष्णा उत्पन्न होती है। दोनों एक दूसरे को सहारा देते हैं—

जहा य अंडप्पभवा बलागा, अंडं बलागप्पभवं जहा य ।

एमेव मोहाययणं खु तण्हं, मोहं च तण्हाययणं वयंति ।।

मोह की दीवार

मोह का अर्थ है—मूर्च्छा, मूढ़ता। आदमी में मूढ़ता होती है, विपर्यास होता है, विपरीत भाव होता है। वह सुख को दुःख मान लेता है। मार्ग खुला है किन्तु वह मान लेता है—रास्ता बन्द है। मार्ग खुला नहीं है, किन्तु वह उसे खुला मान लेता है। आदमी चलता है। चलते-चलते उसके सामने दीवार आ गई, रास्ता बन्द हो गया। यदि सामने दरवाजा होता है तो व्यक्ति उसे पारकर आगे

चला जाता है। दरवाजे और दीवार में यही अन्तर है। दीवार आदमी को रोक देती है, दरवाजा उसे प्रवेश करने देता है। यह मोह की ऐसी दीवार है, उसके सामने आते ही व्यक्ति के पैर टिठक जाते हैं, वह आगे नहीं चल पाता।

पहले किसे मिटाएँ?

हमारे सामने प्रश्न है—हम पहले किसे पकड़ें? लोभ को मिटाएँ? तृष्णा को मिटाएँ? मोह को मिटाएँ? या दुःख को मिटाएँ? पहले किसे मिटाना चाहिए? प्रत्येक आदमी यही सोचता है—पहले दुःख को मिटाया जाए। दुःख को पकड़ लिया, मिटा दिया तो सब कुछ ठीक हो जाएगा।

महात्मा बुद्ध के पास एक व्यक्ति आया। आनन्द ने कहा—‘धर्म सुनो।’ बुद्ध बोले—‘यह भूखा है। पहले इसे रोटी खिलाओ। उसके बाद धर्म की बात करो।’ साम्यवादी प्रणाली का यह मुख्य सूत्र है—‘पहले रोटी की व्यवस्था करो, उसके बाद दूसरी बात करो।’

आम धारणा है—पहले दुःख को मिटाया जाए। यह सपना बहुत मीठा लगता है। इसे सुनना भी अच्छा लगता है। किन्तु क्या कभी दुःख को पकड़ा गया है? क्या किसी ने किसी के दुःख को मिटाया है? दुःख मिटाना किसी के हाथ में नहीं है। रोटी खिलाना, पानी पिलाना, वस्त्र देना, यह सारा व्यक्ति के हाथ में है किन्तु किसी के दुःख को मिटाने का सामर्थ्य उसमें नहीं है। दुःख का संवेदन भीतर से हो रहा है। उसे पैदा करने वाले—मोह, तृष्णा और लोभ भीतर बैठे हुए हैं। दुःख को पैदा करने वाले घटक-तत्त्व भीतर हैं और हम बाहर से वस्तुएं देकर उसे मिटाना चाहते हैं। क्या यह सम्भव बन पाएगा?

दुःखकारक तत्त्व भीतर है

तर्कशास्त्र का नियम है—‘मनुष्य मरणधर्मा है। जो जिएगा, वह मरेगा।’ प्रश्न हुआ—‘क्या यह तर्क सत्य है?’ उत्तर दिया गया—‘हां!’ फिर प्रश्न पैदा हुआ—‘सब मरेंगे किन्तु जो अन्त में मरेगा उसकी दाहक्रिया कौन करेगा?’

हम पहले बिन्दु को पकड़ें, अन्तिम बिन्दु को पकड़ें, बीच की बात को भी पकड़ें। हम केवल अन्तिम बिन्दु को पकड़कर तर्क करते हैं—अन्तिम मुर्दे को कौन जलाएगा? हम मूल को भूल जाते हैं, केवल दुःख को पकड़ते हैं और यही समस्या है। जब दुःख को पैदा करने वाले सारे तत्त्व मौजूद हैं तब दुःख मिट कैसे पाएगा? बहुत लोग ऐसे हैं, जिनके पास पदार्थों का प्रचुर संग्रह है, सुख-सुविधा के सारे साधन उपलब्ध हैं। उनके पास जितना प्रचुर धन, वैभव और आधिपत्य है, उतना ही दुःख भी है। हम इसका कारण खोजें। इसका कारण है—दुःख को मिटाने वाले साधन बाहर से मिल गए किन्तु दुःख को पैदा करने वाले तत्त्व भीतर विद्यमान हैं। बाहर से हम दुःख को मिटाने का प्रयत्न करते रहेंगे और भीतरी तत्त्व दुःख पैदा करते रहेंगे। दुःख का कहीं अन्त नहीं होगा, उसका मुंह सुरसा की भांति बढ़ता ही चला जाएगा।

मूढ़ता है चेतना का विप्लव

हम इस सच्चाई को समझें—जब तक दुःख पैदा करने वाले तत्त्व, जो भीतर में बैठे हैं, उनको मिटाया नहीं जाएगा तब तक बाहरी साधनों से हमारा दुःख कभी मिट नहीं पाएगा। जो व्यक्ति दुःखों को कम करना चाहता है, उसे सबसे पहले मोह पर ध्यान देना होगा, मूर्च्छा पर ध्यान देना होगा। मूढ़ता एक विपर्यास पैदा करती है। भगवान महावीर ने आचारांग सूत्र में बतलाया—मूढ़ आदमी सुख पाने के लिए जाता है किन्तु वह दुःख पैदा कर लेता है। नासमझ आदमी सुविधा के स्थान पर कठिनाई को पैदा कर लेता है।

मूढ़ता का मतलब है चेतना का विप्लव, चेतना का विपर्यास। संस्कृत की मुहुच वैचित्र्ये—धातु से यह शब्द निष्पन्न हुआ है। यह चेतना का विकार है। चेतना का विकार इतना प्रबल बनता है कि व्यक्ति को सब कुछ उलटा दिखाई देता है। सफेद रंग भी मूढ़ आदमी को पीला दिखाई देने लग जाता है, पीला रंग हरा दिखाई देने लग जाता है। तर्कशास्त्र में कहा गया—सर्प को रस्सी मान लिया जाता है और रस्सी को सर्प मान लिया जाता है। जैन दर्शन की दृष्टि में यह दृष्टि का विपर्यास है।

यह मूर्च्छा दर्शन के मिथ्यात्व को पैदा कर रही है, दृष्टि को विपरीत बना रही है। समस्या यह है—जितने दुःख को पैदा करने वाले घटक हैं, दुःख को बढ़ाने वाले तत्त्व हैं, वे व्यक्ति को प्रिय लगते हैं, अच्छे और लुभावने लगते हैं। इस स्थिति में दुःख कम होंगे, यह सम्भव नहीं लगता। भगवान महावीर ने कहा—यदि दुःख को मिटाना चाहते हो तो दृष्टिकोण को सम्यक् बनाओ। जब तक दृष्टि मूढ़ बनी हुई है मूर्च्छित और ग्रस्त है तब तक दुःख को मिटाने की बात सफल नहीं हो सकती।

दुःख मुक्ति का अमोघ सूत्र

दुनिया के लोगों ने, समाज और राजनीति के लोगों ने पदार्थ, अन्न आदि-आदि बाह्य पदार्थों के द्वारा दुःखों को मिटाने का प्रयत्न किया है, कर रहे हैं किन्तु दुःखों का जो समुद्र भीतर भरा पड़ा है, उसे वे कैसे मिटा पाएंगे? उस दुःख के समुद्र को पार करने का उपाय धर्म के क्षेत्र में उद्घाटित हुआ है। धर्म के आचार्यों ने सारे तत्त्वों को समग्रता से पकड़ा। उन्होंने कहा—‘जब तक तुम मोह को नहीं मिटाओगे तब तक दुःख नहीं मिटेगा।’ जब मोह मिटेगा, दुःख मिट जाएगा। समग्र दुःख को मिटाने का उपाय है—अमूढ़ अवस्था, मोह-विलय। मोह-त्याग से ही दुःख के मूल को विनष्ट किया जा सकता है। उससे सर्वथा मुक्ति का दूसरा कोई उपाय नहीं है। जिसका मोह मिट गया, उसका दुःख मिट गया। मोह-विलय दुःख मुक्ति का अमोघ सूत्र है। जो व्यक्ति दुःख को मिटाना चाहता है, उसे मोह-त्याग के पथ पर अग्रसर होना ही होगा। ऐसा करके ही व्यक्ति दुःख की परम्परा को समाप्त कर सकता है।

क्या कुंजी पास में है?

शब्दकोश के दो शब्द—शक्य और अशक्य जीवन से जुड़ गए हैं। मैं क्या कर सकता हूँ और क्या नहीं कर सकता—इन दो शब्दों के बीच जीवन की सारी यात्रा चलती है। आदमी चुनाव करता है—मैं यह काम कर सकता हूँ और मैं यह काम नहीं कर सकता। वह सोचता है—मैं चल सकता हूँ पर उड़ नहीं सकता। मैं बोल सकता हूँ पर मौन नहीं रह सकता। मैं खा सकता हूँ पर उपवास नहीं कर सकता। शक्यता और अशक्यता—दोनों साथ-साथ चल रहे हैं। व्यक्ति का ज्यादा समय इस विकल्प में वीत जाता है कि क्या शक्य है और क्या अशक्य। किन्तु उसके लिए जो शक्य है, उसके विकास के लिए वह श्रम करता है या नहीं? यह प्रश्न मनुष्य के सामने सदा रहना चाहिए।

किं शक्यं किमशक्यं मे, विकल्पे मा श्रमं कुरु।

यच्छक्यं तद्विकासाय, किं करोस्युचितं श्रमम्?

विकास की कुंजी सफलता की कुंजी है। समुचित श्रम, विवेकपूर्ण श्रम विकास की कुंजी है। यह कुंजी हाथ नहीं लगती है तो बहुत कठिनाई पैदा हो जाती है।

अमेरिका की घटना है। कुछ लोग आफिस जाने के लिए आए। कार से नीचे उतरे। मुख्य दरवाजे पर पहुंचे। पता चला—लिफ्ट खराब है। यह देख सारे कर्मकर निराश हो गए। कुछ आदमी उसे ठीक कर रहे थे पर लिफ्ट ठीक नहीं हो पाई। कर्मकरों ने सोचा—कब तक ऐसे इंतजार करते रहेंगे? कोई रास्ता निकालो। एक व्यक्ति बोला—उपाय यह है—हम कहानियां कहते चलें। कहानियों में थकान का पता नहीं चलेगा और हम ऊपर तक पहुंच जाएंगे। यह सुझाव सबको पसंद आया।

कहानी में सचमुच सरसता होती है। उससे आदमी ऊपर तक भी चला जाता है और गहराई तक भी पहुंच जाता है।

एक संयोजक बन गया। व्यवस्था संपादित हो गई। कहानियों का दौर चल पड़ा। एक ओर कहानी चल रही थी दूसरी ओर सीढ़ियां चढ़ते जा रहे थे। दस मंजिल चढ़ गए। उसी समय दौड़ता हुआ चपरासी आया। उसने कहा—‘महाशय! मुझे एक बात कहनी है।’

संयोजक ने उसे डांट दिया—‘चुप रह! अभी तुम्हारा नंबर नहीं है।’

चपरासी मौन हो गया। लोग आगे बढ़े। तीसरी मंजिल पर पहुंच गए। चपरासी ने एक बार फिर अपनी बात कहने का प्रयत्न किया—‘महाशय! मैं कुछ कहना चाहता हूँ।’

संयोजक ने उसे फिर लताड़ा—‘तुम बीच में बाधा क्यों डालते हो? जब तुम्हारा नंबर आए तब अपनी बात कहना। अभी तुम्हारी बात नहीं सुनी जाएगी।’

संयोजक की डांट सुन चपरासी सहम कर मौन हो गया। चढ़ते-चढ़ते वे अड़चासवीं मंजिल पर पहुंच गए। सिर्फ दो मंजिल शेष रही। संयोजक ने कहा—‘अब तुम्हारा नंबर है। बोलो, कौनसी कहानी कहना चाहते हो।’

चपरासी ने कहा—‘महाशय! मुझे तो कोई कहानी नहीं कहनी है।’

‘तो फिर बार-बार बीच में क्यों बोल रहे थे।’

चपरासी ने विनम्रता से कहा—‘जिस आफिस में हमें जाना है, उसकी चाबी नीचे कार में ही रह गई है।’

आप कल्पना करें—पचासवीं मंजिल पर आफिस है, लिफ्ट खराब है। आप सीढ़िया चढ़ रहे हैं और अड़चासवीं मंजिल पर पता चलता है—चाबी कार में नीचे रह गई है। इस अवस्था में क्या बीतता होगा? कितना दुःख होता होगा? इसे या तो व्यक्ति स्वयं जानता है या भगवान!

जब चाबी हाथ में नहीं होती है तब सचमुच मुसीबत होती है।

पहला विकल्प है कुंजी या चाबी की उपलब्धि। दूसरा विकल्प है—व्यक्ति चाबी घुमाना जानता है या नहीं। ताला खोलना जानता है या नहीं। ताला खोलने के लिए श्रम करता है या नहीं। दुनिया में ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जो सब कुछ पास होते हुए भी आलसी बने रहते हैं।

कैसे हैं आलसी?

घुड़सवार जा रहा था। आम के पेड़ के नीचे दो व्यक्ति लेटे हुए थे। एक व्यक्ति ने कहा—‘अरे भाई! जरा इधर आओ। कुछ जरूरी काम है।’ घुड़सवार घोड़े से नीचे उतरा। उनके पास आकर बोला—‘बोलो, भाई! क्या काम है?’

‘भाई! काम यह है—‘यह पका हुआ आम पेड़ से सीधा मेरी छाती पर गिर गया है। तुम इसे उठाकर मेरे मुंह में निचोड़ दो, जिससे मेरी भूख और प्यास तृप्त हो जाए।’

घुड़सवार यह सुन अवाक रह गया। उसने कहा—‘मूर्ख! तुम इतने आलसी हो! तुम्हारे पास हाथ है, आम भी है। उठा लो और चूस लो। मैं यह नहीं कर सकता।’

यह सुनकर पास बैठा व्यक्ति बोल उठा—‘महाशय! यह इतना आलसी है कि पूछिए ही मत। रात की ही घटना है। हम दोनों सोए हुए थे। एक कुत्ता आया और मेरा मुंह चाटने लगा। मैंने इसे अनेक बार कहा—तुम इस मासूम कुत्ते को हटाओ पर इसने उसको बिल्कुल नहीं हटाया। तुम इसे क्या सीख दे रहे हो?’

घुड़सवार ने सोचा—दुनिया में न जाने कैसे लोग हैं। कुत्ता मुंह चाटे तो अपने आप हटाया नहीं जा सकता और आम का फल छाती पर गिर जाए तो अपने आप चूसा नहीं जा सकता।

मस्तिष्क के विकास का सूत्र

हमारे पास विकास करने की शक्ति है, शक्यता है। सबसे पहली बात है—हमारे पास मस्तिष्क है। दुनिया में इस मस्तिष्क से बड़ी कोई शक्ति नहीं है। दुनिया की सारी शक्तियाँ, सारे चमत्कार और जादू इस मस्तिष्क में हैं। न जाने कितने चमत्कारी करिश्मों इस दो-तीन पौण्ड के मस्तिष्क में समाए हुए हैं। हम विश्व के इतिहास को देखें। ऐसे लोग, जिनके मस्तिष्क को बिल्कुल निकम्मा माना गया, महान व्यक्तित्व प्रमाणित हुए हैं। अध्यापक ने आईन्सटीन से कहा—‘तुम कभी पहाड़े नहीं सीख सकते। तुम्हें गणित का ज्ञान कभी हो ही नहीं सकता।’ वही आईन्सटीन दुनिया का सबसे बड़ा गणितज्ञ बन गया। कितने लोगों के लिए कहा गया—‘तुम निकम्मे हो, कुछ नहीं कर सकते।’ वे ही लोग दुनिया के महान आदमी बन गए। अध्यापक ने महात्मा गांधी से कहा—‘तुम निरे बुद्धू हो। तुम कुछ जान ही नहीं सकते।’ वही गांधी दुनिया का विशिष्ट व्यक्ति बन गया।

प्रश्न है—वह कैसे बना? इसका उत्तर यही है—मस्तिष्क के विकास का सूत्र उपलब्ध हो गया। मस्तिष्क को प्रशिक्षित किया जा सकता है, उसकी शक्तियों को जागृत किया जा सकता है और वह सब किया जा सकता है, जो असंभव जैसा लगता है। वह सब तब संभव बनता है जब चाबी हाथ लग जाए, कोई चाबी देने वाला मिल जाए। हम जीवन के संदर्भ में देखें। आयुष्य को लंबाया जा सकता है। हिन्दुस्तान का औसत आयुमान कुछ वर्ष पहले तक कम था। आज उसमें वृद्धि हो गई है। विदेशों में आयुमान अधिक बढ़ गया है। आज के आदमी की औसत आयु बढ़ी है। पहले का आदमी बहुत जल्दी बूढ़ा हो जाता। पचास वर्ष का आदमी बहुत बूढ़ा लगने लग जाता। आज साठ-सत्तर वर्ष का आदमी भी बूढ़ा नहीं लगता। आयु का मान बढ़ा है और इसलिए बढ़ा है कि उसे बढ़ाया जा सकता है। दीर्घ जीवन कैसे हो सकता है, इसकी चाबियाँ हाथ लग गईं। मस्तिष्क की शक्ति के विकास की चाबियाँ हाथ लग गईं। शरीर के तापमान को भी नियंत्रित रखा जा सकता है। गर्मी का मौसम हो, लू चल रही हो, व्यक्ति कितनी गर्मी सह पाएगा? वह गर्मी पर भी नियंत्रण कर सकता है यदि चाबी हाथ लग जाए।

प्रेक्षाध्यान का शिविर चल रहा था। भयंकर गर्मी का मौसम। ध्यान का समय हुआ। शिविरार्थियों के लिए उस गर्मी में एक घण्टा ध्यान में बैठना भी समस्या बन गया। एक चाबी का प्रयोग किया, बाएं स्वर से श्वास लेने का ध्यान कराया गया। गर्मी का प्रकोप सता नहीं पाया।

प्रत्येक समस्या का समाधान है, गुर और रहस्य है। हम जान पाएं तो हमारे पास सब कुछ है और न जान पाएं तो हमारे लिए कुछ नहीं है।

हम जानने का प्रयत्न करें। पहली बात है जानना, मन को एकाग्र करना। मन को चंचल बनाता है राग, प्रियता का संवेदन। जब राग कम होता है, मन एकाग्र हो जाता है। राग को कैसे जीता जाए, मन की चंचलता कैसे मिटे? एक आदमी से कहा जाए—तुम अपना मन पांच मिनट के लिए दे दो।

क्या वह मन दे पाएगा? यदि उसे कहा जाए—लाख रुपये दे दो तो वह दे देगा पर अपना मन नहीं दे पाएगा।

बहुत कठिन है मन को देना

महान संत रैक्य जनक के पास आए। राजा जनक उनकी साथना से बहुत प्रभावित हुए। राजा जनक ने प्रार्थना की—‘महाराज! आपने जो ज्ञान दिया है, जो साथना बताई है, उससे मैं प्रभावित हुआ हूँ। मैं उसके बदले में पूरा राज्य आपको समर्पित करना चाहता हूँ।’

संत रैक्य ने कहा—‘जनक! मुझे राज्य से क्या मतलब है? मैं राज्य चलाना भी नहीं जानता। मुझे राज्य चाहिए भी नहीं। राज्य उस व्यक्ति को चाहिए जो राजसिक प्रकृति का है। मैंने रजोगुण और तमोगुण—दोनों पर विजय पा ली है। मैं सतोगुण विशेष साथना में लगा हुआ हूँ। मुझे राज्य की कोई आकांक्षा नहीं है।’

जनक ने निवेदन किया—‘महाराज! मैं दक्षिणा में कुछ देना चाहता हूँ।’

रैक्य बोले—‘जनक! यदि तुम कुछ देना ही चाहते हो तो राज्य देने का जो संकल्प है, वह मुझे दे दो।’

बहुत कठिन है मन को देना। पदार्थ को दिया जा सकता है पर मन को देना बड़ा मुश्किल है। आदमी मन को नहीं दे सकता। जब भूदान और अणुव्रत—दोनों के कार्यक्रम साथ-साथ चल रहे थे तब यह प्रश्न बहुत बार सामने आता—भूदान में इतनी भूमि प्राप्त हो रही है। स्थान-स्थान पर लोग जमीन का दान कर रहे हैं। अणुव्रत क्या दे रहा है? इस प्रश्न के संदर्भ में कहा गया—जो व्यक्ति सौ दो सौ एकड़ जमीन दान दे रहा है, उससे कहा जाए—तुम अपनी बुराइयों को छोड़ दो, भ्रष्टाचार को छोड़ दो, नशा मत करो। क्या वह कर पाएगा? उसका उत्तर होगा—यह नहीं हो सकता। सौ एकड़ जमीन लेना है तो ले लो। लाख रुपए चाहिए तो ले लो पर मैं मेरी आदतें नहीं छोड़ सकता।

बहुत कठिन है अपनी आदतों को त्यागना, अपने मन के संकल्प को देना। जो व्यक्ति अपने मन में संकल्प को देना सीख जाए, वह सब कुछ सीख सकता है।

आकाश-दर्शन

प्रेक्षाध्यान शिविर में एक प्रयोग कराया जाता है आकाश-दर्शन या छत-दर्शन का। भूमि को सब देखते हैं, नीचे सब देखते हैं। आप आकाश या छत को देखें, चाबी हाथ लग जाएगी। आपको लगेगा—मन चंचल कहां है? हम नीचे-नीचे देखेंगे तो मन भी नीचे-नीचे चलेगा। हम ऊपर देखना शुरू करें तो मन भी ऊपर चला जाएगा। जितना मन नीचे जाता है उतना ही चंचल बनता है। जितना ऊपर जाता है उतना ही शांत बनता है। जब-जब आदमी स्वार्थ में जीता है, नीचे चला जाता है उतना ही शांत बनता है। जब-जब आदमी परमार्थ में जीता है, ऊंचाई को छूने लग जाता है। गर्दन को थोड़ा ऊपर करके आकाश दर्शन करना, यदि दिन हो तो छत-दर्शन और रात हो तो नीले अंबर का दर्शन। मन की चंचलता पर एक अकुंश और लगाम लग जाएगी।

राग को जीतने की चाबियां बहुत हैं पर समस्या है—आदमी को राग चाहिए, विराग नहीं। उसे संसार की यात्रा करनी है, जीवन चलाना है इसलिए उसे राग बहुत प्रिय है। यदि प्रतिदिन विराग की बात आने लग जाए तो आदमी उकता जाए। वह कहेगा—यह क्या धंधा है? टी.वी. पर प्रतिदिन रागात्मक दृश्य दिखाए जाते हैं। कोई नहीं कहेगा—यह क्या धंधा है? प्रत्येक बच्चा जानता है टी.वी. प्रोग्राम्स के बारे में। वह उसे प्रिय लगता है क्योंकि वह राग से बंधा हुआ है। जिसमें राग प्रबल है, उसे विराग की बात अच्छी नहीं लगती। वैराग्य की बात अच्छी नहीं लगे तो आश्चर्य भी नहीं होना चाहिए। यह स्वाभाविक बात है पर उस राग पर भी नियंत्रण किया जा सकता है। उसकी पहली चाबी है—ऊर्ध्व दर्शन।

हम ऊर्ध्व दर्शन—परम दर्शन करें। उसके लिए एक वातावरण भी बनाएं। वह वातावरण तब बन सकता है जब मीन करें, कम खाएं। न खाएं, यह संभव नहीं है, पर कम खाएं, यह अवश्य संभव है। हम कम खाने की आदत डालें। यह भी एक चाबी है। जिस व्यक्ति ने कम खाना सीख लिया, ऊनोदरी करना सीख लिया, उसने जीवन की बहुत समस्याओं से मुक्ति का सूत्र सीख लिया। जिसे रोगों को निमंत्रण देना है, जल्दी बुढ़ापा लाना है, अकाल मौत से मरना है, उसे खूब डटकर खाना चाहिए। ज्यादा खाना, ज्यादा मात्रा में खाना, बार-बार खाना स्वास्थ्य के साथ खिलवाड़ करना है, मन के साथ खिलवाड़ करना है, राग को प्रोत्साहन देना है। कम खाना, ऊनोदरी करना राग को कमजोर बनाने वाली कुंजी है।

चाबी है इन्द्रिय-निग्रह

राग को कम करने की एक चाबी है—दमितेन्द्रिय होना। आजकल लोग दमन शब्द से बहुत घबराते हैं। इस पर बहुत आक्षेप और प्रहार किए गए—दमन नहीं करना चाहिए। वस्तुतः दमन का अर्थ कोई बुरा नहीं है। उसका अर्थ है निग्रह करना। इन्द्रियों का निग्रह जरूरी है राग को जीतने के लिए। वह तभी संभव है जब इन्द्रियों पर अंकुश और नियंत्रण हो। अगर हाथी पर चढ़ना है तो अंकुश के बिना काम नहीं चलेगा। अगर घोड़े पर चढ़ना है तो लगाम के बिना काम नहीं चलेगा। यदि मोटर या कार पर चढ़ना है तो ब्रेक के बिना काम नहीं चलेगा। यदि ब्रेक फेल हो जाए तो कैसी स्थिति बनती है? एक भाई ने बताया—कार चल रही थी। अचानक ब्रेक फेल हो गया। कार पर नियंत्रण नहीं रहा। यात्री घबराए। कार पास ही एक गड्ढे में जा गिरी। अनेक व्यक्तियों के चोटें लगीं, अस्पताल में भर्ती होना पड़ा। मोटर के लिए ब्रेक जरूरी है। हाथी के लिए अंकुश और घोड़े के लिए लगाम जरूरी है। क्या जीवन में नियंत्रण जरूरी नहीं है। क्या इन्द्रियों का निग्रह करना जरूरी नहीं है? जिस व्यक्ति ने इस सचाई को नहीं समझा वह कभी सफल नहीं हो सकता। जीवन की सफलता के लिए हम इन्द्रियों पर ब्रेक लगाएं, उन्हें खुला न छोड़ें। यह नहीं कि उनसे काम न लें पर जहां जरूरी हो वहां ब्रेक भी लगाएं।

मूल्यवान है मानव जीवन

हम आत्मनिरीक्षण और आत्मालोचन करें—ये चाबियां हमारे पास हैं या नहीं? सफल एवं स्वस्थ जीवन जीने के लिए हम अपनी मस्तिष्कीय शक्तियों को बढ़ाना चाहते हैं या नहीं? हम अपनी ज्ञानशक्ति और कर्मशक्ति को बढ़ाना चाहते हैं या नहीं? हम अपने भावों और अभिवृत्तियों को विधायक बनाना चाहते हैं या नहीं? प्रत्येक व्यक्ति इन सब तत्त्वों का विकास चाहता है। वह चाहता है—राग-विजय की साधना चले, सफलता के शिखर छुएं, ज्ञानशक्ति और कर्मशक्ति विकसित हो। मस्तिष्कीय क्षमता जागृत हो। भाव पवित्र रहे—शिवसंकल्पमस्तु मे मनः—मन शिव संकल्प बने। यह चाह तब पूरी होती है जब शक्ति-विकास की चाबियां मिल जाए। यदि चाबी नहीं मिली, उसे नहीं धुमाया गया, ताला नहीं खोला तो मान लेना चाहिए—हमने अपने जीवन का अर्थ नहीं समझा, मानवीय जीवन का मूल्य नहीं आंका।

कितना मूल्यवान है मानव जीवन! जो इसका मूल्यांकन नहीं करता, वह ऐसे ही रह जाता है। जो शक्तियां जागृत हैं, उनका उपयोग करना है। जो जागृत नहीं हैं, उन्हें जगाने का प्रयत्न करना है। हम संतोष न मानें। अपनी शक्ति के जागरण के लिए और दूसरों के प्रति सौहार्दभाव प्रकट करने के लिए सदा प्रयत्नशील रहें।

एक महिला को अंधे-बहरे बच्चों को सहयोग देने का शौक था। एक दिन नगर में सर्कस चल रहा था। वह बच्चों को सर्कस दिखाने के लिए ले गई। सर्कस पूरा हो गया। महिला ने पूछा—'बच्चों! तुम्हें सर्कस देखने में आनन्द आया?' एक अंधा लड़का बोला—'माताजी! मुझे बहुत आनन्द आया पर इस बात का दुःख है कि मेरे बहरे भाई न हाथी की चिंघाड़ सुन सके, न शेरों की दहाड़ सुन सके और न बैड-बाजों के गीत सुन सके!'

मैं नहीं देख सका, इसका दुःख नहीं है किन्तु ये नहीं सुन सके, इसका दुःख है—यह स्वर तभी फूटता है, जब प्रमोदभाव का विकास होता है। दूसरों के विकास की ओर ध्यान देना, दूसरों की कठिनाइयों को महसूस करना, यह वृत्ति तब जागती है जब आदमी स्वार्थी नहीं रहता। उसके साथ उसका अपना विकास भी होता चला जाता है। व्यक्ति के मन में एक भावना रहती है—जो मिला है, वह दूसरों को बांटे। दूसरों को भी दे, दूसरों को भी जगाए, महान और विकासशील बनाए। कोई छोटा न रहे, बौना और टिगना न रहे। सब पूरी ऊंचाई और लंबाई को छुएं। यह उदात्तवृत्ति है। यह वृत्ति सबमें जागे, हम चाबियां खोजें, उन्हें धुमाएं, ताला खोलें, दरवाजा खोलें और भीतर वहां पहुंच जाएं जहां पहुंचने के बाद कोई कामना शेष नहीं रहती। यही राग-विजय का सूत्र है। यही विकास और सफलता की कुंजी है।

त्याग है दुःख से बचने के लिए

जीने की कला क्या है? यह प्रश्न अनेक बार उभरता है। हमने उदयपुर में देवीलालजी सांभर द्वारा संस्थापित 'लोक कलामण्डल' को देखा। एक कलाकार सिर पर दस-बारह घड़े रखकर नृत्य करता। वे घड़े मकान की छत छूते प्रतीत होते थे। वह कभी स्टेज पर नाचता और कभी नृत्य करता हुआ धरती पर उतर जाता। वे घड़े उसके सिर पर लंबी कतार जैसे बने रहते। एक भी घड़ा इधर से उधर नहीं होता। उस नृत्य को देख लोग मंत्रमुग्ध हो जाते। क्या हम इसे जीने की कला मानें?

आचार्य श्री तुलसी का संवत् १६६३ में बीकानेर चातुर्मास था। महाराज गंगासिंह जी की गोल्डन जुबली मनाई जा रही थी। उस समय एक कलाकार ने अद्भुत नृत्य किया। पट्ट के बराबर सरसों का एक ढेर कर दिया। कलाकार पट्ट पर नाचते-नाचते सरसों के ढेर पर नाचने लगा। सरसों वैसी की वैसी बनी रहीं कितनी अद्भुत है यह कला! क्या यह है जीने की कला?

कोशा भारत की प्रसिद्ध नृत्यांगना थी। एक दिन कुशल धनुर्धर सुकेतु आया। वह कोशा को अपनी प्रेयसी बनाना चाहता था। सुकेतु ने कहा—'देवी! आप मेरी कला देखें!' कोशा ने कहा—'कैसी है आपकी कला?' सुकेतु ने धनुष हाथ में लिए और आम की शाखा को लक्ष्य कर बाण छोड़ा। उस बाण की सीध में जीतने पत्ते और आम थे, वे सीधे धरती पर आ गिरे। सुकेतु ने कोशा की ओर देखते हुए कहा—'देवी! कुशल कलाकार वह होता है, जो एक बाण चलाता है और नीचे से ऊपर तक पूरे लक्ष्य को भेद देता है।'

कोशा ने कहा—'यह कैसी कला है? मैं आपको दूसरी कला दिखाती हूँ उसने दासी को रंगमंच सजाने का निर्देश दिया। कोशा रंगमंच पर पहुंची। सुकेतु भी वहीं था। सामने मंच पर सरसों का ढेर और उसके बीच में सीधे मुंह खड़ी थी लोहे की सुइयां। कोशा सधे कदमों से नृत्य करते हुए उस सरसों के ढेर पर नाचने लगी। सरसों के ढेर में कोई कंपन नहीं। कितना सधा हुआ दृश्य। थोड़ा-सा भी चूक जाए तो लोहे की सूई पैर को वींध डाले। धनुर्धर उसकी कला-साधना देखकर अवाक रह गया। उसने उल्लास भरे स्वर में कहा—'देवी! धन्य है आपकी कला-साधना को! मेरी कला उसके सामने कुछ नहीं है।'

'सुकेतु! एक बाण से आम के गुच्छे को तोड़ लेना या सरसों पर नाच लेना कोई बड़ी कला नहीं है।'

'आप किसे कला मानती हैं?'

‘कोशा की चित्रशाला में रहना, जो कामशास्त्र के चित्रों से भरी है, षड्रस युक्त भोजन करना और सामने कोशा जैसी नृत्यांगना का निरन्तर प्रणय निवेदन सुनना! इतना होने पर भी निर्लिप्त रहना। यह सबसे बड़ी कला है। आर्य स्थूलभद्र इस चित्रशाला में रहे, षड्रस युक्त भोजन किया, फिर भी मेरे प्रणय निवेदन से उनका मन विचलित नहीं हुआ। यह है साधना, यह है कला। कमलपत्र की निर्लेपता

उत्तराध्ययन सूत्र का एक महत्त्वपूर्ण पद्य है—रस से विरक्त मनुष्य शोकमुक्त बन जाता है—जैसे कमलिनी का पत्र जल में लिप्त नहीं होता वैसे ही वह संसार में रहकर अनेक दुःखों की परंपराओं से लिप्त नहीं होता—

रसे विरक्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोहपरंपरेण।
न लिप्पई भवमज्जे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणीपलासं।।

बहुत सारे लोग पढ़ते हैं। उनका ज्ञान काफी बढ़ जाता है, जानकारीयां बढ़ जाती हैं। हिमालय की ही नहीं, मेरु पर्वत तक की जानकारी हो जाती है। नीम, खेजड़े के वृक्ष की ही नहीं, कल्पवृक्ष की भी जानकारी हो जाती है। हीरे-पन्ने की नहीं, चिन्तामणि रत्न की भी जानकारी हो जाती है। दृश्य और अदृश्य—अनेक तत्त्व जान लिए जाते हैं। जानकारी के साथ-साथ अहंकार भी उतना ही बढ़ जाता है। क्या यह संभव है—ज्ञान हो और अहंकार न हो? ऐसे अनेक प्रश्न हैं—समूह हो और कोलाहल न हो? पानी आए और साथ में मिट्टी न आए? हवा आए और रेत न आए? अच्छी बात सुनें और नींद न आए? यदि ये सब असंभव हैं तो चर्चा व्यर्थ है। यदि संभव है तो कैसे हैं? वस्तुतः कला यही है—हजारों लोग इकट्ठे हों और कोलाहल न हो। धर्म की बात सुनें और नींद न आए, हवा-पानी आए और रेत न आए। यह संभव है और इसका नाम है कला। मनुष्य बुद्धिमान प्राणी है, उसने इस कला को सीखा है, बहुत उपाय खोजें हैं। मनुष्य ने चलनी इसीलिए बनाई कि पानी छन जाए और न जाने की चीज ऊपर रह जाए। लोग कुण्ड या हौज बनाते हैं। उसमें पानी जाने के लिए नाला रखते हैं। उस नाले से केवल पानी ही जाए, इसके लिए जाली लगा देते हैं। जाली से छनकर पानी चला जाता है और दूसरे तत्त्व बाहर ही रह जाते हैं। इसका नाम है विवेक।

हंस-विवेक

आदमी ने पृथक्करण करना सीखा है। यदि एक शब्द में कहा जाए तो सबसे बड़ी कला है विवेक, विवेचन की शक्ति, छानने की शक्ति। प्रसिद्ध शब्द है हंस-विवेक। हंस में विवेक होता है। उसकी चोंच में अम्लता होती है। दूध में चोंच डालते ही पानी अलग हो जाता है और दूध अलग।

दूध को नींबू का सत्त्व डालकर फाड़ा जाता है। छन्ना अलग हो जाता है और पानी अलग। यह हमारा विवेक ही है कि सारे विषयों के बीच, कलह और कोलाहल के बीच, झगड़े और समस्याओं के बीच रहते हुए भी हम उनसे दूर रह सकते हैं। हम एकांत में कहीं जा नहीं सकते। वस्तुतः एकांत कहीं है ही नहीं। कहा जाता था—हिमालय पर चले जाओ, एकांतवास हो जाएगा। आज

हिमालय में भी एकांत कहां रहा। क्या वहां अणुधूली नहीं पहुंची है? गंगा का पानी दूषित हो गया, हिमालय भी दूषित हो गया, आकाश और पृथ्वी—सब कुछ दूषित बनते जा रहे हैं। इस स्थिति में पलायन करने की बात नहीं सोचनी है। हम जीवन की कला को सीखें और वह कला है विवेक। हम ऐसी शक्ति जगाएं, जो विवेचन कर सके, छान सके। कोई भी चीज सीधी न जाए, छन-छन कर जाए, विशुद्ध रूप में न जाए। जब सब कुछ भीतर चला जाता है तब समस्या पैदा हो जाती है और उसे दूर करने के लिए विश्लेषण तत्त्व का उपयोग करना होता है। जहां गांवों में कच्चे कुओं का पानी आता है वहां पानी के साथ रेत घुलमिल जाती है। पानी छानने के बावजूद पानी गंदला और धुंधला रह जाता है। उस धुंधलेपन को मिटाने के लिए पानी में फिटकरी का प्रयोग किया जाता है। फिटकरी के प्रयोग से रेत नीचे जम जाती है और पानी नितर कर साफ हो जाता है, पीने योग्य बन जाता है।

मनुष्य ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विवेक का प्रयोग करना सीखा है। जो कुछ आता है, उसे पूरा नहीं लेता। मनुष्य फल लाता है पर उसके छिलके को फेंक देता है। हालांकि आजकल यह विचार भी बन रहा है—छिलका भी नहीं डालना चाहिए। छिलका खाना कई दृष्टियों से उपयोगी है। मंत्री मुनि मगनलालजी कहा करते थे—‘थली प्रांत की बहिने करेले के बीज को निकाल कर फेंक देती हैं। वे यह नहीं जानती कि करेले का बीज स्वास्थ्य के लिए बहुत अच्छा होता है।’ यह सचाई है, पर इससे जुड़ी सचाई यह भी है—कुछ तत्त्व ऐसे होते हैं, जिन्हें डालना और फेंकना होता है। यह फेंकने और छोड़ने की बात विवेक चेतना से प्राप्त होती है। यदि यह विवेक नहीं होता तो आदमी जी नहीं पाता। केवल मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी भी विवेक करते हैं। गाय और भैंस जंगल में चरने के लिए जाती हैं। क्या वे सब कुछ खाती हैं? वे विवेक से खाती हैं—खाने की चीज खाती हैं, न खाने की चीज की ओर मुंह भी नहीं करती। प्रत्येक पशु प्रत्येक वस्तु नहीं खाता। ऊंट का खाना अलग है, गाय और भैंस का खाना अलग है। बकरी के लिए कहा जाए है कि वह सब कुछ खा जाती है। कुछ हाथ न लगे तो कांटे की बाड़ भी खा जाती है।

आचार्यश्री का लाड़नू चतुर्मास था। हम बाहर से घूमकर आ रहे थे। संध्या का समय था। हमने देखा—बकरियां बाड़ों पर चढ़कर सूखे कांटे चबा रही थीं। यह देखकर सहसा मन में एक प्रश्न उभर आया। चरवाहे से पूछा—‘अरे भाई! अभी बरसात का मौसम है। खाने को हरा घास बहुत है। ये बकरियां बाड़ के कांटे क्यों चबा रही हैं?’ चरवाहे ने घड़ाघड़ाया उत्तर दिया—‘महाराज! आदमी मिठाई खाने के बाद भुजिया खाता है, पापड़ खाता है। ये जंगल में इतना मीठा घास चर कर आई हैं। अब मुंह साफ करना है, भुजिया या पापड़ खाना है तो ये कांटे ही खाएंगी।’

दो मार्ग

प्रत्येक व्यक्ति में विवेक है। मनुष्य में विवेक का विकास हुआ है इसलिए वह विवेक का उपयोग करना जानता है। दो मार्ग उसके सामने हैं—संसार का मार्ग और मोक्ष का मार्ग। भोग भोगो, पांच इन्द्रियों के भोग का आसेवन करो—यह है संसार का पथ। भोग को त्यागो, इन्द्रिय-विषय का निग्रह करो—यह है मोक्ष का पथ। दो छोर बन गए—एक भोग का और दूसरा त्याग का। इन दोनों के बीच खड़ा मनुष्य क्या करे? भोग करे या त्याग? दो किनारों के बीच पानी का प्रवाह चलता है। हम किनारों को पकड़ें या बीच में बह रहे पानी को? यदि इन्द्रियों से काम न लें तो जीवन की यात्रा नहीं चलेगी। जब-जब व्यक्ति आंख से अच्छा रूप देखता है, कान से अच्छा शब्द सुनता है, जीभ से अच्छी चीज चखता है, नाक से अच्छी सुगंध लेता है तब-तब उसे सुख मिलता है। इस दृष्टि से विचार करें तो लौकिक मार्ग, संसार का मार्ग अच्छा लगता है।

एक प्रश्न आता है—धार्मिक लोगों की यह क्या समझदारी है? आदमी सुख भोग रहा है, उसे छोड़ना क्या समझदारी है? परोसी हुई धाती को ठुकरा कर आगे की आस करना कौनसी समझदारी है? पांचों इन्द्रियों के भोग भोगने में आदमी को सुख मिलता है। उस स्थिति में अलौकिक मार्ग/मोक्ष मार्ग कहता है—इनको छोड़ो, त्याग करो, क्या यह सुख छोड़ने की बात नहीं है? क्या यह अस्वाभाविक बात नहीं है? किसी ने गाली दी, गुस्सा आया, उस समय धर्म कहता है—तुम क्षमा करो। गुस्सा करना स्वाभाविक बात है, सारी दुनिया कर रही है। धर्म के लोग जो कह रहे हैं, वह अस्वाभाविक बात है, अलौकिक बात है। क्या सुखों को छोड़ने की बात सही है? इस प्रश्न को भारतीय और पाश्चात्य चिन्तकों ने भी उभारा—इस त्याग की बात ने जीवन को निराशावादी और पलायनवादी बना दिया है? एक छोटे लड़के को साधु बना देते हैं। उसने क्या देखा, क्या भोगा? बेचारे के सुख को छीन लिया।

क्या धार्मिक लोगों का कर्तव्य यही है कि वे लोगों को सुख से वंचित करते चले जाएं?

अपातभद्र : परिणामविरस

गर्मी का मौसम है। एक युवक से कहा जाए— 'भाई! ठण्डा पेय पीओ, आईसक्रीम खाओ, वातानुकूलित मकान में रहो, कार में एयर कंडीशनर लगा लो, बादाम का सरबत पीओ, जिससे दिमाग तर रहे, शरीर बिल्कुल स्वस्थ रहे।' यह बात युवक को प्रिय लगती है। यदि उसे कहा जाए—तुम उपवास करो, ज्यादा ठण्डी चीजें मत खाओ। वातानुकूलन में रहोगे तो तुम्हारी सहिष्णुता नष्ट होती चली जाएगी। यह बात उसे अच्छी नहीं लगेगी। एक उसे सुख देने वाली बात है और दूसरी उसे कठिनाई में डालने वाली बात है। पहली बात अच्छी लगती है, सीधी गले उतर जाती है, दूसरी बात गले में अटक जाती है।

साधु-संत लोगों को त्याग की प्रेरणा देते हैं। क्या वे सचमुच दुःख की ओर ले जा रहे हैं? इस बिन्दु पर हम सोचें, तो यह प्रश्न समाहित होगा। बहुत बार ऐसा होता है—लगता है कि अमुक बात दुःख की ओर ले जा रही है और

निष्कर्ष यह आता है—सुख की ओर ले जा रही है। ऐसा लगता है—यह मार्ग सुख की ओर ले जा रहा है। किन्तु निष्कर्ष यह आता है—वह दुःख की ओर ले जा रहा है। मां छोटे बच्चे को स्नान कराती है। उसे स्नान कराना बड़ा मुश्किल होता है। बच्चा रोने-धिल्लाने लग जाता है। वह सोचता है—मां मुझे कितना कष्ट दे रही है! माता-पिता बच्चे को स्कूल भेजते हैं। बच्चे को प्रारम्भ में कितना कठिन लगता है। वह सोचता है—स्कूल में क्या जाना है मानो नरक में ही जाना है।

पुत्र ने कहा—‘मां! मैं स्कूल नहीं जाऊंगा।’

‘क्यों? क्या तुम्हारे पास पेंसिल नहीं है?’

‘पेंसिल तो है।’

‘कापी और पुस्तक नहीं है?’

‘वे भी हैं।’

‘तो क्या नहीं है?’

‘मां! सब कुछ है पर मैं स्कूल जाना नहीं चाहता, मुझे वहां जाना अच्छा नहीं लगता।’

बहुत सारे काम ऐसे हैं, जो आपातकाल में बड़े सुख देने वाले लगते हैं पर परिणामकाल में वैसे नहीं होते। बहुत सारे काम ऐसे होते हैं, जो आपातकाल में बहुत दुःखद लगते हैं पर परिणामकाल में सुखद होते हैं। धार्मिक लोगों ने यह विवेक किया, इस सचाई को पकड़ा और काल को दो भागों में बांट दिया—आपातकाल और परिणामकाल। प्रवृत्ति के दो प्रकार बन गए—आपातभद्र और परिणामभद्र। आपातभद्र वह होता है, जो पहले बहुत अच्छा लगता है किन्तु उसका परिणाम अच्छा नहीं होता। परिणामभद्र वह होता है, जो पहले ज्यादा अच्छा नहीं लगता किन्तु उसका परिणाम बहुत सुखद होता है। हम इस सचाई को एक सामान्य घटना से समझें। एक छोटा बच्चा अपनी मां के साथ दर्शन करने आया। बच्चे के हाथ में एक रुपये का नोट था। मैंने पूछा—‘इसका क्या करोगे?’

बच्चा बोला—‘चुटकी खरीदूंगा, मीठी सुपारी खरीदूंगा।’

‘क्यों खरीदोगे?’

‘मुझे वह बहुत अच्छी लगती है।’

मैंने उसकी मां से पूछा—‘क्या तुम उसे चुटकी, गुटका आदि खिलाती हो?’

मां बोली—‘महाराज! हम घर पर इसे कभी नहीं खिलाते। आज किसी लड़के ने इसे दे दी। अब यह उस चुटकी की जिद्द पकड़े हुए है।’

जर्दा, पान-पराग, पान मसाला, चॉकलेट और टॉफियां—ये सब चीजें खाने में अच्छी लगती हैं पर इनका परिणाम क्या हैं? जो मां अपने बच्चों को ऐसी आदतों से नहीं बचाती, क्या वह अपने बच्चे का नुकसान नहीं करती? जो बच्चा इन चीजों को ज्यादा खाएगा, उसका पांचन-तंत्र और तीवर खराब हो जाएगा, दांत खराब हो जाएंगे। आंत खराब होने का अर्थ है अनेक बीमारियों

को निमंत्रण। आंत की खराबी बीमारी की जड़ है। पंद्रह बीस वर्ष की उम्र में ही अनेक बच्चों के दांत खराब हो जाते हैं, उन्हें निकलवाने के अलावा कोई विकल्प नहीं रहता। हम सोचें—दांत किसने खराब किए? आंते किसने खराब की? यदि माता-पिता प्रारंभ से ध्यान रखते, बच्चों को टोफियां, गुटका आदि छुड़ाते, उनमें त्याग के संस्कार भरते तो शायद यह स्थिति नहीं बनती।

चोर क्यों बना?

इंग्लैण्ड में एक व्यक्ति को फांसी की सजा हो गई। अपराध था चोरी का। यह एक सामान्य नियम है—फांसी देने से पूर्व चोर की अंतिम इच्छा पूरी की जाती है। चोर ने कहा—‘मैं अपनी मां से मिलना चाहता हूं।’ मां को बुलाया गया। चोर मां की ओर झुका और उसकी नाक को चबा डाला। मां चीख उठी। लोगों ने बेटे के चंगुल से मां को छुड़ाया। चोर को डांटते हुए लोग बोले—‘मूर्ख! क्या किया?’ कम से कम मां के साथ तो ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिए। चोर ने कहा—‘महाशय! आप नहीं जानते। यह फांसी आप नहीं दे रहे हैं, मेरी मां के कारण मिल रही है।’ लोग यह सुनकर अवाक रह गए। उन्होंने विस्मय से पूछा—‘यह कैसे कह रहे हो तुम?’ चोर ने कहा—‘जब मैं छोटा बच्चा था, स्कूल में पढ़ता था तब दो बड़िया पेंसिलें चुरा कर लाया। मैंने मां को दिखाई।’ मां ने मेरी पीठ थपथपाते हुए शाबासी दी। मेरा साहस बढ़ा। मैं चोरी करता रहा, मां शाबासी और प्रोत्साहन देती रही। उसका यह परिणाम आया कि मुझे फांसी के फंदे पर लटकना पड़ रहा है। यदि मां मुझे पहले दिन टोक देती, रोक देती और कहती—बेटा! तुमने यह अच्छा काम नहीं किया, मेरे दूध को लजाया है तो मैं कभी चोर नहीं बनता, मुझे ऐसी मौत नहीं मरना पड़ता।’

क्षण का सुख : वर्षों का दुःख

दुनिया भोगों को प्रोत्साहित करती है, समर्थन देती है किन्तु जब भोगों का परिणाम भुगतना पड़ता है तब वह किसे अच्छा लगता है? उस समय भोग की प्रेरणा देने वाला अच्छा लगेगा या त्याग की प्रेरणा देने वाला। इस बिन्दु पर यह चिन्तन उभरता है—धर्म का मार्ग एक अलौकिक मार्ग है, त्याग का पथ है। यह पहले अच्छा न भी लगे पर परिणाम में बहुत अच्छा लगता है। इस तथ्य के संदर्भ में यह सच है—जो केवल भोग की बात को लेकर चलता है या चलाता है वह दुःख की ओर ले जाता है। उस मार्ग में थोड़ा सुख है और बहुत दुःख। इस सचाई का प्रत्येक व्यक्ति अनुभव कर सकता है।

एक आदमी कुछ दिनों के अंतराल से दर्शन करने आया। मैंने पूछा—‘भाई! क्या बात है?’

उसने कहा—‘महाराज! मैं कुछ अस्वस्थ हो गया था।’ मेरे आम की बीमारी रहती है, पेट ठीक नहीं रहता है। एक दिन कुछ ज्यादा खा लिया इसलिए यह बीमारी उग्र बन गई।

‘तुमने ज्यादा क्यों खाया?’

महाराज! क्या करें? हम सामाजिक प्राणी हैं, हमें मनुहार माननी पड़ती है और जब मनभावन चीज सामने आ जाती है जब रहा भी नहीं जाता। उस समय खाना ही अच्छा लगता है।

यह वर्तमान क्षण का सुख कितना दुःख देता है। हम यह सोचे—धार्मिक व्यक्ति कुछ छुड़ा रहा है, त्याग करा रहा है, वह गलत रास्ते पर नहीं ले जा रहा है। वह दुःखों की ओर नहीं ले जा रहा है किन्तु महान दुःख से बचा रहा है। वह यह सचाई बता रहा है—थोड़े से सुख के लिए ढेर सारे दुःखों को मत बुलाओ। यह त्याग का मार्ग दुःख से बचने का मार्ग है। धर्म के लोगों ने यह नया रास्ता खोजा था—आदमी को दुःख से बचाया जाए। धर्म यह नहीं कहता—सब कुछ त्याग दो, सब कुछ छोड़ दो। वह यह कहता है—तुम इन सबके बीच रहते हुए भी भोगों में लिप्त न बनो। कमल की तरह इतने अलिप्त रहो कि लेप न लगे, आसक्ति न बढ़े। यदि व्यक्ति इतना समझ लेता है तो वह जीने की कला को समझ लेता है।

भोग का परिणाम

हम उत्तराध्ययन का बत्तीसवां अध्ययन पढ़ें। उसमें इस विषय को अत्यन्त गहराई और सूक्ष्मता से छुआ गया है। हम भोजन का ही उदाहरण लें। व्यक्ति ने किसी चीज को खाया। खाने में कोई विशेष बात नहीं है। जीवन निर्वाह के लिए भी खाना आवश्यक है पर जिस चीज को खाया, उसके साथ एक आसक्ति बन गई। आसक्ति एक बंधन है। उसकी पूर्ति के लिए हिंसा करनी पड़ती है। हिंसा के द्वारा उस चीज का उत्पादन करना पड़ता है, रक्षण, संग्रह और व्यापार करना पड़ता है। उसका वियोग न हो, इसकी चिन्ता बनी रहती है और उसके उपभोग काल में भी तृप्ति नहीं मिलती। इसलिए उसमें सुख कहाँ है—

फासापुवाएण परिग्गहेण, उप्पायणे रक्खणसन्निओगे।

वए विओगे य कहिं सुहं से?, संभोगकाले य अतित्थिलाभे।।

क्या व्यक्ति खाकर तृप्त होता है? आदमी कहता है—मैं तृप्त हो गया पर दो-तीन घंटा बीतने के बाद भूख फिर सताने लग जाती है। अमीर हो या गरीब, कोई भी तृप्त नहीं होता। व्यक्ति सुबह नाश्ता करता है, तृप्त हो जाता है। दोपहर का समय आता है, फिर अतृप्ति उभर आती है। आग कभी तृप्त नहीं होती। उसमें कितना ही ईंधन डाले, वह तृप्त नहीं होगी। आदमी भी कभी तृप्त होता ही नहीं है। चंदा देने वाले लोग इस सचाई को जानते हैं।

कुछ लोग चन्दा मांगने के लिए सेठ साहब के घर आए। सेठ से प्रार्थना की—‘आप कुछ चंदा दें अकाल राहत कार्यों के लिए।’ सेठ बोला—‘भाई साहब! क्या आपने आज का समाचार-पत्र नहीं पढ़ा उसमें भारी वर्षा की घोषणा की गई है?’

‘सेठजी! अकाल राहत के लिए नहीं तो बाढ़ राहत के लिए चन्दा दें, बाढ़-पीड़ितों के लिए चंदा दें। अकाल मिटते ही बाढ़ तैयार है।’

मनुष्य कभी तृप्त नहीं होता। समुद्र कभी तृप्त नहीं होता, चाहे उसमें कितनी ही नदियां गिर जाएं। भोग का एक परिणाम है अतृप्ति। यदि किसी चीज की आदत पड़ गई और वह आसानी से नहीं मिलती है तो व्यक्ति उसे चुराने लग जाता है। यह अतृप्ति चोरी की आदत पैदा करती है। जो चोरी करेगा, उसे झूठ बोलना पड़ेगा। वह माया-मृषा का प्रयोग करेगा। झूठ को छिपाने के लिए माया को रचना पड़ेगा। उत्तराध्ययन में भोग के इस परिणाम का मार्मिक चित्रण है—मनुष्य इतना कुछ करने पर भी दुःख से मुक्त नहीं होता—

फासे अतित्ते य परिग्गहे य, सत्तोवसत्तो न उवेइ तुड्ढिं।
अतुड्ढिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययई अदत्तं॥
तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो, फासे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढई लोभदोसा, तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से॥

सूत्रकार कहते हैं—जब व्यक्ति झूठ बोलता है तब उसके मन में पहले तनाव पैदा होता है। झूठ बोलते समय माया रचनी पड़ती है कि झूठ कैसे बोलूं। यह चिन्ता सताती है—कहीं झूठ पकड़ा न जाए। उसका हृदय धड़कने लग जाता है। झूठ बोलने के बाद मन में पश्चात्ताप होता है—कहीं झूठ प्रकट न हो जाए। किसी को पता न लग जाए। उससे कर्म का महान बंध होता है। इस प्रकार अतृप्त होकर चोरी करने वाला व्यक्ति दुःखी और आश्रयहीन बन जाता है—

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य, पओगकाले य दुही दुरंते।
एवं अदत्ताणि समाययंतो, फासे अतित्तो दुहिओ अणित्तो॥

लोभ और आसक्ति के साथ दुःख की एक परम्परा जुड़ी हुई है। त्याग इसलिए है कि हम इस दुःख की परम्परा से बच सकें। त्याग सुख छुड़ाने के नहीं, दुःख से बचाने के लिए है। यदि यह बात समझ में आ जाए तो धर्म का सही मूल्यांकन हो सकता है और यह बात समझ में आ सकती है—विषय को नहीं, विकार और दुःख को दूर करो। यदि हम थोड़ा-थोड़ा त्याग करना सीख जाएं, जिससे जीवन का काम भी चल सके और इन दुःखों से भी बचते रहें। हमारे तीर्थंकरों, अध्यात्म के आचार्यों ने यह मध्यम मार्ग सुझाया है, जो इस भव में भी कल्याणकारी है और परभव में भी कल्याणकारी है। इस मार्ग का मूल्यांकन करना और जीना, जीने की कला को उपलब्ध होना है। जिसे यह कला उपलब्ध हो जाती है, उसे दुःख का रहस्य उपलब्ध हो जाता है।

यह प्यास पानी से नहीं बुझती

यह प्रश्न बहुत चर्चित रहा है—लोक में सार क्या है? जिसकी निष्पत्ति अच्छी हो, वह सार है। जिसकी निष्पत्ति कुछ न आए, वह असार है। बीज बोए, अंकुरित हुए। फसल पकने का समय आया। यदि मक्का, बाजरा कुछ भी नहीं मिला, तो फसल निस्सार ही गई। यदि अनाज उपलब्ध हुआ तो सार मिल गया। रोटी खाएं, भूख बुझ जाए तो वह सार है और भूख शान्त न हो तो वह निस्सार है।

वस्तुतः वह सार है जो अंत तक बराबर शक्तिशाली बना रहे, कभी कमजोर न पड़े, अपना काम करता रहे और मनुष्य को लाभ पहुंचाता रहे। ऐसा सार क्या है? संस्कृत साहित्य में एक समस्या दी गई—इस असार संसार में सार क्या है? इस समस्या के संदर्भ में अनेक विकल्प प्रस्तुत किए गए। एक अनुभूत आर्ष वाणी में इस प्रश्न के संदर्भ में कहा गया—सच्चं लोयम्मि सारभूयं—सत्य ही लोक में सारभूत है। प्रश्न हो सकता है—सत्य सार क्यों है? सत्य वह होता है, जो त्रैकालिक होता है, कभी मिटता नहीं है। जो मिट जाए, वह सार नहीं है। सत्य वह होता है, जो देश-काल से अबाधित होता है। जो देश-काल से विभाजित होता है, वह सार नहीं रहता। उसका सारा निकल जाता है।

गोशालक भगवान महावीर के समवशरण में आया। उसने तेजोलब्धि का प्रयोग किया और दो मुनियों को भस्म कर दिया। गोशालक का सार निकल गया। पहले महावीर ने कहा—‘उससे कोई बात मत करना,’ पर सार निकलने के बाद महावीर ने कहा—‘अब खूब बातचीत करो, चर्चा करो। गोशालक की शक्ति श्लथ हो गई है।’ जिसका सार निकल जाता है वह वास्तव में असार हो जाता है। सार वह होता है, जो सदा बना रहता है, कभी न्यून नहीं होता, समाप्त नहीं होता। दुनिया में सत्य ही एक ऐसा तत्त्व है, जो शाश्वत है, सदा एकरूप बना रहता है, कभी बाधित नहीं होता और निरन्तर अपने सार को प्रकट करता चला जाता है।

अमित प्यास

सत्य का मतलब है नियम। सत्य की खोज का अर्थ है नियमों की खोज। जो सार्वभौम नियम है, नियति है, उसका नाम है सत्य। दुनिया में जितने प्राकृतिक नियम हैं, सार्वभौम और जागतिक नियम हैं, जो सब जगह लागू होते हैं उन नियमों को खोजना सत्य को खोजना है। धर्म के आचार्यों ने एक नियम का पता लगाया—एक ऐसी प्यास है, जो पानी पीने से नहीं बुझती। व्यक्ति को प्यास लगी। पानी पीया और प्यास बुझ गई। जिसने प्यास को बुझाने के लिए

पानी को खोजा, उसने भी एक सचाई की खोज की। यदि ऐसा न होता तो प्यास लगने पर सब आदमी पानी कैसे पीते? पानी की जगह मिट्टी खा लेते तो क्या होता? पानी को भी खोजा गया। दुनिया में एक ऐसा द्रव्य है, जो प्यास को बुझाता है, और वह है पानी। एक बड़ी खोज थी। किस व्यक्ति ने पहले दिन पानी पीया होगा? किस व्यक्ति को पहले दिन प्यास लगी होगी? यह बड़ा प्रश्न है—‘क्या आदमी पानी पीता ही आया है? या उसने बाद में पानी पीना शुरू किया है? आज भी ऐसे प्राणी हैं, जो पानी कभी नहीं पीते, महीनों तक पानी नहीं पीते। जिनका शीतीकरण हो जाता है, उन्हें प्यास नहीं लगती। जो मेंढक बर्फ में जम जाते हैं वे पानी कहां पीते हैं। जो शीत प्रधान देश के प्राणी हैं, वे अनेक दिनों तक शायद पानी नहीं पीते। कहा जाता है सर्दी के दिनों में सांप अपने विल में चला जाता है। वह वहीं बैठा रहता है, न खाता है, न पीता है। उसकी आवश्यकता अपने आप पूरी हो जाती है। चातक केवल मेघ का ही पानी पीता है। बादल नहीं बरसते हैं तो वह पानी ही नहीं पीता। संभव है—कभी ऐसा स्निग्ध काल रहा होगा कि पानी पीने की जरूरत अनुभव न हुई हो। जब काल की स्निग्धता कम हुई, गर्मी बढ़ी, प्यास लगनी शुरू हुई तब किसी मनुष्य ने पहली बार पानी को खोजा होगा, पानी को पीया होगा। यह पानी की खोज महान खोज है।’

इस सचाई को भी खोजा गया—प्यास लगने पर पानी पीयो तो वह बढ़ती चली जाएगी, न पीयो तो वह बुझ जाएगी। यह सचाई भी महान सत्य की खोज है। धर्म के लोगों ने इस नियम को खोजा है—एक ऐसी प्यास है, जो पानी पीने से बढ़ती है और नहीं पीने से घट जाती है। प्यास प्रत्येक आदमी के भीतर है। उसे समझना भी जरूरी है।

दो ताकतें

नेपोलियन बहुत बड़ा शासक था, वीर और क्रूर भी था। जब सेना ने धोखा दिया, वह पराजित हो गया। पराजित नेपोलियन को सेंट हेलेना द्वीप में कैद कर दिया गया। कल जो शासक था, आज वह बंदी बना हुआ था पर यह मानने में कोई कठिनाई नहीं है कि वह वास्तव में अद्भुत व्यक्ति था। जितना योद्धा और पराक्रमी था उतना ही समझदार और चिन्तनशील था। उसने जेल से अपने मित्र को एक पत्र लिखा। उस पत्र में उसकी चिन्तनशीलता स्पष्ट परिलक्षित है। उसने लिखा—मित्र! दुनिया में दो ताकतें होती हैं। एक है तलवार की ताकत और दूसरी है आत्मा की ताकत। तलवार की ताकत से साम्राज्य मिलता है, धन और वैभव मिलता है पर अंत में वह दशा होती है, जो आज मेरी हुई है। इस ताकत में कोई सार नहीं है। आत्मा की ताकत ऐसी ताकत है, जो तलवार की ताकत को भी परास्त कर सकती है। इसके सिवाय तलवार की ताकत को परास्त करने वाली कोई भी ताकत नहीं है। वहीं ताकत वास्तव में सारभूत शक्ति है।’

हम इस बात को समझें। हमारे भीतर मस्तिष्क में एक रण चल रहा है। चेतना की रणभूमि पर वह युद्ध लड़ा जा रहा है। हमें चुनाव करना है—हम

किसका साथ दें। तलवार का साथ दें या आत्मा का साथ दें। तलवार की ताकत से लड़ें या आत्मा की ताकत से? इस संदर्भ में यह पत्र कितना महत्त्वपूर्ण है—‘आत्मा ही वह ताकत है, जो तलवार की ताकत को परास्त कर सकती है।’ महावीर का यह कथन कितना मार्मिक है—‘एक आदमी युद्ध में हजारों-हजारों योद्धाओं को जीत लेता है। एक आदमी अपनी आत्मा को जीतता है। अपनी आत्म-विजय हजारों योद्धाओं को जीतने से महान है। वह परम जय है।’

अनुभव का स्वर

हम इस सचाई को समझें—आत्मा को समझे बिना, आत्मा की अनुभूति किए बिना, यह प्यास कभी नहीं बुझती। यह अमिट प्यास है, जो कभी मिटती नहीं है दुनिया भर का पानी पी लें, प्यास बुझेगी नहीं। यदि हम कुछ मुड़ें, आत्मा की लवलेस मात्र भी अनुभूति कर लें तो प्यास बुझनी शुरू हो जाएगी। इसी अनुभूति के स्वर में भगवान महावीर ने कहा—

एवं ससंकल्पविकल्पणासो, संजायई समयमुवड्डियस्स।

अत्थे असंप्ययतो तओ से, पहीयए कामगुणोसु तण्हा ॥

अपने राग-द्वेषात्मक संकल्प ही सब दोषों के मूल हैं—जो इस प्रकार के चिन्तन में उद्यत होता है तथा इन्द्रिय विषय दोषों का मूल नहीं है, इस प्रकार का चिन्तन करता है, उसके मन में समता उत्पन्न होती है। उससे उसकी कामगुणों में होने वाली तृष्णा प्रक्षीण हो जाती है।

मनुष्य को तृष्णा की प्यास लगी हुई है। वह संकल्प-विकल्प में नहीं बुझेगी। यह बुझेगी समता से। समता को साधो, सम रहना सीखे, विषमता में मत जाओ, ऊबड़-खाबड़ में मत चलो। सामायिक का अभ्यास करो, संकल्प और विकल्प का नाश होगा। संकल्प शब्द के कई अर्थ होते हैं। अच्छी कल्पना करना भी संकल्प है। एक शक्तिशाली विचार करना भी संकल्प है। ‘ममेदं इति’—‘यह मेरा है’ यह ममत्व का विचार भी संकल्प है। आचार्य कुन्दकुन्द ने संकल्प को आत्मा का लक्षण बतलाया है। पाश्चात्य दार्शनिकों ने संकल्प की स्वतंत्रता का बहुत विवेचन किया है। संकल्प का नाश करना है पर उस संकल्प का नाश करना है, जो बंधन में डाल रहा है, बांध रहा है, आजादी को छीन रहा है। संकल्प के साथ विकल्प बड़ेगा तो फिर वह अच्छा नहीं रहेगा। उसके साथ बुरे विचार आने भी शुरू हो जाएंगे।

एक पौराणिक कहानी है। नारदजी कहीं जा रहे थे। भक्त बोला—‘नारदजी महाराज! आप कहां जा रहे हैं?’

‘आज मैं स्वर्ग में जा रहा हूँ।’

‘नारदजी महाराज! मेरा भी मन होता है स्वर्ग देखने का।’

‘आओ, चलो तुम्हें भी ले चलूंगा।’

भक्त नारदजी के साथ चल पड़ा। दोनों स्वर्ग में पहुंच गए। नारदजी ने भक्त को एक छायादार वृक्ष के नीचे बैठने का निर्देश देते हुए कहा—‘मैं कुछ जरूरी काम से जा रहा हूँ। तुम इस वृक्ष के नीचे विश्राम कर लो।’ यह कहकर नारदजी चले गए। भक्त वहां बैठ गया। आदमी का स्वभाव है संकल्प-विकल्प

करते रहना। व्यक्ति अकेला बैठा है, कोई साथ नहीं है, पर संकल्प साथी बना रहेगा। आदमी कहीं एकान्त में चला जाए पर मन में कोई संकल्प न जागे, क्या यह संभव है? बहुत मुश्किल है ऐसा होना। भक्त के मन में विकल्प उठा—स्वर्ग का वातावरण कितना सुन्दर है! यह स्थल कितना रमणीय और मनोहर है! कितनी शीतल और शांत बयार चल रही है! इस समय गरमागरम मिष्टान्न और पक्वान्न खाने को मिल जाए तो स्वर्ग में आने का मजा आ जाए। उसी समय सामने एक आदमी गरमागरम पक्वान्न से भरा धाल लेकर समुपस्थित हो गया। भक्त ने भरपेट भोजन किया। अब उसे नींद सताने लगी। उसने सोचा—‘यदि कोई अच्छी सी शय्या मिल जाए तो गहरी नींद ले लूँ। दूसरे ही क्षण मनोरम शय्या तैयार थी। वह पलंग पर लेट गया। मन में विकल्प उठा—‘कोई पगचंपी करने वाला हो तो सारी थकान उतर जाए।’ चिन्तन और संकल्प उभरा, अप्सराएं प्रस्तुत हो गईं। वे उसकी पगचंपी करने लगीं। उसके मन में फिर एक संकल्प जागा—‘यदि मेरी पत्नी आ गई तो क्या होगा? वह जरूर मुझे झाड़ू से पीटेगी।’ संकल्प क्रियान्वित हो गया। पत्नी झाड़ू लिए उसके पीछे दौड़ने लगी। आगे भक्त और पीछे पीछे झाड़ू लिए पत्नी। रास्ते में नारद जी मिल गए। उसे परेशान देख नारदजी बोले—‘क्यों दौड़ रहे हो?’

‘महाराज! देखिए! यह झाड़ू लिए मेरी पत्नी मुझे पीट रही है।’

‘अरे! तुझे पता नहीं है—तू जिस वृक्ष के नीचे बैठा था, वह कल्पवृक्ष था। उसके नीचे बैठकर जो संकल्प किया जाता है, वह पूरा होता है। तुमने यह संकल्प क्यों किया? कोई अच्छा संकल्प करता तो बहुत लाभ मिलता। अन्यथा यही मुसीबत आएगी।

संकल्प की प्रकृति

संकल्प जागता है तो अच्छा भी जाग जाता है, बुरा भी जाग जाता है। यह बंधन का स्वभाव है—वह पहले बांधेगा, आकर्षण दिखाएगा, ललचाएगा, लुभाएगा। जब बंध जाएगा तब बुरा विकल्प भी उभरने लगेगा। यह संकल्प की प्रकृति है। बहुत बड़ी घटना है—संकल्प विकल्प का नाश करना। वह तब संभव है जब जीवन में समता का विकास हो। लाभ-अलाभ आदि सभी स्थितियों में सम रहना बहुत कठिन है। इनकी शब्दों में अभिव्यक्ति जितनी सरल है, जीवन में इनका विकास उतना ही कठिन, कठिनतर और कठिनतम है। जब समता का विकास होता है, सामायिक सिद्ध हो जाती है। जैन लोग सामायिक करते हैं। पहले दिन सामायिक में जो मिलता है, दसवें दिन उससे कुछ अधिक मिलना चाहिए। यदि सामायिक करते चले जाएं, पांच-दस वर्ष तक सामायिक करते रहें और जहां पहले दिन थे वहीं दस वर्ष बाद अपने आपको पाएं तो मानना चाहिए कि या तो सामायिक में सार नहीं है, या सामायिक करने वाले में सार नहीं है। जो निरन्तर सामायिक कर रहे हैं, प्रतिक्षण सामायिक की साधना में संलग्न हैं, क्या उनमें कुछ परिवर्तन नहीं आना चाहिए? दस वर्ष पहले जो मानसिक स्थिति है, उसमें दस वर्ष बाद भी बदलाव नहीं आना चाहिए? यदि मानसिक स्थिति में

सम्यक बदलाव आता है तो मानना चाहिए कि सामायिक सध रही है। यदि नहीं आता है तो वह अवश्य चिन्तन का विषय बनता है।

भेद-प्रणिधान : अभेद-प्रणिधान

कठिन है समता की साधना किन्तु यदि उस दिशा में आगे बढ़ पाएं तो संकल्प-विकल्प कमजोर पड़ते चले जाएंगे। जैसे ही पदार्थों का संकल्प—‘यह मेरा है, यह मेरा है, यह मेरा है’—बंद होता है, समता घटित होने लगती है। दो प्रकार के प्रणिधान हैं—भेद-प्रणिधान और अभेद-प्रणिधान। आत्मा के साथ अभेद-प्रणिधान होना चाहिए और पदार्थ के साथ भेद-प्रणिधान। आज इससे विपरीत हो रहा है—आत्मा के साथ भेद-प्रणिधान हो रहा है और पदार्थ के साथ अभेद-प्रणिधान। जब अर्थ के साथ असंकल्प की भावना जागती है तब विषयों के प्रति त्याग की भावना होती है। कितना महत्त्वपूर्ण सच खोजा गया—प्यास तब बुझती है जब पदार्थ के प्रति असंकल्प की चेतना जागती है।

हमारे पास बहुत प्रकार की शक्तियां हैं। एक काम करने से शक्ति बढ़ती है और एक काम न करने से शक्ति बढ़ती है। न करने से शक्ति बढ़ने का नियम समझ में आ जाए तो जीवन में एक नया मोड़ आता है। आवेश करने से नहीं, अनावेश से समस्या सुझलती है। यह नियम समझ में आए तो एक भूल कभी दूसरी भूल का कारण नहीं बन सकती।

सूफ़ी संत इब्राहीम जा रहे थे। संत के साथ असंत की छाया न लगे, यह दुनिया में बहुत कम होता है। संत के साथ अच्छाइयां घूमती हैं तो साथ साथ असंत भी बहुत घूमते हैं। संत इब्राहीम का विरोधी उसके पीछे चलने लगा। कुछ आगे जाकर एक वृक्ष पर चढ़ गया। संत वृक्ष के नीचे से गुजरे। उसने संत के सिर पर धूक दिया। संत इब्राहीम बहुत शक्तिशाली थे। उनके बहुत भक्त थे। राजसी टाटबाट उनके साथ चलता था। संत की सुरक्षा में लगे लोग तमतमा उठे। वे उसे पकड़ने/मारने के लिए दौड़े। संत इब्राहीम ने कहा—‘ठहरो! ठहरो सब रुक गए। संत ने रुमाल निकाला और धूक को पोंछ डाला। संत ने मुस्कराते हुए कहा—इतना व्यर्थ प्रयत्न क्यों? उसने जो भूल की है, उसे रुमाल से साफ किया जा सकता है। पर उसे मारकर तुम जो भूल करोगे, उसे कौन साफ करेगा? ऐसा कोई रुमाल नहीं है, जो उस भूल को साफ कर सके।’

यह भावना उस व्यक्ति में जागती है जो सचाई को खोज लेता है। असत्य के सहारे दुनिया में बहुत सारे काम चलते हैं। बहुत सारे लोग इस भाषा में सोचते हैं—उसने ऐसा कर दिया इसलिए उसे सबक सिखाओ। जिन्होंने ऐसी तांग की है, उसे कुचल डालो। वे इस नियम/सचाई को नहीं जानते—धूक को एक मिनट में साफ किया जा सकता है पर जिसने धूक डाला है, उसे मारने पर जो धब्बा लगेगा, उसे जीवन भर साफ नहीं किया जा सकेगा। यह नियम वही व्यक्ति खोज सकता है, जिसने समता का जीवन जीया है, समता को आत्मसात् किया है। जैसे जैसे समता जागेगी, संकल्प-विकल्प कम होते चले जाएंगे। उस

स्थिति में बंधन कम होगा। वह प्यास बुझ जाएगी, जो अगस्त्य ऋषि बन तीन चुलू में समुद्र को पी जाने पर भी नहीं बुझती। वह प्यास ऐसी बुझेगी कि जीवन में अविरति, आकांक्षा और तृष्णा की प्यास कभी जागेगी ही नहीं। वह स्थिति वस्तुतः आत्मानुभूति से ओतःप्रोत होगी। यह आत्मा की अनुभूति ही नेपोलियन के शब्दों में तलवार की ताकत को परास्त करने वाली अनुभूति है।

कर्मवाद

मनुष्य के मन में एक प्रश्न उठा—सब मनुष्य समान क्यों नहीं हैं? सारे मनुष्य मनुष्य हैं, वे एक जैसे क्यों नहीं हैं? उनकी आकृति में भेद है, प्रकृति में भेद है, विचार में भेद है। भाई भाई भी समान नहीं होते। उनकी आकृति में अन्तर है, प्रकृति में अन्तर है, विचार और भावनाओं में अन्तर है। यह भेद कौन कर रहा है? कौन ऐसा विधाता है, जो भाग्य की लिपि लिख रहा है और सबको अलग-अलग सांचे में ढाल रहा है। क्या कोई एक ऐसा सांचा नहीं है, जिसमें सब समान रूप से ढल जाएं। क्या ऐसा सांचा किसी ने नहीं बनाया? क्यों नहीं बनाया? जब इसका कारण खोजा गया, तब भेद की बात समझ में आई।

कारण की खोज के लिए स्थूल से सूक्ष्म जगत में जाना होता है। जो व्यक्ति स्थूल से सूक्ष्म में गया है, वह कारण की खोज में सफल हुआ है। जब व्यक्ति स्थूल से सूक्ष्म जगत में जाता है, तब अनेक रहस्य उद्घाटित होते हैं, नए-नए तथ्य प्रस्तुत होते हैं। स्थूल जगत में जो बात समझ में आती है, वह बहुत अस्पष्ट और अपर्याप्त होती है। कारण की खोज के लिए सूक्ष्म जगत में प्रवेश पाना होता है। स्थूल जगत में कार्य हमारे सामने आता है किन्तु कारण छिपा रहता है। वृक्ष सामने आ जाता है, बीज छिपा रहता है। वृक्ष आकाश में खड़ा होता है और मूल भूमि के अन्दर। मूल कारण की खोज के लिए गहराई में जाना होता है, भूमि को खोदकर उसके भीतर तक पहुंचना होता है। केवल वर्तमान के आधार पर, केवल दृश्य जगत के आधार पर जीवन को नहीं समझा जा सकता। उसे समझने के लिए अतीत में जाना होता है। वहां तक पहुंचने वाला व्यक्ति ही सचाई को उपलब्ध हो सकता है।

भेद का एक कारण : वंशानुक्रम

हम भेद के कारणों पर विमर्श करें। आज के वैज्ञानिकों ने भेद का एक कारण खोजा—हेरीडीटी—वंशानुक्रम। प्राचीन समय में भी यह बात खोज ली गई थी। आयुर्वेद में पैतृक गुणों की बात उपलब्ध होती है। माता-पिता के गुण संतान में संक्रांत होते हैं। भगवती और स्थानांग सूत्र में मिलता है—संतान को तीन तत्त्व पिता से मिलते हैं और तीन तत्त्व माता से मिलते हैं। अस्थि-मज्जा, केश-रोम, नख-श्मश्रु—ये अंग पिता से मिलते हैं। तीन तत्त्व माता से मिलते हैं—मांस, शोणित और मातुलिंग—भेजा। माता और पिता के गुण या अंग पुत्र में संक्रांत होते हैं, इसका नाम है वंशानुक्रम। वंशानुक्रम का उल्लेख आयुर्वेद और

जैन आगम—दोनों में प्राप्त है। आज विज्ञान की एक पूरी शाखा बन गई—वंशानुक्रम विज्ञान।

जीन की वैज्ञानिक व्याख्या

हमारा शरीर कोशिकाओं के द्वारा बना है। कोशिकाओं ने हमारे शरीर का निर्माण किया है। एक कोशिका, एक सेल कितना छोटा होता है! विज्ञान कहता है—एक पिन की नोक टिके इतने भाग में लाखों-लाखों कोशिकाएं हैं। इतनी छोटी कोशिका में जीवन-रस है। उस जीवन-रस में जीव-केन्द्र हैं। न्यूक्लीयस जीव-केन्द्र है। जीवकेन्द्र में क्रोमोसोम—गुणसूत्र हैं। उनमें जीन हैं, के संस्कार-सूत्र हैं। जीन में माता-पिता के संस्कार संचित है, अनेक पीढ़ियों संस्कार संचित हैं। वे जीन पैतृक संस्कारों के वाहक होते हैं। एक जीन, जो बहुत छोटा होता है, उस जीन—संस्कार सूत्र में छह लाख संस्कार लिखे हुए हैं।

यह जीन की वैज्ञानिक व्याख्या है। जीन के पास पहुंचने पर कर्म की बात बहुत समझ में आ जाती है। संस्कार सूत्र हमारी परम्परा के वाहक हैं। मारवाड़ी का प्रसिद्ध दोहा है—

बाप जिसो बेटो, छाली जिसो ठेठो।

घड़े जिसी ठीकरी, मां जिसी डीकरी।।

इस छोटे से श्लोक में वंशानुक्रम का, पूरा विज्ञान भरा हुआ है। आज की चिकित्सा पद्धति में, आयुर्विज्ञान की चिकित्सा पद्धति में वंशानुक्रम विज्ञान का बड़ा महत्त्व है। आजकल डॉक्टर पूछते हैं—यह बीमारी आपके मां-बाप को तो नहीं है? आपके दादा और नाना, दादी और नानी इस बीमारी से ग्रस्त तो नहीं हैं? वे इससे आगे की हिस्ट्री भी जानते हैं। बिना इतिहास जाने रोग का सही निदान नहीं हो सकता। कोरे यंत्र से बीमारी का निदान नहीं होता, उसके लिए पूरे कुल के इतिहास को जानना होता है। यह बीमारी कब से आ रही है? मानसिक चिकित्सक भी वंशानुक्रम के आधार पर चिकित्सा करता है। वह यह जानेगा—जो पागलपन है, चित्त का विक्षेप है, डिप्रेशन है, वह परिवार के किसी सदस्य में रहा है या नहीं? माता-पिता, दादा-दादी या नाना-नानी इस रोग से पीड़ित रहे हैं या नहीं? माता-पिता के संस्कार संतान में संक्रांत होते हैं और वे अनेक पीढ़ियों तक चलते रहते हैं। हो सकता है—बीच की कोई पीढ़ी छूट भी जाए किन्तु वे आगे से आगे चलते चले जाते हैं।

भेद का कारण है कर्म

वंशानुक्रम भेद का कारण है। इसी आधार पर जीनेटिक इंजीनियरिंग का विकास हुआ है। आज के वैज्ञानिक इस खोज में लगे हुए हैं—प्रारम्भ से ही जीन को बदल दिया जाए, जिससे व्यक्ति बदल जाए। प्रश्न होता है—यदि भेद का कारण वंशानुक्रम है तो दो सगे भाइयों में भेद क्यों होता है? इस प्रश्न का समाधान वंशानुक्रम विज्ञान से उपलब्ध नहीं होता। इस प्रश्न के समाधान के लिए जीन से भी आगे जाना होगा, और सूक्ष्म की खोज में जाना होगा। जीन से आगे जाने पर पता चलता है—भेद करने वाला एक तत्त्व हमारे भीतर बैठा है। वह जीन से भी ज्यादा सूक्ष्म है। वह है कर्म शरीर।

व्यक्ति व्यक्ति में भेद का प्रश्न बहुत पुराना है। गौतम ने भगवान महावीर से पूछा—‘भंते! यह भेद क्यों दिखाई दे रहा है? प्रत्येक व्यक्ति में भेद है। इसका कारण क्या है?’ भगवान महावीर ने कहा—‘कम्मओ णं विभत्तीभावं जणयई—भेद का कारण है कर्म। सारी विभक्तियां, विभिन्नताएं कर्म के कारण ही रही हैं।’ व्याकरण में सात विभक्तियां होती हैं। कर्म के द्वारा न जाने कितनी विभक्तियां—भेद की रेखाएं खींची जा रही हैं।

एक है हमारा स्थूल शरीर—औदारिक शरीर। उससे आगे है—सूक्ष्म शरीर—तैजस शरीर। उससे भी सूक्ष्म है—सूक्ष्मतर शरीर—कर्म शरीर। कर्म—शरीर तक पहुंचने पर हमें इस प्रश्न का समाधान प्राप्त होता है।

यह भेद करने वाला हमारे भाग्य का विधाता हमारे भीतर बैठा है। वही हमारे भाग्य की लिपि लिख रहा है। यह छड़ी का लेख कोई दूसरा नहीं लिख रहा है, उसे लिखने कोई विधाता नहीं आ रहा है। प्राचीन परम्परा रही है—जिस दिन बच्चा छह दिन का होता, उस दिन रात को स्याही, लेखनी और कागज रखा जाता। झरोखे को खुला रखा जाता। लोग कहा करते—भाई! विधाता आया और भाग्य की लिपि लिखेगा। यह एक परम्परा रही है, इससे अधिक इसके बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

हमारी भाग्यलिपि को लिखने वाला विधाता है कर्म। कर्म को समझे बिना, अतीत को समझे बिना वर्तमान को पूरा नहीं समझा जा सकता। जो व्यक्ति केवल वर्तमान को जानता है, केवल वर्तमान के आधार पर निर्णय लेता है, केवल वर्तमान के आधार पर जीवन को चलाने का प्रयास करता है, वह सदा धोखे का जीवन जीता है। अनेक वर्तमान की एक जुड़ी हुई श्रृंखला है अतीत। वर्तमान मात्र एक घटना है। अतीत उसे प्रभावित कर रहा है। अतीत वह है, जिसका हमने निर्माण किया है, जिसे हम जी चुके हैं और जो हमारा वर्तमान रहा है। हमारा वर्तमान ही अतीत बनता है। उससे कटकर हम वर्तमान की व्याख्या नहीं कर सकते।

जैन दर्शन में कर्म

हमें कर्म शब्द को भी समझना है। कर्म का अर्थ है क्रिया, काम करना। कर्म का दूसरा अर्थ है संस्कार। बहुत सारे दार्शनिकों और धर्म-संप्रदायों ने कर्म को संस्कार के रूप में मान्य किया है। जैन परम्परा में कर्म शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में हुआ है। क्रिया करने के साथ, प्रवृत्ति के साथ जिन पुद्गलों का, पुद्गल स्कन्धों का संचयन होता है, संग्रहण होता है उन पुद्गलों का नाम है कर्म। पौद्गलिक रचना है कर्म। केन्द्र में है आत्मा। आत्मा के परिपार्श्व में अनेक पौद्गलिक संरचनाएं हैं। उनमें सबसे पहली पुद्गल संरचना कर्म की संरचना है। इसका अर्थ है—आत्मा के चारों ओर कषाय का वलय है। नाभि में आत्मा है और परिपार्श्व में है कषाय, कर्म-संरचना। मोहनीय कर्म, ज्ञान का आवरण आदि-आदि आत्मा के परिपार्श्व में हैं। उपनिषद् में पांच कोष माने गए—अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष और आनन्दमय कोष। इन पांच कोषों के भीतर जीव—आत्मा को माना गया। जैन दर्शन के अनुसार मानें

तो आठ कर्म के आठ कोष बने हुए हैं और उनके भीतर आत्मा है। आठ कर्मों की एक पौद्गलिक संरचना है, जो आत्मा को घेरे हुए है, बांधे हुए है।

कर्म या कर्मशरीर आत्मा के सबसे ज्यादा निकट है और यह आत्मा को संसार के चक्र में फंसाए हुए है। इटली का एक प्रसिद्ध कवि हुआ है—तारक्वोटो तासो। वह एक बार फ्रांस के राजा चार्ल्स नवम के दरबार में गया। राजा ने पूछा—‘कविवर! दुनिया में सबसे सुखी कौन?’ कवि ने उत्तर दिया—‘ईश्वर।’ राजा बोला—‘ईश्वर तो हमारे काम का नहीं है। दूसरे नम्बर का सुखी कौन है?’ कवि बोला—‘जो ईश्वर के निकट है।’

ईश्वर के निकट है कर्म। निकट होना अलग बात है और आत्मीय होना अलग बात है। आत्मा के निकट कर्म होते हैं किन्तु वे कभी तद्रूप नहीं बनते, आत्मीय नहीं बनते। वे सदा आत्मा से अलग रहते हैं, पृथक् रहते हैं। आत्मा का पहला घेरा है कर्म और वह उसे प्रभावित कर रहा है।

आत्मा और कर्म

यह एक सचाई है—आदमी दूर रहकर किसी को प्रभावित नहीं कर सकता। निकट रहने वाला व्यक्ति ही प्रभावित करता है। अच्छे कार्य के लिए प्रभावित करे या बुरे कार्य के लिए प्रभावित करे, किन्तु प्रभावित करने का सामर्थ्य निकट रहने वाले व्यक्ति में ही ज्यादा होता है। एक व्यक्ति हिन्दुस्तान में बैठा है और उसका कर्म मास्को या वाशिंगटन में घूम रहा है तो उसका प्रभाव बहुत सीमित होगा। कर्म आत्मा से दूर नहीं है। वह एक क्षेत्रावगाही है। पूछा गया—‘जीवों का कर्म से संबंध क्या है?’ कहा गया—‘लोलीभाव संबंध है, दोनों एकमेक बने हुए हैं।’ एक उपमा दी गई—जैसे दूध और पानी मिले हुए हैं वैसे ही आत्मा के प्रदेश और कर्म पुद्गल मिले हुये हैं। जैसे दूध और पानी का अस्तित्व अलग-अलग है वैसे ही आत्मा और कर्म—दोनों अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाए हुए हैं। जैसे दूध का अपना अस्तित्व है, पानी का अपना अस्तित्व है वैसे ही आत्मा का अपना अस्तित्व है, कर्म का अपना अस्तित्व है।

वातावरण का प्रभाव

आज कर्म को व्यापक संदर्भ में समझना आवश्यक है। वर्तमान के वैज्ञानिकों ने जीवन और व्यक्तित्व का बहुत विश्लेषण किया है। किन्तु वे अभी तक जीवन की अनेक गुत्थियों को सुलझाने में सफल नहीं हुये हैं। मनोविज्ञान के अनुसार जीवन की व्याख्या का एक कोण है—वातावरण, पर्यावरण या परिस्थिति। व्यक्तित्व विकास का एक आधार है परिस्थिति। एक बच्चे को जैसा परिवेश मिला जैसी परिस्थिति मिली, वह वैसा ही बन गया। यदि वह अच्छे वातावरण में रहेगा तो अच्छा बन जाएगा। यदि वह बुरे वातावरण में रहेगा तो बुरा बन जाएगा। यह एक आम धारणा है और बहुत पुरानी धारणा है। दो तोतों वाली कथा प्रसिद्ध है। एक तोता सन्यासी के पास रहा, अच्छा बन गया। एक तोता चोर के पास रहा, बुरा बन गया। दोनों के मां-बाप एक थे किन्तु दोनों को भिन्न-भिन्न परिवेश मिला और उनका व्यवहार भिन्न-भिन्न हो गया। किसी व्यक्ति को आते

देखकर एक तोत बोलता है—स्वागतम्! स्वागतम्! आओ! बैठो! स्वागत है! स्वागत है और दूसरा तोता बोलता है—आओ! आओ! मारो! लूटो!

यह संगत का प्रभाव है, वातावरण का प्रभाव है। पुराना शब्द है सत्संग और कुसंग। आधुनिक वाक्य हैं—वातावरण, परिवेश और पर्यावरण। यह जीवन की व्याख्या का एक आधार है। जीवन की व्याख्या का दूसरा आधार है—वंशानुक्रम। इसके द्वारा बहुत सारे प्रश्नों को समाहित किया गया है किन्तु अनेक प्रश्न आज भी अनुत्तरित बने हुए हैं। ऐसे अनेक प्रश्न हैं, जिनका मनोविज्ञान के पास कोई उत्तर नहीं है। उनके समाधान कर्मविज्ञान में हैं। कठिनाई यह है—कर्मविज्ञान धार्मिक लोगों के पास है, साइकोलोजी और हेरीडीटी का विज्ञान वैज्ञानिकों के पास है।

वैज्ञानिकों में यह क्षमता है कि वे अपनी बात आत्म-विश्वास के साथ प्रस्तुत करते हैं और उसे लोगों के हृदय में उतार देते हैं। अध्यात्म के लोग इस मामले में कुछ सुस्त हैं इसीलिए कर्मविज्ञान जैसा महत्त्वपूर्ण सिद्धांत आज भी अगम्य और अमान्य सा बना हुआ है।

कर्मविज्ञान में जो गहराइयां हैं, उनके सामने मनोविज्ञान बीना बना हुआ है। परिस्थिति विज्ञान उसके सामने कुछ भी नहीं हैं। किन्तु समस्या यह है—कर्मविज्ञान को जिस रूप में प्रस्तुत करना चाहिए, दुनिया के सामने रखना चाहिए, उसका वह रूप प्रस्तुत नहीं हो पाया है। आज कुछ ऐसा हो गया—एक छोटा आदमी आकाश को छू रहा है, हिमालय पर चढ़ा हुआ है और एक विशाल और विशिष्ट व्यक्ति नीचे खड़ा हुआ उसे टुकुर-टुकुर देख रहा है। कर्मविज्ञान आज इस स्थिति से गुजर रहा है।

समाधान है कर्मविज्ञान

कर्मविज्ञान एक महत्त्वपूर्ण विज्ञान है। उसके द्वारा हम अपने समग्र जीवन की व्याख्या कर सकते हैं। हमारे सामने अनेक प्रश्न हैं—एक व्यक्ति लम्बा क्यों बना? एक व्यक्ति नाटा क्यों रह गया? एक शरीरविज्ञानी कहेगा—ग्रन्थियों के स्राव असंतुलित हैं इसलिए ऐसा हो गया। एक आदमी का गला अच्छा है। उसके स्वरों में मधुरता है। एक व्यक्ति के स्वर मधुर नहीं होते। ऐसा क्यों होता है? एक व्यक्ति ऐसा है जिसका वचन आदेय होता है। उसकी बात को कोई टाल नहीं सकता। उसका कोई भी कार्य अधूरा नहीं रहता। एक व्यक्ति के कथन को कोई सम्मान नहीं मिलता। कोई भी व्यक्ति उसकी बात को स्वीकार नहीं करता। दो व्यक्तियों में यह अन्तर क्यों? इन प्रश्नों का समाधान न शरीरविज्ञान के पास है, न मनोविज्ञान के पास है। इन सारे प्रश्नों को कर्म-शास्त्र के संदर्भ में समाहित किया जा सकता है। एक कर्म है नामकर्म। वह इन सारों भेदों के लिए जिम्मेवार होता है। कर्म-शास्त्र में नामकर्म की तुलना कुम्हार के साथ की गई। जैसे कुम्हार अनेक प्रकार के घड़े बनाता है, नाना रूपों की सृष्टि करता है वैसे ही नामकर्म के कारण व्यक्तित्व के अनेक रूप बन जाते हैं।

जीवन से जुड़ा है कर्म

हर समस्या का समाधान कर्मशास्त्र में उपलब्ध है। चाहे शरीर की व्याख्या का प्रश्न है, इन्द्रियों की व्याख्या का प्रश्न है, निरन्तर उतरते-चढ़ते भावों का प्रश्न है—कर्मशास्त्र में उनके समाधान-सूत्र उपलब्ध हैं। जीवन के प्रत्येक क्षण को व्याख्या के साथ कर्म जुड़ा हुआ है। कर्म हमारे जीवन को इतना प्रभावित करने वाला है फिर भी उसके बारे में हमारी जानकारी नहीं है। जो जीवन से जुड़ा हुआ है, वह कैसे बन्धता है, इस बारे में हम कभी सोचते ही नहीं। यह सचमुच आश्चर्य की बात है। हम प्रवृत्ति करते चले जाते हैं किन्तु नहीं सोचते—हम अपने आपको क्यों बांध रहे हैं। मकड़ी जाला बुनती चली जाती है और वह स्वयं भी उसमें फंसती चली जाती है। यह रेशम का ऐसा कीड़ा है, जो अपनी मौत के लिए स्वयं कोष बना रहा है। यदि वह अपने लिए कोष न बनाए तो उसे अकाल मौत से न मरना पड़े, उसे गरम-गरम पानी में उबलना न पड़े। आज कस्तूरी मृग बहुत मारे जा रहे हैं। यदि कस्तूरी मृग अपने लिए नाभा नहीं बनाते तो शायद उनकी इतनी हत्याएं नहीं होती। आज कुछ ऐसा ही हो रहा है। आदमी कर्म के रहस्यों को जाने बिना इस प्रकार का आचरण करता चला जा रहा है और स्वयं को बांधने के लिए जाल बुनता चला जा रहा है। किसी व्यक्ति को फंसाने के लिए दूसरा आदमी एकाध-बार जाल भी फैलाता है तो व्यक्ति क्रुद्ध हो उठता है। वही व्यक्ति स्वयं अपने लिए दिन-रात जाल बिछाता चला जा रहा है। वह इस बारे में कभी सोचता ही नहीं है और इसीलिए वह समस्याओं के समाधान में सफल नहीं हो पा रहा है।

कर्मवाद को समझने का अर्थ

जैन दर्शन में कर्मवाद का जितना वैज्ञानिक विश्लेषण हुआ है उतना किसी अन्य दर्शन में प्राप्त नहीं है। यह एक सचाई है, जिसे कोई भी व्यक्ति अस्वीकार नहीं कर सकता। जैन आचार्यों ने कर्मवाद के द्वारा जिस प्रकार जीवन के रहस्यों को उद्घाटित किया है, जीवन की ग्रन्थियों का विमोचन किया है, वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। यदि हम इसे समझने का प्रयत्न करें, उसे वैज्ञानिक स्तर पर प्रस्तुति दें तो जैन धर्म के इस महान् सिद्धांत को व्यापक स्वरूप मिल जाए। जैन दर्शन को कुछ सिद्धांत विरासत में मिले हैं—अहिंसावाद, अनेकान्तवाद और अपरिग्रह। जैन दर्शन के कर्मवाद, आत्मवाद आदि कुछ ऐसे सिद्धांत हैं जो अपनी मौलिक विशेषता रखते हैं। कर्मवाद की गहराइयों में जाकर ही हम अपने आपको समझ सकते हैं, अपने जीवन की समस्त घटनाओं के साथ ताल-मेल बिठा सकते हैं। कर्मवाद को समझने का अर्थ है—उज्ज्वल भविष्य के निर्माण का पथ प्रशस्त करना।

कर्म की प्रकृतियाँ

पौराणिक व्याख्या के अनुसार वासुदेव कृष्ण ने समुद्र का मंथन किया। समुद्र मंथन से चौदह रत्न निकले। समुद्र मंथन से रत्न निकलते हैं। जहर भी एक रत्न है, अमृत भी एक रत्न है। मंथन के बिना भीतर भरा हुआ जहर भी नहीं निकलता। आवश्यकता है मंथन की। हम आत्मा का मंथन करना नहीं जानते इसलिए कर्म की प्रकृति को नहीं समझ पाते। आत्म-मंथन के बिना कर्म की प्रकृतियों को नहीं समझा जा सकता।

एक सूरज बादलों से ढका हुआ है। हम इस प्रतीक्षा में हैं—सूरज उगे, प्रकाश की रश्मियाँ फैले, अन्धकार मिटे, हमारी देखने की शक्ति बढ़े। हमारे भीतर चेतना का एक अखण्ड सूरज है किन्तु वह बादलों से ढका हुआ है। वर्षा के मौसम में सूरज बादलों से ढक जाता है और कभी-कभी वह इतना ढक जाता है कि दिन भी रात जैसा लगने लगता है। यदि चेतना का सूरज अनावृत हो जाए, उसके प्रकाश से चेतना प्रकाशमय बन जाए तो बाहरी प्रकाश की अपेक्षा कम ही रह जाए।

कर्म की एक प्रकृति है—आवरण डालना। वह हमारे ज्ञान पर आवरण डालती है, पर्दा डालती है। ज्ञान का सूरज बादलों से ढक जाता है। यह कर्म का एक स्वभाव है। इस प्रकृति की निष्पत्ति है—ज्ञानावरण और दर्शनावरण।

कर्म की एक प्रकृति खुजलाहट पैदा करती है। हमारा शरीर स्वस्थ है, वातावरण स्वस्थ है किन्तु खुजलाने की ऐसी बीमारी पैदा हो गई, हमें बार-बार खुजलाना पड़ता है। मूर्च्छा के ऐसे परमाणु हमारे भीतर घुसे हुए हैं, जो खुजलाहट पैदा कर रहे हैं, हमारी जागरूकता को कम कर रहे हैं। चेतना का काम है सहज जागरूक रहना, सहज प्रकाशित करना। मूर्च्छा के कारण सहज जागरूकता की स्थिति नहीं बन पा रही है।

चेतना एक निरन्तर गतिशील तत्त्व है, वह अपने पैरों से चलने वाली है, उसे किसी वैशाखी की जरूरत नहीं है। कर्म की एक प्रकृति है—प्रतिस्खलन पैदा करना। इस प्रकृति के कारण एक लंगड़ापन आ गया, गति में अवरोध आ

गया। कर्म की यह प्रकृति व्यक्ति को बार-बार स्खलित करती है, उसकी गति में बाधा प्रस्तुत करती है। इस प्रतिरोधक प्रकृति का नाम है अन्तरायकर्म।

हमारी चेतना के तीन मूल स्वभाव हैं—प्रकाश-आत्मा, जागरूक-आत्मा, गति-आत्मा। इन तीनों में बाधाएं हैं—आवरण, मूर्च्छा और शक्ति का प्रतिस्खलन।

ज्ञान में अन्तर क्यों?

प्रश्न होता है—आदमी-आदमी के ज्ञान में अन्तर क्यों? इसका कारण है—आवरण का तारतम्य। इस अन्तर की व्याख्या मनोविज्ञान नहीं कर सकता। मनोविज्ञान में बुद्धि के माप का एक प्रकार है—आयु। अवस्था के आधार पर बुद्धि का माप-तौल किया जा सकता है किन्तु दो व्यक्तियों की बुद्धि में इतना अन्तर क्यों है? इसका कोई समाधान मनोविज्ञान के पास नहीं है। यदि बुद्धि में अन्तर का कारण वंशानुक्रम होता तो अनपढ़ बाप का बेटा कभी बुद्धिमान नहीं बन पाता। यह सचाई है—अनपढ़ बाप के बेटे भी बुद्धिमान हो सकते हैं और आज भी ऐसे उदाहरण उपलब्ध हैं। इसका उत्तर कर्मवाद के द्वारा ही दिया जा सकता है।

वैयक्तिक विशेषता है कर्म

कर्म वैयक्तिक विशेषता है। इसमें वंशानुक्रम या पैतृक विरासत नहीं चलती। यह व्यक्ति की अपनी विशिष्टता है। एक व्यक्ति बहुत जागरूक जीवन जीता है और एक व्यक्ति बहुत मूर्च्छा का जीवन जीता है। सहज प्रश्न होता है—ऐसा क्यों? इसका उत्तर भी वंशानुक्रम या पर्यावरण विज्ञान के द्वारा नहीं दिया जा सकता। इसका एक ही समाधान हो सकता है—व्यक्ति का अपना-अपना कर्म इस भेद की पृष्ठभूमि में विद्यमान है। भारमलजी और कृष्णोजी—दोनों आचार्य भिक्षु के शिष्य थे। दोनों पिता-पुत्र थे। पिता मूर्च्छा में थे और पुत्र जागरूक, उसका परिणाम हुआ—आचार्य भिक्षु ने कृष्णोजी को संघ में रखने से इनकार कर दिया और भारमलजी को अपना उत्तराधिकारी बना दिया। वैयक्तिक विशेषता के संदर्भ में इस घटना को देखा जा सकता है।

वैयक्तिक विशेषता के कारण शक्ति में भी अन्तर होता है। हम महाराणा प्रताप और महाराणा उदयसिंह को देखें। उन दोनों में शक्ति का कितना तारतम्य था! महाराणा प्रताप ने कहा था—मेरे और मेरे दादा के बीच में यदि पिताजी नहीं होते तो मैं क्या होता? महाराणा प्रताप के दादा महाराणा सांगा बहुत शक्तिशाली थे और स्वयं महाराणा प्रताप भी अत्यन्त शक्तिशाली थे किन्तु उनके पिता उदयसिंह भीरु और डरपोक थे। वह सोचा ही नहीं जा सकता—महाराणा प्रताप उदयसिंह के बेटे थे। पिता और पुत्र में कितना अन्तर था! इसका कारण था अपना कर्म।

समाप्त नहीं होती वैयक्तिकता

कर्म नितांत वैयक्तिक बात है। बहुत सारी बातें समुदाय से मिलती हैं, वातावरण से मिलती हैं, पीढ़ी-दर-पीढ़ी संक्रांत होती चली जाती हैं, पैतृक विरासत से उपलब्ध होती है, किन्तु कुछ बातें नितांत वैयक्तिक होती हैं। सामुदायिकता और वैयक्तिकता को एक नहीं माना जा सकता। कहा जाता है—आज समाजवादी भावना ने वैयक्तिकता को समाप्त कर दिया। सचाई यह है—वैयक्तिकता कभी समाप्त नहीं होती और इसीलिए एक अन्तर्द्वन्द्व चल रहा है। यदि वैयक्तिकता की व्याख्या वैयक्तिकता के संदर्भ में की जाए और सामुदायिकता की व्याख्या सामुदायिकता के आधार पर की जाए तो जीवन को सही ढंग से समझा जा सकता है अन्यथा जीवन की विविधता को समझ पाना संभव नहीं है। व्यक्ति में ज्ञान का अन्तर है, जागरूकता और शक्ति का अन्तर है। किसी मनुष्य में अप्रतिम शक्ति जाग जाती है और किसी व्यक्ति की शक्ति व्यवहित बनी रहती है। एक मनुष्य इतना शक्तिशाली होता है कि वह अकेला हजारों व्यक्तियों को परास्त कर देता है।

भरत और बाहुबली में युद्ध होने वाला था। भरत ने सोचा—मेरी शक्ति के प्रति संदेह पैदा हो गया है। मेरे सेनापति के मन में भी यह संदेह है—‘बाहुबली ज्यादा शक्तिशाली है और भरत कमजोर है। हम कैसे जीत पाएंगे? यदि आसपास में ऐसा वातावरण हो तो कैसे काम चलेगा? भरत ने सेनापति से कहा—‘तुम्हारे मन में मेरी शक्ति के प्रति संदेह है लेकिन तुमने मेरी शक्ति को अभी तक जाना नहीं है’। भरत ने उनके संदेह के निवारण के लिए एक उपक्रम सोचा। भरत बोले—‘तुम एक बहुत विशाल सांकल ले आओ।’ सांकल आ गई। भरत ने आदेश दिया—‘इस सांकल से मेरा एक पैर बांध दो।’ सेनापति यह सुनकर स्तब्ध रह गया। भरत ने अपने पैर को आगे रखते हुए पुनः आदेश दिया—‘इसे सांकल से बांध दो।’ सैनिक को भरत के आदेश का पालन करना पड़ा। भरत का अगला आदेश था—‘जितने भी योद्धा हैं, वे आगे आएँ, इस सांकल को पकड़ कर खींचें और मेरे पैर को हिलाएं।’ कहा जाता है—हजारों बड़े-बड़े विश्रुत योद्धा आगे आए। उन सबने मिलकर सांकल को जोर से खींचा। वे सारे पसीने से लथपथ हो गए, थककर चूर हो गए किन्तु भरत के पैर को एक इंच भी नहीं खिसका पाए।

यह शक्ति कहां से आती है? यह शक्ति बाहर से नहीं, व्यक्ति के भीतर से उद्भूत होती है। एक सिद्धांत बना अनन्त चतुष्टयी का। प्रत्येक आत्मा में अनन्त ज्ञान है, अनन्त दर्शन है, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति है। प्रश्न होता है—कहां है अनन्त आनन्द? एक सामान्य सी बात में मूड़ बिगड़ जाता है। व्यक्ति के सामने सामान्य सी कठिन परिस्थिति आती है, व्यक्ति डर जाता है,

विचलित हो जाता है। उसमें अनन्त शक्ति कहाँ है? एक सामान्य चर्चा में भी व्यक्ति उलझ जाता है। अनन्त ज्ञान का प्रश्न ही कहाँ है?

कर्म की तीन शक्तियां

मनोविज्ञान में तीन वर्ग प्रस्तुत किए गए—सामान्य मनोविज्ञान, असामान्य मनोविज्ञान और विशिष्ट मनोविज्ञान। तीन प्रकार के व्यक्तित्व होते हैं और उनके आधार पर मनोविज्ञान में ये तीन वर्ग बने हुए हैं। कर्मवाद के आधार पर भी कर्म की तीन शक्तियां प्रस्तुत होती हैं—आवारक शक्ति, विकारक शक्ति और प्रतिरोधक शक्ति। आवारक शक्ति बिगाड़ती कुछ नहीं है, केवल पर्दा डालती है। जब आंखों पर पर्दा डाल दिया जाता है तब कुछ भी दिखाई नहीं देता। यह भी क्या कम नुकसान है! आश्चर्य होता है—कितनी शताब्दियों तक महिलाओं ने आंखों पर पर्दे को सहन किया है। आज भी यह पर्दा बड़ी मुश्किल से हटा है किन्तु अभी भी पूरा नहीं हट पाया है। पर्दा हटाने वाले लोगों को भी बहुत सुनना पड़ा है, सहना पड़ा है। यह माना जाता है—शरीर में सबसे ज्यादा प्रभावी, आनन्ददायी और शक्तिशाली हैं—आंखें। आंख है तो जगत है। आंख नहीं है तो कुछ भी नहीं है। हमारी चेतना की आंख पर कर्म ने पर्दा डाल रखा है, ज्ञान और दर्शन आवृत बने हुए हैं।

कर्म की विकारक शक्ति मोहनीय कर्म है। बिगाड़ करने वाला, चेतना में विकृति लाने वाला एकमात्र कर्म है मोहनीय कर्म। दूध में जामन दिया, दूध बिगड़ गया, दही बन गया। सघन मूर्च्छा हमारी चेतना को विकृत बनाए हुए है। हम सत्य की बात करते हैं किन्तु सत्य को पाना बहुत कठिन है। मूर्च्छा का घेरा इतना सघन है कि सत्य का पता ही नहीं चलता। व्यक्ति का प्रायः सारा जीवन मूर्च्छा में ही बीतता है। यदि मूर्च्छा न हो तो उसे जीवन कैसा ही लगने लग जाए। वह मूर्च्छा के कारण जीवन की सचाई से अपरिचित बना रहता है। उसे यह अनुभूति ही नहीं होती—मुझे इस दुनिया से एक दिन चले जाना है।

एक संभ्रांत परिवार के लोगों से बातचीत चल रही थी। परिवार के मुखिया व्यक्ति ने कहा—‘अमुक व्यक्ति यह काम कर रहा है। अमुक व्यक्ति कनाडा में व्यापार कर रहा है। अमुक भाई के तीन-चार फैक्ट्रियां चल रही हैं।’ मैंने कहा—‘भाई! तुम लोग व्यापार कर रहे हो, अन्धाधुन्ध खर्च कर रहे हो किन्तु आखिर क्या है?’ वे इस प्रश्न को सुन स्तब्ध रह गए।

अन्त में क्या होगा, इस बारे में व्यक्ति बहुत कम सोचता है। उसकी मूर्च्छा टूटती ही नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति जानता है—एक निश्चित अवधि के बाद यह जीवन नहीं रहेगा। आज तक कोई भी व्यक्ति अमर बनकर रहा नहीं है और रहेगा भी नहीं। लोग उपदेश देते हैं—एक दिन सबको मरना है। प्रत्येक व्यक्ति को सात्वना देने के लिए इस उपदेश पद का प्रयोग होता है किन्तु जहां

अपना प्रश्न आता है, व्यक्ति की अन्तरात्मा यह साक्षी नहीं देती कि मुझे भी मरना है। इस स्थिति का कारण है कर्म की विकारक शक्ति।

कर्म की एक शक्ति है प्रतिरोधक शक्ति। प्रतिरोधक शक्ति के कारण व्यक्ति स्खलित हो जाता है। व्यक्ति अनेक मंसूबे बांधता है, अनेक कल्पनाएं संजोता है, अनेक योजनाएं बनाता है किन्तु वे पूरी नहीं हो पातीं। वह सोचता कुछ है और हो जाता है कुछ। बहुत सारे लोगों के मन की बात मन में रह जाती है। रावण भी मन की बात मन में लेकर ही मरा था। दुनिया के जितने भी लोग हैं, उनके मन में यह शिकायत बनी रहती है, कसक बनी रहती है—मेरा अमुक कार्य पूरा नहीं हुआ, अधूरा रह गया। इस दुनिया का नियम है—सारी बातें किसी की पूरी नहीं होती, सारे सपने किसी के सच नहीं होते। इन सबका हेतु है—प्रतिरोधक कर्म का प्रबल होना।

दो चेहरे

दुःख का कारण है—कर्म को न समझ पाना। प्रश्न है—एक दिन को आदमी कैसे जीता है? प्रातः सूरज उगता है और सायं सूरज अस्त हो जाता है। रात उतरती है और रात ढल जाती है। अपने परिवार के साथ, अपने मित्रों के साथ, अपने समाज के साथ व्यक्ति दिन को बिताता है, जीवन को भोगता है। वह बाहर सबके साथ भोगता है किन्तु भीतर में अकेला जीता है, अकेला भोगता है। उसका बाहरी रूप भिन्न होता है, भीतरी रूप भिन्न होता है। किसी से बात करता है किन्तु मन में कुछ अन्यथा सोच रहा होता है। वह ऊपर से स्वयं को प्रसन्न दिखाता है किन्तु भीतर से दुःखों का ज्वार फूट रहा होता है। दुनिया में जीने वाले व्यक्ति का बाहरी चेहरा अलग है और भीतरी चेहरा अलग है। उसका बाहरी चेहरा समाज के साथ जुड़ा हुआ है और भीतरी चेहरा कर्मों के साथ जुड़ा हुआ है। बाहरी चेहरा एक मुखौटा बन गया है। उसके भीतर जो है, उसे पहचानना मुश्किल है।

कर्मवाद : जीवन का दर्शन

हमारा एक व्यक्तित्व है कर्म का व्यक्तित्व। जो आदमी कर्म की प्रकृति को नहीं जानता, वह अपनी प्रकृति को कैसे जानेगा? मनोविज्ञान ने मानवीय प्रकृति का विश्लेषण किया है। प्रत्येक व्यक्ति कर्म को जानकर अपने स्वभाव का विश्लेषण कर सकता है। जब तक हम कर्म के स्वभाव के बारे में नहीं सोचते तब तक हम अपने स्वभाव को भी नहीं बदल सकते। हमारा जो स्वभाव बना है, उसको बनाने वाली सत्ता हमारे भीतर है। उसे जाने बिना, उसकी निर्जरा किए बिना स्वभाव को बदलने का सूत्र प्राप्त नहीं होता।

कर्मवाद केवल सिद्धांत नहीं है, जीवन का दर्शन है। उसके आधार पर पूरे जीवन का प्रासाद खड़ा है। हम उसे केवल जानने के लिए न जानें किन्तु कर्म को अपने व्यवहार से जोड़ने के लिए जानें। इस स्थिति में ही निर्जरा की

बात, कर्म की प्रकृति में बदलाव की बात, स्वभाव परिवर्तन की बात संभव बन पाएगी। इसके लिए अपने अन्तर की गहराई में जाना जरूरी है। इसमें दूसरों का परामर्श बहुत काम नहीं आएगा।

मां-बाप बहुत तेज लड़ रहे थे। भाई ने अपनी बहिन से पूछा—‘मम्मी-पापा क्यों लड़ रहे हैं?’ बहिन ने कहा—‘मम्मी कह रही थी—मैंने तुम्हारे साथ शादी करके गलती की और पापा कह रहे थे—मैंने तुम्हारे साथ शादी करके गलती की!’ यह सुनकर भाई तत्काल बोल उठा—‘हमारी सलाह लिए बिना करेंगे तो ऐसा ही होगा।’

आज परामर्श की कमी नहीं है। कमी है आत्मनिरीक्षण की, आत्मानुभूति की। आत्मानुभूति के स्तर पर कर्म के स्वभाव को समझें, उसे समझकर जीवन को जीएं तो हमारे लिए बहुत कल्याणकारी और प्रशस्त मार्ग प्रस्तुत हो पाएगा।

कर्म : विपाक और स्थिति

धर्म के बारे में एक धारणा है—धारणात् धर्म उच्यते—जो समाज को धारण करता है, वह धर्म है। इस धारणा को स्वीकार किया जाए तो धर्म को समाज की व्यवस्था के अतिरिक्त कुछ नहीं कहा जा सकता। जैसे राजनीति के लोग समाज की व्यवस्था करते हैं वैसे ही धर्मिक लोग समाज की व्यवस्था करते हैं। समाज में अनैतिकता न आए, बुराई न आए यह धर्म का काम है और यहीं धर्म की सीमा समाप्त हो जाती है। जैन धर्म इस धारणा को स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार धर्म समाज को धारण करने के लिए नहीं है। वह व्यक्ति का आध्यात्मिक नियम है। जो लोग केवल समाज की भूमिका में सोचते हैं, उनके लिए धर्म बहुत छोटी सी बात बन जाता है। जैन धर्म के अनुसार धर्म एक आध्यात्मिक या आंतरिक नियम है। जब जैन आचार्यों ने स्थूल से हटकर सूक्ष्म में प्रवेश किया जब उन्हें लगा—व्यक्ति के भीतर व्यक्ति को चलाने का एक आंतरिक नियम है और उससे व्यक्ति चलता है। उन्होंने आंतरिक नियम के आधार पर बहुत सारे रहस्यों का पता लगाया। फ्रायड ने जो चेतन मन से हटकर अवचेतन मन की बात कही, वह स्थूल जगत की नहीं, सूक्ष्म जगत की बात थी। इस स्थिति में व्यक्ति आंतरिक जगत में पहुंच जाता है। अध्यात्म में, अन्तर्जगत में पहुंचे बिना सूक्ष्म जगत को जाना नहीं जा सकता।

चेतना और कर्म

धर्म को समझने के लिए कर्म को समझना बहुत जरूरी है। जो व्यक्ति कर्मवाद के मर्म को नहीं जानता, वह धर्म को नहीं जान सकता, अध्यात्म को नहीं जान सकता। अध्यात्म के दो मूल तत्त्व हैं—चेतना और कर्म। इन दोनों का संबंध है और इसी का नाम है अध्यात्म। जो चेतना और कर्म के संबंधों को नहीं जानता, उनकी व्याख्या को नहीं जानता, वह आध्यात्मिक नहीं हो सकता।

‘मिलावट मत करो’, ‘भ्रष्टाचार मत करो’—ये समाज के व्यापक नियम हैं। व्यक्ति इनमें धर्म माने या न माने, किन्तु वह इन्हें समाज हित में अवश्य स्वीकार करता है। क्या धर्म को न मानने वाले साम्यवादी देश भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन देंगे? कोई देश नहीं चाहता—हमारे राष्ट्र में भ्रष्टाचार, अनैतिकता और बुराइयां चले। यह चाह किसी भी देश या समाज की नहीं होती। धर्म इससे बहुत गहरे में आता है। उसका तात्पर्य है—उस स्थिति को देखना, जहां बन्धन हो रहा है, कर्म व्यक्ति को बांध रहा है। इन नियमों को समझने वाली चेतना अध्यात्म

चेतना है। जब हम अध्यात्म की चर्चा करते हैं, तब कर्म का बंध और कर्म का विपाक—इन दोनों की चर्चा करना भी जरूरी है।

कर्म का विपाक

सूत्रकृतांग सूत्र में कहा गया—

अस्मि च लोए अदुवा परत्था, सयग्गसो वा तह अण्णहा वा।

संसारमावन्न परंपरं ते, बंधंति वेयंति य दुष्णिग्याणि॥

कर्म विपाक को इस लोक में अथवा परलोक में, सैकड़ों बार या एक बार, उसी रूप में या दूसरे रूप में भोगा जाता है। संसार में पर्यटन करते हुए प्राणी आगे से आगे दृष्टकृत का बंध और वेदन करते हैं।

एक व्यक्ति कर्म का बंध करता है और उस कर्म का विपाक भोगता है। प्रश्न होता है, वह उसे कब भोगता है? क्या इस जन्म के कर्म को इसी जन्म में भुगत लेता है? क्या इस जन्म के कर्म को आगामी जन्मों में भी भुगतता है? इस प्रश्न के संदर्भ में चूर्णिकार ने कई विकल्प प्रस्तुत किए हैं—

१. इस लोक में कर्म किया और इसी लोक में विपाक आए।
२. इस लोक में कर्म किया और परलोक में विपाक आए।
३. परलोक में कर्म किया और इस लोक में विपाक आए।
३. परलोक में कर्म किया और परलोक में विपाक आए।

उदाहरण की भाषा में बतलाया गया—एक आदमी ने किसी आदमी का सिर काट डाला, उसे मार दिया और मृत व्यक्ति के लड़के ने मारने वाले का सिर काट डाला। इस लोक में कर्म किया और इसी लोक में विपाक को भुगत लिया। यह विपाक का एक प्रकार है।

विपाक का दूसरा प्रकार है—इस लोक में कर्म किया और उसे अगले जन्म में भुगतना पड़ा। एक व्यक्ति ने इस लोक में एक आदमी को मार डाला, परलोक में वही व्यक्ति उस व्यक्ति को मार डालता है। यह इहभव कर्म का परभव में विपाक है। आचार्य भिखु ने लिखा—*वैरी स्यूं वैरीपणो चालियो जाय मित्र स्यूं मित्रपणो चालै*—शत्रुता और मित्रता का अनुबन्ध चलता रहता है। इस जन्म के वैर का बदला अगले जन्म में भोगना पड़ता है। इस जन्म में किसी व्यक्ति का भला किया, अगले जन्म में वह उसका भला करता है। हम ऐसी बहुत सारी घटनाएं पढ़ते हैं। एक व्यक्ति ने किसी व्यक्ति से दस हजार रुपये उधार लिए। बहुत मांगने पर भी वे रुपये उसे वापस नहीं मिले। उधार देने वाला व्यक्ति मर गया। उसने मरकर उसके बेटे के रूप में जन्म लिया। वह थोड़ा बड़ा होते ही बीमार पड़ गया। ईलाज करवाया गया। ईलाज पर दस हजार रुपया खर्च हो गया। वह बोला—*तुम्हारा दस हजार रुपया लग गया, मेरा बदला चुक गया। अब मैं जा रहा हूँ और सचमुच उस व्यक्ति ने उस घर से विदा ले ली।*

कर्मवाद : महत्त्वपूर्ण नियम

आज भी ऐसी अनेक घटनाएं जानने और पढ़ने को मिलती हैं और ऐसा होता भी है। इस जन्म में किया हुआ कर्म इस जन्म में और इस जन्म में किया हुआ कर्म परलोक में भुगतना पड़ता है। जब-जब कर्म का विपाक आता है, व्यक्ति दुःखी बन जाता है। आदमी कहता है—अचानक वज्रपात हो गया। मेरा लड़का चला गया, मेरी पत्नी चली गई, मेरा धन चला गया। आदमी को बड़ा कष्ट होता है। वह यह नहीं सोचता—जब मैंने किसी का कुछ भी नहीं बिगाड़ा तो मेरा बिगाड़ने वाला कौन होगा? इस स्थिति में जब तक कर्मवाद को नहीं समझा जाता, घटना की सही व्याख्या नहीं हो सकती। आदमी उलझा-उलझा रहता है। आदमी न जाने कितने कर्मों का बन्धन करता चला जाता है। वह सोचता है—सारी शक्ति मेरे हाथ में है। मैं जो चाहूँ, करूँ। मेरा कौन बिगाड़ने वाला है? माओ ने कहा था—सत्ता बन्दूक की नौक पर चलती है। जब तक हाथ में बन्दूक है, वह उसे चला सकता है। किन्तु इस दुनिया में कोई अपवाद नहीं है, जो बच सके। कोई आज भुगत रहा है, कोई दो दिन बाद भुगतेगा, कोई सौ दिन बाद भुगतेगा। एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जिसने कर्म किया है और जो उसका परिणाम नहीं भुगतेगा। कर्मवाद का यह महत्त्वपूर्ण नियम है—कृत-कर्म का परिणाम भुगतना होगा।

कर्मवाद का दूसरा नियम है—कृत-कर्म को एक बार नहीं, सौ बार भी भुगतना पड़ सकता है। कभी-कभी आदमी अत्यन्त तीव्रता और क्रूरता से कर्म का बन्ध करता है। उसका परिणाम अनेक बार भुगतना पड़ सकता है। किसी व्यक्ति ने एक आदमी को सताया, पीड़ा दी, दुःख दिया और देता ही चला गया। कुछ सोचा ही नहीं। उसका परिणाम बहुत भयंकर आता है और अनेक बार भी आ सकता है। तीव्र आसक्ति का परिणाम एक जन्म नहीं, दो जन्म नहीं, सौ-सौ जन्म तक भुगतना पड़ता है। यहां तक कहा गया—अनन्त बार भुगतना पड़ता है। राजस्थानी भाषा का प्रसिद्ध दूहा है—

दाम दूणा धान तीणा, घी चौपड़ नौ बार।

तिणो तेरह बार, जीव रो वैर अनन्ती बार॥

कर्म के प्रति सजग बनें

हम कर्म के नियमों को नहीं जानते, अत्यन्त प्रमाद और उन्माद के साथ कर्मों को बांध लेते हैं। जब उनका गहरा परिणाम भुगतना पड़ता है तब पता चलता है कितना दुःख हो रहा है। व्यक्ति की दशा दयनीय बन जाती है। उस पर दया आने लगती है किन्तु उसने कर्म के बारे में कभी सोचा ही नहीं। वह अपने कृत के प्रति कभी सजग नहीं बना। वह नहीं सोचता—मैंने दूसरों के प्रति क्या किया? अनेक व्यक्ति दूसरों के साथ निर्मम व्यवहार करते हैं, दूसरों को पीड़ा देते हैं, सताते हैं, छोटे-छोटे प्राणियों के प्रति बुरा व्यवहार करते हैं और यह कभी नहीं सोचते—मैं क्या कर रहा हूँ। वे लोग विपाक के समय अत्यन्त

दुःखी बन जाते हैं। उन्हें अपने बुरे कर्मों का फल लम्बे समय तक भुगतना पड़ता है, अनेक बार भुगतना पड़ता है।

विपाक के दो प्रकार

कर्म का विपाक दो प्रकार से होता है तथा-विपाक और अन्यथा-विपाक। तथा-विपाक का अर्थ है—जिस रूप में कर्म किया, उसे उसी रूप में भोग लेना। जैसे एक व्यक्ति ने किसी के पुत्र को मार दिया। अगले जन्म में उसने उसके पुत्र को मार दिया। यह तथा-विपाक है। एक व्यक्ति ने किसी व्यक्ति का धन चुरा लिया, दूसरे व्यक्ति ने भी उसका धन चुरा लिया और बदला ले लिया।

दूसरा है अन्यथा-विपाक। एक व्यक्ति ने किसी के पुत्र को मार डाला। सामने वाला व्यक्ति उसके डाका डलवा देता है, चोरी करवा देता है, उसके भूखों मरने की नौबत आ जाती है। यह है अन्यथा-विपाक।

कर्म विपाक के ऐसे अनेक नियम हैं। यदि उनका पूरा अध्ययन किया जाए तो अध्यात्म के नियमों को समझा जा सकता है। अध्यात्म के सैकड़ों नियम हैं। केवल उच्चारण से उन्हें नहीं समझा जा सकता। जैन साहित्य में मृगालोद्धा की घटना उपलब्ध होती है। वह राजा के घर जन्मा। उसने एक रानी की कुक्षी से जन्म लिया पर वह जन्मा लोढ़े जैसा। न मरा हुआ और न जिन्दा, न पत्थर और न आदमी। उसकी अवस्था विचित्र थी। उसके शरीर से इतनी बदबू आती कि कोई भी व्यक्ति उसके पास नहीं जा सकता। गौतम स्वामी के मन में उसे देखने की जिज्ञासा उभर आई। वे उसे देखने गए। रानी ने कहा—‘महाराज! नाक बन्द कर लीजिए, दुर्गंध को सह नहीं पायेंगे।’ रानी उसकी परिचर्या करती थी और गौतम उसे देखकर विचलित हो गए। गौतम ने भगवान से पूछा—‘भंते! आज मैंने एक लोढ़ा देखा। उसकी दशा अत्यन्त करुणा पैदा करने वाली है। मेरे मन में यह प्रश्न उभर रहा है—वह राजा के घर जन्म लेकर भी ऐसी दशा क्यों भोग रहा है?’ भगवान बोले—‘गौतम! वह कैसा है, इसे मत देखो! उसने क्या-क्या किया है, उसे देखो। तुम उसके पूर्वजन्म के वृत्त को देखो, तुम्हारा प्रश्न समाहित हो जाएगा।’

जैन आख्यानो में भवान्तरों का बहुत वर्णन मिलता है। रामायण तथा अन्यान्य बड़े ग्रन्थों में भी ऐसे प्रसंगों की बहुलता है। अमुक व्यक्ति ने पूर्वजन्म में क्या किया और उसे इस जन्म में उसका क्या परिणाम मिला? ऐसे प्रसंगों को, भवान्तर के घटना-क्रमों को जानने से व्यक्ति अनेक नियमों को समझने का अवसर पा लेता है।

विचित्र होते हैं कर्म विपाक

कर्म के विपाक बहुत विचित्र होते हैं। यदि प्रज्ञावान सूत्र के कर्मवाद को पढ़ा जाए तो कर्म विपाक के नियमों को समझा जा सकता है। कर्म का विपाक कब होता है? कैसा होता है? कर्म विपाक में कई कारण बनते हैं। कहा गया—

‘गतिं पप्य, ठितिं पप्य, भवं पप्य, पोग्गलं पप्य, पोग्गल-परिणामं पप्य।’

गति, स्थिति, भव, पुद्गल, पुद्गल परिणाम—ये सारे कर्म विपाक के कारण हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल; भाव, आदि भी कर्म विपाक में निमित्त बनते हैं।

कर्म विपाक के साथ निमित्तों का भी एक सम्बन्ध रहता है। जो व्यक्ति इन नियमों को समझ लेता है, वह धर्म की अच्छी आराधना कर सकता है, अपने भाग्य की साधना कर सकता है, आने वाली बुराइयों और विपदाओं से भी बच सकता है।

कर्म विपाक और क्षेत्र

यह धारणा सही नहीं है—कर्म करने के बाद जागरूकता होने से क्या? जो कर्म कर लिया, उसके विपाक को भोगना ही पड़ेगा। कर्मवाद का नियम है—यदि हम कर्म के प्रति जागरूक बन जाएं तो कर्म के विपाक को बदलने का अधिकार हमें उपलब्ध हो जाता है। कर्म के विपाक को भी बदला जा सकता है। उसके बदलने के कुछ नियम हैं। यदि द्रव्य को बदल दिया जाए, क्षेत्र को बदल दिया जाए तो कर्म का विपाक बदल जाएगा। इस सिद्धांत को हम एक सामान्य घटना से समझें। कुछ लोग असम में रहते थे। कालान्तर में वे गुजरात व राजस्थान में रहने लग गए। उनसे पूछा गया—‘असम को छोड़कर इधर क्यों आए?’ उन्होंने जवाब दिया—‘असम की एरिया में श्वास की बीमारी भयंकर बन जाती है। उस स्थिति में वहां रहा नहीं जा सकता। गुजरात, राजस्थान आदि में श्वास की बीमारी ठीक रहती है। इसलिए हमने असम से अपने व्यापार को समेट लिया, राजस्थान, गुजरात आदि क्षेत्रों में काम कर लिया।’

कर्म के विपाक का एक निमित्त है क्षेत्र। एक क्षेत्र में कर्म का विपाक होता है, दूसरे क्षेत्र में कर्म का क्षय हो जाएगा। आचार्य भिक्षु ने भरत चरित में भरत के महलों का बहुत सुन्दर वर्णन किया है। जिस प्रासाद में भरत केवली बने, वह कांच का महल था, आदर्श महल था। उस प्रासाद में केवल भरत ही केवली नहीं बने, सात राजा और कैवल्य को प्राप्त हुए। नौवें राजा ने सोचा—यह कैसा मकान, इसमें जो प्रवेश करता है, रहता है, वह घर को छोड़ साधु बन जाता है। ऐसा होना अच्छा नहीं है। इस महल को तुड़वा देना चाहिए। आठ राजाओं ने उस आदर्श भवन में बिना वेश बदले गृहस्थ के वेश में बैठे बैठे ध्यान किया। वे ध्यान में लीन हुए और शुक्ल ध्यान की अवस्था में पहुंच गए। उन्हें कैवल्य उपलब्ध हो गया। वे सब कुछ उपलब्ध कर आदर्श भवन से बाहर आए। वह कितना सुन्दर क्षेत्र था! नौवें राजा को यह कार्य अच्छा नहीं लगा। उसने उस महल को तुड़वा दिया। एक क्षेत्र के साथ जो उपलब्धि जुड़ी हुई थी, वह समाप्त हो गई।

कर्म विपाक और काल

काल के साथ भी कर्म विपाक का संबंध है। काल के साथ कर्म विपाक की स्थितियां बदलने लग जाती हैं। जब सर्दी का मौसम होता है तो सर्दी लगने लग जाती है, शीतजन्य बीमारियां हो जाती हैं। जब गर्मी का मौसम होता है, लू लगने लग जाती है। जब वर्षा का मौसम होता है, सर्दी और गर्मी दोनों नहीं होते। उस समय कुछ दूसरे प्रकार के रोग होने की संभावना बढ़ जाती है। काल के साथ स्थिति बदल जाती है। प्रातःकाल नौ-दस बजे का समय दर्शनावरणीय कर्म के विपाक का समय नहीं है, वह नींद लेने का समय नहीं है। रात के

नी-दस बजे दर्शनावरणीय कर्म के विपाक का समय होता है। यदि उस समय नींद न आए तो वह आश्चर्य की बात हो सकती है।

हम काल के आधार पर कर्म-विपाक को समझ सकते हैं। स्वरोदय शास्त्र में ढाई-ढाई घड़ी का समय बांटा गया। सूर्योदय से लेकर प्रत्येक ढाई घड़ी के पश्चात व्यक्ति का स्वर बदल जाता है। यदि सूर्य स्वर और चन्द्र स्वर के आधार पर कर्म विपाक को समझा जाए, जैविक घड़ी—बायोलॉजिकल वाच के आधार पर कर्म के विपाक को समझा जाए तो कर्म-विपाक से बचने का मार्ग प्राप्त हो जाए। स्वरोदय शास्त्र का श्लोक है—

चंद्रकाले यदा सूर्यः, सूर्यश्चन्द्रोदये भवेत्।

उद्वेगः कलहो हानिः, शुभं सर्वं निवारयेत्॥

जब सूर्यकाल में चन्द्रस्वर चलता है और चन्द्रकाल में सूर्यस्वर चलता है तब उद्वेग, कलह, हानि की संभावना प्रबल बनती है, शुभ कार्य में बाधा प्रस्तुत हो जाती है।

चन्द्रकाल में चन्द्रस्वर चले, सूर्यकाल में सूर्यस्वर चले और सुषुम्नाकाल में सुषुम्ना स्वर चले तो व्यवस्था बहुत ठीक चलती है।

स्वर विज्ञान में कहा गया—जितने भी सौम्य कर्म हैं, वे चन्द्र स्वर में करने चाहिए। जितने कठिन कार्य हैं, जिनमें अधिक श्रम करना पड़ता है, जिनमें शक्ति की जरूरत होती है, वे कार्य सूर्यस्वर में करने चाहिए। सुषुम्ना प्रवाह के समय योग एवं मुक्ति के फल को देने वाले कर्म करने चाहिए—

चंद्रनाडीप्रवाहेण सौम्यकार्याणि कारयेत्।

सूर्यनाडीप्रवाहेण रौद्रकर्माणि कारयेत्।

सुषुम्नायाः प्रवाहेण, भुक्तिमुक्तिफलानि च॥

सूर्यस्वर के समय पिंगला नाड़ी या सिम्पेथेटिक नर्वस सिस्टम सक्रिय होता है, जो शक्ति देता है। मानना चाहिए—अंतराय कर्म के क्षयोपशम का समय है सूर्य स्वर और ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण के क्षयोपशम का समय है चन्द्रस्वर। इसी आधार पर बताया गया—किस समय मुनि को स्वाध्याय करना चाहिए और किस समय मुनि को स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। किस समय ध्यान करना अच्छा है और किस समय ध्यान करना अच्छा नहीं है। यह निर्देश दिया गया—एक मुनि को साढ़े ग्यारह से साढ़े बारह बजे तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। रात्रि दो बजे से लेकर चार बजे तक का समय ध्यान के लिए श्रेष्ठ होता है। आत्मनिरीक्षण सका समय है पूर्व रात्रि या अपर रात्रि।

चिन्तन कब करना चाहिए, धर्म जागरिका कब करना चाहिए आदि-आदि के जितने नियम बनाए गए हैं, उनका मुख्य आधार है काल। किस समय में, किस काल में किस कर्म का विपाक होता है? इस तथ्य के आधार पर अनेक नियमों की संरचना की गई और वे आज भी वैज्ञानिक बने हुए हैं। नियम नहीं जानने वाले व्यक्ति कह देते हैं—अमुक समय यह काम करो, अमुक समय यह काम मत करो। यह सारा अंधविश्वास है। इन नियमों को अंधविश्वास मानने वाले बहुत घाटे में रहते हैं और इन नियमों को जानने वाले बहुत लाभान्वित

होते हैं। हमने जगत सेठ का नाम सुना है। एक समय था—उनके पास आजीविका चलाने का कोई साधन नहीं था। वे एक दिन एक जैन मुनि के पास आए। जैन मुनि ने कहा—‘तुम मंगल पाठ सुन लो। यह बहुत श्रेष्ठ समय है।’ जैन मुनि ने स्वर के आधार पर यह निर्णय किया था। जगत सेठ वहाँ से सीधा व्यापार के लिए चल पड़ा। उसका भाग्य खुल गया। उसके घर पर धन का अंबार लग गया। दुनिया के श्रेष्ठ व्यापारियों में उसका नाम विश्रुत हो गया।

नियमों को जानें

जो नियम को जानता है, वह समय का लाभ उठा सकता है, अपने कार्य में सफल हो सकता है। हम स्वयं इस बात को जानते हैं—किस समय कौनसा काम किया और उसका प्रतिकूल परिणाम आया। किस समय कौनसा काम किया और उसका अनुकूल परिणाम सामने आया। इस नियम को समझने वाला हानि नहीं उठाता। हम एक नियम की और मीमांसा करें। प्रश्न होता है—पहले प्रहर में स्वाध्याय और दूसरे प्रहर में ध्यान का नियम क्यों बनाया गया? जैविक घड़ी के आधार पर इस तथ्य की छानबीन की गई। उसका निष्कर्ष था—चिन्तन, मनन और बौद्धिकता का जो काम है, वह नौ बजे के बाद होना चाहिए। स्मृति-जन्य जो काम है, वह नौ बजे के पहले होना चाहिए। नौ बजे से पहले स्मृति-जन्य कार्य अच्छा होता है, नौ बजे से बाद चिन्तन-जन्य कार्य अच्छा होता है। अगर कोई अनुसंधान करना है तो उसके लिए दो बजे के बाद का समय उत्तम है।

दर्शन प्रायोगिक बने

काल के आधार पर कर्म का कैसा विपाक होता है, इसे हम स्वरोदय शास्त्र और जैविक घड़ी के संदर्भ में समझ सकते हैं। कर्म विपाक का एक नियम काल से बंधा हुआ है। उसके और भी अनेक-अनेक नियम हैं। उन्हें समझाने के लिए अनेक दृष्टिकोणों से सोचना आवश्यक है। उत्तराध्ययन सूत्र में कर्म के विपाक का बहुत सुन्दर वर्णन प्राप्त है। हम उससे लाभ उठा सकते हैं। सिद्धान्त सिद्धान्त होता है और व्यवहार व्यवहार होता है। हमारे सामने प्रश्न है—सिद्धान्त को व्यवहार में कैसे लाएं? कर्मवाद का अर्थ ही है—एप्लाइड फिलॉसफी—प्रायोगिक दर्शन। इसका सम्यक् मनन करने वाला व्यक्ति अपने जीवन में ऊंचाइयों को छू सकता है, सफल और सार्थक जीवन जी सकता है।

लेश्या : भावधारा

तुम्हारी इच्छा क्या है? तुम्हारी भावना क्या है? तुम क्या सोचते हो? ये तीन प्रयोग हमारी चेतना के तीन स्तरों को अभिव्यक्त करते हैं। हमारी चेतना के कई स्तर हैं। इन स्तरों के आधार पर भाषा के भी अलग-अलग प्रयोग विकसित हुए हैं। 'तुम्हारी इच्छा क्या है' इस वाक्य में कोई चिन्तन नहीं है, मन का भी सवाल नहीं है। यह मन से परे की बात है। इच्छा चेतना का बहुत गहरा स्तर है। मन बहुत ऊपर रह जाता है।

इच्छा से आगे भावना का स्तर है। 'तुम्हारी भावना क्या है' यह भावना होने का स्तर है। इसके नीचे रहती है इच्छा। क्या होना है? जो घटित हो रहा है, अपने आप हो रहा है और जिसे हम कर नहीं रहे हैं, वह भावना है। भीतर में कुछ ऐसा है कि सब कुछ अपने आप चल रहा है। हमारी कोई चेष्टा नहीं है, प्रयत्न नहीं है किन्तु ऐसी कोई आंतरिक शक्ति या प्रेरणा जागती है, जिससे अपने आप एक क्रम चल रहा है। यह है भावना का स्तर। बाहर से कुछ दिखाई नहीं दे रहा है और भीतर में सब कुछ घटित होता जा रहा है। कबीर का प्रसिद्ध वाक्य है—

बाहिर से तो कछू य न दीखे भीतर चल रही जोत।

आग को राख से ढक दिया। बाहर से कुछ नहीं दिख रहा है पर भीतर एक ज्योति जल रही है। इसी प्रकार भाव हमारी चेतना का वह स्तर है जो बाहर से कुछ नहीं दिखता पर भीतर ही भीतर अपना काम कर रहा है। भीतर में एक आग निरन्तर जल रही है। अनेक बार हम कई लोगों से पूछते हैं—तुम यह सब कर रहे हो आखिर इसके पीछे तुम्हारी क्या भावना है? ऐसा प्रश्न अनेक बार पूछा जाता है—जो आचरण किया जा रहा है, उसके पीछे भावना क्या है? इसका अर्थ है—करने के नीचे है भावना का स्तर।

बंदर का चातुर्य

एक मगरमच्छ ने बंदर से दोस्ती कर ली। आम का मौसम आया। नदी के किनारे आम का एक विशाल पेड़ था। बंदर ने आम तोड़ा और उसे मगरमच्छ के मुँह में डाल दिया। उसे भी आम बड़ा मीठा लगा। मगरमच्छ को आम खाने का चस्का लग गया। एक दिन मगरमच्छ की पत्नी ने पूछा—'आजकल तुम देर से क्यों आते हो? क्या बात है?' मगरमच्छ ने कहा—'नदी के किनारे मेरा एक मित्र रहता है। वह मुझे रोज मीठे-मीठे आम खिलाता है। आम इतने मीठे होते हैं कि मैं उन्हें छोड़ नहीं सकता इसीलिए रोज देर हो जाती है।' पत्नी ने कहा—'अकेले ही खाते हो, मुझे नहीं खिलाते।' पत्नी

के मन में विकल्प उठा—‘जो बंदर रोज इतने आम खाता है, उसका मांस कितना मधुर होगा?’ उसने पति से आग्रह किया—‘मुझे आम नहीं चाहिए। मुझे वह बंदर चाहिए, जो इतने मीठे-मीठे आम खाता है। आप उस बंदर को लाएं, मैं उस बंदर को खाऊंगी। मुझे बंदर का कलेजा चाहिए।’ मगरमच्छ ने कहा—‘तुम कैसी बात करती हो? वह मेरा मित्र है, मैं उसे कैसे मारूँ?’ मगरमच्छ की पत्नी अपने आग्रह पर अड़ी रही। मगरमच्छ कृतघ्न नहीं था किन्तु पत्नी के दुराग्रह के सामने उसे झुकना पड़ा। उसने सोचा—‘यदि इसकी भावना पूरी नहीं करूँगा तो घर में कलह होगा, अशांति हो जाएगी।’ वह दूसरे दिन बंदर से बोला—‘भैया! मेरी पत्नी ने तुम्हें बुलाया है? क्या तुम उससे मिलना नहीं चाहोगे?’ बंदर बोला—‘मैं पानी में कैसे जा सकता हूँ?’ मगरमच्छ ने उसकी समस्या को समाहित करते हुए कहा—‘तुम मेरी पीठ पर बैठ जाओ, मैं तुम्हें ले चलूँगा।’ मगरमच्छ की बात स्वीकार कर बंदर उसकी पीठ पर बैठ गया। मगरमच्छ बहुत भावुक था। उसने मार्ग में यह बात बता दी कि तुम्हारी भाभी ने तुम्हारा कलेजा खाने के लिए तुम्हें बुलाया है। बंदर ने चतुराई से काम लिया। उसने कहा—‘तुम कैसे मूर्ख हो? हम तो पेड़ों पर इधर-उधर कूदते-फाँदते रहते हैं, कलेजा साथ में नहीं रखते। पहले बताते तो कलेजा साथ ले आता। चलो, वापस चलो, हम कलेजा ले आते हैं।’ मगरमच्छ वापस किनारे की तरफ चल पड़ा। जैसे ही तट आया, बन्दर उछल कर पेड़ पर चढ़ गया।

मगरमच्छ भावना के स्तर पर था, उसमें चिन्तन नहीं था। ज्योंहि बंदर पेड़ पर चढ़ा, मगरमच्छ उसे देखता रह गया। उसे बंदर का चातुर्य समझ में आ गया।

चिन्तन और भावना

हर प्राणी भावना के स्तर पर काम करता है। गाय, बैस, हाथी, घोड़ा—इनमें चिन्तन नहीं होता। इनके पास मन है, पर बहुत छोटा मन है। त्रैकालिकसंज्ञानं मनः—दीर्घकालिकी संज्ञा है मन—मन की यह परिभाषा शायद पशुओं में ज्यादा घटित नहीं होती। यह परिभाषा मनुष्यों के लिए घटित हो सकती है पर सभी मनुष्यों के लिए भी नहीं। ऐसे भोले आदमी भी हैं, जो एक घंटा बाद की बात भी नहीं सोच सकते और एक घंटा पहले क्या किया, यह भी नहीं सोच सकते। न उन्हें कुछ याद रहता है, न कल्पना कर सकते हैं, न योजना बना सकते हैं और न चिन्तन कर सकते हैं। समनस्क होते हुए भी अनेक मनुष्य इस प्रकार के होते हैं। पशुओं की बात ही क्या है?

मन का काम है—सोचना, चिन्तन करना। मन और भाव एक नहीं हैं। लेश्या मन नहीं है। भाव हमारी चेतना का गहरा स्तर है, जिसे मनोविज्ञान की भाषा में सब-कोशियस कहा जा सकता है। मनोविज्ञान में तीन शब्द हैं—कोशियस, सब-कोशियस और अन-कोशियस, अचेतन मन हमारा अध्यवसाय हो सकता है। यहाँ अचेतन का अर्थ जड़ नहीं है। जहाँ चेतन मन काम नहीं करता वहाँ भीतरी चेतना काम करती है और उसी का नाम है अचेतन मन।

जैन दर्शन की भाषा में कहा जा सकता है—अध्यवसाय हमारी सूक्ष्मतर चेतना है। भाव या लेश्या हमारी सूक्ष्म चेतना का स्तर है और चिन्त हमारी स्थूल चेतना है। जो लेश्या का स्तर है, वह होने का, सूक्ष्म चेतना का स्तर है, जहां प्रतिक्षण घटित हो रहा है, भाव का चक्का निरंतर चल रहा है। जब हम नींद में सोते हैं तब हमारा चेतन-मन काम नहीं करता किन्तु भाव बराबर काम करता है। नींद में भी भावनाएं चल रही हैं, लेश्याएं चल रही हैं। आदमी सोता है, लेश्याएं कभी नहीं सोती, भाव कभी नहीं सोते। भाव मन से काम लेता भी है और नहीं भी लेता। आदमी जागता है तो मन से काम लेता है और सोता है तो काम नहीं लेता। चेतन मन काम करता है तभी हम मन से काम करते हैं। यह चेतना का स्थूल स्तर है।

लेश्या : शब्द-मीमांसा

लेश्या हमारी चेतना की एक रश्मि है। शब्द भी बड़ा जटिल खोजा गया—लेश्या। इस शब्द पर भी बहुत उलझनें पैदा हुई हैं। लेश्या का अर्थ किया गया है—ज्योति-रश्मि। जैसे सूरज की रश्मियां होती हैं वैसे ही हमारी चेतना की रश्मियां होती हैं। चेतना हमारे भीतर है किन्तु उसकी किरणें बाहर तक फैल जाती हैं। नंदी की चूर्णि में इस शब्द पर बहुत ध्यान दिया गया। यह शब्द है रस्सी से बना लस्सी और उससे बन गया—लेस्सा-लेश्या। एक समीकरण बन गया—रस्सी+लस्सी+लेस्सा=लेश्या। रस्सी रज्जु का भी नाम है।

हमारा जो आचरण है, व्यवहार है, उसका संबंध मन से नहीं है, मन से परे की चेतना से है। एक आदमी बहुत समझदार और चिन्तनशील है किन्तु वह प्रकृति से कुटिल है। चिन्तन का संबंध मन से है पर कुटिलता का संबंध मन से नहीं है। व्यवहार में यह आरोपण भी कर दिया जाता है—अमुक व्यक्ति का मन बहुत कुटिल है। मन न सीधा होता है न टेढ़ा। यह वक्रता भाव से पैदा होती है। एक आदमी क्रूर है, नृशंस है। प्रश्न होता है—यह नृशंसता और क्रूरता कहाँ से पैदा हुई? यह मन से नहीं, भाव से आती है।

कृष्ण लेश्या का एक परिणाम बतलाया गया है—नृशंसता। इसी प्रकार जो व्यक्ति पांच आश्रवों में प्रवृत्त है, तीव्र आरम्भ में संलग्न है, षट्काय से अविरत है, क्षुद्र है, अजितेन्द्रिय है, बिना विचारे काम करने वाला है, वह कृष्ण लेश्या में परिणत होता है। प्रमत्तता, आसक्ति, रस-लोलुपता, मूर्च्छा आदि से युक्त जो प्रवृत्ति है, वह मन का काम नहीं है। वह भावना के स्तर पर घटित होने वाली क्रिया है।

पशु में भी है भावना का स्तर

यह भावना का स्तर प्रत्येक प्राणी में होता है। क्या एक कुत्ते में मन की शक्ति है? उसमें कल्पना और योजना बनाने की शक्ति है किन्तु वह भावना के स्तर पर होती है। जब बादल आते हैं तब टिट्टिभ (टिटोड़ी) बहुत तेज बोलती है। वह अंडा देती है खुले में। घोंसला नहीं बनाती। वह इतनी सुरक्षा करती है कि आदमी सोच ही नहीं सकता। वह सुरक्षा किस आधार पर करती है? यह सारा प्रयत्न भावना से प्रेरित होता है। भावना का स्तर पशु में बहुत प्रबल होता है।

शिकारी जंगल में शिकार की टोह में घूम रहा था। उसे एक हरिणी दिखाई दी। उसने हरिणी की ओर निशाना साधा। हरिणी ने भावुक स्वर में कहा—

आदाय मांसमखिलं स्तनवर्जितांगाद्,
मां मुञ्च वागुरिक! यामि कुरु प्रसादम्।
अद्यापि शस्यकवलग्रहणादभिज्ञाः,
मन्मार्गवीक्षणपराः शिशवो मदीयाः॥

‘शिकारी! तुम मेरा पूरा मांस ले लो, केवल दो स्तनों को छोड़ दो। मैं एक बार अपने बच्चों के पास जाना चाहती हूँ क्योंकि मेरे बच्चे बहुत छोटे हैं। वे अभी तक घास चरना भी नहीं जानते। वे मेरी बाट जोह रहे हैं—कब मां आती है? कब स्तनपान कराती है? इसलिए हे शिकारी! तुम कृपा करो और कुछ देर के लिए मुझे छोड़ दो।’

यह बात चिन्तन के स्तर पर नहीं, केवल भावना के स्तर पर ही पैदा हो सकती है।

विकास हो नई शाखा का

हम इस सचाई को समझें—हमारा आचरण और व्यवहार मन से जुड़ा हुआ नहीं है। बार-बार यह कहा जाता है—मन ही ऐसा है? मन पकड़ में ही नहीं आता। वह पकड़ में कैसे आएगा? जो काम मन का ही नहीं है, हम उसका आरोपण मन पर कर रहे हैं। हमें मन से आगे पहुंचना होगा, लेश्या के स्तर पर, भावना के स्तर पर पहुंचना होगा। उस स्तर को पकड़ कर ही हम समस्या का समाधान कर सकते हैं। पूरे आचार-शास्त्र और व्यवहार-शास्त्र की मीमांसा भावना के स्तर पर की जा सकती है। आज विज्ञान की एक पूर्ण शाखा बन गई—मनोविज्ञान (साइकोलाजी)। यह बहुत भ्रामक शब्द बन गया है। हमारे आचरण और व्यवहार की व्याख्या मन के स्तर पर नहीं की जा सकती। यदि हम मन के स्तर पर व्याख्या करेंगे तो भ्रांति के चक्रव्यूह में फंस जाएंगे। जैसे मनोविज्ञान विज्ञान की एक शाखा है वैसे ही एक नई शाखा का विकास होना चाहिए।

लेश्या का मतलब है भावविज्ञान। पहला नंबर होना चाहिए भावविज्ञान का और दूसरे नंबर पर रहना चाहिए मनोविज्ञान। हम भावविज्ञान को छोड़कर मनोविज्ञान के आधार पर अपने व्यक्तित्व का अंकन करना चाहेंगे तो भ्रांतियां बढ़ती चली जाएंगी। आज मनोविज्ञान के संदर्भ में जो चल रहा है, क्या हम उसे आंख मूंद कर मान लें? स्वीकार कर लें? ऐसा करना ठीक नहीं होगा। हमारे पास ज्ञान और चिन्तन की बहुत बड़ी राशि है और वह हमें विरासत में मिली है। हम इसका उपयोग करें और मनोविज्ञान के सामने इस बात को प्रस्तुत करें—मनोविज्ञान के आधार पर व्यक्तित्व का जो अंकन किया जाता है, उसकी जो चिकित्सा की जाती है, वह तब तक सफल नहीं होगी जब तक भावना का बल उसके साथ नहीं जुड़ेगा। मनोविज्ञान की सफलता के लिए भावविज्ञान का मूल्यांकन और उपयोग अनिवार्य है।

भावना का चमत्कार

राजलदेसर के एक भाई ने कहा—‘महाराज! मेरा बारह साल का एक लड़का छह माह से बहुत बीमार है। मैं छह माह से इसका इलाज करा रहा हूँ पर कुछ भी लाभ नहीं हुआ। चलना तो दूर की बात है, वह उठ भी नहीं सकता। प्रेक्षाध्यान के प्रशिक्षक ने उसे भावना का प्रयोग कराया, संकल्प-शक्ति का प्रयोग कराया। पांच-छह दिन के प्रयोग से ही लड़के के स्वास्थ्य में आश्चर्यजनक सुधार आ गया। जो लड़का उठ भी नहीं सकता था, वह आज राजलदेसर से चलकर आपके दर्शनार्थ लाडनूँ पहुँच गया है।’

यह है भावना का चमत्कार! बहुत गहरा है भावना का प्रयोग! हम जो सजेशन देते हैं, वे मन को नहीं, भाव को छूते हैं। जो मन के स्तर पर रहता है, वह कभी सफल नहीं हो सकता। हम मन के उस पार भावना के स्तर पर अपनी बात पहुँचा दें, एक दिन में परितर्वन घटित हो जाएगा। इसके लिए अपेक्षित है मनोविज्ञान के साथ साथ भावविज्ञान का गहरा अध्ययन। उत्तराध्ययन का चौतीसवाँ लेश्या अध्ययन भावविज्ञान का अध्ययन है। यदि हम इसका गहराई से विश्लेषण करें तो शायद एक भ्रांति-चक्र को तोड़कर गहरी सचाई तक पहुँच जाएंगे।

लेश्या सिद्धान्त : ऐतिहासिक अवलोकन

लेश्या का सिद्धान्त पहले दार्शनिक जगत में चर्चित था और आज वह वैज्ञानिक चर्चा का विषय बन चुका है। नाम बदल सकता है पर सिद्धान्त वही है। आज विज्ञान के क्षेत्र में 'ओरा' पर काफी चर्चा हो रही है। दो शब्द हैं—ओरा और हेलो। पूरे शरीर के चारों ओर जो वलय होता है, वह ओरा है, आभामण्डल है। जो सिर के चारों ओर मंडलाकार में होता है, वह हेलो है, भामण्डल है। महापुरुषों के सिर के पीछे जो एक ज्योतिर्मय चक्राकर मण्डल दिखाया जाता है, उसका नाम है भामण्डल। आभामण्डल और भामण्डल—ये दोनों बहुत चर्चित हो गए हैं। इनके फोटो भी लिए गए हैं। इटैलियन फोटोग्राफ्री इस विषय में काफी प्रसिद्ध हो चुकी है। इस क्षेत्र में और भी अनेक लोग काम कर रहे हैं।

अमेरिका की एक महिला है डा. जे. सी. ट्रस्ट। उसने इस क्षेत्र में बहुत काम किया है। डा. जे. सी. ट्रस्ट ने इस विषय पर एक पुस्तक भी लिखी है—एटम एण्ड ओरा। ओरा के अनेक चित्र भी प्रकाशित किए हैं। मद्रास के एक डाक्टर ने ओरा के फोटो लेने की मशीन का निर्माण किया है। वे अंगूठे के आभामण्डल का फोटो लेते हैं और उसके आधार पर रोगों का निदान करते हैं। उन्होंने अनेक रोगों के निदान इस पद्धति से किए हैं और वे काफी सफल रहे हैं।

लेश्या का सिद्धान्त आज वैज्ञानिक सिद्धान्त बन चुका है। कम से कम ढाई हजार वर्ष की यात्रा इस सिद्धान्त ने की है। यह सिद्धान्त महावीर के समय में था और इसका सबसे बड़ा प्रमाण है आचारांग सूत्र का यह वाक्य—'अबहिल्लेसे'। सबसे प्राचीन आगम माना जाता है आचारांग। उसमें लेश्या शब्द का प्रयोग प्राप्त है। महावीर से लेकर आज तक लेश्या का सिद्धान्त बराबर चल रहा है।

ऐतिहासिक दृष्टि से यह खोजना होता है—अमुक विचार सबसे पहले किसने दिया? भारतीय दर्शन और जैन दर्शन के संदर्भ में इस तथ्य की खोज ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत अपेक्षित है। आज जितने विचार और जितने सिद्धान्त मिलते हैं, वे सबसे पहले कहां से आए? इनका मूल स्रोत क्या है? महत्त्वपूर्ण है मूल स्रोत की खोज। उसके बाद संक्रमण होता रहता है। एक अच्छे सिद्धान्त को दूसरा भी अपना लेता है, केवल थोड़ी सी भाषा में बदलाव कर दिया जाता है। विचार और कथानक सबका संक्रमण होता रहता है। हिन्दुस्तान की कहानियां खूब तक पहुंच गई। भारत में रक्षिता-रोहिणी की कहानी बहुत प्रचलित रही है।

वह रूस में भी प्रचलित है। कहानियों का बहुत संक्रमण हुआ है। दूसरे देशों के यात्री यहां आते रहे हैं। वहां की कहानियां यहां पहुंची और यहां की कहानियां वहां पहुंच गईं। हिन्दुस्तान का विचार और दर्शन दूसरे देशों में पहुंचा, बाहर का विचार और दर्शन हिन्दुस्तान में आया। आज हिन्दुस्तान में सात वार (Seven Days) प्रचलित हैं। ये कहां से आए हैं? रविवार, सोमवार, मंगलवार—इनका प्रचलन पहले भारत में नहीं था। हम कहानी के चरित्र को देखें, चाहे दूसरे महापुरुषों का चरित्र देखें, कहीं वार का उल्लेख नहीं है। तिथि और मास का उल्लेख मिल जाएगा किन्तु वार का उल्लेख नहीं है। सोमवार, मंगलवार—ये सब बाहर से आए हैं। इनका मूल उत्स हिन्दुस्तान में नहीं हैं। ये सारे कालान्तर में हिन्दुस्तान में सक्रांत हुए हैं।

महाभारत में लेश्या

प्रश्न है—लेश्या का सिद्धान्त कहां से आया? इसका मूल स्रोत क्या है? यह कहना बड़ा कठिन है कि सबसे पहले यह विचार किसने रखा किन्तु जितने प्रामाणिक स्रोत हैं, जितने ग्रंथ और जितना साहित्य आज उपलब्ध है, उसके आधार पर विचार करें तो लेश्या की बात महाभारत में मिलती है। महाभारत में कहा गया है—जीव के छह वर्ण होते हैं—कृष्ण, धूम्र, नील, रक्त, हरिद्र और शुक्ल। इसके आधार पर सुख-दुःख को मापा जा सकता है।

षड्जीववर्णाः परमं प्रमाणं, कृष्णो धूम्रो नीलमथास्यमध्यम् ।

रक्तं पुनः सद्भतरं सुखं तु, हरिद्रवर्णं सुसुखं च शुक्लम् ॥

कहा गया—कृष्ण वर्ण वाले बड़े क्रूर होते हैं। उनमें सुख नहीं होता। धूम्र वर्ण वालों में सुख का अभाव सा रहता है। उन्हें लव मात्र सुख उपलब्ध होता है। नीले रंग वालों में थोड़ा सुख अधिक होता है। लाल वर्ण वालों में सुख की मात्रा और अधिक हो जाती है। शुक्ल वर्ण वाले व्यक्तियों में सुख की प्रबलता होती है। परम शुक्ल वर्ण में अत्यन्त सुख होता है।

वर्ण और सुख का यह एक वर्गीकरण है। इसमें छह वर्ण और छह वर्णों के आधार पर होने वाले सुख-दुःख का विवेचन है। महाभारत का यह सिद्धान्त लेश्या के सिद्धान्त से बहुत निकट है। यद्यपि साम्य नहीं है। फिर भी इसे काफी निकट माना जाता है।

महाभारत एक संकलन ग्रंथ है। यह किसी एक दर्शन का ग्रंथ नहीं है। हिन्दुस्तान में जितने विचार प्रचलित थे, उन सबका इसमें संग्रहण कर लिया गया, कोई सीमा-रेखा नहीं रही। वस्तुतः महाभारत है लौकिक ग्रंथ। यह किसी धर्म-संप्रदाय-विशेष का ग्रंथ नहीं है। साहित्य को तीन भागों में वर्गीकृत किया गया—लौकिक साहित्य, वैदिक साहित्य और श्रमण साहित्य।

वेद आदि वैदिक साहित्य है। आगम, त्रिपिटक आदि श्रमण साहित्य है। महाभारत, रामायण आदि लौकिक साहित्य है। आज भी जो लौकिक कथाएं, काव्य और लोकगीत हैं, वे आम जनता के लिए हैं। किसी धर्म-संप्रदाय-विशेष के लिए नहीं हैं। जहां लोकगीत या लोक कहानियों का प्रश्न है, हिन्दु हो या मसलमान, वे सबके लिए समान हैं।

महाभारत भी लौकिक काव्य है। इसमें सब धर्मों और दर्शनों का समाहार है। इसमें जैन दर्शन भी मिल जाएगा, बौद्ध और वैदिक दर्शन भी मिल जाएंगे। उस समय का जितना भारतीय दर्शन और चिन्तन है, उन सबका समाहार महाभारत में उपलब्ध है। जो भी अच्छा लगा, उसे इसमें सम्मिलित कर लिया गया, इसीलिए इसमें बहुत सारी विरोधी बातें मिलती हैं। इसमें जहां एक ओर प्रवृत्ति धर्म पर बल दिया है वहीं दूसरी ओर निवृत्ति धर्म पर भी बहुत बल दिया है। इन दोनों में कोई तालमेल नहीं है; एक सामान्य व्यक्ति पढ़ेगा तो उसे लगेगा—कितनी विरोधी बातें लिखी गई हैं। वस्तुतः विरोधी बातें लिखी नहीं गयी हैं, संकलित की गई हैं।

प्रश्न यह है—क्या महाभारत बहुत पुराना है? महाभारत बहुत पुराना है, यह मानना बड़ा कठिन है। हो सकता है, यह हजार वर्ष पुराना हो, डेढ़ हजार वर्ष या दो हजार वर्ष पुराना हो किन्तु यह महावीर से पहले का है, यह कहना बहुत मुश्किल है। महावीर से पहले का महाभारत इतना बड़ा बना ही नहीं था। उस समय इसका रूप बहुत छोटा था। प्रारंभ में सम्भवतः इसके सात हजार श्लोक रहे होंगे। फिर इक्कीस हजार बने और आज इसका परिमाण एक लाख से भी अधिक है। यह सारा उत्तरकालीन विकास है।

विमर्शनीय बातें

बौद्ध साहित्य में अंगुत्तर निकाय में छह अभिजातियों की चर्चा है। डा. ल्यूमैन और डा. हरमन जेकोबी ने अपने अनुसंधान के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला—महावीर ने लेश्या का सिद्धान्त आजीवकों से लिया। कुछ विदेशी विद्वान अनुमान करने में तेज रहे हैं और उन्होंने कुछ विचित्र अनुमान किए हैं। इसका एक कारण यह रहा—उनके सामने पूरी परंपरा नहीं थी। एक दो ग्रंथ पढ़ लिए और उनके आधार पर अनुमान प्रस्तुत कर दिया। यद्यपि उनमें प्रतिभा है, बुद्धि है, उनका कुछ स्टेण्डर्ड है, कुछ तरीके और कसौटियां हैं किन्तु परंपरा के अभाव में उनके निर्णय सही नहीं ठहरते। उनका निष्कर्ष रहा—आजीवक संप्रदाय काफी पुराना रहा है और महावीर ने उनसे काफी बातें लीं। एक है नग्नता। महावीर ने नग्नता आजीवक संप्रदाय से ली। कष्ट सहने की परंपरा महावीर ने आजीवक संप्रदाय से ली। ऐसी बहुत सारी बातों के बारे में लिखा गया है। इतिहास की दृष्टि से ये सारी बातें विमर्शनीय हैं। इनमें से कुछ बातों का काफी खंडन हो चुका है। ऐसे ही अनुमान किया गया—लेश्या का सिद्धान्त आजीवकों से लिया गया है।

छह अभिजातियां

पहली बात यह है—ये जो छह अभिजातियां हैं, वे आजीवक संप्रदाय की नहीं हैं। उस समय जो छह तीर्थंकर कहलाते थे, उनमें एक तीर्थंकर थे पूरणकश्यप। पूरणकश्यप ने इन छह अभिजातियों का वर्णन किया है। उनके द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण लेश्या के सिद्धान्त जैसा वर्गीकरण नहीं है। यद्यपि नाम कृष्णाभिजाति, नीलाभिजाति आदि मिलते हैं किन्तु इनका आधार सर्वथा दूसरा है।

इन अभिजातियों का वर्गीकरण इस प्रकार है—

- | | |
|--------------------|------------------------------------|
| १. कृष्णाभिजाति | क्रूर कर्म करने वाले |
| २. नीलाभिजाति | बौद्ध भिक्षु |
| ३. लोहिताभिजाति | एक शाटक निर्ग्रन्थ |
| ४. हारिद्राभिजाति | श्वेत वस्त्रधारी या निर्वस्त्रमुनि |
| ५. शुक्लाभिजाति | आजीवक |
| ६. परमशुक्लाभिजाति | आजीवक आचार्य |

निर्ग्रन्थों में एक शाटक निर्ग्रन्थों की परंपरा थी। जैन मुनि एक शाटक कंधे पर डाल लेते, न कुछ नीचे पहनते और न ऊपर ओढ़ते। जब महावीर मुनि बने थे तब वे एक शाटक में ही बने थे। यह कह दिया जाता है—महावीर जब दीक्षित हुए तब उन्होंने कंधे पर एक वस्त्र डाल लिया पर वस्तुतः महावीर एक शाटक परंपरा में दीक्षित नहीं हुए थे। एक शाटक का अर्थ यही हो सकता है कि थोड़ा सा लज्जा का निवारण हो जाए। हारिद्राभिजाति में श्वेत वस्त्रधारी और निर्वस्त्र मुनियों को लिया गया है। उससे यह लगता है—उस समय भी श्वेत वस्त्रधारी मुनि थे और उनकी एक परंपरा थी। बौद्ध भिक्षु नीलाभिजाति में, आजीवक शुक्लाभिजाति में और आजीवकों के आचार्य थे परम शुक्लाभिजाति में।

यह वर्गीकरण लेश्या के सिद्धान्त के साथ कहां मेल खाता है? थोड़े नाम अवश्य मिल गए हैं पर यह लेश्या का सिद्धान्त बिल्कुल नहीं है। इन रंगों के आधार पर संप्रदायों का एक वर्गीकरण अवश्य हो गया। नीलाभिजाति बौद्ध भिक्षु हैं। अमुक रंग वाले एक शाटक निर्ग्रन्थ हैं और अमुक रंग वाले आजीवक हैं। एक प्रकार से सारे संप्रदायों को बांट दिया गया। इसे लेश्या का सिद्धान्त कैसे कहा जा सकता है? प्रोफेसर ल्यूमेन और डाक्टर हर्मन जेकोबी ने इस आधार पर यह कह दिया—महावीर ने लेश्या का सिद्धान्त आजीवकों से लिया है। इसे लेश्या का सिद्धान्त कैसे कहा जा सकता है?

महावीर का लेश्या सिद्धान्त

महावीर ने जिस लेश्या सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, वह दो धाराओं में चलता है। एक धारा है भाव की और दूसरी धारा है रंग की। भाव और रंग—इन दोनों का योग, यह है लेश्या का सिद्धान्त। यह अध्यात्म का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। लेश्या को छोड़कर अध्यात्म की बात नहीं कही जा सकती। अकेला लेश्या का सिद्धान्त ऐसा है, जो अध्यात्म की दिशा में बहुत महत्त्व का है।

एक लौकिक कहानी है। सैला, सांप और सियार—तीनों मित्र थे। जहां मित्रता होती है वहां हर प्रकार की चर्चा चल पड़ती है। एक बार तीनों के मन में प्रश्न उभरा, हम तीनों में बुद्धिमान कौन है? जहां बुद्धिमत्ता का प्रश्न आता है वहां प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको बुद्धिमान बताने की कोशिश करता है। यदि दो छोटे बच्चों से पूछा जाए—तुम दोनों में बुद्धिमान कौन है? उन दोनों का एक साथ उत्तर आएगा—बुद्धिमान मैं हूँ। बच्चा कभी दूसरों को बुद्धिमान स्वीकार नहीं करता। जो दूसरों को बुद्धिमान मानता है, वह बच्चा ही नहीं है और जो दूसरों को बुद्धिमान नहीं मानता है, वह बड़ा होकर भी बच्चा है। प्रत्येक आदमी

दूसरे को अपने से कम बुद्धिमान मानता है प्रत्येक आदमी सोचता है—मैं सोलह आना सही हूँ। सामने वाला व्यक्ति ठाँक नहीं है। भोला आदमी भी दूसरों की त्रुटि निकालने में हाशियार होता है और बुद्धिमानी का ठेका स्वयं लिए रहता है।

सांप ने कहा—‘मैं सौ तरह की बुद्धियाँ जानता हूँ।’ सैला बोला—‘मैं पचास तरह की बुद्धियाँ जानता हूँ।’ सियार ने कहा—‘मैं तो न सौ बुद्धियाँ जानता हूँ और न पचास। मुझमें तो एक ही बुद्धि है। जब समस्या आती है तब उस बुद्धि को काम में ले लेता हूँ।’

बात समाप्त हो गई। कुछ दिन बाद अचानक जंगल में आग लग गई। आग सारे जंगल में फैलने लगी। सांप आग से बचकर निकल नहीं सका। सैले का चलना तो और भी कठिन था। कांटों का भार लिए दौड़ना कब संभव था? दोनों आग में जलकर भस्म हो गए। सियार बहुत तेजी से दौड़ा और दौड़ता चला गया। जंगल के समाप्त होने पर खुले मैदान में पहुँचकर उसने राहत की सांस ली। वह जंगल की भभकती आग को देखकर बोल उठा—

*सौ की होगी सीधड़ी, पचासां की दड़ी।
आछी म्हांरी एकली, लम्बे खाल खड़ी।।*

जिसमें सौ बुद्धियाँ हैं, वह रस्सी जैसा पड़ा है। जिसमें पचास बुद्धियाँ हैं, वह दड़ी (गेंद) जैसा गोल बन गया है। मेरी अकेली बुद्धि ही अच्छी है, जिससे मैं सकुशल जीवित खड़ा हूँ।

लेश्या का सिद्धान्त एक ऐसा सिद्धान्त है, एक ऐसी बुद्धि है, जिसके सामने सारी बुद्धियाँ धरी रह जाती हैं। अध्यात्म का ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं है, जो लेश्या के बिना एक कदम भी चल सके लेश्या के बिना कोई ज्ञान नहीं होता। जातिस्मरण ज्ञान का प्रश्न हो अथवा अवधिज्ञान या केवलज्ञान का प्रश्न, लेश्या के बिना यह संभव नहीं है। ज्ञान का अर्थ पुस्तकीय ज्ञान नहीं है। पुस्तकों के ज्ञान के साथ लेश्या का कोई संबंध नहीं है। वह ज्ञान, जो आत्मसमुत्थ है, आत्मा से उपजता है, उसका संबंध है लेश्या के साथ। आत्मा के साथ जो ज्ञान पैदा होता है, उसके साथ लेश्या का होना जरूरी है। लेश्या शुद्ध होगी तो वह ज्ञान होगा, लेश्या अशुद्ध होगी तो वह ज्ञान पैदा नहीं होगा। हमारा जितना क्षायोपशमिक भाव है, क्षायिक भाव है, सबके साथ लेश्या का संबंध है। औदयिक भाव के साथ भी उसका संबंध है। आयुष्य का बंध और मृत्यु—दोनों लेश्या के साथ जुड़े हुए हैं। जैन आगमों में कहा गया—जल्लेसे मरई तल्लेसे उववज्जई—व्यक्ति जिस लेश्या में मरेगा, उसी लेश्या में उत्पन्न होगा। जैन दर्शन में लेश्या का सिद्धान्त बहुत व्यापक रहा है। यदि जैन आगमों से लेश्या के सिद्धान्त को निकाल दिया जाए तो उसका एक बहुत मूल्यवान भाग कम हो जाए, जैनों आगमों का पचास प्रतिशत भाग ही अवशिष्ट रह पाए।

जैन धर्म की मूल देन

ऐतिहासिक दृष्टि से यह मानने में कठिनाई होती है कि महावीर ने लेश्या का सिद्धान्त किसी से लिया है। कहीं से लिया है, यह मानें तो कहा जा

सकता है—पार्श्व की परंपरा से, पूर्वज्ञान की परंपरा से, जो लेश्या का सिद्धान्त चला आ रहा था, महावीर ने उसे अपनाया। वस्तुतः पूर्वी का ज्ञान इतना विशाल था कि उसमें दुनिया का सारा ज्ञान समाविष्ट था। लेश्या का सिद्धान्त पार्श्व की परंपरा से चला आ रहा था और पार्श्व के ज्ञान की सारी विरासत महावीर की परंपरा को मिली, यह कहने में कोई कठिनाई नहीं होती किन्तु इसके अतिरिक्त किसी अन्य परंपरा से—वैदिक, बौद्ध या आजीवक परंपरा से इस सिद्धान्त को लिया, ऐसा नहीं कहा जा सकता। हालांकि इन सब परंपराओं में रंगों का वर्णन मिलेगा, क्योंकि रंगों के आधार पर कुछ न कुछ कहा गया है किन्तु लेश्या का जितना विकास जैन परंपरा में हुआ है उतना किसी अन्य परंपरा में नहीं हुआ। यह बात भी स्वीकार की जा सकती है—लेश्या एवं कर्म—ये दो सिद्धान्त ऐसे हैं, जिन पर जैनों का एकाधिकार रहा है और ये जैनों की मूल देन हैं।

लेश्या—आभामण्डल हमारा एक दर्पण है, जिसमें व्यक्ति अपने आपको देख सकता है, अपने विचारों और भावनाओं को देख सकता है, अपने आचार और व्यवहार को देख सकता है।

महान दार्शनिक और तत्त्ववेत्ता सुकरात का चेहरा बहुत भद्दा था फिर भी वे दर्पण में बहुत बार अपना चेहरा देखते रहते थे। जब जब सुकरात दर्पण के सामने खड़े होकर अपना चेहरा देखते, उनके शिष्य हंसने लगते किन्तु सुकरात को कुछ नहीं कह पाते।

गुरु की कई बातें ऐसी होती हैं, जो शिष्यों की समझ में नहीं आती किन्तु गुरु से पूछने का साहस भी नहीं होता। कुछ व्यक्ति श्रद्धा से उस बात को स्वीकार कर लेते हैं किन्तु सबमें श्रद्धा भी गहरी नहीं होती। ऐसे लोग पीछे से हंसते हैं या आलोचना करते हैं। उनमें इतनी क्षमता नहीं होती कि वे गुरु से ऐसे विषयों पर पूछ सकें और मन में उठ रहे विकल्पों को दबाना उनके लिए संभव नहीं होता इसलिए उनके मन की बात कहीं न कहीं आलोचना के रूप में प्रस्फुटित हो जाती है। यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। यह अलग बात है कि व्यक्ति को ऐसा नहीं करना चाहिए।

सुकरात का बार-बार दर्पण में देखना शिष्यों के लिए एक समस्या बन गया। वे आपस में बतियाते—इतना महान तत्त्वज्ञानी भद्दे चेहरे को दर्पण में बार-बार क्यों देखता है? चेहरा सुन्दर हो तो देखने में मजा आए। ऐसा भद्दा चेहरा जिसे आदमी दूसरी बार भी नहीं देखना चाहे और ये बार-बार देखे जा रहे हैं। क्यों? ऐसे ही एक दिन सुकरात शीशा देख रहे थे। कुछ शिष्यों की हंसी एक साथ फूट पड़ी। सुकरात उनका प्रकृति को जानते ही थे। सुकरात ने कहा—‘मैं शीशा देख रहा हूँ इसलिए तुम हंस रहे हो।’ तुम सोचते हो—‘मैं भद्दा हूँ फिर शीशा क्यों देखता हूँ, पर तुम यह नहीं जानते—सुन्दर आदमी को शीशा देखने की जरूरत ही नहीं। जो स्वयं सुन्दर है, वह शीशा किसलिए देखे? शीशा देखने की जरूरत तो उसे है, जिसका चेहरा भद्दा है। मैं शीशा में यह देखता हूँ—मेरा चेहरा भद्दा है पर ऐसा काम न हो जाए, जिससे मेरा चेहरा और भी अधिक भद्दा बन जाए। मैं यह देखता हूँ—कहीं मेरा ऐसा आचरण और व्यवहार

तो नहीं हो रहा है, जिससे मेरा चेहरा अधिक कुरूप हो जाए।' सुकरात के इस कथन ने शिष्यों की जिज्ञासा और सन्देह को समाहित कर दिया।

लेश्या का सिद्धान्त हमारे सामने एक ऐसा दर्पण है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपना चेहरा देख सकता है।

लेश्या का यह सिद्धान्त भगवान महावीर की दार्शनिक जगत को बहुत बड़ी देन है। दर्शन और अध्यात्म के जगत में इसका मूल्य सदा रहा है। आज लेश्या का सिद्धान्त वैज्ञानिक जगत में प्रतिष्ठित होता जा रहा है। वह समय आने वाला है—जहां निदान करने के बहुत सारे यंत्र नाकामयाब होंगे वहां यह आभासंडल का सिद्धान्त और यह निदान का दर्पण अपनी शक्तिशाली भूमिका निभाने के लिए प्रस्तुत रहेगा। तीन महीने या छह महीने पहले यह घोषणा की जा सकेगी—क्या बीमारी होने वाली है? यह भी बताया जा सकेगा—कब मौत होने वाली है? यह विषय आज विकास की दिशा में गतिशील बना हुआ है और इससे कुछ नई संभावनाएं जन्म लेंगी। ऐसा विषय हमारे लिए ऐतिहासिक, दार्शनिक और आध्यात्मिक—सब दृष्टियों से मननीय है।

लेश्या और रंग

वर्षा बरसी। लोगों के चेहरे खिल गए। आकाश स्वच्छ और प्रसन्न हो गया। सबके रंग बदल गए। आकाश का भी रंग बदल गया, पेड़ पौधों का भी रंग बदल गया और मनुष्य का भी रंग बदल गया। रंग ही है, जो बदलता है। हम परिवर्तन की बात कहते हैं। परिवर्तन करने वाला कौन है? सारा रंगों का खेल है। रंग-बदला, स्वभाव बदला। रंग बदला, मन बदला। रंग बदल जाए तो सब कुछ बदल जाए। रंग न बदले तो कुछ भी न बदल पाए। शरीर, मन और भाव—तीनों को रंग प्रभावित करते हैं। मनुष्य पर बाहरी पदार्थों का जो प्रभाव होता है, उसमें सबसे ज्यादा प्रभावित करने वाला है रंग। और भी बहुत सारी बातें प्रभावित करती हैं किन्तु रंग सबसे ज्यादा प्रभावित करता है।

हमारे शरीर में तीन तत्त्व या दोष माने जाते हैं। आयुर्वेद के अनुसार, वात, पित्त और कफ—ये तीन दोष शरीर को चला रहे हैं। हम तीन रंगों को लें—नीला, हरा और लाल। नीला रंग बहुत शान्तिदायक होता है। गर्मी, उष्मा या उत्तेजना—इन सबको मिटाता है नीला रंग। गर्मी के मौसम में नीला रंग बहुत उपयोगी होता है। जितने भी पित्तप्रधान रोग हैं, उन्हें नीला रंग मिटाता है, दूर करता है। हरा रंग रक्तशोधक होता है। यह विजातीय तत्त्वों को बाहर निकालता है। वातप्रधान रोगों को शान्त करने में भी नीला रंग बहुत उपयोगी है। लाल रंग स्फूर्तिदायक है। यह शरीर में चुस्ती लाता है, सुस्ती को दूर करता है। जो आलसी हैं, नींद में ऊँघते रहते हैं, सुस्त बैठे रहते हैं, उनके लिए लाल रंग बहुत लाभदायक है। यह कफप्रधान रोगों को शान्त करता है।

रंगों का काम है शरीर का संतुलन बनाए रखना। एक आदमी बहुत मोटी है, भारी-भरकम है, चर्बी बढ़ती चली जा रही है और दूसरा आदमी बहुत दुबला-पतला है। इसका कारण क्या है? इसका एक कारण है रंगों का असंतुलन। लाल रंग अधिक बढ़ गया है तो व्यक्ति दुबला-पतला हो जाएगा। नीला रंग अधिक बढ़ गया है तो व्यक्ति मोटा-ताजा होगा, उसकी चर्बी बढ़ती जाएगी। जिस व्यक्ति में लाल और नीला—ये दोनों रंग संतुलित हैं, वह न मोटा होगा और न दुबला-पतला। उसका शरीर संतुलित होगा, सुन्दर और सुगठित होगा।

रंगों का मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी होता है। लाल रंग अधिक बढ़ गया है तो गुस्सा आने लग जाएगा, उत्तेजना ही उत्तेजना आएगी। यदि नीला रंग कम हो

गया है तो व्यक्ति स्वार्थी बन जाएगा। वह केवल अपनी बात सोचेगा, दूसरों का हित-अहित नहीं देखेगा। मानसिक प्रभाव की दृष्टि से भी रंगों का संतुलन जरूरी है।

हमारे शरीर के जितने अंग हैं, उन सबके अपने अपने रंग हैं। बाहर से चमड़ी का रंग एक सा दिखाई देता है पर भीतर में हर अवयव का अपना-अपना रंग है। जिसने शरीर के भीतर गहराई से देखा है, उसने इस तथ्य का साक्षात्कार किया है। रश्मि और रंग का हमारे शरीर पर क्या प्रभाव होता है? यह आज वैज्ञानिक अध्ययन का विषय बन चुका है।

गौतम की जिज्ञासा : महावीर का समाधान

गौतम ने भगवान महावीर से पूछा—‘भंते! क्या कृष्ण लेश्या नीला लेश्या के पुद्गलों को प्राप्त कर तद्रूप में (नीला लेश्या में) परिणत हो जाती है?’

महावीर ने कहा—‘गौतम! ऐसा होता है। कृष्ण लेश्या केवल नील लेश्या के रूप में ही परिणत नहीं होती किन्तु वह कापोल लेश्या, तेजोलेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या के रूप में भी परिणत हो जाती है। थोड़े अच्छे पुद्गलों का योग मिला, कृष्ण लेश्या के पुद्गल नील लेश्या में बदल गए। पीत लेश्या के पुद्गलों को योग मिला, कृष्ण लेश्या के पुद्गल पद्म लेश्या में बदल गए। तेजोलेश्या के पुद्गलों को योग मिला, कृष्ण लेश्या तेजोलेश्या के रूप में परिणत हो गई। शुक्ल लेश्या के पुद्गलों का योग मिला, कृष्ण लेश्या शुक्ल लेश्या में बदल गई।’

हम लेश्या ध्यान का प्रयोग करते हैं, उसका आधार क्या है? उसका आधार है प्रज्ञापना का यह प्रकरण, जिसमें लेश्या परिवर्तन का सिद्धान्त प्रतिपादित है। हम रंगों के आधार पर लेश्या को बदल सकते हैं। हम सफेद रंग का ध्यान करते हैं, इसका अर्थ है—यदि कृष्ण लेश्या या अन्य किसी लेश्या के जो परिणाम विद्यमान हैं तो वे शुक्ल लेश्या में बदल जाएंगे।

यह लेश्या परिवर्तन का सिद्धान्त बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। हम अनेक बार देखते हैं—व्यक्ति के सामने कोई स्थिति आती है और व्यक्ति बदल जाता है। स्थूल रूप में हमारा निष्कर्ष होता है—एक घटना घटी और आदमी बदल गया। वस्तुतः स्थूल घटना के साथ-साथ रंग भी बदल जाते हैं और आदमी का अंतःकरण भी बदल जाता है।

प्रसंग महाराणा प्रताप और शक्तिसिंह का

महाराणा प्रताप और शक्तिसिंह—दोनों भाई शिकार खेलने के लिए जंगल में गए। विजयादशमी का दिन था। दोनों भाइयों ने बाण चलाया और एक हिरण को मार डाला। बाण चला और हिरण मर गया, यह एक घटना घटी और इस घटना को लेकर एक विवाद भी छिड़ गया। प्रताप ने कहा—‘हिरण मेरे बाण से मरा है।’ शक्तिसिंह ने कहा—‘हिरण मेरे बाण से मरा है।’

इस बात को लेकर भाइयों में विवाद बढ़ गया। दोनों भाई बहुत शक्तिशाली और समर्थ थे। किन्तु दोनों में ही अक्खड़पन भी बहुत था, राठौड़ीपन भी था। राठौड़ी वृत्ति के लोग समझौता करना नहीं जानते। उन्होंने

लचीला होना सीखा ही नहीं था। दोनों एकान्त आग्रह पर अड़ गए। हिरण किसके बाण से मरा? इसका निपटारा कौन करे? दोनों सगे भाई, दोनों में बड़ा प्रेम किन्तु इस एक बात ने दोनों को आमने-सामने खड़ा कर दिया। ऐसा लगता है—उस समय दोनों कृष्ण लेश्या में परिणामों में चले गए। दोनों ने शस्त्र निकाल लिए और एक-दूसरे को मारने के लिए कटिबद्ध बन गए।

मेवाड़ का राजपुरोहित दोनों राजकुमारों के साथ था। उसने देखा—अनर्थ हो रहा है। दोनों शक्तिशाली हैं, शस्त्रों से सज्जित हैं। दोनों ओर से एक साथ प्रहार होगा, दोनों अकाल मौत मर जाएंगे। मेवाड़ पर मुसीबत का पहाड़ टूट पड़ेगा। राजपुरोहित उन दोनों में बीच-बचाव करने के लिए आगे आया। उसने कहा—‘राजकुमारो! आप क्या कर रहे हैं? मेवाड़ की धरती शत्रुओं से घिरी हुई है, चारों ओर से कठिनाइयाँ प्रस्तुत हो रही हैं। शत्रु घात लगाए बैठे हैं। आप लोग ऐसा करेंगे तो मेवाड़ का क्या होगा? हमारी स्वतंत्रता का क्या होगा?’ राजपुरोहित ने बहुत समझाया पर दोनों राजकुमार अपनी बात से हटने के लिए तैयार नहीं हुए। जब तवा गर्म होता है तब उस पर पानी की जो बूँदें गिरती हैं, उनका कोई विशेष असर नहीं होता।

राजकुमारों का अपरिवर्तित मानस राजपुरोहित के लिए चिन्ता का विषय बन गया। बदलने के लिए लेश्या का परिवर्तन जरूरी है। यह एक तथ्य है—जब-जब किसी व्यक्ति ने अनशन या सत्याग्रह किया है तब-तब लेश्या का परिवर्तन हुआ है। वह इतनी बड़ी घटना होती है कि व्यक्ति बदल जाता है, उसकी लेश्या बदल जाती है, रंग बदल जाता है और सामने वाले व्यक्ति का हृदय भी बदल जाता है। कभी-कभी क्रूर आदमी का हृदय भी पसीज जाता है। ऐसे व्यक्ति, जिन्होंने कभी हिन्दुस्तान न छोड़ने की बात कही थी, जो हिन्दुस्तान को छोड़ना नहीं चाहते थे, वे भी पसीज गए, हिन्दुस्तान स्वतंत्र हो गया। जब बड़ी घटना घटती है, लेश्या बदल जाती है, स्थिति में बदलाव आ जाता है।

राजपुरोहित ने सोचा—ऐसे काम नहीं होगा। उसमें आत्मोत्सर्ग का भाव प्रबल बन गया—‘यदि आप मारना ही चाहते हैं तो मुझे मार दें। यदि मारने से ही संतोष मिले तो मैं आपके सामने प्रस्तुत हूँ।’ इतना कहने पर भी राजकुमारों का रोष शान्त नहीं हुआ। राजपुरोहित एक कदम आगे बढ़ा—उसने कटार निकाली और अपनी छाती में भौंक ली। राजपुरोहित का बलिदान देखकर दोनों कुमार स्तब्ध रह गए। महाराणा प्रताप और शक्तिसिंह का हृदय बदल गया, दोनों भाई शान्त हो गए।

अपेक्षित है प्रयोग

एक घटना का इतना प्रभाव होता है कि व्यक्ति बदल जाता है। किसी बड़े परिवर्तन के लिए बड़ी घटना का होना जरूरी है, बड़े त्याग या बलिदान का होना जरूरी है। लेश्या का परिवर्तन भी कुछ ऐसा ही होता है। बड़ी बात या बड़ी घटना सामने आती है, आदमी बदल जाता है, कृष्ण लेश्या शुक्ल लेश्या में परिणत हो जाती है। लेश्या बदली, भाव बदला और आदमी बदल गया। लेश्या नहीं बदली तो कुछ भी नहीं बदला। रंगों के द्वारा लेश्या का परिवर्तन होता है।

यह सिद्धान्त ठीक है, किन्तु केवल सिद्धान्त से नहीं, प्रयोग से परिणाम आता है।

एक योगी ने लिखा—जो व्यक्ति वैदिक संध्या की ठीक से उपासना करता है, वह शरीर और मन—दोनों से स्वस्थ रहेगा। वैदिक संध्या में तीन रंगों का विधान है—लाल, नीला और सफेद। ब्रह्मा, विष्णु और महेश—इनके ये तीन रंग हैं। कृष्ण का वर्ण है श्याम। श्याम का अर्थ काला नहीं है। बहुत बार श्याम का अर्थ काला कर दिया जाता है पर वस्तुतः उसका अर्थ नीला है। महेश का नीला, ब्रह्मा का लाल और शिव का रंग सफेद है। वैदिक संध्या का तात्पर्य है—जो इन तीनों वर्णों का संध्या के समय ध्यान करता है, वह शरीर और मन—दोनों दृष्टियों से स्वस्थ रहता है।

संदर्भ नमस्कार महामंत्र का

जैनों का महामंत्र है—नमस्कार महामंत्र। नमस्कार महामंत्र का ध्यान पांच वर्णों के साथ किया जाता है। यदि व्यक्ति प्रतिदिन आधा घंटा तक निर्धारित रंगों के साथ नमस्कार महामंत्र का ध्यान करे तो तीन मास बाद उसे लगेगा—मैं हर दृष्टि से ठीक हो रहा हूँ। मेरे स्वास्थ्य, प्रसन्नता और शान्ति में वृद्धि हो रही है। हम नमस्कार महामंत्र की माला जपने को रूढ़ि न बनाएं। इसको वैज्ञानिक रूप दें, एक नया प्रायोगिक रूप दें। आज माला को एक रूढ़ि का सा रूप मिल रहा है। व्यक्ति माला जपने बैठता है और जल्दी से जल्दी उसे पूरा कर लेना चाहता है। बहुत लोग कहते हैं—माला जपने में कितना समय लगता है! थोड़े समय में ही एक माला का जप हो जाता है। अनेक लोग गर्व की भाषा में इस प्रकार भी कहते हैं—मैं पांच मिनट में पूरी माला जप लेता हूँ। पांच मिनट में एक सौ आठ बार नमस्कार महामंत्र का जप! क्या यह जप का सही तरीका है? लगता है, हमारी गति कम्प्यूटर से भी तेज हो गई है। वस्तुतः इतनी जल्दबाजी में माला जपना जप की सम्यक् विधि नहीं हो सकती। अनेक लोग शिकायत करते हैं—महाराज! रोज माला जपते हैं पर उसका कोई लाभ नहीं मिलता। जब जप की विधि ही सही नहीं है तो लाभ कैसे मिलेगा? निष्ठा और सम्यक् विधि से किया गया जप ही सार्थक परिणाम देने वाला होता है।

हम नमस्कार महामंत्र के जप के साथ रंगों का प्रयोग करें। इससे रंग और लेश्या का संतुलन सधेगा, शारीरिक, मानसिक और भावात्मक संतुलन सधेगा। नमस्कार महामंत्र को संख्या के आधार पर गिनने की बात का उतना मूल्य नहीं है, जितना मूल्य इस बात का है कि जप किस ढंग से किया जा रहा है। हम संख्या पर न अटकें। जितना करें, इतने अच्छे ढंग से करें कि मन उसमें पूरी तरह नियोजित हो जाए। खाना खाया और स्वाद नहीं आया तो क्या खाना खाया? जप किया, ध्यान किया और आनन्द नहीं आया तो जप करने का क्या अर्थ रहा? जप करें तो यह लगना चाहिए—मन बहुत शान्त रहा, भावना बहुत पवित्र रही। यदि ऐसा नहीं लगता है तो मानना चाहिए—जप में कहीं कमी है। सम्यग विधि और एकाग्रता के साथ किया गया जप कभी निष्फल नहीं होता। उससे व्यक्ति में यह अनुभूति जागती है—मेरा विकास हो रहा है, शान्ति और पवित्रता का स्रोत प्रस्फुटित हो रहा है।

कठिन है संतुलन

जीवन की एक व्याख्या की जा रही है—स्ट्रगल इज लाइफ—संघर्ष ही जीवन है। यह विकास की परिभाषा है—जीवन एक संग्राम है, युद्ध है। उसमें लड़ना है, संघर्ष करना है और संघर्ष करके आगे बढ़ना है। आज समाज में कितनी टकराहट चल रही है। एक दूसरे की टांग खींचना, एक दूसरे को पछाड़ना—यह केकड़ावृत्ति समाज में कितनी चल रही है। इस केकड़ावृत्ति की अवस्था में आदमी को आगे बढ़ना है, अपना विकास करना है। इस स्थिति में शांति और संतुलन को बनाए रखना कितना कठिन होता है। संतुलन का जीवन जीना आसान बात नहीं है।

एक दिन एक व्यक्ति बहुत परेशान लग रहा था। मित्र ने पूछा—‘क्या बात है? आज इतने परेशान क्यों हो?’

उसने कहा—‘मैं बहुत मुसीबत में फंस गया हूँ?’

मित्र बोले—‘तुम्हारे क्या मुसीबत हो सकती है? तुम्हारे दोनों लड़के सम्पन्न हैं। खूब धन कमा रहे हैं। तुम्हें किस बात की कर्मी है?’

‘तुम ठीक कहते हो। मैंने लड़कों को पढ़ाया। एक डाक्टर बन गया और एक वकील। उनका यह व्यवसाय ही मुसीबत का कारण है।’

‘उनके व्यवसाय से आपकी मुसीबत का लेना-देना क्या है?’

‘हुआ यह कि एक एक्सीडेंट में मेरे पैर में चोट लग गई, पैर में घाव हो गया। जो डाक्टर है, वह कह रहा है—पिताजी! घाव को जल्दी ठीक कर लें अन्यथा इसमें रस्सी पड़ जाएगी। हो सकता है फिर पैर काटने के सिवाय कोई विकल्प न रहे।’

‘यह तो अच्छी बात है। इसमें मुसीबत का प्रश्न ही कहाँ है?’

‘लेकिन जो लड़का वकील है, वह कह रहा है—पिताजी! अभी घाव को ठीक नहीं करना है। इसे बढ़ने दें। जब घाव गहरा हो जाएगा तब मैं दावा करूंगा और पूरा हर्जाना वसूल करूंगा। यही मेरी मुसीबत है।’

समाधान है लेश्या

यह जीवन का संघर्ष है, टकराहट है। व्यक्ति दोनों ओर से खींचा जा रहा है। एक लड़का कहता है—ठीक कर लें और एक लड़का कह रहा है—घाव को और गहरा होने दें। यह जीवन का विचित्र संघर्ष है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति जी रहा है और संघर्षों को झेल रहा है। परिवार का संघर्ष है, भाई-भाई का संघर्ष है, पति-पत्नी का संघर्ष है, समाज के साथ भी संघर्ष है। राजनीति में चले जाएं तो संघर्ष ही संघर्ष है। इस टकराहट, संघर्ष और प्रतिस्पर्धा-की स्थिति में आदमी स्वस्थ, शांत एवं संतुलित जीवन कैसे जीए, यह एक प्रश्न है और इसका समाधान है लेश्या का प्रयोग। हम नमस्कार मंत्र का पांच रंगों के साथ प्रयोग करें, शान्त एवं सन्तुलित जीवन की बात हाथ में आ जाएगी। ये बाहरी संघर्ष चलते रहेंगे, दुनिया का स्वभाव मिटेगा नहीं पर व्यक्ति के भीतर कोई संघर्ष नहीं रहेगा, भीतर में कोई चूल्हा नहीं जलेगा। अगर भीतर में आग न जले तो समस्या पैदा नहीं होगी। यदि व्यक्ति अपने आप को स्वस्थ, शांत एवं संतुलित

रखना चाहता है, अपनी भावनाओं को अनुशासित रखना चाहता है तो उसके लिए लेश्या ध्यान या रंग ध्यान का प्रयोग बहुत महत्वपूर्ण है।

वातानुकूलन का विज्ञान

एक व्यक्ति ने कहा, 'मुझे गुस्सा बहुत आता है, मैं इससे बहुत परेशान हूँ।' वस्तुतः आदमी अपने आप से परेशान है। एक शत्रु होता है बाहर का और एक शत्रु होता है भीतर का। यह भीतर का शत्रु बहुत परेशानी पैदा करता है। हम इन भीतरी परेशानियों को कम करें, भीतर का सारा वातावरण वातानुकूलित हो जाएगा। जब भीतर वातानुकूलन की स्थिति बन जाएगी तब बाहरी प्रभाव कहां से आएगा? बाहरी प्रभाव को रोकने के लिए मकान को एयरकंडीशंड बनाया जाता है। लोग उसे वातानुकूलित बनाने के लिए लाखों रुपये खर्च कर देते हैं। मकान को ठंडा करने के लिए व्यक्ति इतना खर्च करता है पर दिमाग को ठंडा रखने के लिए कोई खर्च नहीं करेगा। हम गहराई से सोचें—मकान को ठंडा रखना अधिक जरूरी है या दिमाग को ठंडा रखना?

एक भाई ने कहा, मैंने अभी नए आफिस के निर्माण में चात्तीस-पचास लाख रुपए लगा लिए। मैंने पूछा—'एक आफिस के निर्माण में इतना व्यय?' उस भाई ने जवाब दिया—'उसे एयरकंडीशंड बनाने में ही तीन-चार लाख रुपए खर्च हो गए।' मैंने पूछा—'दिमाग को एयरकंडीशंड बनाने के लिए भी कुछ खर्च करते हो?' उसके पास इस प्रश्न का कोई जवाब नहीं था।

व्यक्ति इस बारे में सोचता ही नहीं है। वह बाहरी वातावरण या मकान को समशीतोष्ण करना चाहता है पर भीतर में जो आग जल रही है, उसे शांत करने की कोई चिन्ता नहीं करता, उस दिशा में प्रयत्न भी नहीं करता। यह लेश्या का विज्ञान, रंग का विज्ञान भीतरी वातावरण को वातानुकूलित बनाने का महत्वपूर्ण विज्ञान है। हम इसका मूल्यांकन और प्रयोग करें, रंगों का संतुलन सधेगा और वह जीवन के लिए वरदान सिद्ध होगा।

लेश्या : पौद्गलिक है या चैतसिक

क्या हम अपने जीवन में सफल होना चाहते हैं? सफल जीवन जीना चाहते हैं? यदि हम ऐसा चाहते हैं तो हमें ध्यान देना होगा अपने कपड़ों पर। हमने किस रंग के कपड़े पहन रखे हैं? प्रायः जैन साधु-साध्वियां सफेद कपड़े पहनते हैं। लाल, पीला, काला या नीला वस्त्र नहीं पहनते। प्रश्न हो सकता है—सफेद रंग ही क्यों चुना गया? विराग में जाना है तो अन्य आकर्षक दिखने वाले रंगों को छोड़ देना होता है। सफेद रंग शुक्ल लेश्या और परम शुक्ल लेश्या का रंग है। वैराग्य की दृष्टि से यह सर्वोत्तम रंग है।

रंगों का प्रभाव बहुत व्यापक होता है। रंग व्यक्ति की मनःस्थिति को प्रभावित ही नहीं करते, परिवर्तित भी कर देते हैं। सोवियत रूस में एक स्कूल के विद्यार्थी बहुत उद्वेग और उच्छ्वेद थे। स्कूल के शिक्षकों के सामने एक बहुत बड़ी समस्या पैदा हो गई। उन्होंने सोचा—उद्वेगता का कारण क्या है? दो-चार बच्चे उद्वेग हो जाए, यह बात समझ में आ सकती है। प्रायः सभी विद्यार्थी उद्वेग कैसे हो सकते हैं? इसका कारण क्या है? जो विद्यार्थी बहुत शान्त और संयत लग रहे थे, वे भी उद्वेग और असंयत बनते जा रहे हैं। बहुत खोज की गई पर कोई कारण समझ में नहीं आया। आखिर रंग-वैज्ञानिकों को बुलाया गया। उन्होंने इस समस्या का कारण बताया—आपके स्कूल का रंग भी लाल है, खिड़कियां और दरवाजे भी लाल रंग से पुते हुए हैं। खिड़कियों पर जो कांच के शीशे हैं, वे भी लाल हैं और फर्श पर जो कालीन बिछे हुए हैं, वे भी लाल हैं। बच्चों की स्कूल ड्रेस भी लाल है। जहां लाल रंग की अधिकता होगी वहां उद्वेगता और उच्छ्वेदलता की वृत्ति प्रबल बनेगी।

रंग-वैज्ञानिकों ने सुझाव दिया, इस रंग को बदला जाए, हरा, गुलाबी या नीला रंग कर दिया जाए। स्कूल के अधिकारियों को उनका सुझाव उपयुक्त लगा। कमरों के रंग बदल दिए गए। कालीन और पर्दे बदल दिए गए। खिड़कियों के शीशे और दरवाजों के रंग में भी परिवर्तन कर दिया गया। कुछ दिन बीते, विद्यार्थियों के स्वभाव में परिवर्तन आना शुरू हो गया। उनकी उद्वेगता कम हो गई। बच्चे शान्त और शालीन बनते चले गए। अधिकारियों एवं शिक्षकों की समस्या को समाधान मिल गया।

यह देखना बहुत महत्त्वपूर्ण है कि मकान का रंग कौन सा है? छत का रंग कौन-सा है? यदि इन सबका रंग लाल है तो गुस्सा न आने वाले व्यक्ति को भी गुस्सा आने लग जाएगा। लड़ाई-झगड़े कम होते हैं तो ज्यादा होने लग जाएंगे। जहां मजदूरों का संबंध है, श्रमयुक्त कार्य करना है वहां लाल रंग

उपयोगी होता है। जहाँ ज्यादा भार उठाना है, सामान से भरी बोरियों को उठाना है वहाँ लाल रंग का मूल्य है। यदि मकान का रंग लाल है, दुकान और गोदाम का रंग लाल है तो मजदूर ज्यादा भार को भी आसानी से उठा लेंगे। उनकी भार उठाने की क्षमता बढ़ जाएगी। यदि उनका रंग नीला है तो मजदूर सुस्त बन जाएंगे, थोड़ा भार उठाने में भी उन्हें परेशानी होगी। उनकी भार उठाने की क्षमता कम हो जाएगी।

यह लेश्या का सिद्धान्त जीवन से जुड़ा हुआ सिद्धान्त है। हमारे जीवन की सफलता या असफलता में बहुत बड़ा कारण है। हम इसे समझ कर अपने जीवन को सफलता की दिशा में ले जा सकते हैं, अपने व्यक्तित्व को उन्नत और प्रभावी बना सकते हैं, अपने चिन्तन को स्वस्थ और शक्तिशाली बना सकते हैं।

लेश्या : तीन प्रकार

लेश्या के तीन प्रकार हैं—कर्मलेश्या, नो-कर्मलेश्या और भावलेश्या। दूसरी भाषा में कहें तो लेश्या के दो प्रकार हैं—पौद्गलिक लेश्या और चैतसिक या आत्मिक लेश्या। पौद्गलिक लेश्या के दो प्रकार हैं—कर्मलेश्या और नो-कर्मलेश्या। उत्तराध्ययन के लेश्याध्ययन के प्रारंभ में ही छह कर्मलेश्याओं का उल्लेख है—

लेसज्जयणं पक्खामि आणुपुट्ठि जहक्कमं।

छण्हं पि कम्मलेसाणं, अणुभावे सुणेह मे॥

कर्म बंधन के साथ लेश्या का गहरा संबंध है। लेश्या संविलश्यमान होती है तो अशुभ कर्म का बंध होता है। लेश्या विशुद्धयमान होती है तो शुभ कर्म का बंध होता है और क्षयोपशम बढ़ता है। एक लेश्या हमारे शरीर के साथ निरन्तर चल रही है, आभामण्डल चल रहा है और कर्म को ग्रहण करते समय लेश्या वर्गणा के पुद्गल हमारे साथ निरन्तर काम कर रहे हैं। यह कर्म लेश्या है।

एक है नो-कर्मलेश्या। यह जो सूरज का प्रकाश है, वह नो-कर्मलेश्या है। जीवन के साथ उसका गहरा संबंध है। जहाँ सूरज का प्रकाश है, वहाँ जीवन है। जहाँ सूरज का प्रकाश नहीं है वहाँ जीवन नहीं है। हमारी दुनिया का जीवन सूर्य के आधार पर चल रहा है। अगर सूर्य का प्रकाश बंद हो जाए तो पाचन-तंत्र बिगड़ जाए। जब दिन-भर आकाश बादलों से घिरा रहता है तब आदमी का पाचन-तंत्र गड़बड़ा जाता है, पाचन शक्ति कमजोर हो जाती है। पांच-सात दिन तक सूरज न दीखे और आदमी खाता ही चला जाए तो वह बीमार पड़ जाए। रात्रिभोजन के निषेध का एक कारण जीव हिंसा की दृष्टि रही है। उसका दूसरा कारण सूरज के अस्त होने पर पाचन-तंत्र का मंद हो जाना है। आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में लिखा—“सूर्य के अस्त हो जाने पर हृदय कमल संकुचित हो जाता है, पाचन-तंत्र भी संकुचित हो जाता है, रक्त-संचार भी धीमा पड़ जाता है।”

शरीर में जितना दर्द होता है, उसका पता दिन में कम चलता है, रात्री में अधिक चलता है। रात आते ही घुटनों का दर्द बढ़ जाएगा, पीठ और गर्दन का दर्द बढ़ जाएगा। प्रश्न ही जाता है—सारे दर्द रात में ही अधिक क्यों सताते

हैं? दिन में अधिक क्यों नहीं सताते? जितना अजीर्ण होता है, वह प्रायः रात में ही क्यों होता है। दिन में कब अजीर्ण होता है? किसी अपवाद को छोड़ दें, प्रायः रात में ही होता है। वायु भी रात में अपना खेल दिखाती है। इन सबका कारण क्या है? जब तक सूरज रहता है, ये सब शान्त रहते हैं। सूर्य के अस्त होते ही सबको मौका मिल जाता है। चोरी करने का मौका भी रात को ही मिलता है। नींद भी रात में ही सताती है। जितने तामसिक भाव हैं, उन सबको रात में खुलकर अभिव्यक्त होने का अवसर मिल जाता है।

रत्न चिकित्सा और लेश्या

सूर्य की एक लेश्या है। चन्द्रमा की भी लेश्या है। रत्नों की भी लेश्या है। ये सब नो-कर्मलेश्या हैं। रत्नों में सूर्य का प्रकाश बहुत संचित होता है। इसके आधार पर ही जेम्स थेरापी (रत्न चिकित्सा) का विकास हुआ है। रत्न चिकित्सा पर काफी साहित्य लिखा गया है। कलकत्ता के एक विद्वान हैं, भट्टाचार्य। वे इस मामले में काफी दक्ष हैं। रत्न का प्रभाव बड़ा विचित्र है। इसका कारण है सूर्य की रश्मियों का संचय।

बम्बई की घटना है। एक व्यक्ति निरन्तर बुखार से ग्रस्त रहता था। उसने बहुत दवाइयां ली पर बुखार नहीं उतरा। उसने रत्न चिकित्सक को अपनी समस्या बताई। रत्न चिकित्सक ने सारी स्थितियों का अध्ययन किया। उसने देखा—अंगुली में लाल माणक पहना हुआ है। समस्या समझ में आ गई। चिकित्सक ने कहा—इस माणक (रत्न) को अंगुली से निकाल दिया जाए। इसे इस कमरे में भी न रखा जाए। चिकित्सक का परामर्श स्वीकार कर लिया गया। जो बुखार इतनी दवाइयों से नहीं मिटा, वह उस रत्न को अंगुली से निकालने के बाद दूसरे दिन ही समाप्त हो गया।

यह रत्न के प्रभाव का निदर्शन है।

यदि रत्न का अनुकूल प्रभाव होता है तो वह व्यक्ति को निहाल कर देता है और यदि उसका प्रतिकूल प्रभाव होता है तो वह व्यक्ति को कंगाल भी बना देता है। उसका प्रभाव दोनों ओर होता है। यह नो-कर्मलेश्या—द्रव्यलेश्या का प्रभाव है।

पौद्गलिक लेश्या का अर्थ है—किरण, रश्मि, या ज्योति। ये यदि प्रशस्त होते हैं, तो बहुत लाभकारी होते हैं। यदि अप्रशस्त होते हैं तो बहुत हानिकारक होते हैं। हम रंगों के प्रति जागरूक बनें तो हानि से बच सकते हैं, बहुत लाभ उठा सकते हैं। किस रंग का कपड़ा पहनें? किस रंग का खाना खाएं? मकान या कमरे का रंग कैसा हो? इसका विवेक होना जरूरी है।

रंग से उपजी समस्या

एक सिनेमा हॉल में बहुत गहरा लाल रंग करवाया गया। जो दर्शक सिनेमा देखने जाते, वे सिर-दर्द से परेशान हो जाते। काफी दिनों तक यह क्रम चलता रहा। सिनेमा में दर्शकों की संख्या घटने लगी। एक दिन ऐसा आया—सिनेमा हॉल से घाटा होने लगा। मालिक समस्या और चिन्ता से घिर गया। चपरासी ने मालिक से कहा—‘क्या बात है? आप उदास क्यों हैं?’ मालिक

बोला—‘बहुत घाटा हो गया है। मुझे अभी अभी पांच हजार रुपयों की जरूरत है। यदि वे नहीं मिलते हैं तो मेरी प्रतिष्ठा को थक्का लग जाएगा।’ चपरासी ने कहा—‘आप चिन्ता मत कीजिए। मैं आपको पांच हजार रुपये ला देता हूँ।’ मालिक आश्चर्य से भर गया। उसने पूछा—‘तुम्हारे पास इतने रुपये कहां से आए? मैं तुम्हें वेतन तो बहुत थोड़ा देता हूँ।’ चपरासी बोला—‘जब आपका सिनेमा चलता है जब गेट के बाहर सिर-दर्द की गोलियां बेचता हूँ। जो लोग सिनेमा देखकर बाहर निकलते हैं, वे सिर-दर्द से परेशान होते हैं। वे सिरदर्द की गोलियां लेते हैं तो उन्हें राहत मिल जाती है। मेरे पास जो रुपये जमा हुए हैं, वे सिर-दर्द की गोलियां बेचकर कमाए हुए हैं।’

यह लाल रंग और फिल्म में दिखाए जाने वाले उत्तेजक दृश्यों का परिणाम था। ये सारे पुद्गल हैं, जो हमें बहुत प्रभावित करते हैं।

चैतसिक लेश्या

लेश्या का दूसरा पक्ष है चैतसिक लेश्या। भाव लेश्या चैतसिक लेश्या है। प्राणातिपात, मृषावाद आदि अठारह पाप, पांच आश्रव—ये सब भाव लेश्याएं हैं। इन सबमें रंग हैं। एक व्यक्ति झूठ बोलता है तो वैसा रंग बन जाता है। झूठ बोलने वाले व्यक्ति का आभामण्डल भी धुंधला बन जाता है। हमारा आभामण्डल बहुत स्वच्छ है किन्तु जो आदमी झूठ बोलता है, उसका आभामण्डल भद्दा बन जाता है। हम आचरण की बात छोड़ दें। मन में चोरी की भावना जाग गई, हिंसा की भावना जाग गई तो आभामण्डल मलिन बन जाएगा। झूठ या घृणा का भाव जागा तो आभामण्डल भी वैसा ही बन जाएगा। जैसी भावना जागती है, वैसा आभामण्डल बन जाता है। जैसा आभामण्डल बनता है वैसी ही भावना पैदा हो जाती है।

पौद्गलिक लेश्या (द्रव्य लेश्या) और चैतसिक लेश्या (भावलेश्या)—इन दोनों में गहरा संबंध है। जितने स्थान द्रव्य लेश्या के हैं उतने ही स्थान भाव लेश्या के हैं। जितने स्थान भाव लेश्या के हैं उतने ही स्थान द्रव्य लेश्या के हैं। द्रव्य लेश्या संक्लिष्ट होती है तो भाव लेश्या संक्लिष्ट हो जाती है। भाव लेश्या संक्लिष्ट होती है तो द्रव्य लेश्या संक्लिष्ट हो जाती है। भाव लेश्या विशुद्ध होती है तो द्रव्य लेश्या विशुद्ध हो जाती है। इन दोनों में गहरा संबंध है। हमें इन दोनों आयामों में जागरूक रहना होगा। हम रंग और आभामण्डल के प्रति भी जागरूक बनें और अपनी भावनाओं के प्रति भी जागरूक बनें। इन दोनों क्षेत्रों में जागरूकता बढ़ जाए तो जीवन में बहुत विकास किया जा सकता है।

समस्या है लेश्याओं में मेल न होना

आदमी में तनाव बहुत है। वह अनेक प्रकार की चिन्ताओं से घिरा रहता है। वह कभी उदास हो जाता है। उसे वातावरण में रूखापन महसूस होता है। जीवन में सरसता नहीं रहती। इस स्थिति में दूसरे व्यक्ति के प्रति आकर्षण का भाव पैदा नहीं होता। कारण क्या है? इसका कारण है—लेश्याओं का मेल न होना। दो व्यक्ति हैं, दोनों को साथ में रहना है। दोनों की लेश्याओं में मेल नहीं है तो साथ कैसे निभेगा? एक पूरब में जाएगा तो दूसरा दक्षिण में जाएगा। शादी

के अनुबंध से पूर्व लड़के-लड़की के गण मिलाए जाते हैं। यह देखा जाता है कि गण मिलता है या नहीं? गण मिलते हैं तो कितने मिलते हैं और कितने नहीं मिलते। ऐसा माना जाता है—यदि गण मिलते हैं तो संबंध ठीक निभेगा। यदि गण नहीं मिलते हैं तो संबंध ठीक नहीं रह पाएगा। लड़ाई-झगड़ा, तनाव और मन-मुटाव पैदा होते रहेंगे, संबंधों में मधुरता नहीं रह पाएगी। स्वस्थ दांपत्य की दृष्टि से लोग शादी के समय गण मिलाते हैं। यह लेश्या का गण प्रतिदिन मिलाने का है। यदि लेश्या का गण नहीं मिलता है तो कठिनाइयां पैदा हो जाती हैं।

हम लेश्या का गण मिलाएं। इसका सूत्र है लेश्या का परिवर्तन। लेश्या को बदला जा सकता है। यदि लेश्या को बदलने की बात समझ में आ जाए तो सब कुछ समझ में आ जाए।

परिवर्तन का कारक तत्त्व

हम भावों को शुद्ध रखने का अभ्यास करें। उसके साथ द्रव्य लेश्या को बदलने पर भी ध्यान दें। भाव लेश्या और द्रव्य लेश्या—दोनों की शुद्धि परिवर्तन का कारक तत्त्व है। परिवर्तन की जो चर्चा है, वह सारी लेश्या से जुड़ी हुई है। हम प्रयोग शुरू करें द्रव्य लेश्या से। द्रव्य लेश्या को बदलेंगे तो भाव लेश्या में परिवर्तन आना शुरू हो जाएगा। प्रेक्षाध्यान में ज्योति केन्द्र पर सफेद रंग का ध्यान कराया जाता है। व्यक्ति सफेद रंग को देखने की साधना करता है, उसे यह अनुभूति हो जाती है—तनाव कम हो रहा है, भाव शुद्ध और पवित्र बनते जा रहे हैं। अनेक लोगों ने इसका प्रयोग किया। उनका सिरदर्द मिट गया। ललाट पर सफेद रंग का ध्यान करने के दो परिणाम सामने आते हैं—भाव विशुद्धि और सिरदर्द से मुक्ति। सिरदर्द के कारण भी भाव अपवित्र हो सकते हैं। जो ललाट का स्थान है, वह आवेगों का स्थान है, कषाय का स्थान है। यह कषाय का कार्यक्षेत्र है।

आत्मा और शरीर का मिलन-बिन्दु

इस बात पर विचार किया गया—आत्मा और शरीर, सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर—इनका संगम बिन्दु कहां है? आत्मा और शरीर का मिलन कहां होता है? सूक्ष्म शरीर भीतर है और स्थूल शरीर बाहर है। आत्मा भीतर है और शरीर बाहर है। इन दोनों का संगम-स्थल कौनसा है? शरीर में तीन-चार स्थल ऐसे हैं, जहां इनका मिलन होता है। उनमें एक संगम-स्थल है हमारा लिम्बिक सिस्टम। हमारे मस्तिष्क का एक हिस्सा है लिम्बिक सिस्टम। यह वह बिन्दु है, जहां आत्मा और शरीर का मिलन होता है। इस मिलन का माध्यम है लेश्या। लेश्या वहां आती है और शरीर तथा आत्मा को मिला देती है।

गाड़ियों के ठहरने के स्टेशन बहुत हैं पर जंक्शन बहुत कम हैं। जंक्शन वह होता है, जहां गाड़ियों का मिलन होता है, जहां से नई ट्रेनें चलती हैं। यह लिम्बिक सिस्टम वह केन्द्र है, जहां आत्मा और शरीर का मिलन होता है। यह स्थान बहुत संवदेनशील है, बहुत भावना-प्रधान है। इसे जितना शांत रखा जाए, ठण्डा रखा जाए उतना ही भाव विशुद्ध और पवित्र हो जाए। यह शान्त होता है

तो न सिरदर्द होता है, न क्रोध और उत्तेजना सताती है। इस बिन्दु को पकड़ना लेश्या को पकड़ना है।

शरीर और आत्मा का दूसरा संगम-स्थल है—नाभि—तैजस केन्द्र। नाभि न्यूक्लीयस केन्द्र होती है। नाभि का बहुत महत्त्व बतलाया गया है। कहा जाता है—नाभि टल गई, पेट में दर्द हो गया, शरीर में दर्द हो गया। अनुभवी लोग सबसे पहले यह देखते हैं—अमुक व्यक्ति बीमार है। उसकी नाभि टली है या नहीं? नाभि के टलने को 'धरण' कहा जाता है। पेट की एक विशेष प्रकार से नाप-जोख कर यह निर्णय लिया जाता है—धरण है या नहीं? यदि धरण होती है तो सबसे पहले उसे ठीक किया जाता है। यह महत्त्वपूर्ण संगम-स्थल है।

शरीर और आत्मा का तीसरा संगम-स्थल है—आनन्द केन्द्र। यह भी बहुत महत्त्वपूर्ण केन्द्र है। इस पर रंगों का ध्यान करना लेश्या को विशुद्ध और पवित्र बनाना है। इन सब केन्द्रों पर सूर्य का ध्यान, चंद्रमा का ध्यान, चमकते सफेद रंग का ध्यान किया जाता है और इससे चैतन्य केन्द्र निर्मल बनते हैं।

रंग : प्रशस्त भी अप्रशस्त भी

ध्यान के ये सारे प्रयोग पौद्गलिक लेश्या से जुड़े हुए हैं। यदि हम अपनी वृत्तियों और भावनाओं को शुद्ध रखना चाहते हैं, अपनी चैतसिक लेश्या को पवित्र रखना चाहते हैं तो हमें द्रव्य लेश्या की निर्मलता पर भी ध्यान करना होगा, निर्मल रंगों का ध्यान करना होगा। सब रंग एक जैसे नहीं होते। सफेद रंग भी एक जैसा नहीं होता। वह प्रशस्त भी होता है, अप्रशस्त भी होता है। यदि सफेद रंग अप्रशस्त है तो वह अच्छा नहीं है। वही रंग अच्छा होता है, जो प्रशस्त होता है। हम प्रशस्त रंग का चुनाव करें।

न्यायालय में जज काला कोट पहनता है। वकील भी काला कोट पहनता है। न्यायालय परिसर में सब जगह काला रंग दिखाई देता है। काला रंग एकदम खराब नहीं होता। वह प्रशस्त भी होता है। काले रंग में यह विशेषता है कि वह प्रभावित नहीं होता। राजस्थान की प्रसिद्ध कहावत है—'काली कंबल पर रंग नहीं चढ़ता'। बहुत सारे रंग कमजोर होते हैं, उन पर दूसरे रंग चढ़ जाते हैं किन्तु जो काले रंग का होता है, उस पर दूसरा रंग नहीं चढ़ता। शायद इसीलिए न्याय के क्षेत्र में कार्य करने वाले व्यक्तियों के लिए काले रंग का चुनाव किया गया, ताकि न्यायाधीश निष्पक्ष रह सके, सामने आने वाले दबावों से अप्रभावित रह सके। वकील को भी निष्पक्ष रहना चाहिए। न्यायालय निष्पक्षता का स्थान है। उससे जुड़े हुए व्यक्ति के लिए काले रंग का चुनाव इसी दृष्टि से किया गया होगा।

रंग : व्यवसाय विज्ञापन का

आजकल आम आदमी भी रंग के चुनाव पर बहुत ध्यान देता है। वह कोई भी ड्रेस खरीदता या सिलवाता है तो इस बात पर ध्यान देता है कि ड्रेस की मैचिंग ठीक है या नहीं। आजकल इस क्षेत्र में न जाने कितने सलाहकार और परामर्शक हैं। बड़ी-बड़ी कंपनियां और विज्ञापनदाता उनसे सलाह लेते हैं।

केवल सलाह के वे हजारों रुपया पारिश्रमिक ले लेते हैं। विज्ञापन दें तो किस रंग का दें। यदि विज्ञापन ठीक रंग का नहीं होगा तो कंपनी फेल हो जाएगी। विज्ञापन में आकर्षक रंग आ गया तो कंपनी चल पड़ेगी। विज्ञापित माल में कुछ दम हो या नहीं, विज्ञापन अच्छा होना चाहिए। यह विज्ञापन का व्यवसाय रंग के आधार पर पनप रहा है।

इस सारे सिद्धांत को जैन दर्शन की भाषा में लेश्या का सिद्धान्त कहा गया। ये सारे रंग द्रव्य लेश्या हैं। हमारा इनसे काम ज्यादा पड़ता है। भाव लेश्या हमारे भीतर की बात है। वह हमारे सारे आधार और व्यवहार को प्रभावित करती है। परिवर्तन के लिए इन दोनों लेश्याओं—द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या को जानना जरूरी है। अनेक लोग इस भाषा में सोचते हैं—हम इन सबको क्यों जानें? ये सारे तत्त्वज्ञान के पचड़े हैं। हमें इनसे क्या लेना-देना है। व्यक्ति इस सचाई को भूल जाता है—कोई भी व्यक्ति इन सबको जाने बिना अच्छा जीवन जीने की कला नहीं सीख सकता। जिसे अच्छा जीवन जीना है, उसे यह सब जानना होगा। जिसको पशु-सा जीवन जीना है, वह ऐसी बात सोच सकता है। जीवन की सफलता के लिए इन सारी सचाइयों को जानना अपेक्षित है। लेश्या हमारे जीवन से जुड़ी हुई एक सचाई है। हम उसे जानें, सफल जीवन की कुंजी हमारे हाथ में होगी।

लेश्या : गंध, रस और स्पर्श

धर्म की देन क्या है? धार्मिक जगत् के सामने यह एक बहुत बड़ा प्रश्न है। लौकिक विद्वानों की देन बहुत है। एक व्यक्ति बीमार है तो उसे आयुर्वेद या आयुर्विज्ञान के निकट जाना होगा। एक व्यक्ति को पढ़ना है तो उसे शिक्षक के पास जाना होगा। शिक्षा के क्षेत्र में, चिकित्सा के क्षेत्र में तथा ऐसे अनेक क्षेत्रों में लौकिक विद्याओं का अवदान प्रत्यक्ष है। विज्ञान के क्षेत्र में वैज्ञानिकों का अवदान स्पष्ट है। प्रश्न है—धर्म का कौनसा बड़ा अवदान है, जिससे पूरा समाज उपकृत होता है। क्या हम यह मानें कि धार्मिक लोग बहुत थोड़े न सन्तुष्ट हैं, वे गहराई में जाने की बात ही नहीं सोच रहे हैं? या यह मानें कि धार्मिक लोग ऐसी समाजोपयोगी व्यवस्थित पद्धति या प्रक्रिया प्रस्तुत नहीं कर पा रहे हैं, जो सारे संसार के लिए मान्य हो जाए। यह चिन्तन का महत्त्वपूर्ण बिन्दु है और इस पर धार्मिक लोगों को विचार करना चाहिए।

धर्म का अवदान : भाव चिकित्सा

सवाई मानसिंह हॉस्पिटल, जयपुर के एक डाक्टर से चिकित्सा विषयक बातचीत चल रही थी। हमने प्रेक्षाध्यान के संदर्भ में समाधि की चर्चा की, व्याधि, आधि और उपाधि की समस्या को प्रस्तुत किया। डाक्टर साहब ने उपाधि शब्द को बहुत गहराई से लिया। उन्होंने कहा—शारीरिक चिकित्सा के केन्द्र बहुत है। मानसिक चिकित्सा के केन्द्र भी अनेक खुले हैं। शारीरिक चिकित्सा के लिए अनेक बड़े-बड़े हॉस्पिटल हैं, मेडिकल कालेज और डिस्पेंसरियां हैं। मानसिक चिकित्सा के भी अनेक विख्यात केन्द्र विकसित हो चुके हैं किन्तु भाव-चिकित्सा उपाधि चिकित्सा का कोई केन्द्र नहीं है। उन्होंने सुझाव दिया—जैन विश्व भारती में भाव चिकित्सा का केन्द्र प्रस्थापित होना चाहिए।

यह एक उपयोगी सुझाव है। अध्यात्म भाव-चिकित्सा का महत्त्वपूर्ण सूत्र है। यदि इस एक बिन्दु पर सघन कार्य किया जाए तो व्यक्ति और समाज—दोनों लाभान्वित हो सकते हैं। इसमें अनेक मानवीय समस्याओं का समाधान सन्निहित है। यदि इस दिशा में कोई सार्थक और रचनात्मक कदम उठाया जाए तो धर्म का, अध्यात्म का एक महान अवदान जनता को उपलब्ध हो सकता है।

क्यों आती है बीमारी?

भाव चिकित्सा केन्द्र भावनात्मक बीमारियों का चिकित्सा केन्द्र है। क्या ऐसा भी कोई केन्द्र हो सकता है, जिसमें व्यक्ति को यह सुझाव दिया जाए—तुम ऐसा करो, तुम्हें बीमारी नहीं होगी। बीमारी होने पर उसकी चिकित्सा करना एक बात है और बीमारी आए ही नहीं, इसका उपाय सुझाना बिलकुल दूसरी बात है।

बीमारी क्यों आती है? हम इस प्रश्न पर विचार करें। कुछ बीमारियां बाह्य वातावरण से आती हैं। कुछ ऋतुजनित हैं। सर्दी लगी और जुकाम हो गया। कुछ बीमारियां आहारजनित हैं। आज भोजन इतना दूषित हो गया है, इतने जहरीले पदार्थ उसमें मिल गए हैं कि बीमारी को सहज आमंत्रण मिल जाता है। जब बीज बोया जाता है, छोटा सा पौधा अंकुरित होता है तब से लेकर रसोईघर तक उसे जहर ही जहर का सामना करना पड़ता है। पेड़-पौधों पर बहुत जहरीले पदार्थ छिड़के जाते हैं। न फल शुद्ध है, न ही कोई अन्य खाद्य पदार्थ शुद्ध है। बहुत सारे जहरीले रसायनों का अंश हमारे भोजन के साथ जाता है। यह बीमारी का बहुत बड़ा कारण बनता है।

कारण है लेश्या

बीमारी का सबसे बड़ा कारण है—हमारी लेश्या और भाव। हमारी जो भावनाएं हैं, वे बहुत बीमारियां पैदा करती हैं। एक ग्रन्थि है पिच्यूटरी। इस ग्रन्थि से बारह प्रकार के स्राव होते हैं। ये स्राव हमारे शरीर को प्रभावित करते हैं। इनमें एक स्राव है 'एस.एच.टी. हार्मोन।' इस स्राव का कार्य है एड्रीनल ग्लेण्ड को उत्तेजित करना। जब यह स्राव एड्रीनल को उत्तेजित करता है तब एड्रीनेलिन का अतिरिक्त स्राव होता है और तब व्यग्रता, अधीरता, अकुलाहट आदि भावनाएं पैदा होती हैं। इस अवस्था में बीमारियों को निमंत्रण मिलता है, बीमारी की पृष्ठभूमि तैयार हो जाती है। हमारी जो रोग प्रतिरोधक शक्ति है, जैविक रासायनिक श्रृंखला है, वह गड़बड़ा जाती है। व्यक्ति बीमारियों से घिर जाता है।

बीमार आदमी कहता है—'मैंने बड़े-बड़े हॉस्पिटल में चेक-अप करवा लिया, सभी प्रकार के टेस्ट करवा लिए। डाक्टर कहते हैं—'तुम्हारे सब कुछ नार्मल है, कोई बीमारी नहीं है किन्तु मैं बहुत बड़ी बीमारी भोग रहा हूँ।' एक पिता ने अपनी समस्या बताते हुए कहा—'मेरा लड़का बहुत दुर्बल है। निरन्तर बीमार रहता है। हमारा घर सम्पन्न है। खाने-पीने की कोई समस्या नहीं है, सारी सुविधाएं उपलब्ध हैं। अच्छे डाक्टर और श्रेष्ठ दवाइयों से भी वह ठीक नहीं हो पा रहा है। उसका शरीर कभी बनता ही नहीं है।'

प्रश्न है—इन समस्याओं का कारण क्या है? एक डाक्टर इन सबका कारण खोजता है शरीर में। वह देखेगा—कहीं कोई जर्म्स या वायरस तो नहीं है? आधुनिक यंत्र शारीरिक परिवर्तनों को पकड़ लेते हैं। जब शरीर में कोई परिवर्तन दिखाई नहीं देता है तब डाक्टर उसका कारण पकड़ नहीं पाता। केवल शरीर की चिकित्सा करने वाला कारण को पकड़ने में सफल नहीं हो सकता। ये सारी बीमारियां उपाधि से उत्पन्न होती हैं। भावना के स्तर पर ही इनका निदान और चिकित्सा की जा सकती है।

गंध का प्रभाव

लेश्यातंत्र में इन समस्याओं का बहुत सुन्दर समाधान मिलता है। निषेधात्मक भाव की जितनी लेश्याएं हैं, कृष्ण, नील और कापोत—इन लेश्याओं के जो पुद्गल हैं, उनके वर्ण, गंध, रस और स्पर्श हैं, वे अनिष्टकर होते हैं। जब निषेधात्मक भाव और अशुभ पुद्गल हमें प्रभावित करते हैं तब व्यक्ति बीमार

बनता है। लेश्या की गंध हमें प्रभावित करती है। गंध का प्रभाव एनीमल ब्रेन पर होता है। यह ब्रेन का एक हिस्सा है, जिसे पाशविक मस्तिष्क कहा जाता है। अप्रशस्त लेश्याओं की गंध बहुत खराब होती है। कृष्ण, नील और कापोत लेश्या की गंध इतनी खराब होती है कि आदमी उसे सहन ही नहीं कर पाता। यह एक सुविधा है कि वह गंध बहुत सूक्ष्म है और आदमी उसे पकड़ नहीं पाता। यदि स्थूल गंध इतनी खराब हो तो आदमी एक क्षण भी जी नहीं पाए। प्रकृति ने एक व्यवस्था कर दी है—व्यक्ति अमुक फ्रिक्वेन्सी या अमुक मात्रा में ही गंध को ग्रहण कर पाता है। वह सूक्ष्म गंध को ग्रहण ही नहीं कर पाता। हमारे चारों ओर गंध ही गंध है पर हम उसे पकड़ नहीं पाते। हम केवल स्थूल बात को पकड़ने में ही समर्थ होते हैं।

हमारी शरीर-रचना भी ऐसी ही है। इन्द्रियां केवल स्थूल को ही अपना विषय बना पाती हैं। यदि इन्द्रियां सूक्ष्म को पकड़ने लग जाए तो हम विचित्र स्थिति में फंस जाएं। हमारे चारों ओर कोलाहल हो रहा है। वह हमें सुनाई नहीं देता। यदि व्यक्ति इस कोलाहल को सुनने लगे तो पागल बन जाए। हमारे शरीर के भीतर भी कितना कोलाहल है! वह भी हमें सुनाई नहीं देता। हमें स्थूल आवाज ही सुनाई देती है। यह बहुत अच्छी व्यवस्था है, अन्यथा व्यक्ति का जीना दूभर हो जाए। इसी प्रकार गंध भी बहुत प्रबल है। चाहे हम उसको पकड़ न पाएं पर वह हमारे मन और शरीर को प्रभावित अवश्य करती है। ईर्ष्या का भाव मन में आया, घृणा और द्वेष का भाव मन में आया, व्यक्ति चिड़चिड़ा बन जाएगा, वह मन ही मन घुटेगा, जलता रहेगा। उस अवस्था में अप्रशस्त गंध अपना जबरदस्त प्रभाव डालेगी, शरीर और मन को बीमार बना देगी। आजकल न जाने कितने लोग इन भावों के कारण बीमार बने हुए हैं। वर्तमान वैज्ञानिक कहते हैं—आंतों का घाव, व्रण, अतिसार, हार्ट-अटेक आदि आदि जो बीमारियां हैं, उनके पीछे भावनात्मक कारण ज्यादा कार्य करते हैं। निषेधात्मक भाव और मानसिक तनाव इनकी उत्पत्ति के मुख्य हेतु बनते हैं।

लेश्याओं की जितनी खराब गंध है उतनी दुर्गंध हमारी दुनिया में नहीं है। लेश्याओं का रस जितना खट्टा है उतना खट्टा रस भी स्थूल जगत में नहीं है। आम की कच्ची केरी को बहुत खट्टा माना जाता है। वह इतनी खट्टी होती है कि आदमी के दांत भी उसे खाने से खट्टे हो जाते हैं। व्यक्ति उसे खा नहीं पाता। लेश्या का रस उससे भी अनंतगुना खट्टा है। क्या दुनिया में इतना खट्टा पदार्थ है?

लेश्या का स्पर्श भी अत्यन्त तीक्ष्ण होता है। जिस लेश्या में झूठ, कपट, ईर्ष्या और कामवासना के भाव पैदा होते रहते हैं, उस कृष्ण लेश्या का स्पर्श कितना तीक्ष्ण है! हमने करौत को देखा है। वह जब चलती है, काठ को चीरती चली जाती है। काठ का पता ही नहीं चलता। तीक्ष्ण शस्त्र मारबल को भी शीघ्रता से चीर देता है। उस करौत से भी अनंतगुना तीखा स्पर्श है कृष्ण लेश्या का। हम उसकी तीक्ष्णता की कल्पना भी नहीं कर सकते।

लेश्या के वर्ण, गंध, रस और स्पर्श के ऐसे परमाणु हमारे शरीर के भीतर आते हैं। क्या इनसे बीमारी पैदा नहीं होगी? बेचारे यंत्र क्या करेंगे? वे कैसे बीमारी को पकड़ पाएंगे? एक्सरे की पकड़ में कैसे आएंगे? ये वैज्ञानिक यंत्र और गेल्वेनोमीटर की सुइयां कहां तक सफल होंगी? इतने सूक्ष्म गंध, रस और स्पर्श के परमाणु हैं, जिनका हमें पता नहीं चलता। वे सूक्ष्म परमाणु अपना काम करते चले जाते हैं।

भावविशुद्धि और लेश्या

हम इस बिन्दु पर भावविशुद्धि का मूल्यांकन करें। भावविशुद्धि और लेश्या—दोनों जुड़े हुए हैं। भाव विशुद्ध होंगे तो लेश्या शुभ होगी। लेश्या शुभ होगी तो वर्ण, गंध, रस और स्पर्श भी मनोरम होंगे। इस स्थूल जगत में गुलाब या केवड़ा की जो सुगन्ध होती है, उससे भी अनंतगुना अधिक सौरभ होती है लेश्या की गंध में। पका हुआ आम जितना मीठा होता है, शुभ लेश्या का उससे भी अनंतगुना अधिक मीठा रस होता है। सद्यः निःसृत नवनीत का जितना कोमल स्पर्श होता है, शुभ लेश्या का उससे भी अनंतगुना अधिक मृदु स्पर्श होता है। शिरीष का स्पर्श जितना कोमल और सुहाना होता है, शुभ लेश्या का स्पर्श उससे अनंतगुना ज्यादा कोमल है।

लेश्या : वर्ण, गंध, रस और स्पर्श

उत्तरार्ध्ययन सूत्र में लेश्याओं के वर्ण, गंध, रस और स्पर्श का व्यवस्थित निरूपण है—

लेश्या	वर्ण	गंध	रस	स्पर्श
कृष्ण	खंजन के समान	मृत कलेवर की गंध से अनंतगुना अधिक	तुंबे से अनंतगुना कड़वा	करवत से अनंतगुना तीक्ष्ण
नील	चाष पक्षी के परों के समान	"	त्रिकूट से अनंतगुना तीखा	"
कापोत	कबूतर की ग्रीवा के समान	"	कच्चे आम से अनंतगुना कसैला	"
तैजस	नवोदित सूर्य के समान	सुगन्धित पुरुष से अनंतगुना अधिक	पके हुए आम से अनंतगुना खट्टा-मीठा	नवनीत एवं शिरीष से अनंत गुना मृदु
पद्म	हरिताल के समान	सुगन्धित पुष्प से अनन्तगुना अधिक	विविध आसवों से अनन्तगुना अम्ल	नवनीत एवं शिरीष से अनंत गुना मृदु
शुक्ल	शंख या चांदी के समान	"	शक्कर से अनन्तगुना मीठा	"

हम इनका विश्लेषण करें। कहां खंजन जैसा काला रंग और कहां चांदी जैसा चमकता हुआ श्वेत रंग! कहां मृत कलेवर से अनंतगुना अधिक दुर्गंध और कहां सुरभित पुष्प से अनंतगुना अधिक सुगंध ! कहां कच्ची केरी से अनंतगुना खट्टा रस और कहां शक्कर से अनंतगुना मीठा रस! कहां करवत से अनंतगुना तीक्ष्ण स्पर्श और कहां नवनीत से अनंतगुना कोमल स्पर्श! लेश्या लेश्या में कितना तारतम्य है? दोनों प्रकार के परमाणु हमारे भीतर और आसपास बिखरे हुए हैं। यह हमारे हाथ में है कि हम किससे काम लें। यह प्रत्येक व्यक्ति पर निर्भर है कि वह चाहे तो करवत से काम ले या नवनीत सी मृदुता को अपनाए। व्यक्ति अपने सुख-दुःख का कर्ता स्वयं है, यह वाक्य इस संदर्भ में कितना रहस्यपूर्ण है। कहा गया—‘अप्पा कत्ता विकत्ता य’—आत्मा ही कर्ता है और आत्मा ही विकर्ता है। एक नौसिखिया व्यक्ति भी इसका सही अर्थ कर देगा पर सरल दिखाई देने वाले वाक्य के पीछे कितना रहस्य छिपा है। एक ओर अप्रशस्त वर्ण, गंध, रस और स्पर्श हैं दूसरी ओर प्रशस्त वर्ण, गंध, रस और स्पर्श हैं। हम किन परमाणुओं का उपयोग करें? किसका स्विच ऑन करें और किसका स्विच ऑफ करें? किस बटन को दबाएं और किस बटन को खोलें? यह हमारे हाथ की बात है और यही है पुरुषार्थवाद या आत्मकर्तृववाद।

प्रवर्तन हो नई धारा का

हम इस बिन्दु पर सोचें—धार्मिक जगत दुनिया को बहुत बड़ा अवदान दे सकता है, एक नई धारा का प्रवर्तन कर सकता है। लेश्या का सिद्धान्त एक ऐसा सिद्धान्त है, जिसका उपयोग शिक्षा और चिकित्सा—दोनों क्षेत्रों में किया जा सकता है। धार्मिक जगत के ऐसे अनेक अवदान हैं, जो दुनिया के लिए सुख और शान्ति का स्रोत बन सकते हैं। आज अध्यात्म के क्षेत्र में कुछ ऐसी नई शाखाओं का शिलान्यास होना चाहिए। प्रासाद खड़ा होने में समय लग सकता है। ऐसा बीज बोएं और उसे निरन्तर सिंचन देते रहें, एक दिन वह एक विशाल वृक्ष बन जाएगा। आवश्यकता है बीजारोपण की, सिंचन और सुरक्षा की। अध्यात्म के क्षेत्र में कुछ नए बीज बोए जा सकते हैं, कुछ नए प्रासाद खड़े किए जा सकते हैं, जिनका निर्माण विज्ञान के द्वारा संभव नहीं है। हालांकि वैज्ञानिक लोग अनेक दिशाओं में आगे बढ़ने के लिए प्रयत्नशील हैं लेकिन कुछ कार्यक्रम ऐसे हैं, जो अध्यात्म के लोगों को विरासत से उपलब्ध हैं और जिन तक वैज्ञानिकों की पहुंच नहीं है। अध्यात्म के लोगों को कहीं से कुछ आयात करने की जरूरत नहीं है, मांगने की जरूरत नहीं है। हम केवल अपने आपसे मांगें। अपनी साधना और आराधना से मांगें। अपने तत्त्वज्ञान और अध्यात्म दर्शन से मांगें। हमें विरासत से विशाल ज्ञान राशि उपलब्ध है। केवल जरूरत है निर्माण की, गहन अध्ययन और मनन की, सघन चिन्तन और मंथन की। यदि यह हो जाए तो बहुत सारी नई बातें प्रस्तुत की जा सकती हैं।

लेश्या जैसा गंभीर सिद्धान्त जिस दर्शन के पास है और जिसके महत्त्वपूर्ण फार्मूले उपलब्ध हैं क्या भाव चिकित्सा के क्षेत्र में नया काम नहीं कर सकता? हम शरीर चिकित्सा की बात छोड़ दें, चीर-फाड़ करने की बात छोड़ दें।

यह बात डाक्टरों और मेडिकल साइंस पर छोड़ दें, किन्तु क्या भीतर की चीर-फाड़ का काम एक धार्मिक व्यक्ति नहीं कर सकता? क्या आध्यात्मिक चिकित्सा और भाव चिकित्सा का विकास नहीं किया जा सकता? ऐसा हो सकता है किन्तु इसके लिए चिन्तन और मनन की जरूरत है। चढ़ने और उतरने के सोपान भिन्न नहीं होते। क्या आज तक कहीं ऐसी सीढ़ी बनी है, जिसमें चढ़ने के सोपान अलग हों और उतरने के अलग? हंसने और रोने वाली आंख अलग-अलग नहीं होती। मानव जिन आंखों से हंसता है, उन्हीं आंखों से रोता है। क्या ऐसा कभी हुआ है कि दो आंखें रोने के लिए होती हैं और दो आंखें हंसने के लिए? वैसे ही जो सीढ़िया चढ़ने के लिए हैं, वे ही उतरने के लिए हैं। केवल उन्हें पकड़ने की जरूरत है।

गुरु के पास तीन शिष्य आए, प्रार्थना के स्वर में बोले—‘गुरुदेव! हम साधना करना चाहते हैं। हमें कोई साधना का सूत्र बताएं?’ गुरु ने तीनों से एक प्रश्न पूछा—‘आंख और कान में कितना अंतर है।’ पहला व्यक्ति बोला—‘चार आंगुल का।’ दूसरे ने कहा—‘कान से आंख ज्यादा काम आती है। आंखों देखी बात बहुत स्पष्ट होती है। आंखों देखी और कानों सुनी बात में बहुत अंतर होता है।’ तीसरे का जवाब था—‘आंख से हम देख सकते हैं। किन्तु परमार्थ की बात कान से ही सुन सकते हैं।’ गुरु ने पहले व्यक्ति से कहा—‘तुम अभी व्यापार करो। तुम्हारा नाप-जोख में रस है। मीटर हाथ में लो और वस्त्रों को नापो। तुम साधना के अधिकारी नहीं हो।’ दूसरे व्यक्ति से कहा—‘तुम अभी न्याय का काम करो। लोगों के झगड़े सुलझाओ। आंख द्वारा देखे गए प्रमाण ज्यादा सच होते हैं।’ तीसरे व्यक्ति से कहा—‘तुम साधना के योग्य हो। मैं तुम्हें आत्मिक ज्ञान दूंगा, क्योंकि तुम परमार्थ की बात में रस लेते हो।’

अध्यात्म की उपयोगिता

यही कान, यही आंख सबके पास है। यदि आंख सचाई को देखने लग जाए, कान परमार्थ की बात को सुनने लग जाए तो कुछ नई बातें हमें प्राप्त हो सकती हैं। इसके लिए हमें गहराई में जाना होगा। जहां कुछ देने की बात है, नई बात प्रस्तुत करने का प्रश्न है वहां बहुत गहरे में डुबकियां लेनी होंगी। सतह पर रहने से काम नहीं चलेगा। यदि हम गहरे उतर कर कुछ नई बात खोजें, अध्यात्म चिकित्सा या भाव चिकित्सा के क्षेत्र में लेश्या के सिद्धान्त के कुछ महत्वपूर्ण प्रयोग प्रस्तुत करें तो दुनिया को एक ऐसा सूत्र मिलेगा, जिससे अध्यात्म की उपयोगिता बढ़ेगी, यह विश्वास प्रबल होगा—कोरी भौतिकता का नहीं, अध्यात्म का भी एक साम्राज्य है और उसके बिना मनुष्य सुख और शांति का जीवन जी नहीं सकता।

जैन मुनि और व्यावसायिक वृत्ति

साधना का मार्ग एक ही प्रकार का नहीं रहा। उसमें तारतम्य रहा है। कुछ व्यक्तियों ने गृहस्थी को छोड़कर संन्यास की साधना की। कुछ व्यक्ति गृहस्थी में रहते हुए साधना में लगे रहे और कुछ व्यक्ति गृहस्थ-संत बने। तीन कोटियां हो गईं। कबीर, तुकाराम संन्यासी नहीं बने। वे गृहस्थ-संत बने। श्रीमद् राजचन्द्र संन्यासी नहीं बने, गृहस्थ-संत बने। गृहस्थ-संतों की भी लम्बी परम्परा है। वे संत भी इतने पहुंचे हुए संत बने हैं कि उनकी उच्च साधना और अध्यात्म विकास की स्थितियां चौंकाने वाली हैं। कुछ गृहस्थ में रहते हुए संत नहीं कहलाए, पर बड़े साधक हुए हैं। रूपचंदजी सेठिया, सुजानगढ़ वाले, संत नहीं बने, संन्यासी नहीं बने पर किसी संत से कम नहीं थे वे। मिश्रीमल जी सुराणा, राणादास वाले भी ऐसे ही हैं। वे करोड़पति घराने के सदस्य हैं, पर आज भी कागज की थेलियां बनाकर अपनी आजीविका चलाते हैं। अस्सी वर्ष की उम्र में भी स्वयं अर्जन कर रोटी खाते हैं। इनका मनोबल बहुत ऊंचा है और साधना कठोर है। आज भी ये ३-४ घंटा खड़े-खड़े ध्यान करते हैं। शीर्षासन में दो सामायिक कर लेते हैं। आज स्थिति यह है कि इनके संकेत पर पांच लाख रुपया मिल सकता है, पर खुद के खाने के लिए इन्हें कमाना पड़ता है। कमाना पड़ता नहीं, इन्होंने स्वयं त्याग किया है। ये क्या कम हैं संतों से?

साधना की अलग-अलग भूमिकाएं हैं। मुझे आज संन्यास की भूमिका की चर्चा करनी है। संन्यास की भूमिका में यह माना गया है कि भिक्षा करो, आजीविका मत कमाओ—‘भिक्षुखीअब्बं न केयव्वं’—भिक्षा करो, क्रय-विक्रय मत करो। कुछ लोग मानते हैं कि जितना आवश्यक हो उतना कमाओ, मुफ्त का मत खाओ, फिर साधना में लग जाओ। किन्तु सभी संन्यास की परंपराओं में, चाहे बौद्ध हो या श्रमण या वैदिक संन्यासी, सबके लिए यह नियम रहा कि व्यवसाय मत करो। व्यावसायिक वृत्ति साधना में बाधा पहुंचाती है। क्रय-विक्रय साधना का बाधक तत्त्व है। इससे लोभ पैदा होता है, बढ़ता है।

जैन परंपरा इस विषय में बहुत शुद्ध परम्परा रही है। उसमें कहा गया कि क्रय-विक्रय की वृत्ति से, पैसे की मनोवृत्ति से साधु-संस्था दूर रहे। यह एक सर्वमान्य बात है कि अकिंचन साधु देखना हो तो जैन मुनि को देखो। सर्वत्र यह छाप थी। अन्यान्य साधु-संस्था के मानदंड कुछ और हैं। किस संन्यासी का आश्रम सबसे बड़ा है? वह संन्यासी बड़ा माना जाता है। जिसके पास आयातित कार हो, करोड़ों का बैंक बेलेंस हो। यह पहचान पहले उद्योगपतियों की थी, परन्तु आज यह साधुओं की होने लगी है। वे इस दौड़ में अहमहमिया दीड़ रहे

हैं। किन्तु जैन मुनि का सर्वोपरि व्रत रहा आकिंचन्य का, पैसे का लेन-देन नहीं, बैंक-बेलेंस की तो बात ही दूर! किन्तु आज स्थिति कुछ बदलती सी नजर आ रही है। इसका कारण क्या है? मैं समझता हूँ, इसका मूल कारण है कि गुरु का नियंत्रण नहीं रहा।

रामकृष्ण ने एक बार कहा—वैद्य तीन प्रकार के होते हैं—अधम, मध्यम और उत्तम। वैद्य आया, बीमार को देखा, दवा दी और चलता बना, वह अधम कोटि का वैद्य है। वैद्य आया, रोगी को देखा, पास बैठा, दवा के गुण-धर्म समझाए, पथ्य-परहेज बताया और चला गया। वह मध्यम कोटि का वैद्य है। उत्तम कोटि का वैद्य वह है जो बीमारी के मूल को नष्ट करने के लिए कड़वी से कड़वी दवा भी जबरन रोगी को पिला देता है। गुरु भी तीन प्रकार के होते हैं—दीक्षा दी, कुछ बताया, फिर जीवन भर नहीं पूछेंगे कि साधना कैसे चल रही है? वह अधम कोटि का गुरु है। मध्यम कोटि का गुरु वह होता है जो शिष्य को कभी पूछ लेता है, अन्यमनस्कता से मार्ग बता देता है, पर अधिक चिन्ता नहीं करता। उत्तम गुरु वह होता है—जो शिष्य के जीवन को उन्नत बनाना अपना दायित्व समझते हैं और तब तक उसके पीछे पड़े रहते हैं जब तक कि वह सही मार्ग पर आगे बढ़ने नहीं लगता। वे येनकेन उपाय से उसे रास्ते पर आगे बढ़ाते हैं।

आज उत्तम गुरु के नेतृत्व के अभाव में जैन परम्परा के भीतर कुछ विकार आ रहे हैं। आचार्य भिक्षु ने इसीलिए तो अपने आत्म-निवेदन में कहा था—‘प्रभो! आज आपके शासन में क्या हो गया है।’

नियंता और नियंत्रण के अभाव बिना में विकृतियाँ आती हैं। नियंत्रण में रहना कोई नहीं चाहता। अनुशासन किसी को पसंद नहीं है। किन्तु उसके बिना किसी का भी भला नहीं होता। न व्यक्ति का, न समाज का और न धर्म-संघ का।

आचार्यश्री बहुत बार कहते हैं, बीमारी की ओर अंगुलि निर्देश करो, चेताओ, सावधान करो। पर चेताने वाला भी क्या करे? कैसे रोके? मानवीय प्रकृति बड़ी विचित्र है।

एक गाड़ी में मूंगफली के बोरे लदे हुए थे। पीछे-पीछे एक राहगीर चल रहा था। एक बोरे में छेद हुआ और उससे मूंगफली नीचे गिरने लगी। वह राहगीर जमीन से उन्हें बटोर कर खाने लगा। खाता चला गया। एक मोड़ पर गाड़ी रुकी। गाड़ीवान ने देखा, बोला—‘अरे भले आदमी! तुमने मुझे चेताया नहीं?’ वह बोला—‘तुम नहीं जानते। छिद्रों का लाभ उठाने वाले अधिक होते हैं, चेताने वाले कम होते हैं।’

जहां समाज में ऐसी मनोवृत्ति होती है, जहां सावधान करने की बात नहीं होती वहां फिर छिद्र नहीं रहते, बड़े-बड़े बघारे पड़ जाते हैं। आज जो चारित्रिक पतन हो रहा है, समस्याएं उलझ रही हैं, उनका मूल कारण है नियंत्रण और नियंता का अभाव। व्यक्ति का अपना नियंत्रण हो या उत्तम नियंता हो तो समस्या न बने किन्तु नियंता के आसन पर बैठने वाले स्वयं अपना घर भरने,

स्वार्थ सिद्ध करने में लगे हों तो नियंत्रण कैसे हो सकता है? नियंत्रण अपने आप नहीं होता है, क्योंकि मानवीय स्वभाव ही ऐसा है।

आज जैन शासन के सामने भी कुछ समस्याएं आ रही हैं। महावीर का यह वचन बहुत महत्त्वपूर्ण है—‘कयविक्रयो य महादोसो, भिक्षावृत्ति सुहावहा’—क्रय-विक्रय की वृत्ति में फंसना महान दोष है, भिक्षावृत्ति सुखदायक है। जो मुनि क्रय-विक्रय के चक्कर में फंस जाता है, उसकी साधना-वृत्ति गौण हो जाती है। फिर तो वह लेखा-जोखा और खाते मिलाने में ही रह जाता है।

हम इस बात को छोड़ दें कि गृहस्थी में कोई साधु हो सकता है या गृहस्थ-संत हो सकता है ये सारी आपवादिक विशिष्ट घटनाएं हैं। यह परम्परा नहीं हो सकती। यह सामान्य आदमी की बात नहीं हो सकती। सामान्य आदमी तो इस गृहस्थी से अलग रहकर ही साधना कर सकता है। उसमें भी कठिनाई आती है। कुछ मुनि बनकर कुंडलियां बनाते हैं, हस्तेखा देखते हैं—इससे पैसा कमाते हैं। कछेक मंत्र-तंत्र से तथा सट्टे के अंक बताकर धंधा चलाते हैं। साधु-संस्था में यदि यह वृत्ति चलती है तो गृहस्थ में यह क्यों नहीं चलेगी? कौन साधना में रस लेगा?

भगवान महावीर ने जैन मुनि के लिए साधना का प्रशस्त मार्ग दिया और भिक्षा-वृत्ति को अपनाने की बात कही। भिक्षावृत्ति की भी समस्याएं बहुत हैं। उसकी भी अनेक कठिनाइयां हैं। मांगना, याचना करना सरल नहीं है। दूसरे के सामने हाथ फैलाना कठिन कर्म है। अनेक व्यक्ति प्राण-त्याग देते हैं, पर दूसरे के समक्ष हाथ नहीं पसारते।

राजकुमार दीक्षा के लिए प्रस्तुत हुआ। मां ने कहा—‘राजकुमार ! तुम मुनि बनना चाहते हो। क्या तुम्हें यह ज्ञात है कि रोटी के लिए घर-घर जाकर हाथ फैलाना होगा। कितनी लज्जा आएगी?’

जैन मुनि बनने वाला लज्जा और याचना के परीषह पर विजय पा लेता है। तभी वह भिक्षावृत्ति को अपना सकता है। जो यह कहा गया—‘भिक्षावृत्ति सुहावहा’ हम उसके पीछे छिपे रहस्यों को समझें और यह भलीभांति जान लें—क्रय-विक्रय की मनोवृत्ति से मुनि जितना बचेगा उतनी ही उसकी साधना प्रशस्त होगी।

जीव और अजीव का द्विवेणी संगम

एक प्रश्न है—क्या व्यक्ति अपने आपको जानता है? वह शरीर को जानता है या जीव को जानता है? दो दार्शनिक धाराएँ हैं—बुद्धिवादी और अतीन्द्रिय-ज्ञानवादी। बुद्धिवाद ज्ञेयवाद है। उसके लिए अज्ञेय कुछ भी नहीं है। उसके सामने जो बुद्धि से जाना जा सकता है, वही सत्य है। पाश्चात्य दार्शनिक प्रोटेगोरस महावीर के आस-पास हुए हैं। उन्होंने कहा—

- किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है।
- यदि है तो ज्ञेय नहीं है।
- यदि ज्ञेय है तो दूसरे को बताया नहीं जा सकता।
- अस्तित्व नहीं है, है तो अज्ञेय है और ज्ञेय है तो अवक्तव्य है।

अज्ञेयवाद : ज्ञेयवाद

महावीर ज्ञेयवादी और अज्ञेयवादी—दोनों हैं। जैन दर्शन में अज्ञेयवाद भी स्वीकृत है इसीलिए कहा गया—छह स्थान ऐसे हैं, जिन्हें छद्मस्थ सर्वभाव से जानता नहीं है, देखता नहीं है। वे ये हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, शरीर-प्रतिबद्ध जीव, परमाणु और शब्द। हम जीव को जानते हैं किन्तु उस जीव को जानते हैं, जो शरीर से बंधा हुआ है। हम शरीर-मुक्त जीव को नहीं जानते। दुनिया के पास ऐसा कोई साधन नहीं है, न बुद्धिवाद है, न तर्कवाद है, न यंत्रवाद है, जो शरीर-मुक्त जीव को जान सके। हम परमाणु को नहीं जान सकते। प्रश्न हो सकता है—वैज्ञानिकों ने यंत्रों द्वारा परमाणु को देख लिया है और उसका विस्फोट भी कर लिया है। वैज्ञानिकों ने जिस परमाणु को जाना है, जिस परमाणु का विस्फोट किया है, वह परमाणु नहीं है, वह अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध है। उसे व्यावहारिक परमाणु कहा जा सकता है, नैश्चयिक परमाणु नहीं। नैश्चयिक परमाणु किसी यंत्र का विषय नहीं बन सकता। न उसे देखा जा सकता है, न उसका विस्फोट किया जा सकता है। यह बात अवश्य है—व्यावहारिक परमाणु का विस्फोट भी इतना भयंकर है तो नैश्चयिक परमाणु का विस्फोट कितना भयंकर होगा? शब्द को भी सर्वभावेन नहीं जाना जा सकता, नहीं देखा जा सकता।

यह जैन दर्शन का अज्ञेयवाद है किन्तु उसके साथ-साथ ज्ञेयवाद भी है। इन तत्त्वों को सर्वभावेन नहीं जाना जा सकता, नहीं देखा जा सकता किन्तु कुछ अंशों में जाना जा सकता है, देखा जा सकता है। हम श्रुतज्ञान के द्वारा इन

सबको जानते हैं, देखते हैं। इसका अर्थ है—जैन दर्शन ज्ञेयवाद और अज्ञेयवाद—दोनों का समन्वय है।

जहां अज्ञेयवाद की कोई बात कही जाती है, वहीं बड़ी समस्या पैदा हो जाती है। मेरे जीवन की ही एक घटना है। दिगम्बर परम्परा के प्रसिद्ध विद्वान् जुगलकिशोर मुख्तार ने अनेकांत पत्रिका में एक प्रश्नवाली छापी। मैंने उसके उत्तर लिखे। एक प्रश्न के उत्तर में मैंने लिखा—‘मैं आत्मा—जीव को मानता हूँ, जानता नहीं हूँ।’ इस प्रश्न को लेकर बड़ा ऊहापोह पैदा हुआ। जो जीव को नहीं जानता, वह सम्यग्दृष्टि नहीं होता। जो सम्यग्दृष्टि नहीं है, वह मुनि कैसे हो सकता है? यह नास्तिकवाद है। इसका प्रबल विरोध हुआ। अनेक शिकायती-पत्र आचार्यवर के पास पहुंचे। आचार्यश्री ने पूछा—‘तुमने क्या लिख दिया।’ मैंने कहा—‘मैंने बिल्कुल यथार्थ बात लिखी है।’ आखिर एक दिन तेरापंथ समाज के जाने माने व्यक्ति बीदासर में इकट्ठे हुए। श्रीचंदजी रामपुरिया, संतोषचंदजी बरड़िया, गोपीचन्दजी चौपड़ा आदि-आदि व्यक्ति मेरे पास बातचीत के लिए आए। मैंने कहा—‘मैं जीव को नहीं जानता, यह मेरा अज्ञान है। क्या आप जीव को जानते हैं?’ एक व्यक्ति ने कहा—‘आचारांग, सूत्रकृतांग आदि सूत्रों में लिखा है—आत्मा है, जीव है।’ मैंने कहा—‘आपने यह उद्धृत किया है। यह ज्ञान कहां है? आप दस उद्धरण दे रहे हैं और मैं सौ उद्धरण दे सकता हूँ किन्तु यह जानना नहीं है। जानना तब बनता है जब उसका साक्षात्कार हो जाए। एक व्यक्ति ने लिखा और हमने मान लिया। यह जानना नहीं, मानना है।’

जानना है साक्षात्कार। मानना है किसी की बात को स्वीकार करना। मानने की बात पर तर्क-वितर्क होगा, पक्ष और विपक्ष होंगे। दुनिया में विवाद का कोई अन्त नहीं है। तर्क और विवाद का अन्त वहीं आ सकता है, जहां जानने की बात प्राप्त होती है। जिस सत्य को जान लिया, उसमें तर्क की गुंजाइश नहीं होती, पक्ष और प्रतिपक्ष नहीं होता। साक्षात्कार के क्षेत्र में सबका एक ही अनुभव होता है। जितने प्रतिवाद, प्रतिपक्ष, तर्क और वितर्क हैं, वे मानने के क्षेत्र में हैं, जानने के क्षेत्र में नहीं है।

अज्ञेयवाद अतीन्द्रियवाद है। सोफिस्टवादी बुद्धि पर अटके रहे। महावीर ने बुद्धिवाद के साथ-साथ अज्ञेयवाद को भी स्वीकार किया। हम अतीन्द्रिय चेतना के द्वारा अज्ञेयवाद को जान सकते हैं। मति और श्रुत के द्वारा ज्ञेय को जान सकते हैं। दो प्रकार के ज्ञान हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। दो प्रकार के विषय हैं—ज्ञेय और अज्ञेय।

हम जीव और अर्जाव—इन दो तत्वों पर विमर्श करें। जीव हमारे लिए ज्ञेय भी है, अज्ञेय भी है। शरीर में रहा हुआ जीव हमारे लिए ज्ञेय है। चेष्टाओं और प्रवृत्ति के द्वारा हम जीव को जानते हैं। हम जानते हैं—जब तक प्राण है तब तक आदमी जिन्दा है। प्राण चला जाता है, आदमी मर जाता है। जीव है इसीलिए सारी क्रियाएं चल रही हैं। जीव न रहे तो आदमी मुर्दा बन जाए। शरीरमुक्त जीव ज्ञेय नहीं बनता। ज्ञेय का मतलब है, जो जाना जा सकता है।

अज्ञेय का मतलब है, जो नहीं जाना जा सकता। अजीव भी ज्ञेय और अज्ञेय—दोनों है। दृश्य पुद्गल ज्ञेय बनता है। धर्मास्तिकाय आदि अज्ञेय होते हैं।
द्वैतवाद की स्वीकृति

जैन दर्शन द्वैतवादी दर्शन है। शंकराचार्य और कांट जैसे दार्शनिकों ने जड़ का अस्तित्व नहीं माना। केवल चैतन्य का, मन का अस्तित्व माना। जगत में जो कुछ दिखाई दे रहा है, वह ज्ञान का विकल्प है, प्रत्ययवाद है। पदार्थ का वास्तव में अस्तित्व ही नहीं है। अस्तित्व है केवल चैतन्य का। जैन दर्शन ने इस बात को स्वीकार नहीं किया। उसने दोनों तत्त्वों को यथार्थ माना—जीव भी यथार्थ है, अजीव भी यथार्थ है। दोनों वास्तविक हैं। जीव और अजीव—दोनों का स्वतंत्र अस्तित्व है। यह द्वैतवाद की महत्त्वपूर्ण स्वीकृति है।

एक प्रश्न उभरा—क्या किसी काल में जीव अजीव बना या अजीव जीव बना? उत्तर दिया गया—ऐसा कभी संभव नहीं है। भगवान महावीर ने लोक-स्थिति के दस सूत्र बतलाए। उनमें एक सूत्र है—

ण एवं भूतं वा भव्वं वा भविस्संति वा जं जीवा अजीवा भविस्संति अजीवा वा जीवा भविस्संति—एवंपेगा लोगाट्ठती पण्णत्ता।

न ऐसा कभी हुआ है, न है और न होगा कि जीव अजीव बन जाए अथवा अजीव जीव बन जाए। एक शक्ति है—अगुरुलघु पर्याय। वह एक ऐसी शक्ति है, जो द्रव्य के गुण को त्रैकालिक बनाए रख सकती है। वह अजीव को जीव नहीं होने देती, जीव को अजीव नहीं होने देती। वह शक्ति अपने अस्तित्व की शृंखला को अनन्त काल तक अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित रखती है। उसी शक्ति के आधार पर जीव जीव बना रहेगा और अजीव अजीव बना रहेगा।
तर्क का उपयोग क्यों?

हमें यह स्वीकार कर लेना चाहिए—इस विषय को तर्कवाद से सिद्ध नहीं किया जा सकता। कहीं भी जीव के संदर्भ में प्रश्न आए, आत्मा के संदर्भ में प्रश्न आए और हम उलझ जाएं, आत्मा को सिद्ध कर दें। इसे मध्यम मार्ग नहीं कहा जाएगा, इसे ऐकान्तिक आग्रह माना जाएगा। हालांकि जीव और आत्मा की सिद्धि के लिए तर्क हैं, उनका उपयोग भी करना चाहिए, जिससे भ्रान्ति न फैले।

बालचन्द्रजी नाहटा बुद्धिवादी आदमी थे। उन्होंने समाज में यह भ्रांति फैला दी—जीव में आत्मा नहीं है। कोई आत्मा को सिद्ध नहीं कर सकता। सारे समाज के लोग उनसे बात करने में घबराते थे। आचार्यश्री उस समय नये-नये आचार्य बने थे। जवानी का जोश था और अध्यात्म का बल था, तर्क का बल था। आचार्यश्री ने सोचा—इस भ्रांति को तोड़ना चाहिए। भ्रांति को तोड़ने के लिए तर्क बहुत काम का होता है। सामान्य आदमी अतीन्द्रिय चेतना की बात को नहीं पकड़ सकता। उसे तर्क या युक्ति से ही समझाना होता है। हालांकि तर्क का उपयोग एक सीमा के साथ होता है। उससे आगे की बात को अतीन्द्रिय चेतना पर छोड़ना होता है। आत्मा का वास्तविक ज्ञान उसको होता है, जो अतीन्द्रिय चेतना तक पहुंच जाता है। आचार्यश्री ने बालचन्द्रजी को इस विषय पर चर्चा का खुला आमंत्रण दिया। सरदारशहर के तैरापंथ समवशरण में चर्चा प्रारम्भ हुई और उसका परिणाम आया—समाज में फैल रही इस भ्रान्ति का समूल उन्मूलन।

आत्मा को जानने के लिए हम हेतुवाद का सहारा लें, अतीन्द्रिय चेतना का भी सहारा लें। जैन दर्शन समग्र दृष्टिकोण को स्वीकार करता है। वह किसी एक बात पर नहीं अटकता। सबका अपना-अपना अधिकार है, अपनी-अपनी सीमा और मर्यादा है। जीव को सिद्ध करने के लिए हमारे पास तर्क का बल है, किन्तु यह मानना चाहिए—वह हमारी मान्यता पर आधारित है। हमारा लक्ष्य यह होना चाहिए—हमें आत्मा को जानना है। जानना तब होगा, जब हमारी साधना आगे बढ़ेगी हमारी अतीन्द्रिय चेतना जागेगी।

आवरण है अजीव का

अजीव ने हमारी आत्मा पर एक आवरण डाल रखा है। उस आवरण को हम जितना हटाते चले जाएंगे, उतना ही प्रकाश बढ़ेगा, ज्योति बाहर फैलेगी। हमारी आत्मा पर एक जालीदार ढक्कन रखा हुआ है। हमारा सारा ज्ञान, उसकी रश्मियाँ उस जालीदार ढक्कन के छिद्रों में से बाहर आ रही है। किन्तु एक समय ऐसा आता है—अतीन्द्रिय चेतना जागती है, पूरे शरीर से ज्ञान की रश्मियाँ प्रस्फुटित होने लग जाती हैं। नन्दीसूत्र में बताया गया है—हमारा ज्ञान शरीर के एक भाग से निकल रहा है। अवधिज्ञानी का ज्ञान भी शरीर के एक निश्चित भाग से निकलता है। जब केवलज्ञान उद्भूत होता है, प्राप्त होता है, पूरा शरीर एकाकार बन जाता है, ज्योतिर्मय बन जाता है, पूरे शरीर से ज्ञान की रश्मियाँ निकलने लगती हैं। जब अतीन्द्रिय चेतना जागती है, तब अज्ञेय ज्ञेय बन जाता है। केवली सारी बातों को जानता है पर बताना नहीं सकता। आज तक किसी भी केवलज्ञानी ने पूरे सत्य का वर्णन नहीं किया है और भविष्य में भी कोई केवलज्ञानी पूरे सत्य का वर्णन नहीं कर पाएगा। सत्य का वर्णन वाणी तथा शरीर की सीमा से जुड़ा हुआ है। जानना अपना ज्ञान है किन्तु बोलने की अपनी सीमा है।

जीव और अजीव—इन दोनों पर हम अनेकान्त दृष्टि से विचार करें तो एक ऐसा मार्ग उपलब्ध होता है, जिसमें न कहीं अटकाव का प्रश्न है और न कहीं भटकाव का प्रश्न। हम इन दोनों को जानकर तथा मानकर यथार्थ को समझने का प्रयत्न करें तो जीवन में एक नया प्रकाश उपलब्ध हो सकता है।

धर्म की सार्वभौमिकता

पूरा संसार नियमों से चलता है। मनुष्य जगत भी एक नियम है, वनस्पति जगत भी एक नियम है। प्रकृति के कण-कण में एक नियम है। नियम सामायिक होने हैं, दैशिक और कालिक होते हैं। कुछ नियम सार्वभौम होते हैं। जो नियम देश और काल से प्रतिबद्ध होते हैं, वे बदलते रहते हैं। सार्वभौम नियम अपरिवर्तनीय होते हैं। अनेक बार मन में एक विकल्प उठता है—जैन आगमों के आधार पर सार्वभौम नियमों की एक तालिका तैयार की जाए। सार्वभौम नियमों का समुच्चय करना बहुत आवश्यक है। उन सार्वभौम नियमों की सूची में धर्म भी एक नियम है। सार्वभौम नियम न दैशिक होता है, न कालिक होता है। वह देशकालातीत नियम है, जागतिक नियम है, सब पर एक समान लागू होता है। इस बात को भगवान् महावीर ने पकड़ा। उन्होंने धर्म को भी एक सार्वभौम नियम के रूप में प्रस्तुत किया।

जो धर्म को सार्वभौम नियम के रूप में स्वीकार नहीं करते, वे सम्प्रदायवाद को बढ़ावा देते हैं। जो धर्म को सार्वभौम नियम के रूप में देखते हैं, वे अध्यात्मवाद को बढ़ावा देते हैं, सत्य को महत्त्व देते हैं। जैनधर्म सत्य का प्रतिपादन करने वाला धर्म है इसलिए उसने सार्वभौम नियम के आधार पर धर्म की धारणा प्रस्तुत की है। उसने धर्म को देश और काल की सीमा में नहीं बांधा। एक व्यक्ति जैन विश्व भारती में बैठा बैठा मुक्त हो सकता है। इसमें क्षेत्र की कोई प्रतिबद्धता नहीं है, किसी भी वाह्य वातावरण की कोई प्रतिबद्धता नहीं है। वह जैन मुनि के वेश में भी मुक्त हो सकता है, किसी अन्य संन्यासी के वेश में भी मुक्त हो सकता है। चाहे व्यक्ति पोला कपड़ा पहने हुए है, गेरुआ, लाल या सफेद कपड़ा पहने हुए है। वंश की कोई प्रतिबद्धता नहीं है। पुरुष भी मुक्त हो सकता है, स्त्री भी मुक्त हो सकती है, नपुंसक भी मुक्त हो सकता है। व्यक्ति किसी भी लोक में सिद्ध हो सकता है। ऊँचे लोक में भी सिद्ध हो सकता है, नीचे लोक में भी सिद्ध हो सकता है, तिर्यक् लोक में भी सिद्ध हो सकता है।

अणुव्रत : सार्वभौम धर्म का व्यावहारिक रूप

मुक्त होने में कोई प्रतिबद्धता नहीं रखी गई, धर्म करने में भी किसी प्रकार की प्रतिबद्धता नहीं रखी गई। अणुव्रत का एक नियम है—जाति, लिंग, वर्ण या सम्प्रदाय के आधार पर भेदभाव न किया जाए। अणुव्रत मानव-धर्म है। कहा जा सकता है—अणुव्रत सार्वभौम धर्म का व्यावहारिक रूप है। समस्या यह है—सम्प्रदाय का माध्यम जटिल बन गया। धर्म के सार्वभौम नियम को देश और काल से प्रतिबद्ध बना दिया गया, धर्म की सार्वभौमिकता को सम्प्रदाय के कटघरे

में कैद कर दिया गया। मानना चाहिए—एक राजा को कर्मचारी ने कैद कर लिया। सम्प्रदाय ऊपर आ गया, धर्म उसके नीचे दब गया। इसीलिए धर्म के नाम पर इतिहास का एक काला पृष्ठ जुड़ा है। धर्म को नकारने वाले इस तर्क का अक्सर प्रयोग करते हैं—धर्म के नाम पर कितनी भूमि रक्त-रंजित हुई। वे कहते हैं—धर्म ने कितनी लड़ाइयां करवाई, युद्ध करवाये, भूमि को लहुलुहान बनाया। उसने भाई-भाई को बांट दिया। इस तर्क के सहारे बड़े-बड़े विद्वान धर्म को अस्वीकार्य बतलाते हैं। इस तर्क में हम मूल बात को भूल जाते हैं। हम कभी-कभी तर्काभास को भी तर्क मान लेते हैं। जिस व्यक्ति के मन में धर्म जागता है, उस व्यक्ति के मन में हृदय-परिवर्तन के सिवाय दूसरी बात आ ही नहीं सकती। अगर तर्क-प्रयोग और बल-प्रयोग नहीं होता तो कभी युद्ध नहीं होता। ये सब हुए हैं सम्प्रदाय के नाम पर और इन्हें धोप दिया गया धर्म के नाम पर। एक भ्रांति पैदा हो गई।

एक शाश्वत सत्य है—धर्म के नाम पर वैर-विरोध, कलह और युद्ध न कभी हुआ है, न कभी होता है और न कभी होगा। जो कुछ भी हो रहा है, वह सब सम्प्रदाय के नाम पर हो रहा है, वेश-भूषा और बाहरी परिस्थितियों के नाम पर हो रहा है। उसे धर्म के नाम पर आरोपित कर दिया जाता है।

हम ईसाई धर्म के साहित्य को देखें। संत ऑगस्टाइन ने इंग्लैण्ड के राजा को समझाया। वह कैथोलिक धर्म का अनुयायी बन गया। राजा ने संत ऑगस्टाइन से प्रार्थना की—‘महाराज! आप आदेश दें, मैं सारी प्रजा को कैथोलिक बना दूँ।’ संत ऑगस्टाइन बोले—‘नहीं! यह ईसाई धर्म का सिद्धान्त नहीं है। बल-प्रयोग करना ईसाई धर्म में मान्य नहीं है। हम जनता को कैथोलिक बनाएंगे तो समझा-बुझाकर बनाएंगे, बल-प्रयोग या प्रलोभन का प्रयोग नहीं करेंगे।’

अध्यात्म की परिभाषा

यह स्वर आचार्य भिक्षु के स्वर से भिन्न नहीं है। जिस व्यक्ति के मन में धर्म उतरा, उसने कभी हिंसा का सहारा नहीं लिया। जिसके मन में सम्प्रदाय बैठ गया, उसने ही हिंसा का सहारा लिया। जैन धर्म ने इस पर निश्चय नय और व्यवहार नय—दोनों दृष्टियों से विचार किया। निश्चय नय शाश्वत नियम हैं, अपरिवर्तनीय नियम हैं। व्यवहार नय का मतलब है बदलने वाले नियम। निश्चय नय से विचार करें तो धर्म है आत्मा की अनुभूति। वह अनुभूति किसी भी व्यक्ति को हो सकती है, कहीं भी हो सकता है। वह व्यक्ति के अपने भीतर की बात है।

एक व्यक्ति गुरु के पास आया, बोला—‘गुरुदेव! धर्म क्या है? मुझे धर्म की व्याख्या समझाइए।’ गुरु ने कहा—‘अभी मैं व्यस्त हूँ। नगर के बाहर तालाब में एक मछली है। तुम उसके पास जाओ, तुम्हारे प्रश्न का समाधान मिल जाएगा।’ वह मछली के पास गया। उसने मछली से कहा—‘मुझे धर्म की परिभाषा समझाओ।’ मछली बोली—‘अच्छी बात है। मैं तुम्हें धर्म की परिभाषा समझाऊंगी। किन्तु मुझे बहुत प्यास लगी है। एक गिलास पानी ले आओ।’ वह बोला—‘कैसी मूर्खतापूर्ण बात करती हो। पानी के भीतर रहती हो, फिर प्यास कैसे हो?’

मछली बोली—‘तुम भी मूर्ख हो। धर्म तुम्हारे भीतर है और तुम धर्म की परिभाषा बाहर पूछ रहे हो। क्या यह मूर्खता नहीं है।’

धर्म हमारे भीतर है। प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा में धर्म है। यह निश्चय नय की भाषा में धर्म की परिभाषा है, अध्यात्म की परिभाषा है।

धर्म के दो रूप

धर्म के दो रूप बन जाते हैं—आध्यात्मिक धर्म और साम्प्रदायिक धर्म। पत्ला धर्म आचरण से जुड़ा हुआ है, दूसरा धर्म आसना या क्रियाकाण्ड से जुड़ा हुआ है। जहाँ व्यवहार नय से धर्म का विचार किया गया, वहाँ व्यवहार के नियम भी बतलाए गए। एक व्यक्ति गृहस्थ है और गृहस्थ वेश में उसे कैवल्य उपलब्ध हो गया, वह प्रत्येक-बुद्ध बन गया। एक गृहस्थ में बोधि जाग गई, साधुत्व जाग गया, वह साधु बन गया किन्तु जब तक वह वेश नहीं बदलेगा तब तक वह किसी को दीक्षित नहीं करेगा। यह है व्यवहार नय। सामाजिक नियम संघ-व्यवस्था के नियम बन जाते हैं।

दो धाराएं

धर्म का मूल-स्वरूप आकाश की भांति व्यापक है। उसमें कहीं कोई अवरोध नहीं है। इस दुनिया में इतने नए-नए और विशाल मकान बनते चले जा रहे हैं किंतु कोई भी मकान इस व्यापक आकाश को बांध नहीं सकता। धर्म भी ऐसा ही व्यापक है। समस्या यह है—धर्म को व्यापक अर्थ में आचरित नहीं किया जा रहा है। कुछ लोग दुहाई देते हैं—प्राणी मात्र समान हैं। कुछ लोग कहते हैं—सारे मनुष्य समान हैं। ये दो धाराएं चल रही हैं। महाभारत में कहा गया—‘न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्’—इस दुनिया में मनुष्य से श्रेष्ठ कोई नहीं है। इस आधार पर धर्म का एक नाम बन गया—मानव धर्म। मानव धर्म का मतलब है—मानव के साथ धोखाधड़ी मत करो, लूट-खसोट मत करो, अप्रामाणिकता मत करो। उसे मत सताओ। धर्म का दूसरा स्वर है—प्राणी मात्र के साथ समता का व्यवहार करो। ये दोनों धाराएं उद्घोषित होती रही हैं, किंतु आचरण शायद दोनों का ही नहीं हो रहा है। न प्राणी मात्र के प्रति समता का आचरण हो रहा है और न मानव मात्र के प्रति समता का आचरण है। यह सार्वभौम धर्म जीवन के व्यवहार में नहीं उतर रहा है। सार्वभौम धर्म को व्यवहार में अवतरित करने के लिए आचार्यतुलसी ने अणुव्रत का सूत्रपात किया।

विकास है सूक्ष्मता में

आदमी ने सदा सूक्ष्म को स्थूल बनाने का प्रयत्न किया है। सत्य का सिद्धांत है—स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाना। जब तक माइक्रोस्कोप का निर्माण नहीं हुआ, तब तक विज्ञान का पूरा विकास नहीं हुआ। जैसे-जैसे वैज्ञानिक सूक्ष्म उपकरण बनाते चले गए, सूक्ष्मता को पकड़ते चले गए वैसे-वैसे विज्ञान का विकास होता चला गया। धर्म का विकास भी तब हुआ जब अतीन्द्रिय चेतना द्वारा सूक्ष्म सत्त्यों को जाना गया। सत्य की यात्रा के लिए स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाना होता है। ज्ञान अमूर्त है। मनुष्य ने शास्त्र लिखे, अमूर्त ज्ञान को मूर्तिमान

बना दिया। अमूर्त ज्ञान को शास्त्रीय ज्ञान बना दिया। उसने काल को भी घड़ियों में बांट दिया। जब किसी चीज को व्यवहार में लाना होता है तब उसे सूक्ष्म से स्थूल में लाना होता है। जब विकास करना होता है तब स्थूल से सूक्ष्म में जाना होता है।

हमारे सामने ये दो सूत्र हैं। हम कभी स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाएं, और कभी सूक्ष्म से स्थूल की ओर जाएं। अणुव्रत आंदोलन सूक्ष्म से स्थूल की ओर जाने का आन्दोलन है। अमूर्त धर्म की बात समझ में नहीं आती। अमूर्त का मूर्तीकरण है—अणुव्रत आन्दोलन। उपासना की दो पद्धतियां हैं—सगुण उपासना और निर्गुण उपासना। निर्गुण यानी निराकार की उपासना। सगुण साकार की उपासना है। यदि आम आदमी से कहा जाए—तुम यहां बैठ जाओ और निरन्तर शुद्ध आत्मा की उपासना करो। वह इसे नहीं समझ पाएगा, भटक जाएगा। यदि उसे कहा जाए—अमुक आकार की उपासना करो। उसकी श्रद्धा जाग जाएगी। डॉक्टर लोहिया कहा करते थे—मैं सगुण भाषा में बोलता हूँ। निर्गुण भाषा जनता की समझ में नहीं आती। इसीलिए धर्म का भी सुगुण रूप प्रस्तुत किया गया। अणुव्रत आन्दोलन चलाने का अर्थ है—सगुण बात जनता की समझ में आ जाए। व्यक्ति को कहा जाए—तुम्हें झूठ नहीं बोलना है, झूठा तौल-माप नहीं करना है, मिलावट नहीं करनी है। ये बातें उसकी समझ में आ सकती हैं। उसे कहा जाए—तुम्हें निर्विचार ध्यान करना है। वह इसे नहीं समझ पाएगा। यह बात उसकी समझ से परे होती है। भगवान महावीर ने श्रावक के लिए बारह व्रतों की जो संहिता दी, वह धर्म का व्यावहारिक रूप है।

आधार हैं सार्वभौम नियम

धर्म के दो रूप बन गए—सार्वभौम रूप और व्यावहारिक रूप। महर्षि पतंजलि ने लिखा—‘सार्वभौमं महाव्रतं, देशकालावच्छिन्नानि व्रतानि, महाव्रत सार्वभौम हैं। व्रत देश और काल से अवच्छिन्न होते हैं। इन दोनों नियमों को समझकर चलना आवश्यक है। सार्वभौम नियम हमारा आधार है। यदि उसका अतिक्रमण होगा तो धर्म की आत्मा मर जाएगी, उस पर सम्प्रदाय हावी हो जाएगा। आज साम्प्रदायिक कट्टरता सबसे बड़ी समस्या है किन्तु धर्म कोई समस्या नहीं है। इस सार्वभौम धर्म को आकार देने में, उसे अभिव्यक्ति देने में आचार्य भिक्षु और उनकी परम्परा अग्रणी है। तेरापंथ धर्मसंघ ने धर्म के सार्वभौम नियम को सम्प्रदाय से परे हटाकर जनता के सामने रखा और उसका ज्वलन्त रूप है—अणुव्रत आंदोलन। यह धर्म के सार्वभौम एवं असांप्रदायिक स्वरूप का पुनरुच्चारण है। यदि धर्म का यह रूप समझ में आ जाए तो साम्प्रदायिकता का विष कम होगा। साम्प्रदायिकता के नाम पर जितने दंगे हो रहे हैं, वे कम होंगे।

इस तथ्य को जनता के सामने बार-बार प्रस्तुत करना आवश्यक है—सम्प्रदाय नीचा है, धर्म ऊंचा है। जब-जब सम्प्रदाय का आसन ऊंचा होता है, लड़ाइयां बढ़ती हैं, कलह और साम्प्रदायिक उन्माद जन्म लेता है। जब-जब

धर्म का आसन ऊंचा होता है, शान्ति ही शांति प्रसार पाती है। सुप्रसिद्ध गांधीवादी विचारक जैनेन्द्रजी कहा करते थे—मैंने तेरापंथ में एक विशेषता देखी। यहाँ त्याग का आसन ऊंचा रहता है और धनी लोगों का आसन नीचा रहता है। धनी लोग आचार्यश्री की दृष्टि और कृपा को देखते रहते हैं। यह आवश्यक है—धर्म का स्थान पहला रहे और सम्प्रदाय का स्थान दूसरा। यदि ऐसा होता है तो सार्वभौम धर्म का नियम सम्पूर्ण मानवजाति के लिए सुखद और कल्याणकारी बन सकता है।

पांच भावनाएं

उत्तराध्ययन सूत्र हमारे चिन्तन का विषय था। आज वह पूरा हो रहा है। बहुत अन्तराल के बाद यह अंतिम भाषण है उत्तराध्ययन के विषय का। इसके बाद आचारांग का क्रम प्रारम्भ होगा।

उत्तराध्ययन का छत्तीसवां अध्ययन है—जीव और अजीव की विभक्ति। इसमें जीव-अजीव को विस्तार से समझाया गया है।

जीव और अजीव के भेद-प्रभेद जानना आवश्यक है, पर केवल जानना ही जरूरी नहीं है। जैसे कला के लिए कला, वैसे ही ज्ञान के लिए ज्ञान, तो फिर निष्पत्ति कुछ नहीं आएगी। कला इसलिए कि हम सत्य को सरसता के साथ देख सकें और चेतना को तृप्ति के वातायन में ले जा सकें। ज्ञान इसलिए कि ज्ञान के पश्चात् हम संतोष प्राप्त कर सकें और भीतर से सुख निकाल सकें। बाहर में जो सुख की खोज चल रही है, वह भीतर में होने लगे और भीतर से सुख निकाल सकें। सुख दो स्थानों पर है—अपनी आत्मा के भीतर तथा पदार्थ में। हम हजार बार कह दें कि विषयों के सुख को छोड़ दो, तो कोई नहीं छोड़ेगा। जब तक भीतर से होने वाले आत्म-सुख की प्राप्ति नहीं होती तब तक पदार्थ-सुख की बात छूटती नहीं। यह सचाई है कि जब तक बड़ी उपलब्धि नहीं होती तब तक छोटी उपलब्धि छूटती नहीं। जब बच्चों को वंशलोचन का स्वाद आ जाएगा तो वह मिट्टी खाना छोड़ देगा। विकल्प चाहिए। जब भीतर का सुख उपलब्ध होता है तो बाहर का सुख छूट जाता है।

उत्तराध्ययन सूत्र में भावनाओं का सुन्दर विवेचन प्राप्त है। भावना के दो प्रकार हैं—संक्लिष्ट भावना और असंक्लिष्ट भावना। एक है संताप या तनाव पैदा करने वाली भावना और दूसरी है ताप को हरानेवाली, प्राप्ति देने वाली और आनंद दायिनी भावना।

एक प्रसिद्ध सूक्त है—यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी, जिसकी जैसी भावना होती है, वैसी ही सिद्धि प्राप्त होती है। 'यो यत् श्रद्धः स एव सः' जिसकी जैसी श्रद्धा होगी, वह वैसा ही होगा। भावना हमारे निर्माण का घटक तत्व है। एक बात को जानना, जानी हुई बात को पुनः पुनः दोहराना, सोचना, बार-बार चिन्तन करना—यह है भावना यानि बार-बार उसका अभ्यास करना, अनुशीलन करना।

जैन आगमों में पांच भावनाओं का निर्देश है—ज्ञान-भावना, दर्शन-भावना, चरित्र-भावना, तप-भावना और वैराग्य भावना। ये पांच असंक्लिष्ट

भावनाएं हैं। कोई भी साथक तब तक ध्यान का अधिकारी नहीं होता, जब तक वह अपने चित्त को इन भावनाओं से भावित नहीं कर लेता, भावितात्मा नहीं हो जाता।

पांच संक्लिष्ट भावनाएं भी हैं—कांदर्पी-भावना, आभियोगिकी-भावना, कित्त्विषिकी-भावना, आसुरी-भावना और मोही भावना। जो आदमी धन की बार-बार भावना करेगा, वह धन से भावित होगा और जो काम की बार-बार भावना करता है, वह 'कामी' बनेगा। जिसका मन किसी भी बात से भावित नहीं होता, वह व्यक्ति उस बात से प्रतिबद्ध नहीं होता।

संक्लिष्ट भावनाएं सर्वथा वर्जनीय हैं, क्योंकि ये मन में संताप पैदा करती हैं, तनाव पैदा करती हैं। पहली संक्लिष्ट-भावना है—कान्दर्पी-भावना। इसका व्यापक अर्थ है—कामचेष्टा में प्रवृत्त होना। हंसी-मजाक करना, विकथा करना—ये सब इसके साधन हैं। इन साधनों से यह भावना उदित होती है। आज के वैज्ञानिक भी यह मानते हैं कि क्रोध का तनाव भी होता है और भय का तनाव भी होता है, पर यह तनाव निरंतर नहीं होता, क्षणिक होता है। किन्तु काम का तनाव ऐसा है जो दीर्घकाल तक रहता है। सब तनावों से प्रखर तनाव हैं काम-वासना का तनाव। काम संबंधी सभी आचरण कान्दर्पी भावना के अन्तर्गत आते हैं।

दूसरी संक्लिष्ट-भावना है—आभियोगिकी-भावना। इसका अर्थ है—मंत्र आदि का प्रयोग करना, वशीकरण करना, हुकूमत करना आदि। दूसरों पर अपना अधिकार या स्वामित्व जमाना, यह है आभियोगिकी-भावना। प्रत्येक व्यक्ति के मन में यह भावना रहती है कि वह दूसरों पर अधिकार करे। इस वृत्ति से तृप्ति मिलती है।

तीसरी संक्लिष्ट-भावना है—कित्त्विषिकी-भावना। यह है क्लेश पैदा करने वाली भावना। यह है संघर्षण पैदा करने वाली भावना। निन्दा करना, ज्ञान और ज्ञानी का अवर्णवाद बोलना, संघ का अपलाप करना, व्यक्ति का तिरस्कार करना आदि कित्त्विषिकी-भावना की निष्पत्ति है।

चौथी संक्लिष्ट-भावना है—आसुरी-भावना। सदा विग्रह करते रहना, प्रमाद हो जाने पर भी अनुताप न करना, क्षमा-याचना कर लेने पर भी प्रसन्न न होना, निमित्त शास्त्र का प्रयोग करना, संसक्त तपस्या करना—यह सब आसुरी-भावना है। दिगंबर आचार्यों ने इसे सर्वभक्षी-भावना कहा है। जो सात्त्विक वृत्ति होती है, वह दैवी वृत्ति कहलाती है। जो क्रूर वृत्ति होती है, वह आसुरी वृत्ति कहलाती है।

पांचवी संक्लिष्ट-भावना है—मोही-भावना, सम्मोहन करने वाली भावना। परिवार के प्रति मोह, अपनों के प्रति मोह—यह जटिल भावना है। इससे छुटकारा पाना साधु-संन्यासियों के लिए भी दुष्कर होता है। यह ममत्व की भावना है। यह मेरा है, इस पर मेरा स्वामित्व है, यह इसी भावना की निष्पत्ति है। भगवान महावीर ने इसके प्रतिपक्ष में अप्रतिबद्धता की भावना का निरूपण किया था। यह साधु जीवन का निचोड़ है। जब साधु बन ही गया तो फिर प्रतिबद्धता कैसी?

प्रतिबद्धता बहुत बड़ा खतरा है। जब व्यक्ति दो-चार से बंध जाता है तब शेष से कटे बिना रह नहीं सकता। जो बंध गया, वह फिर 'मेत्ति में सब्बभूएसु' का उच्चारण करने योग्य नहीं रहता। उसके लिए सूक्त होगा—'मेत्ति मे मम परिवारे।' उसका मैत्रीभाव सीमा में बंध जाता है। आचार्य भिक्षु ने कहा—'शिष्य मत बनाओ, किसी को अपना मत बनाओ।' यह कितनी गहरी बात है? प्रश्न होता है, यह होगा तो व्यवहार नहीं चलेगा। यदि आपसी संबंध नहीं है तो व्यवहार कैसे चलेगा? यह एक भ्रान्ति है। वास्तव में परामर्थ की भूमिका जितनी गहरी होगी, व्यवहार भी उतना ही अच्छा होगा और वह शुद्ध भूमिका पर चलेगा।

स्वयं मोहित होना और दूसरों को मोहित करना—यह है मोही-भावना।

ये पांच संक्लिष्ट भावनाएं हैं। जब तक मनुष्य इन भावनाओं से भावित रहता है तब तक मानसिक तनाव को मिटाने के लिए कोई भी उपाय कारगर नहीं हो सकता। यह तनाव तभी मिट सकता है जब इन भावनाओं से बचा जाए और एक लक्ष्य बनाएं कि हमें क्या पाना है? क्या बनना है? यदि मानसिक शांति और मनः समाधि पाना है तो मार्ग बदलना होगा। हम पाना चाहें शांति और साधन बनाएं संक्लिष्ट-भावना को तो शांति की उपलब्धि असंभव है। असंक्लिष्ट भावना से ही समाधि प्राप्त हो सकती है।

उत्तराध्ययन सूत्र का निष्कर्ष यह है कि जब हमने तत्त्व का ज्ञान किया है, सचाई को जाना है तो उसका आचरण भी करें और 'नाणस्स सारं आयारो' को क्रियान्वित करें। ज्ञान का सार है आचार और आचार यही है कि हमें संक्लिष्ट भावनाओं से हटकर असंक्लिष्ट भावनाओं में प्रवेश कर जाना है। वहां हमें प्राप्त होगी समाधि, वहां हमें प्राप्त होगी शांति। तब व्यक्ति का रोम-रोम गुंजने लगेगा और अव्यक्त ध्वनि आएगी—

'मैं असमाधि से समाधि में प्रवेश कर रहा हूँ।'

'मैं ज्ञान को आचार में परिणत कर रहा हूँ।'

आचार्य महाप्रज्ञ की महत्वपूर्ण रचनाएं

- भिक्षु विचार दर्शन
- जीव अजीव
- जैन परम्परा का इतिहास
- अनेकान्त है तीसरा नेत्र
- मन का कायाकल्प
- संबोधि (हिन्दी, गुजराती, अंग्रेजी)
- मैं कुछ होना चाहता हूँ
- जीवन विज्ञान (शिक्षा का नया आयाम)
(हिन्दी, अंग्रेजी, बंगला)
- जीवन विज्ञान: स्वस्थ समाज रचना का संकल्प
- कैसे सोचें?
- श्रमण महावीर (हिन्दी, अंग्रेजी)
- अवचेतन मन से सम्पर्क
- जीवन की पोथी
- सोया मन जग जाये
- अहिंसा के अछूते पहलू
- अमूर्त चिन्तन
- अस्तित्व और अहिंसा
- तेरापंथ शासन अनुशासन
- चित्त और मन
- जैन धर्म: अर्हत् और अर्हताएं
- जैन दर्शन और संस्कृति
- संस्कृति के दो प्रवाह
- समयसार (निश्चय और व्यवहार की यात्रा)
- भेद में छिपा अभेद
- अपना दर्पण: अपना बिम्ब
- अप्पाणं सरणं गच्छामि
- धर्म चक्र का प्रवर्तन
- मंजिल के पड़ाव
- लोकतन्त्र: नया व्यक्ति नया समाज
- पुरुषोत्तम महावीर
- सुबह का चिन्तन
- सुप्रभातम् भाग 1,2,3
- आभामण्डल
- तब होना है ध्यान का जन्म
- कैसी हो इक्कीसवीं शताब्दी?

महावीर हैं एक मानव, एक दृष्टिकोण, एक सत्य। मानव मरणधर्मा है। वह जन्म लेता है और एक अवधि के बाद दिवंगत हो जाता है। दृष्टिकोण दिशादर्शन देता है, जागरण का शंख फूंकता है, बिम्ब और प्रतिबिम्ब के मध्य भेदरेखा खींचता है। सत्य त्रैकालिक होता है। वह कभी प्रकाशी होता है, कभी बादलों से ढक जाता है और कभी फिर प्रकाशी बन जाता है।

महावीर देह के बंधन को छोड़ मुक्त हो गए। अवतारवाद उन्हें मान्य नहीं था। मानव महावीर का पुनर्जन्म संभव नहीं रहा। महावीर के दर्शन और सत्य पर एक सघन आवरण आता हुआ सा दिखाई दिया। युगधारा बदली। वैज्ञानिक युग का प्रवर्तन हो गया। प्रतीत हुआ—महावीर का दर्शन प्रासंगिक हो रहा है। प्रासंगिकता इतनी बढ़ी है कि उसने महावीर के पुनर्जन्म को अनुभूति के स्तर पर रेखांकित कर दिया। वर्तमान अतीत बनता है, यह सामान्य अवधारणा है। वैज्ञानिक अवधारणा यह भी है—अतीत फिर वर्तमान बनता है।

—आचार्य महाप्रज्ञ

जैन विश्व भारती, लाडनू (राज०)